५-२

ओ३म्

ब्रह्म-विज्ञान

(SCIENCE OF DIVINITY)

अर्थात्

ब्रह्म साक्षात्कार के भारतीय विज्ञान

की

नवीनतम खोज

प्रणेता

ब्रह्म निष्ठ, योगिप्रवर

ब्रह्मर्षि श्री १०८ स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज

(भूत पूर्व—राजयोगाचार्य बाल-ब्रह्मचारी श्री स्वामी व्यासदेव जी महाराज)

रचयिता "आत्म-विज्ञान" व "बहिरङ्ग योग"

प्रकाशक

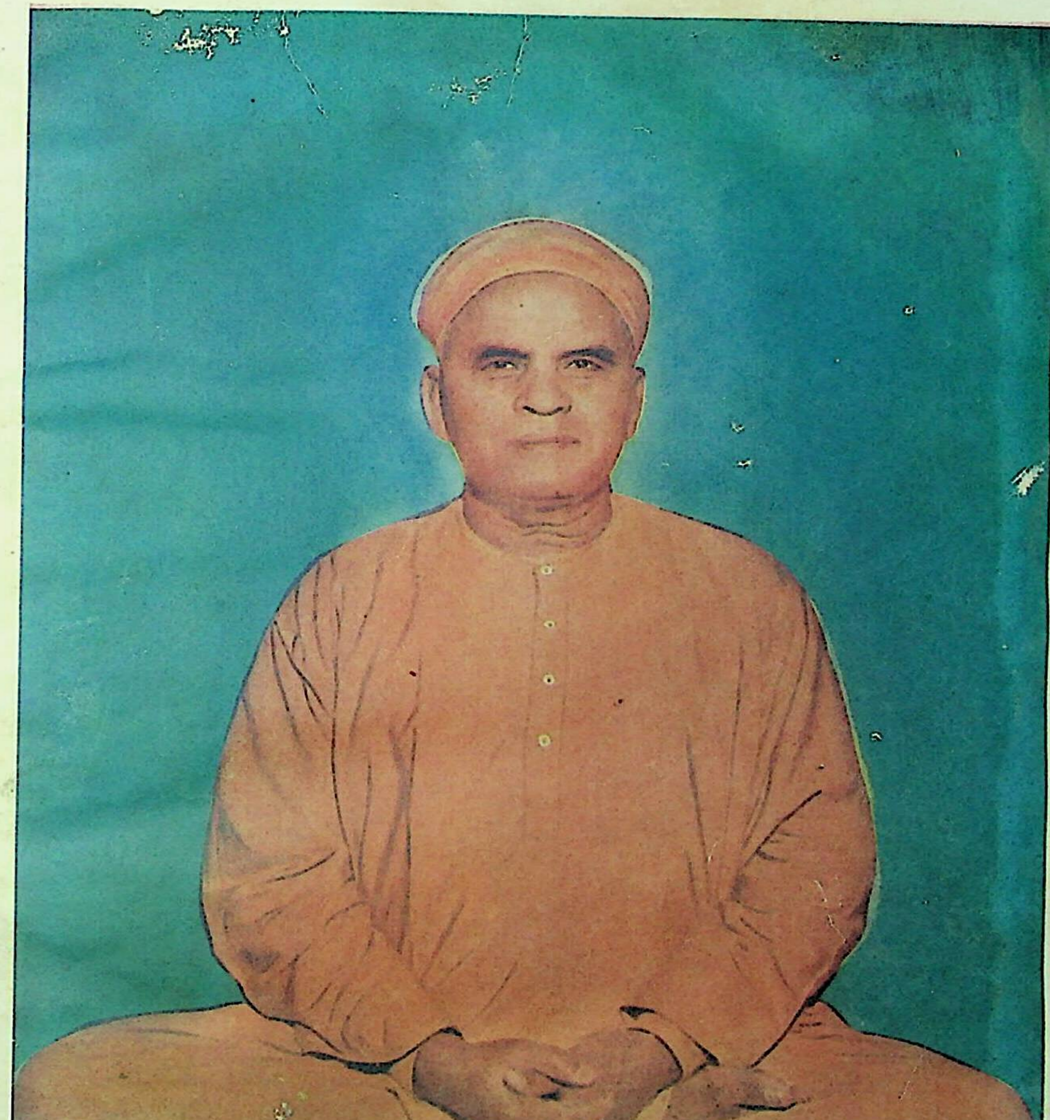
योग निकेतन ट्रस्ट

गंगोत्री

उत्तरकाशी (हिमालय),

स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उत्तराखण्ड)

৪০)০



राजयोगाचार्य श्री १०८ ब्रह्म ऋषि स्वामी योगेश्वरा नन्द सरस्वती जी महाराज

ॐ

प्रकाशक की ओर से निवेदन

परब्रह्म परमेश्वर की अपार कृपा से ब्रह्मनिष्ट योगिप्रवर ब्रह्मर्षि श्री १०८ स्वामी योगिश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज के रचित योग विषयक ग्रन्थ माला के तीसरे पुष्प "ब्रह्म-विज्ञान" को जनता की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष है। इस ग्रन्थ माला की पहली दो पुस्तकों में अष्टाँग योग के आठों अंगों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। यह "ब्रह्म-विज्ञान" पुस्तक उच्चय कोटि के साधकों के लिये श्री स्वामी जी महाराज की अपार देन है। इस ग्रन्थ में सृष्टि की उत्पत्ति, प्रकृति और उसके कार्यों एवं ब्रह्म का साक्षातकार जैसे सूक्ष्मतम विषयों की व्याख्या की गई है। श्री स्वामी जी महाराज ने अपने पिछले ५० वर्षों की तपस्या में किए गए अनुभवों के आधार पर इस पुस्तक की रचना की है।

हिन्दी साहित्य में यह अद्भुत अमूल्य, अपूर्व और महान पुस्तक रची गई है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने "ब्रह्म-विज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में ग्रन्थों को सूत्र रूप में निर्माण किया था। कई सहस्र वर्षों से इस विद्या का लोप ही होता जा रहा था, परन्तु इस लोप होती जा रही विद्या को श्री स्वामी जी ने अपने अनुभवों के आधार पर पुनर्जीवित किया है और सर्व साधारण जनता के लिये हिन्दी भाषा में यह ग्रन्थ रचकर मानव जाति के ऊपर एक बड़ा उपकार किया है। हमें पूर्ण आशा है कि इस विज्ञान के युग में श्री स्वामी जी महाराज की इस रचना से शान्ति और आनन्द की धारा का परवाह अनन्तकाल तक बहता रहेगा।

इस ग्रन्थ से पूर्ण लाभ उठाने के लिये साधक "बिहरङ्ग-योग" और "आत्म-विज्ञान" में वर्णित साधनों का विधि पूर्वक अनुकरण करें।

योग निकेतन ट्रस्ट

शुभ आशीर्वाद

इस ग्रन्थ के लिये कागज का प्रबन्ध श्रीमान् सेठ जुगल किशोर जी बिरला ने किया है। उनको मैं किन शब्दों में धन्यवाद या आशीर्वाद दूँ ? उनकी धर्म परायणता और दानवीरता इस देश में ही नहीं, विदेशों में भी विख्यात है। उनका दृष्टि कोण इतना विशाल है कि वे हिन्दू, सिक्ख, जैन और बौद्ध इन सभी धर्मों को एक ही आर्य धर्म की शाखा-प्रशाखा मानते हैं तथा अपनी इस मान्यता के अनुसार ही सारे सेवा कार्य करते हैं। उनके द्वारा बनवाये मन्दिरों, गुरु द्वारों और धर्मशालाओं इत्यादि से आध्यात्मिकता के साथ-साथ पारस्परिक एकता एवं संगठन के लिये भी अद्भुत प्रेरणा मिलती है। सच्ची बात यह है कि अपने महत्वपूर्ण सेवा कार्यों के कारण सेठ जुगलकिशोर जी बिरला एक महान् संस्था बन गये हैं। उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। मैं अपने अन्तः करण से उनके शतायु एवं स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ और भगवान् से यह प्रार्थना करता हुँ कि वे अपने परिवार के साथ उत्तरोतर श्री समृद्धि प्राप्त करते रहें।

—स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती

ॐ

ब्रह्म-विज्ञान

विषय सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
भूमिका	घ-न
ईश्वर-वन्दना	प
गुरुजन वन्दना	प
विषय निदर्शन	प
—ब्रह्म-विज्ञान	
प्रथम अध्याय	१-१३७
समष्टि महाभूतों की सृष्टि में, ब्रह्म की उपासना और ज्ञान	१
प्रथम खण्ड	१-२४
विषय-प्रवेश और विज्ञान प्रक्रिया	१
ब्रह्म—	१
प्रकृति—	१
जीव—	२
सृष्टि की रचना-ब्रह्म के सम्बन्ध से चेतन सी बनी सृष्टि	२
समष्टि पदार्थों का स्वरूप	३
चित्र संख्या १—समष्टि पृथ्वी महाभूत से ब्रह्म पर्यन्त ३४ पदार्थों का	४
स्वरूप	५
तत्त्व ज्ञान का साधन संयम	४
संयम के लिये स्थान	४
ब्रह्म विज्ञान का क्रम	५
समाधि का स्वरूप और प्रयोग	५
त्रिपुटी का विश्लेषण	६
सम्प्रज्ञात समाधियाँ	७
१. सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि	७
२. निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि	७
३. सविचार सम्प्रज्ञात समाधि	७
४. निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि	८
समष्टि पदार्थ पांचों रूप में ब्रह्मज्ञान (नवीनतम खोज)	११
ब्रह्म ज्ञान के अधिकारी	१२
वैराग्य का स्वरूप और उसकी साधना	१५
प्रकृति का वंश	२४(क)

विषय	पृष्ठ
द्वितीय खण्ड— (३३वाँ आवरण)	२५-६१
समष्टि पृथिवी महाभुत पाँचों रूपों में ब्रह्म विज्ञान	२५
१. स्थूल रूप २. स्वरूप ३. सूक्ष्म रूप ४. अन्वय रूप ५. अर्थवत्व रूप	२५
१. पृथिवी के स्थूल रूप में—	२६
चित्र संख्या २—पञ्च तन्मात्राओं से स्थूल पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति, पृथिवी महाभूत से व्यष्टि लोक लोकान्तरों की उत्पत्ति	२६-२७
१. आकार २. स्थिरता	२६
३. गुरुत्व	२७
४. कठिनता	२८
५, आच्छादन	२६
६. विदारण	२६
७. रूक्षता	३०
८. कृशता	३१
९. सर्वभूताधारता	३१
१०. क्षमा	३२
११. सर्व भोग्यता	३३
पृथिवी का समाधिजन्य ज्ञान—	३५
भूमि की गति का कारण	३५
भूमि के घूमने का कारण	३५
इस पृथिवी का विस्तार	३६
पृथिवी में तैल पैट्रोल	३८
पृथिवी में पत्थर का कोयला	३९
पृथिवी के गर्भ में	४०
सब का नियन्ता	४२
ब्रह्म को प्रत्यक्ष करने का अधिकार	४३
ब्रह्म दर्शन और स्वरूप दर्शन	४३
व्यष्टि समष्टि का भेद में अन्तर	४४
२. पृथिवी के स्वरूप में—	४५
युतसिद्ध, अयुत सिद्ध,	४६
३. पृथिवी के सूक्ष्म रूप में—	४७
४. पृथिवी के अन्वय रूप में—	४९
तीन परिणाम—	५१
१. धर्म परिणाम २. लक्षण परिणाम ३. अवस्था परिणाम	५१
५. पृथिवी के अर्थवत्ता रूप में—	५२
सूर्य की किरणों पर आरोहण (सच्ची घटना)	५३
शरीर में दो चेतन सत्तायें	५५
१. ऐच्छिक क्रियायें	५५

विषय	पृष्ठ
२. अनैच्छिक क्रियायें	५६
पृथिवी के सात्त्विक भाग से—	५७
राजस भाग से	५७
तामस भाग से	५७
मनुष्य देह का प्रयोजन	५७
ब्रह्म-ज्ञान का सर्व प्रथम द्वार	६०
तृतीय खण्ड—(३२वां आवरण)	६२-८०
समष्टि जल महाभूत पांचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	६२-८०
१. जल के स्थूल रूप में—	६२
१. सूक्ष्मता	६३
२. स्नेह	६३
३. मृदुता	६४
४. गुरुत्व	६५
५. प्रभा	६५
६. शुकलता	६६
७. शीतता	६७
८. सम्मेलन	६७
९. पवित्रता	६९
१०. रक्षा	७०
गुणों के परिणाम में प्रभु का साक्षात्कार	७१
२. जल के स्वरूप में—	७२
३, जल के सूक्ष्म रूप में—	७३
भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति	७५
प्रथम क्रम—	७५
द्वितीय क्रम—	७५
तन्मात्राओं की अनन्तता	७७
४, जल के अन्वय रूप में—	७८
५. जला के अर्थवत्त्व रूप में—	७८
ईश्वर का मन्दिर	७९
चतुर्थ खण्ड—(३१वां आवरण)	८१-१००
समष्टि अग्नि महाभूत के पाँचों रूपों में ब्रह्मज्ञान	८१-१००
१. अग्नि के स्थूल रूप में—	८१
१. लघु २. अर्ध्व गमन	८२
३. भास्वर	८३
४. पाचक	८४
५. पावक	८५
६. ओजस्वी	८६

विषय	पृष्ठ
७. दाहकता	८६
८. प्रध्वंस	८७
आत्मा और ब्रह्म प्रत्यक्ष हैं।	८६
२. अग्नि के स्वरूप में—	६२
३. अग्नि के सूक्ष्म रूप में—	६३
४. अग्नि के अन्वय रूप में—	६५
५. अग्नि के अर्थवत्ता रूप में—	६६
अग्नि में ब्रह्मोपासना और ज्ञान	६७
ब्रह्म का उपमान	६८
पञ्चम खण्ड—(३०वां आवरण)	१०१-१२१
समष्टि वायु महाभूत के पांचों रूपों में ब्रह्मज्ञान	१०१-१२१
१. वायु के स्थूल रूप में—	१०१
१. कम्पन	१०२
२ तिर्यंगगमन	१०३
३. चञ्चलता ४. रूक्षता	१०५
५. पवित्रना	१०६
६. आच्छादन	१०८
७. बल	१०६
८. आक्षेप	११०
२. वायु के स्वरूप में—	११२
३. वायु के सूक्ष्म रूप में—	११४
४. वायु के अन्वय रूप में—	११५
५. वायु के अर्थवत्ता रूप में—	११७
ईश्वर के मानने वालों का एक धर्म	११६
षष्ठः खण्ड—(२६वां आवरण)	१२२-१३६
समष्टि आकाश महाभूत पांचों रूपों में ब्रह्मज्ञान	१२२-१३६
१. आकाश के स्थूल रूप में—	१२३
चित्र संख्या ३—स्थूल पंचभूतों का स्वरूप और परस्पर मिलकर संघात भाव को प्राप्त होना एवं पञ्चतन्मात्राओं द्वारा इनका निर्माण	१२२-१२३
१. सर्वत्र गति	१२३
२. अव्यूह ३. अवकाश प्रदान	१२५
२. आकाश के स्वरूप में—	१२८
३. आकाश के सूक्ष्म रूप में—	१२६
चित्र संख्या ४—पञ्चतन्मात्रा संघात को प्राप्त होकर स्थूल भूतों का निर्माण करने जा रही हैं	१३०-१३१
आकाश में ब्रह्म साक्षात्कार कैसे करें ?	१३१

विषय	पृष्ठ
४. आकाश के अन्वय रूप में—	१३३
५. आकाश के अर्थवत्त्व रूप में—	१३३
निराकार ईश्वर की उपासना और ज्ञान	१३४
प्रकृति के कार्यों में त्रयीकरण-अहंकारिक सृष्टि, त्रैगुण्य सृष्टि	१३७
द्वितीय अध्याय	१३८-३३४
तामस अहंकारिक सृष्टि	१३८-२१०
समष्टि अहंकारिक पञ्च-तन्मात्राओं की सृष्टि में ब्रह्म की उपासना	१३८
चित्र संख्या ५—पञ्च तन्मात्राओं से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति दिखाई गई है।	१३८-१३९
तन्मात्राओं में तीनों अहंकारों का भाग	१३९
चित्र संख्या ६—तन्मात्राओं की सृष्टि	१४०-१४१
ब्रह्म के विराट रूप की उपासना	१४०
प्रथम खण्ड—(२८वां आवरण)	१४१-१६३
समष्टि गन्ध तन्मात्रा मण्डल पाँचों रूपों में ब्रह्म दर्शन—	१४१
१. गन्ध तन्मात्रा के स्थूल रूप में	१४१
चित्र संख्या ७—तन्मात्राओं का रंग, रूप, आकार	१४२-१४३
स्वर्ग लोक में दिव्य सुखों का उपभोग	१४३
जैन धर्म की मुक्ति	१४४
बौद्धों की मुक्ति	१४५
ईसाइयों का स्वर्ग	१४५
मुसलमानों का स्वर्ग	१४६
दिव्य लोक	१४६
कैवल्य	१४७
इस लोक में सर्वोत्कृष्ट आनन्द	१४७
२. गन्ध तन्मात्रा के स्वरूप में—	१४९
३. गन्ध तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—	१५०
४. गन्ध तन्मात्रा का अन्वय रूप में—	१५२
५. गन्ध तन्मात्रा के अर्थवत्त्व रूप में—	१५३
मोक्ष से पूर्व क्या कर्म नष्ट हो जाते हैं ?	१५६
आत्मा-जीवात्मा	१५७
कर्म फल का विभाग	१५९
प्रलय काल में भी प्रकृति में क्रिया	१६१
द्वितीय खण्ड—(२७वां आवरण)	१६४-१७२
समष्टि रस तन्मात्रा मण्डल, के पाँचों रूपों में ब्रह्म दर्शन	१६४
१. रस तन्मात्रा के स्थूल रूप में—	१६४
२. रस तन्मात्रा के स्वरूप में—	१६५
३. रस तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—	१६७
४. रस तन्मात्रा के अन्व रूप में—	१६९

विषय	पृष्ठ
५. रस तन्मात्रा के अर्थवत्त्व रूप में—	१७०
तृतीय खण्ड—(२६वाँ आवरण)	१७३-१८६
रूप तन्मात्रा मण्डल, पाँचों रूपों में ब्रह्मदर्शन।	१७३-१८६
१. रूप तन्मात्रा के स्थूल रूप में—	१७३
तन्मात्रा का लोक कहाँ है ?	१७३
योगी का कर्त्तव्य	१७७
ब्रह्म दर्शन	१७८
२. रूप तन्मात्रा के स्वरूप में	१७८
योगी का सूक्ष्म जगत् में प्रवेश	१८०
३. रूप तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—	१८१
४. रूप तन्मात्रा के अन्वय रूप में—	१८४
५. रूप तन्मात्रा के अर्थवत्त्व रूप में—	१८४
ध्यान काल में सिद्धों के दर्शन	१८५
चतुर्थ खण्ड—(२५वाँ आवरण)	१८७-१९५
स्पर्श तन्मात्रा मण्डल, पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	१८७-१९५
१. स्पर्श तन्मात्रा के स्थूल रूप में—	१८७
स्थूल भूत और सूक्ष्म भूत में अन्तर	१८८
२. स्पर्श तन्मात्रा के स्वरूप में—	१८९
३. स्पर्श तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—	१९१
४. स्पर्श तन्मावा के अन्वय रूप में—	१९२
५. स्पर्श तन्मात्रा के अर्थवत्त्व रूप में—	१९३
प्रत्यक्षवादियों की भ्रान्ति	१९४
पञ्चम खण्ड—(२४वाँ आवरण)	१९६-२१०
समष्टि शब्द तन्मात्रा मण्डल, पाँचों रूपों में ब्रह्मदर्शन	१९६-२१०
१. शब्द तन्मात्रा के स्थूल रूप में—	१९६
एक योगी का चमत्कार	१९८
आकाश सूक्ष्म भूत की अनित्यता	१९९
वैशेषिक के षट् पदार्थ	२००
शब्द की अनित्यता	२०१
आज के विज्ञान वादी	२०१
योगी की हेय उदासीनता	२०२
२. शब्द तन्मात्रा के स्वरूप में—	२०३
३. शब्द तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—	२०३
४. शब्द तन्मात्रा के अन्वय रूप में—	२०४
५. शब्द तन्मात्रा के अर्थवत्त्व रूप में—	२०५
सूक्ष्म जगत् का निर्माण	२०६
सूक्ष्म शरीरों का निर्माण	२०८

विषय	पृष्ठ
स्वर्ग का स्वरूप	२०९
षष्ट खण्ड—(२३वां आवरण)	२११-२२१
राजस-अहंकारिक सृष्टि—	२११-२२१
अन्ववतरणिका	२१०-२११
समष्टि राजस अहंकारिक सृष्टि, पाँच कर्मेन्द्रियों में ब्रह्मोपासना	२११
चित्र संख्या ८ समष्टि रजः अहंकार से व्यष्टि कर्मेन्द्रियों की उत्पन्न होती हुई अवस्था	२११
समष्टि कर्मेन्द्रियों में तीनों समष्टि अहंकारों का भाग	२१२
मण्डलों का प्रयोजन	२१३
समष्टि अहंकारिक गुदेन्द्रिय मण्डल, पाँचों रूपों में ब्रह्मानुभूति	२१४
१. समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—	२१४
२. समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	२१६
३. समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में —	२१०
४. समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल के अन्वय रूप में—	२?८
५. समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	२१९
सप्तम खण्ड—(२२वाँ आवरण)	२२२-२३५
समष्टि अहंकारिक उपस्थेन्द्रिय, पाँचों रूपों में ब्रह्मोपासना	२२२-२३५
१. समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—	२२३
२. समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	२२६
३. समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	२२८
४. समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल के अन्वय रूप में—	२३०
५. समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	२३१
उपस्थ का मुख्य धर्म	२३३
अष्टम खण्ड—(२१वाँ आवरण)	२३६-२४६
समष्टि अहंकारिक पादेन्द्रिय मण्डल के पांचो रूपों में ब्रह्मानुभूत्र	२३६-२६४
१. समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—	२३६
२. समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	२३९
३. समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	२४०
४. समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल के अन्वय रूप में—	२४१
पादेन्द्रिय विजय की एक घटना	२४२
५. समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	२४३
नवम-खण्ड (२०वां अवरण)	२४७-२५७
समष्टि राजस अहंकारिक हस्तेन्द्रिय मण्डल के पाँचों रूपों में ब्रह्म-प्रत्यक्ष	२४७-२५७
१. समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—	२४७
२. समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	२५०
३. समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	२५१
४. समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल के अन्वय रूप में—	२५३
५. समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व में--	२५४

विषय	पृष्ठ
दशम-खण्ड (१९वां आवरण)	२५८-२७१
समष्टि राजस अहंकारिक वाग्इन्द्रिय मण्डल, के पांचो रूपों में ब्रह्मानुभूति	२५८-२७१
१. समष्टि वाग्इन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—	२५८
२. समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	२६२
३. समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	२६५
४. समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के अन्वय रूप में—	३६६
५. समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में ।	२६७
एकादश-खण्ड (१८वां आवरण)	२७२-२८५
सात्त्वक अहंकारिक सृष्टि—	२७२
अन्ववतरणिका	२७२
पांचों ज्ञानेन्द्रियों के पाञ्च मण्डल, (पांचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान)	२७२
समष्टि अहंकारों का भाग (पांचों ज्ञानेन्द्रियों में—	२७३
समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल—पांच रूपों में ब्रह्मविज्ञान	२७४
चित्र सं० ६—समष्टि सत्त्व अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों कि उत्पत्ति	२७४-२७५
१. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के स्थूल रूप में—	२७५
२. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के स्वरूप में—	२७८
३. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—	२७९
४. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के अन्वय रूप में—	२८१
५. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के अर्थवत्त्व रूप में—	२८२
द्वादश-खण्ड (१७वां आवरण)	२८६ २९६
समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल पाँच रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	२८६-२९६
१. समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—	२८७
२. समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	२९०
३. समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	२९२
४. समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल के अन्वय रूप में—	२९४
५. समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	२९४
रसना पर विजय के लिये घोर पत	२९४
त्रयोदश-खण्ड (१६वां आवरण)	२९७-३०७
समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल, पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	२९७-३०७
१. समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—	२९८
२. समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	३०२
३. समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	३०४
४. समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल के अन्वय में—	३०५
५. समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	३०६
चतुर्दशः खण्डः (१५वां आवण)	३०८-३१३
समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डलम्, पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३०८-३१३

विषय	पृष्ठ
१. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डलम् के स्थूल रूप में—	३०८
२. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डलम् के स्वरूप में—	३१०
३. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डलम् के सूक्ष्म रूप में--	३१०
४. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डलम् के अन्वय रूप में—	३११
५. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डलम् के अर्थवत्त्व रूप में—	३१२
पञ्च दश खण्ड (१४वां आवरण)	३१४-३२०
समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल—पाँचों रूपों मैं ब्रह्म-विज्ञान	३१४-३२०
१. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल के स्कूल रूप में—	३१५
२. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—	३१६
३. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	३१७
४. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल के अन्वय रूप में—	३१७
५. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	३१८
षोडश खण्ड (१३वां आवरण)	३२१-३३४
सात्विक राजसाहैंकारिक सृष्टि	३२१-३३४
अन्वक्तरणिका	३२१
समष्टि मनोमण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३२१-३३४
१. समष्टि मनोमण्डल के स्थूल रूप में—	३२२
मन की आवश्यकता	३२२
चित्र संख्या १० समष्टि सत्त्व रजः अहंकार के मनों की उत्पत्ति	३२२-३२३
२. समष्टि मनोमण्डल के स्वरूप में—	३२४
३. समष्टि मनोमण्डल के सूक्ष्म रूप में—	३२५
मन की एकाग्रता	३२५
४. समष्टि मनोमण्डल के अन्वय रूप में—	३२७
५. समष्टि मनोमण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	३२८
योगियों का अभाव	३२९
विपरीत क्रम क्यों ?	३३०
अहंकारिक सृष्टि	३३१-३३४
व्यष्टि अहंकार	३३१-३३४
चित्र संख्या ११ समष्टि महत् तम से तीनों अहंकारों की उत्पत्ति	३३१
तृतीय अध्याय	३३५-३६९
समष्टि महत् त्रिगुणात्मक सृष्टि	३३५-३६९
प्रथम खण्ड (१२वां आवरण)	३३६-३३९
समष्टि तामस अहंकार मण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३३६-३३९
१. समष्टि तामस अहंकार के स्थूल रूप में—	३३६
तमः अहंकार के गुण	३३६
२. समष्टि तामस अहंकार के स्वरूप में—	३३७
३. समष्टि तामस अहंकार के सूक्ष्म रूप में—	३३७

विषय	पृष्ठ
४. समष्टि तामस अहंकार के अन्वय रूप में—	३३८
५. समष्टि तामस अहंकार के अर्थवत्त्व रूप में—	३३९
द्वितीय खण्ड—(११वां आवरण)	३४०-३४३
समष्टि राजस अहंकार मण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३४०-३४३
१. समष्टि राजस अहंकार के स्थूल रूप में—	३४०
रजोगुण अहंकार के धर्म	३४०
२. समष्टि राजस अहंकार के स्वरूप में—	३४१
३. समष्टि राजस अहंकार के सूक्ष्म रूप में—	३४१
४. समष्टि राजस अहंकार के अन्वय रूप में—	३४२
५. समष्टि राजस अहंकार के अर्थवत्त्व रूप में—	३४२
तृतीय खण्ड—(१०वां आवरण)	३४४-३४६
समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३४४-३४६
१. समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल के स्थूल रूप में—	३४४
२. समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल के स्वरूप में—	३४५
३. समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	३४५
४. समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल के अन्वय रूप में—	३४५
५. समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	३४६
चतुर्थ खण्ड—(९वां आवरण)	३४७-३५७
समष्टि बुद्धि मण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३४७-३४७
१. समष्टि बुद्धि मण्डल के स्थूल रूप में—	३४७
चित्र संख्या १२—समष्टि बुद्धि से व्यष्टि दुद्धियों की उत्पत्ति	३४७
सम्प्रज्ञात समाधियों का फल	३४८
ज्ञान गुण किसका	३५१
बुद्धि और चित्त में भेद	३५२
२. समष्टि बुद्धि मण्डल के स्वरूप में—	३५४
३. समष्टि बुद्धि मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	३५५
४. समष्टि बुद्धि मण्डल के अन्वय रूप में—	३५५
५. समष्टि बुद्धि मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	३५६
पञ्चम खण्ड—(८वां आवरण)	३५८-३६९
समष्टि चित्त मण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३५८-३६९
१. समष्टि चित्त के स्थूल रूप में—	३५८
चित्र संख्या १३—समष्टि चत्त से व्यष्टि चित्तों की उत्पत्ति	३५८-३५९
आत्मा भी ज्ञान स्वरूप है।	३६०
२. समष्टि चित्त मण्डल के स्वरूप में—	३६४
३. समष्टि चित्त मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	३६५
४. समष्टि चित्त मण्डल के अन्वय रूप में—	३६६

विषय	पृष्ठ
५. समष्टि चित मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	३६७
चतुर्थाध्यायः	३७०-४५६
प्रकृति की सृष्टि	३७०-४५६
प्रथमः खण्ड (७वाँ आवरण)	३७१-३८३
समष्टि महत् तमस् मण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्मज्ञान	३७१-३८२
१. समष्टि महत् तमस् मण्डल के स्थूल रूप में—	३७१
चित्र नं० १४—प्रकृति से उत्पन्न होते हुए सत्व रजस् तमस् पदार्थ	३७०-३७१
तीनों गुण द्रव्य है।	३७२
२. समष्टि महत् तमस् मण्डल के स्वरूप में—	३७३
३. समष्टि महत् तमस् मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	३७४
४. समष्टि महत् तमस् मण्डल के अन्वय रूप में—	३७६
५. समष्टि महत् तमस् मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	३७६
सब भोगों का मूलाधार तमस्	३७६
मोह की महिमा	३७८
तमोगुण के अन्धकार में ब्रह्म	३७९
द्वितीयः खण्ड (६वाँ आवरण)	३८३-३९३
समष्टि महत् रजोगुण—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३८३-३९३
१. समष्टि महत् रजोगुण के स्थूल रूप में—	३८३
तीनों गुणों के विशेष धर्म	३८५
२. समष्टि महत् रजोगुण के स्वरूप में—	३८६
सृष्टि के निर्माण में ईश्वर निमित्त	३८७
३. समष्टि महत् रजोगुण के सूक्ष्म रूप में—	३८९
ईश्वर और आत्मा में कर्तृत्व का आरोप—	३९०
४. समष्टि महत् रजोगुण के अन्वय रूप में—	३९१
५. समष्टि महत् रजोगुण के अर्थवत्त्व रूप में—	३९१
ब्रह्म की उपासना और ज्ञान	३९२
तृतीयः खण्ड (५वाँ आवरण)	३९४-४१८
समष्टि महत्तत्त्व मण्डल—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	३९४-४१८
१. समष्टि महत्तत्त्व मण्डल के स्थूल रूप में—	३९४
मोक्ष के चार द्वारपाल	३९६
सुख और आनन्द का भेद	३९८
आनन्द चित्त में ही है।	३९९
वैराग्य का महत्त्व	४००
२. समष्टि महत्तत्त्व मण्ल के स्वरूप में—	४०३
भ्रान्ति दर्शन	४०३
योगी का धर्म	४०५

विषय	पृष्ठ
भोगरहित अन्तःकरण में ब्रह्म-दर्शन	४०६
३. समष्टि महत्तत्त्व मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	४०६
ब्रह्म प्रकृति का शाश्वत सम्बन्ध	४१०
४. समष्टि महत्तत्त्व मण्डल के अन्वय रूप में—	४१०
५. समष्टि महत्तत्त्व मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	४१०
कोई भी सर्वथा सुखी नहीं	४१२
भक्त में आठ प्रकार के सात्त्विक भाव	४१३
शुष्क वैराग्य	४१३
चतुर्थः खण्ड (चतुर्थ नावरणम्)	४१६-३२७
समष्टि काल मण्डलम्—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	४१६-४२७
१. समष्टि काल मण्डल के स्थूल रूप में—	४१६
काल के गुण	४१६
काल के द्वारा आयु का बोध	४२०
श्रेयः मार्ग	४२१
२. समष्टि काल मण्डल के स्वरूप में—	४२२
३. समष्टि काल मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	४२३
काल और मृत्यु में भेद	४२३
काल द्वारा सूर्य की गति की माप	४२४
४. समष्टि काल मण्ढल के अन्वय रूप में—	४२४
५. समष्टि काल मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	४२४
पञ्चमः खण्ड (तृतीयमावरणम्)—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	४२८-४३३
समष्टि दिङ् मण्डलम् पांचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	४२८-४३३
१ समष्टि दिङ् मण्डल के स्थूल रूप में—	४२८
आकाश के दो भेद	४२६
२. समष्टि दिङ् मण्डल के स्वरूप में—	४३०
३. समष्टि दिङ् मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	४३१
४. समष्टि दिङ् मण्डल के अन्वय रूप में—	४३२
५. समष्टि दिङ् मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में—	४३२
षष्ठः खण्डः (द्वितीयावरणम)	४६४-४४४
समष्टि महाकाश मण्डलम्—पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	४३४-४४४
१. समष्टि महाकाश मण्डल के स्थूल रूप में—	४३४
महाकाश की उत्पत्ति	४३४
प्रलयकाल में ज्ञान क्रिया जागरूक	४३५
क्रिया का अन्य नाम	४३७
समष्टि महाकाश मण्डल के स्वरूप में—	४३८

विषय	पृष्ठ
३. समष्टि महाकाश मण्डल के सूक्ष्म रूप में—	४३८
४. समष्टि महाकाश मण्डल के अन्वय रूप में—	४३८
५. समष्टि् महाकाश मण्डल के अर्थवत्त्व रूप में	४३८
चित्र संख्या १५—सर्वप्रथम प्रकृति से महाकाश दिशा, काल की उत्पत्ति	४३८-४३९
क्या ईश्वर में ज्ञान कर्म हैं।	४४०
सप्तमः खण्डः (चरमावरणन्)	४४५-४५६
समष्टि कारण प्रकृति और उसके रूपों में ब्रह्म-विज्ञान	४४५-४५६
१. समष्टि कारण प्रकृति के स्थूल रूप में	४४५
जीवों के कर्मफल की व्यवस्था	४४५
चित्र संख्या १६—समष्टि प्रकृति से ज्ञान और क्रिया की उत्पत्ति	४४४-४४५
ब्रह्म का महत्त्व	४४७
निराकार ब्रह्म का दर्शन	४४८
२. समष्टि कारण प्रकृति के स्वरूप में	४४९
प्रकृति की साम्यावस्था का प्रत्यक्ष	४५०
चित्र संख्या १७—प्रकृति की साम्यावस्था में ब्रह्म के संयोग से सूक्ष्म क्रिया	४५०-४५१
५. समष्टि कारण प्रकृति के अर्थवत्त्व रूप में	४५२
मुक्ति के लिए परमवैराग्य	४५३
चित्र संख्या १८—ब्रह्म से समष्टि पृथिवी महाभूत पर्यन्त ३४ पदार्थों का स्वरूप	४५६-४५७
पञ्चमाध्यायः	
मोक्ष अथवा कैवल्य	४५७-५१६
आचार्यों की मान्यतायें	४५८
ब्रह्मलोक में चार प्रकार की मुक्ति	४५९
सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य	४५९
कैवल्य का स्वरूप	४६१
हमारी मान्यता	४६२
कैवल्य में ब्रह्मानन्द का अभाव	४६२
मुक्ति की अनित्यता	४६४
मोक्ष का स्वरूप	४६४
मोक्ष में आनन्द का अभाव	४६६
मोक्ष से सूक्ष्म शरीर का अभाव	४६७
जीवात्मा में ब्रह्म-व्यापक नहीं।	४६८
आत्मा और प्रकृति की सूक्ष्मता में अन्तर	४६९
प्रकृति अनादि नित्य है।	४७३
सर्वव्यापक चेतन तत्त्व ब्रह्म	४७४
ब्रह्मलोक में आनन्द की प्राप्ति	४७८
स्वर्ग में आनन्द का उपभोग	४७९

विषय	पृष्ठ
स्वर्गलोक में ईश्वर का सिंहासन	४८०
सातवें आसमान पर जन्नत	४८३
सिद्ध शिला पर मुक्त आत्मायें	४८६
ब्रह्म में विशिष्टाद्वैत का अभाव	४८६
ब्रह्म में परिणाम अभाव	४८६
ब्रह्म में अभिन्न निमोत्तोपादान कारण का अभाव	४९२
आत्मा, ब्रह्म, प्रकृति का वास्तविक स्वरूप	४९३
मुक्ति में सांकल्पिक शरीर का अभाव	४९९
प्रकृति और ब्रह्म की सूक्ष्मता में अन्तर	४९९
एक आत्मवाद में अनेक दोष	५०२
आत्मा के नानात्व में श्रुति प्रमाण ।	५०५
मोक्ष में आत्मा में गति का अभाव	५०६
मोक्ष से पुनरावृत्ति	५०६
बिना भोग सञ्चित कर्मों का अभाव नहीं	५११
उपसंहार	५१४-५१६
शुद्धि पत्र	५१७

भूमिका

हमने आत्मविज्ञान ग्रन्थ के अन्त में संकेत किया था कि अवसर मिलने पर 'ब्रह्म-विज्ञान' को भी लिपि बद्ध किया जायेगा क्योंकि आत्म-विज्ञान की सार्थकता ब्रह्म-विज्ञान में ही है। बिना ब्रह्म-विज्ञान के आत्मविज्ञान अधूरा सा है।

जब 'आत्म-विज्ञान' प्रकाशित होकर जनता के पास पहुँचा तब अनेक सज्जनों के पत्र प्राप्त हुए, और मौखिक भी अनेक महानुभावों ने आग्रह किया कि योग का विषय अत्यन्त सूक्ष्म और गहन है। उसमें भी ब्रह्म-विज्ञान तो अत्यन्त गुह्य रहा है। उपनिषद् जैसे सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म-ग्रन्थ ब्रह्म-ज्ञान की समस्या को सुगम न बना सके। महर्षि पतञ्जलि ने अपनी अनन्त अनुकम्पा से योग जैसा महान् विज्ञान मानव के लिये प्रदान किया, पर परम्परा के लुप्त हो जाने के कारण वह भी आज के मानव की बुद्धि में समाता नहीं था। आप ने कृपा कर उसके क्रियात्मकरूप को 'आत्म-विज्ञान' तथा 'बहिरंगयोग' में सुगमता से खोलकर विषद रूप में रख दिया। उससे आत्म-जिज्ञासुओं को आज विलुप्त मार्ग हाथ लगा है अब आप कृपा कर 'ब्रह्म-विज्ञान' को लिपि बद्ध करने की अनुकम्पा करें; जिससे हम अकिंचन जन भी उस परमकारुणिक परब्रह्म की झलक पा सकें।'

इसी कारण से 'ब्रह्म-विज्ञान' जैसा महान ग्रन्थ, श्री बद्रीनाथ के उत्तुंग हिमाछन्न प्रदेश में बैठकर लिखने में प्रवृत्त होना पड़ा। तीन मास में इस की पाण्डुलिपि लिखकर तैयार हो गयी। सर्वसाधारण भी समझ सकें इस बात को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की भाषा को बोल चाल की भाषा रखने का प्रयत्न किया गया है।'

व्यष्टि पदार्थों का सम्बन्ध मुख्य रूप से जीवात्मा के साथ है। उनका हमने विस्तार पूर्वक वर्णन 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ में कर दिया है। समष्टि-पदार्थों का सम्बन्ध विशेष रूप से ब्रह्म के साथ है। इनका उल्लेख इस ब्रह्म-विज्ञान ग्रन्थ में किया है। समष्टि जगत् अनन्त है। मूलतः इस समष्टि जगत् में ३५ पदार्थ मुक्ति का हेतु हैं। इन सबका साक्षात् होने के उपरान्त ही अपवर्ग प्राप्त होता है। वे पदार्थ हैं—

१. ब्रह्म	२. जीवात्मा	३. समष्टि प्रकृति
४. समष्टि महाकाश	५. समष्टि दिशा	६. समष्टि काल
७. समष्टि महत् सत्त्व	८. समष्टि महत् रजः	९. समष्टि महत् तमः
१०. समष्टि चित्त	११. समष्टि बुद्धि	१२. समष्टि सत्त्व अहंकार
१३. समष्टि रज अहंकार	१४. समष्टि तमः अहंकार	१५. समष्टि मन
१६. समष्टि कर्णेन्द्रिय	१७. समष्टि स्पर्शेन्द्रिय	१८. समष्टि नेत्रेन्द्रिय
१९. समष्टि रसनेन्द्रिय	२०. समष्टि घ्राणेन्द्रिय	२१. समष्टि वागिन्द्रिय
२२. समष्टि हस्तेन्द्रिथ	२३. समष्टि पादेन्द्रिय	२४. समष्टि उपस्थेन्द्रिय
२५. समष्टि गुदेन्द्रिय	२६. समष्टि शब्द तन्मात्रा	२७. समष्टि स्पर्श तन्मात्रा
२८. समष्टि रूप तन्मात्रा	२९. समष्टि रस तन्मात्रा	३०. समष्टि गन्ध तन्मात्रा
३१. समष्टि आकाश भूत	३२. समष्टि वायु महाभूत	३३. समष्टि अग्नि महाभूत
३४. समष्टि जल महाभूत	३५. समष्टि पृथिवी महाभूत	

ब्रह्म और आत्मा को छोड़कर शेष ३२ पदार्थ उपादान कारण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में निमित्त कारण ब्रह्म हैं। इन सब के साथ ब्रह्म का कैसे सम्बन्ध है ? और इन पदार्थों को कैसे उत्पन्न करता है ? इन पदार्थों का विज्ञान और इनमें ब्रह्म-विज्ञान किस प्रकार से होता है ? यह सब विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

इन सर्व समष्टि पदार्थों और इनकी कारण रूप प्रकृति एवं ब्रह्म का साक्षात् कार होने पर जीवात्मा को जो मोक्ष प्राप्त होता है इसका भी उल्लेख किया है। जगत् का कारण प्रकृति और इसके सम्पूर्ण कार्य का स्वरूप, एवं आत्मा और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को सही रूप में समझाया है। जीवात्मा की किस प्रकार और किससे मुक्ति होती है ? मुक्ति में इसकी कहाँ और किस प्रकार की स्थिति होती है ?···स्वर्ग, मोक्ष और कैवल्य में इसको क्या प्राप्त होता है ? इन सब बातों का अत्यन्त सुन्दर और सरल ढंग से शंका समाधान पूर्वक विस्तार से वर्णन किया गया है।

यह ब्रह्म-विज्ञान पाठकों और साधकों के लिये अत्यन्त लाभदायक और महान् कल्याण कारी हो।

बद्रीनाथ, हिमालय
अलखनन्दा गंगा तट — स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती
भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी विक्रम सं० २०१९ सन् १९६२

ओ३म्

ईश्वर-वन्दना

यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

अथर्ववेद काण्ड १० । सू० ८ । मं० १

सर्व-व्यापक ब्रह्म तीनों कालों—भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् में वर्तमान है। भगवान् के आश्रय सब जड चेतन ठहरते हैं। सब का वह ही अधिष्ठान है। वह तीनों कालों में सदा नित्य रूप से विद्यमान रहता है। वह केवल सुख स्वरूप है। दुःख क्लेश कभी उसके पास नहीं आते हैं। उस सबसे महान् ब्रह्म के लिए हम नमस्कार करते हैं।

गुरुजन-वन्दना

उन परम-पूज्य सत् गुरु-देवों को भी शतंशः विनम्र प्रणाम करते हैं जिनकी अपार दया से हमें यह दिव्य आलोक प्राप्त हुआ है।

गुरु ज्ञानं ददात्येव ज्ञानं च हरि-भक्तिदम्;
हरि-भक्ति-प्रदाताय:, को बन्धुस्ततः परम्।
अज्ञान-तिमिराच्छन्नो ज्ञान-दीपं यतोलभेत,
लब्ध्वा च परं निर्मलं पश्येत् को बन्धुस्ततः परः ॥

संसार में प्रत्यक्ष देखने में आता है, कि गुरुजनों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। बिना गुरु-जनों से ज्ञान प्राप्त किए मानव अन्धकार में ठोकरें खाता रहता है। ज्ञानों में भी जो गुरु अध्यात्म विज्ञान प्रदान कर आत्म विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान देता है उस महान् आत्मा का विशेष उपकार है, कि जिसके ज्ञान के द्वारा सब पापों को हरण करने वाले हरि की भक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार परमात्मा की भक्ति प्रदान करने वाले गुरु से बढ़कर और कौन संसार में परम-हितकारी बन्धु हो सकता है।

जिस परम पूज्य गुरुदेव के प्रदान किये हुए ज्ञान के द्वारा अन्तःकरण का अन्धकार दूर होकर ज्ञान रूपी दीपक प्राप्त हुआ है, जिस विज्ञान रूपी दीपक को प्राप्त करके आत्मा और ब्रह्म को देखा है, साक्षात्कार किया है, उन गुरुदेव से बढ़कर संसार में और कौन परम हितकारी बन्धु हो सकता है।

विषय-निदर्शन

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्, विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

श्वेताश्वरो० अ० ६। मं० ७ ॥

वह भगवान् सब ऐश्वर्यवानों से परम, महान् ऐश्वर्यवान् हैं। वह सब देवताओं का भी देवता है। वह सबसे बड़ा महान् परम देव है। वह ईश्वर स्वामियों का स्वामी है, पति है। वह पर से पर है। उससे बड़ा और महान् कोई नहीं है। उस आराध्य देव को हम जानें, और प्राप्त करें। वह देव ही सब जगत् में समस्त ब्रह्माण्ड में स्तुति करने योग्य है। उसकी ही भक्ति उसकी ही उपासना करनी चाहिए।

ब्रह्म के विज्ञान का सृष्टि के साथ विशेष रूप से सम्बन्ध है। अतः पहले सामान्य रूप से सृष्टि की उत्पत्ति और इसके पदार्थों का विज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इति वन्दन-निदर्शनम्

ॐ

ब्रह्म-विज्ञान

प्रथम अध्याय

समष्टि महाभूतों की सृष्टि में ब्रह्म की उपासना और ज्ञान

प्रथम खण्ड

विषय-प्रवेश और विज्ञान-प्रक्रिया

ब्रह्म—संसार को प्रत्यक्ष रूप में देखकर इसके कर्ता का अनुमान होता है। इस संसार का बनाने वाला कोई अवश्य है। अनुमान इसलिये कहा जाता है कि इस जगत् का कर्ता साधारणतः प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता है।

प्रश्न—वह निर्माण करने वाला चेतन है या जड़ ?

उत्तर—जड़ पदार्थ स्वयं नियमपूर्वक क्रियाशील होकर बुद्धिपूर्वक और क्रम से यथार्थ समय में कर्म करने में असमर्थ है। दृष्टान्त के रूप में भवन-निर्माण, खाद्यपदार्थों का निर्माण, भोक्तव्य पदार्थों—मोटर, रेल, वायुयान (हवाई जहाज), जलयान, राकेट, स्पुतनिक, मशीन इत्यादि—का निर्माण स्वयं नहीं हो जाता है। इन सब पदार्थों का निर्माण करने वाला चेतन पुरुष प्रत्यक्ष रूप से देखने में आता है। इसी प्रकार इस जगत् का निर्माण करने वाला कोई चेतन पुरुष-विशेष ही होना चाहिये। मनुष्य तो करोड़ों, और खर्बों मिलकर भी एक बड़े से पर्वत का निर्माण नहीं कर सकते हैं, इसलिये समस्त लोक-लोकान्तरों और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माता कोई विशेष पुरुष या महान् चेतन शक्ति अवश्य है। उस विशेष चेतन शक्ति का हम इस ग्रन्थ में ब्रह्म, ईश्वर, भगवान् या परमात्मा आदि नामों से उल्लेख करेंगे।

प्रकृति—जिस पदार्थ से यह संसार बना है वह (उपादान) कारण भी अवश्य कोई होना चाहिये। वह कारण भी हमारी इन आँखों से देखने में नहीं आ रहा है। प्रत्यक्ष का विषय न होने से उसका भी हम अनुमान ही करते हैं। ऐसा कोई सर्वगुण सम्पन्न पदार्थ है और वह सूक्ष्म है, जिससे इस संसार के समस्त पदार्थ बनते हैं। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष रूप से न दिखने वाला इस जगत् और इसके पदार्थों का मूलभूत कारण जो अत्यन्त सूक्ष्म है उसे ही हम उपादान कारण कहते हैं। इसी उपादान कारण का हम इस ग्रन्थ में प्रकृति या माया के नाम से उल्लेख करेंगे।

सब पदार्थों के निर्माण-काल में मुख्य रूप से एक उपादान कारण होता है और शेष इसके सहकारी कारण होते हैं। ऐसे ही निमित्त कारण भी एक मुख्य होता है, शेष उसके सहकारी कारण होते हैं।

इसे इस दृष्टान्त से समझिये—एक सुनार कानों के कुण्डल (टेटके, कांटे) बनाता है। यहाँ सोना कुण्डलों का उपादान कारण है। अब सुनार उस सोने की डली को पहले अग्नि में रखकर नरम करके पत्र या तार के रूप में बनाता है। यहाँ उपादान कारण स्वर्ण का, अग्नि सहकारी कारण है।

सुनार निमित्त कारण है; और हथौड़ा अयरण आदि जिनसे कूट-कूट कर तार, पत्रे बनाए जाते हैं, सुनार के सहकारी कारण हैं।

इसी प्रकार इस संसार के प्रति प्रकृति उपादान कारण है, और ईश्वर निमित्त कारण है। ये दोनों मिलकर जगत् का निर्माण करते हैं।

जीव

प्रश्न—यह संसार इन दोनों ने किस लिये उत्पन्न किया है?

उत्तर—जिनके लिये यह संसार बना है, वे सब प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान हैं। वे हैं—देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, जन्तु आदि शरीरधारी। ये सब प्राणी संसार का भोग करते हैं, इनके लिये ही संसार बना है।

(शंका) ये जो शरीर, मनुष्य एवं अन्य प्राणियों के हैं क्या ये ही इस संसार और इसके पदार्थों का भोग करते हैं?

(समाधान) जब हम किसी मुर्दे को देखते हैं तब उसमें चेतना दिखाई नहीं देती। इसीलिये उसे उठाकर अग्नि, जल या भूमि में डाल देते हैं। वह शरीर कारणों में लय हो जाता है। जीवित को कोई नहीं डालता। यदि जीवित के साथ ऐसा करे तो मृत्युदण्ड मिलता है। इससे यह सिद्ध है कि इस शरीर से भिन्न और ही कोई चेतन-शक्ति इस शरीर में विद्यमान है, जो इस शरीर का सञ्चालन करते हुए भोग, कर्म और ज्ञान का हेतु बनी हुई है। वह चेतन-शक्ति प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुमान का ही विषय बनी है। यह चेतन-शक्ति शरीर से भिन्न शरीर की अभिमानी अत्यन्त सूक्ष्म है।

उस चेतन शक्ति का हम इस ग्रन्थ में जीव, जीवात्मा, या आत्मा के नाम से उल्लेख करेंगे। यह जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से वर्त्तमान है, और संख्या की दृष्टि से वे अनन्त हैं।

इन्हीं तीनों पदार्थों का इस ग्रन्थ में साक्षात प्रत्यक्ष कराने का विधि-विधान पूर्ण रूप से लिखा जायेगा।

ब्रह्म के सम्बन्ध से चेतनवत-सी बनी सृष्टि की स्व-रचना

संक्षेप में—यह दिखाई देने वाला संसार जब उत्पन्न नहीं हुआ था अपने सूक्ष्म रूप में वर्त्तमान था, वह इसकी साम्य अवस्था थी। उस अवस्था का नाम ही प्रलय है।

उस सूक्ष्म रूप प्रकृति की अपेक्षा ब्रह्म सूक्ष्म है, अतः सर्वव्यापक है। उस प्रकृति में भी व्यापक है, ओतप्रोत है। ब्रह्म के नित्य सम्बन्ध के कारण प्रकृति में सूक्ष्म सामान्य क्रिया सदा वर्तमान रहती है, प्रलय काल में भी और सृष्टि काल में भी। यहाँ चेतन ब्रह्म का सम्बन्ध ही क्रिया में हेतु है। ब्रह्म के ही सम्बन्ध से प्रकृति में सूक्ष्म रूप से ज्ञान भी सदा रहता है, अर्थात् कब सृष्टि का सृजन होना है? कितने काल में होना है?

किस प्रकार होना है ? इन सब का द्योतक ज्ञान भी प्रकृति में रहता है और स्थिति तो इस प्रकृति में स्वभाव से जड़ता के साथ सदा वर्तमान रहती है। अतः यह प्रकृति स्थिति, क्रिया और ज्ञान को साथ में लेकर परिणाम-भाव को प्राप्त होने के लिये विशेष रूप से क्रियाशील हुई। इसने सर्वप्रथम अपने कार्य समष्टि आकाश को उत्पन्न किया, क्योंकि सर्वप्रथम जब इसने पलटा खाया तो इसे अवकाश चाहिये था। अतः संकोच भाव को प्राप्त होकर अपने अन्दर अवकाश या समष्टि महाकाश को उत्पन्न किया।

उस समय जिस ओर को सर्वप्रथम पलटा खाया उस ओर दिशा को उत्पन्न किया। उसी ओर का नाम दिशा हुआ। जितनी देर में पलटा खाया उसी का नाम समय हुआ।

अब ये तीनों पदार्थ आगे उत्पन्न होने वाले सब कार्यात्मक पदार्थों के सहकारी हुए। महा-आकाश ने सब पदार्थों के निवास के लिये स्थान दिया। दिशा ने जिस ओर को पदार्थ ने गमनागमन करना था उसकी व्यवस्था की। जितनी देर में पदार्थ उत्पन्न हुआ इसकी व्यवस्था काल ने की।

इसके पश्चात् आकाश, दिशा, काल को साथ में लेकर प्रकृति पुनः परिणाम भाव को प्राप्त हुई तब सत्व उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर प्रकृति पुनः अपने इन चारों कार्यों को साथ में लेकर परिणाम भाव को प्राप्त हुई और रजोगुण उत्पन्न हुआ। पुनः पूर्ववर्णित गुण और कार्यों के साथ मिलकर तमोगुण द्रव्य उत्पन्न हुआ। ये सब पदार्थ समष्टि रूप में ही उत्पन्न हुए। यह समष्टि संसार की ही उत्पत्ति दिखाई जा रही है। अगले पदार्थ भी समष्टि रूप में ही उत्पन्न होंगे। इन ६ पदार्थों और अपने गुणों सहित प्रकृति पुनः-पुनः परिणाम भाव को प्राप्त हुई। क्रमशः समष्टि चित्त, समष्टि बुद्धि, समष्टि सात्विक अहंकार, समष्टि राजस अहंकार, समष्टि तामस अहंकार, समष्टि मन, समष्टि ज्ञानेन्द्रियाँ, समष्टि कर्मेन्द्रियाँ, समष्टि पञ्चतन्मात्रायें, और स्थूल भूत उत्पन्न हुए। यह सामान्य रूप से सूत्र रूप में सृष्टि उत्पत्ति के ३२ पदार्थों का उत्पत्ति-क्रम बताया है।

समष्टि पदार्थों का स्वरूप

व्यष्टि—प्रत्येक प्राणी में जो चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय हैं, यह व्यष्टि कहलाते हैं, क्योंकि ये एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, और स्वयं भी एक-एक होने से व्यष्टि हैं।

व्यष्टियों की जिनसे उत्पत्ति होती है, उनको समष्टि कहते हैं। व्यक्तिगत चित्त का उपादान कारण समष्टि चित्त है। समष्टि चित्त से ही व्यष्टि चित्त उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सब पदार्थों में व्यष्टि समष्टि का भेद समझना चाहिये। जैसे व्यष्टि पञ्चभूतों के कारण समष्टि पञ्चभूत हैं। व्यष्टि तन्मात्राओं के समष्टि पञ्चतन्मात्रा कारण हैं। पञ्चभूतों के उदाहरण में हमारी पृथ्वी एक व्यष्टि है, और सब लोक-लोकान्तर मिलकर एक समष्टि पृथ्वी होती है। इसी प्रकार अन्य भूतों को भी समझ लें।

पञ्च तन्मात्राओं के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये। समष्टि तन्मात्रा व्यष्टि तन्मात्राओं का उपादान कारण है।

ये समष्टि पदार्थ उपादान कारण के रूप में सदा आकाश में विद्यमान रहते हैं। व्यष्टि पदार्थ सदा प्राणियों के उपभोग में आते रहते हैं। व्यष्टि निर्मित हो-होकर आते रहते हैं और कार्य सम्पादन कर समष्टि में विलीन हो जाते हैं—व्यष्टियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से जीवों के साथ होता है, और समष्टि का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ होता है। ब्रह्म के सन्निधान रूप सम्बन्ध से समष्टि पदार्थ सदा व्यष्टियों को उत्पन्न करते रहते हैं। ये व्यष्टियें उत्पन्न होकर सदा जीवात्माओं को भोग और मोक्ष प्रदान करते रहते हैं। इन व्यष्टियों का सम्बन्ध सर्वदा प्राणियों के साथ ही बना रहता है। यही समष्टि और व्यष्टि पदार्थों में अन्तर है। परन्तु ब्रह्म का सानिध्य अथवा ब्रह्म की व्यापकता अथवा निर्मितता ही इन समष्टि व्यष्टि पदार्थों को उत्पन्न करने में मुख्य हेतु होती है परन्तु इन समष्टि और व्यष्टि पदार्थों का उपादान कारण प्रकृति ही होती है।

समष्टि पदार्थों के रंग, रूप और आकार चित्र संख्या १ में सामने देखें। चित्र सं० १ का विवरण—नं० १ से लेकर नं० ३४ तक सर्व पदार्थों का रंग रूप दिया गया है। ष्टि पृथ्वी महाभूत का १ नम्बर है। सर्व पदार्थों के साथ समष्टि शब्द का प्रयोग । नं० २. जल ३. अग्नि ४. वायु ५. आकाश ६. गन्ध तन्मात्रा ७. रस तन्मात्रा ८. रूप तन्मात्रा ९. स्पर्श तन्मात्रा १०. शब्द तन्मात्रा ११. गुदेन्द्रिय १२. उपस्थेन्द्रिय १३. पादेन्द्रिय १४. हस्तेन्द्रिय १५. वागिन्द्रिय १६. घ्राणेन्द्रिय १७. रसनेन्द्रिय १८. नेत्रेन्द्रिय १९. स्पर्शेन्द्रिय २०. कर्णेन्द्रिय २१. मन २२. तमः अहंकार २३. रजः अहंकार २४. सत्व अहंकार २५. बुद्धि २६. चित्त २७. महत् तमः २८. महत् रजः २९. महत सत्त्व ३०. काल ३१. दिशा ३२. महा आकाश ३३. प्रकृति ३४. ब्रह्म। ये सब ३४ समष्टि पदार्थों के रूप मण्डलाकार में दिये हैं।

तत्त्व ज्ञान का साधन 'संयम'

इन चौंतीस तत्त्वों का साक्षात् ज्ञान कैसे हो यह बताना आवश्यक है। तत्त्व ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है यह बताने के लिए गौतम मुनि ने यह सूत्र लिखा है—

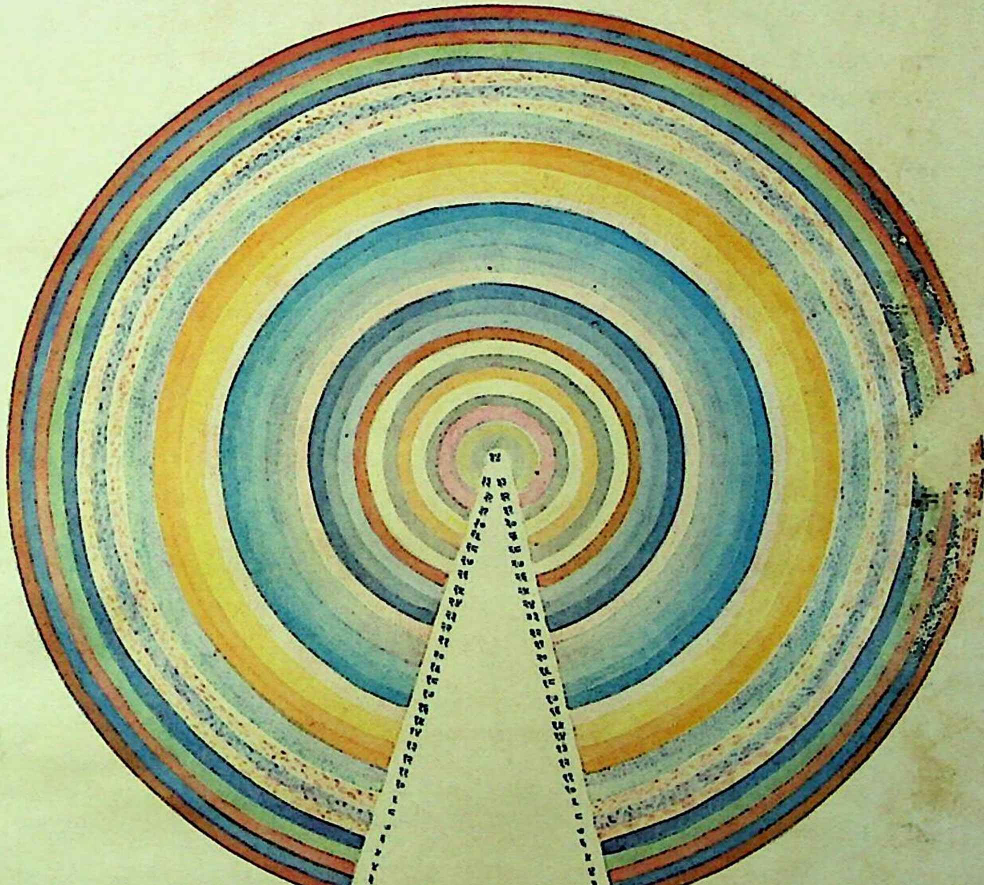
समाधि-विशेषाभ्यासात्।

(न्यायदर्शन अ० ४। आ० २। सू० ३५॥)

तत्त्व ज्ञान समाधि-विशेष के अभ्यास से होता है। इस सूत्र में विशेष शब्द पढ़ा गया है। इससे विशेष असम्प्रज्ञात समाधि और संयम का ग्रहण होता है। अतः स्पष्ट है कि बिना संयममय समाधि के तत्त्व ज्ञान नहीं हो सकता। सब की अपेक्षा योग में संयम सूक्ष्म है, अन्तरङ्ग है। धारणा ध्यान समाधि की परिपक्व अवस्था को संयम कहते हैं। जिस पदार्थ पर धारणा की उसी पर ध्यान और उस पर समाधि इसे संयम कहते हैं। अभ्यासियों को इसी संयम के परिपक्व अभ्यास द्वारा ३५ तत्त्वों का प्रत्यक्ष कराना है।

संयम के लिए उपयोगी स्थान

न्यायदर्शनकार ने समाधि के देश की बड़ी प्रशंसा की है। स्थान का बड़ा



चित्र सं० १

समष्टि पृथिवी महाभूत से ब्रह्म प्रयन्त ३४ पदार्थों का स्वरूप

महत्त्व माना है। संयम के लिये कैसा स्थान हो, लिखा है—

अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशात्।

(न्याय० अ० ४। आ० २। सू० ३९।।)

जो योगी समाधि द्वारा तत्त्व ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसको एकान्त, शान्त, वन में निवास करना चाहिये। या किसी एकान्त पर्वत गुफा में। या भूमिस्थ गुफा में, तीसरा स्थान यहाँ पुलिन (नदियों का किनारा) कहा है। नदियों के तीर या नदियों के संगम पर वाह्य शब्द कम प्रतीत होते हैं। वेद में भी स्थान का बड़ा महत्त्व दर्शाया है :---

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।

इस श्रुति में भी गिरि-गुहा और नदियों के संगम पर योगाभ्यास करने का विधान किया है।

ब्रह्म विज्ञान का क्रम

इन सब ३२ पदार्थों के निर्माण और इनके विज्ञान का क्रम लिखते हैं।

ब्रह्म का इनके साथ निर्माण-काल में कैसे सम्बन्ध रहता है। ब्रह्म का इनके विज्ञान के साथ-साथ किस प्रकार विज्ञान होता है। ब्रह्म का स्वरूप कैसा है। किस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार होगा, इत्यादि विषयों को हृदयंगम कराना है।

कारण प्रकृति से प्रारंभ कर के ३२ पदार्थों का परिणाम हुआ है, यह विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है। सर्वसाधारण की समझ में मूल कारण प्रकृति के क्रम से बताने पर आना कठिन है, और मूल प्रकृति का प्रत्यक्ष तो अत्यन्त दुष्कर है। इससे विपरीत स्थूल के क्रम से वर्णन और अभ्यास सुगम होगा। अन्तिम पाँच स्थूल भूत सब के अन्त में परिणाम को प्राप्त हुए हैं। इनकी उत्पत्ति एवं विशेष विज्ञान का पहले साक्षात् कराने से सरल होगा। इस प्रकार पहले स्थूल फिर सूक्ष्म का विज्ञान कराने से साधारण पुरुष की समझ में क्रमपूर्वक आता चला जायगा। यही स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन करना है। स्थूल शीघ्र समझ में आता है। इस प्रकार पदार्थों का भी क्रमपूर्वक विज्ञान होता जायेगा और ब्रह्म का भी साक्षात्कार साथ-साथ होता जायेगा। इसीलिये विपरीत क्रम से पदार्थों के विज्ञान का प्रारंभ किया है।

जिस धारणा, ध्यान, समाधि, संयम द्वारा इस विशेष विज्ञान को प्राप्त करना है, प्रथम उसको भी समझ लीजिये जिससे आपको पदार्थों का विज्ञान प्राप्त करने में सरलता हो। यह साधन ही प्रकृति, इसके कार्यों, आत्मा, और परब्रह्म के विज्ञान में सर्वश्रेष्ठ है। इनके विना अन्य साधनों से तत्त्वज्ञान होना असम्भव है।

समाधि का स्वरूप और प्रयोग

समाधि की परिपक्व अवस्था संयम का अभ्यास करने के लिये समाधि का स्वरूप समझना आवश्यक है।

देश बन्धश्चित्तस्य धारणा।

(योग० पा० ३। सू० १।।)

चित्त का अर्थ यहाँ बुद्धि है। किसी एक देश में बुद्धि वृत्ति को समाहित करना धारणा है। एक देश इसलिये कथन किया है कि जैसे पृथ्वी तत्त्व का तो कोई अन्त देखने में नहीं आता है, क्योंकि ये नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र सब ही तो पृथ्वी तत्त्व के अन्तर्गत हैं। इसलिये एक देश कहा। एक देश का अभिप्राय है, इनमें से कोई एक। चाहे आप अपनी भूमि को ही धारणा का विषय बनावें, या चन्द्र आदि को।

एकान्त शान्त पूर्व वर्णित स्थान में कोमल आसन बिछाकर अभ्यासानुसार दृष्टि को खुले रखकर या बन्द रखकर, जिस आसन से बैठने का अभ्यास हो, बिना हिले-डुले स्थिर भाव से बैठ जावें। इन्द्रियों और मन को रोककर, बुद्धि को समाहित कर के, बुद्धि द्वारा अपने सूक्ष्म नेत्र की दृष्टि को भूमि के अन्दर फैंकें, अन्दर ले जायें, उसमें पिरो दें। जहाँ तक तुम्हारी धारणा की दिव्य दृष्टि जावे वहाँ तक ले जावें। किसी देश में ले जाकर दृष्टि को ठहरा दें। इसके पश्चात्

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

(योग० पा० ३। सू० २॥)

इस योग सूत्र के आधार पर उस ध्येय पृथ्वी के एक देश में इस प्रकार बुद्धि को समाहित करें कि ढाई घण्टे की धारणा के उपरान्त ध्यान की स्थिति में आ जाये, और उस काल में भी अन्य किसी विषय, पदार्थ, या विचार का कोई संस्कार ही उदय न हो। पदार्थ का ही निरन्तर ध्यान बना रहे। ध्यान का सदृश प्रवाह निरन्तर बहता रहे। अबाध गति से ध्यान चलता रहे। यह ध्यान की अवस्था होगी।

सांख्य दर्शन ने भी ध्यान का ऐसा ही लक्षण किया है :—

ध्यानं निर्विषयं मनः।

(सांख्य० अ० ६। सू० २५॥)

इसका अर्थ—जब पदार्थ के किसी देश में ध्यान का निरन्तर अबाध गति से प्रवाह चल रहा है, उस काल में अन्य विषय का ध्यान एक क्षण को भी नहीं आना चाहिये। अन्य सब विषयों का अभाव ही रहना चाहिये। केवल एक मात्र ध्येय ही ध्यान का लक्ष्य हो।

रागोपहतिध्यानम्।

(सांख्य० अ० ३। सू० ३०॥)

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों के अनुराग की उपहति हो जाना ही ध्यान है। सब इन्द्रियों के राग का ध्यानकाल में सर्वथा अभाव हो जाना।

इस काल में आप ने ध्येयाकार पृथ्वी को लक्ष्य बनाकर ध्यान का विषय बनाया है। यह भी तो एक प्रकार से दिव्य चक्षु इन्द्रिय का ही विषय है, परन्तु यहाँ यह एकाकार धारा-प्रवाह से ध्यान का विषय बना हुआ है। इसको सम्प्रज्ञात का विषय बनाना है तभी इसके वास्तविक स्वरूप का निर्भ्रान्त ज्ञान होगा।

त्रिपुटी का विश्लेषण

लगातार एक ही विषय का अनन्यमनस्क भाव से विषय के एक देश में देखना

धारणा है। धारणा का काल ढ़ाई घण्टे तक रहता है। जब चित्त अबाध गति से एक देश में ढ़ाई घण्टे के उपरान्त भी टिका रहता है तो ध्यान आरम्भ हो जाता है। जब अनन्य विषयक चित्त ६ घण्टे तक अबाध गति से स्थिर रहे तो उसकी ध्यान संज्ञा बनती है। इसके आगे समाधि आरम्भ होती है, जिसमें अभ्यासी स्वरूप शून्य हो जाता है, और केवल ध्येय अर्थ ही भासित होता है। यह स्थिति १२ घण्टे बनी रहे तब इसकी समाधि संज्ञा होती है।

सम्प्रज्ञात समाधियाँ

सम्प्रज्ञात समाधियाँ मुख्यतः चार प्रकार की हैं :—

१. सवितर्क, २. निर्वितर्क, ३. सविचार, ४. निर्विचार।

इनमें से किस समाधि द्वारा किस तत्त्व का साक्षात्कार करना होगा, यह जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए इन समाधियों के स्वरूप को समझिये।

१. सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि—उसे कहते हैं, जिसमें पृथ्वी आदि पाँच स्थूल भूतों के विषय में यह विज्ञान किया जाये कि परिणाम क्रम में यह कब उत्पन्न हुए, उस भूत के गुण क्या-क्या हैं। कौन गुण किस गुण के पश्चात् उत्पन्न हुआ। गुण के उत्पन्न होने पर पृथ्वी आदि किस स्वरूप वाले हुए।

इस सम्प्रज्ञात समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान की संकीर्णता होती है। सम्मिश्रण सा होता है, और वह भी विकल्प पूर्वक ही होता है। इस समाधि में यह निर्णय नहीं हो पाता है कि पृथ्वी शब्द रूप है या अर्थ रूप या ज्ञान रूप। वास्तव में तो पृथ्वी शब्द भिन्न है, पृथ्वी ज्ञान भिन्न है। इसका वास्तविक विवेक तो निर्वितर्क में होता है। यहाँ तो संकीर्ण सा ज्ञान होता है। वास्तव में पृथ्वी का स्वरूप क्या है, इसका निर्णय ठीक-ठीक नहीं हो पाता।

२. निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि—इसमें वितर्क या सम्मिश्रण नहीं होता। केवल पृथ्वी आदि पाँच भूतों के स्वरूप मात्र का ही भान होता है। अन्य कुछ भी नहीं। शब्द और ज्ञान को छोड़कर केवल पृथ्वी आदि पदार्थ के स्वरूप का बोध होता है। इस समाधि में नाम, देश, काल, गुण आदि अन्य किसी का भी बोध नहीं होता। केवल पृथ्वी के स्वरूप की ही अनुभूति होती है।

३. सविचार सम्प्रज्ञात समाधि—वह है जिसमें सूक्ष्मों का साक्षात्कार किया जाये, और यह विज्ञान प्राप्त किया जाये कि परिणाम क्रम में यह कब उत्पन्न हुए, उस के क्या-क्या धर्म हैं। कौन-कौन सा धर्म किसके पीछे व्यक्त हुआ। धर्मों के उपरान्त पदार्थों का क्या स्वरूप रहा।

सूक्ष्मों से यहाँ पाँचों तन्मात्रायें, पाँचों सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, तमस्, रजस्, सत्त्व, काल, दिशा, आकाश, और अलिंग प्रकृति लिये गये हैं। सत्त्व प्रधान चित्त के साक्षात्कार को आनन्दानुगत समाधि कहा है, यह सूक्ष्म विषय होनेसे सविचार के अन्तर्गत ही आ जाता है। अहंकार के साक्षात्कार को अस्मितानुगत समाधि कहा है। यह भी सूक्ष्म विषय होने से सविचार के ही अन्तर्गत आ

जाती है। यह कोई अलग समाधियाँ नहीं, क्योंकि सूक्ष्म का विषय अलिंग प्रकृति तक है।

यहाँ इतनी बात और समझ लेनी चाहिए कि आत्मा का बोध भी इसी सविचार समाधि में होता है क्योंकि अकेले आत्मा का कभी बोध नहीं होता। जब भी आत्मा का बोध होता है अहं भाव विशिष्ट का होता है और वह भी चित्त के साथ। समाधि में जब आत्मा अहं भाव को छोड़ देता है और चित्त का सहारा भी नहीं लेता, केवल अपने ही स्वरूप में स्थिर होना चाहता है, तो अहं वृत्ति से हटते ही शून्यता सी आ जाती है। टीकाकारों ने इस प्रकार लिखा है, कि चित्त में साक्षात्कार के समय 'अहमस्मि'='मैं हूँ' ऐसा बोध होता है, और अहंकार विशिष्ट होने पर केवल 'अस्मि'='हूँ' का बोध होता है। आत्मापर्यन्त यह सब साक्षात्कार होता समाधि में ही है। इसी प्रकार ब्रह्म का भी साक्षात्कार प्रकृति और उसके कार्यों में इन सब समाधियों में सदा होता है। आत्मा और ब्रह्म भी सूक्ष्म पदार्थों में आते हैं।

४. निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि—जिसमें ऊपर सविचार में बताये केवल सूक्ष्मों के स्वरूप का साक्षात्कार हो। अन्य उनके कार्य, कारण, देश काल आदि का कोई अनुभव न हो वह निर्विचार समाधि है।

सवितर्क और निर्वितर्क समाधि का ही दूसरा नाम ग्राह्य-समापत्ति है। सविचार और निर्विचार समाधि का ग्रहण-समापत्ति है। इन दोनों का ग्रहीतृ समापत्ति नाम भी है। क्योंकि ग्राह्य का अर्थ पञ्चभूत है, ग्रहण का अर्थ इन्द्रियाँ और ग्रहीतृ का अर्थ आत्मा है। इस प्रकार से यह चार प्रकार की १. सवितर्क, २. निर्वितर्क, ३. सविचार, ४. निर्विचार ही समाधियाँ हुईं।

दूसरे आचार्यों ने इन चार समाधियों को विषय भेद करके छः और आठ नाम दे दिये हैं। छः में चित्त के विषय वाली सानन्दा, अहंकार के विषय वाली सास्मिता नाम से भिन्न मान ली हैं, और समाधियों की संख्या छः कर दी है। कई आचार्यों ने इन चार के साथ इन्द्रियों का ग्रहण नाम रख कर १. सविचार ग्रहण सम्प्रज्ञात समाधि, २. निर्विचार ग्रहण सम्प्रज्ञात समाधि, अहंकार विशिष्ट पुरुष का नाम ग्रहीतृ रखकर, ३. सविचार ग्रहीतृ सम्प्रज्ञात समाधि, ४. निर्विचार ग्रहीतृ सम्प्रज्ञात समाधि नाम रख समाधियों की गिनती आठ कर दी है।

वास्तव में पूर्वोक्त समाधियाँ चार ही हैं। इन चार ही में अन्य सब का अन्त-र्भाव हो जाता है। ये सब समाधियाँ सबीज समाधियाँ कहलाती हैं।

'ताः एव सबीजः समाधिः।'

(योग० पा० १। सू० ४६॥)

—ये सब चारों सबीज समाधि हैं।

इसके आगे—

तस्यापि निरोधे सर्व-निरोधान्निर्बीजः समाधिः।

(योग० पा० १। सू० ५१॥)

इस सम्प्रज्ञात समाधि के निरोध हो जाने पर निर्बीज नाम की असम्प्रज्ञात

समाधि होती है जिसमें सब प्रकार के संस्कारों का निरोध करना होता है जिनसे छुटकारा पा आत्मा स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

चारों प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा सब पदार्थों का अच्छी तरह से विज्ञानपूर्वक साक्षात्कार होने पर इस असम्प्रज्ञात का अभ्यास करना होता है। इससे इन पदार्थों के विज्ञान के संस्कारों का निरोध करके परम वैराग्य प्राप्त करना होता है। विरामप्रत्ययाभ्यास पूर्व संस्कार शेषोऽन्यः। योग० पा० सू० १८ को असम्प्रज्ञात समाधि कहा है। इस परम वैराग्य के सिद्ध होने पर आत्मा की कैवल्य में स्थिति हो जाती है। यह समाधि ही अन्त में मोक्ष में स्थिति का हेतु बनती है।

शंका—शून्य समाधि के द्वारा सर्ववृत्ति निरोध हो जाता है और इससे आत्मा की स्वरूप में भी स्थिति हो जाती है। फिर इतने ज्ञान-विज्ञान के झँझटों में पड़ने की क्या जरूरत है?

समाधान—इस प्रकार की शून्य समाधि का शास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन तो नहीं आता है कि जिसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार होकर मोक्ष में स्थिति हो जाय अथवा ब्रह्म का ही साक्षात्कार हो। परन्तु हमने युवाअवस्था में कई वर्ष तक इस शून्य समाधि का कई-कई दिन का अभ्यास अवश्य किया था अतः अपने अनुभव के आधार पर ही कुछ कथन कर सकते हैं। हमने १०-१२ वर्ष तक इस शून्य समाधि का अभ्यास किया और निश्चय कर बैठे थे कि बस इसी के द्वारा हम मुक्त हो जायेंगे। परन्तु बहुत वर्ष के कठिन तप और इसके अभ्यास से हमें कोई विशेष सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ कि जिससे इस मानव जीवन की सफलता या कृतकृत्यता हो। अतः फिर हमने इस शून्य समाधि के क्रम को बदला।

शंका—शून्य समाधि किसे कहते हैं? इसमें और गाढ़ निद्रा में एवं निर्विकल्प तथा निर्विचार समाधि में क्या अन्तर है? योग दर्शनकार ने भी इस शून्य समाधि का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

समाधान—हम इस शून्य समाधि के विषय में अपने अनुभव के आधार पर वर्णन करते हैं। जब अभ्यासी सर्व प्रकार के जाप धारण ध्यानादि को छोड़कर केवल मात्र संकल्प-विकल्प के अभाव का निरन्तर अभ्यास करना प्रारम्भ कर देता है, किसी प्रकार के लक्ष को या ध्येय पदार्थ को भी समाधि या विज्ञान प्राप्ति का विषय या अवलम्बन भी नहीं बनाता है, दीर्घ काल तक संकल्प विकल्प के अभाव का ही निरन्तर अभ्यास करता है, तब शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण में शून्यता आने लगती है। शरीर इन्द्रियें अन्तःकरण स्तब्ध होकर निश्चेष्ट हो जाते हैं। योगी का इस प्रकार का अभ्यास निरन्तर साधना करने से कई घण्टे और कई दिन तक का भी हो जाता है। योगी जितने घण्टे या दिन का संकल्प करके बैठता है उतने समय के पश्चात् ही व्युत्थान होता है। इस घण्टे या दिनों की शून्यता में किसी भी प्रकार का भान या ज्ञान नहीं होता है। इस अवसर में शरीर, इन्द्रियें और अन्तःकरण बिलकुल जड़वत् हो जाते हैं। करणादि इन्द्रियें अपने सर्व व्यापार को बन्द कर देती हैं। प्राण अत्यन्त सूक्ष्म और गतिहीन सा हो जाता है। शरीर और मुख पर मुर्दनी छा जाती है और शरीर मुर्दा सा पीला सा हो जाता है। मुख में दाँतों की जवाड़ी बिलकुल बन्द हो जाती है। आँखें सख्त

बन्द हो जाती हैं। किसी प्रकार का शब्द भी सुनाई नहीं देता है। आसन अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। जिस आसन और जिस पोज़ीशन (स्थिति) में योगी सर्व प्रथम बैठता है वैसी ही स्थिति अन्त तक व्युत्थान काल तक बनी रहती है।

जब व्युत्थान होने का अवसर आता है, उस वक्त सर्वप्रथम ब्रह्म- रन्ध्र में स्फूर्ति सी, चेतना सी, संज्ञा सी प्रारंभ होती है। यदि कोई पास बैठा या खड़ा होकर बातें करे तो पता नहीं लगता कि क्या बातें कर रहा है। उस अवसर में योगी आँखें खोलना चाहता है तो खोलने से भी नहीं खुलतीं। आसन खोलना चाहता है तो खुलता नहीं। टाँगें और शरीर अकड़े हुए होते हैं। यदि इस अवसर में कोई सेवक हाथ से शरीर पर सूखी मालिश करे तो जल्दी शरीर काम करने योग्य अर्थात् आसन इत्यादि शीघ्र ही खुलने योग्य हो जाते हैं। यदि १०-१२ घण्टे योगी इस शून्य समाधि में बैठा है तब तो कुछ मिनट सावधान या पूर्ववत् स्वस्थ होने में लगते हैं। यदि कई दिन समाधि में बैठा है तब पूर्ववत् स्वस्थ होने या व्युत्थान होने और उठने में दो घण्टे या अधिक भी लग जाते हैं।

उठने के पश्चात् उस अवस्था के सुख-दुःख ज्ञानादि का कुछ भी अनुमान नहीं करता है या होता है। इससे ज्ञात होता है कि उस अवस्था में बिलकुल ही सुख-दुःख, ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष या अनुभव नहीं हुआ था। यदि होता तो व्युत्थान के पश्चात् अवश्य ही कुछ-न-कुछ सुनाता, कहता, अनुमान करता। यदि कहो कि आत्मा की स्व-स्वरूप में स्थिति हो गई होगी। इसको योगी नहीं जानता है क्योंकि शून्य समाधि में बैठने से पूर्व आत्मा को लक्ष भी नहीं बनाया था। यदि बिना लक्ष के भी स्वरूप में स्थिति हो गई है तो इसको हम कह नहीं सकते हैं क्योंकि प्रथम उद्देश्य तो बनाया था संकल्प- विकल्प के अभाव का। यदि बिना ध्येय या लक्ष के स्वरूप में स्थिति हो गई हो तो इसको भी हम नहीं जानते हैं।

शंका—संकल्प विकल्प के अभाव को ही क्यों न लक्ष कहा जाय ?

समाधान—यह लक्ष भी तो किसी ज्ञान आदि का हेतु नहीं बना है। न किसी पदार्थ का बोध ही हुआ, न किसी प्रकार का आनन्द या सन्तुष्टि ही हुई है। केवल संकल्प-विकल्प का अभाव होकर शून्यता आई है। इस शून्यता से न ज्ञान हुआ, न अज्ञान हुआ क्योंकि ज्ञान और अज्ञान पदार्थ की अपेक्षा करते हैं।

शंका—संकल्प विकल्प भी तो एक प्रकार के संस्कार या वृत्ति हैं, इनका ज्ञानपूर्वक और अधिकार पूर्वक निरोध किया गया है।

समाधान—इनके निरोध होने से जो शून्यता और बिलकुल जड़ता, स्तब्धता, निश्चेष्टा पैदा होती है और वह भी कई-कई दिन तक की हो जाती है, वैसी गाढ़ निद्रा या निर्विकल्प अथवा निर्विचार समाधि में नहीं होती है। इन अवस्थाओं के पश्चात्, व्युत्थान में इनके सुख-दुःख, आनन्द और ज्ञान का वर्णन तो करता है।

'आज बड़े सुख और आनन्द की निद्रा आई है,' 'आज मुझे निद्रा में कुछ भी आनन्द नहीं आया है' इत्यादि निद्राकाल में प्रत्यक्ष किये का अनुमान करता है। इसीलिये योगदर्शनकार इत्यादि ने इसे वृत्ति माना है।

अब रही बात निर्विकल्प और निर्विचार समाधि की, इनके व्युत्थान के पश्चात् योगी कहता है कि सविकल्प और सविचार समाधि में जो पदार्थ सम्बन्धी ऊहा पोह तर्क-वितर्कपूर्वक ध्येय पदार्थ का विज्ञान किया था। अब केवल ध्येयाकार वृत्ति रही। आत्मा के प्रति अस्मि अथवा ईश्वर के प्रतिअस्ति अस्ति का साक्षात्कार निरन्तर बना रहा। इस अवसर में कोई तर्क-वितर्क ध्येय वस्तु के प्रति उत्पन्न नहीं हुआ। परन्तु ध्येय पदार्थ का ज्ञान तो निरन्तर बना रहा। इससे सिद्ध होता है कि शून्य समाधि निद्रा या अत्यन्त गाढ़ निद्रा निर्विकल्प और निर्विचार समाधि में बहुत अन्तर है। यदि योगदर्शनकार या किसी अन्य ने इस शून्य समाधि का उल्लेख नहीं किया तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शून्य समाधि नाम की कोई अवस्था ही नहीं है। निद्रा के पश्चात् मानव बहुत शीघ्र सावधान हो जाता है भले ही यह तमः रजः सत्व प्रधान ही क्यों न हो। निर्विकल्प और निर्विचार समाधि के पश्चात् व्युत्थान होते ही योगी बहुत शीघ्र सावधान हो जाता है क्योंकि इसमें सत्व की प्रधानता होती है। उस काल में आनन्दादि की भी उपलब्धि होती है निरन्तर ध्येय पदार्थ का ज्ञान बने रहने से। अतः इन समाधियों से शून्य समाधि अलग ही माननी पड़ेगी। भले ही यह अत्यन्त तमः प्रधान क्यों न हो क्योंकि कई-कई दिन तक पाषाणवत् सी अवस्था बनी रहती है। इस शून्य समाधि के कई-कई दिन पश्चात् जब, व्युत्थान होता है तब सर्वप्रथम शौच जाने पर काले रङ्ग का मल निकलता है। इससे सिद्ध होता है कि पाचन शक्ति कुछ न कुछ कार्य करती रही। नया आहार कई दिन न मिलने से वस्ति आदि कर्म करने के पश्चात् भी जो शेष मल अन्तड़ियों में रह गया था, जठराग्नि ने उसे ही दग्ध कर दिया इस शून्य समाधि में भी।

शंका—फिर इतने ज्ञान-विज्ञान अथवा प्रकृति विज्ञान आत्म और ब्रह्म विज्ञान से क्या लाभ, इस शून्य समाधि से ही मोक्ष प्राप्त हो जायगा।

समाधान—इस शून्य समाधि से योगी को यह सन्तोष नहीं होता है कि मैंने प्रकृति, आत्मा और परमात्मा का विज्ञान प्राप्त कर लिया है या इनके स्वरूप को देखकर परम सन्तोष हो गया है। अतः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि ही मोक्ष का हेतु बनेंगी जिनका ऊपर वर्णन कर चुके हैं। इन समाधियों के द्वारा ही प्रकृति, आत्मज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होकर सर्वप्रकार से पूर्ण सन्तोष, परम शान्ति, परम वैराग्य और कैवल्य की प्राप्ति होती है।

समष्टि-पदार्थों के पाँच रूपों में ब्रह्मविज्ञान

(नवीनतम खोज)

किसी भी अन्य आचार्य ने इस प्रकार से ब्रह्म विज्ञान का वर्णन नहीं किया है। यह विज्ञान की प्रक्रिया हमारी नवीनतम खोज है। हमने अपने अनुभव के आधार पर पंच-भूतों से लेकर अन्तिम मूल-प्रकृति तक के प्रत्येक पदार्थ के विज्ञान का वर्णन करते हुए, उसकी परिणाम को प्राप्त होती हुई प्रत्येक अवस्था में ब्रह्म-विज्ञान कराया है। जिस प्रकार 'आत्म-विज्ञान' में प्रत्येक पदार्थ की सत्त्व, रजः, तमः के आधार पर आत्म-ज्ञान के लिये खोज की है, इसी प्रकार यहाँ ब्रह्म-विज्ञान के लिये प्रत्येक पदार्थ की परिणत होती हुई पाँच अवस्थाओं में ब्रह्म-विज्ञान की खोज की गयी है। यह भी हमारी

नवीन खोज है। इससे पदार्थों की प्रत्येक अवस्था में ब्रह्म की प्रत्यक्ष रूप में अनुभूति होती है। साथ ही साथ इसके द्वारा पदार्थों में होते हुए परिणाम और निर्माण प्रक्रिया की भी प्रतीति होती है।

अब हम समष्टि पृथ्वी महाभूत के पाँच रूपों में सवितर्क और निर्वितर्क समाधि द्वारा प्रवेश करके विज्ञान और ब्रह्म में इनका साक्षात्कार प्रारम्भ करेंगे।

ब्रह्मज्ञान का अधिकारी

जिस योगी ने आत्मविज्ञान ग्रन्थ के आधार पर अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है उसके लिये तो यह ब्रह्म-विज्ञान कुछ दिनों या मासों अथवा वर्षों का ही विषय होगा, क्योंकि स्व-स्वरूप और व्यष्टि पदार्थों का विवेक उस योगी के पास एक प्रकार की कसौटी, तुलना अथवा परख करने का साधन हो जाता है।

परन्तु जिसने जीवात्मा अथवा अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं किया है, उसके लिये यह ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त करना, समझना, या देखना और यथार्थ रूप में सर्व पदार्थों, आत्मा, तथा ब्रह्म का साक्षात्कार करना अत्यन्त कठिन है।

जब तक निम्न प्रकार से वैराग्यवान योग का जिज्ञासु नहीं होगा, तब तक उसे प्रकृति पुरुष विवेक होना और मुक्त होना असंभव ही होगा।

ब्रह्म ज्ञान का जिज्ञासु नचिकेता के समान वैराग्यवान् होना चाहिये। जब यह कुमार ब्रह्मचारी आचार्य यमराज के पास आत्म-विज्ञान की जिज्ञासा को लेकर गया, तब आचार्य ने इसके परीक्षण के लिये नाना प्रकार प्रलोभन दिये, यथा—

'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व, बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व, स्वं च जीव शरदोयावदिच्छसि ।।२३।।
एतत्तुल्यं यदि मन्यसेवरं वृणीष्व, वित्तं चिरजीविकांच ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि, कामानां त्वाकाम भाजं करोमि ।।२४।।
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके, सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः, न हीदृशाः लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रदत्ताभिः परिचारयस्व, नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षी ।।२५।।

(कठो० अ० १। व० १। मं० २३।२४।२५।।)

—हे नचिकेता ! आप बहुत भोले हो, क्या करोगे आत्मा को पूछ कर। उसके विषय को जानकर। आप सुखों की विशाल सामग्री को प्राप्त करो। सौ वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्र आदि के परिवार को माँगो। बहुत सी गौओं, पशुओं, हाथी, घोड़ों, और भूमि के विशाल राज्य को माँग लो। जब तक तुम्हें जीने की इच्छा हो, उतने ही काल तक जीते रहो। हे नचिकेताः ! यदि तुम बहुत धन-सम्पत्ति, दीर्घकालीन जीवन, सर्व सुखों की नाना प्रकार की सामग्री और जितने भी मनुष्य के भोग हो सकते हैं उन सब को यदि आत्मतत्त्व के बराबर समझते हो तो मांग लो। इस विशाल वसुन्धरा के सम्राट् बन जाओ, आपको सम्पूर्ण भोगों से भरपूर कर देता हूँ; हे नचिकेता मनुष्य लोक में जो भोग अत्यन्त दुर्लभ हैं, उन समस्त भोगों को यथेच्छ ले लो ! रथों और नाना प्रकार के वाद्यों सहित इन अप्-

सराओं को अपनी सेवा-शुश्रूषा के लिये ले जाओ। इस प्रकार रमणियाँ मनुष्यों को कहाँ मिलेंगी। ये सब तुम्हें देता हूँ। पर आत्मा के विषय में न पूछो।'

यदि कोई साधारण व्यक्ति होता तो इन ऐश्वर्यों के प्रलोभन में फँस जाता। परन्तु ब्रह्मचारी नचिकेता तो बहुत ही ऊँचा वीतराग, वशीकारसंज्ञक वैराग्यवान् मानव था। आचार्य से नम्रतापूर्वक निवेदन किया—

'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्, सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, तवैव वहास्तव नृत्य गीते ॥२६॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो, लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्मचेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदिष्यसित्वं, वरस्तु मे वरणीयः सएव ॥२७॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य, जीवन्मर्त्यः क्वधस्थाः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्ण रति प्रमोदान्, अतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

(कठो० अ० १। व० ११। में २६-२७-२८ ॥)

—'हे महाराज यमराज। आपने जिन भोगों, ऐश्वर्यों की महिमा बतायी है, वे तो सब नाशवान् हैं, क्षणभंगुर हैं। कल तक रहेंगे या नहीं इसमें भी सन्देह है। इनके भोग से प्राप्त होने वाला सुख वास्तव में सुख नहीं है। वह दुःख ही है। यह तो मनुष्य के अन्तःकरण और सर्व इन्द्रियों को, तेज को, शक्ति को क्षीण कर देता है, और समस्त आयु चाहे कितनी भी बड़ी क्यों न हो, स्वल्प ही है, इसलिये हे पूज्य देव! आपके रथ आदि वाहन, ये रमणियाँ, ये अप्सरायें, ये नाच-गाने, ये ऐश्वर्य आपको ही मुबारक हों। आपके ही पास रहें, मुझे इनकी चाह नहीं। हे आचार्य देव! मनुष्य कभी धन और ऐश्वर्य से तृप्त नहीं हुआ। जब आपके दर्शन हो गये हैं, तो वह धन तो स्वयं ही आ जायेगा। जब तक आप शासन करते रहेंगे हम जीते ही रहेंगे। अतः इन सब को क्या लेना और क्या माँगना। देव! मैं तो केवल एक आत्मज्ञान ही माँगता हूँ। हे पूज्य देव! आप जैसे अजर-अमर महात्माओं का दुर्लभ सत्संग प्राप्त कर के ऐसा कौन अभागा होगा जो इस लोक के जरा मरणशील भोगों, स्त्रियों, अप्सराओं, आमोद-प्रमोद क्रीड़ा एवं क्षणिक सौन्दर्य में आसक्त होकर, चिन्ताग्रस्त हो बहुत काल तक जीवन चाहे। हे देव! आत्मज्ञान के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिये।'

इस प्रकार का परम वैराग्य, आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु में होना चाहिये। इसी प्रकार निदाघ मुनि ने संसार के विषयभोग से सन्तप्त हो अपने गुरु ऋभु ऋषि से निवेदन किया था—

'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः।
नाशमेवानुधावन्ति, सलिलानिव वाडवम् ॥ ५२ ॥

आपद. क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति सम्पदः।
क्षणं जन्माथ मरणं, सर्वं नश्वर मेवतत् ॥ ५३ ॥

जन्मान्तरध्ना विषयाः, एकजन्महरं विषम्।
इति मे दोष दावाग्नि-दग्धे सम्प्रति चेतसि ॥ ५५ ॥

स्फुरन्ति हिन भोगशाः मृगतृष्णा सरस्वपि ।
अतो माँ बोधयाशु त्वं तत्त्व ज्ञानेन वै गुरो ।। ५६ ।।

(महो० अ० ३)

—हे पूज्य आचार्य देव ! इस संसार में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र प्रभृति जितने भी प्राणी हैं, सब विनाश को प्राप्त हो मृत्यु के मुख में गमन करते हैं । जैसे विनाशोन्मुख जल, अग्नि को प्राप्त होता है । संसार में थोड़ी ही देर में आपत्ति आ जाती है, और थोड़ी देर में सम्पदा प्राप्त हो जाती है । थोड़ी देर में जन्म और थोड़ी देर में मरण देखने में आ रहा है । सब नाशवान् दिखाई दे रहा है । विष खाने से तो एक ही जन्म नष्ट होता है । विषय तो जन्म-जन्मान्तर का नाश कर देते हैं । विषय रूप दोष दावानल से मेरा चित्त जला जा रहा है । भोगों की आशा भी मेरे मन में स्फुरित न होती, ये विषय तो मृग-तृष्णा के तालाब हैं जिनमें कभी प्यास न बुझी, न बुझेगी । हे पूज्य गुरुदेव ! मुझे तत्त्व ज्ञान दो । शीघ्र ही आत्मसाक्षात्कर करा दो । जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तर की भटकना और तृष्णा शान्त हो ।"

श्री शुकदेव महामुनि का वैराग्य भी इसी प्रकार बहुत ऊँचे स्तर का था । आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर वेद-शास्त्राध्ययन के पश्चात् अपने पिता श्री व्यास जी महाराज से इन्होंने ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा की ।

श्री व्यास जी ने उत्तर दिया—"पुत्र ! मैं ब्रह्मवित् नहीं हूँ । वर्तमान में तो महाराजा जनक ब्रह्मज्ञानी हैं । आप उनके पास जायें ।"

श्री शुकदेव जी सुमेरु पर्वत से उतर कर मिथिला पहुँचे । जब जनक के राजमहल पर पहुँचे तो अन्दर प्रवेश की आज्ञा न मिली । सातदिन तक द्वार पर ही खड़े रहे ।

महाराजा जनक परीक्षा ले रहे थे । सात दिन के पश्चात् प्रवेश की आज्ञा मिली । सात दिन तक राजद्वार में पड़े रहे । महाराज के दर्शन नहीं हुए ।

अब राज महल का फाटक खुला । सात दिन वहाँ रहना पड़ा । सब ही सुख सामग्री थी । उत्तमोत्तम भोज्य थे । सेवार्थ युवतियाँ थीं । रमणियाँ थीं । पर महाराज के दर्शन अब भी न हुए । वहाँ पर—

'तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंञ्चयैः ।
जनको लालयामास शुकं शशिनि भाननम् ।।२५।।-
ते भोगास्तानि भोज्यानि, व्यासपुत्रस्यतन्मनः ।
नाजहुर्मन्दपवनो, बद्धपीठमिवाचलम् ।।२६।।
केवलं सुसमः स्वच्छो, मौनी मुदित मानसः ।
सम्पूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमनः शुकः ।।२७।।
परिज्ञात स्वभावं तं शुकं स जनको नृपः ।
आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननामह ।।२८।।

।।महो० अ० २।।

—श्री शुकदेव ब्रह्मचारी की परीक्षा के लिए यौवन से भरपूर मदमत्त प्रमदायें, और नाना प्रकार के स्वादिष्ट वृहंगा भोजन महाराजा जनक ने प्रस्तुत किये। चन्द्रसम देदीप्यमान-मुखमण्डल श्री शुकदेव जी ने उन भोज्यों और सुन्दरियों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। जैसे मन्द पवन शृङ्खलावद्ध पर्वत का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाती है, इसी प्रकार मुनि शुकदेव के मन को वे राजसी भोग चलायमान न कर सके। वे शारदी शर्वटी के शीतांशु के समान स्वच्छ निर्मल मन मौन धारण कर प्रसन्न-चित्त खड़े रहे।'

श्री शुकदेव जी के सब प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर महाराज जनक ने २१ दिन के पश्चात् दर्शनों की आज्ञा प्रदान की, और उस संयमी बाल ब्रह्मचारी के आगमन पर जनक महाराज ने स्वयं प्रणाम किया और बोले—हे महामुने! संसार के सम्पूर्ण कार्य और मनोरथ तो आपको सिद्ध ही हैं। आप किस इच्छा को लेकर यहाँ पधारे हैं। मैं आपका स्वागत करता हूँ।'

श्री शुकदेव जी बोले—

"संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो।
कथं प्रशममायाति यथावत्कथया शुभे॥"

—इत्यादि श्लोकों में प्रश्न किये—'हे पूज्य गुरुदेव! इस संसार-आडम्बर की रचना क्यों और किस लिये होती है? यह कैसे विनाश को प्राप्त होता है? इससे छुटकारा कैसे हो सकता है? कृपया यथार्थ में मेरे पर कृपा कर कथन करें।'

इस ऐतिहासिक घटना से श्री शुकदेव जी महाराज का परमवैराग्य पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ प्रतीत होता है। सर्व प्रकार के भोगों से कितना निरीह और वीतराग था वह ब्रह्म जिज्ञासु!

जब तक इस प्रकार की जिज्ञासा नहीं होती तब तक ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं बन सकता। इसी प्रकार के ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु उत्तंक ब्रह्मचारी, और सत्यकाम जाबाल मुनि हुए हैं। इसी प्रकार का वैराग्य ब्रह्मज्ञान के लिये आवश्यक है।

श्री कृष्णचन्द्र महाराज जी के गुरु श्री औपमन्यु महाराज भी बहुत ऊँचे दर्जे के वीतराग परम वैराग्यवान हुए हैं जिनके ब्रह्म-विज्ञान प्राप्ति की कथा पुराणों में विस्तार-पूर्वक वर्णन की गयी है।

वैराग्य का स्वरूप और उसकी साधना

'दृष्टानु श्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्'

॥योग० पा० १। सू० १५।

इष्ट—इस लोक में स्थूल भूतों के जितने भी विषय हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द जिनको स्थूल इन्द्रिय ग्रहण करके तृप्त होती है और चेतन स्त्री, पुत्र, माता-पिता, भाई-वन्धु, इष्ट-मित्र आदि सब ही विषय कहलाते हैं। इन सबके भोग और सुखों से बुद्धि में विरक्ति हो जाना, इनसे चित्त में उपरामता हो जाना, अथवा उदासीनता की

भावना उत्पन्न हो जाना, इनमें भोगात्मक आसक्ति का अभाव होना, इष्ट विषयों के प्रति वैराग्य कहाता है।

आनुश्रविक विषय—जो देखने में नहीं आये, जिनका प्रत्यक्ष भी नहीं हुआ, किन्तु गुरुजनों या विद्वानों से सुना है, या वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि में पढ़ा है, कि स्वर्गलोक में सूक्ष्म विषयों या पदार्थों का उपभोग प्राप्त होता है। वहाँ पुण्यात्मा पुरुष गमन करते हैं। जिन व्यक्तियों या धर्मात्मा पुरुषों को इस लोक में भोग तृप्ति नहीं होती और इस लोक में भोगों की तृप्ति के लिये पुण्य कर्म करते हैं, उन पुण्य आत्माओं को वह स्वर्गलोक प्राप्त होता है। वहाँ सर्व सूक्ष्म भूतों, या पञ्चतन्मात्राओं का, और इनसे निर्मित पदार्थों का यथेष्ठ भोग करते हैं। इनको शास्त्रों में 'दिव्य भोगों' के नाम से प्रतिपादन किया गया है, और इष्टों का अदिव्य नाम से प्रतिपादन किया गया है। दिव्य पदार्थों के भोगों की इच्छा की सर्वथा निवृत्ति हो जाना, इनसे भी चित्त का उदासीन और उपराम हो जाना, इनके प्रति किसी भी प्रकार की अभिलाषा या आसक्ति उत्पन्न न होना, यह आनुश्रविक विषयों से वैराग्य कहाता है। सर्व प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म भोगों की तृष्णा का बुद्धि और चित्त में नितान्त अभाव हो जाना, यह दिव्य और अदिव्य विषयों से वैराग्य कहाता है। इन दोनों स्थूल और सूक्ष्म विषयों के कारण सत्त्व, रज, तम और इनकी कारण मूल प्रकृति के प्रति भी तृष्णा का अभाव हो जाना, या इनसे भी परम वैराग्य हो जाना वशीकार संज्ञा वैराग्य है। वह ही स्वस्वरूप अथवा ब्रह्म के स्वरूप में स्थिति का हेतु होता है।

इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म या गुण विषयों में गमन करना है। इस ओर से इनका निरोध करना अत्यन्त कठिन है। नासिका ने गन्धयुक्त पदार्थ को देखकर यह जरूर बता देना है, कि यह अमुक प्रकार की गन्ध है। यह इसका स्वाभाविक धर्म है। इस गन्ध को बताना न अनुराग न आसक्ति और न बन्ध ही कहलाता है।

अमुक प्रकार का गन्ध युक्त पदार्थ मुझे बहुत अच्छा लगता है, वह ही मेरे लिये होना चाहिये। इसकी प्राप्ति के लिये अनेक उपाय किये जाते हैं जो कष्ट या दुःख के हेतु भी होते हैं। अनेक प्रकार मुसीवतों और बन्धनों में डालने वाले होते हैं। इसका नाम है अनुराग या आसक्ति। इस आसक्ति का अभाव करना ही इन्द्रिय की विजय कहाती है। एक-एक इन्द्रिय को विजय करने में बड़े तप, संयम, ज्ञान और वैराग्य की आवश्यकता होती है। यदि इन्द्रियों को विजय करने में ज्ञान-वैराग्य की जीवन में कमी है, तब हठ और बल से इन्द्रियों को विषय की ओर से रोकना चाहिये, तत्पश्चात् शनैः-शनैः ज्ञान और वैराग्य की भावना को उत्पन्न करना चाहिये। विद्वान, वीतराग, ज्ञानवान्, महापुरुष गुरु के सन्निकट रहकर इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये तप, जप, सेवा, स्वाध्याय का अभ्यास करना चाहिये। विद्वानों, गुरुजनों, योगियों के सम्पर्क में रहकर एक-एक इन्द्रिय पर वशित्व करना चाहिये। इनके नियन्त्रण और सत्संग में रह कर विषयों की वासनायें कुण्ठित होने लगती हैं। इनके सत्संग के प्रभाव से ज्ञान और वैराग्य पनपने लगते हैं। इनके निकट में रहते हुए भय, शंका, लज्जा भी विषय भोग में उत्पन्न होती रहती है। अतः विषयों के मार्ग में गमन का अवसर भी कम मिलता है। विषय सामग्री का भी अभाव होता है। नित्यप्रति सत्संग, ज्ञान, वैराग्य की पुट भी मिलती रहती है।

योगी के चित्त में यदि भक्ति की सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न हो चुकी है, तब योगी को सर्व प्रकार के संगों का परित्याग करके एकान्त स्थान में रहकर इन्द्रियों को विषयों से मन के द्वारा पुनः-पुनः हटा कर आत्मचिन्तन अथवा ब्रह्म चिन्तन में बुद्धि को प्रवृत्त करना चाहिये। बुद्धि में ज्ञान और वैराग्य की भावना की पुट देते रहना चाहिये। इन्द्रियों के भोग और ऐश्वर्यों को अनित्य, दुःखदायी, क्षणभंगुर समझ कर अभ्यास द्वारा वैराग्य की भावना को दृढ़ करते रहना चाहिये। कभी-कभी इन्द्रियों के विषयों का अभाव करके, या विषयों से इन्द्रियों को दूर रखकर तपयुक्त साधना करनी चाहिये। जैसे रसना के विषय षट् रस हैं। कुछ काल तक—दिन या मास या वर्ष तक इन रसों में से किसी मीठा, नमक आदि को त्याग कर खान पान करना चाहिये। ऐसा करने से रसना की आसक्ति का पता लगता है। इन पर अधिकार करने का अवसर भी मिलता है। रसना को विषयों की ओर दौड़ने या उनमें प्रवृत्त होने से भली प्रकार रोका जा सकता है। इस अवसर में रसना की प्रवृत्ति यदि अभिलषित रसों की ओर हो तो यह रसना का राग समझा जायेगा। इस अवसर में इसे धिक्कारते हुए, ज्ञान और वैराग्य की भावना से समझाते हुए हठपूर्वक रोकना चाहिये। अथवा ज्ञान वैराग्य पूर्वक बुद्धि को समझाना चाहिये। 'अनेक जन्मों या इस जन्म में भी लाखों बार रसों का उपभोग करते-करते तृप्ति नहीं हुई तो अब क्या तृप्ति की आशा हो सकती है।'

शंका—वैद्यक शास्त्र कहता है, कि नित्यप्रति षट् रस सेवन करने से आरोग्य रहता है, आप कहते हैं, कई-कई दिन, मास अथवा वर्षों तक कुछ रसों का त्याग कर रसना पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

समाधान—मनुष्य के नित्यप्रति के आहार—अन्न, दूध, फल, सब्जी, जड़ी, बूटी, कन्द-मूल आदि—में प्रायः सब ही रस आ जाते हैं; यदि थोड़ी देर के लिये प्रौढ़ीवाद से मान भी लिया जाये, कि सब रस नहीं आते हैं, तो आप भोजन के साथ न मिला कर पृथक् रूप से भोजन के बाद नमक को हथेली पर रखकर फंकी मार लिया करें। इसी प्रकार मिर्च, अमचूर, चीनी, गुड़, हरड़, आमले की फंकी लगा लिया करें। इस प्रकार रसों की भी पूर्ति हो सकती है। इन रसों को स्वादु व्यञ्जनों के रूप में रसोई आदि में तैयार करके खाना रस में आसक्ति का हेतु होता है।

मछली में रसना का विषय बड़ा जबरदस्त होता है, जो भी इसके सामने जल में फैंका जाये, झट उसी को हड़प करने की कोशिश करती है। शिकारी कान्टे में मांस का टुकड़ा, या कोई खाद्य वस्तु लगा कर जलाशय में फैंक देता है। मछली जब इसे खाने आती है, शिकारी झटका देता है, और वह काँटा उसके मुख में फँस जाता है, वह शिकार बन जाती है। इस रसना के कारण ही वह अपनी मृत्यु का आह्वान करती है।

इसी प्रकार रूप का विषय है। पतङ्गों में रूप की आसक्ति होती है। जब दीपक जलता है, उसे देख कर दूर-दूर से दौड़े आते हैं, उस दीपक पर झपट कर दग्ध हो जाते हैं। इस दीपक के रूप में ही इनकी आसक्ति इनकी मृत्यु का हेतु होती है।

हाथी स्पर्श के विषय में बहुत फँसी है। शिकारी लोग इसको पकड़ने के लिये हथनी को लाकर रखा करते हैं। उसके कारण इसे बन्दी बना लेते हैं।

मृग, भालु आदि में मधुर वाद्य को सुनने का अत्यन्त व्यसन होता है। एक बार हारवन के दाछी गाँव रख में महाराज ने शिकार खेलने आना था। उन दिनों मैं वहाँ मुफती बाग में निवास करता था। शिकारगाह में नित्य प्रातः सैर करने भी जाया करता था। पण्डित नारायण कौल इस रख में जमादार के रूप में इन्चार्ज थे। उन्होंने कहा—'महात्मा जी ! चलो आज आपको जंगल में शिकार का तमाशा दिखायेंगे।' मैं भी उनके साथ चला गया। उनके पास एक प्रकार का बाजा शहनाई था। जब हम पञ्चगाँव के चश्मे पर पहुँचे, वहाँ बैठ कर जल पिया, विश्राम भी किया। मैंने नारायण कौल को कहा—'यह किसलिये लाये हो ? बजा कर दिखाओ।' यह स्थान बहुत एकान्त शान्त वन में आबादी से दो मील दूर था। जब पण्डित जी ने शहनाई बजाई तो जङ्गल से एक काला भालु वहाँ आ गया, और खड़ा होकर नाचने लगा। अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में वह नृत्य और खेल-कूद करने लगा। इसके इस कौतुहल को देखकर हँस-हँस कर पेट में दर्द होने लगा। १५-२० मिनट तक यह तमाशा देखने का अवसर प्राप्त हुआ। बाजा बन्द होते ही वह भालु उछलता-कूदता जङ्गल में भाग गया। यदि उस समय चाहते तो वह बन्दूक की गोली का आसानी से शिकार बन सकता था। इस आँखों देखी घटना से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्ण रस या शब्द की आसक्ति वनचरों में भी अत्यधिक होती है, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या !

ये वनचर एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हो जीवन गँवा बैठते हैं। यह मनुष्य तो वास्तव में पाँचों इन्द्रियों के भोगों में इतना आसक्त हो जाता है, कि पशु को भी उल्लंघन कर जाता है। मरण-जन्म के चक्र को दृढ़ करता रहता है। इन भोगों के संग्रह में अहर्निश लगा रहता है। मानों यह भोग ही धर्म-कर्म है। इसकी कभी भोगों से तृप्ति ही देखने में नहीं आती है। मानव की अपेक्षा विषय-भोगों में अनेक स्थलों में पशु अधिक सन्तोषी देखने में आता है। इन्द्रिय के भोगों की तृष्णा ही इसके लिये अनेक क्लेशों और दुःखों का हेतु बनी रहती है, अनेक संकटों में नियोजित करती रहती है। ये सब भोग असार हैं, वैराग्य को विरस करने वाले हैं। यदि सम्पूर्ण दोषों का मूल समझ कर इन विषय-भोगों की कोई बुराई करे तो भी इनकी महिमा अति बलवती है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु के हृदय में यह अवसर पाकर पनपने लगते हैं और उसको कुमार्ग-गामी बना देते हैं।

मोक्ष के जिज्ञासु को चाहिये कि सर्वप्रथम कर्मेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। ये इन्द्रियाँ बलात् योगी को विषयों में प्रवृत्त करने न पावें। इनके मुख में लगाम देकर इनको काबू में रखे। कर्मेन्द्रियों में शिशिन महाबलवान् इन्द्रिय है। इस पर विजय प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना होगा और आठ प्रकार के मैथुन का परित्याग करना होगा। इसके त्याग से ही यह इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। वैराग्य की तीव्र भावना से काम-भोग आदि के संस्कार भी क्षीण होकर शिथिल हो जाते हैं। योगी ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर, अष्ट प्रकार के मैथुन से विरक्त हो, एकान्त शान्त स्थान में रह कर दीर्घ काल तक योग साधन करे, तब ही इन्द्रिय पर पूर्ण अधिकार होता है। इस एक इन्द्रिय का भोग ही अनेक अनर्थों का मूल बन जाता है। इस इन्द्रिय के उपभोग के लिये विवाह करना आवश्यक है। इसके पश्चात सन्तान भी होनी हुई, फिर उनका

पालन, पोषण, शिक्षण, विवाह आदि अनेक झंझट खड़े हो जाते हैं, जो अनेक प्रकार के वन्धनों का हेतु बन जाते हैं। इस प्रकार जन्म-मरण, कर्म और भोग का क्रम बनता ही रहेगा। इसलिये आत्मज्ञान और मोक्ष के जिज्ञासु के लिये जितेन्द्रिय होना अत्यन्त ही आवश्यक है। इन्द्रियों की विजयता के लिये साथ-साथ में वैराग्य की भावना को भी दृढ़ करते रहना चाहिये। विषयों और भोगों की असारता को विचार-विचार कर अपने आप को समझाते रहना चाहिये, क्योंकि मेघों में चमकती हुई विद्युत् के समान भोग क्षणिक सुख के ही हेतु अज्ञानता से जान पड़ते हैं।

असंख्य जन्म धारण कर यह मानव भोगों से तृप्त नहीं हुआ है। इस थोड़े से शेष जीवन में क्या आशा हो सकती है। फिर भी यह नादान मूढ़ पुरुष पुनः-पुनः विषयों और भोगों की उपलब्धि में रात-दिन परेशान रहता है। दिन में चैन नहीं, रात में नींद नहीं। हे चित्त ! बड़े कठिन परिश्रम से उपार्जित, और क्लेशदायी विषयों से तूं अब उपराम हो जा। सर्व दुःखों का विनाश करने में समर्थ कल्याणकारी योग मार्ग का शीघ्र आश्रय ले, शान्त भाव से ब्रह्म चिन्तन में लग जा। जलतरङ्ग के समान चञ्चल अपनी गति को छोड़ कर, नाशवान् भोगेछा का सेवन मत कर। अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर होकर ब्रह्म में लीन हो जा। तथा च—

'भक्ति र्भवे न मरण जन्म भयं हृदि—
स्थस्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्ग-दोष रहिते विजने निवासो,
वैराग्य मस्ति किमतः परमर्थं नीयम् ॥

भर्तृ वैराग्यशतक' श्लो० ७१ ॥

—ईश्वर में पूर्ण रूप से भक्ति हो। मरण और जन्म के दुःख का भय हृदय में न हो। भाई-बन्धु, इष्ट मित्र, स्त्री-पुत्र आदि में स्नेह न हो। चित्त में काम विकार न हो। इससे बढ़ कर और वैराग्य क्या है जो ईश्वर से माँगा जाये।

हे चित्त ! तू अपनी चञ्चलता से कभी कहीं दौड़ता है, कभी कहीं जाता है, सर्व दिशाओं में भटकता फिरता है, कभी आकाश में, कभी पाताल में। परन्तु कभी भूल कर भी अपने अन्दर सर्वव्यापक ब्रह्म का चिन्तन नहीं करता है जिस चिन्तन से तू परमानन्द को प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार योगी को अपने चित्त को बार-बार समझाते रहना चाहिये और वैराग्य की भावना को दृढ़ करते रहना चाहिये।

इस वैराग्य की चार अवस्थाएँ होती हैं : १. यतमान, २. व्यतिरेक, ३. एकेन्द्रिय, ४. वशीकार।

१. यतमान अवस्था—इन्द्रियों को विषयों से दूर रखने या हटाने में, अथवा हटा कर अपने वश में रखने में जो विशेष प्रयत्न किया जाता है, उसको यतमान संज्ञक वैराग्य कहते हैं। इसे इस प्रकार समझें। बुद्धि में विषयों का अनुराग उत्पन्न होता है, उनकी निवृत्ति के लिए विषयों में बुद्धि से दोषों को देखे, उनको निस्सार जान कर उनमें इन्द्रियों को प्रवृत्त न होने दे। इनकी निवृत्ति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहे। इस प्रकार यत्न करने से विषयानुराग का अभाव होने लगता है। विषयों के राग द्वेषात्मक

संस्कार चित्त में रहा करते हैं, विषयों में दोषात्मक बुद्धि होने से रागात्मक तथा द्वेषात्मक संस्कारों को भोग देने का अवसर नहीं मिलता क्योंकि योगी विषयों में प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों के निरोध करने में रात-दिन प्रयत्नशील रहता है। तव इन्द्रियों के भोग विषयक राग द्वेषात्मक संस्कार कुण्ठित हो कर अपनी प्रकृति समष्टि चित्त में प्रवेश करने के योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियविजय पाने में जो प्रयत्न विशेष है इसका नाम यतमान संज्ञा वैराग्य है।

२. व्यतिरेक अवस्था—विषयों में निरन्तर अहर्निश दोष देखते-देखते और वैराग्य की भावना को दृढ़ करते-करते जब यह ज्ञान होने लगे कि चित्त के इतने मल रूप दोष निवृत्त हो गये हैं, और इतने शेष हैं, उसे व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य कहते हैं। इसका तात्पर्य इस प्रकार की समझें—दश प्रकार इन्द्रियों के दश प्रकार के विषय हैं। इनमें से कुछ इन्द्रियों पर तो वशित्व या अधिकार प्राप्त हो चुका है, और कुछ पर कर रहे हैं; और कुछ पर अधिकार करना शेष है। इस प्रकार जो प्रत्येक इन्द्रिय का पृथक्-पृथक् विज्ञान करना है, इसका नाम व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य है। वास्तव में ये दोनों प्रत्याहार की सिद्धि की अवस्थाएँ हैं। प्रत्याहार में भी इन्द्रियों और विषयों पर वशित्व प्राप्त किया जाता है। वशित्व से इन्द्रियों के भोगों के संस्कार प्रकृति में जाने की तैय्यारी करने लगते हैं।

३. एकेन्द्रिय अवस्था—जव सब स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियों पर विजय हो जाये, और ये अपने विषयों में प्रवृत्त होने में कुन्ठित हो जाएँ, मन और बुद्धि के मण्डलों में इनके भोग या प्रवृत्ति आत्मक क्षोभ उत्पन्न न हों, मन और बुद्धि की प्रवृत्ति भी इनकी ओर न हो; तव इस वैराग्य की एकेन्द्रिय अवस्था होगी।

मन उभयात्मक इन्द्रिय है। कर्म और ज्ञानेन्द्रियों को व्यापार में प्रवृत्त करने से इसे भी ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा है। इन दशों इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण यह मन ही है। जब योगी का इस मन पर अधिकार हो जाये तव यह एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य होता है। इस वैराग्य की अवस्था में पहुँच कर जब इन ग्यारह इन्द्रियों पर वशित्व हो जाये, तव ही योग के पञ्चम अंग प्रत्याहार की सिद्धि होती है। यहाँ से ही अन्तरंग योग में प्रवेश होता है। सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा प्रकृति के कार्य कारणात्मक पदार्थों का विज्ञान; आत्मविज्ञान, और ब्रह्मविज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है।

४. वशीकार अवस्था— दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के भोगों की तृष्णा के संस्कारों का चित्त से नितान्त अभाव हो जाना, दोनों प्रकार के विषयों के उपस्थित होने पर भी उपेक्षा बुद्धि हो जाना, सर्वश्रेष्ठ वशीकार संज्ञा वैराग्य है। स्थूल इन्द्रियों के विषय दृष्ट अदिव्य कहलाते हैं। सूक्ष्म इन्द्रियों के विषय अदृष्ट या दिव्य कहलाते हैं।

पहली तीनों अवस्थाओं के वैराग्य एकाग्रता द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि वाले होते हैं। चौथा वशीकार संज्ञा वैराग्य निरोध द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि वाला होता है। अपर वैराग्य वालों की सम्प्रज्ञात समाधि होती है। पर-वैराग्य वालों की असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस पर वैराग्य का फल है। यथा—

'तत्परं पुरुषख्याते र्गुण-वैतृष्ण्ययम् ।'

योग० पा १ । सू० १६ ॥

—सबसे अन्तिम वैराग्य 'पर वैराग्य' के उदय होने पर प्रकृति और पुरुष—अर्थात् परमात्मा-जीवात्मा का विवेक—पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाने पर प्रकृति और उसके कार्यों से भी तृष्णा रहित हो कर कैवल्य भाव को प्राप्त कर लेता है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझें—अदिव्य और दिव्य विषयों की तृष्णा से रहित हो जाना अपर वैराग्य है। योगी इन दोनों प्रकार के विषयों में दोष देख कर, इनसे विरक्त हो, आसक्ति का परित्याग कर, इनकी तृष्णा से भी रहित हो, एकाग्र चित्त से सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हो, चित्त और पुरुष के सम्बन्ध का साक्षात्कार कर, इनके वास्तविक स्वरूप को भी प्रत्यक्ष- पूर्वक साक्षात् कर लेता है इसी का नाम विवेक-ख्याति या आत्म साक्षात्कार है। यह सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था से भी वैराग्य होने लगता है, क्योंकि गुणों का परिणामात्मक कार्य ही तो चित्त है। अतः इसके कारण गुणों, और उनकी कारण प्रकृति से पुनः परम वैराग्य उत्पन्न होता है, क्योंकि अनादि काल से इनके साथ भोग करता आ रहा था। उन रागयुक्त संस्कारों का निरोध परम वैराग्य द्वारा कर के असम्प्रज्ञात समाधि में सर्ववृत्ति और सर्वसंस्कारों का अभाव कर देता है। इस दीर्घ काल के निरोध से ही मोक्ष या कैवल्य भाव में स्थिति हो जाती है।

बाल्यकाल से ही सन्तों-महात्माओं के सम्पर्क में रह कर हमें यह देखने में आया है; जो ज्ञान वैराग्य की भावना लेकर बाल्यकाल से घर से निकलते हैं, अथवा बाल्यकाल में ही कुछ पढ़ कर, योग की जिज्ञासा लेकर घर से निकलते हैं; वे महात्माओं, गुरुजनों के सम्पर्क में रह कर दीर्घ काल तक पठन-पाठन, सत्संग अभ्यास और सेवा में प्रयत्न-शील रहते हैं। इनमें यदि ज्ञान और वैराग्य की भावना दृढ़ हो जावे, और संसार के अनेक प्रकार के प्रलोभनों से जीवनपर्यन्त बचते हुए, आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सम्पूर्ण जीवन की आहुति कर दें; तब इन महात्माओं का कर्तव्य पूरा हुआ समझना चाहिये। मानव जीवन की भी सफलता समझनी चाहिये। अनेक युवक घर से लड़-झगड़ कर, या पढ़ने या काम करने में चित्त न लगने से, या निर्धनता के कारण, या घर में खान-पान के अभाव से, या चित्तानुकूल विवाह के साधन न होने से घर से भाग निकलते हैं। ये प्रायः बेलगाम के घोड़े की तरह उच्छृंखल होते हैं। जिन अभावों के कारण घर से भागते हैं यदि दैव योग से बाहर निकल कर इनकी प्राप्ति हो जाय, तब तो ये इन्हीं प्रलोभनों में पड़ कर छुपी हुई तृष्णा की पूर्ति में लग जाते हैं। आत्मज्ञान का श्रेय पथ इनको भी अच्छा नहीं लगता है। यदि सौभाग्यवशात् कहीं अच्छे महात्माओं के सत्संग में पड़ जायें और वर्तमान के पुरुषार्थ से ज्ञान वैराग्य की भावना जाग्रत हो जाये, तब तो ये भी योग पथ पर चल कर आत्मज्ञान प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। श्रेयः मार्ग पर चलते हुए युवकों को अनेक प्रकार का भय बना रहता है और अनेकों का पतन भी हो जाता है। वे इस श्रेयः पथ से भटक जाते हैं। कोई विरला ही इस भवपाश से मुक्त हो पाता है। दूसरे वे व्यक्ति हैं जो भुक्त भोगी हैं। इन्हें हम वानप्रस्थी या संन्यासी कहेंगे। ये भी घर से निकलते हैं। परिवार से बाहर हो जाते हैं। कहीं तीर्थ स्थान पर

वास करने लगते हैं। कुछ परोपकार की भावना को लेकर लोक-सेवा अथवा जीविकार्थ कुछ कार्य करने लगते हैं। यदि वनस्थ बने हैं, और पत्नी साथ में है, तब तो यह एक प्रकार का छोटा सा गृहस्थ ही होता है। जिस पत्नी के साथ रह कर सहवास या अंग-संग में साथ रह कर अनेक प्रकार के भोग भोगे हैं, इनके सम्पर्क में रह कर अष्ट प्रकार के मैथुनों को त्याग कर, एक-दम अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण कर लेना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। इसी प्रकार स्त्री के लिए भी यह धर्म का पालन अत्यन्त कठिन होगा। हमारे पास कई स्त्री-पुरुष वानप्रस्थ की दीक्षार्थ आये। अथवा समझिये गुरुदीक्षा लेने आये। हमने कहा कि यदि आप दोनों में बहन और भाई की भावना बन जाये, जैसा सगे बहन-भाई व्यवहार करते हैं; यदि ऐसा व्यवहार हो सके तो हम दीक्षा दे सकते हैं, क्योंकि यदि पति-पत्नी एक ही गुरु के शिष्य हैं, तो भाई-बहन का रिशता बन जाता है। पर आज तक कोई भी इस प्रकार की भावना बनाने को तय्यार नहीं हुआ। किसी भी वानप्रस्थ ने दीक्षा न ली। पत्नियों ने तो यह कहा कि हमसे इस प्रकार के कठिन धर्म का पालन नहीं हो सकता कि अब तक तो पत्नी रहीं और अब बहन या माता बन जावें। यह हमारे लिए असम्भव है। आप हमारे पति को ही गुरु-दीक्षा दें। लिखने का यही तात्पर्य है कि पत्नी के साथ में रहते हुए बहन या माता की भावना पैदा कर लेनी कठिनतम साधना या कार्य है। यदि पत्नी में अनुराग न हो तो साथ में लेकर ही क्यों चलें; और इकट्ठे ही क्यों रहें। साथ में रहना ही राग और मोह है। जो बाल्य काल से बिना विवाह किये, घर छोड़ विरक्त हो, आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के लिए कठिन तप करते हैं, वे इस राग और मोह से बच जाते हैं। इनमें इस प्रकार का राग और मोह पैदा ही नहीं होता है। ब्रह्मचारी, वनस्थ या संन्यासी जो बड़े-बड़े आश्रम बना कर बैठते हैं, यह भी आधा गृहस्थ होता है। केवल पत्नी और अपने पैदा किये बच्चे नहीं होते हैं। अतः आश्रम भी बन्धन के ही हेतु होते हैं। इनके सञ्चालन करते हुए राग, द्वेष, क्रोध, लोभ का अभाव नहीं हो पाता है। इन दोषों को पनपने का अवसर मिलता है। वैराग्य की भावना शिथिल रहती है। दृढ़ नहीं हो पाती। मोक्ष का जिज्ञासु 'एकाकी विचरेत्'—अकेला ही विचरण करे। 'निराशा सुखी पिंगलवत्'—पिंगला नाम की वेश्या जार पति की प्रतीक्षा में सारी रात द्वार पर खड़ी रही जब वह नहीं आए तो इसको वैराग्य हो गया। इसने वेश्या वृत्ति छोड़ दी, सर्व आशाओं को छोड़ कर सर्व प्रकार से सदा सुखी रहने लगी। **'बहुभिर्योगेविरोधे रागादिभिः कंकण कुमारीवत्'**—योगी को अकेले ही रहना चाहिए, यदि समुदाय में रहेगा, तो राग-द्वेष भावना हो सकती है। जैसे कोई कन्या बहुत सी चूड़ियाँ हाथ में पहन ले तो हाथ के हिलने-जुलने से झन्कार या खड़का होने लगता है। यदि एक चूड़ी धारण की हो, तब कुछ भी खटपट नहीं होती है।

यह सब बुद्धि और चित्त के धर्म हैं। जहाँ दस प्रकार की इन्द्रियों के विषय से विरक्त होना है, वहाँ इन बुद्धि और चित्त के धर्मों से भी विरक्त होना है क्योंकि राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, अहंकार आदि इन्हीं के धर्म हैं। हम वर्णन कर रहे थे भुक्त भोगियों का, जो बहुत वर्षों तक गृहस्थ में रह कर सन्यासी बनते हैं। जिन परिवारों को छोड़ वह कर गये थे, उनके साथ पुनः सम्पर्क बना लेते हैं और कुछ-न-कुछ निमित्त बना

कर अपने घर, ग्राम, शहर से सम्बन्ध रखते हैं। इनके आले दिवाले घूमते फिरते है। इनकी सहायता भी करते हैं। इनके दुःख में दुःख और सुख में सुख अनुभव करते हैं। इनके भी राग, मोह, लोभ, अहंकार आदि का भी अभाव होने में नहीं आता है। संन्यास तो घर से ही लिया था, विरक्त तो इसी से बन कर चले थे। मेल-जोल से पुनः परिवार के राग और मोह के संस्कार जाग उठते हैं। यह केवल नाममात्र का ही संन्यास कहलायेगा। ये भी वास्तव में मोक्ष पथ या श्रेयः मार्ग के पथिक नहीं बने हैं। अभी इनको परम वैराग्य पैदा नहीं हुआ है।

राग द्वेष मोह आदि का कारण पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी ही होते हैं। और इनमें भी मुख्य रूप से पत्नी ही होती है। इसका अनुराग जीते हुए बड़ी कठिनता से दूर होता है। कोई विरला महान् आत्मा ही इस राग से मुक्त हो पाता है। जब तक चेतन और जड़ से परम-वैराग्य नहीं होता, तब तक मुक्ति की सम्भावना नहीं हो सकती। चेतन से तात्पर्य है स्त्री, पुत्र, पुत्रियें, मित्र, बन्धु, या अन्य शिष्य-शिष्यायें, अथवा संसार के स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि जीवन धारणकरने वाले प्राणी। जड़ से अभिप्राय है—धन भूमि, आश्रम, मकान आदि जितने भी भोक्तव्य पदार्थ हैं जिनसे हमें सुख की अभिलाषा है। इनसे सुख की अभिलाषा ही तृष्णा की जनक है। जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी अवश्य ही होगा। ये सुख-दुःख ही तृष्णा को पुष्ट करते हैं। इनसे यह पनपती हैं। फिर इनसे संस्कार बन कर अविद्या की जड़ को दृढ़ बनाते हैं। अविद्या जन्म-मरण और बंधन का हेतु होती है। अविद्या का वास चित्त में होता है, जो पञ्च क्लेशों के रूप में है। ये ही आत्मा को बाँधे रखते हैं। यथा—

'चित्तमेवहि संसारो रागादि क्लेश दूषितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्त भवान्त इतिकथ्यते ।।

महो०अ० ४। मं० ६६।।

केवल मात्र मानव जीवन की आयु का चौथा भाग संन्यास आश्रम ही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य हेतु है। यदि आयु के इस चौथे भाग में भी जड़-चेतन से परम वैराग्य धारण कर के—विरक्त हो कर मोक्ष को प्राप्त कर लिया तब तो इस मनुष्य जीवन को सार्थक समझना चाहिए, और इसके वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति समझनी चाहिए। इस मानव जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही मैं ने विक्रम् संवत् २०१९ में वैशाख मास की संक्रान्ति को हरिद्वार में चतुर्थ आश्रम संन्यास को धारण किया था। आयु भी चौथी प्रारम्भ हो गई थी। ब्रह्मचर्य आश्रम से एकदम छाल मार कर गृहस्थ और वानप्रस्थ को उल्लंघन कर संन्यास आश्रम में पदार्पण किया। तत्त्व विज्ञान और मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले को इसी प्रकार का आचरण करना सर्वश्रेष्ठ धर्म होगा। यही एक जीवन में मोक्ष प्रदान कर सकता है। अतः बाल्य काल से ब्रह्मचर्य को धारण करके कटिबद्ध होकर लग जाना चाहिए। इस मानव देह की यथार्थसाध पूरी हो जायेगी। यह पूर्ण रूप से कृतकृत्य हो जायेगा। इस प्रकार ही सब नर-नारी जन्म-मरण और भोगों की कठिन यातनाओं और वेदनाओं से मुक्त हो सकते हैं।

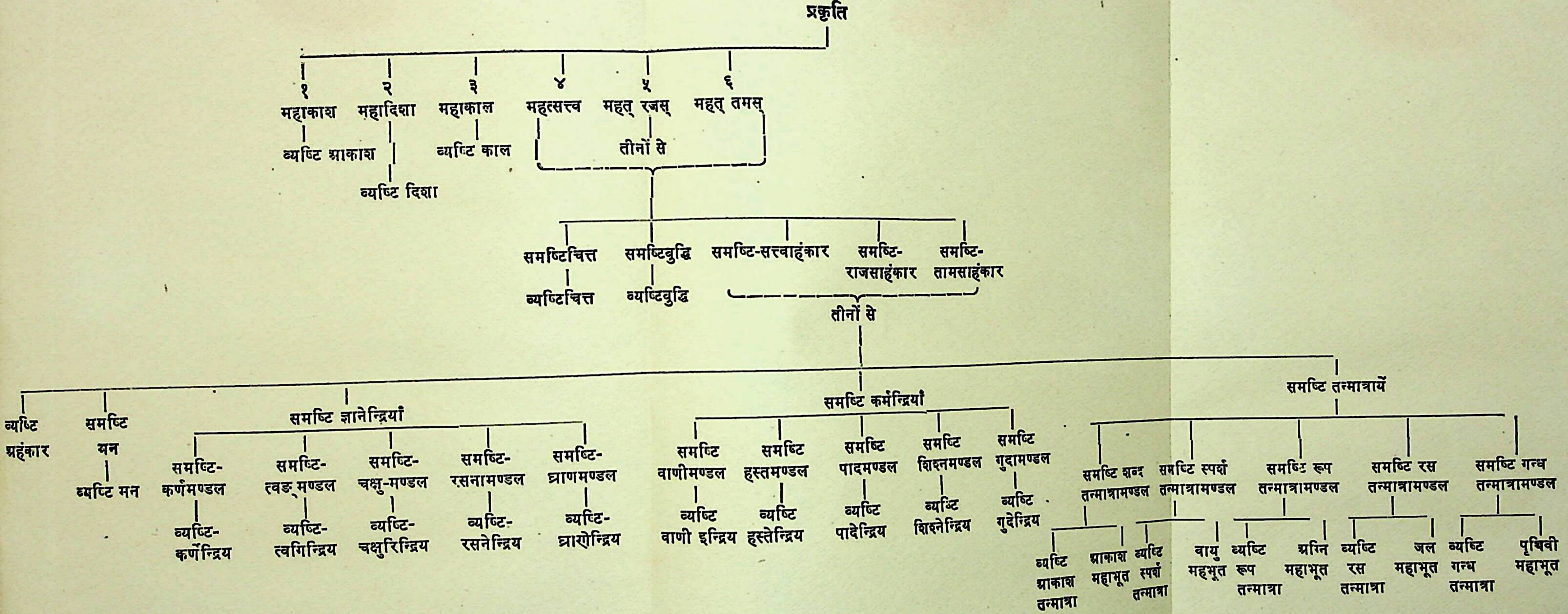
हमने आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए अपर और पर वैराग्य के

स्वरूप का विशद् रूप से वर्णन किया है। और इसकी साधनाओं का भी उल्लेख कर दिया है, इस ग्रन्थ में आगे भी प्रकरणानुसार करेंगे, जो मोक्ष प्राप्त करने में अत्यन्त ही सहायक और उपयोगी सिद्ध होगा और मोक्ष और कैवल्य प्रदान करने वाला होगा। इसके अनन्तर प्रकृति की वंशावली देकर सर्वप्रथम समष्टि पृथिवी महाभूत में ब्रह्मज्ञान का प्रारम्भ करते हैं।

इति विषय प्रवेश विज्ञान प्रक्रिये
इति प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः

प्रकृति का वंश

(प्रकृति के कार्यों की परम्परा)



२

स्व
दि
स
इ
क

द्वितीय खण्ड

(३३वाँ आवरण)

समष्टि पृथिवी महाभूत, पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

हमने सर्वप्रथम ब्रह्मज्ञान और उसकी उपासना का विषय पृथिवी महाभूत को माना है। पृविथी के पाँच रूप हैं। उनमें पृथ्वी का विज्ञान और साथ ही साथ ब्रह्म का भी विज्ञान प्राप्त करना है। हमने इसी प्रकार सब पदार्थों के विज्ञान की पाँच-पाँच अवस्थाएँ दर्शायी हैं। इन पाँचों अवस्थाओं में क्रमशः पदार्थ का भी ज्ञान होता जाता है, और उसके परिणाम और परिवर्तन के स्वरूप का भी; ईश्वर इन सब अवस्थाओं में वर्तमान रहता ही है—अपनी चेतन-शक्ति द्वारा परिवर्तन कर रहा है, उससे उसका भी ज्ञान साथ-साथ में होता जाता है। इस प्रकार प्रत्येक परिवर्तन में ब्रह्म की अनुभूति का पुनः अभ्यास उसकी व्यापक चेतन सत्ता को साधक के हृदय में अंकित कर देगा।

साधकवृन्द ! आपने अपनी समाधि का विषय पहिले पृथिवी को बनाना है जिस पर आप बैठे हैं। इसके भी पाँच रूप हैं—

१. स्थूल रूप—अपना-अपना विशिष्ट आकार स्थूल रूप है। इसमें नाम, रूप, प्रयोजन बता कर परस्पर का भेद बताया जाता है।

२. स्वरूप—अपने-अपने नियत गुण-धर्म जिनसे ये जाने जाते हैं, जो अपने सजातीय में समानता से पाये जाते हैं। गुणी के साथ इन गुणों का स्वरूप सम्बन्ध है। गुण और गुणी पृथक्-पृथक् नहीं हैं। गुण और गुणी में अभेद है। अभेद का नाम ही स्वरूप है। यह सम्बन्ध अयुत-सिद्ध है—अर्थात् अवयवों का अलग-अलग भान नहीं होता। सारा का सारा द्रव्य एक ही जान पड़ता है जैसे वृक्ष या परमाणु। इनके अलग-अलग अवयव नहीं जिनको जान कर संघात का ज्ञान होता हो। अतः जो कुछ भासता है, यह उसका स्वरूप ही है।

३. सूक्ष्म रूप—जिस अवस्था से परिणाम होकर इस रूप में आया है उस पहली अवस्था को सूक्ष्म रूप कहते हैं। पृथिवी महाभूत का सूक्ष्म रूप गन्धतन्मात्रा है।

४. अन्वय रूप—मूल प्रकृति के साथ परम्परागत सम्बन्ध का निर्देश उस पदार्थ का अन्वय रूप है।

५. अर्थ-वत्त्व रूप—प्रयोजन का निर्देश अर्थवत्त्व है। सब ही पदार्थ पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए परिणाम को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् इन पदार्थों में भोग और मोक्ष प्रदान की सामर्थ्य है। इसको दिखाना पदार्थ के अर्थवत्त्व रूप को दिखाना है।

अब पृथिवी की इन पाँचों अवस्थाओं को सर्वप्रथम आपने अपनी समाधि द्वारा प्रत्यक्ष करना है और इस पृथिवी की प्रत्येक अवस्था में ईश्वर को भी देखना है, समझना है। इन अवस्थाओं का प्रत्यक्ष ही ब्रह्म का साक्षात् प्रत्यक्ष करायेगा।

समष्टि पृथिवी महाभूत मण्डल ! प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(पृथिवी का प्रथम रूप)

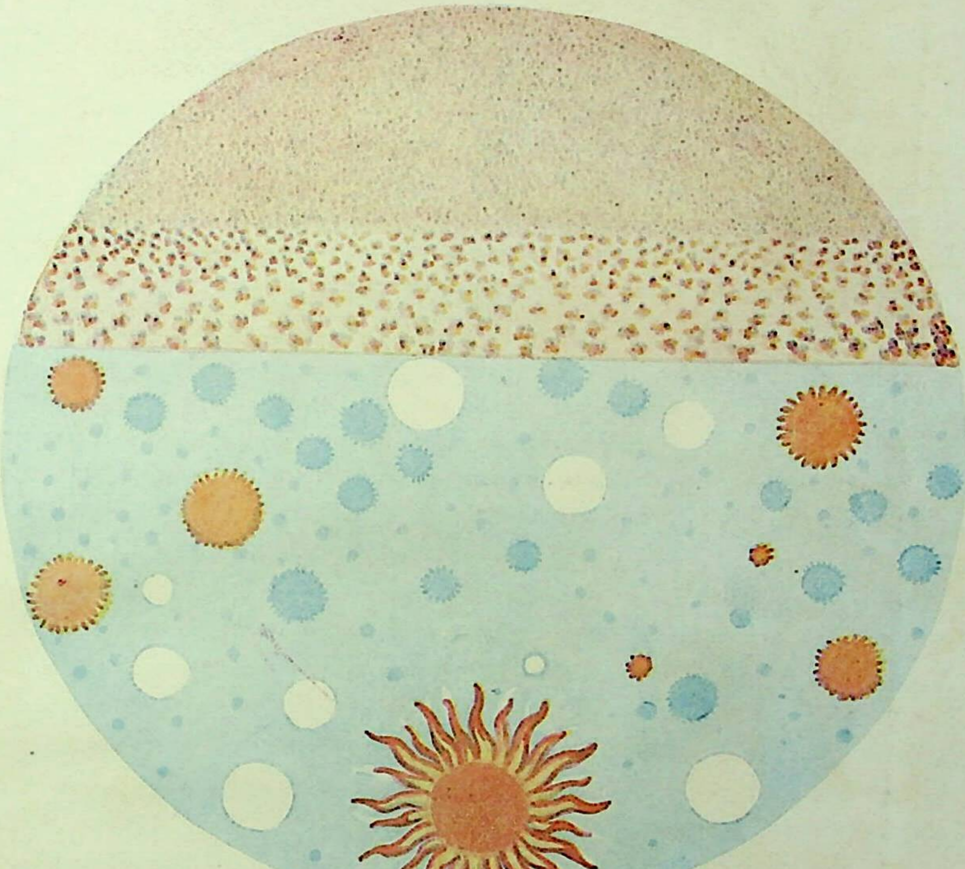
१. पृथिवी के स्थूल रूप में—सृष्टि रचना में पृथिवी महाभूत अन्तिम परिणाम रूप कार्य अवस्था है—पृथिवी महाभूत के निर्माण से पूर्व जल महाभूत तक सब भूतों का निर्माण हो चुका होता है। अब तक गन्धतन्मात्रा को छोड़ कर अन्य सब तन्मात्रायें परिणाम भाव को प्राप्त हो कर जलादि महाभूत तक परिणत हो चुकी हैं। केवल पृथिवी तन्मात्रा बची हुई है। यह गन्धतन्मात्रा का सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप ही पृथिवी महाभूत में पलटने जा रहा है। इसमें गति और प्रकाश दोनों का अभाव सा है—इसका ज्ञान रहित जड़ रूप ही इस अवस्था में वर्तमान है। यह स्वयं अपने आप विना किसी चेतन सत्ता के कैसे परिणाम को प्राप्त हो। विना गति आये किसी अन्य से संयुक्त भी नहीं हो सकती। विना किसी के संयोग के परिणाम भी कैसे हो। विना संयोग सृष्टि-क्रम कैसे बढ़े।

सर्वप्रथम यह संयोग स्वभावतः जल के साथ हुआ। जल ने गन्ध-तन्मात्रा का सन्धान करना प्रारम्भ किया। जल से संयुक्त गन्धतन्मात्रा में अग्नि तत्त्व भी उपयुक्त मात्रा में भगवान् के सन्निधान रूप निमित्त कारण से संयुक्त हुआ। अग्नि के मिलते ही रूप पलट जाता है। जो गन्धतन्मात्रा अब तक सूक्ष्म नासिका और केवल रसना विषय बनी थी, अब अग्नि भूत के मिलते ही अग्नि की ही परिणाम भूत आँखों से देखी जाने के योग्य बन गयी—उसमें रूप उत्पन्न हो गया।

भगवान् के सन्निधान से अग्नि जल से संयुक्त गन्धतन्मात्रा में वायु तत्त्व भी उपयुक्त मात्रा में मिलना आरंभ हो जाता है। वायु के मिलते ही पृथिवी की इस अवस्था में स्पर्श की अनुभूति होने लगती है। आकाश तो सर्वत्र व्यापक सा था ही, उसका भी इसके साथ सम्मिश्रण हो गया। सर्वप्रथम परिणत होते हुए इस पृथिवी में आकार धर्म या गुण उत्पन्न हुआ।

१. आकार—जब इस प्रकार स्थूल महाभूत पृथिवी की रचना पूर्ण हुई तो सर्व प्रथम इसमें आकार धर्म अभिव्यक्त हुआ। जो अवयव विशेष प्रकार से रखे गये वही सन्निवेश विशेष आकार रूप में प्रकट हुआ। यह आकार धर्म ही संसार भर की ८४ लाख योनियों, वन-पर्वत, नदी-नदों, वनस्पति, ताल-सरोवरों आदि में प्रकट हुआ। यदि यह आकार धर्म न होता तो व्यक्तियों को पहचानना कठिन हो जाता या असंभव ही हो जाता। सारे व्यवहार ठप हो जाते। आकार को देख कर जो बुरे-भले, गुणी-अवगुणी, अनुकूल-प्रतिकूल आदि भावों की पहचान हो जाती है वह कुछ भी न हो पाती। यदि आकार न होता तो कोई किसी से राग या द्वेष कैसे करता। राग-द्वेष ही न होते तो चेतन से बने चित्तों के साथ बन्धे चेतन जीव का बन्ध मोक्ष कैसे होता। यह दृश्यमान जगत् न बन्ध का कारण बन सकता न मोक्ष का। भगवान् के सन्निधान से ही इस चेतन सी बनी पृथिवी में विभिन्न प्रकार के असंख्य आकार बने।

२. स्थिरता—इस ब्राह्मी चेतन सत्ता के सम्बन्ध से इस आकार रूप धर्म से पूर्व जो प्रमाणु प्रतिक्षण गतिशील बने हुए थे, वे स्थिर भाव को प्राप्त हुए। तब इनमें स्थिरता



चित्र सं० २

पञ्च तन्मात्रओं से स्थूल पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति और पृथिवी महाभूत से व्यष्टि लोक लोकान्तरों की उत्पत्ति ।

रूप धर्म आया। परिणामिनी प्रकृति भी पार्थिव रूप में आकर दीर्घ-कालीन स्थिर भाव को प्राप्त हुई। प्रलय काल पर्यन्त इसकी आयु स्थिर हुई। इसी स्थिरता धर्म के कारण पर्वतमालाओं, हीरे आदि रत्नों, सोना-चान्दी आदि धातुओं में स्थिरता आयी। पर्वत आदि तो इतने स्थिर हो गये कि हिलाये से भी नहीं हिलते। हीरा, सोना आदि शताब्दियों तक विकृत नहीं होते। यह स्थिरता इतनी जमी कि वन, पर्वत, सागर आदि के स्थिर भाव को देख कर मानव को यह परिणामिनी प्रकृति ही स्थिर और स्वतन्त्र कित्रीं दिखाई पड़ने लगी। जिसके सन्निधान के कारण यह सब कुछ हो रहा है वह तो छुप ही गया। और नास्तिकता का साम्राज्य छा गया। इस अभ्यास के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार ही इस नास्तिक-भाव का उन्मूलन कर सकता है।

३. **गुरुत्व**—जिस पदार्थ में आकार और स्थिरता रूप धर्म पैदा हो जाता है उसमें गुरुत्व धर्म स्वतः ही आ जाता है। इस आकार को स्थाई रूप देने के लिए इसमें भारीपन आना आवश्यक है। भारीपन ही तो गुरुत्व है। इस प्रकार यह पृथिवी गुरुत्व धर्म वाली हुई। इन पार्थिव और जलीय प्रमाणुओं के संघात में गुरुत्वादि धर्मों को पैदा करने में अग्नि का पाकज रूप धर्म सहकारी हुआ—स्थिरता और गुरुत्व धर्म अग्नि के पाकज धर्म के ही कारण आये।

आकार तो गाय, हाथी के वने चित्र में भी है। पर उस चित्र से गाय के समान दूध नहीं, दूहा जा सकता, न ही गोग्रास आदि खिलाया जा सकता है। इसी प्रकार चित्र वाले हाथी पर सवारी नहीं की जा सकती, न सम्मानित करने के लिये उस पर किसी महामहिम की सवारी निकाली जा सकती है। गाय या हाथी के चित्र को गाय या हाथी समझ कर खरीदा या बेचा नहीं जा सकता। गाय सैंकड़ों की और हाथी हज़ारों के मूल्य का होता है, यह चित्र तो दो चार आने या अधिक से अधिक दो चार रुपये का होगा। यह मूल्य सब गुरुत्व आदि का, है जो चित्र में नहीं हैं, वास्तविक गाय या हाथी में ही है।

गाय, हाथी, देवता, नेता आदि के बने सुन्दर आकार वाले चित्र को बेच भले ही लो, बहुमूल्य में चाहे बिक जाये, पर उस व्यक्ति के समान व्यवहार नहीं किया जा सकता है जिसका वह चित्र है। क्योंकि चित्र में केवल आकार है। गुरुत्व नहीं। यदि आकार के साथ गुरुत्व मिल जाये तो वह अधिक व्यवहार योग्य हो जाता है। इसी कारण चित्र की अपेक्षा सुन्दर खिलोनों में अधिक आकर्षण होता है और मूल्य भी मूर्ति का चित्र की अपेक्षा अधिक होता है। चित्र में इतनी सजीवता नहीं आती जितनी मूर्ति में। इसीलिए चित्र की अपेक्षा भगवान् की मूर्तियों की अधिक कल्पना हुई। वास्तव में आकार तो अग्नि का पृथिवी पर एक प्रकार का रूप का मुलम्मा ही तो है। भार तो पृथिवी में ही है। अतः चेतन सत्ता की समीपता के कारण पार्थिवांश की प्रचुरता होने से आकारवान वस्तु ही भार वाली बन जाती है उसमें गुरुत्व धर्म आ जाता है।

यह गुरुत्व धर्म सृष्टि में बड़े-बड़े कार्य करता है। जीव के भोग-सम्पादन का साधन बनता है। यह गुरुत्व धर्म ही आन्धी और पानी की बाढ़ का मुकाबला करता है। बड़े-बड़े गुरुत्व धर्म वाले भारी-भारी पत्थरों या सीमेन्ट की दीवारों से बड़े बान्ध

बनाये जाते हैं, जो बड़े-बड़े नदों की वर्षा-कालीन बाढ़ को रोक कर ग्रामों और नगरों को डूबने से बचाते हैं। यह गुरुत्व धर्म ही बड़े-बड़े भाखड़ा और नांगल जैसे महासरों (डेमों) को तैयार करने में समर्थ होता है, जिससे हज़ारों मीलों के खेतों की सिंचाई होती है। महासर से तैयार की हुई बिजली से नगरों में प्रकाश होता है, और बड़े-बड़े कल-कारखाने चलते हैं। गुरुत्व धर्म ही बड़े विशाल भवनों और दुर्गों को भूचाल आदि में एवं शत्रु के आक्रमण के समय बचाता है। गुरुत्व धर्म धातुओं एवं खनिजों की शुद्धि में सहायक सिद्ध होता है—भारी वस्तु नीचे बैठ जाती है, हल्की ऊपर आकर पृथक् कर दी जाती है। गुरुत्व धर्म के कारण ही बड़े-बड़े स्तम्भ शताब्दियों पर्यन्त अडिग रहते हैं, और इतिहास को जीवित रखते हैं। गुरुत्व के कारण ही मनुष्य और मकान आकाश में उड़ने से बचे हैं। यह सोने, चाँदी की मुद्राओं को दीर्घ काल तक सुरक्षित रखता है। फौलाद और इस्पात के हथियार इस गुरुत्व के कारण ही चिरस्थायी हैं।

४. कठिनता—अग्नि के सहयोग से ही पृथिवी में कठिनता रूप धर्म आता है। इसकी पाकज रूप क्रिया ही इस धर्म को उत्पन्न करती है। ये सब गति क्रियायें ब्रह्म की चेतन सत्ता से वर्त्तमान होती हैं। जैसे मोटर में गमन करने की शक्ति है परन्तु वह ड्राइवर के चालन की अपेक्षा रखती है। इसी प्रकार पृथिवी महाभूत भी मोटर के समान जड़ ही है, उसमें गमन या क्रिया करने की शक्ति भी है, परन्तु वह चेतन सत्ता की अपेक्षा करती है संचालित होने के लिये।

पृथिवी की यह कठोरता गुरुत्व को बनाये रखती है। गुरुत्व की रक्षा के लिये कठोरता का आना आवश्यक है। अन्य भूतों की न्यूनता होने से पार्थिव पदार्थों में कठिनता आती है। अन्य भूतों की मात्रा बढ़ जाये तो वे द्रवीभूत हो जाते हैं। पानी में पड़कर चूना, मिट्टी, खड़िया, खाण्ड, रंग, नमक आदि सब घुल जाते हैं। अग्नि में पड़कर सोना, चान्दी, लोहा भी पानी जैसे बन जाते हैं, और जब इस अग्नि का युक्तिपूर्वक प्रयोग किया जाये तो यह धातु आदि के दोषों एवं जलीय अंश को नष्ट करके उसे पक्का बना देती है। मिट्टी के बरतन अग्नि में पड़कर पक्के हो जाते हैं। वे कच्चे की अपेक्षा कठोर होते हैं। खड़िया लाख के साथ अग्नि में पड़ कर चीनी के पात्रों का सुन्दर और दृढ़ रूप धारण कर लेती है। कच्चा लोहा अग्नि में पड़कर पक्का बन जाता है। और पक्का भी तप कर स्टील या फौलाद तक बन जाता है। इस फौलाद के ही शस्त्रास्त्र एवं दृढ़तम कल पुर्जे बनते हैं।

यह कठिनता ही युद्ध में विजय का हेतु बनती है। जिसके शस्त्रास्त्र एवं जवान कठोर होंगे वही विजयी होगा। कठिनता चिरस्थायी है। कठिनता ही रक्षक का काम करती है। बादामों, अखरोट, पिस्ता आदि का कठोर छिलका ही गिरी की रक्षा करता है। कठिन या कठोर हड्डी ही शरीर के ढांचे को सुरक्षित रखे हैं। एटम बम का बाह्य कठोर आवरण ही तो परमाणु के विकीर्ण को अन्दर सुरक्षित रखे हैं। कठिन आवरण के टूटते ही हिरोशिमा और नागासाकी सदा के लिये ध्वस्त हो गये। पृथिवी का ऊपर का कठोर आवरण ही तो भूगर्भ में निहित बहुमूल्य रत्नों की रक्षा किये है। फौलाद के कठिनतम टोप ही तो युद्ध में सिर की रक्षा करते हैं। इन सब पदार्थों में कठिनता

पृथिवी का ही धर्म है इस कठिनता के निमित्त भूत परमात्मा की सर्वत्र व्यापकता को ही अभ्यासी को साक्षात्कार करना होता है।

५. आच्छादन—जब उपरोक्त गुणों से पृथिवी सम्पन्न हो जाती है, तब प्रभु के सबमें समीपतम होने के कारण पृथिवी तन्मात्रा का मुख्य तमोगुण आच्छादन रूप धर्म को धारण कर लेता है। इसकी ओट में या इसके नीचे जो वस्तु आ जाती है, उसे यह आच्छादित कर लेती है, ढक लेती है। दिखने नहीं देती। जीव-जन्तुओं तक ने अपनी रक्षा के लिये, पृथिवी के आच्छादन धर्म का उपयोग किया। भटों में, बिलों में, मान्दों में, गारों में अपने से बलवान् के प्रति अपनी रक्षा के लिये रहने लगे। सांप, बिच्छू भी बिलों में छुपकर अपनी जान बचाते हैं। भेड़िये, सियार भटों में अपने को आच्छादित कर आत्म-रक्षा करते हैं। चूहे, नेवले आदि बिलों में छिपते हैं। सिंह, चीते मान्दों में आत्म-रक्षा करते हैं। हाथी, गेण्डे जैसे बली जन्तु भी गारों में अपनी जान छुपाते हैं। मानव भी इनसे और एक-दूसरे से अपने को तथा अपने कार्य-कलाप को छुपाने, एवं जन्तु डाकुओं आदि से रक्षा करने के लिये, पृथिवी के आच्छादन धर्म के आधार पर ही अपनी झोपड़ियाँ, कुटिया, मकान, महल और बड़े किले बनाता है। मध्यकाल में इसी आच्छादन गुण के कारण नगरों के बड़े परिकोटे और फसीलें बनाई गयीं। इस आच्छादन गुण के आधार पर ही बड़े तहखाने, कोठियाँ, अलमारी, सन्दूक, ट्रंक और तिजूरियाँ बनीं। इस आच्छादन गुण के प्रभाव से सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर आज तक अरबों वर्षों से हीरे, पन्ने, मोती, लाल, सोना, चान्दी, लोहा, तांबा आदि अमूल्य रत्न-राशि इस माता वसुन्धरा के गर्भ में निहित हैं। इस आच्छादन धर्म के कारण ही विशाल कोयले की खानें, तेल और पैट्रोल के तालाब या समुद्र माता विश्वंभरा के गर्भ में छुपे पड़े हैं। पृथिवी का यह आच्छादन धर्म ही मानव देह के अन्दर भरे घिनौने मांस, हड्डी, मज्जा, रुधिर, मल-मूत्र, नस, नाड़ी को आच्छादित कर रंग रूप के अभिमान और घमण्ड को पनपाता रहता है। यह आच्छादन धर्म ही बड़े-बड़े नालों, नालियों द्वारा दुर्गन्ध से भरे मल-मूत्र एवं गन्दे सड़े पानी को नीचे ही नीचे सबको आच्छादित कर दूर ले जाकर डाल देता है, और प्राणी मात्र को भयंकर रोगों से बचा लेता है। इस आच्छादन गुण के कारण ही ट्यूबों और सैलों में सब ओर से ढकी सुरक्षित औषधियाँ चिरकाल तक सुरक्षित रह जाती हैं। इस आच्छादन के कारण ही बन्द टीनों में फल, मेवे, बिस्कुट, मुरब्बे, आचार, सुदीर्घ काल तक सुरक्षित रहते हैं। इस आच्छादन गुण के कारण मानव और पशु के मल और गोबर को उपयोगी खाद में पलटा जाता है। यह आच्छादन ही मानव को कपड़ों द्वारा शीत और उष्णत्व से बचाता है। इस प्रकार इस आच्छादन का अनन्त विस्तार है, जो अनन्त भगवान् की सर्व व्यापक सत्ता की सदा व्याख्या करता रहता है। भगवान् की सर्वत्र साधना सर्वत्र अनुभूति ही ब्रह्म-ज्ञान का परिपाक है।

६. विदारण—तत्पश्चात् इसमें अग्नि के योग से या अपनी कठोरता के कारण विदारण धर्म—तोड़ फोड़ खण्ड खण्ड करने की योग्यता भी आ जाती है। पृथिवी की ऊपर की परत शनैः शनैः कठोर हो चुकी होती है। पृथिवी के भीतर की ऊष्मा या तरल पदार्थ पृथिवी को तोड़ फोड़ कर बाहर निकल पड़ते हैं। पृथिवी के ही विकार वृक्ष आदि वनस्पति धरातल को विदीर्ण कर बाहर निकल आते हैं। वृक्ष को वृक्ष इसीलिये कहते हैं,

वृश्चिनोति इति वृक्षः । पृथिवी को फाड़कर निकलता है इसलिये वृक्ष कहलाता है । बड़े-बड़े पर्वत खण्ड जहां टूट कर गिरते हैं, तोड़ फोड़कर देते हैं । पृथिवी में विदारण गुण है इसीलिये पृथिवी को विदारण कर बावड़ी, सरोवर, स्रोत, नहर आदि का निर्माण हो जाता है । इसी विदारण गुण के कारण संसार की सब से बड़ी स्वेज नहर भूमि का विदारण कर बनाई जा सकी, और दोनों समुद्रों का यातायात जारी हो गया । पृथिवी का विदारण गुण ही युद्ध के समय नगरों में तथा युद्ध-भूमि में बड़ी-बड़ी खाइयां, ट्रेंचें खुदवाने में समर्थ होता है, जिससे नागरिकों की ओर सैनिकों की रक्षा होती है । विदारण गुण के कारण ही भूगर्भ में गृह, नल, नाले, और तारें दबायी जा सकी हैं; और भूतल की बचत की जा सकी । दुगर्म पहाड़ों की चोटियों पर इस विदारण के कारण ही मानव आरोहण कर विजय पा सका है । इस विदारण सामर्थ्य के कारण ही गंगोत्तरी से निकल कर गंगा पर्वतों का विदारण कर भारत भूमि को पावन कर सकी । इस विदारण सामर्थ्य से ही गगन चुम्बी शिखरों पर पगडण्डियां बन सकीं, उनके द्वारा मानव वहां से औषधि और वनस्पति ला सका । इस विदारण सामर्थ्य से ही बञ्जरों और रेगिस्तानों में टयूबवेल बनाये जा सके, और इलाके के इलाके हरे भरे हो गये । संसार भर के मित्र अमित्र देश इसी विदारण के कारण पृथिवी में आर पार सुरंग बनाने की योजना बना सके हैं, जिसके द्वारा पृथिवी के गर्भ में छिपी अमूल्य रत्नों की स्तरों का पता लग जायेगा । इस विदारण के कारण ही जब पृथिवी में भूकम्प होता है तो अग्नि, लावा, जल आदि बाहर निकल आने में समर्थ हो जाते हैं, और पृथिवी विनाश से बच जाती है । यह विदारण विनाश भी करता है, और बड़े लाभ भी पहुँचाता है, इस प्रकार कर्म भोग के निवटाने में प्रभु की चेतना के कारण समर्थ होता है । इस विदारण के साथ-साथ विद्यमान प्रभु की सत्ता का साधक को अभ्यास में अनुभव करना चाहिये ।

७. रूक्षता—पृथिवी के गर्भ में निहित ऊष्मा और बाह्य सूर्यादि की ऊष्मा के कारण पृथिवी में पाकज-रूप धर्म वर्तमान रहता है । इससे पृथिवी में रूक्षता, शुष्कता या सूखापन धर्म आ जाता है । जो प्रत्यक्ष रूप से सब के अनुभव में आ रहा है । पृथिवी सूखी है । जब जल का अंश सर्वथा निकल सा जाता है, तो यह शुष्क वालु के रूप को धारण कर लेती है । पृथिवी की शुष्कता ही, दैनिक व्यवहार में आने वाले पानी के बड़े भारी भाग को सोख लेती है । पृथिवी का शुष्कता धर्म ही कपड़े के धोने में उपयोगी होता है । कपड़े पानी को सोख लेते हैं, अधिक जल पड़ने पर पानी के द्वारा निकाले मैल को बाहर फैंक देते हैं । यह शुष्कता धर्म ही रेत और स्याहीचूस द्वार स्याही को सुखा देता है ।

पृथिवी की रूक्षता ही चौमासे की वर्षा और सिंचाई के जल के बड़े भारी भाग को खपा जाती है । यह रूक्षता धर्म ही दल-दल वाली भूमि को रूखी-सूखी मिट्टी डालने पर शुष्क समतल भूमि बना डालता है । वर्षा काल में जब कच्ची भूमि कीचड़ के कारण पशुओं के लिये कष्ट-प्रद हो जाती है, उस समय यह शुष्कताधर्म वाली मिट्टी ही स्थान को सूखा बना पशुओं को आराम देती है । जब कच्चे मार्ग और रेतीले दगडे कीचड़ के कारण यातायात के योग्य नहीं रहते तब सूखी मिट्टी की शुष्कता का योग ही उन्हें चलने फ़िरने

के योग्य बनाता है। शुष्कता पृथिवी का स्वाभाविक धर्म है। पृथिवी गीली हो जाने पर भी पुनः वायु, अग्नि और धूप के संयोग से सूखी हो जाती है, अपने वास्तविक रूप में आ जाती है। पांचों भूतों का पृथिवी में अयुतसिद्ध समुदाय होते हुए भी शुष्कता का बना रहना सर्वत्र विद्यमान उस ब्राह्मी चेतन सत्ता का बोध साधक को कराता है।

८. **कृशता**—जहां रूक्षता होती है वहां अनायास ही कृशता धर्म भी आ जाता है। पृथिवी का अपना धर्म कृशता है, पानी और अग्नि के संयोग से इसमें विस्तार आ जाता है। हरी लकड़ी मोटी होती है, पानी के योग से, सूखने पर तनी हो जाती है। हरे फल शाक सुखाये जायें तो कृश हो जाते हैं। अंगूर मोटे-मोटे भी सूखकर पतली-पतली किशमिश बन जाती हैं। मोटी मोटी अदरक की गाठें सूख कर छोटी-छोटी सोंठ बन जाती हैं। हरा अंजीर बहुत मोटा होता है, सूखा हुआ पतला कृश। जल से फूली गीली ईंटें सूखने पर पतली हो जाती हैं। वर्षा काल में फूली लकड़ी गरमी में स्वाभाविक रूप में आकर पतली हो जाती है। अग्नि के कारण फैला लोहा, आदि धातुएं अग्नि निकल जाने पर स्वाभाविक रूप में कृश हो जाती हैं। रेल के आने पर लोहे की पटरी रगड़ की गर्मी से फैल जाती है। इसीलिये पटरियों के बीच में आधा इन्च के लगभग स्थान पटरी के फैलने और स्वाभाविक रूप में आने के लिये छोड़ दिया जाता है। यदि पटरी कृशता धर्म का पालन नहीं करती तो रेल के आने पर सदा पटरी पर पटरी चढ़ जाती।

कृशता का दूसरा अर्थ कुरेदा जाना भी है।

कृश—विलेखने धातु से। भूमि में ही कुरेदे जाने की सामर्थ्य है। पानी अग्नि, वायु आदि कुरेदे नहीं जा सकते। वे तत्काल अपने रूप में आ जाते हैं इसीलिये भूमि को जोतकर कुरेद कर हल चलाया जाता है। उन सीमाओं के मध्य बीज बोया जाता है। गोभी, शकरकन्दी आलू आदि के पौधों पर मिट्टी को कुरेद-कुरेद कर चढ़ाया जाता है, यदि मिट्टी में कुरेदे जाने की सामर्थ्य नहीं होती तो खेती करना दुष्कर हो जाता। यह कृशता का भाव विदारण के साथ समता रखता है। इसलिये पहला अर्थ ही यहां लेना सुसंगत है।

९. **सर्व-भूताधारता**—पृथिवी के निर्माण काल में ये धर्म अनेक वर्षों में शनैः शनैः आते हैं। इस अवस्था में पहुँचने के लिये पाकज-रूप क्रिया अपना काम समाप्त कर शिथिल सी हो जाती है और भगवान् की सर्वव्यापक सत्ता की मौजूदगी में इसमें सर्व-भूताधारता धर्म आने लगता है। इस पर चेतन सृष्टि ने उत्पन्न होना है। ८४ लाख योनियों में नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न भोगों वाले भूतों—प्राणियों—जीवों का इसने आधार बनना है। इसीने सब का पालन पोषण रक्षण करना है। तभी तो सर्व भूताधार बनेगी।

देव मनुष्य, कीट पंतग, कीडी कुञ्जर, सरीसृप, दंश, मशक, वनस्पति औषधि आदि सब ही तो भूत हैं। इन सबके विभिन्न प्रकार के भोग हैं। देवों के सात्विक भोग, मनुष्यों के शवल, कीट, पतंग के कृमि अंकुर आदि, कीड़ी के नन्हें-नन्हें कण, कुञ्जर के लिये मनों चारा, सांप, बिच्छु के लिये नाना प्रकार के छोटे-छोटे जीव, दंश मशक के लिये कृमि, इन सब भोगों का आधार एवं निर्माण-स्थल यह वसुन्धरा ही है। प्राणियों की इयत्ता तो दूर रही, योनियाँ के प्रकार की संख्या करनी कठिन है। पुराणों में ८४ लाख योनियाँ बतायी गई हैं। आज कल का जन्तु शास्त्र तो बहुत कम, लगभग ५४ हजार, की ही कल्पना कर पाया है। इन सबके शरीरों और भोगों का आधार यह वसुन्धरा ही है।

एक कुटुम्ब के दस-पाँच प्राणियों के पोषण में मानव परेशान हो उठता है। माता वसुन्धरा तो कल्पनातीत प्राणियों का भोग सम्पादन कर रही है, भोग का निमित्त बन रही है।

कुटुम्बी केवल कुशल क्षेम की व्यवस्था करता है। माता वसुन्धरा तो लखोका योनियों के जीवों को अपनी गोद में उठाये हुए, पालन-पोषण करते अघाती नहीं है। वायु में, आकाश में उड़ने वाले पक्षी भी इसकी गोद में ही आकर विश्राम करते हैं। जल के जलचर भी जल के तल में इसी पर अपना संसार बनाये हैं और तो और उनके घर वरुणालय सागर का आधार भी यही वसुन्धरा है। कैसी अनोखी सर्व भूताधारता है माता वसुन्धरा की। इसके सरूप अन्य अगणित लोक-लोकान्तर भी तो इसी की तरह कल्पनातीत भूतों का आधार बने हुए हैं। इन लोक-लोकान्तरों में भी तो कोई गणना या सीमा आज का विज्ञान भी निर्धारित न कर पाया। ऐसे भी तो अगणित लोक हैं जिनका प्रकाश हजार मील सैकिण्ड की गति से भूमि की ओर आ रहा है। वह सृष्टि के आरम्भ दो अरब से ही चल रहा है पर आज तक इस भू पर नहीं पहुँच पाया है। इतने लोक-लोकान्तरों के अनन्त भूतों का और उनके भोगों का आधार यह जड़ पृथिवी भूत है। यह सब महिमा उस अनन्त असीम भगवान्, जिसकी कण-कण में विद्यमानता पृथिवी सर्व भूताधारता को कृत-कृत्य बनाये हुए है। उसी चेतन सत्य की अनुभूति इस सर्व भूताधारता के साथ-साथ योगी को करनी है।

१०. क्षमा—क्षमा का अर्थ है सहन शीलता। सर्व-भूताधारता के साथ क्षमा का होना अनिवार्य है। जितना अधिक भार उठाने वाला व्यक्ति होगा उतना ही सहनशील होगा। यह पृथ्वी ही तो सर्व भूत मात्र का आधार है। इसकी सहनशीलता की क्या माप तोल! इसीलिये निरुक्त में भगवान् यास्काचार्य ने पृथिवी के पर्यायवाची शब्दों में क्षमा को दूसरे नम्बर पर रखा है।

पृथिवी स्वयं भी हल्की नहीं, असंख्यों टन इसका भार है। इस पर आधारित असंख्य शरीर धारी, वनस्पति, समुद्र, ताल, सरोवर उन सबके भार की विहंगम दृष्टि से कल्पना कीजिये। इतने भार को लेकर यह गिर क्यों नहीं जाती, या उड़ क्यों नहीं जाती, बस असीम प्रभु की अनन्त सत्ता के कारण ही यह लोक-लोकान्तर परस्पर के आकर्षण से टिके हैं।

उक्षा दाधार पृथिवीम् (वेद)

प्रभु की व्यापकता के ही कारण यह लोक-लोकान्तर विना अन्य किसी आधार, आधारहीन आकाश में बन्धे हैं।

केवल प्राणियों के भार और भोग के उत्तरदायित्व को उठाने से ही क्षमा नहीं है। अग्नि, जल और वायु के आघातों के सहने से भी यह क्षमा है। जापान में एटम पड़ा, भयावह अश्रुत पूर्व तबाही मच गयी। हिरोशिमा नगर का, मानव की साभिमान रचना का, सुन्दर उद्यान और रम्य उपवनों का पता भी न चला, कहाँ थे; पर माता वसुन्धरा उस आसुरी आघात को सहन करके भी आज भी पूर्व सी दशा में है। नया नगर

बस गया है। नयी रंगरलियाँ, नया साज़ो-सामान तैयार है, पर भूतधात्री क्षमा वही है।

बाढ़ आती है, नगर, प्रान्त तबाह हो जाते हैं। लाखों बेघर हो दर-दर के भिखारी बन जाते हैं। पर माता वसुन्धरा सहनशीलता का मूर्त रूप उसी रूप में है। उसमें कोई उद्वेग घबराहट नहीं।

भयंकर आन्धी-तूफान आते हैं, रेत के टीले के टीले इधर से उधर हो जाते हैं। छतें उड़ जाती हैं। बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ जाते हैं। नगर के नगर उजाड़ हो जाते हैं, पर भूतधात्री क्षमा रूप वह वही की वही है। कैसी अनन्त क्षमाशीलता है माता वसुन्धरा की!

११. सर्वभोग्यता—इन सब गुणों के अनन्तर प्रभु की सन्निधानता से इस पृथिवी में सर्वभोग्यता गुण का आविर्भाव हो जाता है। अब यह प्राणिमात्र के भोग-सम्पादन के लिए तैयार है। सब प्राणियों के आवास और भोग के लिये अपने को प्रस्तुत करती है। सब धर्मों से सम्पन्न यह धरती माता वसुन्धरा सब प्राणियों को धारण करने की सामर्थ्य वाली बनी है। तदनन्तर उस ब्राह्मी चेतन सत्ता से इस वसुन्धरा पर सब प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है—भोग लेने के लिये, या भोग भोगने के लिये। सब प्रणियों का आवास और भोग इस पृथिवी से ही बँधा है। सब प्रकार के ८४ लाख योनियों कल्पनातीत प्राणियों के भोग का निमित्त बनती है। सब प्राणियों को सुख-सामग्री का भोग भी मिलता है, और पापों के परिणाम रूप दुःख-दारिद्रयमयी, दाहक, सन्तापक सामग्री भी इसी के सामर्थ्य से विवश भोगनी पड़ती है।

एक ही काल में कहीं लू चल रही है तो कहीं बरफ जमी है। कहीं शीत है तो कहीं गरमी, कहीं वर्षा। कहीं ऊँचे पहाड़ तो कहीं रेगिस्तान। कहीं नदियाँ तो कहीं रेगिस्तान। यह सब एक ही काल में इस पृथिवी पर इसलिये है कि स्वतन्त्र कर्ता जीवों का भोग उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए सम्पादन कर सके। सब ही प्राणियों के उच्चावच भोग इस वसुन्धरा पर उपस्थित हैं। यहाँ अमृत भी है और कालकूट विष भी। मानवों का भोग भी यहाँ है, और दानवों का भी। राक्षसों का भी और पिशाचों का भी और देवताओं का भी।

इस प्रकार यह वसुन्धरा माता के समान रक्षिका, पिता के समान पालिका, पोषिका, और पत्नी के समान भोग्या, जेलर के समान नियन्त्रिका और यातना प्रदात्री बन कर सब प्रकार के भोग सम्पादन करती है।

साधकवृन्द! इस प्रकार आपने समाधि की सयम स्थिति द्वारा पृथिवी के प्रथम स्थूल रूप के इन ग्यारह धर्मों का प्रत्यक्ष किया, और साथ ही साथ प्रत्येक गुण में प्रभु की विद्यमानता का भी अनुभव किया। अब उसके और उस पर होने वाले सृष्टि क्रम में संयम कीजिये। आप को निम्न प्रकार प्रत्यक्ष होगा।

इस पृथिवी पर सर्वप्रथम वनस्पति, औषधि, वृक्ष, अन्न, फल, मूल आदि उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर पशु-पक्षी, वनचर, नक्तञ्चर आदि का धरती पर प्रादुर्भाव होता है। इसके अनन्तर मुक्ति से लौटने वाली मुक्त आत्मायें, या ऐसी आत्मायें जिन्हें मोक्ष प्राप्त करने में एक-दो जन्म लेने शेष थे, या जीवनमुक्त योगियों की आत्मायें, या अन्य

योगभ्रष्ट आत्मायें, या अन्य महान् आत्मायें प्रादुर्भूत होती हैं। ये सब संकल्प से ही उत्पन्न होती हैं। यह सृष्टि के आरम्भ में दिव्य शरीर धारण कर लेती हैं; या सर्व-प्रथम मानव-देह में अवतीर्ण होती हैं। आगे इनसे ही मैथुनी सृष्टि आरम्भ होती है। इस प्रकार आरम्भ में ही स्त्री और पुरुषों के शरीर में आत्माओं का प्रादुर्भाव होता है।

इस पृथिवी महाभूत के प्रादुर्भाव काल में चारों भूतों के परमाणु संघात को प्राप्त होकर इसको सर्वप्रथम गैसों के रूप में बनाते हैं। यह गैसों का महान् चक्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में चलता है। सृष्टि के आरम्भ में यह अनेक वर्षों तक चलता रहता है। इसमें मुख्य भाग महाभूत वायु और अग्नि का होता है। क्रिया वायु महाभूत से और पाकज धर्म महाभूत अग्नि से आता है। जल और भूमि के भूत सब मिले गैसों के रूप में होते हैं। उस ब्राह्मी चेतन सत्ता के योग से यह महान् गैसों का चक्र वर्षों चलता रहता है। तत्पश्चात् ये गैसें शनैः-शनैः द्रवी भाव को प्राप्त-से होकर बिखर सी जाती हैं, और असंख्य मण्डलों में बँट जाती हैं। फिर ये मण्डल प्रचण्ड अग्नि और वायु से द्रवीभूत हुए-हुए लावा या कीचड़ बन जाते हैं। इस अवस्था में भूतों के क्षोभ से आकार, गुरुत्व, स्थिरता, काठिन्य, आदि धर्म यथा-क्रम परिणाम भाव को प्राप्त होते हैं।

जो आकाशमण्डल में दृश्यमान नक्षत्र लोकों के रूप में वर्तमान हैं इनकी गणना असंभव ही है। प्रत्येक लोक में दूसरे लोक से लाखों, करोड़ों, और कहीं-कहीं अरबों मील तक की दूरी है। ये सब आकाशमण्डल में रात-दिन प्रतिक्षण गतिशील रहते हैं। जो लोक काल-क्रम से बहुत काल में शीतल होते जाते हैं, वे प्राणियों के बसने के योग्य हो जाते हैं। जिन लोकों के अन्दर अभी भी अग्नि, और वायु का तेज अधिक है, जो अभी गैसों के रूप में ही वर्तमान हैं, वे प्राणियों के बसने योग्य नहीं बने हैं। उनकी गति आकाश-मण्डल के अन्य बसने योग्य लोकों की अपेक्षा बहुत तीव्र है। प्रत्येक लोक प्रकाश वाला है। तेज वाला है—कोई तीव्र प्रकाश वाले हैं, कोई मन्द प्रकाश वाले। यह एक दूसरे को परस्पर प्रकाश दान करते हैं, जैसे हमारा सूर्य है, इससे भी बड़े-बड़े सूर्य—लाखों गुना बड़े सूर्य—उनमें से लाखों मीलों तक अग्नि के बड़े-बड़े महान् शोले प्रचण्ड धाराओं के रूप में निकल रहे हैं। इनका विस्तार लाखों मील चौड़ा, और लम्बा होता है। इनके सम्मुख जो आये भस्म हो जाये, इन सब लोकों की गणना आज तक कोई न कर सका और न भविष्य में गिन सकेगा।

ये सब लोक समष्टि महाभूत पृथिवी के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। इसी समष्टि पृथिवी महाभूत का एक अंश हमारी पृथिवी भी है। इन सब लोकों का सम्बन्ध परम्परा से कारण रूप प्रकृति के साथ है। और प्रकृति का साक्षात् रूप से ब्रह्म के साथ सान्निध्य है। इस निमित्त कारण ब्रह्म के द्वारा ही यह दृश्यमान ब्रह्माण्ड गतिशील बन कर जीव के भोग और अपवर्ग का हेतु बना हुआ है। अभ्यासी को इस पृथिवी महाभूत के प्रत्येक परिणाम में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये।

यह महाभूत पृथिवी के स्थूल रूप में ब्रह्म विज्ञान और दर्शन का क्रम सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हो कर करना चाहिये। भूगर्भ में और आकाशमण्डल में, लोक-लोकान्तरों में अर्थात् व्यष्टि और समष्टि रूप में।

पृथिवी का समाधिजन्य ज्ञान

भूमि की गति का कारण—उत्पत्ति-काल में सर्वप्रथम हमारी भूमि सूर्य से टूटकर गिरी; यह सूर्य का ही एक अंश है सर्वप्रथम यह गैस के रूप में थी। उसके पश्चात् आर्द्रता, तरलता, लावे के रूप में बदली। फिर यह दलदल और कीचड़ के रूप में पलटी। पुनः पाक पैदा हुआ, और फिर ठोस होकर मिट्टी, पत्थर, रेत के रूप में हुई। फिर ठण्डी होकर बसने योग्य बनी।

ब्रह्म की चेतना सत्ता से—उसके व्यापक भाव से—भूमि अपने अन्दर भी काय कर रही है। चित्त को समाहित कर, ध्यान की तीव्र दृष्टि द्वारा भूमि में प्रवेश कर के देखा जाय तो दीख पड़ेगा, अब भी इसके गर्भ में अनेक जल, अग्नि, वायु और नाना प्रकार की गैसों के दरिया बह रहे हैं। अनेक पदार्थ द्रवीभूत हुए कीचड़ और लावे के रूप में वर्तमान हैं। अनेक स्थानों में रेत, मिट्टी, पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानें भी विद्यमान हैं और कहीं-कहीं खाली बड़ी-बड़ी दरारें भी मौजूद हैं। अनेक स्थानों पर द्रवीभूत सूक्ष्म पदार्थ के गैसों के रूप में प्रचण्ड अग्नि पैदा कर रहे हैं। इन्हीं से यह भूमि कम्पायमान हो रही है, और क्षुभित होकर गतिशील बनी हुई है। अनेक स्थानों पर द्रवीभूत पदार्थ परिणाम भाव को प्राप्त होकर सोना, चाँदी, लोहा, ताम्बा और अन्य अनेक धातुओं का रूप धारण कर रहे हैं। कहीं यह लावा परिणाम भाव को प्राप्त होकर अभ्रक, पत्थरके कोयले आदि की तहें जमाता जा रहा है। कहीं सीसा तथा अन्य पदार्थ पाक धर्म से तय्यार हो रहे हैं।

जब कभी अग्नि या गैसों के द्वारा भूमि में विशेष क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, तो भूकम्प पैदा हो जाता है। उससे कहीं भूमि के ऊपर के पर्वत अन्दर धँस जाते हैं, और वहाँ जलाशय या समुद्र आदि बन जाते हैं। और जब कभी भूकम्प से समुद्र के नीचे भूमि में विशेष क्षोभ होता है तो कहीं-कहीं पहाड़ भूमि के ऊपर निकल आते हैं और समुद्र का जल भूमि में धस जाता है। या इधर-उधर बह कर अन्य समुद्रों में जा कर मिल जाता है। ये सब भूकम्पों से उत्पन्न गति के कारण उथल-पथल होती है।

अग्नि, वायु, जल और गैसों के कारण जो भूमि में प्रचण्ड वेग से क्षोभ होते हैं, यह भी पृथिवी की गति में कारण बने हुए हैं। इन्हीं से यह पृथिवी कम्पायमान और क्षुभित हो कर गमन करने के योग्य बनी हुई है। इसी को कहते हैं भूमि अपनी परिधि पर घूमती है। जल, अग्नि, वायु और गैसों के कारण ही पृथिवी में गमन करने की शक्ति सदा उसके गर्भ में विद्यमान रहती है, उन्हीं के आधार पर यह ठहरी हुई है, और इतने बड़े अपने भार को भी उठाये हुए है।

भूमि के घूमने का कारण—सूर्य के इर्द-गिर्द—चारों ओर जो इसकी गति होती है, यह घूमती है, इसमें सूर्य का आकर्षण विशेष कारण है। यह इधर-उधर सूर्य की परिधि से बाहर भी तो जा सकती थी, पर नहीं जा सकती, सूर्य उसको खींचे हुए है, क्योंकि सूर्य में पृथिवी की अपेक्षा आकर्षण शक्ति अत्यधिक है। जो भूमि के गर्भस्थ पदार्थ भूमि को चला रहे हैं उनसे असंख्य गुना वे पदार्थ सूर्य के गर्भ में भी वर्तमान हैं। उन्हीं से सूर्य में इतना प्रबल तेज और आकर्षण है। पृथिवी पर जिस प्रकार हवाई जहाज, स्पुतनिक,

राकेट, मोटर, रेल आदि के अंजन, जल, वायु, आग, ईंधन, तैल, पैट्रोल आदि साधनों से चलते हैं, ऐसे ही भूमि के अन्दर भी यही सब विद्यमान रहते हैं, जो इसको गति देते रहते हैं, घुमाते रहते हैं। इसी प्रकार आकाश में दीखने वाले लोक-लोकान्तर गति कर रहे हैं। जिनके अन्दर गति के निमित्त पदार्थ अधिक मात्रा में है, वे अपने से कम आकर्षण शक्ति वाले लोकों का आकर्षण कर के रखते हैं। इसी कारण ये लोक आपस में बन्धे से रहते हैं, और सदा गति करते रहते हैं।

इस पृथिवी का विस्तार—इस हमारी पृथिवी की परिधि २५ ००० मील की है। और इसकी गहराई (मोटाई) ४,००० चार हजार मील है। इस पृथिवी के एक-चौथाई भाग में सूखा है और तीन-चौथाई भाग में जल है। इस पृथिवी से चन्द्रलोक २४,००० मील की दूरी पर है, यह इससे ही कभी पृथक् हुआ था। चन्द्रमा पृथिवी का पचासवाँ ($\frac{१}{५०}$) भाग है। चन्द्रमा पृथिवी को जितनी रोशनो देता है, पृथिवी उसकी अपेक्षा चन्द्रमा को १३ गुना अधिक रोशनी देती है। इस पृथिवी के आठवें ($\frac{१}{८}$) भाग पर, बरफ पड़ी हुई है। इस पृथिवी का भार जल की अपेक्षा ५$\frac{१}{२}$ गुना अधिक है। यह पृथिवी सूर्य की परिक्रमा प्रति सैकिण्ड १९ मील की गति से करती है। पृथिवी तक सूर्य का प्रकाश आठ मिनट में पहुँचता है। यह प्रकाश प्रति सैकण्ड ४९ हजार मील की गति से चलकर पृथिवी पर पहुँचता है। जब कभी इस पृथिवी का प्रलय-काल आयेगा तो १२ सूर्यों की गरमी वाली अग्नि इसे भस्म करने में समर्थ होगी। यह सूर्य की परिक्रमा ३६५$\frac{१}{३}$ दिन में पूरी करती है। और चन्द्रमा इसकी परिक्रमा २९$\frac{१}{२}$ दिन में करता है। इस पृथियी से सूर्य ९ करोड़ ३० लाख मील दूर है। सूर्य अपनी परिधिमें २७ घण्टे में एक चक्र लगाता है। यह पृथिवी सूर्य का दो करोड़ १३ लाखवां ($\frac{१}{२१३०००००}$) भाग है। पृथिवी के ऊपर पच्चीस कोस तक वायु रहती है। उसके ऊपर अति सूक्ष्म हो जाती है। इस हमारी पृथिवी के चारों ओर सात (७) परिधियाँ है। इनको हम आवरण भी कह सकते हैं। प्रथम—समुद्र; दूसरा—त्रस्रेणु सहित वायु; तीसरा—मेघमण्डल का वायु; चौथा—वृष्टि का; पाँचवाँ—एक अन्य प्रकार का वायु; छठा—धनञ्जय नाम वायु; सातवाँ—अत्यन्त सूक्ष्म सूत्रात्मा नाम का वायु है। ये पृथिवी को गति कराने में अत्यन्त सहायक होते है। प्रत्येक की सीमा,अन्य के सिरे पर होते हैं जो एक प्रकार से इसको सुरक्षित रखते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथिवी के ऊपर वायु की परिधियों या स्तरों का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। जो कि पृथिवी को घेरे रखती हैं अथवा अपने कन्ट्रोल या वश में रख कर नियम से गति कराती हैं। यथा—सप्तहिमारूतोगणः दूसरा पाठ सप्तगण वैमारुतः तीसरा पाठ सप्त सप्तहिमारूता गणाः ॥(तैत्तिरीयब्राह्मण १-६-२-३। शतपथ २-५-१-१३॥) भावार्थ ये सात विभाग वाले सात प्रकार की वायु के गण हैं, अर्थात् सात प्रकार की वायु की परिधियें या स्तर हैं जो आकाशमण्डल में लोक-लोकान्तरों को घेरे रखती हैं। इनमें स्थूल सूक्ष्म का भेद लोकों के सम्बन्ध से हो जाता है। जब केवल वायु महाभूत में इन विभागों का इन लोकों के बनने से पूर्व वर्णन करते हैं तब सर्व सूक्ष्म सातवाँ सूत्रात्मक वायु, वायुभूत के गर्भ में होता है। इसके पश्चात् धनञ्जयादि वायु के भेद क्रमपूर्वक सूक्ष्म से स्थूल के रूप में होते हैं। ये जो वायु की ७ परिधियें हैं, क्योंकि ऊपर तीसरे पाठ में दो बार सप्तसप्त पाठ पढ़ा गया है। अतः ७×७=४९ प्रकार के वायु के भेद हो जाते

हैं। ये सब ४९ भेदात्मक वायु की परिधियें पृथिवी को वेष्टित करके रखती हैं। ये ४९ वायु के स्तर हो जाते हैं। प्रत्येक स्तर लगभग १ योजन का होता है। इनमें पृथिवी के समीप का स्तर मुख्य रूप से प्राणदा, या प्राणियों के जीवन का मुख्य रूप से आहार होता है। मानवादि इसे सेवन करके जीवन धारण करते हैं। इसके पश्चात् के स्तरों में जीवनी शक्ति क्रम पूर्वक कम होती चली जाती है। २३६ मील तक इस पृथिवी का विशेष आकर्षण रहता है। इन ४९ प्रकार के स्तरों या परिधियों का सम्बन्ध अपनी पृथिवी से रहता है। इनके अनन्तर दूसरे लोकों की परिधियों का सम्वन्ध प्रारम्भ हो जाता है। ये सात-सात प्रकार की वायु महाभूत की परिधियें प्रत्येक लोक के मण्डल को सुरक्षित रखती हैं। प्रत्येक लोक को गति प्रदान करने या स्तम्भन रखने में सहाक होती हैं। ये सब वायु महाभूत के ही कार्यात्मक परिणाम विशेष है।

हमने इस पृथिवी महाभूत की जैसे सात तहों या परतों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार सात-सात जल महाभूत और अग्नि महाभूतों की भी सतह या परत अथवा परिधियें होती हैं। जब योग की सूक्ष्म दिव्य दृष्टि से देखा जाता है तब ये सब स्तर सूक्ष्म रूप से देखने में आते हैं। इन सब परिधियों ने ब्रह्म के ऊपर आवरण किया हुआ है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है।

हमने पृथिवी महाभूत के तीन रंगों या रूपों का सात्विक, राजस, तामस भेद से वर्णन किया है परन्तु वेद कई रंगों का वर्णन करता है, यथा—बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमि पृथिविम् इत्यादि। अ० १२-१-११॥ बभ्रु का अर्थ है भूरे रंग वाली, काले रंग की, लाल रंग वाली, विश्वरूपा का अर्थ होता है सब रूपों वाली, क्योंकि अग्नि अनेक रूपों वाली हो जाती है। रूप, गुण अग्नि से ही आया है अतः जितने भी पार्थिव पदार्थों में रंग-रूप आए हैं वह पृथिवी के ही हो सकते हैं।

हम वायु महाभूत के भेदों द्वारा पृथिवी की सुरक्षा और गति का वर्णन कर रहे थे। जब कभी घूमते-घूमते पृथिवी की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है, तव चन्द्र-ग्रहण होता है। जब यह चन्द्रमा पृथिवी और सूर्य के बीच में आता है, तब इसकी छाया से सूर्य-ग्रहण होता है। हमारी पृथिवी पर सूर्य का प्रकाश और तेज इस कारण मन्द होकर पहुँचता है कि इस सूर्य प्रकाश पर भी तीन मण्डल हैं—१. आलोक मण्डल, २. वरुण मण्डल, ३. घटा मण्डल। कभी-कभी आलोक मण्डल देखने में आता है। इसका तेज इतना उग्र है कि इसको सूर्य-ग्रहण के समय ही देखा जाता है; क्योंकि उस परिस्थिति में चन्द्रमा की छाया उसे ढक लेती है। तेज हल्का हो जाने से दीखने लग जाता है।

इस पृथिवी में संकोच विकास धर्म है, जो कि दिन और रात में दो बार होता है। इन दो अवसरों पर यह सिकुड़ती और फैलती है। इसके गर्भ में पोल है जो गैस से भरा है, सर्वत्र सघन और ठोस नहीं है। इसके संकोच और विकास से ही सिद्ध होता है कि इसके अन्दर ब्रह्म की चेतन सत्ता काम कर रही है। इस चेतना के आधार पर ही इसमें संकोच विकास धर्म बना हुआ है। वैसे संसार के सब ही पदार्थ संकोच विकास वाले हैं, परन्तु पृथिवी में संकोच विकास रूप धर्म ही परिणाम पैदा करता रहता है। मानो एक प्रकार से वह श्वास-प्रश्वास की क्रिया करता रहता है। कोई आचार्य तो इस पृथिवी का अभिमानी जीवात्मा भी स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि जैसे जीव चींटी के

शरीर को भी धारण कर लेता है, और बड़े से बड़े तिमिंगल (ह्वेल) मछलीके शरीर को भी धारण कर लेता है। इसी प्रकार इस पृथिवी रूपी शरीर को भी धारण कर सकता है। इत्यादि अनेक कल्पनाएँ उनकी हैं।

पृथिवी में तेल, पैट्रोल—पैट्रोल के विषय में जो आजकल के वैज्ञानिक कथन करते हैं उनकी खोज हमें तो बिलकुल निराधार सी प्रतीत होती है। इनका कथन है कि पैट्रोल या तेल की उत्पत्ति भूमि में जन्तुओं और पौदों से हुई है। ये जैविक पदार्थ हैं। ये उन युगों के हैं जब पृथिवी पर जलीय और स्थलीय जीवन के भिन्न-भिन्न जन्तु और पौदे बहुतायत से थे। वे समुद्रों की तलियों और डेल्टाओं में मुहाने की तलछटी मिट्टी और रेत में दब गये थे। इनकी इस जमावट ने पैट्रोल को जन्म दिया है। उस युग में घने वन और पलांकटन नामक जीव बहुतायत से थे, नदियाँ इनको बहाकर लातीं, और दलदलों तथा समुद्रों में फेंक देती थीं। यह तलछट इकट्ठी होती रहती थी और दबती रहती थी। इन पौदों और जीवों के अङ्गों से हाइड्रोकार्बनों का निर्माण हुआ। अतः इस पैट्रोल का निर्माण उन जीवों के अंशों से हुआ है। इन स्थानों पर पृथिवी की तहों पर ताप या गर्मी के दबाव से ये द्रव और गैसी हाइड्रोकार्बन धीरे-धीरे इधर-उधर सरक चट्टानों दरारों, रन्ध्रों, छिद्रों में भर गये और तब से बन्द पड़े रहे जैसे भूमि में जल बन्द रहता है।

ये इनके विचार और कल्पनायें नितान्त निराधार सी प्रतीत होती हैं। जो पृथिवी अनेक पदार्थों को अपने गर्भ से उत्पन्न करती है, जिनकी मनुष्य बाह्य बुद्धि से कल्पना भी नहीं कर सकते हैं उसको पैट्रोल उत्पन्न करने के लिए जीवों और पौदों की क्या आवश्यकता है। वे जीव और पौदे इसी से खुराक को ग्रहण करके पुष्ट होते हैं, पनपते हैं। जल का स्वाभाविक गुण स्नेह है। अतः स्नेह धर्म इस पैट्रोल में जल से आता है। गन्ध इसमें पृथिवी का ही गुण है। इसमें जितने भी तत्त्व हैं, पृथिवी, जल और अग्नि, वायु के हैं। इन्हीं के संघात से इस द्रव्य का निर्माण होता है। इस भूमि से करोड़ों मन पैट्रोल और तेल प्रति वर्ष निकलता है। क्या यह सब जीवों और पौदों का जमा पड़ा है। बिल्कुल अयथार्थ सिद्धान्त है। जहाँ सैकड़ों प्रकार के धातु-उपधातु और अनेक पदार्थों का निर्माण भूमि में होता है वहाँ इन पैट्रोल आदि का भी होता है। जल और अग्नि, वायु इसके गर्भ में विद्यमान हैं, हर समय इसमें पाकज धर्म होता रहता है और नाना प्रकार के पदार्थों का निर्माण हर समय होता रहता है। इसी प्रकार पैट्रोल द्रव्य का भी निर्माण होता है।

इसमें स्नेह द्रव्य होने से आप ने अनुमान कर लिया है कि यह जीवों और पौदों का तैल वा चर्वी होगी। लगभग एक सौ वर्ष हो गये होंगे, मिट्टी का तेल और पैट्रोल निकलते। यह प्रतिवर्ष सारी भूमि से निकाला जाता रहता है और पता नहीं कितने सैकड़ों वर्षों तक यह निकलता रहेगा। इतना तेल या पैट्रोल जीवों और पौदों का नहीं हो सकता। जैसे अन्य अनेक पदार्थ भूमि में बनते रहते हैं और बन रहे हैं इसी प्रकार इस पैट्रोल का निर्माण भूमि और जल के भाग तथा अग्नि के पाकज धर्म से ही होता है। यह भूमि और जल के तत्त्वों से ही बनता है। यह सब प्रक्रिया समाधि में दिव्य-दृष्टि से प्रत्यक्ष होती है। यह कदापि जीवों और पौदों का तैल नहीं है।

पृथिवी में पत्थर का कोयला—इसी प्रकार पत्थर के कोयले के विषय में भी अयथार्थ सिद्धान्त है। इसके विषय में भी वर्तमान भौतिक विशेषज्ञों का कथन है कि अनेक वर्षों तक वनों में अग्नि लग-लग कर वे भूमि में दवते रहे और पत्थर के कोयले के रूप में बनते रहे। कितनी मिथ्या कल्पना है यह इनकी। इस कोयले में भी तो काला स्नेहात्मक द्रव्य होता है। यह इसमें कहाँ से आ गया? इस पाषाण में कौन से जीवों और पौदों की चर्वी मिली होगी और फिर प्रतिवर्ष करोड़ों मन कोयला निकलता है। इस कोयले की भूमि के अन्दर मीलों तक चट्टानें चली गयी हैं जो पहाड़ों के रूप में ही हैं।

हमारा प्रत्यक्ष अनुभव तो यह है कि भूमि में जो अग्नि, वायु, जल से बनी गैसें हैं ये पाषाण भेदों में पाकज धर्म को उत्पन्न करके भूमि के गर्भ में पत्थर के कोयले का निर्माण करती हैं और कई-कई मीलों तक जमाती या जमती चली जाती हैं। इसी प्रकार अभ्रक के भी पहाड़ के पहाड़ बनते चले जाते हैं। और लोहे के भी, एवं अन्य धातुओं के भी जब तक पृथिवी के गर्भ में अग्नि आदि रहेंगे तब तक बनते रहेंगे। इसी प्रकार अन्य लोकों में भी बनते हैं। ज्यों-ज्यों मानव का भौतिक ज्ञान बढ़ता जायेगा त्यों-त्यों भूमि से विशेष भोग-जन्य पदार्थों को उपलब्ध करता रहेगा। अतः यह भूमि महान् हित-कर सिद्ध होगी। जो भौतिक विज्ञानवादी इस विषय में अनुसन्धान कर रहें हैं वास्तव में वह भी एक प्रकार से योगी ही हैं। कभी न कभी यह भौतिक विज्ञान उस चेतन ब्रह्मसत्ता के पास भी ले जायेगा।

वर्तमान में भौतिक विज्ञान उन्नति कर रहा है। भूमि के पदार्थों का विज्ञान बढ़ता जा रहा है। इसीलिए भूमि से खनिज पदार्थ सर्वत्र निकाले जा रहे हैं। यदि कोई महा-विनाशकारी युद्ध न हुआ तो ये भौतिक पदार्थ सदियों तक निकलते रहेंगे और एक दिन ऐसा आयेगा कि भूमि के गर्भ में इनका अभाव हो जायगा। तब भूमि इन पदार्थों को देना बन्द सा ही कर देगी। क्योंकि जब निर्माण कम हो और निकास अधिक हो तो इसके गर्भ में पदार्थों का अभाव तो होगा ही।

पुराणों में इस प्रकार का इतिहास आता है कि भूतकाल में एक बार भूमि से खनिज पदार्थ बहुत निकाले गये थे। उस काल में इस समय के समान भौतिक विज्ञान का युग था। इनके निकलने से भूमि में निर्वलता आ गयी थी। अभिनव पदार्थों का निर्माण बन्द हो गया था। फिर लाखों वर्षों तक यह भूमि बंजर, ऊषर होकर पड़ी रही। इस भूमि पर निवास करने वाले लाखों वर्षों तक खनिज पदार्थों के अभाव में अपने कार्य चलाते रहे। ये खनिज पदार्थ तो भूमि की शक्ति, बल, पराक्रम होते हैं। इन्हीं से इसका विकास होता है। जैसे किसी आदमी को बार-बार विरेचन देने से, शरीर के बहुत से मल इत्यादि के निकल जाने से उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है, निर्वलता आ जाती है, इसी प्रकार इस भूमि से भी अधिक खनिज पदार्थों के निकल जाने से इसकी शक्ति क्षीण अवश्य होगी, निर्वलता भी पैदा होगी, तब खनिज पदार्थों को इसके गर्भ से अधिक मात्रा में निकाल लेने पर उनकी उपज अवश्य कम हो जायेगी। तब खनिज पदार्थों के अभाव में लोग कष्ट और दुःख का अनुभव करेंगे।

आजकल के विकास-वादियों में एक और अशुद्ध धारणा बनी हुई है, कि मनुष्य का विकास बन्दर से हुआ है। पहिले यह सब बानर के रूप में थे। शनैः शनैः मनुष्य बन

गये। सभ्य हो गये। पढ़-लिख गये। इन बुद्धि के धनियों से पूछा जाये, कि जिस कुदरत ने बानर को बनाया था, क्या वह मनुष्य को नहीं बना सकती थी। और जब बन्दर से मनुष्य बन गया, तो यह उपलब्ध मनुष्य क्यों नहीं बने? अब क्यों कोई बन्दर मनुष्य नहीं बनता?

इस प्रकार की आजकल अनेक मिथ्या और अयथार्थ कल्पनायें वर्त्तमान हैं। आजकल जहाँ भौतिक विज्ञान का विकास हो रहा है वहाँ बुद्धि भी विकसित हो रही है। शनैः शनैः यथार्थ सिद्धान्त पर आ जायेंगे। इस समय मशीनरी का युग है। इस विषय में बहुत उन्नति हो रही है। यदि मानव का अभिमान बढ़ गया तो यह विनाश का ही हेतु होगा। यदि इस बल-बुद्धि का अभिमान न बढ़ा तब शान्ति का हेतु होगा।

पृथिवी के गर्भ में—जब हम भूमि को खोदकर जल निकालते हैं, तो प्रायः सब ही जगहों पर, कहीं समीप में और कहीं दूर जल निकल आता है। यदि उस जल को अच्छी तरह दिव्य दृष्टि से देखा जाये तो वह भूमि-गर्भस्थ जल कहीं-कहीं तो दरियाओं के रूप में बह रहा है और कहीं समुद्र और झीलों के रूप में खड़ा है। इसके नीचे भी जमीन होती है जो कि अनेक किस्म के पत्थर, मिट्टी, धातु इत्यादि की चट्टानें होती हैं। यह सतह भूमि की ऊपरवाली सतह से दूसरी सतह होती है। इसके नीचे भी एक और सतह वर्तमान रहती है, जो कि लावे के रूप में होती है, सदा उबलती रहती है, पाक करती रहती है। लावा पक-पक कर चट्टानों के रूप में बन जाता है या लावा निकल कर ऊपर आ कर पर्वतों, पत्थरों, तथा धातुओं के रूप में तैयार होता रहता है। यह लावे की सतह भूमि के अन्दर कहीं तो ऊपर की सतह से कई-कई सौ मील नीचे होती है। और कहीं-कहीं कम निचाई पर भी होती है।

यह लावा जब अग्नि के पाकज रूप धर्म से शीतल होकर रेत, मिट्टी, पहाड़ या धातुओं के रूप में पलट जाता है, तब यह लावे को आच्छादन कर के यह भूमि का भाग जल को धारण करने के योग्य हो जाता है। इस भाग के ऊपर ही ये समुद्र, नदियाँ झीलें, तालाब ठहरते हैं। यह जल का भाग भूमि में लगभग १५-२० मील की दूरी के अन्दर तक ही रहता है।

इसके नीचे फिर लावे की सतह का भाग आ जाता है। इसके नीचे एक गैस की सतह होती है। यह गैस लावे को पका-पका कर ऊपर को फैंकती रहती है, या निकालती रहती है। यह गैस रूप अग्नि पका-पका कर भूमि में सर्व पदार्थों और धातुओं को बनाती रहती है। पहले लावे के रूप में बनाती है, पीछे इसको कठोर बना कर अनेक प्रकार के धातु, पाषाण अथवा पत्थर के कोयले, रेत, मिट्टी आदि बनाती रहती है जो शनैः शनैः शीतल होकर प्राणियों के बसने के योग्य हो जाता है। या हो गया है।

यह जो इस भूमि के मध्य में अन्तिम गैस का स्तर है, इसके आधार पर यह भूमि ठहरी हुई है। यह गैस ही भूमि की गति में कारण बनती है। यह इसे चलाती है। यही ऊपर उठाये हुए है।

जब सृष्टि निर्माण-काल में यह सूर्य से टूट कर अलग हुई थी उस समय यह पृथिवी इस मध्य की गैस के रूप में थी। करोड़ों वर्षों में यह शीतल होकर बसने योग्य

बनी थी। जिस रूप में यह सर्व-प्रथम अपने उपादान कारण 'सूर्यमण्डल' से अलग हुई थी वह इसका असली रूप इस भूमि के गर्भ में गैस के रूप में वर्तमान है। और सम्भव है यह सृष्टि के प्रलयकाल तक इस रूप में वर्त्तमान रहे। भूमि के गर्भ की यह गैस इतनी शक्तिशाली है कि इसके अन्दर सख्त से सख्त पदार्थ भी पड़कर भस्मीभूत होकर इस गैस के रूप में ही पलट जायेगा। भूमि के गर्भ में गैस या अग्नि का गोला-सा कई हज़ार मील लम्बा-चौड़ा है। जो इस ऊपर की पाषाण इत्यादि से युक्त कठोर, महान् आकार वाली, इस भारी भूमि को उठाये फिरता है। यह हमारा सूर्य तो पूर्ववत् गैस के रूप में ही वर्त्तमान है। न जाने इसको शीतल होने में कितने करोड़ वर्ष लगेंगे। तब यह हमारी भूमि के समान शीतल होकर बसने योग्य हो सकेगा। परन्तु उस समय इसमें इतना दाह, प्रकाश और आकर्षण शक्ति न रहेगी और गति भी मन्द हो जायगी। हमारी पृथिवी पर बसने वाले प्राणियों के लिये एक महान् संकट उपस्थित होगा। अन्न, औषधि, वनस्पति, वृक्षादि कम उत्पन्न होंगे क्योंकि इनकी वृद्धि में और फूलने-फलने में सूर्य की उष्णता ही कारण है उष्णता का अभाव हो जाने से पाकज रूप धर्म इनमें नहीं होगा। इनके अभाव में प्राणियों का जीवित रहना असंभव हो जायगा। उस वक्त हमारी पृथिवी के दिन और रात भी संभव है कई-कई दिन या कई-कई मास के होने लगेंगे। संभव है वर्त्तमान के हमारे चन्द्रलोक के समान ही इसकी भी स्थिति हो जाय। जब तक सूर्य शीतल होकर बसने योग्य होगा, उस समय तक इस हमारी पृथिवी के अन्दर जो गैस है वह भी तो ठण्डी हो जायगी। पृथिवी में उष्णता या अग्नि के कम हो जाने से इसके गर्भ में जो पदार्थों का निर्माण हो रहा है वह भी बन्द हो जायगा। इसके ऊपर जो उत्पन्न होने वाले वृक्ष, वनस्पति, औषधि और अन्नादि हैं वे भी उत्पन्न नहीं होंगे। उस अवसर में प्राणियों का जीवन धारण करना असंभव हो जायगा। इन सबके विनाश होने पर यह हमारी पृथिवी सर्व प्राणियों (जीवों) से रहित हो जायगी। हमारी पृथिवी पर विनाश और सूर्य रूपी पृथिवी पर सृष्टि की उत्पत्ति होगी। सम्भव है प्रलय काल तक फिर इस पर शरीरों का या जीवों का वास ही न हो सके। हाँ एक बात की संभावना अवश्य हो सकेगी कि दूसरे लोकों के मनुष्य इस पर आकर निवास करने का प्रयत्न करें। जैसे कि आजकल हमारे भूमण्डल के लोग चन्द्रमा और दूसरे लोकों में जाने का प्रयत्न कर रहे हैं और उनमें वास करने की इच्छा प्रकट करते हैं।

वेद के सिद्धान्त के आधार पर अथर्ववेद भूमि की सतह या परत का इस प्रकार वर्णन करता है। यथा—शिला भूमिरश्मापांसु-सा भूमि-संधृताधृता। अ० १२-१-२६ मन्त्र में ऊपर के क्रम से रेत, मिट्टी, चूर्ण भाग ऊपर का भाग है, या स्तर अथवा परत है। दूसरा भाग पत्थर, मिट्टी आदि अनेक प्रकार की धातुओं से मिला हुआ है। तीसरा भाग शिला की चट्टानों का होता है। इसके अन्दर या पश्चात् दूसरे पदार्थों की सतह होती हैं। ऋग्वेद ने भूमि की सात सतह का वर्णन किया है। यथा—अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्या सप्त धामभिः॥ (ऋ० १-१२-२६)। इस मन्त्र का तात्पर्य यही है, सर्वव्यापक विष्णु भगवान् पृथिवी के गर्भ में स्थित सातधामों या परतों अथवा स्तरों या तहों में जो विक्रान्ति या क्षोभ अथवा विलक्षण प्रकार की क्रिया विशेष करता है, जिसके द्वारा अनेक प्रकार के परिणाम भूमि में होते हैं, भूकम्प अथवा

नाना प्रकार के धातुओं का निर्माण या विकृति पैदा होती है, अतः उससे देवता हमारी रक्षा करें। यहाँ देव शब्द से ईश्वर अथवा विद्वानों या भूमि आदि देवताओं का ग्रहण होता है। इन द्वारा ही प्राणियों की रक्षा हो सकती है।

इस मन्त्र में भूमि की ७ सतहों का वर्णन किया गया है। तीन ऊपर की स्थूल रूप में जो अथर्ववेद ने वर्णन की हैं और ४ सूक्ष्म रूप में जो कि अग्नि, गैसादि भेदों के रूप में होती हैं जो पृथिवी की गति और क्षोभादि क्रियाओं में सहायक हैं।

जब इस पृथिवी में भगवान् के सान्निध्य से विशेष क्रिया अथवा वक्रान्ति पैदा होती है, तब इसमें सात प्रकार के विकार, परिणामात्मक विकार उत्पन्न होते हैं। यथा—१. 'तटति'—पृथिवी विकास भाव को प्राप्त होकर ऊपर को उठती है। यह विकास भी दो प्रकार से होता है : एक सामान्य रूप से जो २४ घण्टे में दो बार होता है। दूसरा विशेष जो कभी-कभी भूकम्प, लावा, या जल स्रोत अथवा ज्वाला या तैलादि के रूप में उत्पन्न होता है। २. 'स्फुटति,—पृथिवी फट जाती है तब ही लावा, ज्वाला' (अग्नि जैसे कांगड़े के पहाड़ में ज्वाला निकलती है), अथवा स्रोतों के रूप में फट कर जल बहने लगते हैं अथवा बड़े-बड़े दरार या खड्डे पड़ जाते हैं। भूमि फट कर नीचे दब जाती है। ३. 'कूजति' —नाना प्रकार के शब्द इसके अन्दर होते हैं। जब भूकम्प आता है या फटती है तब गुंजायमान होकर गड़गड़ाहट का नाद पैदा करती है। ४. 'कम्पति,—जब भूकम्प आता है तो शहरों को, मकानों को, पर्वतों इत्यादि को कम्पायमान कर देती है, कम्पायमान करके मकानादियों को गिरा देती है। ५. 'ज्वलति' अन्दर से अनेक देशों में ज्वालायें निकलती हैं जैसे भारत में पंजाब के कांगड़ा ज़िले में निकलती है। ६. 'रूदति'—अन्दर से द्रव्य पदार्थ लावा, मिट्टी का तैलादि पदार्थों को निकालती है अथवा जलस्रोतों को निकालती है ७. 'धूमायति'—अन्दर से गैस के रूप में धुआँ सा निकलता है अथवा जहाँ गरम जल के स्रोत निकलते हैं वहाँ धुएँ के रूप में भाप निकला करती है। उपरोक्त कथन से भूमि की सात सतहों से नाना प्रकार के परिणामात्मक परिवर्तन होते हुए प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। योगी को सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा पृथिवी की इन ७ सतहों का और इनमें परिणाम होते हुए ७ विकारों का प्रत्यक्ष करना चाहिये। इनके साथ में ब्रह्म का भी साक्षात्कार करें।

सब का नियन्ता—इन लोकों और इनके अन्तरिक्ष रूप अवकाश में एक और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से महान चेतन तत्त्व की सत्ता है जो इन सब लोक-लोकान्तरों के नियन्त्रण का निमित्त बनती है, जैसे मैकेनिक स्वचालित यन्त्रों पर केवल दृष्टि रखता है। सब काम मशीन अपने आप करती है। मैकेनिक को कुछ करना नहीं पड़ता। जब मशीन का कोई पुरजा यथासमय काम न करे, या मशीन का भरत कम पड़ जाय, तो भी मशीन स्वयं चलनी बन्द हो जाती है। मैकेनिक तो बन्द मशीन की न्यूनता को पूरा कर पुनः चालू कर देता है। प्रकृति तो स्वयं पूर्ण है। उसमें कमी का प्रश्न नहीं उठता। सर्वसमर्थ भगवान् का तो ईक्षणमात्र चलता रहता है। जीव का भोग और अपवर्ग प्रकृति द्वारा होता रहता है। जैसे स्वचालित मशीन की गड़बड़ का मैकनिक पर कोई उत्तरदायित्व नहीं, ऐसे ही प्रकृति के कार्यों, या जीव के पुण्यापुण्य कर्मों का भगवान् पर कोई दायित्व नहीं।

इसी प्रकार ड्राइवर भी मोटर की मशीन को कण्ट्रोल में रखता है। यथार्थ मार्ग पर चलाता है, इतस्ततः स्वेच्छा से गमन कराना, टक्कर न लगने देना, समय पर ही ले

जाना, और लाना, उस ड्राइवर के अधिकार में हैं। इसी प्रकार यह पृथिवी रूपी यान पृथिवी के गर्भ में ठहरे हुए गैस, अग्नि, वायु के योग से अथवा पैट्रोल-गेस आदि उत्पन्न करने वाले तेल के योग से, अथवा प्रचण्ड अग्नि के निमित्त गन्धक के पहाड़ आदि के योग से गति करता रहता है। भूकम्प आदि भी तो इनके ही कारण से आते हैं। इन्हीं के कारण भूमि गति भी करती है। सूर्य का आकर्षण भी इस गति में सहायक होता है। वह चेतन सत्ता तो इस सबको अपने ईक्षण में होने देती है। इस नियन्त्रण को समझाने के लिये इसका आरोप ब्रह्म में कर दिया जाता है।

(शंका)—सूर्य को ही क्यों न पृथिवी का नियन्ता मान लें ?

(समाधान)—"फिर शंका होगी उस सूर्य को कौन चलाता है' ?"

"कदाचित् आप कहें—'उसको अन्य सूर्य चलाता है।"

"उसको कौन चलाता है ?"

आप कहेंगे—"उसको कारण रूप प्रकृति चलाती है।"

"उस प्रकृति को कौन चलाता है।"

अन्त में उस ब्रह्म की अनन्त महान् चेतना पर ही जाकर परिसमाप्ति होगी। उसके सन्निधान से ही प्रकृति में गमन रूप क्रिया और परिणाम भाव पैदा होता है। जो इस ब्रह्माण्ड को मैकेनिक या मोटर ड्राइवर के समान अपने कण्ट्रोल में रखे हुए हैं।

ब्रह्म को प्रत्यक्ष करने का अधिकार—जिस योगी ने अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है, अथवा अत्यन्त सूक्ष्म ऋतंभरा प्रज्ञा द्वारा इन तीनों शरीरों के नियन्ता संचालक जीवात्मा के स्वरूप को देख लिया है, समझ लिया है, और जान लिया है, इसकी सब गतिविधियों को इन शरीरों में अनुभव कर लिया है, वह योगी ही इस महाभूत पृथिवी के स्थूल रूप में उस ब्रह्म की चेतन सत्ता का भी अनुभव कर सकता है। क्योंकि अपने आत्मा की चेतन सत्ता के समान ही उस विश्वव्यापी ब्रह्म की भी चेतन सत्ता है। जैसे इस शरीर में स्व-स्वरूप की चेतन सत्ता की प्रत्यक्ष में अनुभूति होती है, वैसे ही इस पृथिवी महाभूत के व्यष्टि और समष्टि रूप में भी ब्रह्म की चेतन सत्ता प्रत्यक्ष रूप में अनुभव में आती है। इसलिए ब्रह्म की चेतन सत्ता का विज्ञान कराने के लिये कई एक स्थलों पर वेदों और उपनिषदों में इस महाभत पृथिवी को ईश्वर का विराट् शरीर कह दिया है। यथा—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो,
यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्,
यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्य मृतः ॥

बृहदारण्यक० अ० ३। ब्रा० ६। मं० ३॥

भावार्थ—जो ब्रह्म पृथिवी में ठहरा हुआ है। पृथिवी के अन्दर (व्याप्त है), जिसको पृथिवी नहीं जानती। जिसका पृथिवी शरीर है। जो पृथिवी को अन्दर से चलाता है। वह तेरा ब्रह्म अन्तर्यामी अमृतरूप—मोक्षरूप है।

ब्रह्म-दर्शन और स्व-स्वरूप के दर्शनों में अन्तर—सर्वप्रथम जब यह योगी इस महाभूत पृथिवी में ब्रह्म का दर्शन करता है तो इसे एक महान् आश्चर्य होता है; क्योंकि

यह अपने स्वरूप को ही जान कर अपने को कृतकृत्य समझने लगा था और विचार कर रहा था कि मैंने जो कुछ पाना था, पा लिया। कूप मण्डूक के समान इसको अपने विज्ञान पर एक प्रकार से अभिमान सा ही हो गया था। जब इसने पृथिवी महाभूत में ब्रह्म की व्यापकता को देखा तो महान् आश्चर्य में पड़ गया और अपने और ब्रह्म के स्वरूप में बहुत अन्तर पाया।

व्यष्टि समष्टि में अन्तर—जब योगी आत्मविज्ञान के प्राप्त करने की साधना करता है तब वह इस ५-६ फुट के शरीर में छोटे-छोटे पदार्थों—जिनको हम व्यष्टि पदार्थ के नाम से प्रतिपादन करते हैं—को देख कर, अत्यन्त आश्चर्य करता है। इन आश्चर्यजनक पदार्थों को देख-समझ कर महान् आह्लाद और आनन्द का अनुभव करता है। इन व्यष्टि पदार्थों के दर्शन और आत्मसाक्षात्कार को यह एक अत्यन्त महान् कार्य समझता है, और अपने को कृतकृत्य भी समझने लगता है। एक निर्धन मनुष्य—जिसके पास न खाने को है, न पहनने को है, न स्थान रहने को है, यदि उसको सौ, दो सौ रुपये मिल जायें तो वह अपने को अत्यन्त सौभाग्य-शाली, धनी एवं कृतकृत्य समझने लगता है। यही दशा इस व्यष्टि विज्ञान के योगी की होती है।

जब ब्रह्म-जिज्ञासु योगी इस अनन्त आकाश में इस पृथिवी महाभूत के रूपों में अनन्त ब्रह्माण्ड जिसका कोई ओर छोर देखने में नहीं आ रहा है—को अपने ध्यान और समाधि का विषय बनाता है तो इस ब्रह्माण्ड के पदार्थों—जो बड़े-बड़े विशाल महान् आकार वाले हैं, जिन्हें हम समष्टि पदार्थ कहते हैं—के दर्शन की, और उनमें व्याप्त ब्रह्म की जिज्ञासा हो जाती है। परन्तु इनका अन्त ही देखने में नहीं आ रहा है और न उस सर्वव्यापक ब्रह्म का ही कहीं अन्त मिल रहा है। इनको देख कर वह योगी उन व्यष्टि पदार्थों के साथ जब इनकी तुलना करता है तो इसको अपने पूर्व के विज्ञान पर एक महान् लज्जा सी प्रतीत होती है। कहाँ वह व्यष्टि और कहाँ यह समष्टि। जैसे एक जुगनू को सूर्य के प्रकाश को देख कर अपने प्रकाश पर लज्जा आती है, इसी प्रकार की लज्जा उस योगी को भी महसूस होती है। जब योगी अपने स्वरूप के साथ ब्रह्म के स्वरूप को प्रत्यक्ष देख कर तुलना करता है, तब यह अत्यन्त हीनता सी अनुभव करता हुआ, अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। ब्रह्म की महानता और अनन्तता इसे प्रत्यक्ष भासती है, और ब्रह्म रूप विशाल समुद्र जलराशि के सम्मुख एक जल कणिका के समान—हृदय-देशावच्छिन्न इस आत्मा की अत्यन्त लघुता, अणुता, सूक्ष्मता ब्रह्म के मुकाबले में प्रत्यक्ष अनुभव होती है। साथ ही सर्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्म की व्यापकता, अनन्तता स्पष्ट दिखाई देती है। और साथ ही चेतनत्वेन ब्रह्म के साथ अपनी सजातीयता, निर्विकारता, निष्क्रियता और असंगता का साक्षात् बोध होता है।

जीवात्मा का प्रदेश बड़े से बड़ा यह शरीर, इससे छोटा यह हृदय, और इससे भी अत्यन्त छोटा सूक्ष्म सा चित्त देखने में आता है। पर ब्रह्म का इस अनन्त असीम ब्रह्माण्ड में क्या छोर मिलेगा। इस अनन्त में योगी की बुद्धि दौड़ लगा-लगा कर थक जाती है, श्रान्त हो जाती है। कोई किनारा या अन्त देखने में नहीं आता। तब यह तत्त्व सहसा प्रकाशित होता है भला इस अणु और इस अनन्त की क्या तुलना। अणु अणु ही है। और महान्-महान् ही है।

समष्टि पृथवी महाभूत मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्मविज्ञान

(पृथिवी का द्वितीय रूप)

२. पृथिवी के स्वरूप में—पृथिवी के स्थूल रूप प्रकरण में जिन ११ (ग्यारह) धर्मों का उल्लेख किया गया है, यह धर्म सब के सब सदा पृथिवी में वर्त्तमान रहते हैं। पृथिवी से ये कभी अलग नहीं होते। पृथिवी के यह स्व-स्व-सामान्य धर्म हैं। जहाँ-जहाँ पृथिवी रहेगी वहाँ-वहाँ यह धर्म भी होंगे, पृथिवी में भी रहेंगे और पृथिवी के परिणामों में भी रहेंगे। पृथिवी का प्रथम धर्म आकार है। वह पृथिवी में भी है और पृथिवी के कार्यों में भी। आकार कहते हैं संस्थान विशेष को, पृथिवी तत्त्व को नीचे-ऊपर रख कर असंख्य आकार जीवधारियों और जड़ों में हैं। पृथिवी के कारण आकार उसके कार्य ईंट में आया। और कार्य रूप ईंटों के आकार से अगणित आकार मकानों, भवनों और महलों के बन गये। उन ईंटों से ही नाना प्रकार के कूप, वापी, सर, महासर, घाट, पुल, बाँध आदि में आकार आया। क्योंकि पृथिवी और उसके कार्य पृथिवी के धर्म से कभी अलग नहीं होते। यह आकार धर्म स्व-स्व-सामान्य है—अपने और अपने विकारों में है। अन्य जल, अग्नि, वायु, आकाश में नहीं है। जल का कोई रूपवान् पदार्थ नहीं बन सकता। पृथिवी की तरह जल से हाथी, घोड़ा, ऊँट, आदमी, मछली आदि कुछ भी नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जल में आकार धर्म नहीं है। न ही अग्नि, वायु, आकाश से कोई आकार बन सकता है क्योंकि पृथिवी की नाईं इन तीनों में भी आकार नहीं। ये पृथिवी के संजातीय नहीं। चारों ही विजातीय हैं।

हाँ, पानी के जम जाने पर जब हिम या बरफ बन जाती तो उसमें आकार धर्म आ जाता है। उससे पृथिवी की नाईं जो चाहो आकार बना लो। यह क्यों ?

"यह इसीलिए कि बरफ अब 'जल' नहीं रही। जल में अग्नि तत्त्व की मात्रा अधिक होती है बरफ की अपेक्षा। बरफ ठण्डी होती है जल की अपेक्षा। जल में अग्नि तत्त्व कम हो जाये तो उसमें पार्थिव धर्म बढ़ जाता है। इसलिये पृथिवी का धर्म आकार जल में आ जाता है। यह भी पृथिवी के समान धर्म वाला हो जाता है। और पृथिवी के समान ही आकार धारण करने की सामर्थ्य इसमें आ जाती है।

आकार आदि पृथिवी और उसके कार्यों में सामान्य हैं, पर जल आदि अन्य चारों से विशेष हैं। उन चारों में भी अपने सामान्य धर्म और अन्यों से विशेष धर्म हैं। इस प्रकार सामान्य विशेष का अयुतसिद्ध समुदाय ही द्रव्य होता है। बिना किसी के मिलाये स्वतः मिला हुआ यह सामान्य विशेष का समुदाय द्रव्य है।

यह सामान्य विशेष धर्म पदार्थ में स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। इन सब धर्मों का पृथिवी रूपी धर्मों के साथ सदा अभेद ही रहता है। यह धर्म ही इसका स्वरूप है। पृथिवी महाभूत के ११ धर्म हैं, आकार, गुरुत्व, कठिनत्व आदि। यह पृथिवी से अलग नहीं हैं। पृथिवी को और आकार को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकते। पृथिवी है तो आकार है। और आकार है तो पृथिवी। पृथिवी के आकार आदि स्वरूप ही हैं।

इसी प्रकार के भेदाभेद में, उस ब्रह्म के चेतनत्व को भी व्यापक रूप में समझना चाहिये। उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता या चेतनता महाभूत के धर्म-धर्मों में अनुभव करनी चाहिये कि किस प्रकार, पृथिवी रूप धर्मी में धर्मों का परिणाम प्रभु के समीप में होता है। और किस प्रकार धर्मों में धर्म, लक्षण, अवस्था परिणत होते हैं।

(शंका) क्या आप धर्म-धर्मी का ऐसा भेद मानते हैं जैसे सहस्रों आमों या सेवों का एक वन अथवा सहस्रों मनुष्यों का एक संघ ?

(समाधान) नहीं, हम ऐसा नहीं मानते। यह तो समान जाति वालों का एक संघ है। इस संघ को हम धर्म-धर्मी नहीं कहते।

देखो ! समुदाय दो प्रकार के होते हैं : १—युतसिद्ध। २—अयुत सिद्ध।

१. युतसिद्ध—यु धातु का अर्थ मिलाना है। इस क्त प्रत्ययान्त से युत शब्द निष्पन्न हुआ है। अर्थात् जिसके अवयव पृथक्-पृथक् विरले हों, जुदा-जुदा हों और फिर मिले हों, अर्थात् मिलने पर भी जिनमें अन्तराल रहे, फासला रहे। वे युत सिद्ध कहलाते हैं, जैसे समूह, वन, संघ। मनुष्यों का समूह, देवताओं के संघ, आमों का वन। यहाँ समूह के अवयव मनुष्य अलग-अलग हैं। संघ के अवयव देवता विरले-विरले हैं। वन के अवयव से आम के वृक्ष अलग-अलग हैं, यदि इस समूह में से एक-दो मनुष्य हट जायें तो समूह का स्वरूप नहीं बिगड़ता। ऐसे ही संघ में से एक-दो देवता चले जायें, तो भी संघ बना रहता है। ऐसे ही वन में से एक-दो आम के वृक्ष काट लिये जायें तो भी वन वन ही रहता है। इसलिये यह सब युतसिद्ध समुदाय हैं जो मिल कर बने हैं।

२. अयुतसिद्ध—'अ' निषेधार्थक है। अर्थात् जिसके अवयव अलग-अलग न हों। विरले-विरले, जुदा-जुदा न हों। और जिनके मिले हुए होने पर अन्तराल फासला नहीं होता, जिसके अवयव अवयवी घुले-मिले से हों। अवयवों का अभेद हो। अर्थात् अवयव अवयवी में अनुस्यूत हो, पिरोये से हों। जैसे—वृक्ष, शरीर, परमाणु। वृक्ष शरीर और परमाणुओं के अवयवों में कोई अन्तराल या फासला नहीं है। वृक्ष में शाखा, तना, फल, फूल, पत्र, शरीर में सिर, मुख, हाथ, छाती, पेट, टाँगें, अलग-अलग नहीं हैं, अनुगत हैं घुले-मिले से हैं। यदि वृक्ष के पत्ते या तना काट दिया जाये या शरीर का सिर या हाथ काट दिया जाये तो वह विकलांग हो जाता है। उसको सही रूप में वृक्ष या शरीर नहीं कह सकते। वृक्ष में शाखा आदि और शरीर में हाथ पैर अलग-अलग समर्थ सत्ता नहीं है। शाखा और हाथ आदि कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। अतः इसे धर्म-धर्मी का अभेद कहा जाता है। यही द्रव्य है। और इसी प्रकार अयुत सिद्धावयव परमाणु है।

धर्म-धर्मी के जिस इस अभेद को योग व सांख्य स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं, न्याय वैशेषिक उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं। वेदान्ती इसे ही तादात्म्य नाम से पुकारते हैं इस स्वरूप सम्बन्ध में भी ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये।

यह पृथिवी महाभूत का धर्म-धर्मी के अभेद से द्वितीय स्वरूप का वर्णन हुआ। इस स्वरूप सम्बन्ध में सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा ब्रह्म की सर्वव्यापक रूप चेतन सत्ता का साक्षात्कार करें।

समष्टि पृथिवी महाभूत मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(पृथिवी का तृतीय रूप)

३. पृथिवी के सूक्ष्म रूप में—पृथिवी का जिस अवस्था से परिणाम हुआ है उसकी उस पहली अवस्था को सूक्ष्म रूप कहते हैं। पृथिवी महाभूत के निर्माण काल में पृथिवी के परमाणु या पृथिवी की तन्मात्रा ही केवल उसका उपादान कारण नहीं होती हैं, किन्तु जल, अग्नि, वायु, आकाश के परमाणु भी सहकारी कारण होते हैं। सामान्यतः सब पाँचों कारण रूप तन्मात्रायें अपने कार्य विशेष महाभूत पृथिवी में अनुस्यूत होती हैं। इस कार्य कारण का अयुतसिद्ध समुदाय ही पृथिवी महाभूत द्रव्य होता है। यही इसकी सूक्ष्म-अवस्था कहलाती है। गन्धतन्मात्रा और पृथिवी का जो कारण कार्यात्म सम्बन्ध है यही सूक्ष्म रूप है।

इस अवसर में जो विशेष क्रिया होकर एक विशेष परिणाम इसमें होता है, वह अत्यन्त ही आश्चर्यजनक होता है। साधकवृन्द ! यहाँ ही आपको अपने संयम का विषय इस परिणाम प्रक्रिया को बनाना है। इस अवसर में जो विशेष क्रिया होकर एक विशेष परिणाम होता है वह अत्यन्त ही आश्चर्यजनक होता है। आप साक्षात् करेंगे कि गन्ध-तन्मात्रा में कैसे-कैसे परिणाम होते गये और अन्त में पृथिवी महाभूत में परिणत हो गयी। इस काल में ब्राह्मी चेतन सत्ता संघात करने वाली प्रेरिका यानी योजिका होती है क्योंकि जड़ पदार्थ एक अंश में गति को रखते हुए भी बिना चेतन सत्ता के सर्वांश में नियन्त्रित-गतिशील नहीं हो सकता है।

भगवान् के सन्निधान की माया देखिये, भगवान् के सन्निधान से गति, पृथक्त्व-संख्या वाली गन्धतन्मात्रा का अब तक बने जल आदि महाभूतों के साथ संयोग हो जाता है। यह संयोग किस मात्रा में हो, कितने काल के लिये हो, कितने भाग में हो, किस प्रकार किस क्रम में हो ? यदि संयोग में यह सारी बातें न हों तो संयोग निष्फल ही रहता है। किसी भी वस्तु के निर्माण के लिये यह बातें आवश्क हैं। ज्ञानपूर्वक मिलाये बिना ईंटों, चूना, पानी आदि सामग्री से भवन नहीं बन सकता। संयोग का विधि-विधान ही वस्तुकला की जान है। सृष्टि रचना क्रम में तो यह किसी अनन्त चेतन सत्ता के सन्निधान की अपेक्षा रखता है। इस संयोग की सुगढ़ता पर ही भावी समस्त रचना आश्रित है। अनेक विभिन्न लक्ष्यों-स्थानों को जाने वाली सड़कों में से यदि सही सड़क के साथ संयोग हुआ तो ठीक स्थान पर पहुँच सकेंगे अन्यथा मार्गभ्रष्ट हो न जाने कहाँ भटक जायेंगे। जिस क्रम से जिस महाभूत के साथ पृथिवी तन्मात्रा का जितनी मात्रा में, जितने काल के लिये, जिस प्रकार संयोग होना है यदि वह संयोग उस प्रकार न हुआ तो पृथिवी महाभूत की रचना न हो सकेगी। यह तन्मात्रायें सब की सब जड़ हैं, स्वतः कोई किसी प्रकार का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। उस महाचेतन सत्ता के सान्निध्य में चेतनी से बनी पृथिवी तन्मात्रा सही रूप में संयोग को प्राप्त होनी आरम्भ होती है।

सर्वप्रथम यह संयोग जल महाभूत के साथ हुआ। जल ने गन्ध-तन्मात्रा का सन्धान करना अरम्भ किया, इससे पृथिवी-तन्मात्रा में रस का परिणाम हुआ। इसी रसगुण के कारण पृथिवी 'रसा' कहलाई। जल में घुली यह गन्ध तन्मात्रा भविष्य में मिट्टी

का तेल, पैट्रोल, तारकोल, तारपीन आदि रूप में प्रकट हुई। और गन्ध-तन्मात्रा के सन्धान के घनीभूत हो जाने पर केसर, कस्तूरी, कपूर, चन्दन, पीपरमेण्ट, अगर-तगर आदि रूप बने।

इसके पीछे जल के संयुक्त हो जाने पर अग्नि तत्त्व भगवान् के सन्निधान रूप निमित्त कारण से संयुक्त होना आरम्भ होता है। अग्नि तत्व के मिलते ही रूप पलट जाता है। जो गन्ध-तन्मात्रा अब तक नासिका और केवल रसना का विषय रूप बनी थी, अब अग्नि तत्त्व के मिलते ही अग्नि के परिणाम से आँखों से भी देखी जाने योग्य बन गई। पृथिवी तन्मात्रा में रूप उत्पन्न हो गया और विभिन्न रंग-रूपों में दिखाई देने योग्य बनो। इसी से भविष्य में संसार भर के मनुष्यों, गायों, घोड़ों, हाथियों आदि जातियों के विभिन्न रूप बने। इस विभिन्नता का निमित्त भी भगवान् की सर्वत्र विद्यमानता ही है।

गन्ध तन्मात्रा में जल और अग्नि के मिलने से पृथिवी का अधूरा रूप ही बना, जो सूँघा, चखा और देखा जा सकता था। इतने से तो भोगात्मक सृष्टि की रचना पूर्ण-रूपेण कार्य-क्षम, फल प्रादात्री नहीं बन सकी। सूँघने, चखने और देखने के विषय से अतिरिक्त स्पर्श का विषय भोगात्मक जगत् भी तो है। भगवान् की समीपता में अग्नि जल से संयुक्त गन्ध-तन्मात्रा में वायु तत्त्व भी उपयुक्त मात्रा में मिलना आरम्भ हो जाता है। वायु के मिलते ही पृथिवी में स्पर्श की अनुभूति होने लगी। वायु का स्पर्श तो न ठण्डा था न गरम। पृथिवी तन्मात्रा के साथ मिला तो अनुष्ण शीतपना पलट गया। पृथिवी तत्त्व ने जहाँ अग्नि की मात्रा अधिक वहाँ 'गरम' और जहाँ जल की अधिकता हुई वहाँ 'शीतल' स्पर्श अनुभव होने लगा। भविष्य में यह धर्म पृथिवी की उपज में सहायक रहा। वायु सर्व-गत था। इसी से पृथिवी में स्पर्श भी सर्वत्र अनुभव होने लगा। कहीं अधिक कहीं कम। रुई, मखमल, पुष्प, आदि में कोमल स्पर्श सर्वत्र व्यापक है। प्राणी देह में भी स्पर्श का अनुभव सारे शरीर में होता है। भगवान् के सन्निधान से चेतन सी बनी प्रकृति की माया देखिये। स्पर्श का अनुभव करने वाली त्वचा भी वायु तत्त्व का परिणाम है, और स्पर्शानुभूति का विषय कोमलतामय जगत् भी वायु का परिणाम है।

जहाँ वायु तत्त्व अधिक है, वहाँ पृथिवी के परिणामों में स्पर्श अधिक है। जहाँ कम है वहाँ पाषाण आदि में कम। इस स्पर्श की तारतम्यता से संसार में वस्तु का उपयोग और मूल्य का तारतम्य है। पृथिवी परिणाम में जितना स्पर्श अधिक उतना ही मूल्य अधिक। पृथिवी का स्पर्श ही सभ्य समाज का मान-दण्ड बना। कपड़ा, आसन, भूमि, मकान, घास का मैदान, संगमरमर, हाथी दान्त, लोहा, चान्दी, सोना सब में स्पर्श अपना आधिपत्य जमाये है।

पृथिवी तन्मात्रा से अयुतसिद्ध बन तीनों भूतों ने भोगात्मक महाभूत पृथिवी की रचना कर तो डाली, पर बिना वाणीविलास के इस अब तक की रचना का भोगात्मक और विलासात्मक मोहक रूप कैसे जीव के बंध मोक्ष का कारण बने। अतः इस प्रपंच को पूर्णरूपेण बंधक और मोचक बनाने के लिये भगवान् की सर्वव्यापकता से इन चारों के साथ व्यापक से आकाश तत्त्व का भी सम्मिश्रण सा हो गया, और यह

प्रकृति का विलास मुखरित हो उठा। पृथिवी में नाना प्रकार के मोहक और उद्वेजक निनाद होने लगे। बाजों की झंकार, मारु वाद्य का तुमुल, वीणा की तान, वंशी का रव, पृथिवी में आकाश का सम्मिश्रण ही तो है। मानव देह में यह परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और दश प्रकार का नाद बना। यही आकाश का पृथिवी में सम्मिश्रण पशु, पक्षी, कीट-पतंग, जीव-जन्तु के पार्थिवहार्द की अभिव्यक्ति का कारण बना।

पाँचों तत्त्वों का अयुत-सिद्ध समुदाय पृथिवी का यह सूक्ष्म रूप कहलाया। संक्षेप में आप इसको इस प्रकार समझें कि सामान्य-विशेष के भेद से अनुगत समुदाय अयुत सिद्धद्रव्य ही पृथिवी की सूक्ष्म रूप अवस्था है। इस अवस्था में सूक्ष्म पृथिवी तन्मात्रा का स्थूल महाभूत के रूप में परिणाम हुआ है। और वह तन्मात्रा धर्म, लक्षण, अवस्था रूप में परिणत होकर स्थूल आकार को प्राप्त हो गयी है। यह गन्ध तन्मात्रा का परिणाम ही पृथिवी का सूक्ष्म रूप है।

इस सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म की चेतन सत्ता से जो-जो क्रिया, जिस-जिस क्रम से, जिस-जिस रूप में होती है यही यहाँ समाधि की संयम स्थिति द्वारा ज्ञातव्य विषय है। इस चेतन ब्रह्म के कारण होने वाली गन्ध तन्मात्रा की क्रिया या गति का अनुभव करना चाहिये।

इस प्रसंग में यह ध्यान दिलाना भी उचित ही है कि योग के आचार्य धर्म धर्मी का परस्पर अभेद मानते हैं। इस अभेद में ही, साधकवृन्द, ब्रह्म की अनुभूति करनी है। यहाँ ही ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। इस साधना का लक्ष्य ही कारण कार्य में एवं उनके परिणाम काल में इनमें अनुस्यूत ब्रह्म का प्रत्यक्ष करना है। योगी में जब ऋतंभरा बुद्धि सम्प्रज्ञात समाधि में उत्पन्न होती है, तब ही कारण-आत्मक पदार्थ में परिणाम होकर जब कार्य अवस्था में आता है, उस अवसर में इस सूक्ष्म परिणाम का और ब्रह्म की सूक्ष्मता के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष रूप से बोधपूर्वक साक्षात्कार होता है।

समष्टि पृथिवी महाभूत मण्डल

चतुर्थ अन्वयरूप में ब्रह्म-विज्ञान

(पृथिवी का चतुर्थ रूप)

४. पृथिवी के अन्वय रूप में—पृथिवी महाभूत का मूल-प्रकृति के साथ परम्परागत सम्बन्ध दर्शाना पृथिवी का अन्वय रूप है।

संहत-परार्थत्वात्पुरुषस्य।

सांख्य० अ० १। सू० ६६।

के आधार पर यह स्पष्ट है कि यह प्रकृति अपने कार्यों के साथ मिलकर पुरुष के लिये भोग और अपवर्ग का साधन बनती है। इस कारण रूप प्रकृति का स्वभाव जड़ है। इसकी जड़ता को हम तम कहते हैं। इसमें ज्ञान और क्रिया चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। ज्ञान और क्रिया इसके गुण हैं, और तमः या स्थिति या जड़ता इसका अपना स्वरूप है। अतः यह अपने तमः स्वरूप, और ज्ञान और क्रिया गुणों को लेकर अपने सब कार्यों में अनुपतन को प्राप्त होती है। अतः यह अपने गुणों और स्वरूप को साथ-साथ लिये अपने अन्तिम कार्यात्मक परिणाम पृथिवी महाभूत में पहुँची है। यह

मूल-प्रकृति ही अवान्तर परिणामों को अभिव्यक्त करती हुई पृथिवी महाभूत के रूप में परिणत हुई है। यह प्रकृति कार्य स्वभाव वाली है। परिणाम को प्राप्त होने वाली है। अतः प्रत्येक परिणाम में मूल प्रकृति का ही एक प्रकार से अनुपतन होता है। संक्षेप में यह मूल प्रकृति का अनुपतन ही पृथिवी का अन्वय रूप है। 'तत्सत्त्वे तत् सत्तान्वयः' प्रकृति की सत्ता से ही उसके कार्यों की सत्ता है। यही कार्य में प्रकृति का अन्वय है। यही पृथिवी महाभूत का अन्वय रूप है। अन्वय कहते हैं कुल को, खानदान को, पृथिवी महाभूत की वंशावली बताना पृथिवी का अन्वय रूप है।

पृथिवी महाभूत गन्ध तन्मात्रा का परिणाम है। गन्ध तन्मात्रा समष्टि तमः अहंकार का कार्य हैं। समष्टि तमः अहंकार समिष्ट महत्तमः से परिणत हुआ। समष्टि महत्तमः मूल प्रकृति से अपने स्वरूप में आया। मूल-प्रकृति अजा है, सत् है और नित्य है। यह सब परिणाम ब्रह्म के समीपस्थ होने के कारण होते हैं। ब्रह्म का समीप होना ही परिणामों का निमित्त है। जड़ प्रकृति स्वतः रूप पलटने में असमर्थ है। जिस चेतन सत्ता के कारण यह अनुपतन हो रहा है, साधक को उस ब्रह्म की चेतन सत्ता का भी विज्ञान-साक्षात्कार साथ-साथ ही करना है।

कारण गुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः

वैशेषिक० अ० २। अ० १। सू० २४

जो गुण कारण में होते हैं वे कार्य में अवश्य आते हैं। प्रकृति का अपना रूप जड़ता पृथिवी में पूर्ण रूपेण विकसित हुआ। प्रकृति के परिणाम सत्त्व और रजः की मात्रा तमः के बढ़ जाने से बहुत कम रह गई है। इसलिये ज्ञान और क्रिया प्रकृति के गुण भी अज्ञात सी परिस्थिति में आ गये हैं।

यह पृथिवी और अन्य लोकान्तर भी पृथिवी महाभूत का ही विस्तार हैं, सब के सव जो दिन-रात प्रतिक्षण गति करते रहते हैं, कभी ठहरने का समय ही नहीं आता, उनका दृश्यमान कार्य जगत् भी सदा गति करता रहता है, सब देहधारी चलते हैं, वृक्ष-वनस्पति बढ़ते हैं, वन-पर्वत बढ़ते हैं, पशु, पक्षी, कीट-पतंग बढ़ते हैं, यह सब गति मूल प्रकृति का ही विकास है।

इस अनुपतन का विज्ञान, जिस चेतन सत्ता के द्वारा यह अनुपतन होता है—उस चेतन सत्ता ब्रह्म का भी विज्ञान अभ्यास में साथ-साथ साक्षात् रूप से करते जाना चाहिए। इस अनुपतन के विज्ञान से परम्परागत कारण का भी बोध होता है।

(शंका) यह जो कारण रूप प्रकृति का अपने गुणों सहित कार्यों में अनुपतन होता है, क्या वह अपने प्रथम स्वरूप को नष्ट कर के होता है?

(समाधान) हमारे सिद्धान्त में कोई भी पदार्थ स्वरूप से नष्ट होकर कार्यान्तर को उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु उस पदार्थ का धर्म, लक्षण, और अवस्थाओं में परिणाम होता है, अर्थात् उस कारण के धर्म, लक्षण और अवस्था कार्य में हो जाते हैं।

यदि कारण के स्वरूप का नष्ट होना मानोगे तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तव तो गधे के सींगों की भी उत्पत्ति हो जानी चाहिये। गधे में सींगों का

अभाव है, इस अभाव से ही गधे के सींग निकल आने चाहियें, क्योंकि अभाव से उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। ऐसा होता नहीं, न कभी होगा ही।

कारण का अभाव होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः कार्य के साथ कारण भी वर्त्तमान रहना चाहिये। इसलिये हमने माना है कि कारण रूप पदार्थ का कार्य में परिणाम होता है। जैसे सूत का कपड़े के रूप में परिणाम होता है। मिट्टी का कलश के रूप में परिणाम होता है, और स्वर्ण का आभूषण के रूप में परिणाम होता है। वस्त्र में सूत वर्त्तमान है। कलश में मिट्टी विद्यमान है, और आभूषण में सोना मौजूद है।

इसको इस प्रकार समझिये। यह परिणाम तीन बातों का होता है: १. धर्म २. लक्षण ३. अवस्था का।

१. धर्म परिणाम— ऊपर के तीनों द्रष्टान्त धर्म परिणाम का उदाहरण हैं। सूत पहले पिण्ड के आकार में थे। या कहिये धागों के रूप में थे। उनका धागा ही रूप था। उन्हें धागा ही पुकारते थे। फिर बनने की क्रिया से यह वस्त्र बन गये, अर्थात् उन्होंने सूतपन को छोड़ दिया। अब उसे हम सूत नहीं कह सकते। और कपड़ा धर्म पैदा हो गया। अब उसे कपड़ा कहते हैं, सूत नहीं कहते। अर्थात् एक धर्म छूट गया, और दूसरा धर्म आ गया। सूत धर्म छूट गया और कपड़ा धर्म आ गया। इसे धर्म परिणाम कहते हैं।

२. लक्षण परिणाम—लक्षण परिणाम काल भेद से होता है। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्=काल भेदः। जिससे वस्तु लक्षित हो। वस्तु यहाँ काल से बनाई जाती है, अतः लक्षण यहां काल है। क्योंकि काल से लक्षित वस्तु दुसरे कालों से युक्त वस्तुओं से भिन्न करके बतायी जाती है। जैसे, सूत का कपड़ा बुनो। यहां सूत वर्त्तमान काल में विद्यमान है। कपड़े का आकार प्रकट होने से पहले सूत में छिपा हुआ है। जब तक कपड़ा सूत में प्रकट नहीं होता तब तक वह अनागत-भविष्य में है। ऐसे भविष्य काल में है जो अभी प्रकट नहीं हुआ है। और जब कपड़ा सूत में प्रकट हो जायेगा तो वर्त्तमान काल से युक्त हो जायेगा। जब उधड़ कर सूत ही बन गया तब वस्त्र भूतकाल में हो गया। भूतकाल में था, अब नहीं है। इस प्रकार कपड़ा तीनों कालों में सूत में वर्त्तमान है। भूत भविष्य में छिपा रहता है। वर्त्तमान काल में प्रकट होता है। इस प्रकार १ अनागत (भविष्य) लक्षण परिणाम, २ वर्त्तमान लक्षण परिणाम, ३. अतीत (भूत) लक्षण परिणाम। काल भेद से तीन लक्षण परिणाम होते हैं। संक्षेप में यूँ समझिये—जब हम यह कह रहे हैं कि—

'अभी वस्त्र बुनकर तैयार होगा।' इस वाक्य में वस्त्र अनागत भविष्यत् लक्षण-परिणाम अवस्था में है।

'वस्त्र तैयार हो गया'। इस वाक्य में वस्त्र अनागत भविष्यत् अवस्था को छोड़ कर वर्त्तमान काल या वर्त्तमान लक्षण परिणाम में आ गया।

'वस्त्र उधड़ गया'। इस वाक्य में वस्त्र अतीत लक्षण परिणाम में आ गया।

३. अवस्था परिणाम—वस्तु की अवस्था का बदलना ही अवस्था परिणाम है। वस्त्र, घड़ा, आभूषण सब ही प्रति मिनट या प्रतिक्षण नवीनता को छोड़ कर पुराना

होता जा रहा है। इस प्रकार दिन-प्रतिदिन जीर्ण होता है। यह इन वस्तुओं का अवस्था-परिणाम है।

इसी प्रकार पृथिवी रूपी धर्मी का भी धर्म-लक्षण-अवस्था तीनों ही रूपों से परिणाम होता है।

इस पृथिवी माहाभूत की अन्वय रूप में प्रति परिणाम अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये।

समष्टि पृथिवी महाभूत मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-दर्शन

(पृथिवी का पञ्चम रूप)

५. पृथिवी के अर्थवत्ता-रूप में—

पृथिवी महाभूत का प्रयोजन बताना उसकी अर्थवत्ता है। पृथिवी महाभूत भोग और अपवर्ग की साधिका है यही उसकी अर्थवत्ता है।

पृथिवी महाभूत प्राणिमात्र के सब प्रकार के भोगों को प्रदान करता है। भोगों में इष्ट अनिष्ट दोनों ही भोग सम्मिलित हैं। जीव को पुण्य के कारण इष्ट और अपुण्य के कारण अनिष्ट इसी एक पृथिवी महाभूत से प्राप्त होता है। यह दोनों ही इष्ट-अनिष्ट भोग प्रकृति में आसक्ति के कारण उत्पन्न हो दोनों ही जीव के बन्धन का हेतु होते हैं। इस संसार चक्र में फंसाये रखते हैं, प्रकृति पुरुष विवेक जो मोक्ष का हेतु है उसे जीव के पास नहीं आने देता। अनिष्ट तो साक्षात् रूप से दुःख देने वाला ही है।

विना प्रकृति-विज्ञान के पुरुष प्रकृति-विवेक उत्पन्न नहीं हो सकता, इस प्रकार विवेक का हेतु होने से प्रकृति मोक्ष-साधिका भी है।

पृथिवी भी इसी प्रकार मानव के भोग और अपवर्ग में अत्यन्त सहाय होती है। पुण्यात्मा और अपुण्यात्मा सब ही प्राणियों के जीवन का आधार है। अपने अनेक प्रकार के धर्मों और कार्यों से प्राणिमात्र का पालन-पोषण करती है। अपना-अपना भोग पाने के लिये पुण्यात्मा भी और अपुण्यात्मा भी पृथिवी पर आते हैं। नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करके भोग सम्पादन कराती है। अन्न, औषध, वनस्पति आदि उत्पन्न करके क्षुधा निवारण का हेतु बनती है। अपुण्यात्माओं के लिये विपरीत प्रयोग से दुःख, कष्ट और मृत्यु का भी हेतु बन जाती है। सर्व प्रकार के धातुओं, रत्नों और विभिन्न बहुमूल्य पाषाणों को पैदा कर के पुण्यात्माओं को सुख का भोग कराती है। अपुण्यात्माओं को विपरीत प्रयोग या इनके अभाव से कष्ट और दारुण दुःख भी देती है। हीरा जहाँ आभूषण है वहाँ मारक विष भी है।

पुण्यशील अपुण्यशील सभी प्राणियों को अपने ऊपर और अन्दर धारण करती है। सब भूतों को भी अपने अन्दर अपने गर्भ में धारण किये हुए है। जल, अग्नि, वायु, आकाश इसके गर्भ में रह कर पनपते हैं।

पुण्यात्मा, योगी, ज्ञानी, संसारी इससे नाना प्रकार की कला-कौशल और पदार्थ निर्माण करके भोग और ऐश्वर्य के मालिक बनते हैं। अपुण्यात्मा के लिये भोग और ऐश्वर्य नहीं के समान या कष्टदायक ही हो जाता है।

इसकी अर्थवत्ता-सार्थकता-प्रयोजनता-सर्वार्थता-उपयोगिता सब जड़ चेतन के लिये है। प्राणिमात्र का अनेक प्रकार से उपकार-अपकार यह करती है। उन्हीं के भोग के लिये इसका निर्माण हुआ है। प्राणिमात्र के भोग और मोक्ष के लिए वसुन्धरा के निर्माण में भगवान् ने सहयोग किया।

भगवान् की अहेतुक महती उपकारिता का जितना भी धन्यवाद किया जाये वह थोड़ा ही है। सदा से देव-असुर, ऋषि-मुनि एवं संसारी जन उसके उपकारों के गुण गाते आये हैं, और सदा गाते रहेंगे।

जितने भी ये दृश्यमान आकाश में तारों आदि के रूप में लोक-लोकान्तर हैं ये सब उस समष्टि-महाभूत पृथिवी के ही अंश हैं। ये सब भी प्राणियों के भोग और मनुष्य मात्र के मोक्ष और बध के लिये ही उत्पन्न हुए हैं।

स्थाली पुलाक न्याय से इस समष्टि महाभूत पृथिवी के एक अंश के विज्ञान से ही समष्टि विज्ञान हो जाता है। योगी की दृष्टि में इतनी पारदर्शिता है कि वह प्रत्येक लोक के विज्ञान को प्राप्त करने या जानने में समर्थ हो सकता है। योगी की दृष्टि अव्याहत होती है। उसे कोई रोक नहीं सकता। कठोर से कठोर ठोस पदार्थ भी उसकी दृष्टि के मार्ग में बाधक नहीं हो सकता। सब को भेदन करके वह पार निकल जाती है, जैसे सूर्य की किरणें दर्पण के पार हो जाती हैं।

योगी की महान् शक्ति
सूर्य की किरणों पर आरोहण

सच्ची घटना—श्री पण्डित आत्माराम जी अमृतसरी मुझसे बहुत स्नेह किया करते थे। इन्होंने बड़ौदा में एक कन्या गुरुकुल खोला हुआ था। जब कभी अमृतसर आते थे, उनसे मिलना होता था।

एक दिन उन्होंने भरतपुर के योगी का आँखों देखा हाल सुनाया था। भरतपुर से २५-३० मील के अन्तर पर वन में एक योगी रहा करते थे। भरतपुर आर्यसमाज के प्रधान योग दर्शन के विभूतिपाद पर विश्वास नहीं करते थे। श्री आत्माराम जी के उनकी समाज में योग दर्शन पर व्याख्यान हो रहे थे। इनसे प्रधान महोदय ने उस योगी का जिक्र किया। योग दर्शन लेकर दोनों उस योगी के पास पहुँचे। साथ में योग दर्शन के, दियासलाई भी ले गये।

योगी जी के पास पहुँचे और बोले—"या आप इस विभूतिपाद की कोई सिद्धि हमें दिखा दो, या इस पुस्तक को जला कर भस्म कर दो।"

योगी बोले—"मैं अपने पथ-प्रदर्शक योग शास्त्र का इतना घृणित और निन्दित अपमान नहीं कर सकता हूँ।"

प्रधान बोले—"यदि अपमान नहीं कर सकते तो कुछ करामात दिखाओ।"

योगी बोले—"आपको रात्रि को यहाँ रहना पड़ेगा।"

प्रधान ने कहा—"हम परसों को तय्यारी करके आपके पास आवेंगे, और रात्रि को यहीं निवास करेंगे।"

गरमी का मौसम था। तय्यार होकर दोनों पहुँच गये।

योगी ने कहा—"प्रातःकाल सूर्य उदय होने से पूर्व आप लोग मेरी कुटि पर आकर बैठ जाना।"

उन्होंने ऐसा ही किया।

योगी महात्मा सूर्य के उदय होने की प्रतीक्षा में इनके पास की कुटि के सामने खड़े हो गये। जब सूर्य की टेढ़ी-टेढ़ी किरणें उनके ऊपर पड़ीं, तो उन योगी को उन्होंने सूर्य की किरणों पर चढ़ते देखा, जैसे कोई आदमी टेढ़ी बन्धी हुई तारों पर झुककर या सीढ़ी पर झुककर चढ़ा करता है।

वह योगी फिर लौट कर नहीं आया।

यह आश्चर्यजनक प्रत्यक्ष घटना अपनी आँखों से देखकर इनको महान् आश्चर्य हुआ और यह लज्जित होकर कुछ घण्टे उनकी प्रतीक्षा करके चले आये।

यह घटना चौधरी जयकिशन को सुनाते हुए मुझसे कह रहे थे—"आपकी योग में विशेष प्रवृत्ति है। आप भरतपुर में जाकर उस योगी से यदि वे मिल जायें तो यह सिद्धि प्राप्त करें, सीखें। संभव है वे ऐसी और भी कई सिद्धियाँ जानते हों।"

जब योगी सूर्य की किरणों पर चढ़ सकता है तो उसे सूर्यलोक के या अन्य लोक के विज्ञान को प्राप्त करने में क्या कठिनाई हो सकती है।

योगी को समष्टि महाभूत पृथिवी के कार्य कारण आत्मक विज्ञान को प्राप्त करके इस से उपभोग भी लेना चाहिये, और अन्त में इसके कार्य-कारण से परम वैराग्य प्राप्त कर के मुक्त होना चाहिए; क्योंकि वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से यही बन्ध का हेतु वना हुआ था।

हमने इस महाभूत के सात्विक, राजस, तामस भेद से कार्य-कारण आत्मक रूपों का विस्तारपूर्वक वर्णन आपने पहले ग्रन्थ 'आत्मविज्ञान' में भी किया है। परन्तु वहाँ जीवात्मा के साथ इसका सम्बन्ध केवल व्यष्टि रूप से ही दिखाया है। जीव किस प्रकार इसके द्वारा भोग और मोक्ष प्राप्त कर सकता है यह दिखाया है। यहाँ तो विशेष रूप से वर्णन करने और लिखने का प्रयोजन केवल ब्रह्म के साथ इसके सम्बन्ध को दिखाने का ही है, क्योंकि यहाँ इसका सम्बन्ध केवल ब्राह्मी सृष्टि के साथ ही दिखाना अभीष्ट है।

यह उस समय के विज्ञान का वर्णन है कि जब तक इन जीवात्माओं का सम्बन्ध इन शरीरों के साथ नहीं हुआ था। या ये जीव देह धारण कर उत्पन्न नहीं हुए थे। केवल इनके भोग और मोक्ष के पदार्थ ही उत्पन्न हो ,रहे थे। प्रकृति और ब्रह्म मिल कर इनके भोगों का निर्माण कर रहे थे।

इस ब्रह्मी सृष्टि के समष्टि स्थूल भूत प्रत्यक्ष रूप से और यह महाभूत ही समष्टि और व्यष्टि रूप से प्राणीमात्र के भोग और मोक्ष का हेतु बने हैं। क्योंकि प्राणीमात्र के शरीरों का मुख्य रूप से यही उपादान कारण हैं, जिसका बनाने वाला निमित्त कारण रूप चेतन ब्रह्म है और उपादान कारण पञ्चतन्मात्रायें और परम्परागत प्रकृति है।

इस महाभूत की विचित्र रचना को देखकर योगियों को तो इसके निर्माता का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान होता ही है। दूसरों को भी अनुमान से समझ लेना चाहिए कि

इस जगत् का कोई एक विशेष निर्माता है। मनुष्य तो असंख्य मिलकर भी भारत के एक हिमालय का ही निर्माण सहस्रों, लाखों वर्षों में भी नहीं कर सकते हैं, किसी लोक का निर्माण तो क्या करेंगे।

अनीश्वर वादी तो यह कहते हैं कि "ईश्वर की कोई जरूरत नहीं है। प्रकृति स्वयं ही निर्माण करती रहती है। पंचभूत मिलकर स्वयं ही जगत् का निर्माण कर लेते हैं, और करते रहते हैं।"

"यदि पञ्चभूत ही निर्माण करते हैं बिना ईश्वर की चेतन सत्ता के; तब तो तुम्हारी सत्ता के बिना ही मोटर, गाड़ी, रेल, तार, हवाई जहाज, राकेट, स्पुतनिक, बम, तोपें, मकान स्वयं ही बन जाया करें। वे तो तुम्हारे बिना बनते नहीं। इसी प्रकार पंच-भूत भी स्वयं निर्माण नहीं कर सकते हैं। इससे सिद्ध है कि इस जगत् को बनाने वाला कोई विशेष चेतन है जो तुम्हें दीखता नहीं, और जो तुम्हारी समझ में भी नहीं आता है। वह सर्वदेशी है, सर्वव्यापक है। इन महाभूतों का संचालन और नियमन निमित्त कारण चेतन के आश्रय से ही हो रहा है।

शरीर में दो चेतन सत्तायें

(शंका) यदि इस जगत्, पंचभूतों या प्रकृति की क्रिया, गति या संचालन उस ब्रह्म की चेतन सत्ता के सामीप्य से ही हो रही हैं तो प्राणियों के शरीर में भी उसी की क्रिया क्यों न मान ली जाये, जीवात्मा को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं?

(समाधान) प्राणियों के शरीर में दो प्रकार की क्रियायें होती हैं: १. ऐच्छिक २. अनैच्छिक।

१. ऐच्छिक क्रियायें—ऐच्छिक क्रियाओं को करने के लिए जीवात्मा का मानना आवश्यक है। यह ऐच्छिक क्रियाएँ जीवात्मा के सान्निध्य से ही होती हैं। जीवात्मा एक देशी है, इसके एकदेशी होने से क्रियाओं के करने के लिए इसे अन्तःकरण चतुष्टय और इन्द्रियों की भी जरूरत है जिनके द्वारा यह जीवात्मा भोक्ता कर्ता आरोप द्वारा माना-जाता है। यदि ब्रह्म के साथ-साथ शरीर में जीवात्मा की सत्ता को स्वीकार न करें तो इन ऐच्छिक क्रियाओं का निमित्त कौन होगा? जैसे—पैरों से गमन करना, लात मारना; हाथों से ग्रहण करना और त्यागना, मारना, युद्ध करना, अन्य कार्य करना; गुदा और लिंग से मल त्यागना और पेशाब, मैथुन करना, ऐच्छिक क्रियायें हैं। वाणी से वार्तालाप आदि करना यह सब कर्मेन्द्रियों के व्यापार जीव के सम्बन्ध से ही होते हैं। दूसरे ज्ञाने-न्द्रियों के कार्य भी जीव के ही सम्बन्ध से होते हैं। शब्द का सुनना, रूप का देखना, रसों को चखना, स्पर्शों को छूना, गन्धों को सूँघना यह सब ज्ञानेन्द्रियों की क्रियायें जीवात्मा के सम्बन्ध से होती हैं। अन्तःकरण के कारण जीव में यह इच्छा का आरोप जीव की सत्ता को सिद्ध करता है। ब्रह्म तो पूर्ण-काम इच्छा-रहित है, उसमें इच्छा का आरोप नहीं हो सकता। अनन्त और सर्वव्यापक होने से इन ऐच्छिक क्रियाओं के कारण जीव को मानना आवश्यक हो जाता है, एक देशी होने से जो ब्रह्म की चेतन सत्ता से भिन्न है। इस प्रकार दो चेतन सत्तायें स्वीकार करनी होंगी। हैं भी दो ही। इनका साक्षात् प्रत्यक्ष सविचार समाधि में होता है।

अनैच्छिक क्रियायें—यह क्रियायें बिना इच्छा के भी शरीर में होती रहती हैं। इन्हें स्वाभाविक भी कह देते हैं। जैसे—अस्थि, मांस, स्नायु, चर्म और केश आदि की वृद्धि, रक्त का संचार; जठराग्नि द्वारा पाचन क्रिया; सातों धातुओं का निर्माण; भोजन के रस से सब धातुओं की वृद्धि; प्राण का गमना गमन; श्वसन क्रिया; हृदयस्थ तथा अन्य नाड़ियों में गति, धमनियों में शब्द का होना; गर्भ में बालक का निर्माण और वृद्धि; शैशव, कौमार, यौवन और वृद्धावस्था का आगमन। यह सब क्रियायें न चाहें तब भी होती रहती हैं। इन क्रियाओं का निमित्त दोनों चेतन सत्तायें हैं। जीव और ब्रह्म दोनों की विद्यमानता इन क्रियाओं का निमित्त है। केवल शरीर निमित्तक विशेष क्रियायें जीव की समीपता से और परिणामात्क सामान्य-क्रियायें सीधी प्रकृति का परिणाम होने से ब्रह्म की चेतन सत्ता की समीपता से होती हैं। जैसे ब्रह्म की व्यापक चेतन सत्ता समान रूप से सब प्रकृति के कार्यों में क्रिया कर रही है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर में भी सामान्य परिणामात्मक क्रियायें कर रही है। उन सामान्य क्रियाओं में जीव की सत्ता भी निमित्त होती है। जीव स्वल्प अणुमात्र है। इसलिए समष्टि प्रकृति के कार्यों को कैसे कर सकेगा। यदि ऐच्छिक क्रियायों को भी ब्रह्म के सम्बन्ध से मान लें तो ब्रह्म को कर्ता भोक्ता, बद्धमुक्त जीव की तरह मानना पड़ेगा जो सर्वथा अनिष्ट है। यह तो साध्यसम दोष आ जायगा।

ब्रह्म में कर्ता भोक्तापन का अभिमान भी नहीं होता है। अभिमान धर्म अहंकार का है, ब्रह्म में अहंकार नहीं है। अहंकार की आवश्यक्ता एकदेशी को होती है। ब्रह्म तो सर्वदेशी है। इसी लिए उसमें कर्तापन और भोक्ता-पन भी नहीं होता है। उसके सब कार्य अनिच्छापूर्वक प्रकृति द्वारा होते हैं।

ईश्वर के समान चेतन-गुण जीवात्मा में है अनिच्छित क्रियाओं का यह भी निमित्त है। दोनों चेतनों के सहयोग से अनिच्छित कार्य हो रहे हैं। वेद ने भी 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मन्त्र में कहा है 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'। शरीर की सामान्य क्रिया का निमित्त होने पर भी ईश्वर भोक्ता नहीं बनता। साक्षी रूप में ही रहता है। भोक्ता कर्ता का जीवात्मा में आरोप होता है, इसीलिए शरीरों में विशेषता आयी हुई है। शरीरों में दो चेतनों का आवास है, वरना यह भी पृथिवी के समान बनकर पड़े रहते, और भगवान् के अनिच्छित कार्यों का ही आश्रय होते; भोग और अपवर्ग का निमित्त न बन पाते। शरीरों में जो भूमि आदि की अपेक्षा जीवन का विशेष संचार, कर्म और व्यापार—इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि हो रहे हैं वे सब जीवात्मा के सम्बन्ध से ही हो रहे हैं।

दृश्यमान जितने भी लोक और पदार्थ हैं इन सबमें संकल्प-रहित, प्रयत्न और इच्छा हीन ईश्वर की चेतन सत्ता के सम्बन्ध विशेष से कार्य-कारण रूप प्रकृति परिणाम को प्राप्त हो रही है। ब्रह्म चेतन है, और निष्क्रिय है। प्रकृति इसके सन्निधान मात्र से ही सदा कार्य रूप पदार्थों का निर्माण करती रहती है, और चेतनवत् सी बनी रहती है। ब्रह्म की व्यापकता से यह चेतनवत् सी बनी जगत् की रचना, पोषण, और विनाश करने में समर्थ हो जाती है। प्रकृति पाद-रहित पंगु के समान है अतः चेतन की सहायता की अपेक्षा रखती है। निमित्त कारण ब्रह्म के चेतन रूप बल को लेकर सृष्टि के निर्माण

तथा उसके अगणित कार्यों के करने में समर्थ हो जाती है। जीवात्मा को भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिए।

यह प्रकृति अपने सात्विक, राजस, तामस गुणों के आधार पर सृष्टि की रचना करती है।

सात्विक भाग से—इस लोक में भी समष्टि रूप महा पृथिवी सात्विक भाव से कार्य रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होकर मुख्य रूप से प्राणियों के शरीरों में निर्माण में प्रवृत्त हुई है। सब लोकों में जितने भी जीवों के शरीर हैं उन सबकी रचना इसके सात्विक भाग से ही होती है।

राजस भाग से—समष्टि महा पृथिवी के राजस भाग से स्वर्ण, रजत, ताम्बा, पीतल, लोहा, रांगा, सिक्का, हीरा, मीती, नीलम, पन्ना, कांच, पारद, मणियाँ, युरेनियम, विविध धातें, और गैसें भूमि के गर्भ में बनती हैं।

तामस भाग से—समष्टि महा पृथिवी के तामस भाग से साधारण विशेष पाषाण, संगमरमर, संगस्याह, लाल पत्थर, चूने का पत्थर, कोयला आदि, और चिकनी, काली, लाल, पीली आदि मिट्टी और रेत, रेणुका आदिक बनते हैं। इस कार्य रूप महा-भूमि में असंख्य पदार्थ उत्पन्न हुए हैं और महाप्रलय तक होते रहेंगे। ये सब कार्य-कारण आत्मक पदार्थ मिलकर भोग और अपवर्ग का हेतु बनते हैं, और बनते रहेंगे।

महाभूत पृथिवी और इसके कार्यों में सर्वत्र ब्रह्म की भावना कर के इससे पूर्ण ज्ञान और वैराग्य प्राप्त करना चाहिये जोकि मोक्ष के लिये और ब्रह्म विज्ञान के लिये अत्यन्त हितकर और कल्याणकारी होगा।

मनुष्य देह का प्रयोजन

वास्तव में मानव देह ही आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के लिये प्राप्त होता है। यह नादान मनुष्य इस अमूल्य जीवन को संसार के भोगों को भोगते-भोगते ही व्यतीत कर देता है। अपने वास्तविक उद्देश्य से भटक जाता है। कर्तव्य से विमुख हो जाता है।

संसार में जितने भी शरीर-धारी प्राणी हैं इन सबमें मानव शरीर ही सर्व-श्रेष्ठ है। इस शरीर में ही अपने स्वरूप और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसी कारण मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसकी श्रेष्ठता तब ही है जबकि यह कम से कम अपने आपको तो पहचान ले, और जान ले कि में कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाना है? क्या मेरा लक्ष्य है? इस वास्तविक उद्देश्य को भूलकर लोक संग्रह या इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होकर जीवन भर इन्हीं भोगों का संग्रह करता रहता है।

जब वालक कुछ पढ़-लिख कर बड़ा होता है तब किसी व्यापार या व्यवसाय में लग जाता है। फिर विवाह कर के विषयों को भोगते हुए सन्तान उत्पन्न करता है। फिर इनका पालन-पोषण रक्षण करता है, और धन, भूमि, मकान इत्यादि सामग्री इकट्ठी कर के उपभोग में लाता है। पदार्थों के संग्रह में न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का भी ध्यान नहीं रहता है। अनेक सुख, आराम और भोगों के सामान जोड़ता

है। अन्त में असन्तोष अतृप्ति को साथ में लेकर और सब कुछ यहाँ ही छोड़ कर मजबूरी की हालत में इस संसार से चला जाता है। कहाँ जाता है? यह कुछ पता नहीं। क्यों जाता है? यह भी कुछ पता नहीं।

प्रायः संसार में सब मनुष्यों की यही दशा है। अनेक अधूरी कामनायें साथ लेकर और सब कुछ छोड़ कर जाना पड़ता है। इस जन्म में कामनायें पूर्ण नहीं कर पाया तो ऐसे और भी सैकड़ों जन्म मिल जायें तब भी तृष्णा या कामना पूर्ण होने की संभावना नहीं है।

अब बताओ इस जीवन में और पशु जीवन में क्या अन्तर है। पशु भी अपना पेट भर लेता है। बच्चे भी उत्पन्न करता है। इन्द्रियों के सब ही भोग मनुष्य के समान भोगता है। कई अच्छी बातें पुरुष की अपेक्षा पशुओं में अधिक भी होती हैं। पशु भविष्य के लिए कुछ भी संग्रह नहीं करता है क्योंकि भविष्य की उसको कोई चिन्ता नहीं। अन्याय से तो क्या वह न्याय से भी कुछ नहीं जोड़ता। दंभ, पाखण्ड, ढोंग, दूसरों का शोषण आदि कुछ भी अनाचार नहीं करता है। नियत समय पर ही संभोग कर सन्तानोत्पत्ति करता है। कितने ही गुण पुरुष की अपेक्षा से अच्छे हैं।

आप कह सकते हैं कि पशु में अपना हानि-लाभ सोचने की बुद्धि नहीं है। परन्तु मानव को तो ईश्वर ने बुद्धि प्रदान की है। समाज, माता-पिता, अथच गुरु द्वारा बुद्धि का विकास होता है। परन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि मनुष्य फिर भी नहीं सोचता, फिर भी सावधान नहीं होता। यह नहीं विचारता कि मनुष्य जीवन वास्तव में किसलिए प्राप्त हुआ है। क्या खाने-कमाने, भोग-भोगने, विषयों में आसक्त रहने और अन्त में असहाय की तरह सब कुछ यहाँ ही छोड़ कर, मर जाने के लिए ही यह अमूल्य देवपुर या ब्रह्मपुर प्राप्त हुआ है। शास्त्रों में इस मानव शरीर का देवपुरी या ब्रह्मपुरी नाम से कथन किया गया है। इन्द्रपुरी भी इसे ही कहा है, क्योंकि इसमें आत्मा रूपी इन्द्र या देव का, और ब्रह्म का भी वास है। इसी में आत्मा और ब्रह्म की प्राप्ति होती है, ज्ञान होता है। यह मानव शरीर ही आत्मा और ब्रह्म का मन्दिर है। इस दुर्लभ शरीर को प्राप्त करके भी यदि जगत् में भोग ही भोगने हैं तब तो यह पशु-पक्षी आदि के शरीरों में भी भोगे जा सकते हैं। जो विषयभोगजन्य सुख मनुष्य को देवपुरी या ब्रह्मपुरी इस मानव देह में प्राप्त होता है, वही एक कुत्ते को भी कुतिया के सहवास से प्राप्त होता है। वही सुख वृषभ को गाय के साथ में प्राप्त होता है। जो आस्वाद मनुष्य को षड्‌रस के व्यंजनों में प्राप्त होता है वही एक शूकर को विष्ठा के खाने में प्राप्त होता है। मनुष्य को रेशम और मखमल, या रुईदार गद्दे पर सोने में जो सुख का अनुभव होता है, वह एक खर को घूरे में लेटकर अनुभव होता है। अब सोचो पशु में और मनुष्य में क्या अन्तर रहा? इसमें मानव की क्या श्रेष्ठता हुई?

वर्तमान युग में मनुष्य अध्यात्म विज्ञान से विमुख होकर अधिकांश में भोग-प्रधान ही बना हुआ है। अहर्निश इस शरीर और भोगों की ही चिन्ता बनी रहती है। इन भोगों और शरीर से परे कोई आत्मा भी है, इसके जानने की कभी जिज्ञासा ही नहीं होती है। इस जीवन में अधिक से अधिक भोग और ऐश्वर्य प्राप्त हों यही अभिलाषा बनी रहती है। क्या यह सुन्दर पवित्र शरीर रूपी मन्दिर इसीलिये प्राप्त हुआ है कि सम्पूर्ण जीवन ही भोगों में व्यतीत कर दें।

संसार में नित्य ही मरे हुए शरीर की गति देखते हो—कोई अग्नि में भस्म कर देता है, कोई जल में डाल देता है, कोई भूमि में दबा देता है, कोई कौवे, कुत्ते और गिद्धों को फेंक देता है। फिर भी इसके भोगों पर अभिमान करते हो, जिसकी अन्त को यही गतियाँ होती हैं।

अच्छा हो, यदि अब भी सावधान होकर इस शरीर के द्वारा आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लो। अन्यथा यह पशु की तरह ही समाप्त हो जायेगा। पशु भी भोग-भोग कर चला गया, कुछ भी साथ न ले गया, मनुष्य भी भोग-भोग कर चला गया, कुछ भी साथ न ले गया। भोग सब ही अनित्य हैं, क्षणभंगुर है, नाशवान् हैं। इसीलिये विषयजन्य सुख थोड़ी देर के लिये केवल भोग काल में ही प्रतीत होता है। भोग से पहले इनकी प्राप्ति की अभिलाषा में सन्तप्त बने रहते हैं। और भोगने के पश्चात् उनसे ग्लानि का भी अनुभव होने लगता है। केवल भोगकाल के थोड़े से समय के लिये ही सुख की अनुभूति होती है, जिसके लिये कितना घोर परिश्रम करना पड़ता है। और इस क्षणिक सुख का परिणाम भी दुःख ही है। इससे सिद्ध होता है कि भोग काल का सुख भी दुःख का ही रूप था। मनुष्य भ्रांत्ति से सुख समझ बैठा था। जिस सुख का प्रारम्भ और अन्त दुःख ही है तो बीच का क्षणिक सुख भी भ्रान्ति ही तो है। परिणाम ताप, और संस्कार रूप से सुख भी अन्ततोगत्वा दुःख ही है, क्योंकि वह भी दुख का हेतु सिद्ध होता है। यह सुख या आनन्द यदि स्थायी, अविनाशी और नित्य होता तब तो इसके लिये यह महान् प्रयत्न करना बुद्धिमत्ता होती, सार्थकता होती, पूर्ण सफलता होती इस मानव जीवन की। पर यह इन्द्रियजन्य सुख तो अनित्य है, क्षणिक है, यह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। पर यह मानव महान् मूर्ख है, भ्रान्त हुआ हुआ है जो उस क्षणिक और नाशवान सुख के पीछे सारा जीवन दौड़ लगाता रहता है। यह मरु-मरीचिका में मृग के समान दौड़कर, भटक-भटक कर मर जाता है। फिर भी इसे अपनी, भूल, भ्रान्ति या मूर्खता पर लज्जा नहीं आती न ही पश्चात्ताप होता है। जो इन्द्रिय-जन्य सुख विषय के संयोग से उत्पन्न होता है, पहले अमृत के समान जान पड़ता है, वह अन्त में विष के समान ही सिद्ध होता है। यह दुर्बुद्धि मनुष्य वास्तव में नित्य सुख और आनन्द से वञ्चित ही रहता है।

उपनिषद कहती है—'उत्तिष्ठत जाग्रत'। उठो! जागो! अविद्या अन्धकार से निकलो। इस अमूल्य मनुष्य जीवन को संसार के भोगों में व्यर्थ नष्ट न करो। मनुष्य जीवन के यथार्थ लक्ष्य को पूरा करो। परन्तु यह मानव फिर भी चेतता नहीं है! समझ नहीं पाता है। संसार के भोग कुछ ऐसे ही हैं, जैसे गुलाब का बूटा। इसमें पुष्प तो बहुत कम होते हैं, और वह भी कभी-कभी निकलते हैं, परन्तु उसमें कांटे तो सहसों लाखों ही होते हैं, और सदा ही बने रहते हैं। इसी प्रकार संसार के भोगों में भी सुख बहुत थोड़ा, और वह भी क्षणिक होता है। दुःख तो असंख्य होते हैं, कांटों के समान। पुनः-पुनः दुःख भोगने पर भी विषयों से, भोगों से सुख की आशा रखते हैं। राग और मोह की यह महिमा कितनी प्रबल है। मानव को अपना दास बना कर रखती है।

हे मानव! यह विषय-भोग और शरीर सब अनित्य हैं, नाशवान् हैं। तो फिर तू क्यों इनकी प्राप्ति और इनसे तृप्ति पाने के लिये अहर्निश लगा हुआ है, क्यों इनमें इतना रत हो गया है कि तुझको अपने यथार्थ कर्त्तव्य का ही पता नहीं हैं। सब कुछ इस

शरीर के लिये कर रहा है। इसके अभिमानी शरीरी-आत्मा की खोज या प्राप्ति के लिये प्रमादी और अकर्मण्य होकर क्यों बेकार बैठा है। जिस भगवान् ने तेरे ऊपर अनन्त उपकार किये हैं तू उसके प्रति भी कृतघ्न बना हुआ है। उसका धन्यवाद भी नहीं करता। मृत्यु से पूर्व ही जो कुछ करना है कर ले, मौत सिर पर सवार है। एक-न-एक दिन तुझे अपना ग्रास बना लेगी। तू उसे कदापि हटा न सकेगा। उसका निवारण नहीं हो सकता। जिनके संग्रह में तू लगा हुआ हैं, उनमें से कोई भी तो तेरे साथ नहीं जायेगी। अतः इनमें ममता की भावना को छोड़, इनके संग्रह में इस घोर परिश्रम का त्याग कर। इस मानव जीवन के सच्चे उद्देश्य को पूरा कर। अपने स्थायी, नित्य, असङ्ग, आनन्दमय चेतन रूप को पहचान। अथवा उस महान् उपकारी ईश्वर की आराधना कर, पूजा कर, ध्यान कर, उपासना कर। उसको जान, उसका साक्षात्कार कर। जिसने तेरे प्रति निष्काम भाव से अनन्त उपकार किये हैं।

आलस्य और प्रमाद को त्याग कर ब्रह्म की प्राप्ति के लिये कटिवद्ध हो जा। जुट जा। उपनिषद आदेश कर रही है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो,
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिगात्।
एतैरुपायैयते यस्तु विद्वान्स,
तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

मुण्डको० मुण्डक० ३। ख० २। मं० ४।

जिस योगी में शारीरिक और बुद्धि वल का अभाव है, जो आलसी, प्रमादी, और तप आदि से रहित है उसको ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता है। जो बलवान है, बुद्धिमान् है, जिसके अन्दर आलस और प्रमाद नहीं है, जो तपस्वी जितेन्द्रिय है, वह विद्वान योगी अपने आत्मा या बुद्धि द्वारा उस ब्रह्म में प्रवेश करके साक्षात्कार कर लेता है। इसको प्राप्त करके ज्ञान से तृप्त, कृतकृत्य एवं वीतराग होकर पूर्ण स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है और उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्म-ज्ञान का सर्व प्रथम द्वार

हमने ब्रह्म-विज्ञान और उसके साक्षात्कार के लिए सर्व-प्रथम इस स्थूल समष्टि महाभूत पृथिवी को लक्ष्य बनाया है। यह प्रत्यक्ष रूप से कारण और कार्यात्मिक रूप में सब मनष्यों के दर्शन का विषय बनी हुई है। सब स्थूल पदार्थों में महान् भी है। यह स्थूलता की दृष्टि से महान् है; ब्रह्म सूक्ष्मता की दृष्टि से सबसे महान् है। अतः महान् में महान् का दर्शन ठीक हो सकता है। ब्रह्म-ज्ञान के जिज्ञासु योगी के लिये नाना प्रकार के साधनों द्वारा इस पृथिवी महाभूत की पाँच अवस्थाओं में इनके विज्ञानपूर्वक ब्रह्म-विज्ञान का वर्णन किया है। इस पृथिवी की सब अवस्थाओं को समझ कर, इसका वास्तविक स्वरूप जान कर इससे वैराग्य करना होगा, क्योंकि मानव के लिये सर्वप्रथम यही बन्ध, राग और भोग का हेतु बनी है। अतः मोक्ष का सर्वप्रथम द्वार भी यही बनती है। जब तक इसके भोग की आसक्ति दूर न होकर विरक्ति नहीं होगी तब तक छुटकारा, होना, इसके बन्धन से मुक्त होना असम्भव ही समझें। यह पृथिवी महाभूत भगवान् का

ग्रावासस्थान है। भगवान् इसमें व्यापक होकर ग्रोतप्रोत हुग्रा है। इसको ग्राप भगवान् का मन्दिर समझें। सर्वप्रथम इसी में उस ब्रह्म की उपासना ग्रौर विज्ञान हो सकता है। इसी को ब्रह्मज्ञान का प्रथम द्वार समझो। इसके ग्रनन्तर इससे सूक्ष्म इससे ग्रगले पदार्थों में ऋतंभरा विज्ञान के द्वारा ब्रह्म की ग्रन्वेषणा करें।

इति समष्टि पृथिवीमहाभूत मण्डलम्

इति प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः

इति त्रयस्त्रिंशदावरणम्

तृतीय खण्ड

(३२वाँ आवरण)

समष्टि जल महाभूत, पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

'साधक-वृन्द ! द्वितीय खण्ड प्रोक्त विधि के अनुसार आपने समष्टि-महाभूत-पृथिवी के पाँच रूपों का समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है। पृथिवी की परिणत होती प्रत्येक अवस्था में ईश्वर के सन्निधान का भी प्रत्यक्ष कर लिया है। अब आप पृथिवी और पृथिवी के कार्यों में सर्वत्र ब्रह्म को पाते हैं। विस्तृत वसुन्धरा और यह लोक-लोकान्तर, यह वन पर्वत वनस्पति सब ही पार्थिव भूत उस भगवान् की विद्यमानता को दिखाने लगे हैं। इन स्थूल पार्थिव पदार्थों को देखकर स्थूल में भगवान् की सत्ता तो समझ में आने लगी, भगवान् तो अत्यन्त सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अत: आप भी सूक्ष्म की ओर समाधि को बढ़ाइये। पृथिवी से सूक्ष्म जल है, अब इस जल के पाँचों रूपों का साक्षात्कार समाधि में कीजिये। उन सबमें ही व्याप्त ब्रह्म के दर्शन भी कीजिये। ध्यान के विषय को सूक्ष्म करते चलिये, जिससे आप क्रमश: अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म के दर्शन को भी पा सकें।

साधक वृन्द ! अब आपने अपनी धारणा ध्यान समाधि का विषय जल महाभूत को बनाना है जिसका आप दिन-रात प्रयोग करते हैं, और नाना उपयोग लेते हैं। इसके भी पृथिवी के समान पांच रूप हैं, १. स्थूल रूप, २. स्व रूप, ३. सूक्ष्म रूप ४. अन्वय रूप ५. अर्थवत्ता रूप। द्वितीय खण्ड के आरंभ में इन पांचों की व्याख्या दी है। उसे हृदयंगम कर लीजिये और जल महाभूत का समाधि में विश्लेषण कीजिये। उसके सूक्ष्म रूपों को समझिये, और साथ ही साथ निमित्त कारण भगवान् का भी प्रत्यक्ष कीजिये, जिससे जल से भी सूक्ष्म भूतों में आपकी गति हो सके।

समष्टि जल महाभूत मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(जल का प्रथम रूप)

१. जल के स्थूल रूप में —

सृष्टि रचना में जल महाभूत पृथिवी से पहले होने वाली चौथे नम्बर की परिणाम अवस्था है। जल के परिणाम से पूर्व अग्नि महाभूत पर्यन्त परिणाम हो चुका है। गन्ध और रस तामात्रा को छोड़ कर अन्य अग्नि, वायु और आकाश की तन्मात्रायें परिणाम भाव को प्राप्त हो चुकी हैं। रस तन्मात्रा का सूक्ष्मतम रूप ही जल महाभूत के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त हुआ है। साथ में क्रमपूर्वक अपने सब गुणों को लेकर उत्पन्न हुआ है।

आरंभ में आप जल महाभूत के दृश्यमान और अनुभूत्यमान स्थूल रूप पर संयम कीजिये। इस जलमहाभूत के स्थूल रूप की अपेक्षा भूमि का स्थूल रूप अत्यन्त स्थूल था। पृथिवी को उठा कर कुछ भी रूप दे सकते थे। जल तो बिना किसी आधार के उठाया ही नहीं जा सकता। कलश या बालटी या लोटा कोई पात्र होना चाहिये जल को उठाने के लिये, पृथिवी का ढेला, पत्थर, लकड़ी, सोने, चांदी आदि की डली तो बिना किसी आधार के ही सुविधा के साथ उठा ली जाती है। पृथिवी जल से बहुत स्थूल थी, जल पृथिवी की अपेक्षा सूक्ष्म है।

१. सूक्ष्मता—सूक्ष्मता जल का सर्वप्रथम धर्म है। जल इसीलिये पृथिवी में प्रवेश कर जाता है। पृथिवी के रूप पत्थर लकड़ी, धातुएँ आदि जल में प्रवेश नहीं करतीं। जल इनमें घुस जाता है। सूखी लकड़ी वर्षाकाल में फूल जाती है। कच्ची मिट्टी पानी में घुल जाती है, पर पानी में प्रवेश नहीं कर पाती इसीलिये थोड़ी देर पीछे नीचे बैठ जाती है। पानी नितर कर ऊपर आ जाता है। मिट्टी के कारण पानी अलग नहीं होता, क्योंकि मिट्टी पानी में प्रवेश नहीं करती। पानी मिट्टी में प्रवेश कर जाता है, इसलिये इकट्ठी हुई कड़ी मिट्टी को नरम कर देता है और अन्त में अलग-अलग भी ढेलों को कर देता है। पर जब इसकी मात्रा अधिक हो, या इसकी मात्रा परिमित हो और मिट्टी सूखी हो तो प्रवेश कर जाता है, और उसको संघात में पलट देता है। इसीलिये पृथिवी के संघात में सर्वप्रथम इसी का योग होता है। पृथिवी और इसके कार्यात्म पदार्थों में सूक्ष्मता के कारण बहुत शीघ्र प्रवेश कर जाता है। जल ने सूक्ष्मता के कारण ही पृथिवी के कण-कण के साथ मिलकर इसको महान् आकार वाली बनाया हुआ है जिससे पृथिवी सर्वभोग्या बन सकी।

जल सूक्ष्मता के कारण ही फल, वनस्पति, लता आदि में प्रवेश कर उन्हें 'सजीव' सा बनाये हुए है। सूक्ष्मता के कारण पृथिवी में प्रवेश कर वापी, कूप, झरनें, स्रोत आदि का निमित्त बनता है। सूक्ष्मता के कारण ही जल वस्त्र के रग-रग में घुस मैल को बाहर निकाल लाता है। सूक्ष्म होने के कारण ही वनस्पति एवं जीव-जन्तुओं एवं मनुष्यों के देहों में सर्वत्र पहुँच कर बाल से भी सूक्ष्म नसों और रोम-राजि को जीवित सा किये हुए है। मांस सैलों में प्रवेश कर मानव देह को जो उज्जीवित बनाये हुए है यह इसकी सूक्ष्मता का परिणाम है। सूक्ष्मता के करण ही शरीर से बाहर स्वेद के रूप में बह निकलता है। जल सूक्ष्म है इसीलिये सोम वल्ली, गिलोय, आदि बेलों और अन्य वनस्पति, फल, फूल, औषधियों के सुरस के रूप में उनके सारे गुणों के सहित निचोड़ कर रोगियों के उपयोग में आता है। जल की सूक्ष्मता ही नाना प्रकार की नेति-धौति बस्ती आदि हठ योग की क्रियाओं को कराने में समर्थ होती है। कुन्जल, करणी, व्यघ्री आदि क्रियाओं का निमित्त भी जल की सूक्ष्मता है। विषाभरण-सूचिका, इन्जेकशन आदि जो मरणासन्न को बचा लेते हैं, यह भी जल की सूक्ष्मता के निमित्त ही हैं। सूक्ष्मता के कारण ही जल.नलों में और फव्वारों में कहीं-कहीं से लाकर, उद्यानों और घरों की शोभा बढ़ाने वाला होता है। यह सूक्ष्मता ही इस प्रकार अनन्त उपकारों का निमित्त बनी है।

२. स्नेह—जल के साक्षात् अथवा परम्परित कारणों में से किसी में स्नेह नहीं है। पर प्रभु के सन्निधान से चेतन से बने इस जल में स्नेह गुण प्रकट हो जाता है। भूमि

या इससे बने सब पदार्थों को चिकना कर देना, नरम कर देना, उनकी शुष्कता को मिटा देना, भूमि और इसके बने पदार्थों में स्निग्धता पैदा करना इसी का धर्म है। जितने भी चिकने या स्नेहवान् पदार्थ हैं वे सब इसी स्नेह गुण के कारण बने हैं। लावण्यता, सुन्दरता, चमक, फिसलना इसी स्नेह रूप गुण से सब पदार्थों में आये हुए हैं। तैल, घृत आदि में जो चिकनापन है वह इसी स्नेह से आया है। सीमेन्ट के पलस्तर पर इसी जल के संघर्षण से स्निग्घता आती है। नदियों में बहते खुरदरे नोकीले पत्थर भी जल के इसी स्नेह गुण के कारण रगड़ खा-खाकर वहे या चिकने सुन्दर बढ़िया बन जाती हैं। शीशा, संगमरमर आदि में जो स्निग्घता है वह इसी जल के स्नेह गुण के कारण है। मार्बल चिप्स के फर्श भी जल डाल-डाल कर घिसने से इसी स्नेह धर्म के कारण अत्यन्त चिकने बन जाते हैं। रंग-रोगन का चिकनापन भी जल के स्नेह गुण के कारण है। आर्ट-पेपर वारनिश आदि में जो चिकनापन है वह भी इसी स्नेह के कारण से आया है। जल में पड़ी रहने पर इसी गुण के कारण खुरदरी मिट्टी चिकनी बन जाती है। चिकनी मिट्टी के खिलोनों और बरतनों पर कुम्हार इसी जल को लगा कर चिकनापन पैदा करता है। फर्नीचर पेन्ट और वारनिश के पालिश के कारण जो बहुमूल्य चिकना हो जाता है उसका कारण भी यही स्निग्धता है।

३. **मृदुता**—जल की मृदुता भी जल से पहले या पीछे उत्पन्न होने वाले अग्नि या पृथिवी कीनहीं है। जल में यह विलक्षणता प्रभु के सन्निधान से ही आयी है। पृथिवी और इसके पदार्थों में जो कोमलता है, वह इस जल के मृदु रूप गुण के योग से आयी है। अन्यथा पृथिवी का स्वाभाविक धर्म तो शुष्कता है। कठोरता का अभाव करके लचक पैदा करना, मिठास पैदा करना, भूमि में उपज की योग्यता बना देना, उसे नरम कर देना इसी मृदु गुण का कार्य हैं। जल इतना कोमल है कि उसमें वस्तुएँ प्रवेश पा जाती हैं, घुस जाती हैं। मोटे से मोटा शहतीर और पतले से पतला तिनका भी इस मृदुता के कारण जल में घुस जाता है। बड़ी-बड़ी चट्टानें एवं बड़े-बड़े पोत भी इसी मृदुता गुण के कारण जल के तल में विलीन हो जाते हैं। जो सन्धान करे उसमें मृदुता होनी ही चाहिए। बिना मृदुता के दो को मिलाया नहीं जा सकता। इसलिये सूखी और भुरभुरी मिट्टी में जब जल मिलता है, तो वह भी मिल जाती है, और जल के कोमलता गुण को भी धारण कर लेती है। जो मिट्टी का ढेला टकराने से चोट पहुंचाता था, जल के स्नेह के कारण कीचड़ के रूप में कोमल हो गया। अब लगने पर चोट नहीं पहुँचाता। वेग के कारण भी हलका सा ही आघात पहुँचाता है, और मृदुता के कारण वहीं चिपकना चाहता है। नमक और चीनी कितनी कठोर प्रतीत होती हैं। पर जल की मृदुता प्राप्त कर स्वयं अत्यन्त मृदु हो जाती हैं; पानी का सा ही रूप धारण कर लेते हैं। जल की मृदुता देखिये, जिस किसी भी आकृति के आकाश में समाता है उसी आकृति का बन जाता है। विरोध नहीं करता; लोटे की आकृति का बन जाता है। थाली में डालो थाली की आकृति और बालटी में डालो तो बालटी की आकृति धारण कर लेता है। जल के इस मृदुता गुण के कारण दुनिया में सहस्रों सांचे काम कर रहे हैं। जल से सानी गयी मिट्टी भी इस मृदु गुण को धारण कर साँचे में पड़ साँचे की ही आकृति धारण कर लेती है। इसी आधार पर मिट्टी, चीनी, मोम, सैलोलाइट, रबड़, धातु आदि की न

जाने कितनी वस्तुएँ, आकृतिएँ सांचों में ढलती हैं। इसी मृदु गुण के कारण जल सर्वत्र पहुँच जाता है, बड़ी-बड़ी चट्टानों को भी मार्ग देने के लिये मजबूर करता है।

४. गुरुत्व—जल में भी पृथिवी की तरह का भारीपन है। जिस पदार्थ के साथ इसका मेल होता है उसके भार को अधिक कर देता है, जैसे, मिट्टी, वस्त्र आदि। गरमियों में नगरों में सूखी कुट्टी और भूसा बेचने वाले पानी डालकर कुट्टी और भूसे का भार बढ़ा देते हैं। शाक आदि बेचने वाले भी पानी डालकर शाक का भार बढ़ा देते हैं। दूध बेचने वाले भी पानी मिलाकर पानी को भी दूध के भाव इसी गुरुत्व के कारण बेच लेते हैं। पृथिवी के साथ मिलकर जल ने पृथिवी के भार को भी बढ़ाया हुआ है। पृथिवी के भार से इसमें साढ़े पाँच (२/११)वां भार है। पृथिवी और इससे बने पदार्थों से अधिक भार वाला अन्य पदार्थ नहीं है।

जल गुरु है। भारी है। जल में भार है। इसे तोला जा सकता है। यह तैल आदि से अधिक गुरु है। तैल में जल मिलाने पर जल नीचे बैठ जाता है। तैल ऊपर तैरने लगता है। लकड़ी आदि से भी गुरु है। लकड़ी इसके ऊपर तैरती रहती है। जितनी लकड़ी गीली होगी, अर्थात् लकड़ी में पानी होगा, उतनी ही अधिक भारी होगी। वृक्षों की हरी लकड़ियाँ इसीलिए भारी होती हैं। जल गुरु है, इसलिये पृथिवी पर टिका रहता है, वायु के समान उड़ नहीं जाता। वर्षा में भी आकाश से इसी भारी गुण के कारण पृथिवी पर गिरता है, इधर-उधर उड़ नहीं जाता। हल्का होता तो भाप के समान वर्षा का जल भी ऊपर उड़ जाता। फिर तो वर्षा ही न हो पाती। गुरु गुण के कारण ही पृथिवी पर वर्षा होती है। वर्षा के भूमि पर आ गिरने में भूमि का आकर्षण भी जल के भार के कारण निमित्त बनता है। वायु में या अग्नि में भार नहीं, इसलिये भूमि का आकर्षण इन्हें अपनी ओर नहीं खींचता। जल गुरु है इसीलिये नीचे की ओर बहता है। जल को ऊपर मंजिलों में जल के तल से ऊपर ले जाना हो तो वायु के दबाव का सहारा लेना पड़ता है, या जल की टंकी को कहीं ऊपरी तल पर रखना पड़ता है। इसी आधार पर नगरों में वाटर-वर्क्स बनते हैं। जल में गुरुत्व है, इसीलिये उसके विकार ओले, बरफ आदि में भार है।

५. प्रभा—कान्ति—चमक पैदा करना इसी का गुण-विशेष है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जब स्नान करते हैं तब उनके शरीरों में चमक आ जाती है। जब यह अधिक शीत के कारण से हिम, बरफ या ओले के रूप में जम जाता है, तो इसमें विशेष चमक आ जाती है। यदि पर्वतों की जमी हुई हिम पर सूर्य की किरणें पड़ रही हों, तो बरफ की चमक के कारण उस पर दृष्टि नहीं टिकती, इस तीखी चमक से आँखें खराब हो जाया करती हैं। इसीलिये पर्वतारोही बरफ के चशमे लगाया करते है। भूमि में जितने भी पदार्थ चमकीले हैं, उनमें इस जल की चमक या प्रभा होती है। वृक्ष, वनस्पति, अन्न, औषधि आदि वर्षा के कारण एकदम हरे-भरे हो जाते हैं और चमकने लगते हैं। हिमालय की बरफ से आच्छादित चोटियाँ इसी प्रभा रूप गुण से चमकती रहती हैं।

जल की प्रभा अग्नि की उग्र प्रभा से भिन्न प्रकार की है। जल की प्रभा हृदय और आँखों के लिये शान्ति प्रदान करती है। सायं तथा प्रातः स्थिर जल की प्रभा शान्त भाव से देखने योग्य होती है। चन्द्रमा की चाँदनी में तो जल की प्रभा अत्यन्त प्यारी

मनोरम हो जाती है। प्रचण्ड आतप के योग से यही जल की सौम्य प्रभा असह्य प्रचण्ड हो जाती है। हिम का रूप धारण करने पर इसकी प्रभा और ही विशेष रूप धारण कर लेती है। हिमाच्छन्न हिमालय-शृंग सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश में स्वर्णिम प्रतीत होते हैं; इसी कारण पुराणों में सोने के बने सुमेरु पर्वत की कल्पना की जा सकी। सुमेरु पर्वत मुखवे और गोमुख से देखा जा सकता है। यह सदा ही हिम से आच्छादित रहता है। जिस समय सुमेरु की बरफ पर सूर्य की तिरछी किरणें पड़ती हैं, उस समय सूर्य की अरुण लाल-लाल किरणों से यह चमकने लगता है और सोने का पर्वत जैसा लगता है। सूर्य की किरणों में ऐसा तिरछापन प्रातः ७-८ बजे और सायं ४ बजे के लगभग होता है। उस समय जी चाहता है देखे ही जायें। यह भी संसार में एक अलौकिक ही दृश्य है। सुमेरु के स्वर्णिम दिखने का यह अभिप्राय कभी नहीं कि सुमेरु बिलकुल स्वर्ण से बना है। बरफ पर प्रातः-सायं सूर्य की लाल-लाल तिरछी किरणें पड़ने से बरफ में सोने के समान आभा या चमक प्रतीत होने लगती है।

पानी में एक बार गिर कर बाहर निकलने पर सब ही वस्तुओं में प्रभा के कारण रूप में निखार आ जाया करता है। सब्जी और फल बेचने वाले इसका विशेष उपयोग करते हैं।

६. **शुक्लता**—जल का स्वाभाविक गुण शुक्ल ही है। जल में शुकलता है इसी-लिये मैले कपड़े के मैल को निकाल कर उन्हें भी शुकल बना देता है। ओले, हिम, बरफ आदि में यह शुकलता स्पष्ट भासती है। यदि जल का रंग नीला होता जैसा कि नदी, तालाब, या समुद्रों में भासता है, तो कपड़े धोने के बाद उनमें नील देने की आवश्यकता न पड़ती, वह स्वयं ही पानी के डालने से नीले हो जाते। जल का यह नीला रंग आकाश के प्रतिविम्ब से प्रतीत होता है। आसमान पर भी भूमि के हरे, वृक्ष, वनस्पति, घास आदि का अक्स पड़ता है। या अनन्त आकाश में सूर्य, चन्द्रमा आदि नक्षत्रों का जहाँ प्रकाश नहीं पहुंच पाता उस अन्धकार वाले पोल की यह कालिमा जलकण, मेघ मण्डलों या अन्य प्रतिविम्बों के योग से नीलो सी भासती है। जल का रंग तो वस्तुतः श्वेत ही है। देखिये। जब वर्षाकाल में जल मोटा हो जाता है, अर्थात् उसमें रेत, मिट्टी, कूड़ा मिल जाता है, तो उसकी स्वच्छता नष्ट सी हो जाती है, मैली हो जाती है, मैले में प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता। उस मैले जल में भी आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ पाता, इसलिये उस समय वह मटियाला सफेद साफ-साफ प्रतीत होता है।

जल श्वेत होने के कारण सब मलों को धो डालता है। अन्य पार्थिव रंगों के मिल जाने पर उसी रंग का बन जाता है, और अन्य वस्त्र आदि के रंगने में भी समर्थ हो जाता है। मैला जल या रंग वाला जल अन्य पर रंग चढ़ाने के काम नहीं आता। जब सूर्य की सफेद किरणें विशेष कोण बना कर जल पर पड़ती हैं, तो सूर्य-प्रकाश का सफेद रंग जल की सफेदो में विलीन हो जाता है और सात रंग बिखर कर अपनी निराली आभा दिखाने लगते हैं, जैसे इन्द्रधनुष और फव्वारे के जल आदि में होता है।

जल सफेद है इसीलिये शरीर आदि के मल को धो डालने में समर्थ होता है। जल की शुकलता के कारण ही समुद्र के तल से मोती, मूँगा, प्रवाल आदि की खोज आसानी से हो जाती है। समुद्र के तल में भी जा-जाकर देखा जा सकता है। जल की शुकलता के

कारण ही वर्षा आदि में देखने का व्यवहार वन्द नहीं होता। इस श्वेतिमा के कारण ही आज के वैज्ञानिक लोग समुद्र के तल में, और हजारों फीट ऊँची बरफ की तहों के नीचे हजारों मील लम्बी यात्रा करने में सफल हो रहे हैं और सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक अज्ञात बरफ के नीचे बहने वाले उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के तलों का विषद वर्णन सामने ला रहे हैं। इस प्रकार जल की शुक्लता एक वरदान सिद्ध हो रही है।

७. शीतता—जल का गुण शीतता है। जल से पूर्व निर्मित अग्नि, वायु, आकाश किसी में भी शीतता नहीं है। यह तो सर्वत्र व्यापक भगवान् के सन्निधान की महिमा है कि जल में सब मूल प्रकृतियों से भिन्न शीतता गुण आ गया। जल की शीतता जीवन तत्त्व की रक्षिका है, पोषिका है। यदि जल में शीतता न आती तो अग्नि की गरमी सब पदार्थों को भस्मसात् कर देती। वायु भी जल के अभाव में अग्नि का सहायक होता है और अग्निसखा अपने इस नाम को चरितार्थ कर सब को सुखाने में अग्नि का सहायक बनता है। जल की शीतता बरफ में पहुँच कर पूर्ण रूपेण विकसित हो गयी है। शीत में जीवन के कण नष्ट नहीं होते हैं। शीतल जल शरीर में पहुँचते ही जीवन संचार सा कर देता है। इसीलिये जल का एक पर्याय जीवन भी है। कितना ही शीत प्रदेश हो, वहाँ भी शरीर जीवन के लिये जल की माँग करता है। ठण्डक में फल देर तक ठहरता है। ठण्डक में दही भी कई-कई दिन तक बिगड़ता नहीं है। इसीलिये फलों और मक्खन एवं औषधि आदि को सुरक्षित रखने के लिये ठण्डे रेफ्रीजरेटर में रखा जाता है। उत्तरी ध्रुव आदि में हिम में दबे मुरदा शरीर हजारों वर्ष तक बिगड़ते नहीं हैं। अब तो ५०० वर्ष तक बरफ से दबे पड़े रहे गोह आदि के शरीर को पुनः जीवित करने का भी परीक्षण रूस आदि में हो चुका है। दक्षिणी ध्रुव पर किसी अमरीकी पर्वतारोही दल के वर्षों पूर्व के बरफ में पड़े रह गये खाद्य पदार्थ उसी रूप में सुरक्षित मिल चुके हैं। जल की शीतता शरीर के अनेक रोगों के निराकरण करने के प्रयोग में लाई जा रही है। जल की शीतता ही मानव-देहों एवं वनस्पतियों आदि में दाह का अवरोध कर जीवन का संचार करती है।

प्राणायाम के अभ्यास से वढ़ी ऊष्मा और योगाभ्यास से जाग्रत् कुण्डलिनी की गरमी भी शीत प्रधान प्रदेश में संयम में रहती है, इसीलिये योगी लोग शीत प्रधान हिमालय के एकान्त प्रदेश गंगोत्तरी आदि की शरण लेते हैं। वड़े-बड़े महान् योगी इसीलिये हिमालय या तिब्बत में मिलते हैं। योरप आदि देशों में बहुत से शीत प्रदेश हैं, पर योरप में अध्यात्म ज्ञान की प्रवृत्ति ही नहीं, तो योगी कहां से मिलें। योगाभ्यास के लिये शीत प्रदेश अत्यन्त हितकर है।

८. **सम्मेलन**—पृथिवी महाभूत का संघात करने वाला और वड़े-बड़े लोक-लोकान्तरों को स्थूल महान् आकार देने वाला जल महाभूत का यह 'सम्मेलन' गुण ही है। इसके बिना पृथिवी का संघात ही नहीं हो सकता था और न ही यह इस आकार में आ सकती थी। बिना जल के यह रेत के आकार में परमाणु रूप ही रहती, चूर्ण रूप कण-कण ही रहती। जल का सन्धान गुण ही भूमि में से वनस्पति आदि के तत्त्वों का सन्धान करता है, तभी तो वर्षाकाल में और वैसे भी जल सेचन करने से

भूमि हरी-भरी हो जाती है, और उपजाऊ धर्म को अपनाये रखती है। जहाँ वृष्टि नहीं होती या बहुत कम होती है वहाँ जल के अभाव में वनस्पति नहीं होती, वह प्रदेश रेगिस्तान या मरुभूमि ही बना रहता है। इसीलिये पुराकाल में भी और आजकल भी बड़े-बड़े महासर या डेम बना-बना कर रेगिस्तानों को हरा-भरा बनाया जा रहा है। एक वर्ष भी यदि पृथिवी को जल का सन्धान गुण न मिले तो अकाल पड़ जाता है, हाहाकार मच जाता है। परिमित जल ही सन्धान का हेतु होता है, मात्रा से अधिक जल आटे को नष्ट कर देता है, रोटी बनने लायक ही नहीं छोड़ता। इसी प्रकार महाप्रलय और खण्डप्रलय के अवसर पर अतिवृष्टि संसार के विनाश का हेतु बनती है।

जल के सम्मेलन या सन्धान गुण के कारण ही वृक्ष, वनस्पति आदि जुड़े रहते हैं। हरी लकड़ी के फाड़ने में सूखी लकड़ी की अपेक्षा बहुत कठिनाई पड़ती है। हरी लकड़ी में जल अपेक्षाकृत अधिक है, अतः सन्धान भी उसके अनुपातानुसार अधिक है। जल की मात्रा अधिक हो जाये तो वह लकड़ी को गलाने का निमित्त भी बन सकती है। सोना, चांदी, लोहा, ताम्बा आदि धातुओं में विद्यमान जल का ही सन्धान गुण उनके परमाणुओं को गठित किये हुए है, जो पार्थिव ऊष्मा या पाक से अधिक दृढ़ हो गया है। जल का यह सन्धान गुण ही सब आकार-प्रकार की सृष्टि का मूल है।

महाभूत पृथिवी को जीवित सी रखने वाला, जान सी डाल देने वाला यह जल का सन्धान गुण ही है। जहाँ भी भूमि को खोदकर देखो वहाँ ही जल निकल आता है। यह सब भूमि और भूमि के कार्यों मैं सन्धान बनाये रखने के लिये है। भूमि के गर्भ में भी जगह-जगह जल के दरिया बह रहे हैं जैसे कि ऊपर चल रहे हैं। यह सब सर्वत्र सन्धान को पहुँचाने के लिये है।

भूमि से निकलने वाले जितने भी द्रव पदार्थ हैं, या पिघलने वाले पदार्थ हैं, वे जल के ही एक प्रकार के परिणाम हैं। उनमें गौण रूप से पृथिवी का अंश भी मिला रहता है। इनका संशोधन करके तेल, पैट्रोल आदि को प्राप्त करते हैं और यह सब द्रव नाना प्रकार के सन्धान के काम में आते हैं। कोई रंगों का संधान करता है, कोई पेन्टों का, कोई सरेश का। तारकोल के रूप में आकर सड़कों पर पहुँचकर पत्थर की रोड़ी का सन्धान यही गुण करता है।

इक सन्धान के परिणामस्वरूप हमारी भूमि पर बड़े-बड़े महान् समुद्र हैं, और हिम से आच्छादित पर्वत हैं। ये सब इसी सन्धान से बन पाये हैं। इसी प्रकार दूसरे लोकों के नदी, नाले, पर्वत, वनस्पति आदि इसी सन्धान का परिणाम हैं। यह सन्धान क्रम महाप्रलय पर्यन्त बराबर चलता रहेगा।

महाभूत पृथिवी को जीवित सा रखने वाला, उसमैं जान सी डाल देने वाला यह जल भत ही है। इसके सम्मेलन गुण से पृथिवी में जीवन सा पैदा हुआ है। इसलिये कोई-कोई आचार्य हमारी भूमि और अन्य भूमियों में अन्य जीवों के शरीरों के समान इनमें अभिमानी जीव मानते हैं। इस भूमि-अभिमानी जीवात्मा के शरीर पर यह प्राणियों की सृष्टि बसी हुई है। परन्तु यह मान्यता भूमि को जीवित सा देखकर बन गयी प्रतीत होती है। यह सिद्धान्त युक्ति युक्त भी नहीं है और प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं होता है।

जब प्राणी के शरीर के साथ जल का मेल होता है, इसे पीते हैं, तो यह शरीर में जीवन सा भर देता है। इसके पिये बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता है। यह सब प्राणियों के जीवन का आधार है, जीवन प्रदान करना इसके सम्मेलन या मिलन का महान् गुण है।

जल जड़ या चेतन जिससे भी मिलता है, उसी का बड़ा उपकार करता है। सृष्टि के रचना-काल में पृथिवी से प्रथम उत्पन्न होने से जल पार्थिव परमाणुओं, द्व्यणुकों, और त्रसरेणुओं के साथ मिलकर संघात करता है। अब भी सब लोक, और उनके पर्वत आदि सब इस के सन्धान गुण के आश्रय से खड़े हैं, इसी जल ने इनका मेल किया हुआ है। सब प्रकार के आकार-प्रकार की भावी और वर्तमान सृष्टि का यही मूल है।

६. पवित्रता—जल सब शरीरों को स्नान से शुद्ध करता है। वृक्ष, वनस्पति, अन्न, औषधि, लता, गुल्म, शाक आदि को वर्षा के द्वारा धोकर शुद्ध करता है। माली और कुंजड़े भी फल, पौदों, सब्जियों को जल से धो-धो कर साफ करते हैं। अनेक प्रकार की दुर्गन्धों को, मल-मूत्रों को, गन्दी नालियों को इसी द्वारा शुद्ध किया जाता है। भूमि भी इसी के प्रक्षालन से शुद्ध होती है। देश-देशान्तरों में सब प्रकार के मलों को नदी आदि में बहाकर समुद्र आदि में फेंक देता है। अनेक प्रकार के मैल व अशुद्धियों को दूर कर उन्हें पवित्र बनाता है। घरों, वस्त्रों, पात्रों आदि को जल ही पवित्र करता है। बस्ती, गजकरणी, नेति, धौति आदि क्रियाओं से शरीर की नस-नाड़ियों की शुद्धि करता है।

जल की पवित्रता अग्नि की पवित्रता से विलक्षण है। अग्नि केवल मिट्टी, धातु आदि को पवित्र करती है, पर साथ में कुछ डाल देती है, कुछ निकाल देती है। मिट्टी की कचाई को अग्नि निकाल देती है। रंग भी पलट देती है। पकने पर मिट्टी का रंग लाल से काला हो जाता है। पूर्वापेक्षा दृढ़ या कठोर हो जाता है। धातुएँ अग्नि में साफ हो जाती हैं। मिलावट दूर हो जाती है। जल में धोने से न कुछ निकलता है न डलता है। वह ऊपर के तल पर धूल आदि जमी होती है उसे धो डालता है। शीशे, चांदी सोने आदि के बरतन यदि जूठे हों तो धोने मात्र से साफ हो जाते हैं। इन धातुओं में छिद्र कम होते हैं, मिट्टी आदि ऊपर ही लगी होती हैं, धोने से धुल जाती है। मिट्टी के जूठे बरतन धोने से साफ नहीं होते, एक बार ही प्रयोग में लेकर फेंक दिये जाते हैं। पीतल, तांबे, कांसी आदि के बरतन सफाई के लिए मिट्टी के साथ पानी की भी अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार जल से पवित्रता की भिन्न-भिन्न देश-काल के अनुसार मर्यादायें हैं।

वर्षा काल का यही जल स्थान-स्थान के मलों को बहा कर ले जाता है। शरीर में उत्पन्न हुए दोषों को रक्त में मिला यह जल नस-नाड़ियों में बहाता हुआ शुद्ध करने के लिये फेफड़ों में ले जाता है। वहाँ से वे दोष श्वास के साथ बाहर निकल जाते हैं, जिन दोषों का निवारण श्वास से नहीं होता उनको पुनः यह शरीरस्थ जल मूत्र एवं पसीने के रूप में बाहर ले जाता है और जीव के आवास इस घर को पवित्र रखता है। हस्पतालों में डाक्टरी औजारों को अग्नि के साथ मिल कर यही शुद्ध करता है। रोगियों के

जखमों, फोड़े आदि की चीड़-फाड़ से निकली गन्दगी को जल ही साफ करता है। गन्दे हाथों को पानी में धो लेने पर यही जल खाने के काम में लाने के योग्य बनाता है। मल, मूत्र, तैल आदि पेय पदार्थों से उत्पन्न अपवित्रता को जल ही दूर करता है। सब दोषों को लेकर भूमि में छिप जाता है और फिर पवित्र होकर वापी कूप आदिक के रूप में प्रगट होता है। या आकाश में उड़ कर पवित्र हो पुनः वर्षा के पवित्र विशुद्ध जल के रूप में अवतीर्ण होता है और इन्जेक्शन की शीशियों में भरा जा कर रोगियों को प्राण रक्षा के लिये पुनः शरीर में पहुँच जाता है। जल स्वयं पवित्र है, अन्यों को भी पवित्र रखता है। सब ही देशों में किसी न किसी नदी का जल अत्यन्त पवित्र माना जाता है। भारत में गंगा, अरब में आबे ज़मज़म, इंग्लैण्ड में फादर थेम्स, मिस्र में नील, रूस में वाल्गा, आदि नदियाँ अत्यन्त पवित्र मानी जाती हैं।

१०. रक्षा—सब प्राणियों की प्यास बुझाकर जीवन की रक्षा करता है। इसीलिए संस्कृत में जीवन का निमित्त होने से 'जीवन' शब्द का अर्थ जल हो गया है। यही पृथिवी महाभूत जल के द्वारा ही संघात को प्राप्त होता है। इसकी रक्षा भी इसके के द्वारा होती है। जल के योग से ही भूमि प्राणियों के भोग का हेतु बनी है। यह जल-महाभूत पृथिवी के सहयोग से भी अनेक प्रकार से विभिन्न रूपो में जीवों की रक्षा करता है। भूमि पर, कूओं, तालाबों, नदियों और समुद्रों के रूपों में प्राणिमात्र की रक्षा का साधन बना है। आकाश से वर्षा के रूप में आ इन सब का उज्जीवक बनता है, खेतों, बाग-बगीचों, वनों को हरा-भरा कर मानव एवं अन्य प्राणधारियों के प्राणधारण का निमित्त बनता है। शरीरों में रस, रुधिर, वीर्य और रज के नाना रूपों में यह जल प्राणि की रक्षा एवं वंश चलाने का निमित्त बनता है। सूर्य की रश्मियों द्वारा वायु के सहारे आकृष्ट हो वाष्प से बादल बन कर बरसता है, उससे संसार की रक्षा होती है। यह कृत्रिम उपायों से, नकली उपायों से असम्भव है। नदियों और समुद्रों में किश्ती और जहाजों के चलाने का हेतु जल ही है। एक देश से दूसरे देश में वस्तुएँ पहुँचती हैं, व्यापार होता है, अभाव का नाश होता है। कितना महान् उपकार है जल का प्राणिमात्र के लिये। भयंकर गर्मी को वर्षा द्वारा शान्त करके महान् रक्षा करता है। पृथिवी में प्रवेश करके सोतों और कूओं के रूप में प्रकट हो बाहर निकल कर प्राणियों की रक्षा करता है। भूमि पर बर्फ के रूप में जमकर शनैः-शनैः गल कर नदी नालों के रूप में बह कर सब ही देश-विदेश वासियों की रक्षा करता है। घने वनों में जहाँ से लकड़ी काट कर ढोने का मार्ग नहीं है वहाँ नदी का यही जल बढ़िया-बढ़िया कटे-कटाये भारी-भारी शहतीर, लक्कड़, सलीपर, बल्लियां आदि अनायास ही धरातल पर पहुँचा देता है। बड़े बड़े शहरों में नलों के द्वारा घर-घर पहुँच कर हर प्रकार से आराम देता है।

बड़े-बड़े नालों और सीवरों में बह कर असंख्य टन मल-मूत्र को बहा कर ले जाता है। उस गन्द को रोगों और कीटाणुओं के फैलाने से रोकने के लिये फिल्टरों में ले जाकर खाद्य में परिणत करता है। बड़े-बड़े स्टीमर, पोत और एंजिन इसी जल से चलते हैं। और मानव की शान्ति और युद्ध में सब ही अवसरों पर रक्षा करता है। बड़े-बड़े बायलरों में रह कर कपड़े, गन्ने और लोहे के मिल जल ही चलाता है। बड़े-बड़े प्राकृतिक और जल-प्रपातों से गिर-गिर कर यही जल बिजली उत्पन्न कर हजारों मीलों में घर-घर

को बिजली की रोशनी से प्रकाशित करता है। नाना प्रकार के कल-कारखानों को चलाता और देश को मालामाल बना रक्षा करता है। बड़े-बड़े विशाल बान्धों में एकत्र हो नहरों द्वारा दूर-दूर पहुँच ऊपर से ऊसर भूमि को भी उपजाऊ बनाता है। समुद्र के तल मोती, मूंगा, प्रवाल, शंख जैसी महार्घ औषधियों और रत्नों को अपने गर्भ में निर्माण कर यही तो अर्पित करता है। हजारों मन के भारी-भारी नक्र, ह्वेल, शार्क आदि को आवास प्रदान कर डाक्टरों के लिये तैल चर्बी आदि बहुमूल्य वस्तुएँ प्रदान करता है जिनसे अनेक घातक रोगों का उन्मूलन हो प्राणों की रक्षा होती है। जल चिकित्सा से भी जल सहस्रों रोगों का नाश कर रक्षा करता है। निस्सन्देह यह मानव का रक्षक और जीवन है।

गुणों के परिणाम में प्रभु का साक्षात्—

इन उपरोक्त गुणों को जल महाभूत में दर्शाने का हेतु यह है कि योगी को यह अनुभव हो जाये कि ये गुण एक के पश्चात् एक के क्रम से परिणाम भाव को प्राप्त हो रहे हैं या हुए हैं या आगामी काल में होंगे। यह उस महान् चेतन-शक्ति के सहयोग से ही हो रहा है। वह सर्वत्र व्याप्त होकर परिणामों का हेतु बनी हुई है। जैसे मानव शरीर में जीव की चेतना शक्ति का अनुभव होता है उसी प्रकार इस जल महाभूत के अन्दर और बाहर इस ब्रह्म की चेतन-शक्ति से हुई क्रियाओं का अनुभव होना चाहिये। भूमि और जल महाभूत साकार भाव को प्राप्त होकर ईश्वर के कर्ता-पन के द्योतक बने हुए हैं। इनमें आरोप हुआ ही वह भगवान् उपासना का विषय बना हुआ है। मनुष्य जैसे पाषाण की मूर्ति को और गंगा-रूप में जल की मूर्ति को भक्ति, उपासना द्वारा भगवान् का इनमें आरोप कर के अपने कल्याण का हेतु मानता है, इसी प्रकार पाषाण के कारण भूमि में, और गंगा जी के कारण जल महाभूत में भगवान् का आरोप करके कर्म, ज्ञान और उपासना का विषय बनावें। तब ही भगवान् की महान्ता, और व्यापकता का यथार्थ विशेष ज्ञान अनुभव और हो सकता है। यह विज्ञान और उपासना क्रम भगवान् के बहुत समीप ले जाता है और परम वैराग्य द्वारा अपवर्ग (मुक्ति) का हेतु बनता है।

भगवान् की सीमा को मन्दिर में, मूर्तियों में, गोमुख से लेकर गंगा सागर तक की गंगा जी में, मस्जिद और गिरजाओं में, गुरुद्वारों और उपासनालयों में ही समाप्त नहीं कर देनी चाहिये। ये सब भक्ति प्रार्थना के जितने भी प्रतीक लिखे हैं, ये सब तो मनुष्यों के निर्माण किये हुए हैं। इनसे आगे बढ़िये, ऊपर उठिये, उस सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, कर्ता-धर्ता श्री भगवान् के निर्माण किये हुए जो समष्टि माहाभूतों-जल और पृथिवी के मण्डल हैं, इनको ही अपने कर्म, ज्ञान, और उपासना का विषय बनावें, तब ही भगवान् की महान्ता और अनन्तता का पता चलेगा। भगवान् के विज्ञान की बुद्धि बनेगी। भगवान् के अत्यन्त समीपवर्ती हो जाओगे। कार्य से कारण का ज्ञान होगा। स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति होगी। भगवान् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं और महान् से भी महान् अत्यन्त महान् हैं। मानव को अध्यात्म-विज्ञान का भी विकास करना चाहिये। केवल कूपमण्डूक बन कर भगवान् के विज्ञान को सीमित नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि अणु से लेकर महान् तक आप ने

विज्ञान प्राप्त करना है। अतः एव इन समष्टि पदार्थों को अपने कर्म, ज्ञान, और उपासना का विषय बनाना चाहिये, तब ही आपको उस भगवान् का सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होगा। यथा च—

"स योऽपो ब्रह्म त्युपास्त आप्नोति सर्वान् कामाँ—
स्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवोत"

छान्दोग्योपनिषद् अ० ७। ख० ६। मं० २।

जो योगी जल के साथ-साथ ब्रह्म को समझ लेता है, अर्थात् जल के गुणों और परिणामों में निमित्त रूप से सर्वत्र विद्यमान् ब्रह्म की उपासना करता है, उसकी सब कामनायें सिद्ध होती है, और सर्व प्रकार से उस की तृप्ति होती है। वह ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होता है।

समष्टि जल-महाभूत मण्डल
द्वितीय स्वरूप में ब्रह्म-विज्ञान
(जल का द्वितीय रूप)

२. जल के स्वरूप में—

जल भूत की यह दूसरी अवस्था या रूप है। जल के स्थूल रूप प्रकरण में जिन दस धर्मों का उल्लेख किया गया है यह धर्म सब के सब सदा जल में वर्त्तमान रहते हैं, जल से ये कभी अलग नहीं होते। जल के यह स्व-स्व सामान्य धर्म हैं। जहाँ जल होगा वहाँ ये धर्म भी होंगे। जल में भी रहेंगे और जल के परिणामों में भी रहेंगे। जल का प्रथम धर्म सूक्ष्मता है। वह जल में भी है, और जल के परिणामों में भी है। जल सूक्ष्मता के कारण पृथिवी में प्रवेश कर पहाड़ों में झरनों के रूप में प्रकट हुआ, सोते के रूप में कूएँ में प्रगट हुआ इसी प्रकार नदी, नाले, झील, तालाबों में प्रगट हुआ। जल के परिणाम रस रक्त आदि भी सूक्ष्मता के कारण वृक्षों, वनस्पतियों, और नस-नाड़ियों मेंप्रवेश कर गये। उनके परिणाम लकड़ी के फर्नीचर, सूखे फल, शाक, सब्जी, मेवों में भी जल सूक्ष्मता के कारण प्रवेश कर गया। रस आदि से बने इन्जेकशनों आदि में भी वह धर्म सूक्ष्मता का बना रहा। रोगी के शरीर में लगते ही प्रवेश कर जाते हैं। उनके प्रवेश में कोई रुकावट नहीं होती। इस प्रकार यह सूक्ष्म धर्म स्व-स्व सामान्य है। जल के अपने रूप में भी है, और जल के अपने विकारों में भी है। पृथिवी में सूक्ष्म धर्म नहीं, वह किसी में भी नहीं घुस सकती इसलिये सूक्ष्मता पृथिवी से विशेष हुई। अग्नि और वायु की सूक्ष्मता दूसरे प्रकार की है। अग्नि प्रवेश करती है, अपने रूप को छिपा कर, जल प्रवेश करता है, अवकाश बना कर इसलिये जल में इनके प्रवेश से विशेषता है।

यह दसों धर्म जल में स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। वे कभी जल की स्वरूप अवस्था से अलग नहीं होते। इन धर्मों का जल धर्मी के साथ अभेद है। धर्मों से अलग जल कोई पदार्थ नहीं है। धर्मों का ही नाम जल है, जल का ही नाम सूक्ष्मता आदि धर्म है, क्योंकि जल भूत के साथ इनका सम्बन्ध सदा बना ही रहता है। जब अलग-अलग सत्ता उपलब्ध नहीं होती तो दो कहना बनता नहीं। इसलिये धर्म धर्मी एक ही हैं। इसी को स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं। सूक्ष्मता आदि जल का स्वरूप हैं। या कहिये सूक्ष्मता आदि जल रूप हैं।

जैसे सूक्ष्मता आदि धर्म अपने धर्मी जल भूत से अलग नहीं होते, इसी प्रकार ब्रह्म भी जल से कभी अलग नहीं होता है। जल धर्मी अपने धर्म में सदा अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार जल में भी ब्रह्म अनुस्यूत रहता है, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है।

धर्मी जल का किस प्रकार क्रमपूर्वक अपने धर्मों में परिणाम होता रहता है, और परिणाम होते हुए भी वह पृथक् नहीं होता है। इस परिणाम-क्रम को योगी को अपनी ध्यान की दिव्य-दृष्टि से देखना चाहिये, यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म-बुद्धि की आवश्यकता है। जब धर्मों के परिणाम के अन्त तक बुद्धि पहुँचेगी, तब ही ब्रह्म की चेतन सत्ता का भी वहाँ अनुभव होगा जोकि निमित्तकारण से वहाँ परिणाम का हेतु बनी है। जैसे स्वर्ण से बने आभूषण में स्वर्ण अलग नहीं होता है, केवल उसकी पहली अवस्था का ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्त्तन हुआ है। इसी प्रकार जल-रूप-धर्मी का स्नेह, सूक्ष्म, मृदु, शीत आदि धर्मों में परिणाम हुआ है। कोई स्वरूप से विनाश नहीं हुआ है। वह अपने स्वरूप में पूर्ववत् ही वर्तमान है। जल धर्मी का अपने स्नेह मृदु आदि धर्मों से अभेद है। यही इसकी स्वरूप अवस्था है।

इस धर्म धर्मी के अभेद रूप परिणामों में ब्रह्म के विज्ञान को भी प्राप्त करना चाहिये इस धर्म धर्मी से संसार के सब भोग भोगकर परम वैराग्य प्राप्त करके अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिये तब ही तो पदार्थ भोग और अपर्वग का हेतु साबित होगा। इस मानव जीवन की सफलता भी तब ही हो सकती है।

समष्टि जल महाभूत मण्डल

तृतीय सूक्ष्म रूप में ब्रह्म विज्ञान

(जल का तृतीय रूप)

३. जल के सूक्ष्म रूप में—

जल महाभूत का जिस अवस्था से परिणाम हुआ है, जल की उस पहली अवस्था को जल का सूक्ष्म रूप कहेंगे। जल महाभूत के निर्माण काल में जल के परमाणु जल या जल की तन्मात्रा ही केवल महाभूत का उपादान कारण नहीं होती हैं किन्तु अग्नि, वायु, आकाश के परमाणु भी सहकारी कारण होते हैं। सामान्यतः चारों कारण रूप तन्मात्रायें अपने कार्य विशेष जल महाभूत में अनुस्यूत होती हैं। इस कार्य कारण का अयुतसिद्ध समुदाय ही महाभूत जल द्रव्य होता है। यही जल की सूक्ष्म अवस्था, या सूक्ष्म रूप कहलाता है। इस तन्मात्रा और जल का जो कारण कार्यात्मक सम्बन्ध है यही सूक्ष्म रूप है।

इस अवसर में जो विशेष क्रिया होकर एक विशेष परिणाम रस तन्मात्रा में होता है. वह अत्यन्त ही आश्चर्यजनक होता है। योगिन्! यहाँ ही आपको अपने संयम का विषय इस परिणाम प्रक्रिया को बनाना है। यहाँ योगी को ध्यान से और दिव्य दृष्टि से देखने योग्य यही विशेष बात होती है। आप साक्षात् करेंगे कि रस-तन्मात्रा में कैसे-कैसे परिणाम होते गये और अन्त में वह कैसे जल महाभूत में बदल गयी। ब्रह्म की चेतन-शक्ति किस प्रकार सजातीय धर्मों और विजातीय धर्म का नियोजन कर एक आयुत सिद्ध द्रव्य जल का निर्माण कर रही है। किस प्रकार सूक्ष्म तन्मात्रायें संघात को प्राप्त

होकर स्थूलाकार जल के रूप में परिणत हो रही हैं। इस काल में ब्राह्मी चेतन सत्ता संघात करने वाली प्रेरिका यानी योजिका होती है, क्योंकि जड़ पदार्थ एक अंश में गति को रखते हुए भी बिना चेतन सत्ता के सर्वांश में नियन्त्रित गतिशील नहीं हो सकता।

भगवान् के सन्निधान की माया देखिये रस तन्मात्रा का संयोग अब तक बन चुके अग्नि, वायु, आकाश महाभूतों के साथ हो जाता है। सर्वप्रथम यह संयोग परिमित मात्रा में यथानुपात अग्नि आदि महाभूतों के साथ हुआ। इसमें निमित्त कारण भगवान् का सन्निधान ही होता है। उसकी विलक्षणता का अनुभव कीजिये।

रस तन्मात्रा जब अकेले रूप में थी तो केवल दिव्य रसना का ही विषय थी। अग्नि तत्त्व से मेल हुआ, तो इसमें रूप भी आ गया। जल आँख से दिखाई देने लगा। जल में प्रभा आयी तो पारदर्शी हो गया। इतना स्वच्छ, निर्मल, पारदर्शी कि काश्मीर के वैरीनाग कुण्ड में राई का दाना पड़े तो भूमितल में जाते हुए साफ-साफ दिखाई दे जिसकी गहराई ५० फुट से अधिक है।

वायु तत्त्व के संयोग से स्पर्श भी जल में होने लगा। वायु का स्पर्श न ठण्डा था, न गरम। वायु से विलक्षण जल में शीतलता आ गयी और हिम के रूप में आकर तो अत्यन्त शीतल। कहीं-कहीं तो अग्नि तत्त्व इतना दवा कि जल की हिम रूप में शीतता शून्य विन्दु से नीचे उतर गयी। अग्नि के योग से रस तन्मात्रा केवल चमक वाली, प्रभा वाली, शुक्ल और पवित्र बनी थी। वायु के योग से सूक्ष्मता धारण कर तृप्ति-कारिका जीवन-सञ्चारिणी बनी।

आकाश के साथ संयोग हुआ तो सूक्ष्मता और सन्धान के साथ कल निनाद भी जल में आया और उग्र होने पर वही समुद्र में भयावह रुद्र रूप बन गया।

संक्षेप से इस प्रकार भी कह सकते हैं—सामान्य विशेष के भेद से अनुगत समुदाय अयुत सिद्ध द्रव्य ही जल का सूक्ष्म रूप है। इस अवस्था में सूक्ष्म रस तन्मात्रा का जल महाभूत के रूप में परिणाम हुआ है और वह तन्मात्रा धर्म, लक्षण अवस्था रूप में परिणत होकर स्थूल रूप को प्राप्त हो गयी है।

इस सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म की चेतन सत्ता से जो-जो क्रिया जिस-जिस क्रम से जिस-जिस रूप में होती है, यही समाधि की संयम-स्थिति द्वारा जाना जाता है। इस चेतन ब्रह्म के कारण होने वाली रस तन्मात्रा की क्रिया या गति का अनुभव करना चाहिये।

धर्म धर्मी का यहाँ अभेद है। इस अभेद में ही ब्रह्म की अनुभूति करनी होती है। कारण कार्य एवं उनके परिणामकाल में अनुस्यूत ब्रह्म का प्रत्यक्ष करना है।

वास्तव में ब्रह्म विज्ञान तो इसी प्रकार की सूक्ष्म अवस्थाओं या परिणामों में होता है जो एक-एक कण को नियोजन करने से क्रिया कराता है। इससे सिद्ध हो रहा है कि कोई भी पदार्थ उससे खाली नहीं है। प्रत्येक कण में वह रमा हुआ है।

(शंका) आप बार-बार प्रत्येक पदार्थ में उस ब्रह्म का क्यों पिष्ट-पेषण कर रहे हैं?

(समाधान) यह बोध कराने के लिये कि ब्रह्म निमित्त कारण है। बिना अभ्यास के, पुनः-पुनः प्रत्यक्ष किये बिना ब्रह्म की सत्ता का, ब्रह्म के निमित्त-कारण

होने का विश्वास हृदयंगम नहीं होता। ब्रह्म विषय पर व्याख्यान देना और लिखना बहुत सरल है पर 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'—तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है—इस शुद्ध विज्ञान के साथ प्रत्यक्ष करने वाले विरले ही हैं। प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक परिणाम में उसकी बेलाग निमित्तता का ज्ञान हो जाये, और संयम द्वारा प्रत्येक परिणाम में उस ब्रह्म के साक्षात्कार का अभ्यास इतना बढ़ जाये कि वह स्वभाव सा हो जाय, उसके प्रति विश्वास अटूट हो जाये, इसलिये पुनः-पुनः नहीं, अपितु वास्तव में प्रत्येक दशा में उसकी सत्ता हृदयंगम हो जाये इस लिये सब परिणामों का उल्लेख किया जा रहा है।

भौतिक सृष्ट की उत्पत्ति

प्रथम क्रम—जब आकाशीय परमाणु वायु के परमाणुओं से मिलते हैं, तब गति-रूप धर्म पैदा होता है। वह गति तिरछी होती है। जब ये दोनों प्रकार के परमाणु अग्नि के परमाणु के साथ मिलते हैं तब उर्ध्वगमन रूप धर्म आ जाता है। और जब ये तीनों आकाश मण्डल में जल के परमाणु के साथ मिलते हैं तब इनमें कुछ गुरुत्व (भारीपना) धर्म पैदा हो जाता है। ये पार्थिव परमाणुओं की ओर आते हैं। पृथिवी के परमाणु इन सब को लेकर नीचे आते हैं, बैठ से जाते हैं क्योंकि चारों मिल कर गुरुत्व भार वाले हो जाते हैं। इस प्रकार ये संघात को प्राप्त होकर प्रत्येक भूत का निर्माण करते हैं।

इनके परस्पर मिलने से आकाशमण्डल में महान् क्षोभ उत्पन्न होता है। ऐसा लगता है, जैसे महान् आन्धी सी आ गयी हो। फिर चातस्रेणु और पंचरेणुओं के रूप में एक-दूसरे के साथ मिलकर गैसों का रूप धारण करते हैं, इसमें वायु और अग्नि ही प्रधान होते हैं। उस गैस का ब्रह्माण्ड में चक्र सा चलता रहता है। बहुत लम्बे काल तक यह चक्र घूमता रहता है।

तब यह व्यष्टि-भाव को प्राप्प होने लगता है। उस में परिणाम-भाव आने पर कुछ स्थूलाकार बड़े-बड़े गोले से बनने लगते हैं। यह गैसें अनेक प्रकार की बन कर कुछ द्रवी-भाव को प्राप्त होने लगती हैं। पुनः इन गैस के महान् गोलों में एक विशेष परिणाम होने लगता है। तब उबलते-उबलते कुछ ठोस से होने लगते हैं। आकाश-मण्डल में क्षुभित हुए से उस पाकजन्य धर्म से कुछ गाढ़े होने लगते हैं। पुनः महा प्रचण्ड वायु के वेग से लावा या कीचड़ के से रूप में विलक्षण प्रकार से पलटने लगते हैं।

उस ब्राह्मी चेतन सत्ता का दमन-चक्र बराबर चल रहा होता है। अतः गति करते हुए ये गोले पाकज धर्म से कुछ-कुछ ठोस होने लगते हैं। लम्बे समय के पीछे अत्यन्त देदीप्यमान ये गोले बाहर से कुछ ठण्डे पड़ने कगते हैं। इसी दमन चक्र के अवसर पर महान् गोले परस्पर टकरा जाते हैं और अपने से छोटे गोलों को उत्पन्न कर देते हैं। जो उसी गोले के साथ उसका अंश होने से उसके आकर्षण से उसकी ही परिधि में घूमने लगते हैं। इस प्रकार ये बड़े-बड़े गोले आकाश-मण्डल में लोक का रूप धारण कर लेते हैं। जो गोले या लोक ठण्डे होते चले जाते हैं वे प्राणियों के वास-योग्य हो जाते हैं। इन लोकों में जैवी सृष्टि होने लगती है।

द्वितीय-क्रम—आकाश तन्मात्रा से केवल आकाश की उत्पत्ति होती है। आरम्भ में अगले चारों भूतों को अवकाश प्रदान करने वाला ही पदार्थ उत्पन्न होता है। इसका

और कोई कार्य नहीं होता। यह एक ही जाति के ऐसे परमाणु संघात को प्राप्त होते हैं जो किसी अन्य पदार्थ के तो आरम्भक नहीं होते, उनमें केवल अवकाश प्रदान करने की ही योग्यता होती है। इस समय इनमें विजातीय परमाणुओं का योग नहीं होता। अतः यह एक ऐसी अवस्था वाला विश्व-व्यापी सा पदार्थ उत्पन्न होता है जो अपने से स्थूलों को धारण करने की योग्यता रखता है। इस अपने-अन्दर धारण करने की योग्यता से ही यह आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थों का सदा सर्वत्र सहकारी कारण रहेगा। इसके सात्विक, राजस, तामस भेद भी अन्य पदार्थों के भेद से हो जायेंगे।

आकाश के पश्चात् वायु तन्मात्रा से वायु-भूत की उत्पत्ति होती है। इस तन्मात्रा का स्वाभाविक धर्म गति होता है। अतः यह परिणाम-भाव को प्राप्त हुए अपने गतिक्रिया रूप धर्म के साथ ही वायुभूत के रूप में परिणत होकर क्रियाशील हो जाती है। आकाश इसमें सहकारी होता है। आकाश सब जगह होता है, अतः यह वायु-तन्मात्रा के संघात से उत्पन्न हुआ महान् वायु सारे ब्रह्माण्ड को ही कम्पाथमान कर देता है। इस शून्य आकाश में इसका महा-विनाश-समर्थ दमन-चक्र अत्यन्त प्रचण्ड वेग से दीर्घ काल तक चलता रहता है।

इसके पश्चात् अग्नि तन्मात्रा के परमाणु संघात को प्राप्त होकर वायु महा-भूत के साथ मिल कर एक महान् विनाश-सामर्थ्यवान् गैस के रूप में ब्रह्माण्ड में चक्र के आकार में चलने लगते हैं। अग्नि और वायु के धर्म प्रकाश, तेज, दाह, स्पर्श आदि से युक्त होकर विनाश-समर्थ चक्र ब्रह्माण्ड में चलने लगता है और अनेक वर्षों तक चलता रहता है।

इसके पश्चात् इसके साथ जल तन्मात्रा का मिलन होता है। यद्यपि वायु और अग्नि दोनों महाभूत इसके महान् शत्रु हैं। अग्नि जल को दग्ध कर देता है और वायु जल को सुखा देता है। परन्तु यह जल तन्मात्रा महान् राशि के रूप में इनके साथ मिलती है अतः उन दोनों के विरोधी धर्मों को दबा देती है। तेज के साथ मिलकर उसे कुछ शीतल सा कर देती है। आजकल भी तो प्रचण्ड अग्नि को तीव्र जल की धार शान्त कर देती है। इसी प्रकार उस गैस को भी कुछ ठण्डा सा कर देती है। तत्पश्चात् उसमें जल के भी गुण आ जाते हैं। इस अवस्था में यह गैस चारों भूतों का मिश्रण (मिक्स्चर) सा हो जाता है। यह मिश्रण वहुत पतला होता है।

इस के अनन्तर पृथिवी तन्मात्रा परिणाम भाव को प्राप्त होते हुए इस पतले मिश्रण के साथ मिल जाती है। तब यह मिश्रण गाढ़ा हो जाता है, और इस में पृथिवी का धर्म भी उत्पन्न होने लगता है। अनेक वर्षों तक यह मिश्रण ब्रह्माण्ड में गति करता रहता है। सारा ब्रह्माण्ड इस मिश्रण से भरपूर सा हो जाता है। इस ब्रह्माण्ड के गैस मिश्रण की कुछ कुछ-तुलना आप उस गैस के साथ कर सकते हैं जो भूमि के गर्भ से आज-कल निकाली जा सकती है। होती वह इससे भी विलक्षण प्रकार की है।

अभी ब्रह्माण्ड में यह गैस-मिश्रण भूमि, जल आदि स्थूल भूतों का परिणाम को प्राप्त होता हुआ पूर्व रूप ही होता है। इसके पश्चात् यह गैस-मिश्रण जल, भूमि आदि स्थूल महाभूतों के रूप में परिवर्त्तित होकर स्थिर होने लगता है और पृथिवी के रूपों में ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तर और जल के रूपों में समुद्र आदि बन जाते हैं। यह

भूत भी सात्विक, राजस, तामस भेद से बनते हैं। इनका विशेष वर्णन हमारे ग्रन्थ 'आत्म विज्ञान' के मनोमय और विज्ञानमय कोशों में पढ़ें।

तन्मात्राओं की अनन्तता

पाठकवृन्द यह न समझें कि तन्मात्रायें सम्पूर्ण रूप से परिणाम भाव को प्राप्त होकर स्थूल भूतों के आकार में आ जाती हैं। तन्मात्रायें अनन्त हैं। सब का एकदम परिणाम नहीं होता है। तन्मात्राओं के बहुत थोड़े अंश का परिणाम होता है, शेष अपने स्वरूप में कारण रूप से पड़ी रहती हैं। इन तन्मात्राओं के अपने-अपने स्तर से हैं, बहुत थोड़ी मात्रा में उन स्तरों से आती हैं, और केवल वे ही स्थूल-भाव को प्राप्त होती हैं। यदि सब ही तन्मात्रायें परिणाम भाव को प्राप्त होकर स्थूल आकार में आ जायें तो स्वर्गीय आत्माओं का भोग किन से निर्वृत्त होगा ? और अन्य सूक्ष्म शरीरों का भोग किनसे निष्पन्न होगा ? अब भी अनन्त परमाणु या तन्मात्रायें आकाश मण्डल में भरी पड़ी हैं। जो परिणाम भाव को प्राप्त होकर भूतों के साथ मिलती रहती हैं। साथ ही ऐसी भी हैं जो स्थूल-भूतों से परिणाम भाव को प्राप्त होकर तन्मात्राओं का रूप धारण करती रहती हैं। संसार में जितने भी समष्टि-पदार्थ हैं वे कार्यात्मिक तथा कारण आत्मक दोनों ही रूपों में रहते हैं। कारण और कार्य रूपों में सदा परिणाम होता रहता है। विश्व के पदार्थ तो महान् और अनन्त हैं। मानव के विज्ञान की दृष्टि तो इतनी ही है जैसे सूर्य के सामने जुगनु। इस ब्रह्माण्ड का विज्ञान प्राप्त करने लगते हैं तो वार-पार नहीं मिलता है। ब्रह्म या ईश्वर को देखते-देखते कोई सीमा या अन्त ही नहीं मिलता है।

भूतकाल में जितने भी विज्ञानवादी हुए हैं, सब ही इस ब्रह्माण्ड और ईश्वर के विषय में थोड़ा-थोड़ा ही समझ पाये हैं, देख पाये हैं और जान पाये हैं। जैसे महान् समुद्र में से केवल एक बून्द ! दोनों के विज्ञान का कोई अन्त या पारावार नहीं मिलता। यह छोटा-सा अणु जीवात्मा, उस अनन्त विश्व या ब्रह्म का क्या अन्त पायेगा। अतः बुद्धिमानों को स्थाली पुलाक न्याय से अनुसन्धान करना चाहिए। जैसे कोई पाचक बड़े वर्तन में पकते हुए चावलों में से ऊपर के दो-चार दाने चावलों के उठाकर देखता है, उन से ही सम्पूर्ण भरे हुए वर्तन के चावलों के पकने या न पकने का अनुमान कर लेता है और उनसे ही समझ लेता है कि इनकी तरह शेष भी पक गये हैं, इसी दृष्टान्त और लोक व्यवहार के अनुसार योगी, ज्ञानी, या भक्त को भी इस ब्रह्माण्ड और विश्व के विषय में भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

तदनन्तर अनादिकाल से जो इसके साथ रागयुक्त भोगात्मक सम्बन्ध चित्त का चला आ रहा है उसके संस्कारों का असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा निरोध करना चाहिए। दीर्घकाल के अभ्यास और परम वैराग्य से संस्कार अपनी प्रकृति में लौट जायेंगे, क्योंकि सर्वथा अभाव और विनाश तो किसी भी वस्तु या पदार्थ का होता नहीं है। आरब्धोन्मुख क्रियमाण संस्कार उत्पन्न नहीं होंगे परम वैराग्य के कारण से, अतः आत्मा की मोक्ष में स्थिति हो जायगी। यही वास्तव में इस मानव जीवन का चरम लक्ष्य या उद्देश्य है।

समष्टि जल महाभूत मण्डल

चतुर्थ अन्वय रूप में ब्रह्म-ज्ञान

(जल का चतुर्थ रूप)

४. जल के अन्वय रूप में—

जल महाभूत का मूल प्रकृति के साथ परम्परागत सम्बन्ध पृथिवी का अन्वय रूप है। अन्वय कहते हैं कुल को या संगति बैठाने को। जल की कुल-परम्परा जल का अन्वय है। या जल की अपनी कारण-परम्परा जल का अन्वय है।

प्रकृति के अन्वय रूप में विस्तार से लिखा गया है कि ज्ञान और क्रिया प्रकृति के गुण हैं, स्थिति इसका अपना स्वरूप है। चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से ज्ञान और क्रिया प्रकृति में आये हैं अतः गुण हैं। यह अपने स्वरूप और गुणों के सहित अपने सब कार्यों में अनुपतित होती है। इसीलिए प्रकृति परिणामिनी है और कार्य स्वभाव वाली है। अपने सब कार्यों में इसका अनुपतन होता है। इसी हेतु से परम्परागत कार्यरूप जल में भी इसका अपने सर्वगुणों को साथ में लेकर अनुपतन हुआ है। अतः मूल प्रकृति ही अवान्तर परिणामों को अभिव्यक्त करती हुई जल महाभूत के रूप में परिणत हुई है। यह मूल प्रकृति का अनुपतन ही जल का अन्वय रूप है। प्रकृति की सत्ता से ही उसके कार्यों की सत्ता है। यही कार्यों में प्रकृति कारण का अन्वय है। जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य में आते हैं, जैसे स्वर्ण के गुण उसके कार्य आभूषणों में आते हैं।

जल महाभूत रस तन्मात्रा का परिणाम है, और रस तन्मात्रा भी गन्ध तन्मात्रा के समान समष्टितम अहंकार का परिणाम है। समष्टि-तमः अहंकार समष्टि महत्तमः से परिणाम में आया है। समष्टि महत्तमः मूल प्रकृति से अभिव्यक्त हुआ है। मूल प्रकृति भी दोनों चेतनों के समान अजा है। सत् नित्य है। निमित्त कारण रूप ब्रह्म के सान्निध्य से इस प्रकृति में क्रिया होकर कारण में जो अनुपतन होता हुआ आ रहा है इसका ही ज्ञान प्राप्त करना है। यही इन में ब्रह्म दर्शन का मार्ग है।

जल में प्रकृति के गुण सत्त्व और रजः बढ़ गये हैं। तमः दब गया है। इसलिए यह किसी वस्तु को छिपाता नहीं और सदा चलता ही रहता है। पृथिवी में भी प्रवेश कर जाता है। सूक्ष्म होकर आकाश में भी उड़ जाता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म नस-नाड़ियों में प्रवेश कर जाता है।

इस अनुपतन और उसके निमित्त कारण ब्रह्म का भी विज्ञान अभ्यास में साथ-साथ करना चाहिये। जिससे ब्रह्म की सर्वव्यापकता और अनन्तता अनायास ही बुद्धि का विषय बनने के योग्य बनती जायें। इस जल महाभूत की कारणता जो परमपरा से मूल प्रकृति में पहुँची है और मूल प्रकृति जो परिणाम भाव को प्राप्त होते हुए जल महाभूत में आई है इन लोम-अनुलोम की अवस्थाओं में ब्रह्म का साक्षात्कार सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा करना है।

समष्टि जल महाभूत मण्डल

पञ्चम अर्थवत्ता रूप में ब्रह्म-दर्शन

(जल का पञ्चम रूप)

५. जल के अर्थवत्ता रूप में—

इस जल महाभूत ने समष्टि पृथिवी का संघात कर महान् उपकार किया है, यह इसकी सर्व प्रथम अर्थवत्ता है। इसके संयोग से यह हमारी भूमि और अन्य लोक-लोका-

न्तर प्राणियों के आवास, भोग और अपवर्ग का हेतु बने हैं। यह इसकी बड़ी अर्थवत्ता सार्थकता अथच सर्वकार्य-सिद्धि है। सर्व प्राणी इसको पान कर जीवन धारण करते हैं। इसके बिना तो सबका प्राणान्त ही हो जाये। यह जल अपने गुणों के कारण जड़ और चेतन सब का उपकारी और लाभकारी सिद्ध हो रहा है। मेघ, नदी, समुद्र, कूप, तड़ाग, स्रोतों के रूप से सब ही जड़, चेतन का तर्पण करता है। जन-जन का ओस, धुन्ध, कोहरा, वर्षा आदि के रूप से महान् उपकारक और कल्याणकारी है। रोगी, शोकी, पापात्मा, पुण्यात्मा, महात्मा, दुर्जन सबको समान भाव से, बिना किसी भेदभाव के सदा तृप्त करता रहता है।

समुद्रों में मेघों को उत्पन्न करके और वर्षा के रूप से बरसा कर देश-देशान्तरों की विस्तृत भूमियों को हरा-भरा कर प्राणियों का महान् रक्षक बनता है। नमक जिस का प्रत्येक वस्तु में प्रयोग होता है, जिसके बिना रसोई रसोई नहीं रहती वह इसके रूप समुद्र से उपलब्ध होता है। इसी नमक पर सत्याग्रह के हेतु महात्मा गांधी की ऐतिहासिक डण्डी यात्रा हुई थी जिससे भारत की स्वतन्त्रता की सफल लड़ाई का सूत्रपात हुआ। इन्हीं समुद्रों पर बड़े-बड़े जहाजों और किशतियों के द्वारा बड़ा भारी व्यापार करने में मानव समाज अहर्निश लगा है जिससे विकसित और अविकसित सभी देशों को महान् लाभ होता है और मानव का पालन-पोषण होता है। यह जल नदी-नालों के रूप में बहकर देश-देशान्तरों के अनेक कार्य सिद्ध करता है। कहीं सवारियाँ ढोता है, कहीं सामान, कहीं बांस-बल्लियाँ, कहीं सलीपर, कहीं कड़ियाँ तो कहीं बड़े-बड़े तने। कहीं खेतों और बागों को सींचता है, कहीं पनचक्कियाँ चलाता है, कहीं कारखाने। कहीं बिजली पैदा करता है, तो कहीं मल को बहा कर दूर ले जाता है।

तमः प्रधान होकर भूमियों में वास करता है तो वहाँ भी अनेक प्रकार के कार्य करता है। पृथिवी के गर्भ में अनेक पदार्थों का निर्माण करता है। वसुन्धराओं की गति तक में सहायक होता है।

सत्त्व रूप से प्राणियों के शरीरों की रचना में सहायक होता है। प्रकृति की रचना में प्राणी श्रेष्ठ है, और प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है। उनके शरीरों में सात्विक-वृत्ति को बढ़ाता है अथवा सात्विक रूप से शरीरों की रचना में प्रयुक्त हुआ है।

रजःरूप से अन्तरिक्ष में यह निवास कर लोकों और उनमें निवास करने वाले जीवों के अनेक कार्य सिद्ध करता है। अनेक उनके उपकार करता है।

प्यास लगने पर जल प्राप्त न हो तो मनुष्य कुछ दिनों में ही प्राण त्याग देता है। अतः प्राणों की रक्षा करने वाला है। जीवन प्रदान करता है।

आर्य (हिन्दू) लोग गंगा और समुद्र के रूप में इसके दर्शन ,मज्जन, पान, उपस्पर्शन और मार्जन से सद्गति मानते हैं, इसलिये इसकी पूजा उपासना करते हैं। पार्सी लोग समुद्र की उपासना करते हैं। हिन्दू भी सागर में स्नान का बड़ा महत्त्व मानते हैं। मिस्र के मुसलमान नील नदी को बड़ा भारी महत्त्व देते हैं, उसके लिये बलि चढ़ाते हैं। इसी प्रकार अन्य देशों के लोग भी अपने दरियाओं और समुद्रों को बड़ा महत्त्व देते हैं, उनकी उपासना भी करते हैं।

ईश्वर का मन्दिर—ये सब जल के महाभूत के कार्यरूपों की पूजा है, भक्ति है। यदि समष्टि जल महाभूत को अपनी पूजा और भक्ति का विषय बना कर इससे ब्रह्म

की चेतन सत्ता का अनुभव किया जाये तो यह जल-महाभूत ब्रह्म-विज्ञान और मोक्ष का हेतु बन सकता है। संसार के सब मनुष्यों को चाहे वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले हों, इस पृथिवी महाभूत और जल महाभूत को अपनी उपासना का विषय बनाना चाहिये। ईश्वर का इनमें आरोप करके, और ईश्वर की इनको ही साकार अवस्था या मूर्ति समझ कर इनका और ईश्वर का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। ये ही वास्तव में ईश्वर की उपासना के मन्दिर हैं। मस्जिद हैं, और गिरजे हैं।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापोन विदुः,
यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयति,
एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

बृहदा० अ० ३। ब्रा० ७। मं० ४।

भावार्थ—जो ईश्वर जल महाभत में ठहरा हुआ है, जो अन्दर से जल का संचालन करता है, जिसको जल नहीं जानता। जल ही जिसका शरीर है। जो इसको अन्दर से चलाता है। वह नाश रहित, अमृतमय, मोक्ष रूप है।

इन महाभूतों की उपासना से सब मतों के झगड़े और भेद-भाव खतम हो सकते हैं। मन्दिर की छोटी सी मूर्ति की अपेक्षा समष्टि महाभूत जल और पृथिवी बहुत बड़ी विशाल मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों के समान विश्व में और कोई मूर्ति भगवान् की नहीं हो सकती। इन्हीं के अन्दर उस भगवान् का मिलन या प्राप्ति हो सकती है। ईश्वर के मिलन का यह निर्विवाद उपासना और भक्ति का मार्ग है।

इति समष्टि जल महाभूत मण्डलम्।

इति प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः।

इति द्वात्रिंशद् आवरणम्।

चतुर्थ खण्ड

३१वाँ आवरण

समष्टि अग्नि महाभूत मण्डल

पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

योगिन् ! तृतीय खण्ड में वर्णित विधि के अनुसार आपने समष्टि महाभूत जल के पांच रूपों का समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है। जल की परिणाम को प्राप्त होती हुई प्रत्येक अवस्था में ईश्वर के सामीप्य की निमित्तता का भी प्रत्यक्ष कर लिया है। अब आप जल में और जल के प्रत्येक परिणाम में ब्रह्म को पाते हैं। पृथिवी की स्थूलता से निकल कर अब जल की सूक्ष्मता में आप पहुँच गये हैं। जल से भी सूक्ष्म अग्नि है। अपनी सविकल्प समाधि को और अधिक सूक्ष्मता की ओर बढ़ाइये। सूक्ष्मतर अग्नि के पाँचों रूपों में समाधि लगाइये, और उनमें सूक्ष्मता से व्याप्त ब्रह्म-दर्शन का अभ्यास कीजिये। ध्यान के विषय की सूक्ष्मता के साथ अपनी व्यापक सी बनी चित्त-वृत्ति को संक्षिप्त कीजिये, सूक्ष्म कीजिये। अब आप सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म-दर्शन के मार्ग पर अग्रसर हो चले हैं। इस अग्नि की सीढ़ी पर चढ़ कर आप ब्रह्म-दर्शन के अधिक समीप पहुँच रहे हैं।

ब्रह्म-जिज्ञासो ! अब आपने संयम का विषय अग्नि महाभूत को बनाना है। इसको आप सर्वत्र पायेंगे। जल की अपेक्षा यह अधिक निकट है। दिन-रात सोते-जागते यह आपके साथ है। इसके भी जल के समान पाँच रूपों का आपने साक्षात्कार करना है, १. स्थूल रूप, २. स्वरूप, ३. सूक्ष्म रूप, ४. अन्वय, ५. अर्थवत्त्व। इन पाँचों अवस्थाओं का आप द्वितीय खण्ड में भली प्रकार साक्षात् कर चुके हैं। जल में इनका अभ्यास किया है, अब समाधि में अग्नि महाभूत का विश्लेषण कीजिये। उसकी सूक्ष्म अवस्थाओं में क्रमशः प्रवेश कीजिये और साथ ही उनमें निमित्त कारण रूप से निहित भगवान् का भी प्रत्यक्ष कीजिये।

समष्टि अग्नि महाभूत मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(अग्नि का प्रथम रूप)

१. अग्नि के स्थूलरूप में—

सृष्टि रचना में जल महाभूत से पहले होने वाला अग्नि महाभूत तीसरे नम्बर की परिणाम अवस्था है। अग्नि महाभूत से पूर्व वायु और आकाश महाभूत का परिणाम हो चुका है। ये दोनों स्पर्श तन्मात्रा और शब्द तन्मात्रा से परिणत हुए हैं। अब रूप तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप ही अग्नि महाभूत के रूप में बदलने चला है।

आरम्भ में आप अग्नि के व्यवहार में आने वाले रूप पर संयम कीजिये। अग्नि की अपेक्षा जल महाभूत का रूप स्थूल था। जल को आप पात्र में उठा सकते थे, हाथ में

ले जा सकते थे। अग्नि तो ऐसा नहीं है। यह अदृश्य रहता है। प्रयत्न करो तो किसी के सहारे प्रकट हो जाता है। अग्नि के आश्रय को आप उठा सकते हैं, चाहे वह लकड़ी ही हो या अंगारा, या बिजली का तार आदि, या गरम जल। पृथिवी और जल के सहारे ही यह अभिव्यक्त होता है। पृथिवी बिना ही आधार के स्वयं उठा ली जाती थी। जल भी आधार और बिना आधार के उठा लिया जाता है। उन दोनों की प्रतीति प्रत्यक्ष है। अग्नि को आग्नेय-पदार्थों या ईन्धन से प्रकट करना पड़ता है। प्रकट हो जाये तो ईन्धन आदि डालते रहना पड़ता है, जिससे अग्नि बनी रहे। अग्नि बुझी हो, प्रसुप्त हो तो कितना ही ईन्धन पर ईन्धन डालो, टाल के टाल चुन दो, अग्नि व्यक्त नहीं होगा। ऐसे सूक्ष्म अग्नि के गुणों का आपने अग्नि के स्थूल रूप में प्रत्यक्ष करना है।

१. **लघु**—पृथिवी और जल-भूत की अपेक्षा यह अत्यन्त लघु है, हलका है, अपितु भारहीन ही है। सोने या लोहे का जो तोल ठण्डा होने पर होता है, वही गरम होने पर होता है। गर्मी का-अग्नि का कोई तोल नहीं बढ़ता। गरम करने पर लोहे आदि पदार्थों में कितनी ही अग्नि प्रवेश कर जाये, वह अंगारे के समान लाल हो जाये, या पिघल भी जाये तो भी उसका तोल नहीं बढ़ेगा। पानी दूध आदि का भी गरम होने पर तोल नहीं बढ़ता है। गरमी से फैल अवश्य जाते हैं। फैला हुआ पदार्थ किसी पात्र में उसके माप के अनुसार आयेगा, वह तोल में ठण्डे की अपेक्षा कम हो यह और बात है। अग्नि न तोल बढ़ाता है, न घटाता है। फैले हुए पदार्थों का नाप बढ़ जाता है। अग्नि पदार्थों को फैलाता अवश्य है पर तोल नहीं बढ़ाता क्योंकि स्वयं भारहीन है।

अग्नि इतना सूक्ष्म अथवा लघु है कि पृथिवी और जल में प्रवेश कर जाता है। सदा उनमें बसा रहता है। पर प्रकट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता है। वायु भी गरम प्रतीत होता है, पर वायु में अग्नि प्रवेश नहीं करता। वायु अग्नि से सूक्ष्म है, इसलिये वह अग्नि के कणों को इधर-उधर ले जा सकता है। कणों को ले जाता हुआ वायु ही गरम प्रतीत होता है और जल के कणों को ले जाता हुआ शीतल प्रतीत होता है।

अग्नि लघु होने से अत्यन्त गतिशील है। पतले से तार द्वारा क्षणों में कहाँ से कहाँ पहुंच जाता है। सूर्य की किरणें तो एक सैकण्ड में एक लाख ४६ हजार मील की यात्रा कर भूमण्डल पर पहुंच जाती हैं। अग्नि के ही रूप विद्युत् और प्रकाश की गति अत्यन्त तीव्र है। यह सब अग्नि के लघु होने के ही प्रमाण हैं।

२. **ऊर्ध्व गमन**—अग्नि में गति है पर स्वभावतः यह ऊपर को ही गति करता है, प्रभु की समीपता के कारण ही यह नियन्त्रण होता है। यदि आकर्षण करने वाला या साथ-साथ लेकर चलने वाला कोई पदार्थ नहीं है तो अग्नि ऊपर को ही गति करता है। भवभूति ने भी 'ऊर्ध्वगमनं हविर्भुजः'—अग्नि का गमन ऊपर की ओर होता है कह कर इस दार्शनिक तथ्य को व्यक्त किया है। पृथिवीगत लोहे आदि के आकर्षण से मेघस्थ विद्युत् कभी-कभी धरती में प्रवेश कर जाती है। तार के सहारे ऊपर जाने वाली विद्युत् ऊपर, नीचे, दायें, बायें सब ओर ले जाई जा सकती है। जहां कोई बन्धन नहीं है वहाँ होली या छोर की अग्नि ऊपर को ही जाती है। दूध या जल आदि किसी तरल पदार्थ के नीचे अग्नि जलाई जाये तो उसमें से भी अग्नि ऊपर को ही जाती है। उस पदार्थ को

ऊपर उठा कर फेंकती है। यही तो उबलने का स्वरूप है। दूध आदि में जब ऊपर मलाई आ जाती है, अर्थात् बाहर की शीतल वायु से ऊपर की दूध की तह ठण्डी होकर दूध की मलाई के रूप में चद्दर सी जम जाती है, और अग्नि ऊपर निकलने नहीं पाती है, तो दूध में उफान आ जाता है। जब मलाई फट कर अग्नि ऊपर निकल जाती है, तो उफान ठण्डी हवा पाकर या ठण्डा पानी पाकर शान्त हो जाता है।

जब ज्वर चढ़ता है, शरीर की अग्नि बढ़ जाती है। गरमी पाकर थरमामीटर का पारा भी चढ़ जाता है। ऊपर की ओर अग्नि के कारण ही गति करता है। अग्नि से तपाया जल भी भाप बन कर अग्नि के कारण ऊपर को उठता है। अग्नि की ऊर्ध्व गति ही नियन्त्रित की हुई रेल, मोटर, जहाज आदि के अञ्जन को आगे दौड़ाती है। अग्नि की ऊर्ध्व गति ही विमान, राकेट आदि को ऊपर ले जाती है। अग्नि की ऊर्ध्व गति के भरोसे ही मानव चाँद में जाकर बसने की कल्पना कर रहा है! कोई इस ऊर्ध्व गमन के कारण ही बृहस्पति के समाचार ला रहा है, अग्नि के ऊर्ध्व गमन के कारण ही टेल-स्टार भूमि के समाचार आकाशमण्डल में खेंच लेता है, और गति को नियन्त्रित कर पृथिवी पर जहाँ भी चाहो भेज देता है। बे तार की तार भी विद्युत अग्नि द्वारा ऊपर ही ऊपर गमन करती है।

साधारण अवस्था में भी अग्नि को जलाओ तो ऊर्ध्व गमन करती है। ऊपर को उठती है। बिजली तो जब उठती है बहुत ऊँचे तक जाती है। ऊपर चलती जाती है, और अपने स्वरूप को दिखाती जाती है। ऊँचे उठ कर आकाश में फैलती है और फिर वहीं विलीन हो जाती है। ऊँचे गमन करना तामस अग्नि का स्वाभाविक कर्म या धर्म है। दूसरे पदार्थों को ऊपर उठाती है। फेंकती है, ऊपर लेकर चलती है।

३. भास्वर -अग्नि भास्वर है। अग्नि में ऐसी भास्वरता है कि जिससे जहाँ अग्नि स्वयं चमकीला है, सम्पर्क होने पर दूसरों को भी चमका देता है। लोहा काला है, पर विधि-विधानपूर्वक अग्नि के भास्वर रूप को धारण कर चमक उठता है, स्टील बन जाता है और अग्नि में पड़ा हुआ लोहा तो अग्नि सा भासता है। इंधन के आकार का हो तो पहिचानना ही कठिन हो जाये। अग्नि का गोला यह सूर्य कितना भास्वर है कि उसके प्रकाश से प्रकाशित हो यह धरातल अपना सर्वस्व दिखा रहा है। यह भास्वान् इस भास्वरता के कारण ही चन्द्र आदि ग्रहों को प्रकाश युक्त कर उनसे जगती पर प्रकाश फैला रहा है। सूर्य की भास्वरता ही अन्धकार का नाश करती है और प्राणी-मात्र को आँखों से देखने में समर्थ बनाती है। नेत्रों में भी तो यह अग्नि का अनुद्भूत भास्वर प्रकाश ही है जो देखने की शक्ति में परिवर्तित हुआ है। यह सत्त्वप्रधान प्रकाश है। सिंह, बिल्ली, चीता आदि की आँखें तो प्रत्यक्ष रूप में ही भास्वर होती हैं। रात को अन्धेरे में बिजली के टार्च के समान चमकती हैं।

सोना, चान्दी, युरेनियम आदि में यही अग्नि की भास्वरता उपलब्ध होती है। इस चमक के कारण ही मध्यकालीन दार्शनिक सोने को तैजस मान बैठे, पर वास्तव में तेज:प्रधान पार्थिव परिणाम ही तो है। पार्थिव गन्ध तो लोहा, ताम्बा, पीतल आदि किसी में भी उग्र-रूप में प्रतीत नहीं होती। हैं तो सभी पार्थिव। तेज के परिमाण भेद से यह धातुओं का विपरिणाम है। अग्नि में पिघल जाना भी इनके तैजस होने में हेतु नहीं हो

सकता, क्योंकि चूने का पत्थर आदि भी अग्नि में पिघल जाते हैं। अतः हमारे विचार में यह धातुएँ पार्थिव ही हैं, पृथिवी में ही इनकी खानें हैं, यदि यह धातुएँ आग्नेय या तैजस होतीं तो जहाँ-जहाँ ज्वालामुखी होते वहीं यह उपलब्ध होती।

अग्नि की यह भास्वरता सत्त्व गुण प्रधान है। सत्त्वगुण का ही परिणाम है। इसलिये यह भास्वरता मनुष्य में हर्ष उत्पन्न करती है। इसी कारण इस भास्वरता से सत्त्व गुण का विकास होता है। इसे देख कर आबालवृद्ध प्रसन्नता और आह्लाद का अनुभव करते हैं। दीवाली, स्वतन्त्रता दिवस, एवं वर-यात्रा आदि में इसीलिये आग्नेय-प्रदर्शन किया जाता है। इस आतशबाजी से हर्षोत्सव और उल्लास बढ़ जाता है। सब ही अग्नि के इस भास्वर गुण की उपासना करते हैं।

यह भास्वरता प्रकाशमयी है, अतः सब प्राणियों की पथ-प्रदर्शिका भी है। नेत्रों में यही भास्वरता अनुद्भूत रूप धारण कर लेती है। यही भास्वरता प्रकाश बन कर प्राणियों के अनेक उपकार करती है। यह भास्वरता दीपक के द्वारा मानव के पथ-प्रदर्शन का काम करती है। इसके अभाव में तो ठोकरें ही ठोकरें हैं।

विद्युत के रूप में भास्वर बन घर-घर को भास्वर बना रही है। समुद्र में दीप स्तम्भों के रूप में खड़ी जल पोतों को चट्टानों के साथ टकराने से बचाती है। विद्युत् का बना अमरीका का कृत्रिम चन्द्र कुछ भूभाग को प्रकाशित कर रहा है। पृथिवी और समुद्र के तल में घोर अन्धेरे में यही विद्युत् की भास्वरता खोज कराने में समर्थ होती है.।

४. **पाचक**—अग्नि का अपना गुण तो रूप ही है, पर प्रभु की सर्वत्र उपस्थिति से कारण अग्नि पाचक धर्म को भी व्यक्त करने लगती है। जहाँ भी अग्नि है, वहाँ पाक आरम्भ हो जाता है। सूर्य की अग्नि के कारण ही अपने-अपने समय-समय पर सब वनस्पति, औषधि, अन्न, फल, शाकों में पाक होने लगता है। सावनी और कार्तिकी की फसलें ठीक समय पर सूर्य की अग्नि से पक जाती हैं। गरमियों में आम, खरबूजे आदि फल अपने समय पर पक जाते हैं। गेहूं, चना, जौ, ज्वार, बाजरा, मटर, चावल, मकई, उड़द, मूँग, अरहर आदि सब ही अनाज समय पर पक जाते हैं।

सब प्राणियों के शरीरों में यह अग्नि जठर में ठहरती है, और जठराग्नि कहलाती है। इसी के कारण शरीर के सब व्यापार चलते हैं। यह सब के जीवनों का आधार है, शरीर की स्थिति का भी कारण है, इसके अभाव में मरण होने लगता है। इसके विषम होने पर ज्वरादि अनेक रोग उत्पन्न होकर प्राणान्त हो जाता है, इसके सम रहने पर मानव दीर्घजीवी होता है और अरोग रहता है। शरीर में दमक और चेहरे पर कान्ति रहती है।

सब प्राणियों के शरीर में यही आहार को पचाती है। चेतन सी बनी यह माता के उदर में भोजन का पाक भिन्न रूप से और गर्भस्थ बालक का विपाक भिन्न रूप से करती रहती है। साथ ही साथ माता के गर्भ का भी पोषण करती है। इसी अग्नि के मन्द हो जाने पर शरीर में अनेक रोग उत्पन्न होने लगते हैं। इसी पाचक गुण के सहारे यह अग्नि शरीरों में पोषण और वृद्धि करती है। अन्न का रस बनाती है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मज्जा, हड्डी, वीर्य, रज, ओज, तेज, बल आदि इसी पाक गुण के कारण बनते हैं।

यह अग्नि का पाक धर्म पृथिवी के गर्भ में नाना प्रकार की धातुओं की रचना करता है। यही पाक तीव्रतम हो बरफ की तह के नीचे कोयले को हीरा बना देता है। तत्त्व की दृष्टि से हीरे और कोयले में कोई भेद नहीं। पर चेतन सत्ता के सामीप्य से हीरा हीरा है, और कोयला कोयला। जो गुण और मूल्य का भेद कोयले और हीरे में है, क्या वह कभी जनसाधारण को विश्वास करने देता है कि कोयले और हीरे के तत्त्व समान हैं, केवल अग्नि के सम्पर्क-काल का भेद है। यही अग्नि का पाक हीरा, पन्ना, लाल, पुखराज, नीलम आदि का निर्माण करता है। भूमि के गर्भ में भी सोना, चान्दी आदि धातुएँ भी इसी पाक धर्म के कारण बनती हैं।

यही पाचन प्राणी मात्र का जीवन हेतु है। पाचन क्रिया के मन्द पड़ने पर मृत्यु निकट आने लगती है। मृत्यु काल के समीप आने पर रोगी की पाचन रूप अग्नि की शक्ति का पहले अभाव होने लगता है। हाथपैर ठण्डे होने लगते हैं। फिर साथ ही साथ उस स्थान पर प्राणों की गति मन्द होने लगती है। गरमी का अभाव होता जाता है और प्राण भी शरीर के उस भाग को छोड़ते जाते हैं।

इस प्रकार अग्नि की यह पाचक शक्ति व्यष्टि और समष्टि का आधार बनी हुई है।

५. पावक—अग्नि स्वभाव से पवित्र है। पवित्र करना, स्वच्छ करना, दुर्गन्ध को निकाल कर उड़ा देना, सुखा देना, इसके धर्म हैं। शीतकाल में जल को गरम करती है, शरीर की स्वच्छता के लिये वस्त्र भी गरम जल से अधिक शुद्ध होते हैं। अग्नि से जमा मैल भी निकल जाता है। इसीलिये धोबी लोग भट्टी पर चढ़ा कर कपड़ों को अत्यन्त सफेद कर देते हैं। शीत प्रधान देशों में अग्नि के द्वारा तपा कर शरीरों को शुद्ध करते हैं। सूर्य का उदय होने पर सूर्य-स्नान करते हैं, सूर्य की धूप में नंगे होकर लेट जाते हैं, और धूप-स्नान से शरीर को शुद्ध करते हैं; पसीना निकाल कर स्वच्छ करते हैं, रोगों को बाहर निकालते हैं। जब मकान बहुत दिनों तक बन्द पड़े रहते हैं तो उनकी शुद्धि भी उनके अन्दर अग्नि जला कर करते हैं। अछूत के रोगों में भी घर की शुद्धि अग्नि से तपा कर की जाती है। भारतीय लोग अग्निहोत्र से घर की शुद्धि करते हैं। जड़ और चेतन दोनों की शुद्धि अग्नि से होती है।

अग्नि स्वभावतः स्वतः पवित्र है। यह अपने स्परूप में विशुद्ध रूप में रहती है, किसी की इसमें मिलावट नहीं हो सकती। अन्य मिले हुओं को भी अलग-अलग कर शुद्ध कर देती है। जल में यदि पार्थिव पदार्थ मिल जाये तो वह सड़ने लगता है, दुर्गन्ध देने लगता है। अग्नि उबाल कर उसे शुद्ध कर देती है। विजातीय पार्थिव अंश नीचे बैठ जाता है। पानी के पड़ने से मिट्टी आदि पार्थिव पदार्थ भी सड़ने लगते हैं जैसा कि वर्षा काल में देखने में आता है। सूर्य की ताप-रूप अग्नि उसे स्वच्छ बना देती है। वर्षा में जब कपड़े सील जाते हैं और दुर्गन्ध भी देने लगते हैं, तो धूप में फैलाने से जलीय अंश सील भी निकल जाती है और दुर्गन्ध भी हट जाती है।

सोने में खोट मिला हो तो अग्नि ही सोने को तपा कर उसे विशुद्ध बना देती है। जब शरीर में किसी अंग में वायु एकत्र हो जाता है, और भयंकर पीड़ा उत्पन्न हो जाती है, तो उसका शोधन भी अग्नि की सेक से ही होता है। हस्पतालों में डाक्टरी के औजारों

और रोगियों के कपड़ों को यह अग्नि ही उबाल कर पवित्र करती है। बन्द मकानों या नये मकानों की शुद्धि भी अग्नि या अग्नि-होत्र से होती है। युद्धभूमियों, हस्पतालों और नगरों के दुर्गन्ध से भरे, दुर्गन्ध और रोगों को फैलाने वाले शवों को जला कर यही भस्म-सात् करती है, और इस प्रकार यह पावक अग्नि संसार को पवित्र भी करती है, और रक्षा भी करती है। नगरों के कूड़े-कर्कट के और मैले-कुचैले के ढेरों को जला कर यही अग्नि पवित्र करती है। सूर्याभिमुख बैठ कर पञ्चाग्नि तप करने वाले तपस्वियों के जन्म-जन्मान्तरों के पाप-कल्मष को यही पावक अग्नि ध्वस्त करती है। उनकी आत्माओं को पवित्र बना देती है। परम पावन भगवान् के सर्वत्र अत्यन्त समीप होने के कारण ही अग्नि अपने इस धर्म का पालन करने में समर्थ होती है। तदनन्तर छटा परिणाम धर्म उत्पन्न होता है।

६. **ओजस्वी**--अग्नि बड़ी बलशालिनी है। अग्नि के छोटे-छोटे कण जब प्रभु के ईक्षण से संघात को प्राप्त होते हैं तो अपूर्व बल को प्रकट करते हैं। भूमि में यह बड़े-बड़े भूकम्प पैदा करती है। भूमि को तोड़-फोड़ कर पर्वतों को भूमि के अन्दर घसा कर वहाँ समुद्र बना देता है। जहाँ समुद्र होते हैं, वहाँ पहाड़ बना देती है। अग्नि इतनी बल-शालिनी है कि भूकम्पों द्वारा जल-स्रोतों को भूमि से बाहर निकाल देती है। विद्युत् रूप में प्रकट होती है तो यन्त्रों में सहस्रों घोड़ों का बल पैदा कर देती है। बमों, राकेटों, स्पूतनिकों, हवाई जहाजों, मोटरों, समुद्री जहाजों, पनडुब्बियों आदि को यही अपने बल से गमन कराती है। धक्का देकर चलाती है। इसी की शक्ति और बल से सब गमन करते हैं। अपने द्वारा यह अग्नि जड़-चेतन के अनेक कार्य सम्पादन करती है। विद्युत् के रूप में इसका बल आकर्षण और प्रक्षेपण करता है। विद्युत् के रूप में प्रकट होकर बड़े-बड़े पर्वतों को विदीर्ण कर देती है। बल के कारण इसकी गति में बड़ा वेग है। बड़ी द्रुत-गति है। सूर्य में इसी का तेज है, इसी का बल है। सूर्य की किरनें एक मिनट में एक लाख ४६ हजार मील का गमन करती हैं। इस तीव्र चाल से चलती हैं।

यह बड़े-बड़े वनों को भस्मीभूत कर देती है। शरीर में प्राण बल के पश्चात् इसी का बल है। शरीर में यह तेज और ओज पैदा करती है। कुपित हो जाने पर शरीर में चालीस (४०) प्रकार के रोग उत्पन्न कर देती है। समभाव में रहती है तो आरोग्य रखती है। हर प्रकार से शरीर का पोषण करती है। शीत से रक्षा करती है। शरीर में अग्नि का तेज ही तो बल है, उसी के कारण शरीर शीत को सहन करता है या शीत का मुकाबला करता है। भोजन और औषधियों को पकाने में इसी का बल लगता है। विशाल भार वाली भूमि को सदा गमन कराना, चलायमान रखना इसीकी बलशीलता का काम है। करोड़ों टन जल का आकर्षण करना इसके असीम बल का द्योतक है। इसके ओज से ही जड़-चेतन शक्ति पाते हैं। अग्नि महान् शक्ति का भण्डार है, जड़ चेतन सब ही इसके बल पर अनेक अद्भुत कार्य करते हैं। विद्युत् के धक्के को पर्वत भी सहन नहीं कर सकता। भूमि के गर्भ में अग्नि की ओजस्विता से अनेक चमत्कारपूर्ण अद्भुत कार्य होते हैं। वही अग्नि की ओजस्विता भूमि की गति में भी सहायक है। अग्नि की ओजस्विता अतुल बलशालिनी है। तदनन्तर दाहकता धर्म उत्पन्न होता है।

७. **दाहकता**—अग्नि में दाहकता है, जो भूमि के गर्भ में पाषाण आदि को दग्ध कर के पत्थर के कोयले को बनाती है। वनस्पतियों को दग्ध कर लकड़ी का कोयला

बनाती है। यह दाहकता ही सोफट कोक, और हार्ड कोक, या स्टीम कोक को तैयार करती है। भूमि के अन्दर की गैसों को भी अग्नि दग्ध करता रहता है। भूगर्भस्थ तैल आदि को भी जलाती रहती है। भूमि के गर्भ में पड़े जल को भी फूंक-फूंक कर नष्ट करती रहती है, इसी कारण भूमि में सैकड़ों स्थानों से गर्म जल के सोते निकलते रहते हैं।

जितने भी सोने, चांदी, लोहा, ताम्बा, अभ्रक, रांग, पारा, जस्त आदि धातुएँ हैं सब को फूंक कर बहुमूल्य अत्यन्त गुणकारी भस्में बना देती है जो भयंकर रोगों पर अचूक काम करती हैं। पाषाणों को भस्म कर सीमेन्ट चूने के रूप में पलट देती है, जिनका बड़े-बड़े विशाल भवनों एवं सड़क आदि के निर्माण में उपयोग होता है। वनों, मकानों, काष्ठ-मय वस्तुओं को तो देखते-देखते भस्म बना कर रख देती है। मृत या जीवित जो भी शरीर अग्नि में रखा जाये उसे भस्म बना देती है। दावानल के रूप में जब भड़कती है तो जंगलों, फसलों, अन्नों और वनैले जन्तुओं तक का दाह कर डालती है। पर्थिक और जलीय सब प्रकार के पदार्थों को दग्ध करने की शक्ति रखती है। कुपित हो जाये तो नगरों, ग्रामों, और बाजारों तक को भस्मसात् कर धराशायी कर देती है। कठोर से कठोर धातु को पिघला देती है। प्रलयकाल में सब को दग्ध कर अपने-अपने कारण में विलीन कर देती है। दाहक गैसों के रूप में अग्नि की दाहकता और भी भयंकर विनाश-कारिणी हो जाती है। अस्त्रों के रूप में परिवर्तित अग्नि की दाहकता जड़-चेतन सब को ही क्षण भर में भस्म करने में समर्थ होती है।

अग्नि की दाहकता जब छोटा रूप धारण करती है तो दीपक और लैम्पों के रूप में अन्धकार का दाह कर मनुष्यों के अनेक उपकार करती है।

अग्नि की यह दाहकता वरदान भी है और अभिशाप भी। भूतों की विषमता से या प्राणियों के व्यवहार से जो अपवित्रता उत्पन्न होती है उसे यह दाहकता ही समाप्त करती है। मलमूत्र आदि की समस्त गन्दगी को सूर्य का ताप या मानव निर्मित भट्टियों की अग्नि ही साफ करती है। यह दाहकता अनुपयोगी पदार्थों को उपयोगी बना देती है। इस दाहकता से ही मलमूत्र का सुन्दर खाद बनता है। रोगों के कीटाणु इसी दाहकता से नष्ट किये जाते हैं। यज्ञ याग आदि द्वारा इस दाहकता को उत्पन्न कर ऋषि लोग जहाँ इस लोक को रोगों के कीटाणुओं से रहित करते थे, वहाँ परलोक को भी मानव के हस्तगत कराते थे।

इस दाहकता के कारण ही समस्त धातुएँ पृथिवी के तल में तरल पदार्थ के रूप में इधर से उधर बहती हैं। बाहर निकलने पर यह दाहकता उन्हें पृथक्-पृथक् करने का निमित्त बनती है। आग्नेय प्रलय में तो भूमण्डल के समस्त पदार्थों को यहाँ तक कि हिमाच्छन्न हिमालय की पर्वत-मालाओं को भी भस्मसात् कर देती है। अस्त्रों के रूप में यह प्रलयंकारी संग्रामों का रूप धारण कर लेती है। सूर्य के ताप की यह दाहकता भूतल पर जहाँ-जहाँ अधिक होती है, वहाँ-वहाँ के मनुष्यों को काला कर देती है।

८. **प्रध्वंस**—उस सर्वत्र व्यपाक ब्रह्म की चेतन सत्ता से ही रूप-गुण वाली अग्नि में प्रलयंकर प्रध्वंस भाव उत्पन्न हो जाता है। अग्नि ही अन्य महाभूत पृथिवी और जल के कार्यों का विनाश कर सकती है। आग्नेय प्रलय में अग्नि ही पृथिवी और जल

का विनाश करती है। महाप्रलय के समय पहिले छोटे-छोटे पदार्थों का नाश करती है। फिर लोकों का विनाश करती है। अन्त में समष्टि को ध्वंस कर भस्मसात् कर देती है। मुख्य रूप से प्रध्वंस का प्रयोग खण्डप्रलय और महाप्रलय में होता है। गौण रूप से तो सदा ही प्रलय करती रहती है।

युद्धों में यह अग्नि अस्त्र और आग्नेयचूर्ण (बारूद) के रूप में महाप्रलय सा मचा देती है। ठण्डे पानी को गरम करें तो अग्नि उसकी ठण्ड को नष्ट कर देती है। अधिक अग्नि का प्रयोग करें तो पानी को ही जलाना आरम्भ कर देती है। अधिक गरम करते जायें तो सारे ही पानी को अग्नि जला डालती है। जल प्रध्वंस को प्राप्त हो जाता है। कुछ भी शेष नहीं रहता।

अग्नि के इस प्रध्वसं गुण का प्रत्यक्ष तो आयुर्वेद की शैली से भस्में बनाते हुए होता है। सोना, चान्दी, लोहा, हीरा, मणि, माणिक्य कोई भी कठोर से कठोर धातु हो अग्नि की विशेष प्रक्रिया से भस्म बना दी जाती है। किसी धातु का अपना रूप शेष नहीं रहता। राख सी ही तो शेष रह जाती है। पर वैद्य आयुर्वेद के साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों के प्रदर्शित नैपुण्य से धातुओं के गुण बचा लेता है। यदि भावनाओं (लाग) का प्रयोग न करें और अग्नि के बल से ही भस्म बनाते जावें तो कुछ भी शेष न रहेगा, न गुण न गुणी। अमरीका वाले हाई पोटांसी की बिजली का ताप देकर सब धातुओं को क्षण भर में फूंक देते हैं, आजकल वहुत से प्रमादी नवीन वैद्य उनका प्रयोग करते हैं। उन भस्मों का अभीष्ट प्रभाव नहीं होता। तोलों अभ्रक खा जाने पर भी कोई प्रभाव नहीं होता। यह देख आयुर्वेद का उपहास करने लगते हैं। एक वृद्ध वैद्य से यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने आयुर्वेदके ढंग से निर्मित सहस्रपुटी अभ्रक की आधी चावल की मात्रा दी तत्काल लोभ हुआ। यह देख आक्षेप कर्ता लज्जित हुए पर सदा के लिये आयुर्वेद के महत्त्व को समझ गये। अग्नि भस्म तो बनाती है, पर जिस-जिस को साथ में रखोगे उनके मौलिक गुण को बचा लेती है। यही कारण है कि सब भस्मों में भिन्न-भिन्न गुण होते हैं।

भोजन बनाते समय जब भोजन ठीक समय पर अग्नि पर से नहीं उतारा जाता है तो अग्नि उसे भी जला कर राख बना देती है। यहाँ तक कि हलवा, खीर जैसा स्निग्ध पदार्थ भी जल कर राख हो जाता है। जलाते ही जायें तो वह भी सर्वांश में नष्ट हो जाता है। यही अग्नि कुपित होने पर घने वनों और बड़े-बड़े विशाल नगरों का ध्वंस कर डालती है। दग्ध का अर्थ भस्म करना है। दह भस्मी-करणे धातु से दग्ध शब्द वना है, ध्वंस का अर्थ सर्वथा नाश करना, या उस वस्तु का अदर्शन कर देना या लोप कर देना है, अर्थात् सर्वथा मिटा देना।

नैयायिकों ने चार प्रकार के अभाव माने हैं। उन में एक प्रध्वंसाभाव भी है। उस का अभिप्राय भी स्वरूप से नष्ट हो जाना है। भले वह दूसरे रूप में चला जाये, पर उसका अपना तो स्वरूप से नाश हो ही गया। इस प्रध्वंस का प्रयोग प्रलय काल में ही ठीक बैठता है, क्योंकि उस समय प्रध्वंस के कारण दृश्यमान सब पदार्थ कार्य रूप से कारण रूप में चले जाते हैं। यह कार्य से कारण में परिणाम होना, उस महान् चेतन

सत्ता के सर्वत्र विराजमान होने के कारण ही होता है। इसी को योगी अपने ब्रह्म-विज्ञान काल में साक्षात् अनुभव करता है।

यहां विशेष उल्लेखनीय यही विज्ञान है, कि उस ब्रह्म की चेतन सत्ता से इस अग्नि में परिणाम होकर कैसे-कैसे ये उपरोक्त गुण आते हैं। उपनिषद् का कथन है—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥"

कठ० अ० २। व० २। मं० १५।

"उस तेजोमय प्रकाश-स्वरूप श्री भगवान् के ही प्रकाशसे सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ और यह अग्नि प्रकाशयुक्त हो रही है।"

यह ठीक है कि अग्नि का उपादान कारण रूपतन्मात्रा है, परन्तु निमित्त कारण तो भगवान् ही है। अतः इसके सब कार्यों में इस चेतन निमित्त कारण की अनुभूति होनी चाहिये। जब योगी को किसी एक पदार्थ में इस चेतन ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो अन्य सब पदार्थों का साक्षात् होना सरल हो जाता है। इस चेतन शक्ति का विनाश किसी भी अग्नि आदि पदार्थ से नहीं होता। वह शक्ति सब पदार्थों में एक रूप में ही वर्त्तमान रहती है। इसमें में कोई विकार या परिवर्त्तन नहीं होता।

आत्मा और ब्रह्म प्रत्यक्ष हैं

योगी को अन्तःकरण चतुष्टय के एक अंश चित्त में अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है। इसमें वेदान्त दर्शन की भी साक्षी है।

पहला प्रमाण—

'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्।'

वेदान्त० अ० १। पा० २। सू० ११।

—'आत्मा और परमात्मा हृदयरूपी गुफा में प्रविष्ट हैं। क्योंकि वहां इनका दर्शन होता है।'

इसलिये योगी हृदय की गुफा में प्रवेश कर के आत्मा परमात्मा का दर्शन करे।

दूसरा प्रमाण—

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्।

वैशेषिक० अ० ९। आ० १। सू० ११।

—'आत्मा में, आत्मा और मन के संयोग से आत्म-प्रत्यक्ष होता है।'

जब एक बार अपने आत्मा के स्वरूप का दर्शन या साक्षात्कार हो जाये तो ब्रह्म के दर्शन में देर नहीं लगती।

वेद ने भी आदेश दिया है—

यो विद्यात् ब्रह्म-प्रत्यक्षम्।

अथर्व० काण्ड ९। अनु० ३। सू० ६। मं० १।

—संन्यासी उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष जाने। संन्यास का भाव वैराग्य है।

ऐतरेय ब्राह्मण में भी यही लिखा है —

'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।'

तैत्तिरीय ब्रा० शिक्षाध्यायः। १२ अनु०।

—"ब्रह्म ! तू ही प्रत्यक्ष है। तुझको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा।"

आत्मसाक्षात्कार के साथ ही ब्रह्म के दर्शन भी हो जाते हैं। आत्मा के दर्शन हो जायें तो फिर ब्रह्म के दर्शनमें देर नहीं। क्योंकि जैसा चेतन जीवात्मा है वैसा ही चेतन ब्रह्म भी है। केवल अन्तर इतना है कि जीवात्मा अणु है, और ब्रह्म महान् है। स्वरूप का प्रत्यक्ष होने पर फिर ब्रह्म का प्रत्यक्ष करने में किसी अनुमान की या शब्द प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। यहां भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही ब्रह्म के दर्शन का हेतु है।

(शंका) कई आचार्यों का कथन है कि प्रमाणों द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता है ?

(समाधान) संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो हो और प्रमाण का विषय न हो। हां गधे के सींगों का अभाव है, वे न कभी भूत काल में हुए, न वर्त्तमान काल में हैं, न भविष्य में ही कभी होंगे। ये प्रमाण का विषय नहीं हो सकते हैं। पर ब्रह्म तो वर्त्तमान है। फिर क्यों वह प्रमाण का विषय नहीं बनेगा। यदि ब्रह्म को प्रमाण का विषय नहीं मानते हो तब वेद-शास्त्र मानने भी बेकार हैं, क्योंकि यह सब तो उस ब्रह्म का बड़ा विषद वर्णन करते हैं। ब्रह्म के होने के विषय में वेद, शास्त्र, उपनिषद् सब का ही शब्द-प्रमाण मौजूद है। शब्द-प्रमाण तो ब्रह्म के विषय में प्रत्यक्ष ही है, फिर यह कैसे कह सकते हैं कोई प्रमाण नहीं।

वर्त्तमान दृश्यमान सृष्टि के बिगड़ने को देख कर इसके बनाने वाले का अनुमान होता है। जो मरता है, वह पैदा अवश्य हुआ है। पहाड़ टूटता है, वृक्ष गिरते हैं, दरिया सूखते हैं, जगंल जल कर नष्ट होते हैं, तो ये बने भी अवश्य हैं। जहां वर्त्तमान में जगंल है, कल वहां भविष्य में शहर बस जाता है। जहां नदी है वहां सड़क बन जाती है। जहां समुद्र है, वहां बड़े-बड़े महल बन जाते हैं। तारे, नक्षत्र सब टूटते हैं, जब टूटते हैं, तो अवश्य बने हैं। बने हैं तो आवश्य बनाने वाला भी कोई है, हम आप तो इनके बनाने वाले नहीं हैं। पर्वत और नदी की तो क्या बात एक गेहूं का दाना भी हम नहीं बना सकते। एक चना भी नहीं बना सकते तो फिर इस व्यापक सृष्टि का सर्व समर्थ कोई न कोई बनाने वाला अवश्य है, चाहे उसका नाम कुछ भी रख लो, ब्रह्म, ईश्वर, गाड, खुदा, अल्लाह, वाहेगुरु कुछ ही कहो।

शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष पूर्वक ही होते हैं; जिस का प्रत्यक्ष नहीं उसके विषय में अनुमान, शब्द, उपमान आदि कोई भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर तो प्रत्यक्ष ही है। वेद, ब्राह्मण, दर्शनों का प्रमाण नमूने के लिये उपस्थित कर चुके, समस्त प्रमाण दिये जायें तो उस का पृथक् ही एक विशाल ग्रन्थ बन जायेगा।

अब कुछ उपनिषद् आदि के प्रमाण भी पढ़िये—

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।

मुण्डकोपनिषद् ख० १ । मं० ५ ।

—उस परा विद्या के द्वारा नाश रहित ब्रह्म प्राप्त होता है ।

जो प्राप्त होता है वह भी तो प्रत्यक्ष का विषय हुआ, जो अप्रत्यक्ष है उस की प्राप्ति क्या ?

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः ।
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।।

मुण्डक० मु० २ । ख० २। मं ७

—विद्वान् योगी लोग उस ब्रह्म को विज्ञान से देखते हैं जो आनन्द रूप है, मोक्ष स्वरूप है, और प्रकाशमान हो रहा है ।

यहाँ भी ब्रह्म को प्रत्यक्ष प्रमाण या दर्शन का विषय माना है ।

तिलेषु तैलं, दधिनीव सर्पिः,
आपः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ,
सत्येनैनं तपसायोऽनुपश्यति ।।

श्वेताश्तवर० अ० १। मं० १५ ।

—जैसे तिलों में तेल, दही में घी, सोतों में जल और अरणियों (शमी की लकडियों में) अग्नि वर्तमान है । इसी प्रकार वह ब्रह्म आत्मा में मिलता है, यदि देखने वाला सत्य और तप के द्वारा उसको देखता है-सत्य और तप का आचरण कर उसको देखत है ।

महर्षि व्यास ने बहुत ही स्पष्ट कह दिया—

'योगिनामेव प्रत्यक्षं भवति नान्येषाम् ।'

—उस ब्रह्म का प्रत्यक्ष केवल योगियों को होता है, अन्यों को नहीं । द ने तो कह दिया है –

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति,
नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय । " यजुः

— उसको जानकर ही मानव मृत्यु को विजय कर सकता है, मृत्यु पर विजय का अन्य मार्ग नहीं है ।

क्या यहाँ ब्रह्म को ज्ञान का विषय नहीं माना है ? ज्ञान का विषय किसी न किसी प्रमाण का विषय अवश्य होता है । अतः यह धारणा कि ह्म का ज्ञान प्रमाणों द्वारा नहीं हो सकता नितान्त अशुद्ध है ।

अनेक प्रमाणों और अनेक हेतुओं से ब्रह्म सब ही प्रमाणों का विषय है और प्रत्यक्ष है ।

इस अग्नि महाभूत के सब धर्मों का समाधि द्वारा ोगि अनुसन्धान करें। जैसे तिलों में तेल, और दूध-दही में घी वर्तमान है परन्तु आँखोंसे प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अग्नि के सब धर्मों में वर्तमान है । जैसे दूध दही को मथ

कर घी निकाला जाता है उसी प्रकार चित्त को सब ओर से समाहित करके समाधि द्वारा ब्रह्म का प्रत्यक्ष करें।

चिन्ता का कोई रंग, रूप, आकार नहीं है, परन्तु इसकी चित्त में प्रतीति होती है, इसी प्रकार यदि आप ब्रह्म का रंग, रूप या आकार न मानें तब भी वह अनुभूति का विषय बन सकता है। जैसे चिन्ता चित्त के लिए प्रत्यक्ष का विषय है इसी प्रकार ईश्वर भी चित्त द्वारा प्रत्यक्ष का विषय है।

समष्टि अग्नि महाभूत मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्मविज्ञान

(अग्नि का द्वितीय रूप)

२. अग्नि के स्वरूप में—

अग्नि के स्थूल-रूप प्रकरण में जिन ८ गुणों का उल्लेख किया गया है ये सब गुण सदा अग्नि में वर्तमान रहते हैं। अग्नि गुणी से ये गुण कभी पृथक् नहीं मिलते। अग्नि के यह स्व-स्व-सामान्य धर्म हैं। अग्नि अपने किसी भी रूप में रहे यह धर्म भी उसी रूप मे वहाँ विद्यमान रहेंगे। अग्नि में भी मिलते हैं, और अग्नि के परिणामों में भी। अग्नि का प्रथम धर्म लघु है। लघुत्व धर्म अग्नि में भी है और अग्नि के परिणामों में भी है। न अग्नि में तोल है, न अग्नि के परिणाम गरम लोहे, या उसके परिणाम गरम धोल धुरी आदि की अग्नि में है। अग्नि लघु है, सर्वत्र ही उसका गुण लघुत्व विद्यमान है। अग्नि के अन्य रूप विद्युत्, उसके भेद विभिन्न प्रकार के प्रकाश, उन में किसी में भी तोल नहीं सब हलके हैं। अग्नि का एक अन्य रूप सूर्य है, उसके आतप में, उस सूर्य की आतप से संगृहीत सूर्य आतप वाले यन्त्रों की गरमी में तोल नही है। सब ही लघु हैं। चन्द्र-तारों की चमकती अग्नि में भी यह हलकापन उसी प्रकार वर्त्तमान है। जीरो वाट के प्रकाश में और हजार वाट के प्रकाश के हलकेपन में कोई भेद नहीं, दोनों ही लघु हैं। यह लघुता न जल में है, न पृथिवी में, उनके परिणामों में भी हलकापन नहीं। भार है। उनके अगले परिणामों में भी वही भार है, लघुत्व नहीं।

यह आठों धर्म अग्नि में स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। वे अग्नि से अलग नहीं होते। या अलग रह नहीं सकते हैं। अतः यह अग्नि का धर्मों से अभेद ही इसका स्व-स्वरूप है। इन गुणों से पृथक् अग्नि कोई पदार्थ नहीं। लघु आदि धर्मों का नाम अग्नि है, और अग्नि ही लघु आदि आठ धर्मों को कहते हैं। क्योंकि इन धर्मों का अग्नि के साथ शाश्वत सम्बन्ध है। जब अलग-अलग अस्तित्व नहीं है तो दो कहना बनता नहीं। इसलिए धर्म, धर्मी, गुण, गुणी एक ही हैं, दो नहीं। इसी को स्वरूप कहते हैं।

हम नैयायिकों की तरह द्रव्य और गुण को अलग-अलग नहीं मानते हैं। गुण द्रव्य का स्वरूप ही है। द्रव्य से भिन्न द्रव्यान्तर नहीं। यह स्वरूप से कभी अलग नहीं होते हैं।

ब्रह्म व्यापक है, व्यापक भाव से अलग नहीं होता है। जिस प्रकार अग्नि जल में व्याप्त हो जाती है, जल से सूक्ष्म होने के कारण, इसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण धर्म और धर्मी में व्यापक होकर ठहरा हुआ है। अग्नि में ब्रह्म अनुस्यूत रहता है क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है।

धर्मी अग्नि का किस प्रकार क्रमपूर्वक अपने धर्मों में परिणाम होता है, और परिणाम की दशा में भी वह पृथक् नहीं है। इस अग्नि के परिणामक्रम को योगी अपनी समाधि में दिव्य दृष्टि से देखे। यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। अग्नि में जिन-जिन धर्मों का क्रमपूर्वक परिणाम योगी अनुभव करता है उसी प्रकार उस परिणाम में ब्रह्म का भी साथ-साथ अनुभव करे कि यह ब्रह्म निमित्त कारण के रूप में यहाँ परिणाम को प्राप्त होते हुए धर्म को प्रेरणा दे रहा है, या परिणाम के समय क्रिया करा रहा है। जब धर्मों के परिणाम के अन्त तक बुद्धि पहुँचेगी, तब ही ब्रह्म की चेतन सत्ता का भी वहाँ अनुभव होगा जो कि निमित्त कारण के रूप में वहाँ परिणाम का हेतु बनी है। जैसे स्वर्ण से बने आभूषण से सोना अलग नहीं होता है, केवल उसकी पहली अवस्था का ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणाम होता है। जैसे सोना पहले रुचक बनता है। रुचक का कुण्डल, कुण्डल का कंकण, कंकण का कण्ठा, कण्ठा का हार। यह सब अवस्थाओं के भेद हैं, तथ्य में कोई भेद नहीं, इसी प्रकार अग्नि रूप धर्मी का लघु, ऊर्ध्व गमन, भास्वर, पाचक, पावक आदि धर्मों में परिणाम हुआ है। कोई स्वरूप से विनाश नहीं हुआ है। वह अपने स्वरूप में पूर्ववत् ही वर्त्तमान है। अग्नि धर्मी का लघु, ऊर्ध्वगमन आदि धर्मों से अभेद है। यही तो इसकी स्वरूपावस्था है।

धर्मीरूप अग्नि में 'एक कालावच्छेदेन' तो सब धर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। क्रमपूर्वक होते हैं। इस परिणाम क्रम में साथ-साथ ब्रह्म की चेतन सत्ता का निमित्त कारण रूप से अनुभव होना चाहिए। यही इन चारों का विज्ञान है : १. अग्नि, २. उसके धर्म, ३. अग्नि का उपादान कारण, और ४. अग्नि का निमित्त कारण।

इस धर्म धर्मी के अभेद रूप परिणामों में ब्रह्म का विज्ञान योगी करता है।

समष्टि अग्नि महाभूत मण्डल
तृतीय सूक्ष्म रूपमें ब्रह्म-विज्ञान
(अग्नि का तृतीय रूप)

३ अग्नि के सूक्ष्म रूप में—

अग्नि महाभूत का जिस सूक्ष्म अवस्था से इस स्थूल अवस्था में परिणाम हुआ है, अग्नि की वह पूर्ववर्त्ती सूक्ष्म अवस्था ही अग्नि का सूक्ष्म रूप है। अग्नि स्थूल भूत सजातीय परमाणुओं का संघात है। किन्तु इसमें वायु और आकाश के परमाणु भी वर्त्तमान होते हैं, सहकारी कारण होते हैं। क्योंकि ये इससे सूक्ष्म हैं, और पहले परिणाम को प्राप्त हो चुके हैं। सामान्यतः अन्य कारण भूत तन्मात्रायें अपने कार्य विशेष अग्नि में अनुस्यूत होती हैं। अतः अग्नि-भूत परमाणुओं अथवा समस्त तन्मात्राओं के संघात से ही स्थूलाकार को प्राप्त हुआ द्रव्य बना है। इस कार्य कारण का अयुतसिद्ध समुदाय ही महाभूत अग्नि द्रव्य है। अग्नि में स्पर्श गुण तो वास्तव में वायु से आया है। और ऊर्ध्व गमन रूप क्रिया भी वायु से आयी है, क्योंकि गति या कम्पन रूप धर्म वायु में वर्त्तमान थे, इसी के योग से अग्नि में भी यह धर्म आ गये। सामान्य विशेष के भेद से अनुगत अग्नि समुदाय अयुत-सिद्ध द्रव्य है। इस अवस्था में सूक्ष्म रूप तन्मात्रा का अग्नि महाभूत के रूप में परिणाम हुआ है। वह रूप तन्मात्रा धर्म, लक्षण, अवस्था रूपों में परिणत होकर स्थूल रूप को प्राप्त हुई है।

इस अवसर में जो विशेष क्रिया होकर एक विशेष परिणाम रूपतन्मात्रा में होता है, वह अत्यन्त ही विस्मयकारक होता है। योगिन्! यहां ही आपको अपने संयम का विषय इस परिणाम प्रक्रिया को बनाना है। यहां योगी को संयम की अवस्था में दिव्य दृष्टि से देखने योग्य यही विशेष बात होती है। आप साक्षात् करेंगे कि रस से भी सूक्ष्म रूप तन्मात्रा में कैसे परिणाम होते जा रहे हैं। अन्त में वह कैसे अग्नि महाभूत में परिणत हो गई। ब्रह्म की चेतना किस प्रकार सजातीय और विजातीय द्रव्यों का नियोजन कर एक अयुत-सिद्ध द्रव्य अग्नि का निर्माण कर रही है। किस प्रकार सूक्ष्म तन्मात्रायें संघात को प्राप्त होकर स्थूलाकार अग्नि के रूप में आ रही हैं। इस अवसर पर ब्राह्मी चेतना संघात करने वाली प्रेरिका होती है, क्योंकि ये तन्मात्रायें सब जड़ हैं, और जड़ प्रकृति का ही परिणाम हैं। ये एक अंश में गति रखते हुए भी सर्वांश में नियन्त्रित गति वाली नहीं हो सकतीं। इनको नियन्त्रण में रखने वाली यही ब्राह्मी चेतना की समीप में उपस्थिति ही है।

भगवान् की समीपस्थ सत्ता की महिमा देखिये, विचित्रता का साक्षात् कीजिये—जो रूप तन्मात्रा केवल दिव्य चक्षु का विषय थी, आकाश तत्त्व के मिलते ही लघु हो गई, वायु तन्मात्रा के मिलते ही ऊर्ध्व गमन करने लगी। स्पर्श तन्मात्रा से ओज और बल का भी अग्नि में संचार हुआ। सब के मिल जाने पर प्रध्वंसित्व भी उत्पन्न हो गया।

तीनों तत्त्वों का अयुत-सिद्ध समुदाय अग्नि का सूक्ष्म रूप है। समाधि में यही जानना है कि किस तन्मात्रा के समवाय सम्बन्ध से कौन धर्म उत्पन्न हुआ। किस क्रम से, किस क्षण में हुआ। साथ में चेतन ब्रह्म के विद्यमान होने के कारण रूप तन्मात्रा में होने वाली गति क्रिया परिणाम के साथ साथ ब्रह्म का भी साक्षात् करना चाहिये।

परम्परागत प्रकृति और ब्रह्म के संयोग से गति रूप धर्म अग्नि में आया है। भगवती प्रकृति देवी ब्रह्म से क्रिया लेकर परिणाम भाव को प्राप्त हुई थी, तब से ही यह गति इसके सब कार्यों में चली आ रही है। जो गुण इसमें ब्रह्म के योग से आये थे, उनको अपने कार्यों को प्रदान करती रही है। वास्तव में ब्रह्म का साक्षात्कार तो इसी प्रकार की ब्रह्म-प्रकृति-संयोग जन्य सूक्ष्म अवस्थाओं या परिणामों में होता है। इसी का सूक्ष्म-धिया योगी को अभ्यास करना है।

(शंका) पांचों सूक्ष्म-भूतों के परमाणु जिनको योग-सांख्य की परिभाषा में तन्मात्रा कहते हैं एक दूसरे भूत, या तन्मात्रा की अपेक्षा सूक्ष्म होते हैं या समान ही होते हैं?

(समाधान) सूक्ष्मता की दृष्टि से पांचों समान होते हैं।

(शंका) यदि सूक्ष्मता में सब ही समान हैं तो पृथिवी और जल में क्यों गुरुत्व आया, और अग्नि, वायु में क्यों नहीं आया?

(समाधान) पृथिवी में पांचों तन्मात्राओं का सम्मिश्रण है, इसलिये सबसे अधिक गुरुत्व धर्म है। पृथिवी तत्त्व चारों तत्वों से भारी है। जल में चार का ही समावेश है, पृथिवी का निर्माण उसके पीछे होता है, वह उसमें नहीं है, अतः जल पृथिवी से हलका और अन्य तीन से भारी है। अग्नि के निर्माण काल में न जल बना है, न पृथिवी। अतः अग्नि में भार नहीं। अग्नि की रचना में वायु और आकाश ही कारण बने हैं,

अतः इनकी ही तन्मात्रायें अग्नि में हैं, वे दोनों भी भारहीन हैं, अतः अग्नि में भार नहीं है। पर अग्नि या विद्युत् का माप होता है, यन्त्रों द्वारा मापा जाता है, कितनी बिजली जली, या कितनी तीव्र आंच है। यह माप वास्तव में अग्नि के प्रवाह का है, प्रवाह कितना है, जितना अधिक प्रवाह उतनी ही अधिक आग । या उसके प्रकाश की शक्ति को मापा जाता है। मोमवत्ती के प्रकाश को एक इकाई मान लिया गया है, उससे प्रकाश को मापते हैं, इतनी वत्तियों के प्रकाश के तुल्य यह प्रकाश है। अंग्रेजी में उसे 'केण्डल पावर' का नाम दे दिया गया है। ऐसे ही बिजली के धक्के को घोड़े के धक्के या झटके से माप लिया गया है और उसका नाम हार्स पावर रख दिया गया है। इस प्रकार नाना रुप में अग्नि का माप होता है, पर अग्नि में भार नहीं है। परन्तु अग्नि का वेग, धक्का और वल ही परिणाम भाव को प्राप्त होकर जल, पृथिवी आदि में गुरुत्व या भार का रूप धारण कर लेता है। अग्नि में भी वस्तुतः कुछ-न-कुछ सूक्ष्मातिसूक्ष्म भार अवश्य होता है, परन्तु वह तोल में नहीं आता। इसलिये इसे और वायु को भारहीन कह दिया जाता है। गरम वस्तु और ठण्डी वस्तु के तोल में कोई अन्तर नहीं। अनेक प्रकार से मापी जाती है, दृश्यमान भी है, इत्यादि हेतुओं से अग्नि, वायु और आकाश की उपेक्षा स्थूल है।

वायु का माप वायु के दबाव से मान लिया गया है। वायु के दबाव या चाल को मापा जाता है। कितना दवाव कितना भार उठा सकता है, इसका भी अनुमान कर लिया है, उसी के आधार से ट्यूबों में हवा भरी जाती है। पर तोलने पर हवा में भार बिलकुल नहीं होता। पार्थिव या जलीय कणों के मिल जाने से भार प्रतीत हो तो यह तो हवा का भार नहीं, जल के या पृथिवी के प्रमाणुओं का है।

आकाश सबसे सूक्ष्म है, उसमें भार की बात नहीं उठती। स्थूलता का नाम भारी रख लिया जाये तो और बात है, इतने से अग्नि, वायु में भार नहीं माना जा सकता।

न्याय और वैशेषिककार वायु और आकाश को नित्य मानते हैं । हमारे सिद्धान्त में दोनों ही अनित्य हैं। क्योंकि इनकी उत्पत्ति होती है। वायु में मन्द, तीव्र और तीव्रतम धर्म पैदा होते हैं, अतः अनित्य ही है। आकाश में ऐसे धर्म तो उत्पन्न नहीं होते, परन्तु है अनित्य ही क्योंकि उसमें भी १. सर्वतो गतिः २. अव्यूह ३. अवष्टम्भ ये तीन धर्म उत्पन्न होते हैं। जिस अवस्था में नया धर्म या नया परिणाम उत्पन्न हो वह अवस्था अनित्य होगी। इसकी विशेष व्याख्या आकाश महाभूत के प्रकरण में पढ़ें।

अस्तु ! अग्नि की सजातीय और वायु तथा आकाश की विजातीय सूक्ष्म तन्मात्राओं के सूक्ष्म संघात में चेतन ब्रह्म के कारण क्रिया होकर स्थूल भूत अग्नि बनती है। उसी क्रियाकलाप को समाधि में प्रत्यक्ष करना है। अग्नि तत्त्व का अग्नि तन्मात्रा कारण है अतः कारण में ही अग्नि की सूक्ष्मता परिसमाप्त होती है। इस कारण से कार्य में परिणत होती हुई अवस्था में ब्रह्म की अनुभूति करें।

समष्टि अग्नि महाभूत मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(अग्नि का चतुर्थ रूप)

४. अग्नि के अन्वय रूप में—

अग्नि महाभूत का कारण-प्रकृति के साथ परम्परा- गत सम्बन्ध अग्नि का

अन्वय रूप है। अर्थात् अग्नि की कुल परम्परा, या कारण परम्परा ही तो अग्नि का अन्वय है।

यह बताया जा चुका है कि स्थितिस्वरूपा ज्ञान व क्रिया गुणवती चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से बनती है। अपने स्वरूप और गुणों को लेती हुई अपने सब कार्यों में अनुपतन करती है और अनेक परिणामों को क्रमशः प्राप्त होती जाती है। वे परिणाम ही इसका कार्य हैं। इसी परम्परा से अग्नि भूत भी प्रकृति का ही दूरगामी परिणाम है। इसमें भी प्रकृति अपने स्वरूप के साथ अनुपतित हुई है। मध्यगत परिणामों को भी अभिव्यक्त करती आयी है। यह मूल प्रकृति का अनुपतन ही अग्नि का अन्वय रूप हुआ।

प्रकृति की सत्ता है तो अग्नि और उसके कार्यों की सत्ता है। यही अग्नि महाभूत में प्रकृति कारण का अन्वय हुआ। सोने के गुण भूषणों में, और मिट्टी के गुण उसके पात्रों में आते हैं। कार्य के गुण कारण के अनुरूप ही होते हैं।

मूल प्रकृति सर्वव्यापक सर्वगत चेतन ब्रह्म, और अणुचेतन जीव तीनों सदातन हैं। जीव और ब्रह्म एक रूप रहते हैं। प्रकृति परिणामिनी है। प्रकृति से समष्टि महत्तमः, उससे समष्टितमः-अहंकार, और उससे पाँचों तन्मात्राओं में ही रूप तन्मात्रा भी परिणाम को प्राप्त हुई। निमित्त कारण ब्रह्म के सदा साथ में रहने के कारण प्रकृति का इन सब कार्यों में अनुपतन हो सकता है। इसका ही प्रत्यक्ष दर्शन समाधि में करना है। यही ब्रह्म-दर्शन का उपाय है।

अग्नि में सत्त्व अधिक मात्रा में है। रजः तमः से अधिक मात्रा में है। तमः सबसे कम है। है अवश्य, नहीं तो उसके बिना अग्नि की स्थिति या सत्ता ही न होती। इसी लिये अग्नि प्रकाशमान भी है और अन्यों को भी प्रकाशित करती है गतिमान् है और अन्यों को भी गति देती है। इसकी गति बहुत ही तीव्र है। पृथिवी और जल में घुस जाती है। वायु पर भी सवार हो जाती है। तीनों गुणों के कारण अग्नि के भी सात्विक, राजस, तामस तीन भेद हो गये हैं। इनका अन्वय इस अग्नि में है।

योगी इस परम्परागत परिणाम क्रम को ध्यान की दृष्टि से देखे तो यह परिणामक्रम अन्ततोगत्वा ब्रह्म से ही गतिशील हुआ प्रतीत होगा। ब्रह्म की व्यापकता का इसमें अनुभव करें और इसकी परिणत होती हुई अवस्थाओं में भी।

समष्टि अग्नि महाभूत मण्डल

पञ्चम अर्थवत्ता रूप में ब्रह्म-दर्शन

(अग्नि का पञ्चम रूप)

५. अग्नि के अर्थवत्ता रूप में—

अग्नि ही दृश्यमान जगत् की रचना में सहकारी कारण के रूप में प्रयुक्त हुई है। इसी लिये यह सब कुछ दिखाई देता है, यही सर्व-प्रथम अग्नि की सर्वतो महती अर्थवत्ता है।

यह अग्नि सब प्राणियों के शरीरों में सत्त्वगुण रूप से स्थित हो कर शरीरों के अनेक कार्य और उपकार करती है। राजस रूप से आन्तरिक्ष में लोक लोकान्तरों का आकर्षण एवं गमनागमन करती है। सूर्य के रूप में मेघों का निर्माण और विद्युत् के रूप में पृथिवी पर अवतीर्ण ही कला कौशल के निर्माणार्थ कल कारखानों को चलाकर

मानव एवं अन्य प्राणियों का भी महान् उपकार करती है। तमः रूप में भूमियों में वास कर अगणित पदार्थों का पाक करती है, निर्माण करती है। लकड़ी, कोयला एवं पत्थर में वास कर मनुष्य के असंख्यों कार्यों को सिद्ध करती है।

अग्नि का निवास सब शरीरों और अन्तरिक्ष में भी है। सर्वत्र तीनों गुणों से युक्त होकर जीव मात्र के भोगों का सम्पादन करती है। सृष्टि के आरम्भ में भी सब लोकों का पाकज रूपकार्य इसी से हुआ था, वर्त्तमान में भी हो रहा है, और भविष्य में भी होता रहेगा। दृश्यमान जड़ात्मक पदार्थों और जैवी शरीरों में व्याप्त हो कर उनकी स्थिति और स्थापक का हेतु बनी हुई है। उनका अनेक प्रकार से उपकार भी कर रही है। सर्व-भोग्या है। इसके अभाव में तो जड़ और चेतन सब ही अन्धकार में प्रवेश कर जायें। इसके बिना तो कोई भोग भी उपलब्ध न हो सके। जीवन ही समाप्त हो जायें।

वास्तव में यह भगवती देवी सब मनुष्यों की आराधना के योग्य है। अनेकानेक उपकार कर रही है। सब जीवों के जीवन का विकास कर रही है। सूर्य के रूप में उदय होकर उपासना और पूजा की आराध्य देवी बनी हुई है। सूर्य के उदय होते ही लोग सूर्य को नमस्कार करते हैं। यह सारे भूमण्डल के अन्धकार को दूर करता है। अन्न, वनस्पति, औषधि, फल आदि का पाक करता है। प्राणियों के पक्वाशय में भी भोजन का पाक यही करता है।

यह सूर्य भगवती अग्नि का छोटा सा पुत्र ही तो है। इसी प्रकार के उसके असंख्य सूर्यरूपी पुत्र लोक-लोकान्तरों के कल्याण में लगे हुए हैं।

हमारी भारत भूमि पर कांगड़े में जो अग्नि भूमि से निकल रही है, हिन्दू लोग उसकी पूजा करते हैं। याज्ञिक लोग यज्ञ वेदी में इसको सदा प्रदीप्त रखते हैं और नानाविध हव्य कव्य से इसकी आराधना करते हैं। सद्ग्रहस्थों में नित्य चूल्हे की अग्नि में बलिवैश्व देव यज्ञ किया जाता है। अन्य देशों में भी सूर्य, अग्नि आदि की देवता के रूप में पूजा की जाती है। पारसी लोग भी इसको स्थायी रूप में बनाये रखते हैं और इसी की पूजा करते हैं। जब सायंकाल रजनीमुख के समय दीपक आदि जलाते हैं तो उसे नमस्कार करते हैं। अनेक प्रकार से खण्ड-खण्ड रूप में, या समष्टि रूप में इसकी पूजा की जाती है, परन्तु अब इससे आगे बढ़ने की जरूरत है।

अग्नि में ब्रह्मोपासना और ज्ञान

यह भगवती देवी समष्टि अग्निभूत के रूप में सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर ठहरी हुई है। विश्व के सब मनुष्यों को इस समष्टि अग्नि देवी को ही अपनी भक्ति, पूजा, उपासना, या समाधि का विषय बनाना चाहिये। विश्व-व्यापी इस अग्नि में इस से भी अत्यन्त सूक्ष्म सर्वव्यापक भगवान् का आरोप कर के दोनों का वस्तुतः साक्षात्कार करना चाहिए। यही इस भगवती अग्नि देवी की अर्थवत्ता है। यही अपने नियन्ता पिता का बोध कराती है। उसके समीप ले जाती है। अपनी सक्ष्मता से उसकी सूक्ष्मता का ज्ञान कराती है। व्याप्य व्यापक दोनों का साथ साथ बोध कराती है।

उपनिषदों में सूर्य में भगवान् का आरोप करके भगवान् की उपासना का ढंग बताया है। परन्तु इस समष्टि अग्नि में भगवान् का आरोप करके जो उपासना का ढंग

या तरीका वहाँ बताया है वह उस ढंग से महान्, श्रेष्ठ भक्ति, उपासना एवं ब्रह्म ज्ञान का साधन है। उपनिषद ने अग्नि की उपासना, विज्ञान का एवं इसको ब्रह्म का शरीर मान कर ब्रह्म की उपासना और उसकी विज्ञान-प्राप्ति का बहुत ही उत्तम रूप से वर्णन किया है—

"योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद,
यस्याग्निः शरीरं, योऽग्निमन्तरो यमयति,
एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

बृहदारण्यको० अ० ३। ब्रा० ७। मं० ५।

—जो भगवान् अग्नि में ठहरा हुआ है; अग्नि में सूक्ष्म रूप से व्याप्त है। जिसको यह अग्नि नहीं जानती है। जिसका यह अग्नि शरीर है। जो ब्रह्म अग्नि को अन्दर से गति प्रदान करता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) अमृत-मोक्ष रूप है।"

यहाँ अग्नि को ब्रह्म के शरीर की कल्पना करके उपासना और ज्ञान का ढंग बताया है। कैसा सुन्दर ज्ञान और उपासना का यह साधन वर्णन किया गया है।

इस समष्टि अग्नि की उपासना सब सम्प्रदायों के लोग कर सकते हैं। यह उपासना की विधि बिलकुल निर्विवाद है और बहुत ही शीघ्र श्रेयः की ओर ले जाने वाली है। यह समष्टि अग्नि की उपासना सब प्रकार के भेदभावों को खतम कर देती है। इस प्रकार तो चाहे किसी भी धर्म को मानने वाले हों, सब मनुष्यों का एक ही धर्म, एक ही कर्म, एक ही उपासना और एक ही पूजा हो जाती है। इस प्रकार सब का उपास्य देव भी एक ही हो जाता है, सब मनुष्यों में प्रेम हो जाता है। सब ही एक प्रेम के सूत्र में बन्ध जाते हैं।

यह उपासना साकारवादी और निराकारवादी दोनों के लिये ही कल्याणकारिणी है। यदि तुमने भगवान् की कोई मूर्ति ही माननी है तो इस विश्व व्यापिनी समष्टि अग्नि देवी को ही उसकी मूर्ति मान लो। यदि तुम्हें उस भगवान् की मूर्ति बनाना इष्ट नहीं है तो न सही, यहाँ समष्टि अग्नि में उस भगवान् के व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध को देखो, अनुभव करो और आगे बढ़ो।

इस विश्व-व्यापी समष्टि अग्नि की यह उपासना अथवा विज्ञान तुम्हें प्रकाश की ओर ले जायगा। क्योंकि यह स्वयं प्रकाश-स्वरूपा है। अन्धकार को दूर करने वाली है। अतः तुम्हारे हृदय के अन्धकार को भी दूर कर देगी। इसके आलोक में तुम्हें भगवान् का आलोक मिलेगा और भगवान् के दर्शन में जो रुकावट रही है, जो अन्धकार का परदा बीच में पड़ा रहा है, यह उसको भी दूर कर देगी। इसके सामने किसी भी प्रकार का परदा नहीं ठहरेगा। यह स्वयं प्रकाश-स्वरूपा है और भगवान् भी प्रकाश स्वरूप हैं। इन दोनों प्रकाशों के दर्शनों से या विज्ञान से बाहर के—समष्टि जगत् के और अन्दर के अर्थात् मनुष्यों के हृदय के अन्धकार दूर हो जायेंगे।

ब्रह्म का उपमान

जगत् में जितने भी रूप स्थूल शरीर की अथवा सूक्ष्म शरीर से आँखों से देखने में आ रहे हैं यह सब स्थूल और सूक्ष्म अग्नि के ही रूप हैं। उपनिषदों में अग्नि को सात रूपों वाली कहा है :—

'काली कराली मनोजवा च, सुलोहिता याच सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी च विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वा ।।

मुण्डको० खं० २ । म० ४ ।

—अग्नि की सात लपलपाती जिह्वायें हैं—१. काली २. कराली ३. मनोजवा ४. सुलोहिता ५. सुधूम्रवर्णा ६. स्फुलिङ्गिनी ७. विश्वरुची ।'

यदि भगवान् को किसी रूप में ही देखना है तो वह इस समष्टि अग्नि के रूप में ही विशेष ज्योतियों की ज्योति के रूप में दीखेगा क्योंकि उपनिषदों में भी भगवान् को अग्नि कहा गया है ।

वेदों में तो सूक्तों के सूक्त भगवान् को अग्नि नाम से सम्बोधित करते हैं । विशेष प्रचारित मन्त्र ही है—

अग्ने ! नय सुपथा राये ऽस्मान् । यजुर्वेद०

—हे अग्ने ! प्रकाश-स्वरूप भगवान् । हमें श्रेष्ठ मार्ग पर ले चल ।

भगवान् का तुम्हें कोई न कोई रूप मानना ही पड़ेगा । तब ही वह दर्शन का विषय बन पड़ेगा । एक ही रूप की तुलना भगवान् के रूप के साथ हो सकती है अन्यथा इसके रूप का अन्य उपमान जगत् में है नहीं । उसकी उपमा है हमारा तुम्हारा जीवात्मा क्योंकि चेतनता के नाते ब्रह्म और जीव दोनों ही समान हैं । अतः जीव के रूप के साथ भगवान् के रूप की तुलना हो सकती है । जीवात्मा एक-देशी है, अन्तः अन्तः-करण देश में यह बहुत शीघ्र दर्शन का विषय बन सकता है । जब एक बार अपने स्वरूप का दर्शन हो जायेगा, फिर जिस पदार्थ में भी आप भगवान् को देखना चाहोगे, वहीं वह नजर आयेगा । उसको तब पहचानने में कठिनाई भी नहीं होगी ।

कसौटी के रूप में जीवात्मा का स्वरूप तुम्हारे सामने है प्रत्येक पदार्थ में इस जीवात्मा की कसौटी पर भगवान् सही उतरेगा । यदि जीवात्मा का स्वरूप नहीं देखा तब तो भगवान् के दर्शन में भ्रान्ति भी हो सकती है, क्योंकि जिस अग्नि में आप भगवान् को देखना चाहते हैं उस अग्नि में तो वायु और आकाश भी तो हैं, ये दोनों ही अग्नि से सूक्ष्म हैं, और अग्नि में व्याप्त रहते हैं । संभव है अग्नि में तुम वायु या आकाश के स्वरूप को ही ब्रह्म समझ जाओ तुम्हें वायु और आकाश ही ब्रह्म प्रतीत होने लगें । उनको हो आप ईश्वर समझ बैठें, क्योंकि अभी तक आपने ईश्वर के रूप वाला कोई पदार्थ देखा नहीं है जिससे कि आप ईश्वर को पहिचान सको । इसीलिये अग्नि या आकाश के रूप में ब्रह्म की भ्रान्ति हो सकती है । इसलिए आपका भगवान् के उपमान जीवात्मा को पहले देख लेना आवश्यक है ।

आपने गाय देखी है । जब आप बन में पहुंचते हैं तो गाय (नील गाय—जंगली गाय) आपके सामने आ जाती है । आपने पहले कभी नील गाय देखी नहीं । किसी ने बताया भी नहीं, वहाँ वन में भी कोई बताने वाला नहीं । आपने पहले नील गाय का नाम सुना है, यह भी सुना है कि वह गाय जैसी होती है, तो जब आप उस गाय को देखते हैं, तो गाय के समान उसके अंगों को देखकर अनुमान कर लेते हैं कि हो न हो यही नील गाय है ।

इसी प्रकार आपने जीवात्मा को देखा हुआ है । जब अग्नि में वायु, आकाश और ब्रह्म के रूपों के देखते हैं तो जीवात्मा को समान चेतन को भी पहिचान लेते

हैं अन्यत्र किसी में ब्रह्म का धोखा नहीं खाते। बिना गाय के देखे, जैसे नील गाय नहीं पहचानी जा सकती, इसी प्रकार बिना जीवात्मा को देखे ब्रह्म नहीं पहिचाना जा सकता। ईश्वर का दर्शन करके भी भ्रान्ति ही बनी रह सकती है। अतः ब्रह्म की पहचान के लिये पहिले स्वस्वरूप का दर्शन अवश्य होना चाहिये। अन्यथा ब्रह्म-ज्ञान असंभव ही है। इसी लिये हमने पहिले अपने 'आत्म विज्ञान' ग्रन्थ में जीवात्मा के स्वरूप और उसकी प्राप्ति की योग साधना बतायी है। जो अपने स्वरूप के दर्शन न करके, ब्रह्म-विज्ञान के पथ पर चल कर ब्रह्म का दर्शन करना चाहते हैं, वे बीच में ही लड़खड़ा कर पथभ्रष्ट हो जायेंगे।

वर्त्तमान में भक्त लोग प्रायः ईश्वर के नाम की माला जीवन भर फेरते रहते हैं। जीवन भर के लिये यह उपाय ठीक नहीं है। यह तो ईश्वर के पथ पर चलने के लिये पहला ही कदम है अथवा विज्ञान की दृष्टि से पहली ही क्लास है। क्या जीवन भर पहली श्रेणी में ही पढ़ते रहना है। आटे को बार-बार चक्की में डालो तो आटा ही तो निकलेगा। यह तो मन को रोकने का एक छोटा सा प्रथम उपाय है। यदि मन को रोकने के इस उपाय से सफलता नहीं हो रही है तो और भी तो अनेक मन को रोकने के उपाय हैं। उनको अपनाना चाहिये केवल नाम मात्र के जाप से ईश्वर का मिलना या ज्ञान होना कठिन ही है। ईश्वर तो विज्ञान का विषय है, विज्ञान का क्रम जाप नहीं है, किन्तु बुद्धि द्वारा अनुसन्धान है। जीवन भर माला फेरते हैं या भगवान् के नाम की रटना करते रहते हैं, तो न तो भगवान् ही मिलता है, न भगवान् का विज्ञान ही होता है। अतः सर्वदा के लिये नाम मात्र का जो जीवन भर जाप किया है, यही उपाय ठीक साबित नहीं हुआ है। आगे बढ़ना ही चाहिये। दूसरा उपाय अपनाना ही चाहिये।

उपाय है मनन का और ध्यान का। यह नाम जाप से अच्छा उपाय है और अगली श्रेणी का है। इसमें मन भी समाहित हो जाता है और बुद्धि द्वारा ईश्वर के विषय में चिन्तन का भी अवसर मिलता है।

इससे अगला उपाय है समाधि के द्वारा ईश्वर को देखना, पहचानना, दर्शन करना। उसकी पहचान तब ही हो सकती है जबकि उसके समान अपना रूप देख लिया हो जिसके द्वारा आप उसकी तुलना कर सकें। इस ब्रह्माण्ड में समष्टि अग्नि के रूप में तब ही उस ब्रह्म का विज्ञान या साक्षात्कार होगा जबकि आपने जीवात्मा के स्वरूप को देख लिया है और यहाँ उसके समान तुलना कर सको। अन्यथा केवल अग्नि का ही विज्ञान होकर रह जायेगा। इसके प्रेरक और जगत् के कर्ता का विज्ञान नहीं हो सकेगा, यदि हो भी जाय तो संभव है कि भ्रान्तियुक्त ही हो।

इति समष्टि-अग्नि-महाभूत-मण्डलम्

इति प्रथमाध्याये चतुर्थः खण्डः

इत्येकत्रिंशदावरणम्

पञ्चम खण्ड

३०वाँ आवरण

समष्टि वायु महाभूत मण्डल

पाँचों रूपों में ब्रह्मदर्शन

योगिन् ! चतुर्थ खण्ड में वर्णित विधि के अनुसार आपने समष्टि महाभूत अग्नि के पाँचों रूपों का समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है। अग्नि की परिणाम-भाव को प्राप्त होती प्रत्येक स्थिति में ईश्वर के सन्निधान और निमित्त कारणता का भी प्रत्यक्ष कर लिया है। अब आपकी यह सामर्थ्य हो गयी है कि आप अग्नि और अग्नि के प्रत्येक परिणाम में निमित्त-भूत भगवान् के सन्निधान को पा सकें। अग्नि का सर्वत्र व्याप्त आलोक, भूलोक, मध्यम लोक और सूर्यलोक की सब ही अग्नि भूत-भावन भगवान् की सत्ता को सर्वत्र दिखाने लगे हैं। पृथिवी, जल और अग्नि के रूपवान् पदार्थों-परिणामों को देख कर रूपवानों में तो भगवान् की सत्ता की निमित्तता हृदय में स्थान करने लगी है। अभी इस सम्प्रज्ञात समाधि को अधिक सूक्ष्म भूत वायु के अवलम्बन वाला बनाइये जिस से आप अरूप वायु को और उसके सूक्ष्म परिणामों का साक्षात्कार कर सकें। वायु पृथिवी, जल और अग्नि तीनों भूतों से सूक्ष्म है, अतः सूक्ष्मतर वायु को समाधि का विषय बनाने से सूक्ष्मता का अभ्यास बढ़ेगा और तभी आप सूक्ष्मतम ब्रह्म को समाधि में देखने के लिए एक पग और आगे बढ़ सकेंगे। ध्यान के विषय को उत्तरोत्तर सूक्ष्म कीजिए जिससे आप शनैः शनैः सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म के दर्शन के अधिकारी बन सकें।

अभिनव योगिन् ! अब आपने धारणा-ध्यान समाधि तीनों की सूक्ष्म अवस्था संयम का विषय वायु महाभूत को बनाना है। इसके बिना तो केवल कुछ क्षण ही जीवित रहा जा सकता है। इस वायु के भी अन्य भूतों की भाँति पाँच रूप हैं—१. स्थूल रूप, २. स्वरूप, ३. सूक्ष्म रूप, ४. अन्वय रूप, ५. अर्थवत्ता रूप।

पिछले तीनों महाभूतों के व्याख्यान में इन पाँचों रूपों का स्वरूप समझ लिया है। अब वायु महाभूत का समाधि में पूर्णरूपेण विश्लेषण कीजिए। और साथ-ही-साथ परब्रह्म की निमित्तता को भी समझिये जिससे अरूप में भी अरूप भगवान् की प्रत्यक्ष निमित्त-कारणता समझ में आ जाये जिसके पश्चात् सूक्ष्म आकाश को और उसमें भी ब्रह्म को प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाये।

समष्टि वायु-महाभूत मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(वायु महाभूत का प्रथम रूप)

१. वायु के स्थूल-रूप में—

सृष्टि रचना में वायु महाभूत दूसरे नम्बर पर होने वाला परिणाम है, इससे पहले केवल आकाश महाभूत का ही तो परिणाम अभी तक हो पाया है। यह शब्द तन्मात्रा

का ही विपरिणाम हुआ था। अब स्पर्शतन्मात्रा परिणाम भाव को प्राप्त होने चली है। सूक्ष्मतम स्पर्श तन्मात्रा ही वायु महाभूत में परिणत हो जाती है। आकाश स्व सत्ता में आ चुका है, इसे अवकाश प्रदान कर वायु महाभूत के निर्माण में सहकारी होता है।

आरम्भ में आप वायु के स्पर्श रूप में अनुभूयमान इस स्थूल अवस्था पर संयम कीजिए। इस वायु महाभूत की अपेक्षा अग्नि, जल और पृथिवी का रूप स्थूल था। वे सब दृश्यमान होने से आँख का विषय थे। जल और पृथिवी रसना का विषय भी थे और पृथिवी नासिका का भी विषय थी। वायु तो केवल स्पर्श का विषय है। न देखी जा सकती है, न सूँघी और न चखी जा सकती है। केवल स्पर्श की जा सकती है। स्पर्श का अनुभव प्रायः हाथ की अँगुलियों से किया जाता है। जहाँ हाथ नहीं पहुँचता वहाँ थर्मामीटर आदि से भी स्पर्श का परिमाण किया जाता है। पर यह ध्यान रखिये कि वायु का अनुभव केवल स्पर्श से होता है और कोई साधन इसके प्रत्यक्ष का नहीं है, पर इस ज्ञान के लिए एक बड़ी भारी सुविधा है कि यह समस्त शरीरव्यापी है। शरीर के प्रत्येक भाग में स्पर्श का अनुभव होता है कहीं कम और कहीं अधिक। इस का कारण है शरीर में सर्वत्र वायु का विभिन्न दस रूपों में सञ्चार। जिनका विषद वर्णन आप 'आत्म-विज्ञान' में पढ़ सकते हैं। यह स्पर्श गुण ही भगवान् की समीपता रूप निमित्त कारण से किस प्रकार परिणाम को प्राप्त होता है। यह योगी को यहाँ प्रत्यक्ष करना होता है—

१. **कम्पन**—स्पर्श की सर्वप्रथम परिणति कम्पन के रूप में होती है। स्पर्श गुण जब तक किसी के साथ सम्पर्क में न आये चरितार्थ नहीं होता। आकाश के साथ सम्पर्क हुआ तो वायु में कम्प उत्पन्न हो गया। स्पर्श तन्मात्रा में कम्प नहीं था। आकाश के संयोग से स्पर्श का परिणाम कम्प में हो गया। प्रति क्षण यह धर्म वायु में बना रहता है। वाति इति वायुः। जो गति करे, कम्प करे वह वायु। वा धातु का अर्थ ही गति है। यह कम्प वायु में तो सदा रहता ही है पर जो इसके सम्पर्क में आता है उसमें भी कम्प उत्पन्न हो जाता है। रूप तन्मात्रा के साथ सम्पर्क हुआ तो अग्नि, जल, पृथिवी भी कम्प-युक्त हो गये और सब में गति करने का सामर्थ्य आ गया। इसीलिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थ प्रतिक्षण गति करते हैं। यह वायु, पृथिवी, जल और अग्नि और इनसे बने सब पदार्थों के अन्दर और बाहर रह कर अपनी सूक्ष्मता के कारण सब में ओतप्रोत हुआ हुआ सब को गति प्रदान कर रहा है। सब को कम्पा रहा है।

वायु से कम्पित जल पवित्र हो जाता है। वायु से कम्पायमान अग्नि उग्र रूप धारण कर लेती है। उस उग्रता से सोने आदि के मल को भस्म करने में समर्थ होती है। इसी वायु के नोदन से अग्नि को उग्र करने के लिये स्वर्णकारों के उपयोग के लिये जल भरी ताम्बे या पीतल की बतख बनाई गयी है जो पानी को वायु में परिणाम कर अग्नि को वेग से फूँकती रहती है। इसी वायु के द्वारा नोदन या कम्पन को प्राप्त करने के लिये लुहार की धौंकनी और घरवाली के लिये फूँकनी बनाई गयी है। यह वायु के नोदन का ही फल है कि फूँक भरी फुटबाल पैर की ठोकर लगते ही आकाश में पहुँचती है और वालीबाल हाथ के थपेड़े खा कर ऊँचे जाल को लाँघ जाती है। रबर की गेंद भी इसी नोदन के फलस्वरूप भूमि पर टकरा कर आकाश में

उछलती है। बैडमिण्टन, टैनिस, बिलियर्ड, पोलो आदि सब खेल इसी नोदन का ही तो परिणाम हैं।

यह वायु का नोदन ही तो है जो पिचकारी से रंग फैंक कर होली का रंग जमाता है। यह नोदन गुण ही डाक्टर की विषाभरण-सूचिका में औषधि को भर कर रोगी के शरीर में पहुँच कर मृत्युञ्जय रूप धारण कर लेता है। इस नोदन की ही तो लीला है जो रंगों को स्प्रे कर मोटरों, साइकिलों, ट्रंकों, रेडियो की केबिनों, तिजोरियों, बक्सों, सब ही प्रकार के केसों को अनुपम चित्तहारी रूप प्रदान करता है। यह वायु का नोदन ही तो है जो पिचकारियों द्वारा भवनों में डी० डी० टी० को छिड़क कर मक्खी, मच्छर, दंश, बिच्छू, कृमि, कीट, पतंग आदि का नाश कर मानव को मौज की नीन्द सुलाता है। यह वायु का नोदन ही तो है जो एञ्जिन के द्वारा लखों-करोड़ों यात्रियों, एवं करोड़ों मन सामान को आवश्यकतानुसार यथास्थान पहुँचा देता है।

यह वायु का नोदन ही नाना प्रकार के प्राणायामों का कारण बनता है, जिससे विभूति-पाद-प्रदर्शित सिद्धियाँ योगी को प्राप्त होती हैं। वह पानी पर बैठ कर आसन जमा भगवान् के ध्यान में तल्लीन हो सकता है। भूमि से ऊपर उठ कर आकाश में आसन जमा समाधि लगा सकता है। इस वायु के नोदन से ही आकाश में आ-जा सकता है, और सूर्य की किरणों पर चढ़ सकता है।

यह वायु का नोदन पृथिवी, जल, अग्नि को बहा सकता है। धकेल सकता है। पैट्रोल की टंकियों और कुओं से पैट्रोल को यही वायु का नोदन बाहर निकालता है। यह वायु का नोदन ही है जो जल को समतल बनाये रखता है, और नल से घर-घर में जल पहुँचा कर नगरवासियों को सुखी बना रहा है। ट्यूबवैलों से पानी निकाल खेतों को सींचने का काम भी यही वायु का नोदन सम्पन्न करता है।

इस नोदन से मानव ने बड़े लाभ उठाये हैं। जिस सर्वव्यापक भगवान् की सत्ता से चेतन से बने वायु ने यह नोदन स्वीकार किया है। उसका अभ्यासी ने अपने अभ्यास में अनुभव करना है।

२. तिर्यग् गमन—वायु में सर्वप्रथम आकाश के सम्पर्क से नोदन, कम्पन, या गति रूप परिणाम हुआ। यह कम्पन तो केवल स्थानान्तरित होना मात्र था। गति किधर को हो, ऊपर को, नीचे को, दायें, बायें, उत्तर, दक्षिण को ? बिना सर्वत्र विद्यमान चेतन भगवान् के सम्पर्क के प्रकृति में चेतना सी नहीं आ सकती, वह निश्चय नहीं कर सकती किधर को गमन करे। भगवान् की समीपता से इस नोदन या गति का परिणाम तिर्यग् गमन में हो गया। अब वायु टेढ़ा-टेढ़ा चलने लगा या बहने लगा। यही तिर्यग्गमन है।

वायु की गति बिलकुल टेढ़ी होती है। जैसे सर्प टेढ़ा चलता है, जैसे 'शतरञ्ज' में 'फरजी टेढ़ो टेढ़ो जाये'। इसका टेढा चलना ही वायु की गति में बल का आधान करता है। वायु सदा लहरें उठाती हुई और तरङ्गें मारती हुई चलती है। शान्त समुद्र में भी वायु के तिर्यग्गमन से लहरें उठा करती हैं। इसी कारण समुद्र सदा क्रियाशील और कम्पायमान रहता है।

ये सब लोक-लोकान्तर जो आकाश में दीख रहे हैं, सब वायु के तिर्यग्गमन से गति कर रहे हैं। एक सैकण्ड भी तो नहीं ठहरते हैं। वायु के गतिशील स्वभाव से, वायु में ही सदा रहने से ये लोक-लोकान्तर भी गति-शील बन गये हैं। जैसे पानी के बहाव में भंवर में पड़ी लकड़ी भी जल के समान ही हिलोरें खाती ऊपर-नीचे होती और चक्कर खाती पानी के अनुरूप ही चलती है। इसीलिये अन्य पदार्थ भी जो वायु के आश्रित होते हैं गतिशील हो जाते हैं। जैसे फुटबाल आदि में हवा भर देने पर और उसको रोक देने पर वायु का तिर्यग्गमन नहीं रुकता है। तनिक से आघात से वायु का तिर्यग् गमन प्रखर हो उठता है। ठोकर लगते ही फुटबाल भी हवा हो जाती है। ऊँची उठ कर टेढ़ी-टेढ़ी ही जाती है। वायु के तिर्यग् गमन से पत्ते भी सदा वायु के गमन के अनुसार हिलते रहते हैं। वायु की गति जब मन्द हो जाती है, पत्तों की गति भी मन्द हो जाती है, कभी-कभी तो इतनीमन्द हो जाती है कि जान भी नहीं पड़ती, और पत्ते भी अचल से लगते हैं। जब वायु तीव्र चलता है, तो पत्ते तो क्या वृक्ष भी हिल जाते हैं।

तूफान आने पर वायु के वेग के साथ-साथ समुद्र का जल भी मीलों उछल जाता है। बड़े-बड़े वायु के तीखे थपेड़ों से नदी-तालाबों का जल भी लहरों का रूप धारण कर लेता है। जब वायु आँधी के रूप में गमन करता है, तो महा भयंकर इसका तिरछा गमन होता है, जो बड़े-बड़े वृक्षों को, मकानों को, छतों को उखाड़ कर फेंक देता है, रेगिस्तान में रेत को एक स्थान से उड़ा कर दूसरे स्थान पर ले जाता है।

शरीर की नाड़ी में भी वायु का वेग कुपित होने पर वह सर्पाकार चलती है। जब वायु शरीर में विकृत हो जाती है और मात्रा से अधिक बढ़ जाती है तो रोगी वायु के वेग से इतना तेज भाग-दौड़ करता है, कि स्वस्थ स्थिति में भी नहीं दौड़ पाता है। इस वायु के बिगड़ जाने पर, नियम में न रहने पर हाथ-पैर में कम्प तो बुढ़ापे में बहुधा हो ही जाता है। वायु की तिर्यग् गति के कारण किन्हीं वातरोग-ग्रस्त रोगियों के होंठ सदा हिलते रहते हैं, कितनों की गरदन के साथ जीभ भी हिलने लगती है। वात के प्रचण्ड होने पर रोग भी प्रचण्ड हो जाता है, मन्द होने पर मन्द, और मध्यम होने पर मध्यम। लौंग या लौंग का पानी देने पर शरीर का वायु एक दम शान्त होते देखा गया है, साथ ही रोग भी एकदम उस समय शान्त हो जाता है। वातरोग ८० प्रकार के होते हैं।

भूमि की गति में वायु का तिर्यग् गमन भी एक कारण है। जल भी वायु के प्रभाव से गमनशील है। जल का निम्न-गतित्व भी जल में गति उत्पन्न कर देता है, पर समतल में वायु का वेग ही जल की गति का निमित्त कारण होता है। मेघों को आकाश में इधर-उधर वायु का तिर्यग् गमन ही ले जाता है। यह वायु का तिर्यग् गमन ही मेघ से मेघ को टकरा विद्युत् उत्पन्न कर देता है।

वायु का तिर्यग् गमन स्वभाव है। इसी से हाथ के कपड़े के या विजली के पंखे से वायु को चला कर गर्मी को हलका कर लेते हैं। विजली के पंखे से तो वायु पूरे तीव्र वेग से चल निकलती है। वायु के इस तिर्यग् गमन से समुद्रों में बादबानों के सहारे जहाज चलते रहे हैं। वायु के तिर्यग् गमन से ही पवन-क्रिया द्वारा जल ऊपर खेंचा जाता है और पवन-चक्कियों द्वारा आटा पीसा जाता है। इस वायु के तिर्यग् गमन के

सहारे ही हवाई छतरी द्वारा भूमि पर उतरा जाता है। इस तिर्यग् गमन से पतंगें उड़ाई जाती हैं और दूर-दूर तक आकाश में उड़ाई जाती हैं। इसी तिर्यग् गमन से राष्ट्रों के झण्डे राष्ट्रपतियों के भवनों और राजभवनों, राजकीय भवनों और कारों पर लहराते हैं। गुब्बारे और बैलून भी तिर्यग् गति के सहारे आकाश में उड़ाये जाते हैं।

३. **चञ्चलता**—कम्पन और तिर्यक् गमन के कारण वायु में चञ्चलता स्वाभाविक रूप से परिणाम भाव को प्राप्त हो आजाती है और प्रति क्षण वायु में चञ्चलता बनी रहती है। एक क्षण भी तो शान्त भाव से नहीं बैठती है। अहर्निश प्रति क्षण इसमें गति या चञ्चलता बनी ही रहती है। इसीलिये इसका नाम सदा-गति भी है। स्वयं ही चञ्चल नहीं रहती दूसरों को भी चञ्चल बना देती है। वृक्षों के पत्तों से हवा छू गई तो उन्हें ही चञ्चल बना दिया। औषधियों, वनस्पतियों से सम्पर्क हुआ तो उन्हें ही हिला दिया। धान, सरसों, गेहूँ आदि के खेतों से मेल हुआ तो उन्हें ही लहलहा दिया। राष्ट्रों और जातियों के ध्वज से सम्बन्ध हुआ तो उन्हें ही फहरा दिया।

शरीर में फेफड़े के द्वारा रक्त का प्राणों के साथ सम्बन्ध हुआ तो ३ सैकण्ड में ही वह सारे शरीर में घूम गया और हृदय की ७२ लाख नाड़ियों में उसका सञ्चार हो गया। समुद्र में हवा का सम्पर्क जलराशि के साथ हुआ तो उसे ही तरङ्गित कर दिया। किसी भी क्षण तो वायु के चञ्चल थपेड़ों के मारे उत्पन्न लहरों की चञ्चलता नहीं रुकती। इसी के संस्पर्श से झीलों तथा तालावों में जल सदा हिलोरें लेता रहता है। बालकों के शरीर बहुत चञ्चल होते हैं क्योंकि उनके शरीरों में वायु की प्रधानता होती है, और उन्हें चञ्चल वस्तुएँ ही प्यारी लगती हैं। कागज़ की फिरकनी बना कर वे हवा के सम्मुख बड़ी उत्सुकता से दौड़ लगाते हैं, जब वायु के संस्पर्श से चञ्चलता के कारण फिरकनी घूमने लगती है, अत्यन्त चञ्चल हो जाती है तो चञ्चल बालक का चञ्चल मन मस्त हो जाता है। जिन अन्यों के शरीर वातप्रधान होते हैं; उनमें भी चञ्चलता होती है। कम्पवात में हाथ, पैर, होंठ काँपने लगते हैं। भूमि, जल, अग्नि वायु के कारण ही चंचलता आती है। लाखों मन के जमे पड़े रेगिस्तान के टीले वायु के वेग से उड़ कर एक साथ उठ कर दूसरे स्थान पर बिखर जाते हैं या फिर जम जाते हैं। कभी तो इन चञ्चल टीलों के नीचे गाँव तक भी दब जाते हैं। वायु और रेत की यह खिलवाड़ अरब या मिस्र के सहराओं में खूब देखने को मिलती है। आँधी और तूफान के झोकों से वर्षा का जल, ओले और बर्फ दूर तक मार करते हैं। आँधी से चञ्चल बने सिर के बाल और कपड़े यात्री के होश भुला देते हैं। यदि दुर्भाग्यवश कभी आग लग जाए और उस समय आँधी या हवा भी चल निकले तो नगर के नगर तबाह हो जाते हैं, जंगल के जंगल क्षण भर में भस्मसात् हो जाते हैं। यह भयंकर करतूत होती है वायु की चंचलता की। जिसको इसीलिये अग्नि-सखा भी कहा जाता है। वायु की चंचलता पतंग और गुब्बारे को कैसे नचाती हुई ले जाती है।

४. **रूक्षता** – चंचलता बार-बार गति, या हरकत करने को ही कहते हैं। वायु की चंचलता से या पुनः गति करने से वायु की अधिकता हो जाती है और जल खिसक जाता है, बस रूक्षता प्रतीत होने लगती है। इसलिये वायु स्वभावतः शुष्क है, रूखी है। इसमें तैल का सा या जल का सा चिकनापन नहीं है। वायु में रूखापन इतना अधिक है

कि खाद्य, लेह्य, चोष्य प्रत्येक पदार्थ को सुखा कर शुष्क बना देती है। गर्मी हो या शीत जब तीव्र वायु चलती है तो शरीर को रूक्ष बना देती है, यहाँ तक कि त्वचा को भी फाड़ देती है। अत्यन्त गरम या अत्यन्त ठण्डी हवा तो एड़ी की मोटी खाल तक को रूखा कर फाड़ देती है। उसमें गहरी-गहरी खाइयाँ सी बना देती है। वायु में रङ्गरेज़ और धोबी गीले कपड़ों को फहरा कर सामान्यतः चलती वायु की अपेक्षा गति अधिक कर वायु की तीव्रता बढ़ा, वायु की शुष्कता से कपड़ों को शीघ्र सुखा लेते हैं। शुष्क या रूखी हवा कपड़ों के पानी को पी जाती है।

हवा की रूक्षता के कारण खेतों की गीली मिट्टी भी सूख जाती है। जोती हुई भूमि की नमी भी हवा की शुष्कता के कारण नष्ट हो जाती है। तालाबों, स्रोतों, नदियों, जलाशयों और हरी-भरी खेती का शोषण यह वायु की शुष्कता ही करती है। नहीं तो वर्षाकालीन इनमें एकत्रित जल सूखता ही नहीं और खेती नहीं पक पाती। सूर्य का ताप भी शोषण का कार्य करता है, पर वायु से कम। इसीलिये आत्मा की अमरता दर्शाते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है **'न शोषयति मारुतः'**—हवा अन्य सब पदार्थों को सुखाती है पर आत्मा को नहीं सुखा सकती। अग्नि का काम जलाना मुख्य है। जलाने से पहले शुष्कता ले आती है, यह बात और है। हाँ, वायु और अग्नि दोनों ही मिल जायें—धूप भी हो और वायु भी चल रही हो तो शुष्कता बहुत शीघ्र आती है।

शिशिर में तीखी हवा ही तो पत्तों को रूक्षता के कारण उनकी हरियाली को समाप्त कर सुखा देती है, और वृक्ष के सब पत्तों को गिराकर, ठूँठ बना देती है। उस समय तो सूर्य का आतप भी तीव्र नहीं होता। इस पतझड़ के पीछे ही वनश्री नव-परिधान धारण करती है। सद्यः बने मकानों में चूने, गारा, सीमेन्ट के गीलेपन को वायु की शुष्कता ही समाप्त कर भवनों को दृढ़तर बनाती है। अन्यथा उनके गिराने के लिये मामूली सा धक्का ही उन्हें दिनरात भयप्रद बनाये रखता। अब तो इस वायु की रूक्षता के परिणामस्वरूप मकान शताब्दियों तक टिके रहते हैं। वायु से उत्पादित रुखापन ही तो सूखी लकड़ी को लचकने नहीं देता, और भवनों के निर्माण में उन का बड़ा भारी उपयोग होता है। यह वायु की रूक्षता ही है जो खेत में पके अनाज को सुखा कर चिरस्थायी उपयोग योग्य बनाती है। हाँ, जब कभी शुष्क वायु असमय चल पड़ती है तो अधपके अनाज को ही सुखा कर जनता के अथवा राजा के दुष्कर्म का प्रतिफल प्रदान करती है। प्रकृति के ये सब गुण नियामत भी हैं, और शियामत भी हैं। वर्षा काल में जब पानी और कीचड़ के कारण यातायात ठप्प हो जाता है, सेनायें शिविरों में, और संन्यासी तक भी चातुर्मास बिताने के लिये प्रतिषिद्ध ग्रामों में बन्दी तक हो जाते हैं। उन कारागारों से यह वायु की रूक्षता ही मार्गों को सुखाकर मुक्ति प्रदान करती है। भस्त्रा आदि प्राणायामों से यह वायु शरीर के वात,कफ के दोषों को हर लेती है जिससे योगी लोग रोग मुक्त हो खूब घी-दूध पचाने में समर्थ हो जाते हैं। कैसी कल्याणकारिणी है यह वायु की रूक्षता !

५. पवित्रता—यह उपकारी रूक्षता ही भगवान् की समीपता के कारण पवित्रता में पलट जाती है। विजातीयता के साथ विवश हो मेल रखना पड़े तो अपवित्रता उत्पन्न हो जाती है। वायु अग्नि को बुझाती है, जल को सुखाती है और पृथिवी को उड़ाती

है। किसी का इसमें मेल नहीं, इसीलिये पवित्र है। आकाश तो अवकाश प्रदान करता है, उसके मेल से अपवित्रता नहीं आती। उसके कारण ही तो स्पर्शतन्मात्रा रूप में परिणत हुई है। उसका विघात नहीं कर सकती। वह आकाश भी तो इसकी पवित्रता का निमित्त है। इसलिये वायु स्वयं पवित्र है तथा अन्यों को पवित्र करती रहती है। वायु कितनी ही पुरानी हो जाये कभी सड़ती नहीं है। नयी बनी कोरी शीशियाँ कितने ही दिन रखी रहें, उनमें दुर्गन्ध नहीं आती। हां, यदि उनमें जल, मिट्टी आदि का मेल हो जाये तो अवश्य वे सड़ने लगती हैं। सड़ी मिट्टी आदि को निकाल कर यदि हवा में फैला दिया जाये तो वायु का सम्पर्क पा वह फिर शुद्ध हो जाती है। जिन मकानों भवनों और मन्दिरों में वायु बेरोक-टोक, बिना किसी रुकावट के आती-जाती है, वे पवित्र रहते हैं। जिनमें वायु का गमनागमन स्वतन्त्र नहीं, वहाँ की चीजें सड़ जाती हैं और वायु को भी सड़ा देती हैं अर्थात् सड़ी वस्तु के कण वायु में घुस जाते हैं। वायु में जो गन्ध आती है वह उसकी नहीं होती। गन्ध धर्म पृथिवी का है, पृथिवी के कण वायु में उड़ने लगते हैं और दुर्गन्ध फैलाते रहते हैं। वायु के बहने पर वह नीचे बैठ जाते हैं और अपने कारण पृथिवी में मिला जाते हैं।

जब फेफड़े सड़ जाते हैं, तो क्षय-रोग उत्पन्न हो जाता है। उस समय शुद्ध वायु में किया हुआ प्राणायाम वायु को अन्दर ले जाता है और अन्दर के रोग के कीटाणुओं को नष्ट कर प्रश्वास के साथ बाहर निकाल कर फैंक देता है। रोगी स्वस्थ हो जाता है और वह दुर्गन्ध वनस्पतियों का आहार बन जाता है। प्राणायाम से असाध्य रोगों की चिकित्सा तक भी की जा सकती है। क्योंकि वायु पवित्र है इसीलिये हिन्दू धर्म में प्राणायाम का बड़ा महत्त्व है। कम से कम तीन प्राणायाम तो प्रत्येक हिन्दू को नित्य करने ही चाहियें। इससे बहुत से रोग नष्ट हो जाते हैं।

डाक्टर लोग भी दीर्घ श्वासोच्छ्वास और प्रातः-भ्रमण का बड़ा महत्त्व बताते हैं। वास्तव में यह महत्ता वायु की पवित्रता की है। इसीलिये प्राणायाम से दुरित नाश भी स्वीकार किया गया है।

बड़े-बड़े कारखानों में जहाँ कलों और मनुष्यों की अधिकता वायु को अत्यधिक गन्दा बना देती है, वहाँ कमरों के वायु को बाहर निकालने या फैंकने के लिये पंखे लगाए जाते हैं, जिससे वहां का दूषित वायु बाहर निकल जाये और रिक्त स्थान होने पर उसमें ताजा वायु पवित्रता लिए अन्दर प्रवेश करे और वहाँ के सारे स्थान को ही पवित्र कर दे। बड़े-बड़े नगरों में जहाँ बड़े-बड़े कल-कारखाने मीलों तक फैले हुए हैं, वहाँ वायु की पवित्रता को सेवन करने के लिए लोग मोटरों में बैठ-बैठ कर पचास-पचास मील दूर खुले उद्यानों में जाते हैं। भगवान् के सर्वत्र होने के कारण चेतन सी बनी प्रकृति ने वायु का सृजन तो किया, पर मानव की भोग-लिप्सा ने उसे विषाक्त बना दिया, उससे बचने के लिये खुले मैदानों की शरण लेने के अतिरिक्त और सहारा नहीं। वायु की यह पवित्रता मानव को जीवन प्रदान करने वाली है।

वायु भूमि के सब पदार्थों का अन्दर और बाहर से संशोधन करती है, दुर्गन्ध-युक्त सड़े-बुसे पदार्थों को सुखा कर पवित्र बना देती है। हवादार मकानों में रहने वालों के स्वास्थ्य अच्छे रहते हैं, बीमारियाँ कम होती हैं, दुर्गन्ध भी कम पैदा होती है। जिन मकानों

में हवा का खुला यातायात नहीं वहाँ रोग पनपते हैं। ऐसे स्थानों को स्लम्स (Slums) कहते हैं। देहली और लण्डन जैसे नगरों में आज के सभ्यता-युग में भी ऐसी गन्दी वस्तियाँ बहुत हैं, जिन्हें गिराये जाने के निर्णय कितनी वार हो चुके हैं, पर स्वार्थमय व्यक्तित्व ऐसे नियमों को कार्यान्वित करने में बाधक हो जाते हैं।

जल और भूमि के कारण विकार-भाव को प्राप्त हुए पदार्थ वायु द्वारा शुद्ध होते जाते हैं। वायु की आक्सीजन मनुष्यों के फेफड़ों में रक्त को शुद्ध करती है और बल प्रदान करती है। यह आक्सीजन प्राणिमात्र को जीवन प्रदान करती है। उनके शरीरों को शुद्ध करती है और पुष्टि भी प्रदान करती है। यह प्राणवायु जलाशयों को शुद्ध रखती है। प्रस्रवों और बहती नदियों का जल उथल-पुथल हो ताजी हवा से सम्पर्क कर सदा ताज़ा ही बना रहता है। जिन कुओं का जल कम खिंचता है, पानी की उथल-पुथल नहीं होती, उनके जल का वायु से सम्पर्क नहीं हो पाता और उनका पानी खराब हो जाता है। प्रयोग के योग्य नहीं रहता। जहाँ शुद्ध पवित्र वायु खुला है वहाँ रोग के कीटाणु उत्पन्न नहीं होते। मच्छर, मक्खी, कीट, पतंग इसके वेग से नहीं ठहरते हैं। वायु सब प्रकार से पवित्र है और जीवन प्रदान करती है। मानव इसकी पवित्रता से पवित्र होता है, इसीलिये ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी वनों में खुले, विशुद्ध, पवित्र, सात्विक वातावरण में रहते आये हैं।

६. **आच्छादनाभाव**—परिणाम क्रम से यह वायु की पवित्रता आछादनाभाव में परिवर्तित हो जाती है पवित्रता किसी को ढकती नहीं। जब धूली या मैल आदि किसी वस्तु को ढक लेता है, तो उसकी पवित्रता भी नष्ट हो जाती है। उस मैल को हटाने से पवित्रता आती है। पवित्रता का परिणाम ही आच्छादनाभाव है।

वायु अदृश्य है, क्योंकि वायु के निर्माण-काल में अभी अग्नि उद्भूत नहीं हुआ। वायु में रूप का मेल कैसा होता। पृथिवी जल के साथ भी मेल नहीं हो पाया है न उसके गुण इसमें आये हैं, क्योंकि ये दोनों परवर्त्ती पदार्थ हैं। अतः वायु उद्भूत् अवस्था में पवित्रता गुण को लिये होती है, अतः किसी का अच्छादन नहीं करती, क्योंकि न इस में गुरुत्व है न आकार। सब भूतों के बन जाने पर भी यह वायु का आच्छादनाभाव वायु की सत्ता के साथ बना रहता है। यही कारण है कि पृथिवी, जल, अग्नि के चारों ओर वायु रहता है पर उनको छिपाता नहीं है। वायु तीनों अग्नि आदि से पूर्ववर्ती है, और तीनों में कारण रूप से सम्मिलित भी है, पर इनके किसी भी भाग को छिपाता नहीं, ढकता नहीं। आच्छादनाभाव या रोक का अभाव होने से सब ही पदार्थ वायु में आ-जा सकते हैं। पहाड़ से कठोर और जाले के तन्तु से कोमल पदार्थ भी इसमें प्रवेश कर सकते हैं।

वायु का यह आच्छादनाभाव ही है, जो मनुष्य १५०-१५० मंजिल के ऊँचे मकान हवा में खड़े कर सका है। वायु के आच्छादनाभाव के कारण ही भवन निर्माण में कोई कठिनाई नहीं आती और वे बराबर खड़े दिखते हैं। अन्यथा बने-बनाये मकान न दिखते तो बनाते-बनाते परस्पर में टक्कर हो जाती। खिड़की और द्वार भी यदि वायु के कारण ढक जाते, आच्छादित हो जाते तो किसी का द्वार किधर को किसी का द्वार किधर को होता। न नगरी बन पाती न बाजार।

वायु के आच्छादनाभाव गुण के कारण ही फुफ्फुस हर समय वायु के सहारे बे रोक-टोक रक्त को फेंकता रहता है। वह रक्त प्राण-वायु के सहारे सब धमनियों में चक्कर लगाता है और इस प्रकार शरीर को जीवित रखता है। आच्छादनाभाव के कारण ही वायु पृथिवी, पहाड़, समुद्र आदि के गर्भ में पहुँच कर भी सब प्राणियों की रक्षा करता है। अन्यथा वहाँ प्राणियों का जीना ही असंभव हो जाता ।

यदि वायु में आच्छादन का दोष आ जाता तो सब की दृष्टि ही अवरुद्ध हो जाती। यह सर्वान्तर्यामी प्रभु की ही तो महिमा है कि वायु सवंगा रही तो उसमें आच्छादनाभाव रहा और अग्नि सर्वग था तो उसमें सब कुछ दिखाने का गुण रहा। यदि सर्वगत पदार्थों में कहीं आच्छादन आ जाता तो सारे ही व्यवहार ठप हो जाते।

वायु आकार और गुरुत्व से हीन है इसलिये किसी पदार्थ का आच्छादन नहीं करती है। आकारहीन जितने भी पदार्थ हैं ये सूक्ष्मता के कारण सब में ओतप्रोत हो जाते हैं। उनके लिए कोई रुकावट नहीं है। जितने भी पृथिवी, जल, वायु से बने पदार्थ हैं, वे सब वायु में आते-जाते हैं, वायु किसी के भी गमनागमन को नहीं रोकती है। यह वायु पारदर्शी है। किसी भी पदार्थ को नहीं ढकती है। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वायु न पहुँचे। जहाँ पृथिवी, पहाड़ आदि की रुकावट के कारण वायु कम जाता है, वहाँ तो मनुष्य का मरण शीघ्र होता है। यह किसी को रोकती तो नहीं पर पृथिवी आदि से रुक जाती है।

७. **बल**—वायु किसी को रोकती नहीं, आच्छादन नहीं करती, यदि इसको कोई रोकता है, इसके चलने में रुकावट डालता है, तो वायु का आच्छादनाभाव बल में परिणत हो जाता है और वायु महाबली हो जाता है।

इतना बल पृथिवी, जल, अग्नि तीनों में मिल कर भी नहीं जितना वायु में है। इन तीनों में गति वायु से ही आती है। वायु के बल से ही लोक-लोकान्तर चल रहे हैं। इस वायु के बल से इनके भी बल बढ़ जाते हैं। जब यह वायु आन्धी के रूप में विकराल रूप धारण करती है तब बड़े-बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ कर फेंक देती है। मनुष्य लपेट में आ जाये तो न जाने कहाँ से कहाँ ले जाती है। यानों के वेग को रोक देती है। वायु के साम्मुखीन वेग में साइकिल चलाना असंभव हो जाता है। साइकिल वाले को वायु के बल के आगे हार माननी पड़ती है और उतर कर पैदल चलना पड़ता है।

प्रलय यह काल में सब लोगों को टकरा कर चूर-चूर कर देती है। आकाश में आयी घनघोर घटा को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर के रख देती है। प्राणायाम के द्वारा छाती में वायु भर उसके बल के कारण मनुष्य सा ५ फुट का जीव भी हाथी, घोड़े, मोटर के वेग और बल को रोकने में समर्थ हो जाता है। महाप्रलय में मुख्य रूप से जगत् के विनाश का यही कारण बनती है। वायु के बल से ही भूमिगत अग्नि और जल क्रियाशील बने रहते हैं। सब पदार्थों में गति के कारण वायु का बल सर्वाधिक है। वायु के वेग के बल से इसके ही कारण जलते दीपक बुझ जाते हैं। सब बलों में वायु-बल सर्वाधिक है।

रबड़ की ट्यूब में भरा हुआ वायु जब रबड़ के कारण बाहर नहीं निकल पाता तो उसमें अत्यधिक बल का सञ्चार हो जाता है। १½ इञ्च की साइकिल की ट्यूब पर छः-छः भारी-भारी आदमी बैठ जाते हैं। मनों बोझा लादा जा सकता है। फेरी वाले साइकिल पर दुकान की दुकान लेकर चलते हैं। उस ट्यूब का थोड़ा ही सा भाग—शायद एक-दो इञ्च का भाग—ही तो धरती पर टिका होता है। मोटर की ट्यूब बड़ी होती है। उसके अनुपात से २०-२० और बड़ी मोटर में १००-१०० आदमी भर जाते हैं। बैल ठेले में भी टायर-ट्यूब लगा दिये जाते हैं, हवा के बल के कारण, उसे सहायक पा एक-एक बैल सैकड़ों मन बोझा खैंचने में समर्थ हो जाता है। छाती में प्राण भर कर छाती पर से आदमियों से भरी गाड़ी उतारी जा सकती है। राममूर्ति तो प्राणायाम के बल से हाथी को छाती पर चढ़ा लेते थे, और रेल के एञ्जिन तक को रोकने की शक्ति रखते थे।

पौराणिक गाथा में वायु को बलवान् सिद्ध करने के लिए ही मानो वायु के नियोग से उत्पन्न पवन-सुत हनुमान में अमानुष बल का उल्लेख किया गया है जिसके कारण हनुमान जी समुद्र तक लाँघ गये और हिमालय के कुछ शिखर तक को उठा लाये। श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज प्राणायाम से चार घोड़ों की गाड़ी को रोक लेते थे।

हजारों मन पानी के नीचे भी वायु को दबाना चाहें तो वह रुकेगा नहीं अवश्य पानी के ऊपर ही निकल कर रहेगा। इसी नियम के कारण मछली नीचे गहरे पानी में साँस छोड़ देती है और वह श्वास पानी से बाहर बुलबुले के रूप में निकल आता है। इसी नियम के कारण ट्यूब आदि के पञ्चर का निरीक्षण ट्यूब को जल में डुबा कर किया जाता है। इसी वायु के बल के आधार पर हवा भरे बड़े-बड़े ढोल समुद्र में डाले जाते हैं, और उन पर दीपगृह (लाइटहाउस) बनाये जाते हैं। यह सब वायु के बल की ही करामात है। सब बलों में वायु का बल सर्वाधिक है। इसीलिए महाभारत में भीमसेन को भी पवन का नियोगज पुत्र लिखा गया है। वात भड़क जाने पर रोगी में इतना बल आ जाता है कि दस-बारह आदमी भी उसे रोक नहीं पाते हैं।

८. **आक्षेप**—शक्ति के स्वरूप में जब तक रहता है, बल नाम दिया जाता है, परन्तु जब बल भगवान् की समीपता के कारण क्रियाशील होता है, तो वह आक्षेप में परिणत हो जाता है। आक्षेप बल का लोप नहीं करता, अपितु आक्षेप के समय बल ही आक्षेप अर्थात् धक्के के रूप में परिणत हो जाता है। धक्का यह प्रमाणित करता है कि वह बल से ही लगा है, जितना अधिक बल होगा धक्का भी उतना ही प्रबल होगा। जितना आटा होगा उतनी ही रोटियाँ बनेंगी। रोटियाँ आटे का परिणाम हैं इसी प्रकार जितना बल उतना ही आक्षेप। आक्षेप बल का परिणाम जो हुआ।

वायु का बल अब निमित्त रूप भगवान् की सान्निध्य से आक्षेप रूप में पलट गया। बिजली की धारा (करण्ट) का शक्ति के अनुरूप ही धक्का लगता है। वायु महा-बली है। इसलिये वायु में आक्षेप की शक्ति भी अद्भुत है। चलती हुई तेज़ हवा या आँधी के सामने मुख करके साइकिल चलाना असम्भव हो जाता है। साइकिल सवार वायु के आक्षेप का प्रतिरोध नहीं कर सकता। वेग की हवा चले तो डाण्डी भी अपना पतवार पटक देता है; नौका को खेने का दुःसाहस नहीं करता। वायु का आक्षेप ही

खलिहान में किसान का अनाज बरसवाता है। वायु के आक्षेप से तुष वा अनाज का भूसा अनाज से दूर जा गिरता है। वायु या भाप के आक्षेप से ही हज़ारों सवारियों और सैंकड़ों डिब्बों और भारी बोझे को लेकर इन्जन आगे बढ़ता है। वाष्प रूप वायु की आक्षेप शक्ति से ही स्टीमर समुद्र की छाती चीर कर हजारों यात्रियों और हजारों मन सामान को ढोकर इधर से उधर ले जाता है। वायु के आक्षेप से ही बादबान जहाजों को यात्रियों सहित समुद्र के पार करता है। वायु के आक्षेप के धक्के खाते-खाते पतंग आकाश में उड़ती है और मेघों तक पहुँचाई जा चुकी है। आकाशीय विद्युत् की खोज योरुप ने पतंग में तालियाँ बाँधकर ही तो की। पैट्रोल की बनी गैस-वायु के आक्षेप से ही वायुयान पर पक्षियों के उड़ान स्थल से भी ऊपर, बहुत ऊपर मानव की उड़ान कराता है। इसी गैस के आक्षेप से स्पुतनिक मानव को लेकर पृथिवी का चक्कर लगा सका है। चाँद पर पहुँचने के स्वप्न दिखा रहा है। बृहस्पति और शुक्र तक की दौड़ भी इसी आक्षेप गुण के कारण हो सकी है। इस वायु के आक्षेप गुण के कारण ही बड़े-बड़े टैंक और ट्रैक्टर ऊबड़-खाबड़, कठोर से कठोर भूमि को फाड़ने में समर्थ होते हैं। इस वायु के आक्षेप से ही बड़े-बड़े कल कारखाने, दानवाकार मशीनों को चला कर मानव का कल्याण सम्पादन कर रहे हैं।

आसमान में मेघों का इधर से उधर आक्षेप यह वायु ही करती है, जिससे समस्त प्रदेश का सिञ्चन हो जाता है। अन्यथा मेघ जहाँ के तहाँ ही बरस जाते। वायु का आक्षेप इतना प्रबल हो जाता है कि आन्धी के वेग में मनुष्य चल नहीं सकता। आन्धी उसे उड़ा उड़ा कर फैंक तक देती है। आन्धी में तो यह आकाश में वायु के आधार पर स्वतन्त्र कल्लोलें करने वाले पक्षी भी नहीं उड़ पाते हैं। पशु भी आन्धी में आगे बढ़ने से इनकार कर देते हैं। हल्के पदार्थों को तो वायु के आक्षेप का धक्का कहीं का कहीं ले जाता है। वायु का आक्षेप कितने ही घरों को तोड़-फोड़ देता है। धक्का देकर यह हवा का आक्षेप पहाड़ों की चोटियों तक को गिरा देता है। आकाश में उड़ते हुए यानों तक को रोक लेता है। चलने नहीं देता, गिरा देता है। मार्गभ्रष्ट कर कहीं का कहीं ले जाता है। वायु में अमित आक्षेप बल है।

वायु की इस प्रकार की सब गति, धर्मों और परिणामों में उस ब्रह्म की महान् चेतन सत्ता का अनुभव अभ्यासी को करना है।

(शंका) यदि यह सब परिणाम वायु आदि में स्वाभाविक धर्म मान लिए जावें तो ब्रह्म की इन गतियों के लिए कोई आवश्यकता नहीं रहती।

(समाधान) मानने की तो कोई बात नहीं, कुछ भी माना जा सकता है, पर देखना तो यह है कि तथ्य क्या है। तथ्य रूप में देखा जाये तो यह सब गतियाँ उत्पन्न ही तो हुई हैं। एक कालावच्छेदेन तो यह सदा बनी नहीं रहतीं। सर्वत्र सबकी उपलब्धि भी नहीं होती। अतः इन सबका कोई न कोई उपादान कारण अवश्य है। कारण का कारण, फिर उस कारण का कारण, इस प्रकार माना जाये तो अनवस्था दोष आ जाता है। इस अनवस्था का परिहार यही है कि परब्रह्म की चेतन सत्ता ही सब गतिविधियों का निमित्त कारण है।

यदि इन जड़ पदार्थों का गति को ही स्वाभाविक धर्म मान लिया जाये, तब विचारों, महा-प्रलय काल में कार्यात्मक विशेष गति का अभाव कैसे होगा। क्योंकि स्वाभाविक धर्म तो कभी न पृथक् होता है न उसका विनाश होता है। हाँ, प्रकृति का स्वाभाविक धर्म सामान्य गति अवश्य है, जिसका प्रलय-काल में भी विनाश नहीं होता है। अतः प्रकृति से लेकर उसके सब कार्यों तक, उनमें जो विशेष क्रिया रूप धर्म आया है, वह उस ब्रह्म के चेतन और समीपस्थ होने के कारण ही आया है।

इसी का अभ्यासी अपने अभ्यास काल में प्रत्यक्ष करे कि किस प्रकार ब्रह्म की चेतना और सन्निधान से यह सब पगे-पगे हो रहा है।

समष्टि वायु महाभूत मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(वायु महाभूत का द्वितीय रूप)

२. वायु के स्वरूप में—वायु के स्थूल रूप प्रकरण में जिन आठ धर्मों का निरूपण किया गया है, वास्तव में वे धर्म वायु से अलग नहीं हैं। ये सब वायु में सदा वर्तमान रहते हैं। वायु के परिणामों की ही ये अवस्थाएँ हैं। एक ही पदार्थ के भिन्न २ रूपों में परिणाम हैं। वायु धर्म का अपने सब धर्मों से अभेद ही है, क्योंकि ये इसको छोड़ कर अलग तो रह ही नहीं सकते हैं फिर भेद कैसा। ये वायु के स्व-स्व-सामान्य धर्म हैं, वायु अपने किसी भी रूप में रहे यह धर्म भी उसी रूप में वहाँ विद्यमान रहेंगे ही। ये वायु में भी मिलते हैं और वायु के परिणामों में भी। वायु में कम्पन है, तिर्यग् गमन है। वायु के परिणामों में भी ये सब परिणाम धर्म होंगे। शरीर में वायु के परिणाम ही प्राण अपान आदि दस प्रकार के हो गये हैं, सब में ही कम्पन और तिर्यग् गमन है। वायु के कम्प का ही परिणाम है कि हृदय में फुफ्फुस में शाश्वत कम्प बना हुआ है। उसके सम्पर्क से नाड़ी भी सदा कम्प करती है। वायु का तिर्यग् गमन ही नस-नाड़ियों में किस प्रकार रक्त को तिर्यग् गमन कराता है। हजारों शरीर की नाड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी मरोड़ कर शरीर में भरी हैं। उनके टेढ़ेपन की कल्पना नहीं की जा सकती है, पर उन सब में वायु के तिर्यग् गमन के कारण रक्त पहुँचता है। वायु-प्रधान पक्षी आदि के मानवीय शरीरों में कितना कम्प है, परों से कम्प का उपयोग करते पक्षी, कहाँ से कहाँ उड़ जाते हैं। वायु के तिर्यग् गमन के कारण, उन पक्षियों में भी कैसी तिर्यक् गति है। दसों दिशाओं में चाहे जिस तरफ मुड़-तुड़ सकते हैं, कलाबाजी खा सकते हैं। वायु की तिर्यग् गति और कम्प के कारण समुद्र की लहरें कैसे काँपती हैं, वायु के साथ-साथ कितना टेढ़ा-टेढ़ा चलती हैं।

कम्पन आदि आठों धर्म वायु में स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। वायु से कभी भिन्न नहीं होते। अलग इनकी कोई सत्ता नहीं। यह वायु के साथ धर्मों का एक रूप होना, दोनों का अभिन्न होना वायु का स्व-स्वरूप है। इन धर्मों से अलग वायु कोई पदार्थ नहीं है। कम्पन आदि धर्मों का नाम ही वायु है और वायु इन कम्पन आदि ८ धर्मों को कहते हैं। इन धर्मों का वायु के साथ सम्बन्ध नित्य ही बना रहेगा। इनकी अलग-अलग सत्ता नहीं है। अतः इन्हें दो नहीं कह सकते। इसलिये धर्म-धर्मी गुण-गुणी एक ही हैं, दो नहीं। इसी का नाम स्वरूप है।

हमारे सिद्धान्त में गुण द्रव्य का स्वरूप ही है, द्रव्य से भिन्न कुछ नहीं है। गुण गुणी का अपना रूप है इसीलिये स्वरूप कहते हैं। स्वरूप से स्व या रूप कभी अलग नहीं होते। स्वरूप शब्द दो पदों से बना है सही, पर दो पदार्थों को नहीं कहता। पदार्थ तो एक ही है, चाहे वायु कहो, या कम्पन या तिर्यग्गमन। कम्पन और तिर्यग्गमन वायु के परिणामान्तर हैं, द्रव्यान्तर नहीं।

ब्रह्म व्यापक है। वह व्यापक धर्म से कभी अलग नहीं होता। जल की अपेक्षा अग्नि सूक्ष्म है। अतः जल में अग्नि व्याप्त हो जाती है। ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है। वह अपनी सूक्ष्मता के कारण धर्म और धर्मी में व्याप्त होकर ठहरा है। वायु में ब्रह्म ओतप्रोत है।

वायु अग्नि से सूक्ष्म है। इसलिये सूक्ष्म विषयक अभ्यास बनाने के लिये वायु का किस प्रकार क्रमशः धर्मों में परिणाम होता है और परिणाम की स्थिति में भी वायु कोई भिन्न पदार्थ नहीं होता है। इस वायु के अन्य भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म परिणाम क्रम को योगी अपनी ध्यान की दिव्य, अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखे। इस परिणाम को देखने के लिये अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि की अपेक्षा होती है। वायु तन्मात्रा में जिन-जिन धर्मों के क्रमशः परिणाम का योगी साक्षात् करता है उसी प्रकार परिणाम में उसके निमित्त कारण ब्रह्म का भी साक्षात् करे और अनुभव करे कि ब्रह्म निमित्त-कारण के रूप में परिणाम को प्राप्त हो रहे वायु धर्मों को प्रेरणा दे रहा है, या परिणाम के लिये क्रिया करा रहा है। जब वायु के धर्मों के परिणाम की अन्तिम सूक्ष्म अवस्था तक बुद्धि पहुंचेगी, तब ही ब्रह्म की चेतन सत्ता का भी वहाँ अनुभव होगा, जो परिणाम का निमित्त है।

रुई से पूनी, पूनी से सूत, सूत से आटी आदि, उससे ताना-बाना, उससे कपड़ा बनता है। कपड़े से कुरता, कमीज, कोट, कौपीन, लंगोट आदि। यह सब अवस्थाओं के भेद हैं। रूई ही तो इन सब अवस्थाओं में परिणत हुई है। इनसे भिन्न तो रूई नहीं। रूई पहली अवस्था का नाम है, पूनी आदि दूसरी, तीसरी आदि अवस्थायें हैं। कोई भिन्न पदार्थ नहीं। ऐसे ही वायु धर्मी के कम्पन, तिर्यग्गमन आदि धर्म रूप परिणाम हैं। स्पर्श तन्मात्रा का विनाश होकर यह धर्म उत्पन्न नहीं हुए हैं। स्पर्श तन्मात्रा अपने स्वरूप में वर्त्तमान है। वायु तन्मात्रा का अपना कम्पन तिर्यग्गमन आदि से अभिन्न है। यही इसकी स्वरूप अवस्था कहलाती है।

(शंका) एक वायु में इतने धर्म या परिणाम एक काल में कैसे रह सकते हैं, क्योंकि एक एक धर्म उत्पन्न होता है और दूसरा धर्म उस समय उत्पन्न होता है जब पहला समाप्त हो जाता है?

(समाधान) आप एक समय खेत में जाकर फसल बीजते हैं और पकने पर काटते भी हैं। आप ही दुकान पर जाकर कपड़े के व्यापार भी करते है। चुनाव में आ जायें तो विधान सभा में जाकर आप भाषण झाड़ते हैं। कार्यालय में बैठकर राज-कार्य भी करते हैं। युद्ध का अवसर आया तो आप शस्त्रास्त्र उठा कर युद्ध करने लगते हैं। जब प्रजा पीड़ित होती है। तो आप सेवा में लग जाते हैं। जब सन्ध्या का समय आता है, आप ध्यान समाधि लगा कर बैठ जाते है। जब आपमें इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक गुण या धर्म रह सकते हैं, तो वायु में क्यों शंका करते हैं? क्या आपका एक धर्म या गुण दूसरे धर्म के आने पर खतम हो जाता है, सो तो होता ही नहीं है? अतः एक धर्मी में अनेक गुण रह सकते हैं। धर्मी के जितने भी धर्म होते हैं वे उसका स्वरूप ही होते हैं।

जिन धर्मों की चर्चा चल रही है, यह बुद्धि के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो अपरिणामी है। बुद्धि ही बदलती रहती है, कभी समझती है, यह स्पर्श तन्मात्रा है। अब यह कम्प में परिणत हो गयी, अब तिर्यग्गमन आदि में। यह विपरिणाम तो बुद्धि में हो रहा है, आत्मा में नहीं। जैसे पण्डित जवाहर लाल नेहरू जी को कोई पण्डित जी, कोई नेहरू जी, कोई प्रधान मन्त्री, कोई भैय्या, कोई चाचा, कोई पिता, कोई मित्र, कोई भाई, कोई भतीजा कह कर पुकारते हैं। सब समझ का ही तो परिणाम है, नेहरू तो एक ही है। उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं।

समष्टि वायु महाभूत मण्डल

तृतीय सूक्ष्म रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(वाय का तृतीय रूप)

3. वायु के सूक्ष्म रूप में—

वायु महाभूत का जिस सूक्ष्म अवस्था से इस स्थूल अवस्था में परिणाम हुआ है, वायु की पूर्ववर्त्ती वह सूक्ष्म अवस्था ही वायु का सूक्ष्म रूप है। वायु स्थूलभूत सजातीय परमाणुओं का संघात ही है। परन्तु इसमें आकाश के परमाणु भी वर्त्तमान हैं। वे इसके सहकारी कारण होते हैं, क्योंकि आकाश वायु से सूक्ष्म है और वह पहिले परिणाम को प्राप्त हो चुका है। सामान्यतः कारण-भूत आकाश की तन्मात्रा अपने कार्य विशेष वायु में अनुस्यूत होती है। अतः वायु भूत आकाश तन्मात्रा के परमाणुओं के साथ संघात को प्राप्त हुआ स्थूल आकार में परिणत द्रव्य है। इस कार्य-कारण का अयुत-सिद्ध समुदाय ही महाभूत वायु है। वायु में शब्द और आच्छादना भाव आदि तो आकाश से ही आये हैं और आकाश से ही कम्पन आदि सामर्थ्य भी आये हैं। सामान्य विशेष के भेद से अनुगत वायु समुदाय अयुत-सिद्ध द्रव्य है। इस अवस्था में स्पर्श-तन्मात्रा का वायु महाभूत के रूप में परिणाम हुआ है और वही स्पर्श तन्मात्रा धर्म-लक्षण-अवस्था रूपों में परिणत हो कर वायु के स्थूल रूप को प्राप्त हो गयी है।

इस अवसर पर स्पर्श तन्मात्रा में जो विशेष क्रिया होकर एक अद्भुत परिणाम होता है वह अत्यन्त ही अनोखा चमत्कृतिपूर्ण होता है। इस परिणाम क्रम को ही अभ्यास काल में साक्षात् किया जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि को एकत्र कर संयम की स्थिति में इसी विशेष परिणाम को दिव्य दृष्टि से देखना है। आपको साक्षात् होगा कि रूप से भी सूक्ष्म स्पर्श तन्मात्रा में कैसे अद्भुत ढंग से परिणाम होते जा रहे हैं और अन्त में वह कैसे वायु महाभूत के रूप में परिवर्त्तित हो गयी। यह भी साक्षात् होगा कि ब्रह्म की चेतन सत्ता किस प्रकार सजातीय तथा विजातीय धर्मों का नियोजन कर एक अयुत-सिद्ध द्रव्य वायु का निर्माण कर रही है। किस प्रकार आकाश और वायु की सूक्ष्म तन्मात्रायें संघात को प्राप्त होकर स्थूल-महाभूत वायु के रूप में परिणत हो रही हैं। यहाँ संघात करने वाली ब्राह्मी चेतना ही प्रेरिका है। दोनों तन्मात्रायें ज्ञान शून्य जड़ हैं। ज्ञान शून्य जड़-प्रकृति का ही ये दोनों परिणाम हैं। इनके एक अंश में तो गति अवश्य है, पर सर्वांश में स्वतः नियन्त्रित और नियमित गति इनमें नहीं हो सकती। इस नियन्त्रण को ही करने के लिये चेतन ब्रह्म समीप में सदा व्याप्त रहता है।

ब्रह्म की समीपता की महिमा देखिये। जो स्पर्श तन्मात्रा केवल दिव्य त्वचा का विषय थी, अक्काश तत्त्व के मिलने से कम्पन करने लगी, वायु रूप में परिणत हो गयी और अगला परिणाम हुआ तो तिर्यग्गमन आदि करने लगी।

दोनों तत्त्वों का अयुत-सिद्ध समुदाय ही वायु का सूक्ष्म रूप है। ध्यान की स्थिति पैदा कर समाधि में यही जानना है कि आकाश से मिलते ही किस क्रम से धर्म उत्पन्न होते जा रहे हैं। साथ में क्षणों पर भी ध्यान दीजिये, कि किस क्षण में क्या हो रहा है। साथ में सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म भी वर्त्तमान है स्पर्श तन्मात्रा में होने वाली गति और क्रिया, परिणाम के साथ-साथ उस ब्रह्म का साक्षात् दर्शन कीजिये। वास्तव में ब्रह्म का साक्षात्कार तो इसी प्रकार ब्रह्म-प्रकृति-संयोग-जन्य सूक्ष्म अवस्थाओं या परिणामों में होता है इसी सूक्ष्म अन्वीक्षिका का योगी को अभ्यास करना है।

(शंका) स्पर्श तन्मात्रा में परम्परागत प्रकृति का धर्म गति भी है। यह स्वयं आकाश के परमाणुओं के साथ मिल कर, एक विशेष अवस्था वाले परिणाम भाव को प्राप्त होकर वा संयोग को प्राप्त होकर वायु के रूप में परिणत हो गयी। ब्रह्म की सत्ता को निमित्त मानने की क्या बात है ?

(समाधान) जड़ पदार्थों का संयोग बिना निमित्त नहीं होता। वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते।

आप कह सकते हैं:—"चुम्बक (स्पर्श-मणि) सूई को अपने आप खैंच लेता है। वहाँ कोई निमित्त तो दीखता नहीं।"

"चुम्बक यदि सौ-दो सौ मील पर पड़ा हो तो दूर दूर से आकर सूइयों को उसके साथ जुड़ते नहीं देखा। जब तक कोई पास लाकर न रखे, चुम्बक सूइयों को खैंचता नहीं। हाँ, जब कोई चेतन सूई को चुम्बक के पास लाकर रख देता है तब सूई के पास आ जाने पर चुम्बक आकर्षण करता है। अतः वायु और आकाश के परमाणुओं को उपयुक्त मात्रा में वा उपयुक्त काल में संयुक्त करने में उस चेतन विशेष का ही सहयोग निमित्त कारण के रूप में मानना पड़ेगा। जिसे हम अपनी भाषा में ईश्वर कहते हैं। आप कोई भी नाम रख सकते हैं।

समष्टि वायु महाभूत मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(वायु का चतुर्थ रूप)

४. वायु के अन्वय रूप में—

वायु का कारण-प्रकृति के साथ परम्परागत-सम्बन्ध वायु का अन्वय-रूप है, अर्थात् वायु-परिणाम की कारण-परम्परा। वायु से पहले क्या था, उससे पहले क्या था, इस प्रकार की निमित्त परम्परा वायु का अन्वय रूप है।

साम्य अवस्था वाली प्रकृति में जब ईश्वर की चेतन सत्ता के निमित्त से जो सर्वप्रथम परिणाम होता है वह परिणाम त्रिगुणात्मक होता है। ये तीनों गुण क्रमशः प्रकाश, क्रिया, स्थिति रूप या धर्म वाले होते हैं। इनके ये सब धर्म क्रमपूर्वक

परिणत होते हुए सब पदार्थों में अन्त तक आते हैं। इस प्रकार इनका अनुपतन होते हुए वायु में भी आया है। वायु-भूत प्रकृति का दूरगामी परिणाम है। इसमें भी प्रकृति अपने स्वरूप के साथ अनुपतित हुई है और मध्यवर्त्ती परिणामों को अभिव्यक्त करती आयी है। यह मूल-प्रकृति का अनुपतन ही वायु का अन्वयरूप है।

प्रकृति की सत्ता पर ही वायु की सत्ता है और वायु के परिणामों की सत्ता है, आटे के गुण रोटी, पूरी आदि परिणामों में आते हैं। रूई और ऊन के परिणामों में उनके गुण आते हैं। आटे के परिणाम रोटी, पूरी आदि से भूख मिट जाती है, पर रूई या ऊन के परिणामों से भूख नहीं मिट सकती क्योंकि रूई या ऊन कारण में भूख मिटाने की शक्ति नहीं है। ऐसे ही आटे के परिणाम रोटी, पूरी आदि से शीत निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि आटा रूप कारण में यह शक्ति नहीं है। जो गुण कारण में होते हैं वे ही तो कार्य में आते हैं।

प्रकृति, जीव और ब्रह्म तीन सनातन सत्तायें हैं। जीव और ब्रह्म एकरस रहते हैं। उनमें कोई परिणाम या परिवर्त्तन नहीं होता। प्रकृति परिणामिनी है। प्रकृति, समष्टि महत्तमः, समष्टितमः, अहंकार इस प्रकार क्रमशः परिणाम होता है। अन्त में अहंकार से पाँचों तन्मात्राओं का परिणाम हुआ है। उनमें से ही यह एक स्पर्श तन्मात्रा है। सदा सब में रहने वाले ब्रह्म के निमित्त से कारण-भूत मूल प्रकृति का उसके सब कार्यों में अनुपतन हो सका है। इस निमित्त कारण ब्रह्म का कार्यों में या कार्यात्मक परिणामों की स्थिति में दर्शन करना है। यही ब्रह्म-दर्शन का सरल मार्ग है।

वायु में रजो गुण अधिक मात्रा में है। वाति इति वायुः। जो सदा चलता रहे वह वायु। वायु सदागति है। सत्त्व उसमें कम है और तमोगुण सबसे कम। तमोगुण है अवश्य, नहीं तो वायु का अस्तित्व कैसे बनता। केवल शाब्दिक ही रह जाता। सत्त्व भी है इसीलिये पवित्रता और आच्छादनाभाव इसमें आया है।

योगी यदि इन परिणामों की परम्परा को ध्यान की दिव्य दृष्टि से जाँचे तो अन्ततोगत्वा यह परिणाम क्रम ब्रह्म की सत्ता से ही गतिशील होता हुआ दिखाई देगा। सर्वत्र ब्रह्म की व्यापकता भी दृष्टिगोचर होगी और परिणामों में भी वह रमा हुआ दीखेगा।

१—(शंका) यह अन्वय रूप स्पर्श तन्मात्रा और आकाश-तन्मात्रा का ही क्यों न मान लिया जाये। वही तो वायु भूत के साक्षात् रूप से कारण हैं। और समीपवर्ती भी हैं। इतनी दूरस्थ मूल प्रकृति तक दौड़ क्यों लगाई जावे ?

(समाधान) वास्तव में वायु का समीप वर्ती अन्वय तो स्पर्श-तन्मात्रा और आकाश ही हैं, परन्तु उस अवस्था में आप यह कह सकते थे कि ये अन्वय तन्मात्राओं में कहाँ से आया। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। इसकी निवृत्ति के लिये सर्वप्रथम विद्यमान कार्यात्मक प्रकृति ही सही अन्वय रूप है। वहाँ जाकर इस अन्वय-भाव की समाप्ति हो जाती है। मूल-प्रकृति तक प्रत्येक पदार्थ में यही अन्वय धर्म प्राप्त होता चला जाता है।

२—(शंका) भूतों के सूक्ष्म रूप और अन्वय रूप में क्या अन्तर है ? दोनों ही कारण अवस्थायें हैं, फिर व्यर्थ में एक और अवस्था या भेद मानना व्यर्थ है। दोनों अवस्थाओं का एक में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

(समाधान) सूक्ष्म और अन्वय का भेद बहुत स्पष्ट है, और दोनों को पृथक् रखना भी आवश्यक है। सूक्ष्म अवस्था में सामान्य और विशेष द्रव्यों का समुदाय होकर एक द्रव्य बनता है। यह बताना आवश्यक है क्योंकि बने हुए द्रव्य में शंका होती थी कि यह एक ही जाति के पदार्थों से बना है या इसमें विजातीय पदार्थों का भी योग है। इस शंका की निवृत्ति के लिये बताना पड़ा कि सूक्ष्म सजातीय और विजातीय पदार्थों के संघात के योग से ही द्रव्य बनता है। अकेले से नहीं।

अन्वय अवस्था में यह बात नहीं है। वह सजातीय या विजातीय कारण रूप पदार्थ की बात नहीं कहता। वहाँ तो यह बताना अभीष्ट है कि द्रव्य या पदार्थ में ये गुण कहाँ से आये। पूर्व कारण में तो वे उसी रूप में हैं नहीं। इसलिये इसमें तो परम्परागत प्रकृति और गुण ज्ञान-क्रिया का सम्बन्ध दिखाया गया है। इस प्रकार के सम्बन्ध को ही अन्वय कहते हैं। क्योंकि जब पदार्थ बनते बनते तीसरी सूक्ष्म अवस्था को पार कर गया और चौथी अवस्था आ गयी, तब यह शंका हुई कि ये गुण इस पदार्थ में कहाँ से आये ? इनका किनके साथ समन्वय है ? तब इस चतुर्थ अवस्था को समझने समझाने के लिये इसका सम्बन्ध परम्परागत प्रकृति के साथ बताना होता है। यही सम्बन्ध-परम्परा अन्वय है।

अतः सूक्ष्म और अन्वय अवस्था में बड़ा भारी अन्तर है। दोनों एक नहीं हो सकतीं। सूक्ष्म में समीपवर्ती उपादान कारण को बताया जाता है; और अन्वय में परम्परागत अन्तिम उपादान कारण के अनुपतन को बताया जाता है। अन्तिम अनुपतन प्रकृति का है। यही दोनों अवस्थाओं का बड़ा भारी मौलिक भेद है।

संक्षेप में—समीपवर्ती कारण को सूक्ष्म रूप कहा गया है।
प्रकृति के परम्परागत कारण कार्य रूप को अन्वय कहा है।

समष्टि वायु महाभूत मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-दर्शन

(वायु का पञ्चम रूप)

५. वायु के अर्थवत्ता रूप में

वायु सर्व प्राणियों के लिये जीवन का आधार है। सात्विक रूप में सब प्राणियों के शरीरों में प्राण के रूप में आधार बनकर जीवन की रक्षा करता है। पृथिवी के समीप यही वायु आहार के रूप में प्राणदा बन कर शरीर का पालन-पोषण कर जीवन प्रदान कर रहा है। इसके बिना प्राणधारी जीवित नहीं रह सकते हैं। मनुष्य तो वायु न मिलने पर कुछ मिनटों का ही मेहमान होता है। पशु-पक्षी भी इसके बिना जीवित नहीं रहते। वनस्पति भी वायु के अभाव में मर जाते हैं। भूमि से उखाड़ लेने पर उनकी श्वसन प्रक्रिया बन्द हो जाती है। अतः मर जाते हैं।

जब आकाश में हजारों मील ऊपर जाना होता है तो इसी प्राणदा वायु को थैलों में भर कर ले जाना होता है। इसको अंग्रेजी में आक्सीजन कहते हैं। संस्कृत में प्राणदा और हिन्दी में जीवन का आधार प्राण। जैसे अन्न को खाकर भूख मिट जाती है और विकलता दूर होती है, इसी प्रकार प्राणों का सेवन कर जान में नई जान सी

आ जाती है और शरीर तृप्ति का अनुभव करता है। प्राणों का आहार इस वायु में ही है। सर्प इसी का सेवन करते हुए महीनों बिलों में पड़े रहते हैं। यदि इसका आहार श्वास-प्रश्वास के रूप में न मिले तो मानव के जीवन की इतिश्री कुछ मिनटों में हो जाती है। अतः वायु सब प्रकार से जीवों के जीवन का सर्वश्रेष्ठ आहार बनी हुई है। यही विशेष रूप से इसका अर्थवत्ता: रूप है। रजः-प्रधान वायु अन्तरिक्ष में लोक-लोकान्तरों के गमन का हेतु है और प्रत्येक लोक का आधार बनी है। सब लोक वायु पर ही ठहरे हैं। लोकों के मध्य में आकर उन को टकराने से बचाती है। उनकी गति का भी नियन्त्रण करती है। आकाशस्थ मेघों को इधर से उधर, उधर से इधर लाकर यथास्थान स्थापित करती है। एक देश से दूसरे देश में ले जाकर वर्षा कराती है। भूमि से रेत को उड़ा मेघों से सम्पर्क स्थापित कर वर्षा का निमित्त बनती है। पहाड़ों की ऊँची-ऊँची चोटियों और समुद्र के तल में भी पहुंच कर जीवन की रक्षा का कार्य करती है। अपने विभन्न गुणों से मानव के जीवन को सुखी बनाती है। मनों भार को अपने ऊपर उठा वाहन के बोझे को हल्का बनाती है। टायर, ट्यूबों में भरी जाकर पार्थिव अंश के सहारे ही लाखों मन बोझा ढो-ढो कर मानव को अपरिमित विश्राम प्रदान कर रही है। इन ट्यूबों के द्वारा डूबते हुओं की जीवन रक्षा करती है। नाना प्रकार की गेन्दों में वास कर भिन्न-भिन्न प्रकार से उछल-उछल आबालवृद्ध सब के ही मनोरञ्जन का साधन बनी है। योग में भी विभिन्न प्रकार के प्राणों पर वशित्व पा लेने पर विस्मय कारक सिद्धियाँ प्रदान करती है। विभिन्न प्रकार से यानों में प्रयुक्त हो असीम अन्तरिक्ष वरुण लोक एवं अन्य लोक-लोकान्तरों के भ्रमण के साधन जुटा रही है। युद्धों में पैराशूट एवं छतरियों द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त कराती है। जलप्रवाहों एवं अगम घाटियों में इसके सहारे ही जीवन सामग्री पहुँचाई जा सकती है। भूमण्डल की यात्रा को स्थल जल की अपेक्षा वायु ने ही बेरोक-टोक एवं सुगम सत्वर-गामी बनाया है। संसार भर में वायु ने अपना समान रूप रखा हुआ है इसीलिये देश-देशान्तर में जाने पर भूमि पर्वतों के समान बाधा नहीं पहुँचाती। वायु की भिन्नता के कारण कोई विशेष निर्माण की, आयोजन की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती। भूमि पर पहाड़, रेगिस्तान, वन आदि में जाने के लिये तदुपयोगी व्यवस्था करनी पड़ती है। इस प्रकार वायु ने मानव को महान् सुख-सुविधा प्रदान की है।

तमः रूप में वायु लोकों के गर्भ में रहकर उनकी गति में सहायक होती है, कारण बनती है। लोक-गर्भस्थ अनेक पदार्थों का निर्माण करती है। उनके क्रमिक परिणाम में सहायक होती है।

पृथिवी-मण्डल में जितने प्रकार के भी यान हैं सबमें इसकी सहायता प्रधान रूप में अपेक्षित होती है। मोटर में हवा एञ्जिन में भाप, वायुयान में गैस आदि रूप में यही चालन कार्य करती है। अन्य सजीव यानों में वाहन में जितना श्वसन अधिक होगा उतने ही वेग से चलेगी। बैल की अपेक्षा घोड़ा और घोड़े की अपेक्षा ऊँट अधिक तीव्रगामी होता है। इन सबके वहन में प्राण-वायु ही कारण है।

अनेक प्रकार से मनुष्यों का विशेष रूप से और अन्य प्राणियों का सामान्य रूप से रक्षण कर विश्राम देते हुए उपकार कर रही है। यह वायु की अर्थवत्ता है।

महाप्रलय-काल में अग्नि लोक लोकान्तर का विध्वंस करती है। उसमें मुख्य रूप से वायु ही सहायक होती है। ब्रह्माण्ड में जितने भी गमनागमन के साधन हैं सबमें

वायुमहाभूत का किसी न किसी रूप में हाथ है। यह इसकी बड़ी भारी अर्थवत्ता, सप्रयोजनता, उपयोगिता या सार्थकता है। इस समष्टि महाभूत के उपकारों का वर्णन करते हुए अनेक ग्रन्थ लिखे जायें तब भी वे परिगणित नहीं हो सकते।

यह वायु महादेवता सब मनुष्यों के लिये उपासना करने योग्य है। अन्दर और बाहर से सबके जीवना की रक्षा करता है। सब प्राणियों का महान् उपकारी है। अत्यन्त हितकारी है। एक प्रकार से तो यही उस भगवान् का चलता-फिरता रूप है। इसके अन्दर वह भगवान् छिपा हुआ है। एक प्रकार से यह वायु उसका चलता फिरता देह है, जैसे जीवात्मा का शरीर होता है। इस विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा भी गया है बड़े सुन्दर भाव हैं:—

"यो वायौ तिष्ठन-वायोरन्तरो,
यं वायुर्न वेद, यस्य वायुः शरीरम्,
यो वायुमन्तरो यमयति,
एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"

बृहदारण्यको० अ० ३। ब्रा० ७। मं० ७।

—परम आराध्य श्री भगवान् वायु के गर्भ में निवास करता है। परन्तु इसको वायु नहीं जानता। वायु उसका शरीर है। अतः वह भगवान् उसका अन्दर से संचालन करता है। वह तेरा अन्तर्यामी भगवान् है, जो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अमृतरूप है और मोक्ष स्वरूप है।

यहाँ वायु को भगवान् का शरीर कल्पित करके उपासना और ज्ञान का वर्णन किया गया है। यद्यपि उसका शरीर कोई नहीं हो सकता है, क्योंकि वह भोक्ता नहीं। भोक्ता को ही शरीर की जरूरत है। वायु और ब्रह्म का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। इसमें ब्रह्म की उपलब्धि होती है। यह एक प्रकार से ब्रह्म को आच्छादन करने वाला बाहर का कवच है। कोश है। यह इसमें निवास करता है। जहाँ वायु गमन करके पहुँचता वहाँ वह पहिले ही मौजूद होता है। इस समष्टि वायु में ही भगवान् की खोज करनी चाहिये, कि वह किस प्रकार स्थिर होकर ठहरा हुआ है। इसके गति करने से भी वह गति नहीं करता है क्योंकि वह सब जगह है। वह सब देशों में है। वायु उत्पन्न होने वाला है अतः एक देश में या कुछ देश में ही वह रह सकता है। इस विषय में यजुर्वेद ने भी कहा है—'**तदेजति तन्नैजति।**' इस वायु महाभूत के चलायमान होने पर, चञ्चल होने पर वा गतिमान् होने पर भी वह ब्रह्म चलता नहीं। कम्पायमान नहीं होता है। चञ्चल नहीं बनता है। सदा तीनों कालों में एकरूप, एकरस होकर अडोल निष्क्रिय हो कर ठहरा हुआ है।

ईश्वर को मानने वालों का एक धर्म

इस भगवान् के नाम पर अनेक मत चले, अनेक प्रकार से इसको भिन्न-भिन्न रूपों से समझने की कोशिश की और कुछ अंशों में जाना भी। हमारे विचार में विशेष ज्ञानी और बुद्धिमान् वही व्यक्ति है जो यह दावा नहीं करता कि मैंने ही उस ब्रह्म को ठीक-ठीक समझा है औरों ने गलत समझा है। सामवेदीय तलवकारोपनिषद् में भी तो कहा है—

"यदि मन्यसे सुवेदेति,
दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं, यदस्य च देवेषु,
अथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।।"

केनोप० ख० २ । म० १ ।

—यदि तू समझता है 'मैंने उसे ठीक-ठीक जान लिया है' तो निश्चय ही तू ब्रह्म के बहुत थोड़े से रूप को जान पाया है, और जो तुमने जाना है, और जो अन्य विद्वानों ने जाना है, वह सब अभी मनन करने के योग्य है। ऐसा मैं केन का रचयिता समझता हूँ।

"**अविज्ञातं विजानताम्**"—जो कहते हैं हमने जान लिया वे उसे नहीं जानते।
(केनो० खं० २ । मं० ३)

यदि एक ही व्यक्ति की समझ में उसका विज्ञान या स्वरूप आ जाता है, तब तो वह ब्रह्म सीमित हो जाता है। एक देशी हो जाता है। उसके विज्ञान की अनन्तता तो तब ही सिद्ध होती है, जबकि परिछिन्न जीव को सीमित, थोड़ा ही उसके विषय में ज्ञान हो, और वह ज्ञान भी एक देश का ही हो। अतः ज्ञानी को यह अभिमान ही नहीं करना चाहिये कि मैंने उस अनन्त भगवान् को सर्वरूप से जान लिया है, या समझ लिया है, देख लिया है, या प्रत्यक्ष कर लिया है।

जिन लोगों, ऋषियों, मुनियों, पैगम्बरों या अन्य मतावलम्बियों ने उसके विज्ञान को सीमित सा कर दिया है, दूसरे के लिये गुन्जायश ही नहीं छोड़ी है, वे सब मतमतान्तरों में झगड़ों के मूल बने हैं। जब भगवान् सबका एक ही है तो उसके मानने वालों का धर्म, सिद्धान्त, मत भी तो एक ही होना चाहिये। यह हिन्दू है, यह मुसलमान है, यह ईसाई है, यह सिख है यह भेद नहीं होना चाहिए। अतः ईश्वर को मानने वालों का सार्वभौम एक ही धर्म होना चाहिये क्योंकि सब उस ही एक ईश्वर को मानने वाले हैं। उसके ही सब पुजारी हैं। उस एक के ही उपासक हैं। उसके विज्ञान के लिये यत्नशील हैं।

इसको इस दृष्टान्त से समझिये—जैसे १०० की संख्या है। इसको पूरा करना है। एक (१०×१०) दस को दस बार लेकर पूरा करता है। एक (२५×४) पच्चीस को चार बार लेकर पूरा करता है। एक (२०×५) बीस को पाँच बार लेकर पूरा करता है। एक (५०×२) पचास को दो बार लेकर सौ पूरे कर देता है। अब इनमें एक ही व्यक्ति दावा करके बैठ जावे कि मेरी संख्या का ही जोड़ ठीक है तो वह बात गलत ही होगी।

इसी प्रकार भगवान् के मानने वाला व्यक्ति या समाज यह दावा करने लगे कि मैंने, या हमने ही खुदा को, या गॉड को, या वाहे गुरु को, या कुदरत को ठीक समझा है। यह दावा उनका गलत है और बिलकुल नासमझी की बात है। यही गलती इस पृथिवी-मण्डल पर भी और अन्य मण्डलों में भी लड़ाई, झगड़े, उपद्रव, फूट, भेद और शत्रुता का कारण बनी हुई है और सदा बनी रहेगी। अतः सब ईश्वर के मानने वालो के मत, धर्म, स्नेह, प्यार, हमदर्दी, कल्याण और उत्थान की भावना, समान ही होने

चाहियें। एक सी ही होनी चाहिये। यह ही भगवान् की भक्ति, उपासना या ज्ञान का प्रत्यक्ष में फल है।

पाठक वृन्द ! आपको इस भावना पर विशेष ध्यान देना है। इसी प्रकार का जीवन भी बनाना है। इस शरीर के रहते हुए यही ईश्वर की भक्ति या ज्ञान का फल है, और मरने के पश्चात् भेद-भाव रहित मोक्ष।

इति समष्टि-वायु महाभूत-मण्डलम्।

इति प्रथमाध्याये पञ्चमः खण्डः।

इति त्रिंशदावरणम्।

षष्ठ खण्ड

२९वाँ आवरण

समष्टि आकाश महाभूत मण्डल

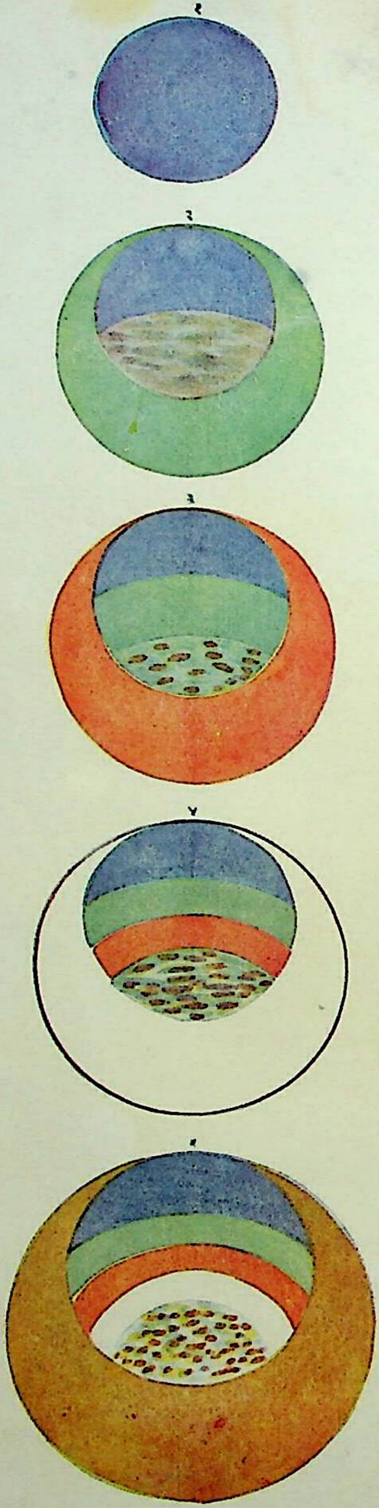
पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

योगिन् ! पञ्चम खण्ड में वर्णित विधि के अनुसार आपने समष्टि महाभूत वायु के पाँचों रूपों का समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है। वायु की परिणत होती प्रत्येक स्थिति में ईश्वर के सन्निधान और उसकी निमित्त कारणता का भी आपने साक्षात् कर लिया है। अब आप वायु और वायु के प्रत्येक परिणाम में भगवान् और उसकी निमित्तता को पाते हैं। वायु के सर्वत्र विद्यमान कम्पन, तिर्यग् गमन, चञ्चलता आदि सब ही वायु के स्तरों में सर्वत्र भूत-भावन-भगवान् की सत्ता को दिखाने लगे हैं। आपने समाधि की सूक्ष्म-स्थिति में अरूप वायु और उसके अरूप परिणामों को परखा है।

वायु को सर्व शरीरव्यापी त्वचा से सर्वत्र अनुभव करने की सरलता थी। आकाश अरूप भी है और सूक्ष्मतम भी। इसका ज्ञान तो केवल श्रोत्र से हो सकता है। जो सारे लम्बे चौड़े शरीर में केवल छोटे से कर्ण गह्वर में स्थित है। इसी और इसकी अन्तर्वर्तनी सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से शब्द-तन्मात्रा का और उसके परिणामों का प्रत्यक्ष करना है। भूत विषयक समाधियों में यह अत्यन्त सूक्ष्मतम-विषयक समाधि है। आकाश के धर्म भी केवल तीन हैं। आकाश विषयक समाधि के अभ्यास से आपकी ऋतम्भरा सूक्ष्म होगी। इस सूक्ष्मता को पा आप महाभूतों की परिधि समाप्त कर तन्मात्राओं के मण्डल में प्रवेश कर सूक्ष्मता उपलब्ध कर सकेंगे। इस प्रकार अभ्यास की परिपक्व सूक्ष्म स्थिति लाभ करते आप विकृति के जटिल दुर्गों की दुर्गम खाइयों को पार करते सूक्ष्मातिसूक्ष्म महामाया प्रकृति के संग में आँख-मिचौनी खेलते इस ब्रह्म को साक्षात् रूप से प्रत्यक्ष कर अपनी साध को पूरा कर सकेंगे।

धैर्य के धनी योगिन् ! अब आपने संयम की सूक्ष्म स्थिति में आकाश-महाभूत को समाधि का विषय बनाना है। आकाश अवकाश प्रदान न करे तो कोई भी भूत परिणाम भाव को प्राप्त न हो सके। महाभूतों की परिणति का यह भी एक प्रधान आधार है। आधार का शुद्ध विज्ञान भी आधेय को शुद्ध ज्ञान का हेतु होता है। आकाश महाभूत की सूक्ष्मता, वायु आदि की स्थूलता एवं स्थूलता के कारण उनके परिणामों का विशुद्ध रूप में बोध करायेगी।

इस आकाश के भी अन्य भूतों के समान ही पाँच रूप हैं: १. स्थूलरूप, २. स्वरूप ३. सूक्ष्म रूप, ४. अन्वय रूप, ५. अर्थवत्ता रूप। पिछले सब ही महाभूतों के व्याख्यान में आपने इन रूपों का स्वरूप समझ लिया है। अब आकाश-महाभूत का समाधि में पूर्ण-विश्लेषण कीजिये और उस सूक्ष्मता में ही ब्रह्म की निमित्तता को भी परखिये, समझिये, बुद्धिगम्य कीजिये। अरूप वायु में अरूप ब्रह्म का आप प्रत्यक्ष कर चुके हैं अब



चित्र स० ३

पञ्च स्थूल भूतों का स्वरूप और परस्पर मिलकर संघात भावकों
... निर्माण ।

सर्व भूतों में व्यापक सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकाश और उसके धर्मों, कार्यों और परिणामों का प्रत्यक्ष कीजिये जिससे उसमें निहित सर्वव्यापक ब्रह्म को भी आप समझ सकें, पा सकें। इससे आपकी सूक्ष्म-सामर्थ्य तीव्र होगी।

समष्टि आकाश महाभूत मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(आकाश का प्रथम रूप)

१. आकाश के स्थूल रूप में—

सृष्टि रचना में महाभूतों की रचना में आकाश महाभूत सर्वप्रथम परिणाम है जो गन्ध-तन्मात्रा की परिणति के उपरान्त हो रहा है। पाँचों तन्मात्रायें बन चुकी हैं। अपने-अपने रूप में अकेली हैं। ऐहिलौकिक भोग देने में यह तन्मात्रायें असमर्थ हैं। सूक्ष्म तन्मात्रायें सूक्ष्म शरीरों का या स्वर्गस्थों का ही भोग सम्पादन कर सकती हैं। ऐहिलौकिक भोग तन्मात्राओं से निष्पन्न होंगे, पर महाभूत रचना के द्वारा। स्थूल शरीरों का भोग स्थूल भूत ही दे सकते हैं। इस लिये सूक्ष्म भूतों को स्थूल भूतों के रूप में परिणत होना पड़ता है। चित्र संख्या ३ देखें।

अब सर्वप्रथम शब्द तन्मात्रा आकाशमहाभूत में परिणत होने चली है। उसके पाँचों रूपों में होते परिणामों का साक्षात्कार करियें।

सर्वप्रथम स्थूल रूप को समाधि का विषय बनावें। यह आकाश तीन धर्मों वाला है। प्रत्येक धर्म क्रम से उत्पन्न होता है।

१. सर्वत्रगति :—इस कार्यात्मक आकाश के सृजन-काल में जहाँ-जहाँ आकाश पहुँचता है, वहाँ-वहाँ अवकाश होता जाता है। यह शब्द-तन्मात्रा विभु सी प्रतीत होने लगती है। आकाश के सब गुणों का परिणाम पूर्ण हो जाने पर जब वायु महाभूत का स्पर्श तन्मात्रा से परिणाम होगा तो यह अवकाश वहाँ पूर्वतः विद्यमान होगा। इसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि सबको ही यह पूर्वतः विद्यमान होने के कारण अपने गर्भ में धारण करता है। यह चारों भूत इसी विभु आकाश में क्रीड़ा करते हैं और आकाश में ही अपने स्वरूप को, धर्मों को, कार्यों को प्रकट करते हैं। इन सबका यह निवास-स्थान है। इनमें भी है। इनमें होते हुए भी इनसे पृथक् है। इनका आधार भी है और इनमें रमा हुआ भी है। इनके निर्माण में सहकारी है, क्योंकि इनमें ओतप्रोत है।

चित्र संख्या ३ का विवरण—इस चित्र में पञ्च भूतों का परस्पर मिलकर संघात हुआ है। प्रथम नं० १ आकाश महाभूत वायु महाभूत के अन्दर ओतप्रोत होकर ठहरा है। नं० ३ में आकाश और वायु महाभूत मिलकर अग्नि महाभूत में सूक्ष्म होने से प्रवेश कर गये हैं। नं० ४ में आकाश वायु अग्नि महाभूत जल महाभूत में विलीन होकर ठहर गये हैं जल महाभूत स्थूल होने से तीनों को अपने गर्भ में धारण करने में समर्थ हुआ है। नं० ५ में पृथिवी महाभूत चारों की अपेक्षा स्थूल है अतः इसने इन चारों को अपने गर्भ में धारण कर लिया है। ये पाँचों महाभूत मिलकर स्थूल शरीर के निर्माण और इनके भागों के पदार्थ निर्माण करके भोग और अपवर्ग सम्पादन करते हैं।

अग्रिम निर्माण में यह वायु को अवकाश भी प्रदान करेगा और शब्द भी; क्योंकि आकाश का स्पर्श तन्मात्रा के साथ मिल कर ही वायु का विकास होगा। वायु धर्मों की परिणति पूर्ण होने पर आकाश और वायु दोनों रूप तन्मात्रा के साथ संयुक्त होकर ही तो अग्नि महाभूत का परिणाम होगा। पुनः यह तीनों भूत रस तन्मात्रा के साथ मिलकर जल का और पुनः चारों भूत गन्ध-तन्मात्रा के साथ संयुक्त होकर पृथिवी का परिणाम करेंगे। आकाश का सर्वत्र गति धर्म ही सबके साथ संयोग उत्पन्न करता है। इसीलिए पृथिवी, जल, वायु, अग्नि सबमें ही शब्द गुण विद्यमान है।

उपाधि का भेद होने पर आकाश के भेद मान लिये जाते हैं, अर्थात् उपाधि घट, पट, मठ (मन्दिर) आदि के साथ संयोग होने पर घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश आदि की कल्पित भावना बना ली जाती है; पर तत्त्वतः आकाश एक ही है। उसके भेद की कल्पना अरुचिकर है, घट के टूटने पर यदि वहाँ मठ बना दिया जाये, तो क्या वही घटाकाश मठाकाश में परिवर्तित हो गया यह माना जाये। यदि इस परिवर्त्तन के कारण आकाश को परिवर्त्तन धर्म वाला मान लें तो यह अनोखा विवर्त्तमय सा आकाश बन जायेगा और निश्चित रूप से कोई भी कार्य इससे नहीं लिया जा सकेगा।

आकाश की सर्वत्र-गति की यह अद्भुत महिमा है कि इस पृथिवी के किसी भूभाग का मानव अपने आकाश से संयोग कर आकाश में सैकड़ों मील ऊपर घूमते, आकाश में स्थित टैलस्टार द्वारा वहाँ के आकाश से एक होने के कारण सम्बन्ध सा जोड़ जर्मनी में स्थित मानव के साथ वहाँ भी व्याप्त उसी आकाश द्वारा बात-चीत कर रहा है। आकाश में व्याप्त अनन्त शब्दों में से केवल उन्हीं शब्दों का आदान-प्रदान होता है जिनके साथ विद्युत् का सम्बन्ध जुड़ा है। जब विद्युत् के बिना भी साक्षात् आकाश का प्रत्यक्ष हो जायेगा तो भूत काल के भी आकाश में स्थित शब्दों का भी बोध हो जायेगा। इसी आकाश की व्यापकता का लाभ उठा स्पुतनिक में यात्रा करते हुआ हजारों मील पर स्थित मानव पृथिवी के मानव के साथ बात-चीत कर रहा है, अपनी कुशलता भेज रहा है और पृथिवीस्थ मानव के आदेश पा रहा है। सर्वत्रगत आकाश में शब्द व्याप्त हो जाता है और उपकरणों द्वारा गृहीत भी हो जाता है। व्यापक आकाश के संकेतों को सब शत्रु, मित्र सब ही देशों के वैज्ञानिक ग्रहण कर सकते हैं, कर लेते हैं, पर दूसरे देशों से रहस्य को गुप्त रखने के लिए सब देशों ने अपने सांकेतिक कोड शब्द बनाये हुए हैं, और इस प्रकार सर्वव्यापक आकाश की सर्वोपकारिता को भी एकदेशीय सा बना लिया है। आकाश की इस व्यापकता का उपयोग कर बेतार के तार और रेडियो द्वारा मनुष्य अगणित लाभ उठा रहा है।

यह आकाश दृश्यमान न होते हुए भी दर्शन का विषय बनता है, अग्नि के संयोग से। कोई इसको नित्य कहते हैं, कोई इसे अनित्य बताते हैं। यह कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य है। इसमें विभुता चारों भूतों की अपेक्षा है अन्य परमात्मा आदि की दृष्टि से नहीं। यह उनमें व्याप्त नहीं।

यह जड़ आकाश सर्वत्र पहुँचा हुआ है, किस-किस प्रकार अपने गुणों को अभिव्यक्त करता है, ब्रह्म के जिज्ञासु को अभ्यास काल में इसकी अभिव्यक्ति के निमित्त सर्वत्र विराजमान भगवान् की सत्ता का प्रत्यक्ष करना चाहिये।

२. अव्यूह—भगवान् के सान्निध्य से चेतन आकाश के से बन विभु हो जाने पर, सर्वत्र पहुँचने की सामर्थ्य आ जाने पर सबमें निहित सर्व-भाव को चरितार्थ करने के लिये आकाश के सर्वगतित्व का परिणाम अव्यूह धर्म में हो गया। आकाश ही सर्वपदार्थों को भिन्नभिन्न सत्ता रूप में दर्शाने लगा । सब पदार्थों का विश्लेषण आकाश के कारण ही हो पाता है । सबको अलग करने की शक्ति आकाश में है । एक महाभूत को दूसरे महाभूत से अलग रखना इसी का काम है । पृथिवी से अलग जल को विशुद्ध रूप में प्राप्त करते हैं, मैले गदले जल को नितार लेते हैं, या फिल्टर कर लेते हैं। फिल्टर यन्त्र ही बना लिया है, यह सब आकाश के व्यूह धर्म का ही सदुपयोग है । जल से अग्नि पृथक् मिलती है यह आकाश के अव्यूह धर्म का ही तो फल है । यदि अव्यूह उन्हें अलग न रखता तो शीतल जल, हिम आदि कुछ भी उपलब्ध न हो सकते। सर्वत्र अग्निमय गरम जल ही मिलता और गरम जल के कारण वनस्पति आदि कुछ भी न पनप पाते । गरम जल से सब झुलस जाते और जब अग्नि भी विशुद्ध रूप में न मिलती तो पाक कर्म सब ठप हो जाता। न फल पकते, न अनाज ही पकते । वैद्यक के रस निर्माण की सारी प्रक्रिया असंभव हो जाती । आकाश के अव्यूह ने अग्नि और जल को पृथक्-पृथक् रख सारी सृष्टि के व्यापारों में व्यावहारिकता उत्पन्न कर दी है । इसी प्रकार अव्यूह के कारण ही अग्नि से वायु, और वायु से आकाश अलग ज्ञान का विषय बन सके हैं और सब अलग-अलग रहकर भोग और अपवर्ग का निमित्त बने है । कार्य कारण में भेद करने वाला भी यही अव्यूह धर्म है । कार्य कारण का भेदक काल भी होता है । पूर्ववर्त्ती कारण होता है और परवर्त्ती कार्य । पर साक्षात् दृश्यमान् भेदक तो आकाश है ।

आकाश के कारण ही पृथिवी, जल, अग्नि, वायु का व्यूह-एकत्र समूह नहीं होने पाता । यदि आकाश इनमें अपने अव्यूह रूप में व्यक्त न होता तो पृथिवी एक ही होती, यह अगणित लोक-लोकान्तर ही न बन पाते । बस सबका सब एक पिण्ड होता । जैसा सृष्टि के आरम्भ में 'हैममण्डलम्' था, वही रहता, और न ही पञ्च भूतों का विभाग हो पाता; और न ही भूतों के कार्यात्मक विपरिणाम होते । जल भी एक ही रूप में होता। समुद्र, नदी, कूप, नाले, सर, वापी, प्रस्रव, झील आदि का भेद ही न होता । और तो और जल से जल भी अलग न किया जा सकता, न कोई जल का पान कर सकता, न उससे स्नान ही कर सकता, न जल आदि में कोई पाक ही हो पाता । बस पानी की एक चद्दर सी होती और वह भी उस हैम महापिण्ड से अलग न की जा सकती । अलग-अलग कोई व्यवहार ही न हो पाता । जीव का न भोग निष्पन्न होता न अपवर्ग । आकाश का अव्यूह धर्म भगवान् की चेतना से चेतन सा बना कार्य निरत हुआ है, आकाश की अव्यूह चेतना में ही वास्तविक भगवान् की चेतना का साक्षात्कार योगी को करना है । वास्तविक चेतना कौन सी है, और आनुषंगिक कौन सी है, इसी का प्रत्यक्ष योगी को करना है।

३. अवकाश-प्रदान –आकाश के अव्यूह धर्म ने सब को अलग-अलग कर दिया, और साथ ही इन सबको टिकाने के लिए अपने अन्दर अवकाश प्रदान कर दिया; अव्यूह धर्म ही अवकाश प्रदान में परिणत हो गया । संसार का कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसको यह आकाश अवकाश न देता हो।अवकाश का अभिप्राय है ठहरने के लिए स्थान।

आकाश के अन्दर सब जड़, चेतन समाये हुए हैं। सबके ठहरने की जगह आकाश में ही है। चारों समष्टि महाभूत इसमें निवास कर रहे हैं।

आकाश परिणामी है, अतः अपने कारण से स्थूल है। हाँ, चारों भूतों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है। आकाश के लिए ऐसे स्थान की आवश्यकता नहीं, जिसमें अन्य न आ सके। जहाँ पृथिवी है वहाँ जल नहीं आ सकता है, जहाँ जल है वहाँ आग नहीं। जहाँ आग वहाँ हवा नहीं। पृथिवी में चारों भूत हैं, यह भिन्न बात है, पृथिवी की उद्भूत अवस्था में पाँचों भूतों के परमाणु मिश्रित हैं। पर जब पार्थिव परमाणु परिणाम को प्राप्त हो गये उस अवस्था में जहाँ वे पार्थिव परमाणु हैं वहाँ जल, अग्नि आदि के परमाणु नहीं। जो वस्तुएँ स्थान घेरती हैं, उनमें से एक ही वस्तु उस स्थान में समायेगी। उसको हटाये बिना दूसरी वस्तु वहाँ नहीं आ सकती। आकाश स्थान नहीं घेरता, अतः आकाश में सब वस्तुएँ समा जाती हैं। आकाश सबको अपने में स्थान दे देता है। अतः अवकाश-प्रदान आकाश का ही गुण है। सबको ठहरने के लिए आकाश ही स्थान देता है, चाहे वे स्थूल भूत हों या उनके विकार। चारों भूत और चारों भूतों के कार्य आकाश में रहते है। पृथिवी के परमाणु आकाश में रहते हैं और पार्थिव परमाणुओं के बने यह भूमण्डल तथा अन्य लोक-लोकान्तर भी आकाश में रहते हैं। पार्थिव वनस्पति, पर्वत एवं पार्थिव शरीर सब ही आकाश में ठहरे हैं। इसी प्रकार अग्नि के परमाणु और अग्निमय लोक-लोकान्तर सूर्य आदि, आग्नेय विकार विद्युत्, दीपक, विद्युत्-प्रदीप, चूल्हे भट्टी आदि की अग्नि एवं सूक्ष्म शरीर भी आकाश में ही ठहरे हैं। इसी प्रकार वायु के परमाणु, वायु के स्तर, वायु के आन्धी, तूफान, पक्षी आदि सब आकाश में ही ठहरे हैं। इस प्रकार सब ही चेतन, अचेतन, जड़, जीव आकाश में ही ठहरे हुए हैं।

आकाश असीम है। हाँ, उपाधि परिछिन्न आकाश को भी मानव ने भूमि की नाईं स्वायत्त कर लिया है। उपाधि परिछिन्न आकाश को खरीदा भी जाता है, और बेचा भी जाता है। एक हजार गज भूमि खरीदने पर उसके ऊपर का आकाश भी खरीदा जाता है। भूमि का स्वामी आकाश में कितने ही तल (मंजिलें) या खण्ड बना सकता है। कोई रोक नहीं। हाँ बड़े-बड़े नगरों में नगरपालिकाओं आदि से एक खण्ड के लिये भी और अन्य खण्डों के लिये भी स्वीकृति लेनी पड़ती है जिससे भवन आदि की सुरक्षा एवं पड़ोसी की सुविधा की भी रक्षा हो। बड़े-बड़े नगरों में तो भूमि और आकाश का अलग-अलग विक्रय होता है। भूमि के साथ एक मंजिल का आकाश सम्मिलित होता है। ऊपर की मंजिलों का भूमि की नाप का आकाश विकता है। पहली मंजिल का मालिक कोई दूसरा, और दूसरी मंजिल का मालिक कोई अन्य। जितनी मंजिलें उतने ही मालिक। इस प्रकार अमरीका आदि देशों में डेढ़-डेढ़ सौ मंजिलों से भी अधिक के मकान हैं; और मंजिलों के मालिक भी भिन्न-भिन्न हैं। यह मंजिलों का क्रय-विक्रय आकाश के मूल्य के साथ होता है। यह सब आकाश के अवकाश प्रदान का ही मानव द्वारा स्वायत्तीकरण है।

आजकल तो आकाश का मूल्य बहुत बढ़ गया है, क्योंकि ऊपर की मंजिलें बढ़िया होती हैं। भौम जीव आदि का भय वहाँ नहीं होता। आजकल की सब ही देशों की सरकारें अपने-अपने देश के आकाश पर अपना-अपना अधिकार मानती हैं। बिना स्वीकृति के अन्य देश का विमान उनके आकाश में आ जाये तो प्रतिरोध किया जाता है,

और यदि प्रतिरोध मान्य न हुआ तो फिर गगनभेदी तोपों का मुख ऊपर कर दिया जाता है और अनधिकृत वायुयानों को मार गिराया जाता है। यह सब आकाश के अवकाश-प्रदान की लीला है। पर जहाँ आकाश में मानव की पहुँच या रोकने की सामर्थ्य नहीं हो पाई है वहाँ के आकाश पर विवशता के कारण सब का अधिकार है। ऐसे बहुमूल्य आकाश की कोई हद नहीं, सीमा नहीं।

आकाश को स्वयं स्थान की अपेक्षा नहीं, पर वह सबको ठहरने के लिये स्थान देता है, उस आकाश पर आधिपत्य जमाये मालिक की उसे तनिक परवाह नहीं। वह सबको अवकाश प्रदान करता है। आकाश की यह सब विचित्र महिमा उस अप्रतिम सर्वव्यापक चेतन परब्रह्म की अनन्त महिमा का वर्णन कर रही है। प्रभु के सान्निध्य से यह अव्यूह किसी प्रकार अवकाश प्रदान में परिणत हो रहा है, इसी परिणाम का योगी को प्रत्यक्ष करना है। इन परिणामों में ही निहित उस प्रभु की अलौकिक सत्ता का साक्षात्कार होगा।

आकाश उत्पन्न हुआ है, अतः स्थूल है। परन्तु तो भी चारों भूतों की अपेक्षा तो अत्यन्त सूक्ष्म है। अनेक ग्रन्थों में इसकी व्यापकता से ब्रह्म की व्यापकता की तुलना की गयी है। जो आचार्य पञ्च-भूतात्मक ही सृष्टि मानते हैं, जैसे न्याय-वैशेषिककार आदि, ये सब आकाश को नित्य और विभु मानते हैं। वैशेषिक दर्शन में एक सूत्र है—

'विभववान् महानाकाशस्तथा चात्मा

वैशेषिक अ० ७। आ० १। सू० २२।

—महान् आकाश विभु है, ऐसे ही आत्मा भी।'

यहाँ आकाश को विभु माना है, और आत्मा को भी। यहाँ इस स्थल पर आत्मा के विभुत्व विषय में ऊहापोह अप्रासंगिक होगा। अन्यत्र प्रकरणानुसार लिखना ही है। इतना लिख देना आवश्यक है कि हमारी मान्यता है कि जीव अणु हैं और नाना हैं। इस सूत्र में यदि आत्मा शब्द से ब्रह्म का ग्रहण किया जाये तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। यहाँ दर्शन में प्रकरण आकाश का चल रहा है अतः आकाश में जो विभुता बतायी गयी है वह चारों महाभूतों की अपेक्षा से ही मानी गयी है। अन्यथा उत्पन्न होने वाला पदार्थ विभु नहीं हो सकता। चारों भूतों की अपेक्षा आकाश सूक्ष्म है। इसलिये थोड़े से अंश में इसकी तुलना ब्रह्म के साथ की जा सकती है। अतः आकाश की सूक्ष्मता में ब्रह्म का अन्वेषण अन्यभूतों की अपेक्षा सुगम है। आकाश एक ही पदार्थ है, किसी अन्य की इसमें मिलावट नहीं। पृथिवी में तो अन्य चारों भूत भी मिले हैं; जल में अग्नि, वायु, आकाश मिले हैं। अग्नि में वायु और आकाश, वायु में भी आकाश मिला है। इन सब में मिलावट है, अन्य भूतों का मेल है। इनमें सूक्ष्म ब्रह्म की खोज या ब्रह्म का दर्शन कुछ कठिन है। आकाश तो विशुद्ध रूप में अकेला ही है और वह भी सूक्ष्म, अतः सूक्ष्माति-सूक्ष्म ब्रह्म का दर्शन यहाँ सरल एवं सुगम है।

इस आकाश की सूक्ष्मता में ब्रह्म की चेतन सूक्ष्मता का अनुभव करना चाहिये। ब्रह्म की सूक्ष्मता आकाश की सूक्ष्मता से भिन्न प्रकार की है, विजातीय है। बहुत से सजातीयों में किसी एक विजातीय का ढूँढना कुछ प्रयास साध्य होता है, यहाँ तो आकाश के मुकाबले में एक विजातीय ब्रह्म ही है। यदि आकाश की सूक्ष्मता में समाधि द्वारा

प्रवेश करें तो सीधा सम्मुख ब्रह्म ही बनता है। रुकावट करने वाला बीच में अन्य कोई पदार्थ नहीं है। जैसा शून्य सा आकाश है वैसा ही शून्य सा ब्रह्म भी है। परन्तु अन्तर केवल जड़ और चेतन का ही है। सूक्ष्म में सूक्ष्म की व्यापकता का शीघ्र ही अनुभव हो जाता है। भौतिक सृष्टि में इतना सूक्ष्म और शून्य अन्य पदार्थ कोई नहीं है जैसा कि आकाश है। यहाँ अन्य कोई भूत बाधक भी नहीं है। इस आकाश का साक्षात्कार होते ही झट ब्रह्म में ही प्रवेश हो जाता है। व्याप्य-व्यापक-भाव का साक्षात् अनुभव होने लगता है। भौतिक जगत् में इस निराधार आकाश में निराधार ब्रह्म का प्रत्यक्ष करना चाहिये। आकाश में जड़ात्मक शून्यता-सी है और ब्रह्म में चेतनात्मक शून्यता सी है। अतः इस भेद के आधार पर शून्य में शून्य का अनुभव करना चाहिये। एक में जड़ात्मक धर्म जान पड़ेगा और दूसरे में चेतना। व्यापकता में भी भेद प्रतीत होगा, एक की व्यापकता अखण्ड और दूसरे की खण्ड-खण्ड। फिर भी भौतिक सृष्टि में आकाश ही ब्रह्म-विज्ञान के लिये सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ है।

समष्टि आकाश महाभूत मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(आकाश महाभूत का द्वितीय रूप)

२. आकाश के स्वरूप में

आकाश के स्थूल रूप प्रकरण में जिन तीन परिणामों का निरूपण कर आये हैं, वास्तव में ये आकाश से अलग कोई पदार्थ नहीं। ये आकाश में सदा रहते हैं। आकाश के परिणामों की ये क्रमिक अवस्थायें हैं। आकाश का ही भिन्न २ अलग रूपों में परिणाम है। आकाश धर्मी है और ये सब धर्म हैं। धर्म धर्मी का अभेद है। धर्मी को छोड़ कर धर्म की भिन्न कोई सत्ता ही नहीं। फिर भेद कैसा।

ये आकाश के स्व-स्वसामान्य धर्म हैं। आकाश किसी भी रूप में रहे, ये धर्म भी उस अवस्था में भी वहाँ रहेंगे। ये आकाश में भी मिलते हैं और आकाश के परिणामों में भी। आकाश में सर्वत्र गति है। आकाश के कार्य स्थूल शब्द में भी सर्वत्र गति है। एक स्थान पर अथवा स्थान-विशिष्ट आकाश में उच्चारण किया शब्द सर्वत्र पहुँच जाता है। अनेक स्थानों के शब्द एक साथ आकाश में आते हैं, एक ही काल में विभिन्न देशों के रेडियो अपने-अपने प्रोग्राम चालू करते हैं, सब एक साथ आते हैं, पर कोई किसी में बाधक नहीं होता। सब अलग हैं और सबको अवकाश प्रदान करते हैं। एक दूसरे में रुकावट नहीं डालते। शरीर में आकाश के ही स्थानकृत भेद से हृदय, फुफ्फुस, नस, नाड़ी धमनियों के शब्द में भेद है। डाक्टर स्टैथोस्कोप लगा कर रोग के निदान हेतु सबको अलग अलग पहचानता और निदान करता है। ऐसे ही कार्यात्मिक शब्द को भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न करने वाले वेणु, वीणा, मुरज, शंख, घड़ियाल आदि के शब्द सर्वत्र गति करते हैं। किसी को रोकते नहीं और हैं सब अलग।

सर्वत्र गति, अव्यूह, अवकाश-प्रदान तीनों धर्म आकाश में स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। आकाश से कभी अलग नहीं होते। धर्म और धर्मी दोनों का एक होना आकाश का स्वस्वरूप है। सर्वत्र गति आदि धर्मों का नाम ही आकाश है। आकाश ही के ये तीन धर्म हैं। गुण-गुणी का एक होना ही स्वरूप है।

वास्तव में आकाश के ये ऐसे अव्यक्त से धर्म हैं कि साधारण बुद्धि इन्हें समझ नहीं पाती। आकाश भी सूक्ष्म है और धर्म भी सूक्ष्म हैं। इनका भेदक विज्ञान कठिन ही है। यदि ये पृथक् होते तो भेद भी हो जाता पर वास्तव में ये आकाश के परिणत होते हुए तीन धर्म हैं। इनका ज्ञान उस समय हो होता है जब इन अवस्थाओं में या परिणामों में चारों भूतों के कार्य प्रारम्भ हो जायें। बिना अन्य भूतों के सर्वत्र गति कैसे जानें, जब सर्व ही नहीं तो सर्वत्र कहाँ से आवे? अवकाश प्रदान किस को किया जाये? दानी हो और लेने वाला न हो तो दानी का ज्ञान कैसे हो? जब कोई मिला ही नहीं तो अलग किसे करें? जब तक आकाश में भूतों का व्यवहार नहीं तब तक इन तीनों परिणामों का ज्ञान नहीं हो सकता।

जब ब्रह्म की चेतन सत्ता से चारों भूतों का कार्य रूपेण परिणाम आरम्भ होता है उससे पूर्व आकाश एक विभु गुण वाला ही प्रतीत होता है। भूतों का व्यवहार प्रारम्भ होने पर सर्वतो गति धर्म की और अवकाश-प्रदान करने की शक्ति का प्रादुर्भाव देखने में आता है। इसके पश्चात् पदार्थों को अव्यूह की ज़रूरत हुई तब अव्यूह रूप गुण प्रकट हुआ, और व्यवहार में आया। इस एक ही पदार्थ आकाश में तीन प्रकार की अवस्थाओं का परिवर्तन योगी के देखने में आता है। ये तीनों गुण वैसे तो आकाश में पहिले से ही विद्यमान थे। बिना व्यवहार के इनकी प्रतीति कैसे होती? अतः व्यवहारकाल में प्रकट होते हुए समाधि द्वारा दर्शन का विषय बने, और साथ में ही इनके प्रेरक परिणाम करने वाले चेतन ब्रह्म की भी प्रतीति हुई।

शब्द-तन्मात्रा में जिन-जिन धर्मों के क्रमशः परिणाम का योगी साक्षात् करता है उसी प्रकार परिणाम में उसके निमित्त कारण ब्रह्म का भी साक्षात् करे और अनुभव करे कि ब्रह्म निमित्त कारण बनकर आकाश धर्मों के परिणाम को प्रेरणा दे रहा है। या समझिये कि परिणाम के लिये क्रिया करा रहा है। जब बुद्धि आकाश के धर्मों के परिणाम की अन्तिम सूक्ष्म अवस्था तक पहुँचेगी तब ही वहाँ ब्रह्म की चेतन सत्ता का भी बोध होगा जो परिणाम का निमित्त है।

आकाश रूपी धर्मी की ही ये वास्तव में तीन अवस्थायें हैं। धर्मी इनसे अलग देखने में नहीं आया है। ये तीनों इसके रूप हैं। अतः इनका परस्पर अभेद है। भ्रान्ति से भेद प्रतीत होने लगता है। यही इसकी स्वरूप अवस्था है। इस धर्म धर्मी के अभेद में ही ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये।

समष्टि आकाश महाभूत मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(आकाश का तृतीय रूप)

३. आकाश के सूक्ष्म रूप में—

आकाश महाभूत का जिस सूक्ष्म अवस्था से इस स्थूल अवस्था में परिणाम हुआ है। आकाश की पूर्ववर्तिनी सूक्ष्म अवस्था शब्द-तन्मात्रा ही आकाश का सूक्ष्म रूप है

(चित्र सं० ४ में सामने देखें) । आकाश स्थूल-भूत सजातीय प्रमाणुओं का संघात ही है। कारण भूत शब्द-तन्मात्रा अपने कार्य विशेष आकाश में अनुस्यूत हुई है। यह कारण-कार्य का आयुत-सिद्ध समुदाय ही महाभूत आकाश है। सामान्य आकाश और उपाधि-विशिष्ट अथवा स्तर विशिष्ट विशेष आकाश के भेद से अनुगत आकाश समुदाय अयुत सिद्ध द्रव्य ही है । इस अवस्था में शब्द-तन्मात्रा का आकाश महाभूत के रूप में परिणाम हुआ है और वही शब्द-तन्मात्रा धर्म-लक्षण-अवस्था रूपों में परिणत होकर आकाश महाभूत के स्थूल रूप को प्राप्त हो गयी है । शब्द-तन्मात्रा के सूक्ष्म-परमाणु ही संघात को प्राप्त होकर एक ऐसा द्रव्य बना जो सब पदार्थों को अवकाश देने में समर्थ हुआ । यदि इसमें और कोई विजातीय परमाणु होते जैसे पृथिवी आदि में सम्मिलित हैं तब इसमें अवकाश प्रदान करने की इस प्रकार की योग्यता न होती । इसी कारण यह सब भूतों से सूक्ष्म है और सबको अवकाश-प्रदान कर सकता है ।

(शंका) आकाश के सात्विक, राजस, तामस भेद किये गये हैं, । भला विभु पदार्थ में ये भेद कैसे हो सकते हैं ?

(समाधान) आकाश को जो विभु माना है वह चारों भूतों की अपेक्षा से ही माना है, क्योंकि आकाश चारों को व्याप्त करके रहता है। आकाश एक कार्यात्मक पदार्थ है । यह शब्द-तन्मात्रा का कार्य है । इसी कारण इसके सात्विक, राजस, तामस भेद किये गये हैं । सात्विक भाग शरीरों में है, राजस भाग अन्तरिक्ष में है और तामस भाग पृथिवी महाभूत में है ।

आकाश कार्य की सूक्ष्मता उसके अपने कारण शब्द-तन्मात्रा में परिसमाप्त होती है । अतः इसकी सूक्ष्मता में ब्रह्म का आरोप कर उपासना और ज्ञान प्राप्त करें। उपनिषद् भी इसी का अनुमोदन करती है । यथा —

'य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो,
यमाकाशो न वेद, यस्याकाशः शरीरं,
य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

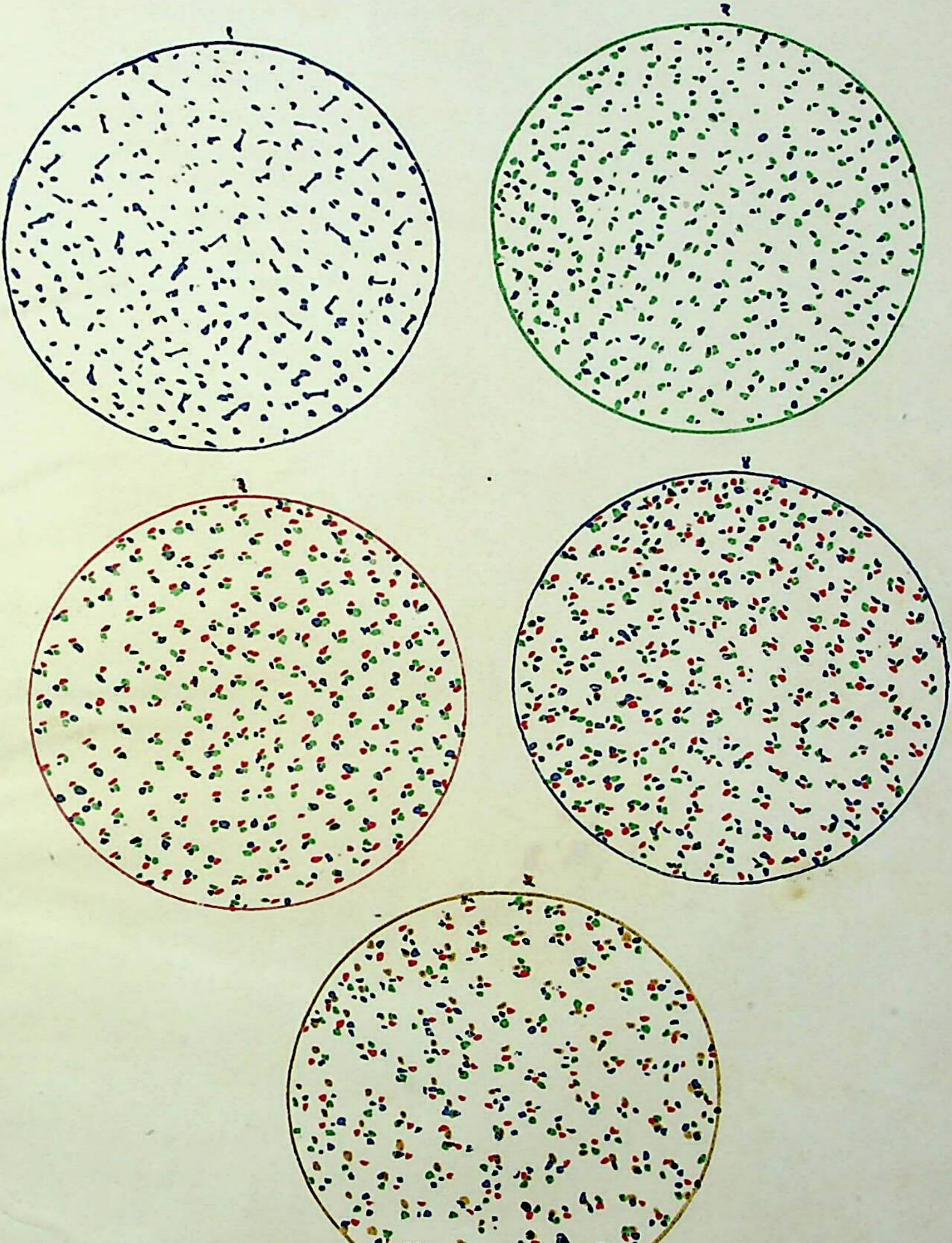
बृहदारण्यक, अ० ३ । ब्रा० ७ । मं० १२ ।

—जो ब्रह्म आकाश में ठहरा हुआ है और इसके अन्दर व्याप्त है, इसको आकाश नहीं जानता है । यह आकाश ही इस ब्रह्म का शरीर है ।'

यहाँ आकाश में ब्रह्म के शरीर की कल्पना की गयी है, उपासना और विज्ञान के लिये । केवल आलंकारिक वर्णन नहीं है ।

'यह ब्रह्म ही आकाश के अन्दर ठहर कर इसका नियमन करता है, अथवा इसे अपने अन्दर धारण करता है यही तेरा अन्तर्यामी भगवान् हैं ।'

चित्र संख्या ४ में प्रथम आकाश मण्डल के प्रमाणु अर्थात् शब्द-तन्मात्रा के प्रमाणु स्पर्श-तन्मात्रा के प्रमाणु के साथ एक-एक प्रमाणु संयोग को प्राप्त हो रहा है ये दोनों मिलकर तीसरे मण्डल में जा मिले हैं। फिर ३ प्रमाणु इकट्ठे होकर जल प्रमाणु के साथ जा मिले हैं। इसके पश्चात् ऊपर के चारों प्रमाणु पार्थिव प्रमाणु के साथ मिलकर पञ्चाणुक संज्ञा हो गई है। ये सब द्वयणुकादि संघात को प्राप्त होकर पञ्च स्थूल भूतों की रचना करते हैं, अर्थात् ये पञ्चाणुक आदि छोटे-छोटे सूक्ष्म टुकड़े या खण्ड मिलकर आकाश आदि स्थूल भूतों का निर्माण करते हैं ।



चि० सं० ४

पञ्च तन्मात्रा संघात को प्राप्त होकर स्थूल भूतों का निर्माण करने जारही हैं।

विज्ञान और उपासना का विषय इसी आकाश के कारण बना है।

'यह ब्रह्म ही अमृत रूप है।'

अर्थात् शुद्ध, बुद्ध, नित्य मुक्त-स्वभाव है।

इस आकाश में ही इस ब्रह्म का अन्य भूतों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ साक्षात्कार हो सकता है।

इस आकाश महाभूत की तीसरी सूक्ष्म अवस्था में इससे भी अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

यहाँ आकाश भी केवल आकाशीय परमाणुओं या शब्द-तन्मात्रा से ही बना है। अतः इसमें ब्रह्म के व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध को देखने या अनुभव करने में विशेष कठिनता नहीं होती है। आकाश की व्यापकता की तुलना ब्रह्म के साथ की गयी है। अतः इस तुलना से भी ब्रह्म की अनुभूति शीघ्र हो सकती है। आकाश के परमाणुओं का मिल कर एक सूक्ष्मतम स्तर बना हुआ है। आकार और रूप में यहाँ ब्रह्म का अत्यन्त साम्य है और सामीप्य भी। अतः इस अवस्था में ब्रह्म शीघ्र ही अनुभूति का विषय बन जाता है। दोनों व्याप्य-व्यापक भाव से सम्बद्ध हैं। बीच में कोई पदार्थ रुकावट या अड़चन का कारण भी नहीं है। इसलिये ब्रह्म शीघ्र सूक्ष्म बुद्धि का विषय बन जाता है। जैसे कोई रङ्ग, रूप, और आकार न होने पर भी शोक या चिन्ता चित्त में अनुभूति का विषय बन जाती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अनुभव या विज्ञान का विषय बन जाता है। उपनिषद् में कहा भी है :—

'मनसैवेदमाप्तव्यम् ।'

—'बुद्धि के द्वारा 'इदम् ब्रह्म' यह ब्रह्म प्राप्त करना चाहिये, जानना चाहिये।'

यहाँ इस उपनिषद् वचन में मन से बुद्ध का ही अर्थ गृहीत होता है। इस श्रुति में विज्ञान या बुद्धि का विषय ब्रह्म को माना गया है।

आकाश में कैसे ब्रह्म-साक्षात्कार करें

योगिन् ! बुद्धि के व्यापार को रोक, शान्त और समाहित हो अपनी दिव्य दृष्टि को ध्यान द्वारा आकाश-मण्डल में फैंकिये। आकाश की सूक्ष्मता में प्रवेश कीजिये। अब एकाकार सूक्ष्म स्तर में प्रवेश कीजिये। आकाश के इस सूक्ष्म स्तर में ब्रह्म की चेतना का अनुभव कीजिये। इस सूक्ष्म अवस्था में एक बहुत ही सूक्ष्म से कम्पन का अनुभव होगा। यह आकाश के अपने ही स्वरूप में अडोल सा, स्थिर सा कम्पन है। इन सूक्ष्म कम्पनों की सूक्ष्म सी लहरों में ध्यान की गहरी और सूक्ष्म दृष्टि डालिये, देखिये ! उस अडोल स्थिर कम्पन को ब्रह्म चेतनत्वेन सूक्ष्म गति प्रदान कर रहा है। कम्पना करा रहा है ! मानो यह ब्राह्मी चेतना इसी स्तर में मिलकर इसी में सूक्ष्म कम्पन करा रही है। जहाँ चेतना का सम्बन्ध है वहाँ क्रिया का अभाव नहीं हो सकता है। इस अवस्था में सूक्ष्म क्रिया धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम के भेद से प्रत्येक पदार्थ में बनी ही रहती है। क्रिया का विशेष-भेद मन्द या तीव्र रूप से हो जाता है। वह पदार्थ के भेद से होता है। वैसे तो ब्रह्म से जो गति प्राप्त होती है वह तो एक समान ही होती है। लोक में सूर्य की रोशनी तो सब को एक समान ही मिलती है परन्तु नेत्र की खराबी या ठीक होने से मन्द और तीव्र प्रतीत होती है। अथवा इस प्रकार समझिये। सूर्य की धूप तो सर्वत्र एक

सी ही उष्णता वाली आती है, पर वह सूर्य-कान्त-मणि (आतशी शीशे) पर पड़ने से पार होकर जब केन्द्रित होती है तो दाह का हेतु बन जाती है, आग उत्पन्न कर देती है, पर, वही धूप सामान्य शीशे पर दाह का हेतु नहीं होती। केवल प्रकाश देती है। साधारणतया सब शीशों को पार कर निकल जाती है। परन्तु वही धूप लोहे, ताम्बे, लकड़ी आदि को पार नहीं करती। इसी प्रकार ब्रह्म की चेतना से सामान्य गति सब ही पदार्थों में होती है, परन्तु पदार्थ के भेद से गति में भेद प्रतीत होता है।

आकाश का कोई ऐसा प्रदेश नहीं है कि जहाँ द्वयणुक, त्रसरेणु, चतस्रेणु या पञ्चरेणु गति न कर रहे हों। उनका गमनागमन न हो रहा हो। इनके मध्य से दिव्य दृष्टि को पार कर सूक्ष्म स्तर में पहुँचिये जहाँ इनका अभाव है। केवल आकाश है। इस स्तर में ब्रह्म के व्यापकत्व का अनुभव करें। यहीं आपको ब्रह्म का साक्षात् होगा।

(शंका) लोक में उष्ण जल की तो स्पर्श से अनुभूति हो जाती है। क्या इसी प्रकार किसी इन्द्रिय के द्वारा उस ब्रह्म की अनुभूति होगी?

(समाधान) अन्तःकरण में चिन्ता की अनुभूति जिसके द्वारा होती है उसी के द्वारा विज्ञान का विषय बन कर उसकी अनुभूति हो जायेगी।

प्रश्न—चिन्ता तो अन्तःकरण चित्त का एक धर्म है। क्या वहाँ ईश्वर भी किसी का धर्म है?

उत्तर—जैसे चिन्ता अन्तःकरण का धर्म है वैसे ज्ञान भी तो इसी का धर्म है। ज्ञान द्वारा अनुभूति होगी।

प्रश्न—चिन्ता तो अन्दर है, इसलिये प्रतीत हो जाती है। ब्रह्म की प्रतीति तो आप बाहर करा रहे हैं।

उत्तर—चिन्ता से भी समीपतम ब्रह्म अन्तःकरण में व्याप्त है। आप अन्तःकरण में ही उसकी प्रतीति कर सकते हैं।

प्रश्न—फिर उस आकाश के स्तर में कैसे विज्ञान होगा?

उत्तर—जैसे आपको चित्त के स्तर में जीवात्मा का विज्ञान हुआ है, इसी प्रकार आकाश के स्तर में भी ब्रह्म का विज्ञान हो जायेगा।

प्रश्न—यहाँ तो जीवात्मा एकदेशी है। ज्ञान का विषय बन गया, वहाँ ब्रह्म और आकाश सर्वदेशी है, कैसे विज्ञान का विषय बनावें?

उत्तर—आप आकाश के और ब्रह्म के एक देश में संयम करें, उतने ही देश में दोनों का प्रत्यक्ष विज्ञान हो जायेगा। जिस-जिस देश में संयम करते जायेंगे उस-उस देश के आकाश और ब्रह्म का ज्ञान होता जायेगा।

प्रश्न—फिर सम्पूर्ण आकाश और ब्रह्म का विज्ञान तो न हुआ?

उत्तर—तो क्या आप विज्ञान के द्वारा ब्रह्म का अन्त करना चाहते हैं? फिर तो ब्रह्म भी जीव के समान एकदेशी हो जायेगा। सर्वदेशी और अनन्त कैसे रहेगा? क्रम-पूर्वक जिस-जिस देश का ज्ञान करते जाओगे वहाँ-वहाँ का ज्ञान होता जायेगा। क्योंकि जीवात्मा एकदेशी है, परिच्छिन्न है। एक काल में एक देश के साथ ही सम्बन्ध हो सकता है। जिस देश के साथ सम्बन्ध होगा उसी का ज्ञान होगा, सर्व देश का नहीं। यह ब्रह्म की

सर्वव्यापकता की कमी नहीं है, जीव आत्मा के परिच्छिन्न होने का प्रमाण है । ब्रह्म की सर्वव्यापकता के बोध की भावना जीव की अलपज्ञता की सूचक है । अनन्त अनन्त ही रहेगा । कभी परिच्छिन्न नहीं होगा ।

समष्टि आकाश महाभूत मण्डल
चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(आकाश का चतुर्थ रूप)

४. आकाश के अन्वय रूप में—

आकाश का कारण प्रकृति के साथ परम्परागत सम्बन्ध आकाश का अन्वय रूप है । आकाश का कारण शब्द-तन्मात्रा, शब्द-तन्मात्रा का कारण तमः अहंकार, तमः अहंकार का समष्टि महत् तमः, समष्टि महत्तमः का कारण प्रकृति है । प्रकृति परिणामिनि है । यही परिणाम धर्म परम्परा से शब्द-तन्मात्रा में अनुपतित हुआ है । शब्द-तन्मात्रा परिणत हो आकाश रूप में अनुगत हुई । यही आकाश का अन्वय रूप है ।

ईश्वर की चेतन सत्ता के निमित्त से साम्यावस्था वाली प्रकृति में त्रिगुणात्मक परिणाम होता है । ये तीनों प्रकाश-क्रिया-स्थिति, रूप और धर्म परिणत होते हुए सब पदार्थों में अन्त तक आते हैं । ये ही धर्म परिणाम भाव को प्राप्त होते हुए आकाश महाभूत में भी अनुपतित हुए हैं । इस प्रकार मूल प्रकृति अपने धर्मों सहित महाभूत आकाश में अनुपतित हुई है । मध्यवर्ती परिणामों को भी अभिव्यक्त करती आयी है । यह मूल प्रकृति का अपने धर्मों सहित अनुपतन ही आकाश का अन्वय रूप है ।

प्रकृति की सत्ता है तो आकाश की सत्ता है । आकाश में अपेक्षाकृत सत्त्व गुण अधिक है । 'आ=समन्तात्, काशते=प्रकाशते इति आकाशः ।' जो सर्वत्र उपलब्ध हो वह आकाश है । सर्वत्र गतिः और अवकाश प्रदान इसीलिये इसमें अभिव्यक्त हुए हैं ।

योगिन् ! इन परिणामों की परम्परा को ध्यान की दिव्य दृष्टि से जाँचो । अन्ततः यह परिणाम ब्रह्म की सत्ता से ही गतिशील हो रहे हैं । आकाश में सर्वत्र ब्रह्म की व्यापकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है । देखो और अनुभव करो ।

समष्टि आकाश महाभूत मण्डल
पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(आकाश का पञ्चम रूप)

५. आकाश के अर्थवत्ता-रूप में—

पाँचों भूतों की उत्पत्ति जीवों के भोग और अपवर्ग के निमित्त होती है । यह इन पाँचों में अर्थवत्ता रूप सवश्रेष्ठ गुण है । ये पाँचों स्थूल महाभूत कारण और कार्य रूप से मनुष्य के विज्ञान और मोक्ष का हेतु बने हैं। भोग रूप से तो सब प्राणियों के लिए समान रूप से एक से हैं । मनुष्य के लिये मुख्य रूप से मोक्ष का साधन बने और अज्ञान से बन्धन का भी हेतु यही हैं । यही इन पाँचों की अर्थवत्ता है, उपयोगिता है ।

आकाश की अर्थवत्ता सर्वप्रधान है । इसने चारों भूतों और जीवों को अपने अन्दर अवकाश प्रदान किया है । इसी हेतु सब जड़ों और चेतनों का इसमें गमनागमन हुआ है ।

व्यष्टि से समष्टि का, और समष्टि से व्यष्टि का भेद भी इसी के द्वारा ज्ञात होता है। अन्यथा व्यष्टि समष्टि का बोध ही न हो पाता। यही इसकी अर्थवत्ता है।

सब लोक लोकान्तरों का इसमें गमनागमन होता है। सब प्राणियों का व्यवहार भी इसी में होता है। सब शरीरों को सहकारी कारण के रूप में यह अवकाश प्रदान करता है। शब्द का एक देश से दूसरे देश में गमन इसी के आधार से होता है। मेघों का गमनागमन और वर्षा इसी में होती है। चारों भूतों के सब कार्य और परिणाम इसी में होते हैं। इस प्रकार बहुविध इसकी अर्थवत्ता है।

इसमें सर्वयोग्यता और सर्वार्थता है। सूक्ष्म रूप से चल होते हुए भी अचल होकर ठहरा हुआ है। सब जड़ चेतन का स्थिति स्थापक रूप से आधार बना हुआ है। एक लोक से दूसरे लोक में इसी के आधार से गमनागमन होता है। चारों भूतों से अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उनके अन्दर और बाहर ठहरा हुआ है। आकारवान् होते हुए भी निराकार सा प्रतीत होता है। उत्पत्ति धर्मवाला आकारवान् होता है। यह किसी भी जड़ चेतन के लिए बाधक नहीं है; परन्तु सब इसके लिये बाधक से बने हैं। इसके उपकारक जितने भी गुणों का वर्णन किया जाये थोड़ा है।

निराकार ईश्वर की उपासना और ज्ञान

शंका—ब्रह्म को उपासना या ज्ञान का विषय कैसे बनावें ? वह तो निराकार है !

समाधान—ब्रह्म सर्वव्यापक है। जिस रूप में व्यापक है उसको ही निराकार का प्रतिपादक मान लो। आखिर उसकी व्यापकता का भी तो कोई स्वरूप मानना होगा। कुछ तो उसको कहा ही जायेगा। इस व्यापकता रूप आकार को उपासना और ज्ञान का विषय बना लो। उसकी व्यापकता का आकाश में आरोप कर लो। निराकार की उपासना करने वालों के लिये तो आकाश द्वारा उसकी उपासना करना और विज्ञान प्राप्त करना बहुत श्रेष्ठ साधन है। आकाश भी तो बिना आकार का है। शून्य रूप ही माना जाता है। पर पदार्थ से तो इनकार नहीं। निराकार आकाश में निराकार ब्रह्म व्याप्त है, क्योंकि ब्रह्म की सर्वव्यापकता तभी होगी। उस आकाश में निराकार की जो व्याप्ति है उस व्याप्ति को उपासना और ज्ञान का विषय बनाओ। व्याप्ति-आकाश की अपेक्षा सूक्ष्म है। अतः आकाश स्थूल है। क्योंकि स्थूल को सूक्ष्म ही व्याप्त कर सकता है। आप आकाश में उस ब्रह्म का आरोप करके उसको अपनी उपासना और विज्ञान का विषय बनावें। इस अध्यारोप से ही उस निराकार का विज्ञान हो सकेगा। तब ही इनके व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध को हृदयंगम कर सकोगे। एक ही ईश्वर के मानने वालों को इस आकाश में ही उस भगवान् का आरोप करके अपनी उपासना, भक्ति और विज्ञान का विषय बनाना चाहिए। यही सर्वश्रेष्ठ भगवान् का मन्दिर है, निवासस्थान है। इसमें अन्वेषण करने से निर्दोष निर्विकार ब्रह्म की प्राप्ति होगी।

हमने इन स्थूल महाभूतों को विज्ञान का विषय बनाया है और उन्हीं को उपासना का माध्यम। इस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन करने में समर्थ हुए हैं। उदाहरण से विज्ञान के क्रम को आप इस प्रकार समझें। पर्वत या स्थूल पृथिवी के संघात की अपेक्षा जल सक्ष्म है। क्योंकि वह इन में ओत-प्रोत होकर इनको मिलाने का हेतु

बना है। इसी प्रकार जब पृथिवी के भीतर से अत्यन्त गरम जल सोतों के द्वारा निकलता देखते हैं, तो जान पड़ता हैं, अग्नि जल में व्याप्त हो गयी है। उसे गरम कर दिया है क्योंकि अग्नि जल से सूक्ष्म है। इसीलिए वह जल में प्रवेश कर उसे गरम कर सकी है। इसी प्रकार जब ज्येष्ठ-आषाढ़ के मौसम में गरम-गरम लू चलती है तो ज्ञान होता है कि सूर्य की गरमी में वायु व्याप्त हो गयी है। क्योंकि वायु अग्नि से सूक्ष्म है। वायु में से आकाश शब्द को लेकर निकल जाता है। एक देश का शब्द वायु के स्तरों को पार कर कहीं का कहीं स्तरों से बहुत दूर पहुँच जाता है। क्योंकि आकाश वायु से सूक्ष्म है। इसीलिए आकाश ने वायु को ओत-प्रोत किया हुआ है। इसी प्रकार आकाश से ब्रह्म सूक्ष्म है, अतः ब्रह्म आकाश में भी ओत-प्रोत है। आकाश को व्याप्त किये है। इस प्रकार क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म में गमन करोगे तो अन्तिम सूक्ष्मता रूप ब्रह्म की अनुभूति कर सकोगे।

प्रायः सब ही लोग कहते हैं, कि जब हम बहुत छोटे थे तब माता जी आसमान की ओर हाथ उठा कर कहा करती थीं, कि भगवान् ऊपर रहता है, या ऊपर वाले जाने। मुसलमान भी खुदा को सातवें आसमान पर बतलाते हैं। ईसाई भी खुदा की सलतनत चौथे आसमान पर बताते हैं। हिन्दू भी स्वर्गादि लोकों में ऊपर ही विशुद्ध ईश्वर की प्राप्ति मानते हैं और मोक्ष में गमन भी क्रम से ऊपर ही मानते हैं। इस प्रकार भौतिक उपासना भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हुए भी यहाँ आकाश की उपासना में या आकाश द्वारा ईश्वर की प्राप्ति में सब आकर एकमत हो गए हैं। आकाश शून्य-सा है। अतः इसकी मान्यता में लड़ाई-झगड़े या वाद-विवाद की गुंजाइश नहीं है। जब तक ईश्वरवादियों ने पृथिवी आदि के विकारों को ईश्वर की उपासना का माध्यम माना तब तक लड़ाई-झगड़े बने रहे। जैसे मन्दिर, शिवालय, मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारे, आर्य समाज या अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थान सदा झगड़े का कारण बनते रहे। हैं ये सब वाद-विवाद, लड़ाई-झगड़े, निन्दा-स्तुति आदि शून्य आकाश में पहुँच कर शून्य ही हो गए।

वैसे तो सब भूमि पर बैठे-बैठे परोक्ष के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें एवं मनीषिकायें करते हैं। स्वर्ग आदि के विषय में अनेक प्रकार के सब्ज बाग दिखाते हैं। वैमत्य के कारण उपस्थित करते हैं। पर स्वर्ग आदि में तो जो जायेंगे उन्होंने ही देखना है, कि वहाँ क्या-क्या प्राप्त होता है। लौट कर उन्होंने बताना नहीं। और आँखों किसी ने देखा नहीं। तो उसके विषय में वाद-विवाद की अपेक्षा नहीं।

वस्तुतः सब ईश्वर के उपासक आकाश में आकर सहमत हो गए हैं। क्योंकि वाद-विवाद का आधार कोई साकार रूप नहीं रहा। यहाँ पहुँच कर सब का एक धर्म, एक उपासना, एक मत हो जाता है। वास्तव में ये सब ही ईश्वर के मिलने, प्राप्ति या ज्ञान के द्वार पर पहुँचे हैं। अब यथार्थ रूप से ईश्वर का द्वार मिल गया है। यहाँ पहुँच कर सबका प्रवेश भगवान् के दरबार में हो जाता है। इससे पूर्व ईश्वर-प्राप्ति के जो मार्ग या साधन थे वे संकुचित एवं संकीर्ण साबित हुए। आकाश पर पहुँच कर तो इतना बड़ा खुला स्थान मिला है कि जिसका कोई ओर छोर नहीं, जिसकी सीमा ही देखने में नहीं आ रही है। इस खुले अनन्त आकाश में भक्तों, उपासकों, योगियों, पण्डितों, मौलवियों, पैगम्बरों, पादरियों, पोपों, ऋषियों, वामुनियों की छूट है। देखें, कहाँ तक दौड़ लगा कर भगवान् के सिंहासन के पास पहुँचते हैं? चाहे जन्नत में पहुँचें, चाहे गोलोक में, चाहे स्वर्ग में, और चाहे ब्रह्मलोक में।

वास्तव में ब्रह्म के विज्ञान का इस समष्टि आकाश से सही-सही प्रारम्भ होता है। जैसा महान् भगवान् है। उसके पास पहुँचने का भी मार्ग वैसा ही विशाल चाहिए। वह सबसे बड़ा और महान् है। उसका कोई अन्त नहीं। वह बेअन्त है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। सत् चित् आनन्द सर्वव्यापक स्वरूप है।

इस प्रथम अध्याय में समष्टि पाँच महाभूतों का विज्ञान, गति के निमित्त कारण ब्रह्म के साथ इनका सम्बन्ध, ब्रह्म की उपासना विधि और उसका विज्ञान भली भाँति समझाया गया है। इसमें स्थूल महाभूत स्थूल शरीर और स्थूल इन्द्रियों के द्वारा विज्ञान का विषय थे। अब इसके आगे दूसरे अध्याय में आहंकारिक सृष्टि अर्थात् पञ्च तन्मात्राओं, समष्टि इन्द्रियों, समष्टि मन एवं समष्टि अहंकार का समाधि-जन्य ज्ञान उपस्थित किया जायेगा। उसमें प्रत्येक के स्वरूप का वर्णन और उसके विज्ञान का विधान होगा। साथ ही साथ उनमें ब्रह्म के साक्षात्कार एवं उसकी उपासना का वर्णन करेंगे। स्थूल महाभूतों की अपेक्षा यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय है। यह समस्त विषय सूक्ष्म दिव्य दृष्टि का विषय है।

इति समष्टि आकाश महाभूत मण्डलम्

इति प्रथमाध्याये षष्ठः खण्डः

इत्येकोनत्रिंशदावरणम्

प्रथमः अध्यायः समाप्तः।

प्रकृति के कार्यों
में
त्रयीकरण

अहंकारिक सृष्टि

	समष्टि सत्वाहंकार	समष्टि राजसाहंकार	समष्टि तामसाहंकार	
तन्मात्रायें—गन्ध =	·१+	·३+	२·६	=३·०
रस =	·२+	·५+	२·३	=३·०
रूप =	·३+	·७+	२·०	=३·०
स्पर्श =	·४+	·९+	१·७	=३·०
शब्द =	·५+	१·१+	१·४	=३·०
कर्मेन्द्रिय—गुदा =	·१+	१·५+	१·४	=३·०
शिशिन =	·२+	१·७+	१·१	=३·०
पाद =	·४+	१·८+	·८	=३·०
हस्त =	·६+	१·९+	·५	=३·०
वाणी =	·८+	२·०+	·२	=३·०
ज्ञानेन्द्रिय—घ्राण =	१·१+	·९+	१·०	=३·०
रसना =	१·२+	१·०+	·८	=३·०
चक्षु: =	१·३+	१·१+	·६	=३·०
त्वचा =	१·४+	१·२+	·४	=३·०
कर्ण =	१·५+	१·३+	·२	=३·०
उभयेन्द्रिय — मन =	१·४+	१·४+	·२	=३·०
व्यष्टि अहंकार =	१·६+	१·२+	·२	=३·०

त्रैगुण्य सृष्टि

	महत्सत्त्व भाग	महत्राजस भाग	महत्तामस् भाग	
समष्टितामसाहंकार =	·५+	·७+	१·८	=३·०
समष्टिराजसाहंकार =	·६+	१·०+	१·४	=३·०
समष्टि सत्त्वाहंकार =	·८+	·९+	१·३	=३·०
समष्टि बुद्धि =	१·४+	१·५+	·१	=३·०
समष्टि चित्त =	१·८+	१·१+	·१	=३·०

द्वितीय अध्याय

तामस अहंकारिक सृष्टि

समष्टि अहंकारिक पंचतन्मात्राओं की सृष्टि में ब्रह्म की उपासना

प्रथम खण्ड

योगिन् ! आपने प्रथम अध्याय में उपवर्णित समष्टि पाँचों रूपों का विज्ञान ऋतंभरा-बुद्धि द्वारा दिव्य दृष्टि से साक्षात् कर लिया है। परिणाम भाव को प्राप्त होती उनकी प्रत्येक दशा में उनके निमित्त कारण भगवान् के सन्निधान का भी प्रत्यक्ष कर लिया है। अब आप सूक्ष्मता की ओर बढ़िये । अपनी ऋतंभरा प्रज्ञा को काम में लाइये। भूतों से सूक्ष्म उनकी परिणति की कारण पाँचों तन्मात्राओं की सृष्टि-परिणति । और उनकी पाँचों अवस्थाओं का तन्मयता से साक्षात्कार कीजिये । पंचतन्मात्राओं के परिणाम के कारण भगवान् के सन्निधान का भी प्रत्यक्ष कीजिये । जिससे सूक्ष्मतम भगवान् के प्रत्यक्ष की तल भूमि तक पहुँचने के लिये एक सीढ़ी और उतर कर गहराई के समीप पहुंच जायें । जहाँ उसके साम्मुखीन की आपको प्रतीक्षा है ।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध यह पाँच तन्मात्रायें हैं । यह अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। यह पाँचों भूतों की अनुद्भूत अवस्थायें हैं। योग सिद्धान्त में इन्हें सूक्ष्म भूत कहा है। सांख्य में इन्हें तन्मात्रा कहते हैं। न्याय और वैशेषिक इन्हें अविभाज्य परमाणु कहते हैं और नित्य मानते हैं। सांख्य और योग इनको अनित्य मानते हैं। क्योंकि उनके मत से ये समष्टि-तामस-अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। उत्पन्न का विनाश अवश्य होता है। अतः तन्मात्रायें या परमाणु दोनों ही अनित्य हैं (चित्र संख्या ५ में देखें)।

अहंकार अविद्या-रूप है और तमोगुण अवष्टम्भक स्थिति-शील है । अतः समष्टि तामस अहंकार जड़ है। सत्तारूप स्थिति शील है । मूढ़ता रूप है। इसके कारण ही 'ममेदम्' 'यह मेरा है' रूप बुद्धि परिणत होती है । ऐसा मूढ़ता-रूप तामस अहंकार समष्टि रूप में पाँचों तन्मात्राओं का कारण है ।

तन्मात्रायें अहंकारिक सृष्टि का चरम चरण हैं। तन्मात्राओं का निर्माण तीनों समष्टि सत्त्वाहंकार, समष्टि राजसाहंकार एवं समष्टि तामसाहंकार से मिलकर होता है । वास्तव में यह सब सत्त्व रजस् तमस् तीनों के मिश्रण का ही तारतम्य है। समस्त परिणामों में यही तीन ओत-प्रोत हैं । पाँचभूतों में भी यही हैं। पाँच भूत अन्तिम परिणाम हैं, उनसे

चित्र नं० ५ का विवरण—नं० १ शब्द तन्मात्रा नं० २ स्पर्श तन्मात्रा के साथ संघात को प्राप्त हो रही है ।

नं० ३ में रूप तन्मात्रा के साथ शब्द तन्मात्रा और स्पर्श तन्मात्रा संघात को प्राप्त हो रही हैं ।

नं० ४ में रस तन्मात्रा के साथ शब्द तन्मात्रा स्पर्श तन्मात्रा रूप तन्मात्रा संघात को प्राप्त हो रही हैं।

नं० ५ में पीत वर्ण की गन्ध तन्मात्रा के साथ ऊपर की चारों तन्मात्रायें संघात को प्राप्त होकर अपने कार्यों की आरम्भिक बनेंगी । सूक्ष्म जगत् के पदार्थों का निर्माण करेंगी ।



चित्र स० [redacted] ५

पञ्च तन्मात्रों का रङ्ग रूप आकार

कोई समष्टि परिणाम नहीं होता । इसलिये परिणामों को पञ्चीकरण नाम देना असंगत है । तीनों गुणों का ही सब परिणाम होने से वास्तव में यह त्रयीकरण है। पञ्चीकरण नहीं बनता । तन्मात्राएँ भी तीनों अहंकारों से बनी हैं। तीनों अहंकारों की न्यूनाधिकता रूप तारतम्य से इनके परिणाम ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रि और तन्मात्राओं के रूप और धर्म में भेद हो गया है अन्यथा तीनों का एक ही कारण होने से तीनों में भेद ही नहीं हो पाता । सांख्य दर्शन ने यह तो लिखा—

"अहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्यु भयमिन्द्रियम् ।"

सांख्य० अ० १ । सू० ६१।

—अहंकार से पञ्चतन्मात्रायें और दोनों कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं।"

पर किसी ने इस बात पर विचार नहीं किया कि कारण एक होने पर तीनों कार्यों में भिन्नता कैसे आयी ? सर्वप्रथम यह हमारा ही विश्लेषण है जो ध्यान दृष्टि में आया है ।

तन्मात्राओं में तीनों अहंकारों का भाग

त्रयीकरण

	तन्मात्रायें	सत्त्वाहंकार	राजसाहंकार	तामसाहंकार		
१.	शब्द तन्मात्रा	·५	१·१	१·४	=	३·०
२.	स्पर्श तन्मात्रा	·४	·९	१·७	=	३·०
३	रूप तन्मात्रा	·३	·७	२·०	=	३·०
४.	रस तन्मात्रा	·२	·५	२·३	=	३·०
५.	गन्ध तन्मात्रा	·१	·३	२·६	=	३·०

तीनों का भाग दशमलव से दिखाया गया है। इसी प्रकार समस्त परिणामों में तीनों धर्मों के तारतम्य से भेद हो जाता है। समष्टितमः अहंकार के परिणाम कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में भी इसी प्रकार सत्त्व रजस् तमस् का तारतम्य काम करता है । मल्ल-ग्रमवत् प्रधान से व्यपदेश हो जाता है। समष्टि पदार्थ व्यष्टियों के कारण होते हैं । समष्टि पदार्थ सदा आकाश मण्डल में रहते हैं। समष्टि तामस अहंकार भी सदा आकाश में रहता है । यह पाँचों तन्मात्राओं का कारण है । पाँचों तन्मात्रायें व्यष्टि रूप में प्रत्येक पदार्थ में समाविष्ट हैं। व्यष्टि पदार्थ एक-एक करके प्राणियों के उपभोग में आते रहते हैं । समष्टि सदा आकाश में सुरक्षित रहते हैं । समष्टि तमः अहंकार भी सदा आकाश में सुरक्षित रहता है। उससे गन्ध तन्मात्रा आदि व्यष्टि रूप में बन.बन कर आती रहती हैं। जीव के भोग या अपवर्ग का सम्पादन कर फिर समष्टितमः अहंकार में विलीन हो जाती हैं । सब तन्मात्राओं का यह चक्कर चलता रहता है ।

जड़ का परिणाम होने से ये पाँचों तन्मात्रायें भी जड़ रूप हैं । सर्वव्यापक चेतन भगवान् के सन्निधान से ही चेतन सी बनी स्थूल भूतों में परिणत हो जाती हैं । स्थूल भूतों के रूप में प्राणिमात्र का भोग निष्पादन करती हैं। मानव मात्र के भोग और अपवर्ग दोनों का निमित्त बनती हैं । सूक्ष्म अवस्था में ये योगियों, सूक्ष्म शरीराभिमनियों और स्वर्गस्थों के उपभोग का निमित्त बनती हैं। इनका विषद वर्णन तत्तत्प्रकरण में आयेगा ही ।

अब पाँचों तन्मात्राओं के पाँचों रूपों का अवलोकन क्रमशः एक-एक खण्ड में कीजिये। चित्र सं० ६ में देखें। यद्यपि श्री बालक रामोदासीन आदि आचार्यों ने तन्मात्रादिषु पञ्चरूपाभावाद्'=तन्मात्रा आदि में पाँचों अवस्थायें नहीं घटतीं, केवल महाभूतों में घटती हैं; ऐसा लिख दिया है। परन्तु ऐसी बात है नहीं। यदि यह थोड़ा भी तन्मात्रा आदि को सम्प्रज्ञात समाधि का विषय बनाते तो यह रहस्य खुल जाता और तन्मात्रा आदि की पाँचों अवस्थायें सामने आ जातीं। व्यास भाष्य में जो 'इदानींभूतेषु' पद लिखा है। उसका भी रहस्य अवगत हो जाता। इसका अर्थ 'इदानींतनेषु स्थूल भूतेषु' करना उनकी कोरी शाब्दिक कल्पना है। इदानीन्तनेषु का अर्थ-इदानींजातेषु इदानीं स्वरूपापन्नेषु तन्मात्रादिषु है। अर्थात् इस समय स्वरूपापन्न जो तन्मात्रादि हैं उनमें पाठक देखेंगे कि पतञ्जली और व्यास भगवान् के गहन दृष्टिकोण को सबकी पाँचों अवस्थाओं की विषद् व्याख्या में किस प्रकार सरलता से हमने समझाया है। यह भी हमारा नूतन समाधि जन्य ज्ञान का अभिनव प्रकाशन है। योग रहस्य अति गहन है। इदानीन्तनेषु का सम्बन्ध केवल 'स्थूल भूतेषु' के साथ करना वर्तमान में भी वर्तमान और सदा ही आकाशमण्डल में सुरक्षित रहने वाली तन्मात्राओं से इनकार करना होगा जो उन्हें भी अभिप्रेत नहीं।

तन्मात्राओं के पाँचों रूपों के साक्षात्कार के साथ-साथ उनके निमित्त भूत भगवान् के सन्निधान का भी साक्षात्कार कीजिये। इन तन्मात्रा आदि में भगवान् के साक्षात्कार का अन्य प्रकार भी हो सकता है—

ब्रह्म के विराट् रूप की उपासना

जीवात्मा के समान ब्रह्म के साथ भी स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर का आरोप करके उसको ज्ञान और उपासना का विषय बनाया जा सकता है। तथा च—

जैसे जीवात्मा के स्थूल शरीर की रचना में पञ्चभूत उपादान कारण होते हैं, इसी प्रकार उपादान कारण तो नहीं किन्तु इन पाँचों के संघात को ही भगवान् का शरीर मानकर एवं कल्पना करके इनको साक्षात्कार का विषय बनाना चाहिए। क्योंकि इनके प्रत्येक कण कण में ब्रह्म व्यापक होकर ठहरा हुआ है। अतः इस व्याप्य-व्यापक

चित्र संख्या ६ का विवरण—नं० १ में शब्द तन्मान्त्रा का स्वरूप दिखाया गया है जो नील वर्ण के असंख्य परमाणु संघात को प्राप्त होने जा रहे हैं।

नं० २ के मण्डल में स्पर्श तन्मात्रा का स्वरूप दिखाया गया है जिसमें हरे से रंग के असंख्य परमाणु गमन कर रहे हैं।

नं० ३ मण्डल में रूप तन्मात्रा का स्वरूप दिखाया गया है। जोकि रक्त से वर्ण के परमाणु रूप का विषय बनने जा रहे हैं।

नं० ४ में रस तन्मात्रा के स्वरूप को दिखाया गया है जो कि रसना इन्द्रिय का विषय बनेगी। इसके किञ्चित नील से वर्ण के परमाणु संघात को प्राप्त होकर सूक्ष्म शरीरों के भोग का विषय बनेंगे।

नं० ५ इस मण्डल में गन्ध तन्मात्रा के परमाणु पीत से वर्ण के हैं। वे सब परिणत होकर सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय का विषय बनेंगे। ये सब तन्मात्रायें मिलकर सूक्ष्म शरीरों का निर्माण भी करेंगी और इनके भोग का विषय भी बनेंगी। इस परमाणु आत्मक अवस्था का नाम सूक्ष्म भूत भी है। वे तन्मात्रायें ही पञ्चमहाभूतों का उपादान कारण बनेंगी।



चि० सं० ६

भाव सम्बन्ध का अनुभव करना चाहिए। इसके साथ ही इनके निर्माण में ब्रह्म को निमित्त कारण के रूप में देखना या अनुभव करना चाहिए।

जैसे मनुष्य के देह में पृथिवी तत्त्व अस्थि आदि के रूप में, जल तत्त्व रस रुधिर आदि के रूप में, अग्नि तत्त्व जठराग्नि के रूप में और वायु तत्त्व प्राण के रूप में वर्त्तमान है। इसी प्रकार ब्रह्म के विराट् शरीर में समष्टि पृथिवी तत्त्व, अस्थि आदि के रूप में, जल तत्त्व रस, रुधिर आदि के रूप में तथा नदी, नाले आदि को नस-नाड़ी के रूप में, सम्पूर्ण अग्नि महाभूत को जाठर आदि के रूप में और सम्पूर्ण वायु महाभूत को प्राण के रूप में समझना चाहिए।

जैसे आत्मा के स्थूल शरीर में १७ तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर वर्तमान है, इसी प्रकार समष्टि पञ्च तन्मात्राओं, समष्टि ज्ञानेन्द्रियों, समष्टि कर्मेन्द्रियों, एवं समष्टि मन बुद्धि के मण्डलों को ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर कल्पना कर लेना चाहिये। जैसे कारण शरीर में अन्तःकरण आदि हैं, भगवान् के भी मूल प्रकृति रूप कारण शरीर में समष्टि चित्त अहंकार के मण्डल हैं। प्रकृति की क्रिया का हेतु सूक्ष्म प्राण भगवान् का प्राण समझना चाहिए।

भगवान् का कोई शरीर नहीं है तथापि समष्टि पदार्थों और ब्रह्म के साक्षात्कार के विज्ञान का छोटा-सा सूक्ष्म मार्ग हो सकता है। इसके आधार पर समष्टि पदार्थों का शीघ्र विना किसी कठोर प्रयास के साक्षात्कार हो जाता है परन्तु जिस योगी ने पहले आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो, और अब साथ ही ब्रह्म का भी कर ले।

जो एक साथ सारी कल्पना नहीं कर पाते उनके लिए एकैकशः का अग्रिम क्रम है। समष्टि गन्ध-तन्मात्रा के पाँचों रूपों में ब्रह्म दर्शन का क्रम प्रारम्भ करते हैं।

समष्टि गन्ध-तन्मात्रा व्यष्टि गन्ध तन्मात्रा का उपादान कारण है। समष्टि गन्ध-तन्मात्रा से व्यष्टि गन्ध तन्मात्रा उत्पन्न होती है। योगी या सूक्ष्म शरीराभिमानी सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय से जिस गन्ध तन्मात्रा का उपभोग करता है, वह व्यष्टि गन्ध-तन्मात्रा है। यह आकाश में सदा रहने वाली समष्टि गन्ध तन्मात्रा से उत्पन्न हुई है। समष्टि गन्ध-तन्मात्रा सदा आकाश मण्डल में रहती है। व्यष्टि गन्ध-तन्मात्रा उससे बनबन कर आती रहती है। जब व्यष्टि गन्ध-तन्मात्रा का उपयोग प्राणी कर लेता है तो व्यष्टि गन्ध-तन्मात्रा लौट कर फिर समष्टि गन्ध-तन्मात्रा के सुरक्षित कोष में जा मिलती है। प्रलय पर्यन्त यह क्रम चलता रहता है। प्रतिक्षण असंख्य व्यष्टि गन्ध-तन्मात्रायें प्राणियों का भोग सम्पादन करती हैं। अपना कार्य पूरा कर समष्टि में जा समाती हैं। उधर समष्टि भी प्रतिक्षण व्यष्टि गन्ध-तन्मात्राओं की असंख्य मात्राओं की उत्पत्ति करता रहता है। ब्रह्म के सम्पर्क से चेतन-सी बनी गन्ध-तन्मात्रा इस कार्य कारण रूप परिणाम चक्र को घुमाती रहती है।

समष्टि गन्ध तन्मात्रा मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गन्ध-तन्मात्रा का प्रथम रूप)

१. गन्ध-तन्मात्रा के स्थूल रूप में—

गन्ध-तन्मात्रा ही पृथिवी महाभूत में परिणत हुई है। गन्ध-तन्मात्रा पृथिवी की अनुद्भूत सूक्ष्म अवस्था है। पृथिवी उद्भूत अवस्था है जिसका स्थूल इन्द्रियों से ज्ञान

हो जाता है। गन्ध-तन्मात्रा अनुद्भूत अर्थात् अप्रकट सूक्ष्म अवस्था है, जिसका ज्ञान सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय से होता है। सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय सूक्ष्म शरीर में होती है। स्थूल घ्राणेन्द्रिय अन्नमय स्थूल शरीर में है। स्थूल गन्ध स्थूल इन्द्रिय से गृहीत होती है। वहीं स्थूल गन्ध सूक्ष्म इन्द्रिय तक पहुँचते पहुँचते सूक्ष्म गन्ध-तन्मात्रा रह जाती है। स्थूल का उपभोग स्थूल शरीर कर लेता है। सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय जिसका ग्रहण करती है वही गन्ध-तन्मात्रा है। यह सूक्ष्म नासिका सूक्ष्म शरीर बुद्धिमण्डल में वास करती है। स्थूल गन्ध का भोग प्राणिमात्र करते हैं। सूक्ष्म दिव्य गन्ध-तन्मात्रा का भोग योगी, सूक्ष्म शरीराभिमानी आकाशचारी आत्मायें अथवा स्वर्ग में निवास करने वाली पुण्यात्मायें किया करती हैं।

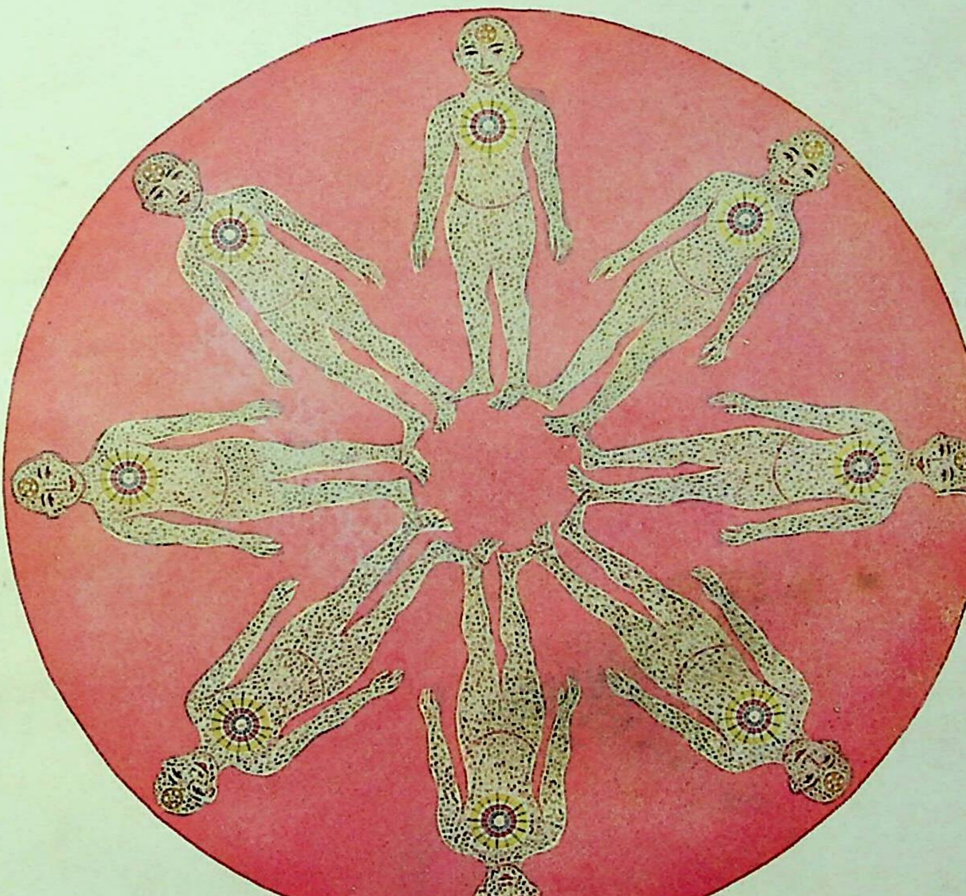
गन्ध-तन्मात्रा के दो भेद मानते हैं: १. सुगन्ध, २. दुर्गन्ध। वास्तव में बुद्धि की अपेक्षा से यह भेद कह दिये हैं। परन्तु गन्ध-तन्मात्रा एक ही प्रकार की है। इसी के परिणामात्मक अनेक भेद गन्धों के रूप में हो जाते हैं। जैसे कस्तूरी, केसर, कपूर, अगर तार की गन्ध या गुलाब, चमेली, चम्पा, गेन्दा आदि पुष्पों की भिन्न-भिन्न प्रकार की गन्धें। इसी प्रकार अन्य औषधियों, तथा वनस्पतियों की विभिन्न गन्धें। ये सब एक ही गन्ध के परिणामात्मक गुण हैं।

सुगन्ध दुर्गन्ध अपेक्षाकृत हैं: मल-पाखाने की गन्ध को हम दुर्गन्ध मानते हैं, क्योंकि वह हमारे प्रतिकूल है, और हमारे शरीर का अनुपयोगी त्यक्त भाग है, पर वही मल की गन्ध शूकर के लिए आनन्ददायक है। वह बड़ा प्रसन्न होकर उसे खाता है। वह उसके शरीर को लाभकर है। हाँ, उसका अपना मल उसके लिए भी दुर्गन्ध है। सुगन्ध दुर्गन्ध अपेक्षाकृत हैं जो एक के लिए सुगन्ध है वही दूसरे के लिए दुर्गन्ध हो सकती है। दूसरे के लिए दुर्गन्ध पहले के लिए सुगन्ध। प्याज़ लहसुन खाने वाले के लिए उनकी गन्ध आकर्षक भूखवर्धक होती है। न खाने वाले के लिए बदबू वाली और अत्यन्त उद्वेजक।

योग के आचार्य अनुद्भूत रूप पार्थिव परमाणुओं को सूक्ष्म पृथिवी भूत के नाम से पुकारते हैं। सांख्य के आचार्य इन्हें गन्ध-तन्मात्रा कहते हैं। न्याय वैशेषिककार इन्हें पृथिवी की परमाणु रूप अवस्था कहते हैं। इन परमाणुओं को ये नित्य मानते हैं। योग सांख्य के मत में ये समष्टि तामस अहंकार से बने हैं, अतः अनित्य हैं, नाशवान् हैं। ये तन्मात्रायें ही सूक्ष्म शरीर के निर्माण में उपादान होती हैं और सूक्ष्म शरीराभिमानियों को भोग भी प्रदान करती हैं (चित्र संख्या ७ देखें)।

(शंका) सूक्ष्म शरीराभिमानी से आपका क्या अभिप्राय है? क्या वे जिन्होंने स्थूल शरीर को छोड़ दिया है, अभी पुनः जन्म धारण नहीं किया है और पुनर्जन्म की प्रतीक्षा में हैं अथवा उन मुक्तात्माओं से है कि जो स्वर्ग में वास करते हैं। फिर तो दोनों के भोग में कुछ भी अन्तर नहीं हुआ। फिर तो स्वर्ग के लिए यत्न करना व्यर्थ ही हुआ।

चित्र संख्या ७ में निर्माण हुए २ सूक्ष्म शरीर दिखाए गए हैं। सूक्ष्म तन्मात्राओं से ही उत्पन्न हुए हैं और इन्हीं का उपभोग भी करते हैं। इनके हृदय में कारण शरीर दिखाया गया है और मस्तिष्क में मन इन्द्रियें दिखाई गई है। यहाँ इनका व्यापार भी होता है। इन्हीं के द्वारा सूक्ष्म शरीर भोग करता है। इस कारण शरीर में जीवात्मा को बिन्दु के रूप में दिखाया है।



(समाधान) आकाश में विचरने वाले और पुनर्जन्म की प्रतीक्षा वाले सूक्ष्म शरीराभिमानी तमः-प्रधान होते हैं, और स्वर्ग प्राप्त करने वाले स्वर्गवासी आत्मायें सत्त्व-प्रधान होती हैं। इसलिए इनके भोगों में अन्तर होता है। जड़बुद्धि मूर्खों और आत्मज्ञानियों के भोग में जो अन्तर होता है। ऐसा ही अन्तर आप उन दोनों में समझें। दोनों ही शरीर के रहते इन्द्रियों के भोग भोगते हैं। पर दोनों के विधि-विधान में महान् अन्तर है। इतना अन्तर कि जड़ मूर्खों का भोग पशुओं-सा लगता है। उन्हें उसके परिणाम और विधि-विधान का कोई ध्यान नहीं होता। भविष्य में अधोगति का ही कारण बनता है। विज्ञ का भोग उससे सर्वथा निराला। इहलोक और परलोक दोनों में सुख देने वाला होता है। इसी प्रकार जब सूक्ष्म शरीर का भोग-आहार तन्मात्रायें ही हैं, तब दोनों ही स्वर्गस्थ और पुनर्जन्म धारण करने वाले दोनों ने इन्हीं का भोग करना है। केवल देश, काल और ज्ञान की ही विशेषता तो होती है। वैसे भोग रूप से दोनों के भोग समान हैं। पुनर्जन्म वाले कुछ मिनट, घण्टे, दिन, पक्ष, मास या वर्षों तक तमः प्रधान भोग करते हैं और स्वर्गवासी अनेक दिव्य वर्षों तक रहने वाले सत्त्व प्रधान दिव्य-तन्मात्राओं का भोग करते हैं।

स्वर्गलोक में दिव्य सुखों का उपभोग

(शंका) इन स्थूल भूतों के चक्र से निकल कर कब तन्मात्राओं के लोक में गमन होता है ?

(समाधान) स्थूल भूत के चक्र से छुटकारा उस समय होता है, जब इन भूतों से ज्ञानपूर्वक वैराग्य हो जावे। इसके पश्चात् तन्मात्रा के स्वर्गलोक में गमन होता है। इसी तन्मात्रा के लोक का नाम स्वर्गलोक है। इस स्वर्गलोक के भोग दिव्य होते हैं।

जो सम्प्रदाय मोक्ष में सूक्ष्म शरीर का भाव मानते हैं उनका गमन इस तन्मात्रा के स्वर्गलोक में होता है। ये तन्मात्रायें ही वहाँ के सूक्ष्म दिव्य भोग हैं। श्री शंकराचार्य जी क्रमिक मुक्ति को मान कर जीवात्मा का स्वर्गलोक में भी गमन मानते हैं। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द जी सरस्वती, श्री रामानुजाचार्य, श्री सनन्दनाचार्य, श्री जैमिनी आचार्य सब पुराण तथा कुछ इतर नवीन धर्मावलम्बी भी ऐसा ही मानते हैं। वास्तव में यदि दिव्य लोक में भोग ही मानने हैं तो इनसे श्रेष्ठ और भोग नहीं हैं। प्रकृति के सब परिणामात्मक कार्यों में इनसे बढ़कर सूक्ष्म शरीर के लिए और भोग नहीं हैं। इनसे सब इन्द्रियों की तृप्ति हो जाती है। इस लोक में इन दिव्य भोगों के साथ ईश्वर के आनन्द का उपभोग भी ये सब आचार्य मानते हैं। वहाँ के सुख का और आनन्द का क्षय नहीं मानते हैं, जोकि मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते हैं।

अपना अपना विचार और अपनी-अपनी मान्यतायें हैं। कहा भी हैं—

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः,
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्,
महा-जनो येन गतः सः पन्थाः ॥

—वेद कुछ कहते हैं। स्मृतियाँ कुछ और ही कहती हैं। कोई मुनि कुछ और ही प्रतिपादन करता है। कोई भी एक ऐसा ऋषि नहीं जिसका सिद्धान्त प्रमाण मान लिया जाये,

क्योंकि धर्म का ज्ञान अत्यन्त गहन है; सूक्ष्म है । अतः जैसा भी कोई समझता है कह देता है । विज्ञान की अनन्तता भी तब ही सिद्ध होती है, जब कि सब ही विद्वान् आचार्य थोड़ा-थोड़ा ही कह पायें, क्योंकि जगत् का उपादान कारण और ब्रह्म दोनों ही अनन्त हैं। अतः इनके विज्ञान का कैसे अन्त किया जा सकता है ।

इस सूक्ष्म जगत् में जो कि तन्मात्राओं का लोक है, जिसको दिव्यलोक या स्वर्गलोक कहते हैं-सुखों के भोगने की प्रधानता है । भगवान् का सामीप्य और उसका आनन्द भी माना है । इस दिव्य लोक में केवल भोग मात्रा ही है । करना कुछ नहीं पड़ता । संकल्प मात्र से सब कुछ प्राप्त हो जाता है ।

योग दर्शनकार पतञ्जलि ने इस दिव्यलोक के विषय में उपरामता दिखाते हुए सूत्र दिया है । भाष्यकार व्यास ने उसका अर्थ यह किया है—"स्थूल शरीर के विषय स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि की तृष्णा से रहित होना । स्वर्ग के भोगों, विदेह और प्रकृति-लीन योगियों के भोगों, और उनकी तृष्णा को भी समाप्त कर देना अर्थात् अदिव्य और दिव्य विषयों से वैराग्य हो जाना । इसका नाम वशीकर-वैराग्य है ।

भोग किसी प्रकार का हो वह राग और बन्ध का हेतु तो हो ही सकता है। स्वर्ग में भगवान् के साथ सहवास का भी तो अनुराग ही है। पर कह सकते हैं कि यह अच्छा अनुराग है वहां सदा आनन्द का हेतु बना रहेगा । परन्तु स्वर्ग के दिव्य विषयों में जो अनुराग-पूर्वक सुख है, वह दुःख में भी तो परिणत हो सकता है । वहाँ अनेक स्वर्गीय आत्मायें वास करती हैं, संभव है कभी राग द्वेष की भावना भी उत्पन्न हो जाये । स्वर्ग का विनाश भी हो सकता है, क्योंकि उत्पन्न हुआ है । जब कभी उसे छोड़ कर जाना पड़ेगा तो संभव है, दुःख की भी प्रतीति हो । ऐसे स्वर्गीय सुखों को छोड़ते हुए होनी ही चाहिये । वास्तव में हमारे विचार में इस लोक और स्वर्गलोक के विषय में केवल-मात्र स्थूल-भूत और सूक्ष्मः-भूतों (तन्मात्राओं) का ही अन्तर है । मोक्ष अथवा कैवल्य में हम किसी प्रकार का भोग नहीं मानते, क्योंकि वहाँ सब करणों का अभाव होता है ।

इस तन्मात्रा के स्वर्गलोक में दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श, दिव्य शब्द का भोग होता है । यह सूक्ष्म शरीर आकाश-गामी होते हैं । स्थूल शरीर को छोड़ते समय जैसी आकृति स्थूल शरीर की होती है, उसी आकृति का सूक्ष्म शरीर निकल कर स्वर्ग-लोक में गमन करता है । स्वर्ग में गमन करते समय दिव्य भोगों की वासना को साथ में लेकर गमन करता है । तब ही तो यह दिव्य तन्मात्राओं का लोक प्राप्त होता है ।

इस स्वर्ग-लोक में वास करने की अवधि भिन्न-भिन्न प्रकार से मानते हैं। एक मान्यता १०० मन्वन्तर तक की है। दूसरी मान्यता १००० मन्वन्तर की मानी जाती है । तीसरी मान्यता है ३६ हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है । चौथी मान्यता है कभी लौटना ही नहीं पड़ता । इसके काल की कोई संख्या ही नहीं है ।

जैन धर्म की मुक्ति

जैन शास्त्रों के अनुसार जीव अनादि, मध्यम परिमाणी कर्ता भोक्ता है । पुनर्जन्म धारण करता है । वैराग्य और ज्ञान द्वारा मुक्त होकर ईश्वर-भाव को प्राप्त हो

जाता है। अनादि, नित्य, सर्व-व्यापक, जगत् कर्ता आदि धर्म वाला अन्य कोई ईश्वर नहीं है। मुक्त आत्मा का वास सिद्ध-शिला पर होता है, जो स्वर्ग के ऊपर १४वें भुवन की चोटी पर है। वह सिद्ध शिला ऊर्ध्व-लोक में स्वर्ग पुरी के ऊपर ४५ लाख योजन लम्बी और इतनी ही पोली तथा ८ योजन मोटी है। मोती, स्फटिक मणि, एवं दुग्ध के समान श्वेत, स्वच्छ, उज्ज्वल और निर्मल है। इस सिद्ध-शिला पर शिवपुर धाम है। उसमें मुक्त आत्मायें रहती हैं। उनका जन्म मरण नहीं होता। सदा आनन्द में रहती हैं। पुनर्जन्म, पुनर्मरण के चक्र में नहीं आते। सब प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर सदा मोक्ष में निवास करते हैं।

बौद्धों की मुक्ति

इसी के समान बौद्धों की भी मुक्ति है। बौद्धों के चार भेद—१. माध्यमिक २. योगाचार ३. सौत्रान्त्रिक ४. वैभाषिक हैं। बौद्ध, जैन के समान ही जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से ही मानते हैं। जीवात्मा को मध्यम-परिमाणी, मुक्ति, और पुनर्जन्म मानते हैं। परन्तु चारवाक शरीर के साथ ही जीवात्मा की उत्पत्ति और शरीर के साथ ही मरण समय में विनाश मानते हैं। इनके सिद्धान्त में मुक्ति नहीं है। पुनर्जन्म या परलोक-गमव कुछ नहीं है। ये केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। ये वितण्डावाद की ही शरण लेकर वाद-विवाद करते हैं। ये जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से ही मानते हैं। इनके मत में जगत् का कर्ता कोई नहीं। पंचभूत ही संघात को प्राप्त होकर जगत् का निर्माण करते हैं।

ईसाइयों का स्वर्ग

ईसाइयों का स्वर्ग इस लोक के समान पञ्च स्थूल भूतों के पदार्थों से बना है। ईसा ईश्वर का बेटा है। ईसा अपने भक्तों की सिफारिश खुदा के सामने करता है, और पापों को क्षमा करा देता है। गड़े हुए मुर्दे कयामत के समय ईश्वर के सामने उपस्थित होंगे। उस वक्त ईश्वर इन के अच्छे बुरे कर्मों का फल प्रदान करता है। तदनुसार स्वर्गया नरक में भेज देता है। स्वर्ग में ईश्वर के सिंहासन के पास ही श्री ईसा साहब का सिंहासन होता है। इन के स्वर्ग की रचना अनुपम है। वहाँ स्थुल शरीर ही होते हैं। स्वर्ग का निर्माण बहुत सुन्दर ढंग से हुआ है। स्वर्ग की लम्बाई चौड़ाई बराबर है। कुल ७५० कोस लम्बा चौड़ा है। इस की दीवारें हीरे, सूर्य कान्तमणि. नीलमणि लाल मणि, मरकत मणि, गोमेद मणि, माणिक्य मणि, पीत मणि, पुखराज, लहसन मणि, धूम्र कान्त मणि, स्फटिकमणि आदि मणियों और जवाहरात से बनी बारह दीवारें हैं। बारह ही दरवाजे मोतियों से बने हैं। एक मोती में एक दरवाजा बना है। यहाँ सब मुक्त आत्मायें खुदा के दास दासियों के रूप में रहते हैं। यहाँ बहुत सुन्दर अप्सरायें प्राप्त होती हैं। यहाँ सब एकार के भोक्तव्य पदार्थ स्वर्ग-वासियों को प्राप्त होते हैं। वे सब प्रकार के सुखों और आनन्दों का उपभोग करते हैं। वहाँ दिन और रात नहीं होते। केवल ईश्वर इन्हें ज्योति प्रदान करते हैं। स्वर्ग वासी सदा ईश्वर का मुख देखते रहते हैं।

मुसलमानों का स्वर्ग

इस्लाम के मत में खुदा रूहों को पैदा करता है। मरने के पीछे रूहें कब्र में रहती हैं कयामत के समय तक। खुदा का सिंहासन सातवें आसमान पर स्वर्ग में है। वहाँ साथ में ही मुहम्मद साहब का सिंहासन भी होता है। जो इस्लाम और मुहम्मद साहब पर ईमान लाते है; उन की सिफारिश कयामत के समय मुहम्मद साहब करते हैं। जब खुदा रूहों को अच्छे बुरे कर्मों का फल नरक स्वर्ग प्रदान करता है, उस वक्त मुहम्मद साहब नेक कर्म करने वालों की सिफारिश कर के जन्नत में स्थान दिलाते हैं जो इन पर ईमान नहीं लाते उन्हें नरक (जहन्नुम) में भेज देते हैं। इस बहिश्त में बहुत सुन्दर हूरें (अप्सराये) मिलती हैं। जो सदा स्वर्ग में निवास करती हैं। स्वर्ग में सब प्रकार के मांस, शराब, मेवा, शहद, दूध, मिष्ठान, नाना प्रकार के स्वादु व्यञ्जन और भोक्तव्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। मुक्तात्माओं के स्थूल शरीर होते हैं। उन से सब भोग भोगे जाते हैं। उनके सूक्ष्म या दिव्य शरीर नहीं होते। वहाँ सुन्दर सुन्दर बाग बागीचे और नहरें होती हैं। वस्त्र रेशमी, आभूषण सोने जवाहरात के, तकिये सोने के तारों के, और तखत सोने के दूसरा दर्जा प्राप्त होते हैं। खुदा सोने के तखत पर बैठता है। उसे फरिश्ते उठा कर चलते हैं। खुदा से मुहम्मद साहब का है। इन का सिंहासन सदा खुदा के पास ही होता है। यहाँ सर्व प्रकार के सुख, भोग, और आनन्द उपलब्ध हैं।

हमारे मत में—

दिव्यलोक

दिव्य लोक में सूक्ष्म शरीर मोक्ष पर्यन्त रहता है। इस सूक्ष्म शरीर में कारण शरीर भी सम्मिलित है। इस की आकृति स्थूल शरीर जैसी ही होती है। वही आकृति साथ जाती है। यह सूक्ष्म शरीर तन्मात्राओं से बना होता है। इसमें २३ पदार्थ होते हैं। सूक्ष्म के १७ अर्थात् पांच तन्मात्रायें + पांच ज्ञानेन्द्रियें + पांच कर्मेन्द्रियें + एकमन + एक बुद्धि = १७। कारण शरीर में ६ अर्थात् १. सूक्ष्मप्राण २. अहंकार ३. चित्त ४. जीव ५. प्रकृति ६. ब्रह्म = ६। इन सब का मिला कर एक संघात सा बना होता है। जिस में ये २३ पदार्थ होते हैं। इस को ही हम सूक्ष्म शरीर के नाम से व्यवहार कर रहे हैं।

जिन योगियों को स्थूल-भूतों से वैराग्य हो जाता है पर दिव्य भोगों को भोगने की अभिलाषा बनी रहती है, उन योगियों का गमन तन्मात्राओं के दिव्य लोक स्वर्ग लोक में होता है। इस दिव्य लोक में बिना किसी यत्न के, केवल संकल्प मात्र से ही भोग उपलब्ध होते हैं। यहां कर्म ज्ञान उपासना की आवश्यकता नहीं होती है। केवल भोग ही प्रधान होता है। यहां किसी ब्रह्मलोक या विशेष मोक्षादि किसी के लिये न कोई कर्म किया जा सकता है और न ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है। यह लोक इन स्थूल लोकों से पृथक् होता है। इसे सूक्ष्म पञ्च तन्मात्राओं का मण्डल या लोक समझें तन्मात्राओं के मण्डल से लेकर ऊपर के जितने भी पदार्थ हैं वे सब सूक्ष्म मण्डलों के रूप में ही हैं। एक के पश्चात् एक की कारण रूप से सतह या तह सी लगी होती है। इस दिव्य लोक से लौट कर आना पड़ता है, क्यों कि ज्ञान कर्म उपासना का यह पाँच भूतों का पृथिवी लोक ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

(कैवल्य)

जिन योगियों को इस मनुष्य लोक में विज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वशीकार संज्ञा वैराग्य हो जाता है उन का गमन इस पञ्च-तन्मात्रा के लोक में नहीं होता है। उन को कैवल्य प्राप्त होता है जहाँ किसी भी प्रकार का भोग नहीं है। वहाँ कोई सुख दुःख नहीं होता है, क्यों कि वहाँ सब शरीरों का अभाव होता है। बिना किसी करण के सुख या आनन्द कैसे भोगेगा। वहाँ स्व-स्वरूप में स्थिति होती है। वह स्वयं ही सत् चित् आनन्द रूप है, और आनन्द की उसे जरूरत नहीं होती है। यदि कैवल्य में ब्रह्मानन्द का भोग मानें तो इस भोग के लिये उस के लिये भी कोई करण होना चाहिये। जहाँ करण होगा वहाँ अन्य इन्द्रियाँ आदि भोग भी होंगे क्यों कि इनके बिना अन्तः करण, सूक्ष्म या कारण शरीर होता ही नहीं। अतः आत्मा मुक्ति में कैवल्य भाग को प्राप्त होता है।

इस लोक में ही सर्वोत्कृष्ट आनन्द

वास्तव में ब्रह्म के आनन्द का उपभोग सर्वश्रेष्ठ रूप में अधिकार पूर्वक इस मनुष्य लोक में ही होता है। जहां तीनों स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर वर्त्तमान हैं। जिन योगियों को इस लोक में ब्रह्मानन्द का उपभोग लेना है उनको तो इस पृथिवी लोक में ही रहना चाहिये। और शरीर छोड़ने के पश्चात् भी इस लोक में इच्छा पूर्वक आना चाहिये। परन्तु इस लोक में भी ब्रह्मानन्द का भोग तब ही श्रेष्ठ है, जब स्थूल सूक्ष्म विषय भोगों से यथार्थ रूप में वैराग्य हो जाये। ईश्वर के साथ ही सच्ची प्रीति, भक्ति, अनुराग, अनन्य श्रद्धा विश्वास हो जाये। इस आनन्द का उपभोग करते हुए स्वेच्छापूर्वक मनुष्य शरीर को धारण करते रहें। समाधि द्वारा ब्रह्मानन्द अथवा स्व-स्वरूपानन्द को असंख्य जन्मों तक भोगते रहें। जो स्थूल शरीर के अभाव में स्वर्ग में आनन्द है, संभव है वह भी इसके समान न हो। जो तीनों शरीरों के अभाव में मोक्ष है, वहाँ तो ब्रह्मानन्द की सम्भावना नहीं हो सकती है, क्योंकि वहाँ कोई शरीर ही नहीं होगा, जिसके द्वारा आनन्द का उपभोग करे। आत्मा स्वयं ही ब्रह्मानन्द का उपभोग कर ले ऐसी बात भी असम्भव सी है, क्योंकि बिना करण के कर्ता कोई भी कर्म या व्यापार नहीं कर सकता है। न इस लोक में और न परलोक में ही। हम तीनों ही शरीरों का अभाव मोक्ष में मानते हैं। आत्मा की वहाँ स्वरूप में स्थिति होती हैं।

शंका—जीवात्मा को मोक्ष में ब्रह्मानन्द प्राप्त हो जाये, तो इसका ब्रह्म के सन्निधान से आनन्द और अधिक बढ़ जायेगा। केवल कैवल्य मानने की क्या बात ?

समाधान—मुक्तात्मा में और आनन्द की गुंजाइश नहीं रहती है, क्योंकि वह स्वयं ही भरपूर आनन्द स्वरूप होता है। एक घड़ा जल से पूर्ण हो, यदि उसमें और जल डालें तो बाहर ही तो गिरता रहेगा।

शंका—तब तो आप के सिद्धान्त में ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष नहीं हुआ ?

समाधान—हाँ ठीक है। क्योंकि ब्रह्म कोई हमारे बंध का कारण नहीं है जिस के ज्ञान से छूट जायें। न हम उससे अलग हैं; जिसकी प्राप्ति हो।

शंका—तब आप के मत में किस से बन्ध है, और किस के ज्ञान से मोक्ष हो सकता है ?

समाधान—हमारा बन्ध प्रकृति और उसके कार्यों से है। अतः हमने इन्हीं से छूटना है। इनसे छुटकारा तब ही हो सकता है जब हमें यह ज्ञान हो जाये कि यह हमारे बन्धन और दु.ख का कारण है। तब इससे वैराग्य हो जायेगा और मुक्ति मिल जायेगी। आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा।

आत्मा स्वयं सत् चित् आनन्द रूप है। ब्रह्म भी ऐसा ही सत् चित् आनन्द रूप है। एक बड़ा भारी और अन्तर है, कि आत्मा अणु है, और ब्रह्म विभु है। जहाँ यह मुक्तात्मा होगी वहाँ ब्रह्म भी मौजूद होगा। जैसे—समुद्र में एक मोती पड़ा हो। समुद्र उसके चारों तरफ है। इसी प्रकार आनन्द स्वरूप मुक्तात्मा के सब तरफ आनन्द स्वरूप ब्रह्म भी होगा।

शंका—आपका सिद्धान्त है—मुक्ति में आत्मा ब्रह्मानन्द का भोग नहीं करता है। तब तो इस लोक में भी उसके आनन्द के भोग की जरूरत नहीं है ?

समाधान—इस लोक में मनुष्य प्रकृति के सुखों को भोगता है। इनकी अपेक्षा ब्रह्म का आनन्द भोगना श्रेष्ठ है। जिन शरीरों और करणों के द्वारा प्रकृति के सुखों को भोगता है उन्हीं के द्वारा ब्रह्मानन्द को भी भोग सकता है। और अपने स्वरूप के आनन्द का भी भोग कर सकता है। यहाँ सब ही साधन हैं।

शंका—तब तो मोक्ष भी बेकार ही हुआ। क्योंकि जब इस लोक और इस मनुष्य शरीर में स्वरूप का और ब्रह्म के स्वरूप का आनन्द मिल सकता है, तब अन्यत्र जाने की क्या जरूरत है ?

समाधान—मोक्ष निरर्थक नहीं है। इस शरीर में व्युत्थान और निरोध दोनों ही बने रहते हैं। जब व्युत्थान होता है तब बाह्य-वृत्ति होकर भोग लेने के लिये प्रकृति के विषयों का भोग करने लगता है। जब निरोध होता है तब समाधि में स्व-स्वरूप या ब्रह्म के स्वरूप के आनन्द का उपभोग लेने लगता है। कभी-कभी व्युत्थान और निरोध दोनों से भी तंग सा आ जाता है। व्युथान में प्रकृति के साथ प्रेम करता है और निरोध में भगवान् के साथ। परन्तु यह दोनों ही धर्म व्युत्थान और निरोध चित्त के ही तो धर्म हुए, सो इस व्युत्थान और निरोध में चित्त डावांडोल सा बना रहता है। जैसे धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का। इसी प्रकार चित्त की भी दशा बनी रहती है। कभी व्युत्थित कभी निरुद्ध। हम इन दोनों अवस्थाओं से ही मुक्त होना चाहते हैं।

शंका—यह भी तो हो सकता है, सदा निरोध ही बना रहे।

समाधान—यह सर्वथा असंभव है, क्योंकि चित्त मध्यम परिमाणी है। इसका स्वाभाविक धर्म सदा परिवर्तित होते रहना है, बदलते रहना है। जैसे अग्नि का स्वाभाविक धर्म दाह और प्रकाश है, इसी प्रकार व्युत्थान और निरोध इसके भी धर्म हैं।

हम तो ऐसा मोक्ष चाहते हैं जिसमें व्युत्थान और निरोध कुछ भी न हो। यह तब ही हो सकता है, जब चित्त का सम्बन्ध आत्मा से छूट जाये। सो चित्त का सम्बन्ध न तो इस लोक में छूटता है, और न स्वर्ग में छूटता है। यदि ब्रह्म-लोक में कोई आनन्द

भोगना हो तब तो इस चित्त[के द्वारा ही भोगा जा सकता है। यदि वहाँ भी इससे सम्बन्ध रहा तब तो वहाँ भी इस के व्युत्थान और निरोध स्वाभाविक धर्म रहेंगे। तब वह मोक्ष भी इस लोक के समान हो जायेगा। जहाँ दोनों व्युत्थान और निरोध का अभाव हो जाये वह है चित्त से मुक्ति, और अपने सत् चित् आनन्द रूप में स्थिति। यथा च—

'चित्तमेव ही संसारो रागादि क्लेशदूषितम्।
तदेव हि तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

महोपनिषद् अ० ४। मं० ६६।

—चित्त ही मुख्य रूप से संसार में राग और क्लेश आदि दोषों से दूषित होता है, अतः इसी से मुक्त होना चाहिये। तब संसार में आवागमन—मरण जन्म से पीछा छूट सकता है।

और भी कहा है—

'अतः पौरुषमाश्रित्य, चित्तमाक्रम्पचेतसा।
विशोकं पदमालम्ब्य, निरातङ्कः स्थिरोभव॥

महापनिषद् अ० ४। म० १०४।

—भु ऋषि अपने शिष्य निदाघ को उपदेश देते हुए कहते हैं हे निदाघ! पुरुषार्थ का आश्रय लेकर आत्मा के द्वारा चित्त का दमन कर। तब ही शोक रहित होकर, सदा के लिए स्थिर शान्त होकर स्वस्वरूप में स्थिर हो सकता है।

इस समष्टि गन्ध-तन्मात्रा के स्थूल रूप में और इसके क्रमिक परिणामों में निमित्त-भूत भगवान् की सूक्ष्मता और उसके सन्निधान का साथ-साथ अनुभव करना चाहिये। तन्मात्रा और ब्रह्म के स्वरूप को आप सही रूप में हृदयंगम कर लें, इस लिये व्याख्यान लम्बा किया गया।

समष्टि गन्ध तन्मात्रामण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गन्ध तन्मात्रा का द्वितीय रूप)

२. गन्ध तन्मात्रा के स्वरूप में—

गन्ध तन्मात्रा की यह दूसरी अवस्था या रूप है। गन्ध तन्मात्रा का धर्म गन्ध है। यह गन्ध सदा गन्ध तन्मात्रा में वर्त्तमान रहती है, तन्मात्रा से कभी अलग नहीं होती। गन्ध तन्मात्रा का यह स्व-स्वसामान्य धर्म है। जहाँ गन्धतमात्रा होगी वहाँ गन्ध भी होगी। यह गन्ध-गन्ध तन्मात्रा में भी है और तन्मात्रा के परिणामों में भी।

संसार में जितने भी गन्ध हैं, चाहे वे वनस्पति की हो, चाहे खनिजों, चाहे पुष्प, फल, मूल, पत्र आदि किसी की भी हो, सब सामान्य गन्ध का ही परिणाम हैं। हमें जीवन में परिणत गन्धों का ही अभ्यास होता है। उन्हें हम तत्काल पहिचान लेते हैं—यह गुलाब, गेन्दा, चमेली, चम्पा मोतिया, मौलसरी, केवड़ा आदि की गन्ध है या चन्दन, अगर, तगर, कपूर, केसर, कस्तूरी आदि की गन्ध है। या आम, खरबूजा, आड़ू, अमरूद

नींबू, खट्टा, सन्तरा, नाशपति, नाख, कमरख, सरदा आदि की गन्ध है। या घी, तेल, चरबी, वैसलीन आदि की गन्ध है। जब हम किसी वन्य प्रदेशों में पहुँचते हैं, अनुभव की हुई गन्धों से निराली गन्ध सूँघते हैं, तो कहते हैं गन्ध आ रही है। सब गन्धों में वर्त्तमान सामान्य गन्ध को हम खूब जानते हैं, उसी सामान्य गन्ध को इस नवीन गन्ध में पा हम तत्काल बोल उठते हैं गन्ध आ रही है। यही सामान्य गन्ध है। शेष जानी अजानी गन्धें इसी गन्ध का परिणाम हैं। यही सामान्य गन्ध है जो गन्ध तन्मात्रा का स्वरूप है।

ये गन्ध धर्म गन्ध तन्मात्रा में स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। गन्ध कभी भी गन्ध तन्मात्रा से अलग नहीं होती। यही गन्ध तन्मात्रा की स्वरूपावस्था है। गन्धों का गन्ध तन्मात्रा के साथ अभेद है। गन्ध धर्मों से अलग गन्धतन्मात्रा कोई पदार्थ नहीं। गन्ध का ही नाम गन्ध तन्मात्रा है। गन्ध तन्मात्रा ही गन्ध है। गन्ध का सम्बन्ध गन्ध तन्मात्रा के साथ सदा बना ही रहता है। इनकी अलग सत्ता नहीं, अतः इन्हें अलग-अलग नहीं कह सकते। धर्म धर्मो एक ही हैं।

गन्ध तन्मात्रा कहो या दिव्य गन्ध बात एक ही है। यह दिव्य गन्ध पृथिवी के कारण रूप अनन्त सूक्ष्म-परमाणुओं का समुदाय एक गन्ध तन्मात्रा द्रव्य है। दिव्य गन्ध या तन्मात्रा का अभिप्राय है गन्ध का सूक्ष्म रूप। यह गन्धतन्मात्रा अपने परिणामात्क धर्मों सहित विविध गन्धों के रूप में सूक्ष्म शरीरों के भोग में आती हैं। इस तन्मात्रा की गन्ध-रूप ही अवस्था है। परिणाम भाव को प्राप्त होकर यह स्थूल भूतों में चली जाती है।

गन्ध धर्म गन्ध तन्मात्रा में सदा अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी तन्मात्रा में अनुस्यूत रहता है, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत है। गन्ध तन्मात्रा किस प्रकार क्रम पूर्वक अपने सामान्य विशेष धर्मों में परिणत होती रहती है। परिणत होते हुए भी उन से पृथक् नहीं होती है। इस सूक्ष्म परिणाम क्रम में चेतन ब्रह्म की व्यापकता और निमित्तता का अनुभव करें। जो इसके परमाणुओं में गति करके परस्पर संघात करता रहता है वह निमित्त कारण चेतन ब्रह्म ही है। यह गन्ध तन्मात्रा के द्वितीय स्वरूप का अभेद रूप से वर्णन किया है। गन्ध तन्मात्रा का और उसके अनेक गुणों का स्वरूप सम्बन्ध है। इसे सम्वाय सम्बन्ध भी कहते हैं।

इस धर्म धर्मी के अभेद रूप परिणाम में ब्रह्म का विज्ञान प्राप्त करना है।

समष्टि गन्ध तन्मात्रा मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गन्ध तन्मात्रा का तृतीय रूप)

३. गन्ध तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि गन्ध तन्मात्रा का जिस अवस्था से परिणाम हुआ है समष्टि गन्ध तन्मात्रा की उस पहली स्थिति को गन्ध-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहेंगे। समष्टि तमः अहंकार ही समष्टि गन्ध का सूक्ष्म रूप है। समष्टि तमः अहंकार अपने कार्य विशेष समष्टि गन्ध तन्मात्रा में अनुस्यूत है। यह कारण कार्य का अयुत सिद्ध समदाय समष्टि

गन्ध तन्मात्रा है। अहंकार के सूक्ष्म अंश सामान्य और विशेष गन्ध तन्मात्रा का समुदाय ही यहाँ एक अयुत सिद्ध द्रव्य गन्ध तन्मात्रा बनता है। यहाँ तमः प्रधान अहंकार कारण में कार्य रूप गन्ध तन्मात्रा की सूक्ष्मता है। इसी को गन्ध तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहते हैं।

इस अवसर में जो एक विशेष क्रिया होकर एक विशेष परिणाम समष्टि तमः अहंकार में उसके सहयोगी सत्त्व रज के साथ में होता है वह अपूर्व होता है। आश्चर्यमय होता है। योगिन् ! यहाँ इस परिणाम प्रक्रिया ही आपको अपने समाधि संयम का विषय बनाना है। यहाँ योगी के लिए दिव्य दृष्टि से देखने योग्य यही विशेष बात होती है। आप साक्षात् करेंगे कैसे आश्चर्यमय ढंग से तम अहंकार में सत्त्व रज की मात्रायें कैसे परिणाम करती हैं; और वह कैसे अन्त में गन्ध तन्मात्रा में परिवर्तित होता है। साथ ही प्रत्यक्ष करें कि किस प्रकार सजातीय विजातीय धर्मों का नियोजन कर ब्राह्मी चेतन सत्ता अपने सन्निधान से अयुत सिद्ध द्रव्य गन्ध तन्मात्रा का निर्माण कर रही है। किस प्रकार सूक्ष्मतम तमः अहंकार सत्त्व रजस् के साथ संघात को प्राप्त होकर स्व स्थूलाकार गन्ध तन्मात्रा के रूप में पलटता रहा है। ब्राह्मी चेतना ही इस अवसर में संघात करने वाली प्रेरिका है। उसी चेतन ब्रह्म सत्ता का आपको अनुभव करना है।

विलक्षणता का अनुभव कीजिये समष्टि तमः अहंकार जो केवल बुद्धि का विषय था, गन्ध तन्मात्रा में परिणत होते ही दिव्य घ्राण से गृहीत होने लगा।

संक्षेप से इस प्रकार कह सकते हैं—सामान्य विशेष के भेद से अनुगत समष्टि तमः अहंकार-समुदाय अयुत सिद्ध द्रव्य ही गन्ध तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप है। इस अवस्था में समष्टि-तमः-अहंकार का समष्टि-गन्ध-तन्मात्रा के रूप में परिणाम हुआ है। वह समष्टि तमः अहकार धर्म-लक्षण-अवस्था रूप में परिणत होकर स्थूल रूप को प्राप्त हो गया है।

गन्ध-तन्मात्रा की सूक्ष्मता को इस प्रकार समझिये—दूर देश में निम्बू पड़ा है। योगी उस पर संयम करता है। स्थूल भूत निम्बू से, स्थूल भूत के पूर्व परिणाम विशेष गन्ध-निम्बू की गन्ध पर पहुँचता है। उसमें तन्मय होता है तो सामान्य गन्ध पर पहुँचता है, और संयम की गहरी स्थिति में सामान्य गन्ध तन्मात्रा के पूर्व रूप जड़-सत्तात्मक तमः प्रधान अहंकार का साक्षात् करता है। यह जड़-सत्तात्मक तमः अहंकार ही तो सामान्य, विशेष गन्ध तन्मात्रा में परिणत हुआ है। यहाँ सामान्य तो तमः प्रधान अहंकार है और विशेष गन्ध तन्मात्रा है। इनका समुदाय ही अयुत सिद्ध द्रव्य है। गन्ध की विशेषता जिससे सामान्य गन्ध के परिणत गुण निम्बू की गन्ध को जाना गया है, यह गन्ध तन्मात्रा का परिणात्मक गुण है।

यही इसका सूक्ष्म रूप या अवस्था है। अर्थात् गन्ध-तन्मात्रा का यह तीसरा रूप है। योगी इस परिणात्मक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष कर लेता है। कारण से कार्य में परिणाम सदा होता ही रहता है।

एक बारा एक योगी को हम ने देखा। वह आकाश में हाथ फैंक कर चाहे जिस प्रकार की गन्ध अपनी मुट्ठी में सुँघा देता था। रस के विषय में भी ऐसा ही करता था। आकाश में हाथ मार कर जल कणों के रूप में अपनी हथेली पर खट्टा, मीठा,

नमकीन आदि रस चखा देता था यह कुछ दिन मोती राम की बागीची में, अमृतसर में नहर के किनारे मेरे पास रहा था। इसे और भी कई सिद्धियाँ प्राप्त थीं। कहता था मैं पूर्वजन्म का योग भ्रष्ट हूँ। मुझे ऐसी सूक्ष्म बातों में बहुत आनन्द आता है। अतः मेरी मुक्ति इस जन्म में भी नहीं होनी है। तुम्हें स्थूलों में आनन्द आता है मुझे सूक्ष्मों में। तुम्हारी अपेक्षा मुझमें कोई विशेषता नहीं है। तुम स्थूल विषयों को भोगते हो, मैं सूक्ष्म स्थूल भूतों को।

अतः योगी को इन तन्मात्राओं के सजातीय विजातीय संयोगात्मक कारण से कार्यात्मक परिणाम में उस ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिए। इस अभेद में ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिये। कारण कार्य एवं उनके परिणाम काल में अनुस्यूत ब्रह्म का प्रत्यक्ष करना चाहिये।

साधारण मोटी बुद्धि वालों को तो यह तन्मात्रा की बात कल्पना सी मालूम पड़ती है। परन्तु अब तो आजकल के साइन्टिस्ट भी सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष करने लगे हैं और उनसे सूक्ष्मों का अनुमान करने लगे हैं परन्तु यह हैं प्रत्यक्ष वादी। यन्त्रों के द्वारा परीक्षण पर ही सही मानते हैं। किन्तु तन्मात्राओं का प्रत्यक्ष इन भौतिक यन्त्रों से नहीं हो सकता है, क्योंकि यह इन स्थूल भौतिक इन्द्रियों का विषय नहीं है। जब ये माइण्ड (मन) को यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष कर लेंगे, तब इनके भौतिक विज्ञान की विशेषता मान ली जायेगी। अब तो मन का केवल अनुमान ही करते हैं और कहते हैं, मन है तो जरूर पर देखने में नहीं आ रहा है। इसे भी ये शरीर की आँखों से देखना चाहते हैं। भले ही खुरदबीन या सूक्ष्मेक्षणयन्त्र लगा कर देखें। पर मन के प्रत्यक्ष करने में इनका विज्ञान अभी अधूरा ही है और भविष्य में भी अधूरा रहने की संभावना है।

समष्टि गन्ध तन्मात्रा मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्मविज्ञान

(गन्ध तन्मात्रा का चतुर्थ रूप)

४. गन्ध-तन्मत्रा के अन्वय रूप में—

गन्ध-तन्मात्रा का मूल-प्रकृति के साथ परम्परागत कारण कार्य रूप सम्बन्ध गन्ध तन्मात्रा का अन्वय है। गन्ध तन्मात्रा किस का परिणाम है। वह परिणाम किस का परिणाम है। अन्तिम परिणाम किस अपरिणाम भूत मूल-प्रकृति का है। इस प्रकार परिणाम-परम्परा को जानना तन्मात्रा का अन्वयन रूप जानना है।

समष्टि गन्ध-तन्मात्रा समष्टि-तमः अहंकार का परिणाम है। समष्टितमः अहंकार समष्टिमहत्तमः का परिणाम है। समष्टिमहत्तमः अव्यक्त, अपरिणाम रूप, नित्य मूल प्रकृति से अभिव्यक्त हुआ है। मूल प्रकृति अजन्मा शाश्वत् नित्य है। स्थिति या सत्ता इसका स्वरूप है। प्रभु के सन्निधान से इसमें क्रिया और ज्ञान गुण का प्रादुर्भाव हुआ। अपने स्वरूप और गुणों के साथ सब कार्यों में अनुपतित होती जाती है। प्रकृति स्वयं तो किसी का परिणाम नहीं, किसी का कार्य नहीं, पर अपने कार्य-रूपों में परिणत होती जाती है। गन्ध-तन्मात्रा में कार्य परम्परा से इसका गुणों सहित अपने स्वरूप को लिये हुए अनुपतन हुआ है। प्रकृति की सत्ता से ही गन्ध तन्मात्रा की सत्ता है। प्रकृति की

सत्ता से गन्ध तन्मात्रा और उसके कार्यों की सत्ता है। जो गुण कारण में होते हैं वह ही वार्य में आते हैं। सृष्टि के प्रारम्भकाल से कार्योन्मुख प्रकृति अपने स्वरूप और गुणों के साथ परिणत होती हुई, अनुपतित होती हुई गन्ध तन्मात्रा में पहुंची है। बहुत लम्बी यात्रा के कारण अपने सत्ता रूप को मुख्य रूप से लेकर पहुँची है। ज्ञान और क्रिया गौण हो गये हैं। इसलिवे गन्ध-तन्मात्रा में प्रधानतया गन्ध की सत्ता है। गन्धरूपेण गन्ध-तन्मात्रा की सत्ता का बोध होता है। ज्ञान ज्ञेयत्व रूप से ही शेष रहा है। क्रिया भी विलुप्त प्रायः हो गई है। इस प्रकार गन्ध-तन्मात्रा में अन्वयरूप धर्म वर्तमान है।

गन्ध-तन्मात्रा के अन्वय-रूप में भी ब्रह्म की सूक्ष्म-रूप-व्यापकता का अनुभव करना चाहिये। इससे यह चरितार्थ होगा कि किसी पदार्थ की भी परिणत होती हुई अवस्था चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से अलग नहीं रह सकती है। प्रकृति में यहाँ इस प्रकार गन्ध तन्मात्रा की अन्वय रूप सूक्ष्म अवस्था समझनी चाहिये।

इस अनुपतन और उसके निमित्त कारण ब्रह्म का भी विज्ञान अभ्यास में साथ-साथ करना चाहिये। जिस से ब्रह्म की सर्व व्यापकता सर्व सन्निधानता अनायास ही बुद्धि गम्य होती जाये।

समष्टि गन्ध तन्मात्रा मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गन्ध तन्मात्रा का पञ्चम रूप)

५. गन्ध मन्मात्रा के अवर्थत्त्व रूप में—

स्थूल जगत् के उपादान कारण पाँचों स्थूल भूत हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् की ये पाँच तन्मात्रायें उपादान कारण हैं। यह सूक्ष्म-शरीरों के निर्माण में भी कारण होती हैं। उन सूक्ष्म शरीरों के भोग का भी सम्पादन करती हैं। यही इनकी अर्थ-वत्ता है।

पाँच स्थूल भूतों से यह दृश्यमान जगत् बना है। सूक्ष्म पाँचों तन्मात्राओं से सूक्ष्म जगत् बना है। स्थूल जगत् में स्थूल भूत मिल कर नानात्व उत्पन्न कर देते हैं। सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म-भूत मिल कर विभिन्नता उत्पन्न करते हैं। सूक्ष्म तन्मात्रायें आकाश मण्डल में सर्वत्र व्याप्त हैं; अतः सूक्ष्म जगत् भी आकाश में सर्वत्र है। किस एक स्थान पर नहीं सर्वत्र है।

सूक्ष्म जगत् में गन्ध-तन्मात्रा का उपभोग सूक्ष्म रूप में ही होता है। गन्ध-तन्मात्रा के परिणाम पृथिवी के लोक में जिस प्रकार के पार्थिव पदार्थ मकान, खेत, धरती, शरीर, वृक्ष फलादि हैं। ऐसा सूक्ष्म जगत् में कुछ नहीं है। वहाँ तो केवल गन्ध-तन्मात्रा के सामान्य विशेष रूप का उमभोग है।

गन्ध-तन्मात्रा का सामान्य रूप गन्ध है। यह गन्ध सब विशेष गन्धों में रहती है। सर्व प्रथम इस सामान्य गन्ध का ही बोध होता है। विशेष का तो पीछे अनुसन्धान करने पर होता है, जिसको जान कर उसका विशेष नाम रखा जाता है। सूक्ष्म जगत् में बस सूक्ष्म सामान्य गन्ध और विशेष गन्धों का उपभोग होता है। सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म

सामान्य या विशेष गन्ध से सूक्ष्म शरीरों की तृप्ति होती है। सूक्ष्म शरीर हलवा जलेबी आदि व्यञ्जनों की गन्धरस रूप आदि का सूक्ष्म रूप में ग्रहण कर तृप्त हो जाते हैं। स्थूल का सम्पर्क उनके साथ नहीं होता। स्थूल से तृप्त हो कर सूक्ष्म के भोग के लिए स्वर्ग में प्रवेश होता है। सूक्ष्म शरीरों को भौतिक ताप नहीं सताते। वे तो स्वर्ग में सूक्ष्म शरीर द्वारा सूक्ष्म दिव्य सुख भोग के लिये जाते हैं। इसलिये सूक्ष्म शरीरों को मकान-भवन परिधान आदि की कोई अपेक्षा नहीं होती। सामान्य और विशेष दिव्य गन्धों से वे तृप्त हो जाते हैं क्योंकि यही सूक्ष्म गन्ध तन्मात्र उनके शरीर की अनय तन्मात्राओं के साथ उपादान कारण होती है और ये ही सूक्ष्म जगत् की भी उपादान कारण होती हैं। ये सूक्ष्म जगत् और सूक्ष्म शरीर सर्वत्र हैं, जिन्हें समाधि स्थिति में साक्षात् किया जा सकता है। ब्रह्मरन्ध्र के अवकाश में इसी लिए तो सद्धों के दर्शन हो जाते हैं। समाधि दशा में योगी की सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही काम करती हैं, स्थूल नहीं। सूक्ष्म का दर्शन तो सूक्ष्म से ही होता है। स्थूल का दर्शन स्थूल इन्द्रियों के द्वारा सर्व साधारण करता है। पर केवल सूक्ष्म से स्थूल का दर्शन योगी ही कर सकता है। स्थूल गन्ध का बोध स्थूल नासिका द्वारा सूक्ष्म रूप में परिणत होकर सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय से ही होता है। परन्तुदिव्य सूक्ष्म गन्ध का स्थूल नासिका से नहीं हो सकता, सूक्ष्म नासिका से ही होता है।

यह सूक्ष्म सामान्य विशेष गन्ध ही सूक्ष्प शरीर और सूक्ष्म जगत् का विषय है। यही गन्ध-तन्मात्रा की अर्थवत्ता है।

शंका—स्थूल शरीरों की तरह सूक्ष्म शरीरों में भी योनिकृत भेद होता है? जैसे इस लोक में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि होते हैं ऐसे उनमें भी होते हैं?

समाधान—सूक्ष्म शरीरों में स्थूलों के समान भेद नहीं होता है। मनुष्य का शरीर २५। ५०। १०० वर्ष रह कर भी मनुष्य का ही रहता है उसमें ऐसा परिवर्तन नहीं होता कि वह पशु या पक्षी का बन जावे। इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर में भी कोई परिवर्तन मोक्ष पर्यन्त नहीं आता है स्थूल शरीर की अवधि स्थूप शरीर के मरण पर्यन्त रहती है। सूक्ष्म शरीर की अवधि मोक्ष होने तक होती है।

हाँ सूक्ष्म शरीरों में यह भेद तो हो जाता है कि मानव के सूक्ष्म शरीर के साथ मानव की आकृति भी जाती है। पर मनुष्यतर का सूक्ष्म शरीर गोलाकार ही होता है। मानवाकृतियाँ सिद्धों की मूर्धज्योति में अभ्यास काल में देखने में आती है। अन्य आकृतियाँ भी गोलाकार देखने में आयी हैं। सूक्ष्म जगत् में स्वर्गीय भोगों को भोगने के लिये मानव जन्म से ही सूक्ष्म-शरीरों में जाना होता है। अन्य योनियों से स्वर्ग में सीधा गमन नहीं होता है क्योंकि वे केवल भोग योनियां है। इसलिये सूक्ष्म जगत् में पशु पक्षी आदि नहीं होते या स्वर्ग लोक में पशु पक्षी के रूप में शरीर नहीं होते हैं।

यह मानव योनि की ही विशेषता है कि इसी योनि से स्वर्ग भी प्राप्त कर सकते हैं, और नरक भी। स्वर्ग नरक भोग कर भी पुनः मनुष्य योनि में आना पड़ता है, इसीमें मोक्ष के साधन उपलब्ध हैं, इसीसे मोक्ष में जाना होता है। स्वर्गलोक या सूक्ष्म जगत भी भोग प्रधान है, उसमें केवल सुख भोगता है, कर्म नहीं करता है। भोग की समाप्ति भोग योनिवालों की तरह फिर मानव योनि में आना होता है। मोक्ष नरक स्वर्ग सब इसी मानव योनि से प्राप्त किये जाते हैं। यह आत्मा का तिराहा है, जिधर जाना चाहे जा सकता है।

स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर में विशेषता यह है कि सूक्ष्म शरीर मध्यम-परिमाणी है, अर्थात् संकोच विकास वाला है। कर्म फल के अनुसार जिस प्रकार के छोटे या बड़े शरीर में जाना होता है। उसी प्रकार छोटा या बड़ा यह सूक्ष्म शरीर बन जाता है। मच्छर की योनि में छोटा और हाथी की योनि में बड़ा। सूक्ष्म शरीर का स्वरूप से विनाश हो कर यह छोटा बड़ा परिवर्तन नहीं होता है। यह रवड़ की तरह सुकड़ने और फैलने वाला होता है।

सात्विक, राजस, तामस के भेद से गुणों का परिवर्तन जैसे स्थूल शरीरों में है, वैसा ही सूक्ष्म शरीरों में भी होता है। जैसे स्थूलों में योगियों का सात्विक और पशुओं का तामसिक। सूक्ष्म शरीरों में भी राजस, तामस और सात्विक तीनों प्रकार के भेद होते हैं। सात्विक सूक्ष्म शरीर धवल देदीप्य मान होता है। राजस शक्तिमान स्वर्णिम सा होता है। और तामस नीलाभ धुंधली चमक वाला होता है।

ये तन्मात्रायें गुणों के भेदों से सूक्ष्म शरीरों का निर्माण करती हैं। जब प्रलय का समय आता है, तब यह सूक्ष्म शरीर पुण्यापुण्य के धर्माधर्म संस्कारों को लेकर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाते हैं। सृष्टि के समय फिर उसी क्रम से लौट आते हैं।

(शंका)—पशु पक्षी आदि भोग योनी जब शरीर को त्यागते हैं तो इनके सूक्ष्म शरीर की आकृति कैसी होती है ?

(समाधान)—उनके स्थूल शरीर के समान ही होती है। इनमें संकोच विकास धर्म होने से गोलाकार अथवा अण्डाकार भी हो जाते हैं और इनसे भी बहुत छोटे हो जाते हैं। जब किसी अन्य योनी में प्रवेश करते हैं तब उसी स्थूल शरीर के आकार के हो जाते हैं और शरीर के साथ बढ़ते रहते हैं।

(शंका)—आप ने कई बार कहा है कि सूक्ष्म शरीर का विनाश मोक्ष में होता है। तो क्या प्रलय काल में इसका विनाश नहीं होता है ?

(समाधान) – प्रलय काल में सूक्ष्म शरीर का भी विनाश हो जाता है। परन्तु सृष्टि के समय उन्हीं अन्तःकरण, उन्हीं इन्द्रियों, उन्हीं अङ्ग प्रत्यङ्गों, उन्हीं धर्माधर्म के संस्कारों को लेकर निर्मित्त हो जाता है, क्योंकि उसी आत्मा को इसने भोग देने हैं जिस के साथ यह पहले जुड़े थे, और उसके भोग शेष रह रहे थे। इन धर्माधर्म के संस्कारों को यह सूक्ष्म शरीर ही तो लेकर चलने वाला होता है। जीवात्मा भी प्रलय काल की अवस्था में सुप्तावस्था में चला गया था। उसका इन धर्माधर्म के संस्कारों का भोग भी तो सृष्टि समय में उसी नियमित सूक्ष्म शरीर द्वारा होता है। अतः वही सूक्ष्म शरीर पुनः साथ में आता है। स्थूल शरीर में यह बात नहीं है। वह पहले शरीर के रूप में नहीं आता है। भिन्न रूप में ही आता है। पहला तो जीर्ण शीर्ण वृद्ध हो गया था, आगे काम ही कैसे देता। युवक मृत शरीर तो अपवाद है और स्थूल शरीर तो यहां ही अल्प से समय में नष्ट हो जाता है। यूनानियों ने मसाला लगा-लगा कर ममी ठहराये भी, पर वह कभी किसी आत्मा के पुनः उपयोग में न आये। उनकी आकृति तो रही, पर वे निस्सार धूली रूप ही हो गये। इसलिये दूसरा ही शरीर मिलता है जो दूसरे प्रकार का होता है। सूक्ष्म में यह वात नहीं है। यह तो पहिले ही रूप में ज्यों का त्यों आता है।

उन ही धर्माधर्म के संस्कारों को भी साथ लेकर आता है। धर्माधर्म का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और सदा ही चलता रहेगा।

(शंका)—यदि ऐसा मान लें तो क्या हानि है कि धर्माधर्म के संस्कार तो वही बने रहें और सूक्ष्म शरीर नया बनकर आजाये ?

(समाधान)—यदि ऐसा मान लिया जाये तो बताओ धर्माधर्म के संस्कार किसे के आश्रय रहेंगे। यदि कहो कि संस्कारों को किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है, विना आश्रय के वैसे ही भोग दे दिया करेंगे। तब तो सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, न सृष्टि में न प्रलय में। सूक्ष्म शरीर मन बुद्धि चित्त अहंकार ही न रहे तो संस्कार किस के आश्रय ठहरेगा। बिना आश्रय वे कहां ठहरेंगे। कैसे भोग दे सकेंगे। भोग के लिये तो कोई न कोई आश्रय मानना ही पड़ेगा।

यदि कहो कि संस्कार प्रकृति के आश्रय रह जायेंगे। तो भी बात बनती नहीं, क्योंकि प्रकृति के आश्रय तो सब ही स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ रहते हैं। वे सब ही पूर्व रूप में लौट आयेंगे। तब प्रलय का प्रयोजज ही समाप्त हो जायेगा। यदि प्रलय से पूर्व की स्थिति में प्रकृति कार्य करने में समर्थ थी तो प्रलय क्यों हुई प्रलय का समय आने पर तो प्रकृति अस्त व्यस्त सृष्टि व्यवहार में असमर्थ हो जाती है, इसलिये तो प्रलय आता है। अतः सूक्ष्म शरीरों के भी सब अङ्ग प्रत्संग, इन्द्रिय अन्तःकरण आदि सब क्रम पूर्वक अपने-अपने करणों में छिन्न भिन्न होकर विलीन होते जाते हैं। जैसे वट के बीज में सब वृक्ष सूक्ष्म रूप में समाया होता है, वृक्षोत्पत्ति काल में सब सर्वाङ्गीण रूप में विकसित हो जाता है उसी प्रकार प्रलय काल के उपरान्त पुनः सृष्टि काल में उसी क्रम से लौट आते हैं। संस्कार भी और संस्कारों के आश्रय सूक्ष्म शरीर भी।

मोक्ष से पूर्व क्या कर्म नष्ट हो जाते हैं ?

(शंका)—जीव जब मोक्ष प्राप्त करता है, तब इस सूक्ष्म शरीर और धर्माधर्म संस्कारों का क्या बनता है, क्योंकि सब संस्कार नष्ट तो हुये नहीं थे। वे अपनी प्रकृति में ही लीन हुए थे, क्योंकि आप के सिद्धान्त में सर्वथा रूप से तो कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता है; क्योंकि आप सत्कार्यवादी हैं ?

(समाधान)—जब जीव मुक्त होता है तो प्रारब्ध से प्राप्त हुए प्रारब्धोन्मुख कर्मों का फल भोग कर ही मुक्त होता है। परन्तु सञ्चित कर्मों के संस्कार तो बने ही हैं, क्योंकि वे अनादि काल से चले आ रहे हैं और अनन्त हैं। यदि यह माना जाये कि उनका भोग कर के ही मोक्ष होता है, तब तो असंख्यों जन्मों में भी वे भोगे नहीं जा सकते। यदि इनका कभी आरम्भ आदि काल होता तो इनको भोग कर, समाप्त करके ही मोक्ष होता। आदि न होने से, इनको भोग कर समाप्त करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस जन्म में या पूर्वजन्मों में जो जीवात्मा को ज्ञान और वैराग्य १०।२०।५० जन्मों से होता चला आ रहा है। ये ही मुख्य रूप से मुक्ती की ओर ले जाने वाले कर्म हैं। इनकी प्रधानता से ही इनका फल शीघ्र मिलता है। ये ही प्रारब्धोन्मुख बनकर शीघ्र ही मोक्ष देने वाले बन जाते हैं, और संचित जो अनेक जन्म जन्मान्तरों के कर्म हैं; उनके संस्कारों को लेकर ही चित्त अपनी कारण रूप प्रकृति में चला जाता है। तब यह आत्मा मोक्ष में स्थिर हो ठहरा है।

आत्मा—मोक्ष अवस्था में इसकी संज्ञा आत्मा है।

जीवात्मा—शरीर में रहने से जीव या जीवात्मा है।

जीव—प्राण धारणे धातु से जीव शब्द बना है। प्राण धारण क्रिया स्थूल सूक्ष्म शरीर के साथ ही है। अकेला आत्मा प्राण का व्यापार नहीं कर सकता है। अतः सूक्ष्म शरीर नरक, स्वर्ग या मानव योनि में आत्मा के साथ रहता है। उसी अवस्था में यह आत्मा जीव कहलाता है। स्थूल शरीर में स्थूल प्राण रहता और सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म प्राण रहता है।

जब मुक्ति प्राप्त हुई है तो उसकी अवधि भी माननी पड़ेगी। योगियों ने इसकी अवधि एक परान्त काल मानी है। इस अवधि के समाप्त होने पर आत्मा को फिर मुक्ति से लौटकर सृष्टि के आदि में आना पड़ेगा। उस समय उन्हीं सञ्चित ससकारों और उसी सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध इस मुक्ति से लौटी आत्मा के साथ हो जायेगा मुक्ति से लौटी आत्मा को वही अपना पहला चित्त और वही पहले सञ्चित संस्कार मिल जायेंगे। जिन से आगे फिर अपने कर्म चक्र में व्यवस्थित हो जायेगा। यदि इन सञ्चितों का सम्बन्ध न मानें तब वर्तमान जन्म में प्रवृत्ति का कारण क्या होगा। नये कर्म किस के कारण करेगा और नया जन्म ही किस कारण से मानोगे। अन्ततः सञ्चित संस्कार और उनके साथ सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा। और कोई गति नहीं है। यही ठीक भी है। समाधि में साक्षात् सञ्चित संस्कारों का प्रत्यक्ष होता है।

शंका-फिर भला ऐसे मोक्ष से क्या लाभ हुआ, जो फिर उसी बन्धन में आन फंसना है?

(समाधान)—आरम्भ हुई वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती है। जिस मोक्ष को प्राप्त किया है, जिस का संयोग हुआ उसका वियोग अवश्य होगा। यही मुक्ति की समाप्ति है। संयोगः वियोगान्ताः। संयोग का अन्त वियोग है। मोक्ष अनित्य है फिर भी उसके लिये यत्न करना चाहिये।

क्योंकि आप निद्रा भूख प्यास के निवारण के लिये नित्य ही यत्न करते हैं। परन्तु ५।६ घन्टे में फिर खाने की इच्छा हो जाती है। १२।१५ घन्टे में फिर सोने की जरूरत पड़ जाती है। एक बार ही खा पीकर या सो कर तृप्ति नहीं होती है। अनित्य की तो यही दशा होती है। इसी प्रकार मोक्ष भी अनित्य है। जैसे निद्रा लेने के पश्चात् पुनः पूर्ववत् उन्हीं कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार मोक्ष के पश्चात भी उन्हीं कर्मों में प्रवृत्ति होगी जिन्हें छोड़कर गया था। अनित्य का फल अनित्य ही होता है।

(शंका)—आपने तो पहले कहा है, 'जब जीव का मोक्ष होता है तब इस सूक्ष्म शरीर का नाश होता है?

(समाधान)—एक परान्त काल अर्थात् ३११०४०००००००००० वर्षों के लिये नाश समझना चाहिये। सदा के लिये किसी वस्तु का हमारे सिद्धान्त में नाश नहीं होता है। हम अभाव से भावात्मक पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। हम सत्कार्य-वादी हैं। कारण नित्य होता है। कार्य अनित्य। खर्बों वर्ष क्या थोड़े हैं; इस में तो ३६ हजार

वार सृष्टि और प्रलय हो जायेगा । एक प्रान्त काल इकतिस नील दश खरब चालिस अरब का होता है ।

(शंका)—जब सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता है तो स्थूल शरीर का क्यों नाश मान लिया है । यह क्यों पूर्ववत उत्पन्न नहीं होता ?

(समाधान) – स्थूल शरीर संस्कारों का आधार या आश्रय नहीं है । इनका आश्रय सूक्ष्म-शरीर है । वह संस्कारों को लेकर परलोक गमन करता है । स्थूल शरीर पाचों भूतों से बना है । पञ्च भूतों का नाश नहीं होता, शरीर का और इसके मेल का नाश होता है । शरीर की समाप्ति पर भूत अपने कारण में चले जाते हैं । केवल शरीर की आकृति का नाश हुआ है । आकृति तो स्थूल शरीर का उपादान कारण नहीं है । उपादान कारण तो पांच भूत हैं । यदि पुनः जीवात्मा शीघ्र ही मनुष्य के शरीर में आगया, तो वह भी तो पूर्व शरीर के समान ही होगा । मनुष्यों के शरीर तो एकसमान ही होते हैं, केवल आकृतियों या वयका अन्तर होंता है । किसी भी शरीर से जीवात्मा भोग ले सकता है । हां ! अच्छा बुरा शरीर कर्मों के आधार पर मिलता है ।

सूक्ष्म शरीरों का निर्माण करना, और सूक्ष्म भोग देना यही पंचतन्मात्राओं की अर्थवत्ता है । जब सृष्टि बनते बनते, परिणत होते होते तन्मात्राओं के रूप में परिणत होती है परमाणु रूप होती है, उस समय तन्मात्राओं से सूक्ष्म शरीरों का निर्माण होता है । चित्त बुद्धि अहंकार मन और इन्द्रियां पहिले ही उत्पन्न हो चुके होते हैं । ये सब मिलकर पञ्च-तन्मात्रों से निर्मित सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करते हैं । आकाश तन्मात्रा के अन्दर इन सब सूक्ष्म-शरीरों का निवास होता है । अभी स्थूल भूत और स्थूल सृष्टि उत्पन्न हुई हुई नहीं होती है ये पीछे बनती है । उस समय केवल सूक्ष्म-सृष्टि जिसे अहंकारिक सृष्टि कहते हैं, वही बनी होती है । अनेक वर्ष इस अहंकारिक सृष्टि के बनने में लग जाते हैं । स्वर्ग लोकादि सूक्ष्म जगत् का निर्माण भी इसी काल में होता है । स्वर्ग प्राप्त आत्मायें पञ्चतन्त्राओं से निर्मित इस स्वर्ग लोक में आनन्द का उपभोग करने लगती हैं । दूसरे जीव भी अपने सूक्ष्म शरीरों के साथ अल्प कालिक सक्ष्म भोग में प्रवृत हो जाते हैं । स्थूल जगत का निर्माण होने पर अपने-अपने भोगानुसार उस में जन्म ले लेते हैं ।

(शंका) मुक्त आत्मायें क्या एक परान्त काल तक स्वर्ग में निरन्तर वास करती हैं, क्या प्रलय का उन पर कोई प्रभाव पड़ता है ?

(समाधान) महा-प्रलय रात्रि में तो मुक्त और बद्ध सब को ही शयन करना पड़ता है ।

(शंका) क्या स्वर्ग में दिंन रात भी होते हैं ?

(समाधान) आप स्वर्ग में दिन-रात की बात पूछते हैं । इस भूमि पर भी भारत के समान दिन-रात नहीं होते । उत्तरी ध्रुव में और आयरलैंड के ऊपर ६ मास का दिन और ६ मास की रात्रि होती है और उपा काल भी २४ घन्टे का होता है । २४ घन्टे तक सूर्य दिखता ही नहीं है ।

स्वर्ग लोक तो दिन रात के झगड़ों से सर्वथा मुक्त है । सूर्य का आलोक वहां अपना प्रभाव नहीं रखता । सूर्य का प्रकाश तो स्थूल नेत्रों के लिये आवश्यक है । सूक्ष्म

नेत्र या दिव्यचक्षु को तो यहाँ इस मानव जीवन में भी सूर्य की आवश्यकता नहीं। स्वर्ग-वासी आत्माओं के तो शरीर ही सूक्ष्म होते हैं। स्थूल नहीं। उन के नेत्र दिव्य होते हैं। पारदर्शी होते हैं। उनको सूर्य के प्रकाश की जरूरत नहीं होती। इस लोक की अपेक्षा कुछ तो वहाँ-विशेषतायें हैं, जिन के कारण सब स्वर्ग को पसन्द करते हैं। सामान्य रूप से अग्नि-तन्मात्रा का आलोक वहाँ होता है, जिस से भौतिक अग्नि और सूर्य आदि बने हैं।

कर्मफल का विभाग

(शंका) इतना बड़ा हिसाब-किताब सूक्ष्म विशाल सृष्टि का कौन रखता है। किस को स्वर्ग में भेजना, किस को नरक में भेजना। किसी को कैसा शरीर देना, किसी को कैसा?

(समाधान) इस लोक में ही आप एक एकड़ भूमि लेकर देखें। उसमें आप बाग लगवावें और उस में पाँच-सात सौ किस्म के वृक्ष, जड़ियाँ, बूटियाँ, औषधियाँ, फल और वनस्पति बोवें। आप तो उन को केवल खाद और पानी ही देते हैं। जंगल में होने वालों को- तो यह भी नहीं दिया जाता। आम के बूटे और फल में अलग रस, नीम्बू के बूटे और फल में अलग रस। सब में अलग रस का विभाजन कौन करता है। पृथक्-पृथक स्वाद, पृथक रंग रूप, पृथक्-पृथक् लम्बाई चौड़ाई अन्दर बैठा-बैठा कौन करता रहता है। जैसे इस बाग में भूमि जल, धूप, हवा आदि पालन, पोषण, रक्षण, विभाजन आदि करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृति देवी इस सूक्ष्म और स्थूल जगत् में करती रहती है।

(शंका) आप ईश्वर को क्यों नहीं विभाग-कर्ता मानते हैं।

(समाधान) यदि यह सब कार्य ईश्वर के ही मान लिये जावें तो प्रकृति क्या करेगी। इसको भी तो कुछ कार्य करना चाहिए। परिणाम धर्म या विकास तो प्रकृति और उसके कार्यों में हो रहा है। ईश्वर में तो नहीं हो रहा। तब ईश्वर को कैसे मान लें अतः परिवर्तन, प्रत्येक विभाजन, विकास, एवं कार्य रूप में परिणत ये सब प्रकृति के ही कार्य है। हाँ! ईश्वर के सन्निधान से ही प्रकृति करती है। अकेली प्रकृति नहीं कर सकती। इसका आरोप ईश्वर में कर दिया जाता है। कहा जाता है, ईश्वर कर रहा है। असंग और निष्क्रिय में कर्ताधर्म नहीं होता है।

(शंका) तब तो ईश्वर बेकार और व्यर्थ ही हो जायेगा।

(समाधान) ईश्वर बेकार और व्यर्थ नहीं है। इसका कार्य प्रकृति में गति-क्रिया-हरकत पैदा करना है। आगे सब कार्य प्रकृति में स्वयं ही होते रहते हैं या प्रकृति स्वयं ही करती रहती है। ईश्वर का तो इसे केवल सन्निधान ही चाहिए। इस ईश्वर के सन्निधान से इस प्रकृति देवी में भी चेतना सी पैदा हो जाती है। और यह चेतनवत् कार्य करने लगती है जैसे मनुष्य के शरीर में जीवात्मा का सन्निधान चित्त के साथ में है। इस आत्मा के सन्निधान से चित भी चेतन सा बन कर अन्तःकरण, इन्द्रियों, स्थूल, सूक्ष्म शरीरों से सब कार्य कराता रहता है। या जैसे बड़ी भारी मशीन को एक छोटा सा बिजली का स्विच गतिशील कर देता है। इसी प्रकार प्रकृति के कारण-कार्यात्मक जितने भी

परिणाम-भाव हर समय होते रहते हैं उन सब को गतिशील कर देने में ईश्वर ही निमित्त कारण है। शेव सब कार्य प्रकृति स्वयं करती रहती है। इसी के ये सब धर्म कर्म हैं। यदि ईश्वर को ही सब प्रकार कर्ता मान ले, तो इसका कोई करण भी मानना पड़ेगा। क्योंकि बिना करण के कोई भी कर्ता कुछ भी व्यापार या कार्य नहीं कर सकता। और उपनिषद कहती है।

"न तस्य कार्यकरणं च विद्यते"

उस ईश्वर का कोई कार्य या करण नहीं है।

(शंका) इसी मन्त्र के अन्त में जो कहा है—

"परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च।"

इस ब्रह्म की स्वाभाविक ज्ञान-बल और क्रिया हैं। इसके द्वारा सब कार्य कर सकता है। फिर आप अकर्ता कैसे मान रहे हैं।

(समाधान) यहां जो स्वाभाविक ज्ञान, क्रिया और बल कहे हैं ये वास्तव में प्रकृति के सत्व रजः, तम के ही नाम हैं। ज्ञान से तात्पर्य सत्व का है। क्रिया से तात्पर्य रज का है। बल का तात्पर्य स्थिति है। 'प्रकाश क्रिया-स्थिति शीलं' ही तो योग ने प्रकृति के धर्म माने हैं।

ईश्वर भी नित्य है, और प्रकृति भी नित्य है। इन दोनों का सम्बन्ध भी नित्य है। इसी सम्बन्ध से स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया का ईश्वर में आरोप कर दिया है। वास्तव में ये प्रकृति के ही तीन गुण हैं।

"असङ्गोऽयं पुरुषः।"

साँख्य अ. १। सू १५

यह वचन उपनिषद् और साख्य दर्शन का है। यह पास रहते हुए भी असङ्ग रहता है। जैसे जल के अन्दर रहते हुए भी कमल का पत्ता पानी से गीला नहीं होता है। पानी से अलिप्त रहता है। पानी में भीगता नहीं है। इसी प्रकार पुरुष भी व्यापार से लिप्त नहीं है। इसी लिये पुरुष के लिये निष्क्रिय विशेषण भी आता है। भगवान् में क्रिया नहीं भगवान् के समीपस्थ होने से प्रकृति में स्वयं ही क्रिया होने लगती है। यह नहीं कि भगवान् उस क्रिया या गति को कराता है, या गति का कर्ता है। वह तो वस्तुतः असंग और ही निष्क्रिय ही है।

(शंका) ऐसा क्यों न मान लें, कि ईश्वर भी जीवात्मा की तरह प्रकृति से करण लेकर सृष्टि की रचना कर देता है; जैसे प्रकृतिनिर्मित-अन्तःकरण जीवात्मा के सब कार्य-करते रहते हैं; उसी प्रकार कुछ करण परमात्मा के भी प्रकृति विकृति सम्बन्धी सब कार्य कर देंगे!

(समाधान) फिर जीवात्मा और परमात्मा में क्या भेद रहा? जैसे जीवात्मा कर्ता भोक्ता है ऐसे ही परमात्मा भी कर्ता भोक्ता हो जायेगा। कर्म बन्धन में फंस जायेगा।

(शंका) ईश्वर सर्वव्यापक है अतः उसको किसी करण की जरूरत नहीं। वह अपनी सर्वव्यापकता से सब कुछ कर सकता है।

(समाधान) जब इसको करण की जरूरत नहीं है तो कर्तापन की या कर्ता बनने की ही क्या आवश्यकता है। सृष्टि स्वयं ही इसके सन्निधान से कारण-कार्योन्मुख हो जायेगी।

(शंका) प्रकृति तो जड़ है, वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। इस लिये उसको चेतन ब्रह्म की जरूरत है। जिससे वह अपने सब कार्य कर करा सके।

(समाधान) हम भी तो ऐसे चेतन ब्रह्म को स्वीकार करते है जिसके सन्निधान से प्रकृति स्वयं क्रिया-शील हो जाये। इससे न तो ब्रह्म का कुछ बिगड़ता है, न वह कर्ता ही बनता है।

(शंका)—आप सब जगह ईश्वर में आरोप की बात करते हैं। जैसे आप गुण गुणी का अभेद मानकर कारण-कार्यात्मक परिणाम स्वीकार करते हैं ऐसे ही ब्रह्म के ही गुण मानकर अभेद स्वीकार कर लें; फिर वह अकर्ता इत्यादि भी सिद्ध हो जायेगा।

(समाधान)—जिन पदार्थों में हमने गुण गुणी का अभेद माना है वे सब प्रकृति के कार्यात्मक रूप हैं। जब यह परिणाम भाव को प्राप्त होते हैं, तो उनमें गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे जब पृथिवी परिणाम भाव को प्राप्त हुई तब उसमें ग्यारह (११) गुण अभिव्यक्त हो गये। परन्तु ईश्वर का तो परिणाम नहीं होता है, यदि ईश्वर में परिणाम मानें तो उसमें भी गुण या धर्म उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु परिणाम तो प्रकृति या उसके कार्यों का होता है। अतः गुण भी उन्हीं में प्रकट होते हैं। यदि ईश्वर में भी ऐसा परिणाम स्वीकार कर लोगे तब तो वह भी प्रकृति जैसा हो जायेगा। भेद यही होगा, उसमें चेतनों की उत्पत्ति होगी, इसमें जड़ों की होती है। तब फिर एक अन्य ऐसा ब्रह्म स्वीकार करना पड़ेगा जो निष्क्रय हो असङ्ग हो। हम जो प्रकृति में क्रिया या परिणाम मानते हैं वह ब्रह्म के सन्निधान से मानते हैं। उपादान कारण के रूप में नहीं। ब्रह्म चेतन है। इसके चेतन होने से प्रकृति स्वयं क्रियाशील होने लगती है। जैसे यदि अग्नि में लोहे का टुकड़ा पड़ जाये तो वह भी अग्नि के समान तपने लगता है। दाह और प्रकाश करने लगता है। इस में अग्नि का क्या बिगड़ता है। ऐसे ही इस अग्नि रूप चेतन ब्रह्म में प्रकृति पड़कर स्वयं ही चेतनवत् सी बन कर, परिणाम भाव को प्राप्त होकर नाना प्रकार के पदार्थों और जगत् को उत्पन्न करने लगती है।

प्रलय काल में भी प्रकृति में क्रिया

(शंका)—ईश्वर की समीपता या सन्निधान तो सदा ही बना रहता है। फिर सदा एक समान क्रिया या कार्य क्यों नहीं होते रहते। विषमता क्यों देखने में आती है?

(समाधान)—क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है। इसके परिणाम भिन्न-भिन्न रूपों में होते हैं। यद्यपि चेतन से तो गति एक समान ही प्राप्त होती है। जैसे मोटर तो केवल गति देता है, उस गति से चाहे मशीन छापे, चाहे चक्की आटा पीसे, और चाहे पावर लूम कपड़ा बुने।

(शंका)—तब परिणामिनी प्रकृति में प्रलय काल में भी क्रिया बनी रहनी चाहिये, क्योंकि वह परिणामिनी है, साम्य भाव नहीं आना चाहिये। परिणामिनी में साम्य अवस्था कैसे आयेगी ?

(समाधान)—चेतन पुरुष सर्वगत नित्य है। प्रलय काल में भी चेतन का सम्वन्ध या सम्पर्क बना रहता है। अतः प्रकृति में भी सूक्ष्म सी क्रिया बनी रहती है। वहाँ गुणों की साम्यावस्था होती है, विषमता नहीं होती। किसी प्रकार का कर्म या व्यापार नहीं होता। पर चेतन का सम्वन्ध बना रहता है। प्रलय में भी सम्बन्ध का अभाव नहीं हुआ। न व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध का ही विच्छेद हुआ है। यह सम्बन्ध ही तो गति का हेतु है। इसके होते गति का अभाव कैसे हो सकता है। हाँ केवल गुणों की विषमता नहीं होती है। उदाहरण के रूप में जैसे चित्त और जीवात्मा का संयोग है। वहाँ कर्म का अभाव नहीं हो सकता। जागृत में नाना प्रकार के कर्म और व्यापार करता है। स्वप्न में भी अन्तःकरण का स्मृति-जन्य व्यापार सूक्ष्म शरीर में होता रहता है। निद्रा में भी सुख दुःख उत्पन्न होता है। जो चित्त का ही कर्म है। इसीलिये निद्रा को भी अन्तःकरण की वृत्ति कहा है। जहाँ चेतन का संयोग है वहाँ कर्म का अभाव नहीं हो सकता है। जैसे निद्रा में अन्तःकरण में सूक्ष्म सा सुख दुःख धर्म उत्पन्न हो रहा है। अन्तः करण में क्रिया का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है। इसी प्रकार प्रलय में भी प्रकृति और ब्रह्म का सम्बन्ध है। अतः सामान्य क्रिया का अभाव नहीं हो सकता है। हाँ विशेष क्रिया का अभाव अवश्य हुआ हुआ है अर्थात् जो तीनों गुणों की विषमता से विशेष क्रिया उत्पन्न होती है वह नहीं है। गुणों की साम्य अवस्था है। यह नहीं कि प्रकृति में सूक्ष्म कम्पनों का अभाव हो गया है। यदि सूक्ष्म क्रिया का अभाव हो जाये तो सामान्य क्रिया भी न रहे। जब सामान्य क्रिय ही नहीं है तो विशेष क्रिया कहाँ से और कैसे हो सकती है। प्रलय की अवस्था में यदि ब्रह्म और प्रकृति अलग-अलग हो जाते तब तो संयोग के अभाव में क्रिया का भी अभाव हो जाता। अतः प्रकृति में सामान्य क्रिया के अभाव का हमें कोई पोषक हेतु प्रतीत नहीं हो रहा फिर अनुभूति के विरुद्ध हम सर्वथा क्रिया का अभाव कैसे मान लें। मनुष्य के शरीर में जैसे निद्रा आती है, इसी प्रकार भगवान् के शरीर प्रकृति में भी प्रलय को समझना चाहिये। जिसमें सर्व कार्यों और व्यापारों का अभाव होता है। परन्तु सामान्य क्रिया अति सूक्ष्म रूप में बनी रहती है।

(शंका)—यदि प्रकृति में सामान्य क्रिया सदा बनी रहती है तो प्रकृति की साम्यावस्था का कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हुआ ?

(समाधान)—तब तो मनुष्य की निद्रा से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होना चाहिये, क्योंकि निद्रावस्था में रक्तपरिभ्रमण, हृदय स्पंन्द श्वासोच्छ्वास पाचनादि सब सामान्य क्रियायें काम करती हैं। निद्रा से तो बड़ा भारी प्रयोजन सिद्ध होता है। आलस्य, प्रमाद, शरीर इन्द्रियों की थकावट सब दूर हो जाती है। मनुष्य फिर तरोताज़ा हो जाता है। पुनः कार्य करने की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार प्रकृति में प्रलय काल की अवस्था आ जाने से विश्राम मिलता है। वह तरोताज़ा और नई सामर्थ्य युक्त हो जाती है।

(शंका)—मनुष्य तो चेतन है थक जाता है, इसलिये विश्राम की आवश्यकता है। प्रकृति तो जड़ है, उसे विश्राम की क्या आवश्यकता ?

समाधान—थकावट चेतन में नहीं, चेतन से बने जड़ में होती है। थकावट तो देखो ! स्थूल शरीर और इन्द्रियों में होती है। ये प्रकृति की तरह जड़ हैं। आत्मा में थकावट नहीं होती। वह चेतन है, चेतन में थकावट कहाँ। देखो ! आत्मा तो तीनों अवस्थाओं में जागता रहता है क्योंकि तीनों अवस्थायें वृत्ति वाली हैं। वृत्ति आत्म-संयुक्त चित्त में ही होती हैं। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-तीनों में वृत्ति रहती है यह पहले बताया जा चुका है। शरीर की तरह प्रकृति भी जड़ है। भगवान् के सन्निधान से चेतन सी बनी है, अतः थकावट महसूस करती है। इसलिए विश्राम की आवश्यकता होती है। निद्रा से जैसे शरीर की थकावट दूर होती हैं, प्रलय काल में लम्बे विश्राम से इसकी भी थकावट दूर हो जाती है। पुनः सृष्टि रचना करने के लिये तरोताज़ा हो जाती है। इसके जितने भी पदार्थ कार्यात्मक थे बहुत काल तक भोग देते से रहने से वे जीर्ण शीर्ण पुराने हो गये थे। जैसे जब स्वर्ण के आभूषण पुराने हो जाते हैं तो सुनार द्वारा भट्टी में कुठाली में रखे जाकर नवीनतम हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रलय में विश्राम कर, तरोताज़ा होकर प्रकृति पुनः कार्य सृजन में उद्यत हो प्रवृत्त हो जाती है।

अस्तु ! ये तन्मात्रायें सूक्ष्म शरीर का निर्माण करके इसे सब प्रकार के सूक्ष्म भोग प्रदान करती हैं। मोक्ष पर्यन्त जीव का साथ देती हैं। यही महान् उपकार इनमें अर्थवत्ता रूप धर्म है। इसकी अर्थवत्ता में ब्रह्म की व्यापकता का सर्वत्र अनुभव करना चाहिये।

इति समष्टि गन्धतन्मात्रा मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः

इत्यष्टाविंशमावरणम्

द्वितीय खण्ड

२७ वां आवरण

समष्टि रस-तन्मात्रा मण्डल

पाँचों रूपों में ब्रह्म-दर्शन

समष्टि रस-तन्मात्रा व्यष्टि रस-तन्मात्रा का उत्पादान कारण है। समष्टि रस तन्मात्रा से व्यक्तिगत रस तन्मात्रा बनती है।

योगी या सूक्ष्म शरीराभिमानी सूक्ष्म-रसनेन्द्रिय से जिस रस-तन्मात्रा का उपभोग करता है, व्यवहार में लाता है वह व्यष्टि रस-तन्मात्रा है। समष्टि रस-तन्मात्रा से व्यष्टि रूप में परिणत हुई है। समष्टि रस-तन्मात्रा सदा आकाश में सर्वत्र रहती है। व्यष्टि रस-तन्मात्रा उससे बन बन कर आती रहती है। वह लौट कर परिणत होकर फिर समष्टि रस-तन्मात्रा के कोष में सुरक्षित हो जाती है। प्रलय पर्यन्त यह क्रम चलता रहता है।

ब्रह्म के सन्निधान से चेतन सी बनी रस-तन्मात्रा इस कारण कार्य रूप परिणाम चक्र को घुमाती रहती है।

समष्टि रस-तन्मात्रा मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रस-तन्मात्रा का प्रथम रूप)

१. रस-तन्मात्रा के स्थूल रूप में—जल-भूत का पूर्व परिणाम रस-तन्मात्रा है। रस-तन्मात्रा ही जल-महाभूत में परिणत हुई है। रस-तन्मात्रा जल-महाभूत की अनुद्भूत सूक्ष्म अवस्था है। जल-महाभूत उद्भूत अवस्था है। इस जल को स्थूल रसना इन्द्रिय से बोध हो जाता है। रस-तन्मात्रा अनुद्भूत अर्थात् साधारणतया अप्रकट सूक्ष्म अवस्था है। इसका ज्ञान सूक्ष्म रसनेन्द्रिय से होता है। सूक्ष्म रसनेन्द्रिय सूक्ष्म शरीर में रहती है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान सूक्ष्म शरीर के बुद्धि मण्डल में वास करती है। स्थूल रसना इन्द्रिय स्थूल शरीर में स्थूल जिह्वा में ठहरी है। स्थूल रस या स्वाद स्थूल जिह्वा इन्द्रिय से गृहीत होता है और स्थूल रस या स्वाद सूक्ष्म इन्द्रिय तक पहुंचते-पहुँचते सूक्ष्म रसतन्मात्रा रह जाती है। स्थूल रस का भोग स्थूल शरीर कर लेता है जिसका ग्रहण सूक्ष्म रसना इन्द्रिय करती है वही रस-तन्मात्रा है। यह सब योगाभ्यास-गम्य है।

सूक्ष्म रसना सूक्ष्म शरीर के भाग बुद्धि-मण्डल में वास करती है। स्थूल रस का भोग तो प्राणिमात्र करते हैं; सूक्ष्म दिव्य रस-तन्मात्रा का भोग योगी, सूक्ष्म-शरीराभिमानी आकाशचारी आत्मायें, अथवा स्वर्ग में निवास करने वाली पुण्य आत्मायें किया करती हैं।

गन्ध-तन्मात्रा से, पूर्व वर्णित जितने भी सूक्ष्म पदार्थ सूक्ष्म शरीर के भोग के लिये बनते हैं, उनमें इस रस-तन्मात्रा का भी सहयोग होता है। यह उसका सहकारी

उपादान कारण है। योग-भाष्यकार ने इस विषय में कहा है, कि योगी को इसका प्रत्यक्ष करने के लिये—

'जिह्वाग्रे रस संवित्।'

जब भी योगी जीभ के अगले भाग में रस तन्मात्रा के विषय में अभ्यास करने लगता है तो कुछ काल के पश्चात उसे दिव्य रस की अनुभूति होने लगती है। यह सूक्ष्म रसना इन्द्रिय जो ब्रह्मरन्ध्रस्थ-सूक्ष्म शरीर में विद्यमान है, वहां पर इस दिव्य रस का संवेदन होता है, जिह्वा के अग्र भाग में किसी रस का अभ्यास करने से वह स्थूल से सूक्ष्म रस-तन्मात्रा के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होता हुआ, जिह्वा के अग्रभाग में वर्त्तमान सूक्ष्म ज्ञान वाहक तन्तुओं के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में सूक्ष्म रसना इन्द्रिय पर पहुंच कर अपना प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है।

सूक्ष्म गन्ध जैसे गुण भेद से अनेक प्रकार की हैं इसी प्रकार रस भी गुणों के भेद से अनेक प्रकार का है। एक रस के अन्तर्गत सब प्रकार के रसों को करके इसका नाम रस-तन्मात्रा है। जैसे मीठारस, खट्टा रस, नमकीन रस, इन सबके साथ रस शब्द का प्रयोग होता है। ये सब एक ही रस के परिणात्मक गुण हैं।

यह रस-तन्मात्रा सूक्ष्म-शरीरों के निर्माण में और इसके बने हुए सूक्ष्म पदार्थों में तथा सूक्ष्म भोग में प्रयुक्त होती है। यही इसका स्थूल-रूप हैं।

जब यह परिणाम भाव को प्राप्त होकर किसी पदार्थ का निर्माण करती है, उसी अवसर में ब्रह्म की चेतन सत्ता का अनुभव करना चाहिये कि किस प्रकार इसके साथ चेतना का सम्बन्ध है और वह किस प्रकार इस सूक्ष्म गन्ध में ओत-प्रोत है। इसकी सूक्ष्मता का अनुभव हो जाने पर ब्रह्म की सूक्ष्मता का भी अनुभव होता जाता है।

समष्टि रस-तन्मात्रा मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्मदर्शन

(रस-तन्मात्रा का द्वितीयरूप)

२. रस-तन्मात्रा के स्वरूप में—

रस-तन्मात्रा का अपना रूप रस है। रस-तन्मात्रा का धर्म रस है। यह रस सदा रस-तन्मात्रा में रहता है। कभी उस से अलग नहीं होता। रस का और रस-तन्मात्रा का अभेद है, स्वरूप है। गुण गुणी का और धर्म-धर्मी का अभेद है। रस तन्मात्रा का रस स्व-स्वसामान्य धम है।

जहाँ रस-तन्मात्रा होगी वहाँ रस भी होगा। यह रस रस-तन्मात्रा में भी है और रस-तन्मात्रा के गुण-रूप परिणामों में भी है।

रस के जितने भी भेद चखने में आते हैं; ये रस के परिणामात्मक धर्म हैं। रस-तन्मात्रा के ही दूसरे परिणाम हैं। अपने वास्तविक स्वरूप से अलग नहीं रह सकते हैं। इस प्रकार परिणामों में उपादान कारण और निमित्त कारण का भी ज्ञान होना चाहिए। धर्म-धर्मी का अनुभव होना चाहिये।

संसार में जितने भी स्वाद हैं; सामान्य रस के परिणामात्मक गुण हैं। हमारे बहिर-मुख दैनिक जीवन में परिणत रसों का ही अभ्यास होता है। उन्हें जानने या पहचानने में हमें अधिक समय नहीं लगता। मीठे रस को हम तत्काल पहिचान लेते हैं। पर मीठे के भी कितने परिणाम हैं। इन सब परिणामों की विभिन्नता देख कर हमें आश्चर्य होता है। मीठे रस को ही लीजिये। हलवाई की दूकान पर सब मीठा ही रस है। पर प्रत्येक मिठास में बड़ा भारी भेद है। जलेबी, इमरती, जलेबा में मीठा रस भरा होता है पर तीनों के मीठे रस में अन्तर है। लड्डू, नुक्ती, बेसन, खोये, मूँग, मगद, कसार, सोंठ, सोंफ, अजवायन, शतावर, मलाई आदि अनेक प्रकार का होता है, पर सब का ही मिठास भिन्न है। हलवा कितने प्रकार का होता है। आटे, रवे, बादाम, पिस्ते, गाजर पपीता, पेठा, शकरकन्दी, आलू आदि बहुत सी वस्तुओं का बनता है। सब के मिठास में कितना अन्तर, जिसके चखते ही आप तत्काल कह देते हैं। यह हलवा रवे का है, यह सोहन हलवा, यह गाजर का है। यह सोहन टिकिया है। इसी प्रकार बंगाली मिठाइयाँ हैं। दूध फाड़ कर पनीर से बनाई जाती हैं। विधि अलग हैं। रसगुल्ला, चमचम, प्रान्त और देश विदेश के भेद से सब के मिठास में कितना भेद है। ऐसे ही करांची, मारवाड़ी, गुजराती, मद्रासी, बिहारी आदि प्रान्तों की विभिन्न मिठाइयां हैं, सब का मिठास परिणाम सब से जुदा। फलों की मिठास इन सब से निराली है। आम, सन्तरा, चीकू, खजूर, खरबूजा, सरदा, शरीफा, केला, सेब, अँगूर आदि सब ही तो मीठे हैं, क्या सब का मिठास एकसा है? इसी प्रकार मेवों में किशमिश, छुहारा, अंजीर, चिलगोजा, काजू, सूखी खजूर, पिस्ता, बादाम, अखरोट सब ही तो मीठे हैं, क्या इस मिठास के परिणामों के भेद किसी तुला से तोले जा सकते हैं। ईख, पौण्डा, ज्वार आदि घासों की मिठास क्या एक दूसरी से निराली नहीं। यह सब और इसी प्रकार सब अन्य मिठास मीठे रस के परिणामात्मक कार्य हैं। इसी प्रकार खट्टे रस में नीबू, आम, इमली, अनार दाना, टाटरी, खट्टा, आमला, कमरख, करौंदा, सिरका, आदि सब ही के खट्टेपन में भेद है। पर मूल खट्टापन एक ही है। जिसको जान कर हम सब को खट्टा कह देते हैं। ऐसे चरपटा, कसेला, कड़वा आदि रसों के परिणामात्मक सैकड़ों भेद हैं। यह तो प्रसिद्ध स्वादों की बात हुई। प्रत्येक जलीय एवं पार्थिव परिणामकार्य में निराला स्वाद है। प्रत्येक वनस्पति, औषधि फूल, पत्ती, जड़, छाल, मिट्टी, पत्थर आदि सब का ही भिन्न स्वाद है। स्थान-स्थान के जल का स्वाद भिन्न है। वर्षा, समुद्र, कूप, नदी, झरने, तालाब आदि सब ही जलों का अलग-अलग स्वाद है। पर इन सब स्वादों में एक सामान्य स्वाद या रस जिसके कारण हम सब को स्वाद कह रहे हैं। यही सामान्य स्वाद रस तन्मात्रा है, जो अन्य-स्वादों में परिणत होती जाती है।

जब हम किसी अनजाने पदार्थ को डरते-डरते जिह्वा से छुआते हैं तो उसका स्वाद आता है। सामान्य रस को हम खूब जानते हैं, नित्य उसका स्वाद लेते हैं, परिणामात्मक रस भी जिह्वा से छूने के पीछे सूक्ष्म रसनेद्रिय पर पहुँचते हैं तो रस-तन्मात्रा में पलट जाते हैं। उस रस-तन्मात्रा के अनुभव का हमें नित्य अभ्यास है, उसी अभ्यास वशात् हम पदार्थ के जिह्वा से छूते ही बोल पड़ते हैं, स्वाद आ रहा है। यह स्वाद तो हमने सूक्ष्म रसना इन्द्रिय से जाना है अब स्थूलेन्द्रिय के स्वाद का बोध कराने के लिये

उस परिणामात्मक रस का नाम पदार्थ के नाम पर रख देते हैं। आम, खट्टा, मिट्ठा सब परिणामात्मक पदार्थ ही हैं।

यह सामान्य स्वाद रस-तन्मात्रा है। और शेष जाने अजाने स्वाद इसी रस का परिणाम हैं। यही सामान्य रस है, जो रस-तन्मात्रा का धर्म है। यह रस धर्म रस-तन्मात्रा में स्वरूप-सम्बन्ध से रहता है। रस कभी भी रस-तन्मात्रा से पृथक् उपलब्ध नहीं होता। यही रस-तन्मात्रा की स्वरूपावस्था है। रस का रस-तन्मात्रा के साथ अभेद है। रस धर्म से अलग रस-तन्मात्रा कोई वस्तु नहीं है। रस का ही नाम रस-तन्मात्रा है। रस-तन्मात्रा ही रस (स्वाद) है। रस का सम्बन्ध रस-तन्मात्रा के साथ सदा बना ही रहता है। इनकी अलग-अलग अस्तित्व नहीं है। अतः यह अलग-अलग नहीं हो सकते। धर्म-धर्मी एक ही हैं।

रस-तन्मात्रा कहो या दिव्य रस बात एक ही है। यह दिव्य-रस जल के कारण भूत असंख्य सूक्ष्म परमाणुओं का अयुतसिद्ध-समुदाय एक रस-तन्मात्रा द्रव्य है। रस का रूप ही रस-तन्मात्रा से अभिप्रेत होता है यह रस-तन्मात्रा अपने परिणामात्मक विविध सूक्ष्म रसों के रूप में सूक्ष्म शरीरों का भोग निष्पादन करती है। इस तन्मात्रा की रस रूप ही अवस्था है। परिणाम भाव को प्राप्त हो कर यह सूक्ष्म-स्थूल भूतों में चली जाती है।

रस धर्म रस-तन्मात्रा में सदा अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी रस-तन्मात्रा में सदा अनुस्यूत रहता है। क्योंकि ब्रह्म सर्व-गत है। रस-तन्मात्रा किस प्रकार क्रम पूर्वक अपने सामान्य विशेष धर्मों में परिणत होती रहती है, और परिणत होते हुए भी उन से पृथक नहीं होती है। इस सूक्ष्म-परिणाम क्रम में चेतन ब्रह्म की व्यापकता और निमित्ता का अनुभव करें। जो रस के परमाणुओं में गति कर के परस्पर संघात से परिणत करता रहता है। यह निमित कारण चेतन-ब्रह्म ही है। यह रस तन्मात्रा के द्वितीय स्वरूप का अभेद रूप से वर्णन किया है। रस-तन्मात्रा का उस के अनेक गुणों के साथ स्वरूप सम्बन्ध है। उसे सम्वाय सम्बन्ध भी कहते हैं और तादातम्य सम्बन्ध भी कहते हैं।

इस धर्म धर्मी के अभेद रूप परिणाम में ब्रह्म का विज्ञान प्राप्त करना होता है।

समष्टि रस-तन्मात्रा मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रस-तन्मात्रा का तृतीय रूप)

३. रस-तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि रस तन्मान्त्रा जिस पूर्व वर्त्तमान कारण से परिणत हुई, उस पूर्व वर्त्तमान कारण रूप अवस्था को रस तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहेंगे। समष्टि तमः प्रधान अहंकार ही समष्टि रस-तन्मात्रा का उपादान कारण है, इसके सहकारी कारण रजस् और सत्त्व भी होते हैं। यहाँ समष्टि तमः अहंकार अपने कार्य-विशेष रस तन्मात्रा में अनुस्यूत है। यह कारण कार्य का अयुत-सिद्ध समुदाय समष्टि रस-तन्मात्रा है।

अहंकार के सूक्ष्म अंश सामान्य और गन्धतन्मात्रा के विशेष का समुदाय ही यहां एक अयुत-सिद्ध द्रव्य रस-तन्मात्रा बनता है। यहाँ तमः प्रधान अहंकार कारण में कार्य रूप रस-तन्मात्रा की सूक्ष्मता है। इसी को रस-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहते हैं अर्थात् सामान्य विशेष का परस्पर संघात ही रस-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप है।

इस अवसर पर जो एक विशेष क्रिया हो कर एक विशेष परिणति जो समष्टि तमः प्रधान अहंकार में उस के सह कारण सत्त्व रजस् के साथ में होती है वह विलक्षण है। गन्ध-तन्मात्रा की अपेक्षा विचित्र है। आश्चर्यमय है। यहाँ इस परिणाम की गति-विधि को ही समाधि का विषय बनाना होता है। यहाँ दिव्य दृष्टि से देखने की यही विशेष प्रक्रिया है। यहां साक्षात् होगा कि किस प्रकार अनोखे ढंग से तमः प्रधान अहंकार में सत्त्व रजस् की मात्रायें परिणाम पैदा करती हैं। अन्त में वह किस प्रकार रस-तन्मात्रा में परिवर्त्तित हो जाता है। साथ ही यह भी प्रत्यक्ष हो रहा है कि किस प्रकार सजातीय विजातीय धर्मों का नियोजन हो कर ब्रह्मो चेतन सत्ता के सन्निधान से अयुत-सिद्ध द्रव्य रस-तन्मात्रा बन कर तैयार हो रही है। किस प्रकार सूक्ष्मतम तमः अहकार सत्त्व राजस् के साथ मिला हुआ रसतन्मात्रा का रूप धारण कर रहा है। ब्रह्म की चेतन सत्ता इस अवसर पर संघात करने वाली प्रेरिका है। उसी ब्रह्म सत्ता का आप को विज्ञान करना है।

अहो विलक्षणता। समष्टि तमः प्रधान अहंकार केवल बुद्धि का विषय था अब वह रस तन्मात्रा का रूप धारण करते ही दिव्य रसना का विषय बन गया। दिव्य रसना से चखा जाने लगा।

संक्षेप में समझावें तो—सामान्य विशेष के भेद से अनुगत समष्टितमः-अहंकार समुदाय अयुतसिद्ध द्रव्य ही गन्ध-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप है। इस परिस्थिति में समष्टि तमः अहंकार का समष्टि रस-तन्मात्रा के रूप में परिणाम हुआ है और वह समष्टितमः अहंकार धर्म-लक्षण-अवस्था रूपों में परिणाम भाव को प्राप्त हो कर रस तन्मात्रा के स्थूल रूप में पलट गया है।

रस-तन्मात्रा की सूक्ष्मता को इस प्रकार भी समझिये—दूर देश में आम रखा है। योगी उस पर संयम करता है। धारणा ध्यान समाधि का उसको विषय बनाता है। स्थूल भूत आम से स्थूल भूत के परिणाम आम के विशेष रस-स्वाद पर पहुँचता है। अधिक तन्मय होता है, तो सामान्य रस पर पहुँच जाता है। जिस सामान्य का यह आम विशेष परिणाम है। इससे भी गहनतम संयम की गहरी स्थिति में रस-तन्मात्रा के कारण भूतपूर्व रूप जड़—सत्तात्मक तमः प्रधान अहंकार का साक्षात्कार करता है। यह जड़सत्तामय तमः अहंकार ही तो रस-तन्मात्रा में परिणत हुआ है। यहां सामान्य तो तमः प्रधान अहंकार है, और विशेष रस-तन्मात्रा है। इन का समुदाय ही अयुतसिद्ध द्रव्य है। रस की विशेषता जिस से सामान्य रस के परिणाम-भूत गुण आम के रस (स्वाद) को जाना गया है यह रस-तन्मात्रा का परिणामात्मक गुण है।

रस-तन्मात्रा का यह सूक्ष्म रूप तीसरा रूप है। योगी इस परिणामात्मक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष करता है। कारण से कार्य में परिणाम प्रतिक्षण होता ही रहता है।

योगी को इन तन्मात्राओं के सजातीय विजातीय संयोगात्मक परिणाम में उस ब्रह्म का प्रत्यक्ष करना चाहिये। इस अभेद में ही ब्रह्म का अनुभव होता है। कारण कार्य एवं उन के परिणाम काल में अनुस्यूत ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है।

समष्टि रस-तन्मात्रा मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रस-तन्मात्रा का चतुर्थ रूप)

४. रस-तन्मात्रा के अन्वयरूपों में—

रस तन्मात्रा का अपरिणत मूल-प्रकृति के साथ परम्परा से कारण कार्य रूप सम्बन्ध है, यही रस-तन्मात्रा का अन्वय है।

समष्टि रस-तन्मात्रा समष्टि तमः अहंकार से कार्य रूप में परिणत हुई। समष्टि तमः अहंकार कारण है और समष्टि-रस-तन्मात्रा कार्य है। समष्टि तमः अहंकार समष्टि महत्तमः से कार्य रूप में परिणत हुआ है। समष्टि महत्तमः कारण है और समष्टि तमः अहंकार कार्य है। समष्टि-महत्तमः अव्यक्त, अपरिणाम रूप नित्य मूल-प्रकृति से कार्यरूप में आया है। समष्टि महत्तमः कार्य है और मूल प्रकृति कारण है। मूल प्रकृति अजा है। शाश्वत् है, नित्य है। इस की सत्ता धर्म है। धर्म धर्मी का अभेद होता है। अतः यह इस का स्वरूप है। क्रिया और ज्ञान इसमें प्रभु के सम्पर्क होने के कारण प्रकट होते हैं। अपने स्वरूप और गुणों को साथ लिये लिये सब कार्यों में अनुपतित होती आती है। प्रकृति स्वयं किसी का परिणाम नहीं। इस का कोई कारण नहीं। यह कार्य रूप नहीं है। पर अपने कार्यों में—कार्य रूपों में परिणत होती जाती है। कार्य से अभिन्न रहती है। कारण कार्य का अभेद होता है।

रस-तन्मात्रा में मूल-प्रकृति अपने गुणों सहित अपने स्वरूप में अनुपतित हुई है। प्रकृति की सत्ता है तो रस-तन्मात्रा है और उस के कार्यात्मक परिणाम हैं। सृष्टि के आरम्भ से कार्योन्मुख मूल प्रकृति अपने स्वरूप और गुणों के साथ अनुपतित होती हुई रस-तन्मात्रा में पहुँची है। वहुत लम्बीं दूरान्वयी यात्रा के कारण मुख्यरूप से सत्ता रूप को लेकर पहुँच पायी है। ज्ञान और क्रिया विभक्त होते-होते गौण हो गये हैं। इस लिये रस-तन्मात्रा में प्रधानतया सत्ता रस रूप में है। ज्ञान गुण ज्ञेय बन गया है। क्रिया विलुप्त सम हो गयी है। है सही, पर अत्यन्त अज्ञात से रूप में। इस प्रकार रस-तन्मात्रा में अन्वयरूप चरितार्थ होता है।

रस तन्मात्रा के अन्वय रूप गन्ध-तन्मात्रा से भी सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापकता का अनुभव होना चाहिये। जिस से इस निष्कर्ष पर पहुँचोगे कि रस पदार्थ की परिणत होती हुई स्थिति ब्रह्म के सम्बन्ध से अछूती नहीं। इस अनुपतन के निमित्त कारण ब्रह्म का भी अभ्यास में साक्षात करना यहां अभिप्रेत है। जिससे उस की सर्व-व्यापकता और निमित्त-भूत-सन्निधानता बुद्धि में घर करले।

शंका—आप सर्वत्र पुनः पुनः ब्रह्म के दर्शन की बात ले आते हैं जब दर्शन ही करना है तो एक ही पदार्थ में हो सकता है। सब में पुनः पुनः खोजने, परेशान होने और समय खोने की क्या जरूरत है।

(समाधान) सब कार्यात्मक और कारणात्मक पदार्थों में उस ब्रह्म की चेतन सत्ता वर्त्तमान है। जब पदार्थ का विज्ञान करना है तो साथ में ब्रह्म का विज्ञान भी होना ही चाहिये और प्रत्येक पदार्थ में होना चाहिये। जिससे उसकी विभुता और सर्वव्यापकता बुद्धिस्थ हो जाये। एक ही पदार्थ में देखकर कहीं उसे एक देशी ही न समझ बैठो। यदि स्थूलों में ही कुछ समझ कर रुक गये तो सूक्ष्मों में कैसे होगा ? अन्त में उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्व सूक्ष्म ब्रह्म को कैसे जानोगे। दीर्घ-काल नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़-भूमिः। दीर्घ काल तक लगातार श्रद्धा के साथ पथ पर चलोगे तभी तो धारणा दृढ़ होगी और समाधि द्वारा साक्षात्कार भी हो जायेगा।

(शंका) पदार्थ तो भिन्न २ हैं, ब्रह्म एक ही है। अतः परार्थों के ज्ञान की तो भिन्न २ रूपों से आवश्यकता हो सकती है। परन्तु ब्रह्म तो एक ही है, एक बार ज्ञान हो गया। बस ! बार-बार पिष्ठ पेषण की क्या जरूरत ?

(समाधान) अभी तो ऊपर कहा। ब्रह्म सब जगह है। सर्वव्यापक है। अतः भिन्न पदार्थों के साथ-साथ उन का स्वरूप समझते हुए ब्रह्म का भी ज्ञान होगा। इसी प्रकार तो उसकी व्यापकता और अनन्तता हृदयंगम होगी । एक बार भोजन कर के भी पुनः पुनः खाने की इच्छा होती है एक बार किसी मित्र को मिल कर भी पुनः पुनः मिलने की इच्छा होती है। इसी प्रकार ब्रह्म-विज्ञान की भी या उसके दर्शन की भी पुनः पुनः इच्छा होती है।

प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक पदार्थ में वही दृष्टि गोचर हो, सर्वत्र साक्षी रूप से देखने में आवे, तभी तो ईश्वर प्रणिधान साकार होगा । तभी तन्मयता होगी। तभी परवैराग्य उपलव्ध होगा। प्रकृति का मोहक बन्धन तब ही छूटेगा। प्रकृति में लिप्त रहो और ब्रह्म दर्शन हो जाये यह नहीं हो सकता। अतः पुनः-पुनः उसका अभ्यास चिन्तन मनन अनिवार्य है।

समष्टि रस-तन्मात्रा मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

रस-तन्मात्रा का पञ्चम रूप

५. रसतन्मात्रा के अर्थवत्त्व रूप में—सूक्ष्म जगत् की पांचों तन्मात्रायें उपादान कारण हैं। समष्टि रस-तन्मात्रा भी सूक्ष्म जगत् एवं सूक्ष्मशरीर के उपादान कारण में सहकारी है। सब सूक्ष्म-पदार्थों के निर्माण में इसका सहयोग है। सूक्ष्म-शरीरों के उपभोग में आती है। जितने भी स्थूल जल के रसों के भेद हैं उनका यही कारण है। यही परिणत होकर विभिन्न रसों में पहुंची है। रस-तन्मात्रा दिव्य सूक्ष्म रसना इन्द्रिय का विषय है। जितने भी प्रकार के स्वाद हैं वे इसी तन्मात्रा के परिणामात्मक गुण हैं।

स्थूल और सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों में रसना की प्रधानता है। इस रसा-स्वाद पर विजय पाना अति कठिन है। सर्व प्राणी इस लोक और स्वर्लोक में इसके दास बने रहते हैं। रसना की तृप्ति के लिये ही तो नाना प्रकार स्थूल और सूक्ष्म व्यञ्जन तैयार किये जाते हैं। यह तन्मात्रा कारण अथवा कार्य रूप में किसी को तृप्त नहीं कर पाती है। यदि परितृप्ति हो जाती है तो मुक्ति की साधना में अत्यन्त सहायक होती है।

यह अनेक प्रकार से गन्ध-तन्मात्रा के साथ मिलकर सूक्ष्म जगत् के निर्माण में सहायक होती है। जिस प्रकार स्थूल जल के अनेक रस सब प्राणियों के लिये सुख का हेतु होते हैं। इसी प्रकार रस-तन्मात्रा भी अनेक-अनेक स्वादों या रसों के रूप में कार्य भाव को प्राप्त हुई सूक्ष्म शरीरों और स्वर्ग के देवताओं के लिये भोगजन्य सुख का हेतु होती हैं। यह रस-तन्मात्रा सर्वप्रथम सूक्ष्माति सूक्ष्म एवं महान् आकाश में छायी हुई देखी जाती है। यह कुछ इसी प्रकार लगती है जिस प्रकार कभी २ लोक में धुन्ध छा जाया करती है। यह धुन्ध भी जल भूत का स्थूल रूप ही है। परन्तु रस-तन्मात्रा तो सूक्ष्म रूप ही होती है। छायी हुई रस-तन्मात्रा में भी आर्द्रता होती है पर सूक्ष्म रूप में।

यह रस-तन्मात्रा आकाश मण्डल में सूक्ष्म दिव्यपदार्थों के निर्माण में सहायक होती है। दिव्य रसों की अनुभूति इसी का तो परिणाम है। योगी इस पर वशित्व पाकर इसके द्वारा सूक्ष्म पदार्थों के निर्माण में समर्थ होता है। कभी २ ध्यान काल में योगी को इस रस-तन्मात्रा का अनेक पदार्थों के स्वाद के रूप में अनुभव होने लगता है। जिस रसास्वाद की इच्छा करता है वही सामने आ खड़ा होता है और पदार्थ के स्वाद को अनुभूति भी होने लगती है। इन तन्मात्राओं पर अधिकार हो जाने को लोग सिद्धियां कह देते हैं। वास्तव में यदि योगी को यह प्राप्त होती हैं तब तो सिद्धियां ही हैं। अन्यथा जैसे इस लोक में सब जीव स्थूल भूतों से बने पदार्थों का भोग करते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीरी जीव इन्हीं सूक्ष्म दिव्य भोगो का भोग करते हैं। हां, योगी में यह विशेषता होती है कि वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों को ही अपनी इच्छानुसार भोगने में समर्थ होता है।

अनेक बार ध्यान काल में हमारे भी और अन्य अभ्यासियों के भी इन सूक्ष्म शरीरियों की आकृति में रङ्ग-रूप का और सुन्दरता का अन्तर भी देखने में आया है। जैसा कि इस पृथिवी पर स्थूल शरीरों में देखने में आता है। ये सूक्ष्म शरीराभिमानी आकाश मण्डल में सर्वत्र विचरते रहते हैं। इन्हें किसी भी प्रकार की रुकावट कहीं जाने आने में नहीं होती। जिस प्रकार आंख में बड़ी से बड़ी आकृति सूक्ष्म सा रूप बनकर समा जाती है। यह सूक्ष्म शरीर होते बहुत पतले सूक्ष्म हैं पर दिव्य नेत्र के प्रकाश में बड़े दिखाई देते हैं।

(शंका) क्या सूक्ष्म जगत् में भी इस लोक के समान भोग विलास होते हैं, और क्या वहाँ बाल बच्चे भी होते हैं ?

(समाधान) इन कार्यों के लिये यह स्थूल लोक ही है। यूं तो अनेक सम्प्रदायों में यह मान्यता है कि वहां स्वर्ग में हूरें और अप्सरायें भोगने के लिये प्राप्त होती हैं परन्तु हमारे अनुभव के आधार पर कह सकते हैं यह अनजाने की बातें हैं वहां केवल ज्ञानेन्द्रियों के ही भोग सूक्ष्म-तन्मात्रायें ही भोगने को मिलती हैं। यह सुखी योनि है और वह भी केवल भोग योनि कर्म योनि नहीं संकल्प मात्र से ही वहां तृप्ति है। सूक्ष्म शरीर संकल्प से ही वहां चलता है, पैरों की थकाने की वहाँ प्रक्रिया नहीं। यदि थकावट ही आगयी तो वह स्वर्ग क्या रहा। सदा सुख में रहना ही तो स्वर्ग है।

जैसे इस लोक में मनुष्य के शरीर से पुत्र-पुत्रियों के शरीर का निर्माण होता है। स्वर्ग लोक या सूक्ष्म जगत् में ऐसा कुछ नहीं है। वहां सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म शरीर का

निर्माण नहीं होता है । स्वर्ग लोक में केवल भोग ही प्रधान है वह भी सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं से निर्मित दिव्य भागों का । कर्म और ज्ञान का वहाँ कोई साधन नहीं । कर्म ज्ञान उपासना, पाप-पुण्य, धर्म अधर्म, वैराग्य और मोक्ष प्राप्ति के साधनों के अनुष्ठान के लिये यही स्थूल मानव लोक ही है। सूक्ष्म जगत् में यहां की तरह मरण भी नहीं होता। हां, प्रलय काल में सब की तरह वहां भी मरण हो जाता है ।

इस रस-तन्मात्रा के विज्ञान के साथ ब्रह्म का विज्ञान भी साथ २ करना चाहिये क्योंकि यह ब्राह्मी सृष्टि है । इसका निर्माण ब्रह्म के द्वारा ही होता है। कार्य तो यह सब प्रकृति के ही हैं। ब्रह्म तो केवल चेतनत्त्वेन गति का निमित्त बना है । अतः जल के कण-कण में योग की सूक्ष्म दिव्य दृष्टि और समाधि द्वारा उस चेतना शक्ति का अनुसन्धान करना चाहिये ।

इस समस्त विश्व में सूक्ष्म जल भूत व्याप्त है । और पृथिवी तन्मात्रा में ओत प्रोत होकर इसका संघात बनाने में सहयोग दिये हुए है । अतः इस से भी सूक्ष्म वह चेतन शक्ति इस के अन्दर ओत प्रोत है । यही इस रसतन्मात्रा की अर्थवत्ता है ।

समष्टि सूक्ष्म जगत् की यह रस-तन्मात्रा पोषक बनी हुई है । सूक्ष्म शरीर के जीवन का आधार और आहार यह रस-तन्मात्रा है इसके बिना इनका भी जीवन नहीं रह सकता है । जैसे इस लोक में जल-भूमि आदि जीवन के आधार हैं; इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् में पृथिवी तन्मात्रा और जल-तन्मात्रा सूक्ष्म शरीरों के जीवन के ठहरने का आधार हैं, पुराणों आदि में वरुण लोक में गमन माना है, वास्तव में यह सूक्ष्म रसतन्मात्रा का जो मण्डल है यही है—यही वह वरुण लोक है। जैसे इस भूमि पर आकाश मण्डल में मेघ छाये हुए होते हैं इसी प्रकार सूक्ष्म-पृथिवी तन्मात्रा के ऊपर सूक्ष्म जल-तन्मात्रा का मण्डल होता है । जल तन्मात्रा सूक्ष्म पृथिवी तम्मात्रा में भी ओत प्रोत होकर रहती है । यही इसका महान् उपकार है और यही इसकी अर्थवत्ता है ।

इति समष्टि रस-तन्मात्रा मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयः खण्डः

इति सप्तविंषमावरणम्

तृतीय खण्ड

२६ वां आवरण

समष्टि रूप-तन्मात्रा मण्डल

पांचों रूपों में ब्रह्म-दर्शन

समष्टि रूप-तन्मात्रा से व्यष्टि रूप-तन्मात्रा का निर्माण होता है। समष्टि रूप-तन्मात्रा पाँच-तन्मात्राओं में तीसरी है। इस समुदायरूप-तन्मात्रा से व्यक्ति रूप तन्मात्रायें परिणत होती हैं।

योगी या सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव सूक्ष्म-नेत्रेन्द्रिय से जिस रूप-तन्मात्रा का उपभोग करता है, व्यवहार में लाता है, वह व्यष्टि रूप-तन्मात्रा है। समष्टि तन्मात्रा सदा आकाश में रहती है। व्यष्टि-तन्मात्रा सदा उससे एक एक करके व्यक्ति रूप में परिणत होती रहती है। जब इस व्यष्टि रूपतन्मात्रा का उपयोग कर चुकता है तो यह लौटकर फिर समष्टिरूप तन्मात्रा के अक्षय कोष में सुरक्षित हो जाती है। उसी में सम्मिलित हो जाती है। प्रलय काल के आने तक यही क्रम चलता रहता है।

ब्रह्म की व्यापकता से चेतन सी बनी रूप-तन्मात्रा इस कारण-कार्य रूप परिणाम चक्र को चलाती रहती है।

समष्टि रूप-तन्मात्रा मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रूप-तन्मात्रा का प्रथम रूप)

१. रूप-तन्मात्रा के स्थूल रूप में—

अग्नि भूत का कारण रूप-तन्मात्रा है। रूप-तन्मात्रा ही परिणाम-भाव को प्राप्त होकर अग्नि बन जाती है। रूप तन्मात्रा कारण है, अग्नि कार्य। रूप-तन्मात्रा अग्नि महाभूत की अनुद्भूत सूक्ष्म अवस्था है। अग्नि महाभूत उद्भूत अवस्था है। स्थूल अग्नि का स्थूल नेत्र इन्द्रिय से ज्ञान होता है पर रूप-तन्मात्रा साधारणतया अप्रकट सूक्ष्म अवस्था है। । सूक्ष्म नेत्र इन्द्रिय से जिसका का ज्ञान हो वह रूप-तन्मात्रा है। स्थूल आँखों से रूप का बोध होता है। सूक्ष्म आंख से रूप तन्मात्रा का। यह सूक्ष्म आंख ब्रह्मरन्ध्र में वर्त्तमान सूक्ष्म शरीर के अंश बुद्धि मण्डल में है, स्थूल नेत्र स्थूल शरीर में आंख की कनीनिका में है। स्थूल रूप को स्थूल आंख ग्रहण करती है। यह स्थूल रूप सूक्ष्म नेत्रेन्द्रिय तक पहुंचते पहुंचते सूक्ष्म रूपतन्मात्रा में परिणत हो जाता है। स्थूल रूप स्थूल शरीर में रह गया। सूक्ष्म नेत्र से जिसका ग्रहण होता है वही रूप तन्मात्रा है अथवा आप यों समझें स्थूल रूप के सूक्ष्म अंश को सूक्ष्म नेत्र ग्रहण करता है।

स्थूल रूप को तो प्राणिमात्र देखता है, और उसके अनुसार व्यवहार करता है। सूक्ष्म रूप का भोग योगी, सूक्ष्म शरीराभिमानी आकाशचारी आत्मायें अथवा स्वर्ग

में निवास करने वाले सुखी पुण्य आमात्मायें किया करती हैं। मरण के पश्चात् जीवात्मा स्थूल शरीर को यहां ही छोड़ देता है, और सुक्ष्म शरीर के साथ आकाश में गमन करता है। कर्मानुसार अगला जन्म मिलने तक आकाश में विचरता है। ये ही सुक्ष्म शरीराभिमानी आकाशचारी आत्मायें हैं। इनका भी सुक्ष्म तन्मात्रायें भोग हुआ करती हैं।

रूपतन्मात्रा से पूर्व जितने भी सूक्ष्म पदार्थ सूक्ष्म शरीर के भोग के लिये बनते है उनमें रूप-तन्मात्रा का भी सहयोग होता है। उनका यह सहकारी उपादान कारण बनती है।

संसार में जितने भी पदार्थ स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियों से देखने में आते हैं, सब रूप-तन्मात्रा के ही कारण कार्य रूप हैं। रूप-तन्मात्रा सूक्ष्म दिव्य नेत्र से देखी जाती है दिव्य सूक्ष्म शरीरों में जो तेज होता है या चमक जैसी दीप्ति होती है वह सब इस रूप-तन्मात्रा की है। स्थूल अग्नि में जो धर्म बताये हैं वे इसी रूप-तन्मात्रा के परिणामात्मक कार्यरूप में प्रकट हुए हैं। यह एक ही अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। सूक्ष्मता के कारण यह केवल सूक्ष्म चक्षु का ही विषय है। यह रूप-तन्मात्रा भी परिणाम-भावों को प्राप्त होकर फिर अनेक प्रकार के सूक्ष्म रूप धारण कर लेती है। सूक्ष्मनेत्रों से जो भी कारण कार्य रूप पदार्थ देखने में आते हैं वे सब रूप-तन्मात्रा के परिणामात्मक गुण हैं।

मन बुद्धि यद्यपि रूप-तन्मात्रा से पूर्व बने हैं तो भी वे सूक्ष्म नेत्र इन्द्रिय के दर्शन में आते हैं, क्योंकि सत्त्व और रजः प्रधान अहंकार से जो मन की उत्पत्ति हुई है उसमें भी रूप गुण पहिले से ही सूक्ष्म रूप में वर्त्तमान था। इसी प्रकार बुद्धि के समष्टि उपादान में भी सूक्ष्म रूप से रूप गुण वर्त्तमान था। इस प्रकार के अनुगत धर्म से ही तन्मात्राओं की चौथी अन्वय रूप अवस्था बनती है। जो भी आकार वाले पदार्थ हैं चाहे वे कितने भी सूक्ष्म क्यों न हो। जो किसी देश विशेष में रह सकते हैं उनमें रूप धर्म अवश्य मानना पड़ेगा। तब ही दर्शन का विषय या दिव्य नेत्र का विषय बनते हैं। इस रूप गुण में यही विशेषता है, कि यह सब के दर्शन का विषय बन जाता है। इस में अपने कारण और कार्य को देखने की योग्यता है। दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं एक तो नेत्रेन्द्रिय से स्थूल या सूक्ष्म रूप का देखना। दूसरा चित्त बुद्धि के द्वारा अनुभव में आना। यह भी दर्शन है। वास्तव में ज्ञान के प्रति नेत्र और चित्त बुद्धि तीनों ही कारण हैं।

रूप तन्मात्रा गुणों के भेद से अनेक प्रकार की है। एक रूप के अन्तर्गत सब रूपों को सम्मिलित कर एक नाम रूप-तन्मात्रा है। जैसे लाल, नारंजी, पीला, हरा, नीला बैंजनी, काला यह सब रंगरूप एक ही रूप के परिणामात्मक भेद हैं। इन सब का सम्मिश्रण ही श्वेत रंग है। इसी कारण जब सूर्य की किरणें विशेष कोण बनाकर जल कणों पर.पड़ती हैं तो सात रंगों में विभक्त हो जाती हैं। ये सात रंग इन्द्र धनुष, या फुवारे की फुआरों या किसी प्रपात के आकाश में उड़ते जल कणों में देखे जा सकते हैं।

रस आदि की भाँति रूप-तन्मात्रा एक ही है। जिसे हम कह देते हैं कुछ दिखता है। जो कुछ दिखता है वह रूप-तन्मात्रा है। पीछे उस के परिणामात्मक गुणों के अन्य-अन्य नाम रख लिये जाते हैं। आकाश तो एक ही है स्थान भेद से उपाधि के

कारण नाना हो जाता है । ऐसे ही रूप भी 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं-रूप प्रति रूपो बभूव' उपाधि या आश्रय भूत संस्थान भेद से नाना हो जाता है ।

यह रूप-तन्मात्रा सूक्ष्म शरीर के निर्माण में भी कारण होती है । और सूक्ष्म शरीर के भोग में भी आती है । सूक्ष्मपदार्थों का निर्माण भी करती है। यह रूप-तन्मात्रा अपने से पीछे के जितने भी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं उन सब में व्याप्त होकर ठहरी हुई है । जो कुछ भी स्थूल सूक्ष्म नेत्रों से देखने में आता है,उन सब में यह ओत प्रोत होकर दर्शन का विषय बनी हुई है। एक प्रकार से यह विश्व-व्यापिनी है। सर्वत्र सूक्ष्म रूप से देखने में आती है । संसार में जितने भी स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ प्रकाश मान या तेज युक्त हैं उन सब में इसका ही तेज है । इसका ही प्रकाश कारण रूप से वहां विद्यमान है । दिव्य शरीरों के नेत्रों में जो दविष्ट देखने की शक्ति है, तथा सूक्ष्म शरीरों में जो दिव्यता है, या आकाश गमन की अव्याहत सामर्थ्य है वह सब इस रूप-तन्मात्रा की ही देन है । जो स्थूल भूत अग्नि सूर्य या विद्युत में अनेक गुण या धर्म वर्त्तमान है वे सूक्ष्मरूप से इस तन्मात्रा में भी वर्त्तमान हैं जिन से अहंकारिक समष्टि सृष्टि का सब कार्य सम्पन्न होता है । यही इसका स्थूल रूप है ।

(शंका) योग दर्शन में कहा है -"निर्माण चित्तानि अस्मिता मात्रात् ।" अर्थात् योगी को जब स्थूल भूतों पर अधिकार हो जाता है, और अस्मिता पर भी जब वशित्व प्राप्त कर लेता है तब वह चित्तों का अथवा शरीरों का निर्माण कर लेता है । क्या इस प्रकार स्वर्गगत आत्मायें भी निर्माण कर लेती हैं ? स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संकल्प मात्र से निर्माण करना माना है । स्वर्ग में संकल्प की प्रधानता मानी है । सङ्कल्प से ही यथाभिलषित प्राप्त हो जाता है ?

(समाधान) स्वर्ग में केवल भोग प्रधान ही है । वहां इस प्रकार विशेष कर्म और ज्ञान का प्रसार नहीं होता है । केवल सुख-मात्र ही भोगना होता है । वहां स्वभाव से किसी प्रयत्न के बिना सब प्राप्त हो जाता है । केवल सूक्ष्म से संकल्प से यहां की तरह विशेष रचना करने का वहां अधिकार नहीं होता है । न वहां इस की आवश्यकता ही होती है ।

योगी को भूतों पर सब प्रकार से वशित्व होता है और इन से अधिकार पूर्वक कार्य लेने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है । जैसे इस लोक में वैज्ञानिकों को स्थूल भूतों का विज्ञान प्राप्त होने पर उन से अनेक प्रकार के पदार्थ बनाने की योग्यता आ जाती है । इसी प्रकार योगी को भी स्थूल और सूक्ष्म भूतों का विज्ञान होकर अधिकार पूर्वक पदार्थ पैदा करने की योग्यता आ जाती है। यह सब इस मनुष्य लोक की बातें हैं। स्वर्ग या मुक्ति से इन का कोई सम्बन्ध नहीं ।

(शंका) इस लोक में जिस प्रकार सब प्राणियों के ठहरने के लिए भूमि या चलने फिरने के लिए ठोस स्थान हैं, क्या सूक्ष्मतन्मात्रा के स्वर्ग लोक में सूक्ष्म शरीरों के ठहरने के लिये भी स्थान है ?

(समाधान) जैसे प्राणियों के उत्पन्न होने से पूर्व अग्नि जल भूमि आदि पदार्थ उत्पन्न हो गये थे, इसी प्रकार सूक्ष्म तन्मात्रायें भी सूक्ष्म शरीरों के लिए सर्व भोक्तव्य पदार्थ उत्पन्न कर देती हैं । जैसे पञ्च स्थूल भूतों के संघात से एक पृथिवी रूप द्रव्य

बनता है या जल, अग्नि, वायु, आकाश से जल भूत बनता है। इसी प्रकार मुख्यतः तामस अहंकार से और गौणरूप से सात्त्विक तथा राजस अहंकार भी मिलकर एक सूक्ष्म पृथिवी तन्मात्रा बनती हैं रस-तन्मात्रा और रूप-तन्मात्रा इससे सूक्ष्म हैं। अतः यह सूक्ष्म पृथिवी भूत ही सूक्ष्म जल अग्नि वायु और सूक्ष्म शरीरों का आधार बनती हैं। इस की आकाश-तन्मात्रा के अन्दर सतह सी बन कर ठहरी हुई है। सूक्ष्म आकाश तन्मात्रा के अन्दर इसकी जो सतह सी बनकर ठहरी हुई हैं, जो सूक्ष्म सतह गन्ध-तन्मात्रा के रूप में वर्त्तमान है यही सूक्ष्म शरीरों के ठहरने का आधार होती है। पृथिवी-तन्मात्रा के आश्रय ही सब सूक्ष्म-शरीराभिमानी आत्मायें ठहरती हैं। उनको वहां मकानों आदि को आवश्यकता नहीं है। ये तो इस लोक में भी लड़ाई झगड़े और बन्धन का हेतु बने हुए हैं। अतः सूक्ष्मशरीरी पृथिवी तन्मात्रा के मण्डल में स्वतन्त्र रूप से अबाधगति से विचरते हैं और संकल्प मात्र से सूक्ष्म पदार्थों का भोग करते हैं।

तन्मात्रा का लोक कहाँ है ?

शंका—यह तन्मात्रा का लोक यहीं कहीं पास में ही है या कहीं बहुत दूर देश में वर्तमान है ?

समाधान—भूत जयी योगियों और स्वर्गवासियों के लिये तो अत्यन्त ही निकट है। परन्तु अज्ञानियों के लिये बहुत दूर है। यदि हम चित्र बना कर दिखायें तब तो समष्टि-पञ्च-स्थूल-भूतों के मण्डलों को पार कर के बहुत दूर जाने वाली बात बन जाती है। क्रम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में बहुत देर लगती है, दूरी बहुत जान पड़ती है। वरना समस्त विश्व में समस्त स्थूल भूतों को समष्टि पृथिवी तन्मात्रा व्याप्त कर के ठहरी हुई है। सारे ब्रह्माण्ड में ही तन्मात्रा का लोक वर्त्तमान है। जब योगी ध्यान की दिव्य-दृष्टि से तन्मात्रा लोक को अपने विज्ञान का या भोग का विषय बनाता है। तब स्थूल जगत् को पार कर के सूक्ष्म पञ्च-तन्मात्रा के लोक में पहुँच जाता है। उसकी दिव्य-दृष्टि दिव्य लोक को अपना विषय बना लेती है। तब स्थूल जगत् का अभाव हो जाता है। सूक्ष्म लोक बहुत ही समीप जान पड़ता है। आपने कभी ध्यान काल में दिव्य सूक्ष्म शरीराभिमानियों को सामने खड़ा या आकाश मण्डल में विचरते देखा होगा। इस विज्ञान के आधार पर तो स्वर्ग लोक या तन्मात्रा-लोक बहुत समीप है। जब हमने बाह्य विज्ञान की दृष्टि से खोज करनी है प्रारम्भ करते हैं तो बहुत दूर प्रतीत होता है। इस लोक में क्रम से ही जा सकते हैं। अनेक तप, जप, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, धारणा, ध्यान, समाधि साधनों द्वारा वहाँ गमन होता है।

इस लोक में जैसे भूमि, जल, अग्नि, वायु का संघात बना हुआ है, ऐसे ही तन्मात्राओं के लोक में भी तन्मात्राओं का मण्डल के आकार में संग्रह, संघात, या तहें (स्तर) सी बनी हुई है, इस प्रकार वे सूक्ष्म शरीरों के भोग का हेतु बनी हुई हैं। परमाणु इन सूक्ष्म-भूतों के मण्डलों से गमनागमन का सम्बन्ध स्थूल लोकों से बनाये रखते हैं। कभी आपने बंद खिड़की को झिरियों में से सूर्य का टेढ़ा प्रकाश आते हुए देखा होगा। वह सूर्य का प्रकाश कमरे में तिरछी धाराओं के रूप में पड़ता है। उसमें असंख्य सूक्ष्म और स्थूल कणों का जाना-आना उड़ना सा दीख पड़ता है। जिस प्रकार यह सूर्य-आतप

की धारायें सूक्ष्म कणों से व्याप्त हैं ऐसे ही सारा विश्व इन से व्याप्त है। वास्तव में यह कण परमाणु नहीं हैं। यह परमाणुओं का संघात हैं। जो त्रसेंणु, चतस्रेणु आदि के रूप में पृथिवी, जल आदि भूतों के पोषक बने रहते हैं। इस तरह इनका आवागमन स्थूल तथा सूक्ष्म सृष्टि के सम्बन्ध को बनाये रखता है।

वर्त्तमान युग में जैसे भौतिक-विज्ञान-वादी पंच भूतों पर अनुसन्धान कर रहे हैं इसी प्रकार अध्यात्मवादी योगियों को भी सूक्ष्म सृष्टि के विषय में विशेष चमत्कृति-पूर्ण अनुसन्धान करना चाहिये। केवल वैराग्य की भावना को लेकर सूक्ष्म जगत् की उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिये। इसका विशेष अनुसन्धान पूर्वक विज्ञान प्राप्त करना योगियों का ही काम है, क्योंकि इनकी ही बुद्धि इस अतीन्द्रिय विज्ञान में विशेष प्रगति कर सकती है।

बहुत से आचार्यों ने स्थूल-भूतों के विज्ञान और सूक्ष्म भूतों के विज्ञान को रला-मिलाकर खिचड़ी सा बना दिया है। जिसमें सर्वसाधारण की गति नहीं होती है। इस प्रकार की अस्पष्टता से साधक अध्यात्म विज्ञान के मार्ग से भटक जाता है। अतः आध्यात्मिक सूक्ष्म जगत् के विज्ञान को पृथक् रूप में कर देना चाहिये। जिस से सर्वसाधारण भ्रान्ति में न पड़ें। चाहे योगी को मोक्ष की प्रबल इच्छा ही हो, तो भी इन स्थूल और सूक्ष्म भूतों का विज्ञान तो प्राप्त करना ही होगा। तब ही तो इन से सच्चा वैराग्य हो सकेगा। यदि विरक्ति न हो तो भी योगी इनका अच्छी प्रकार बुद्धि पूर्वक भोग कर सकता है, और चाहे तो इन से बुद्धि-पूर्वक विरक्त होकर मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों के ये हेतु हैं।

योगी का कर्तव्य

योगी को चाहिये कि अपनी ध्यान की दिव्य दृष्टि को आकाश-मण्डल में फैंक कर सूक्ष्म जगत् के साथ सम्बन्ध बनाये। जिस से वहाँ के दर्शन और विज्ञान का विशेष अनुभव प्राप्त हो सके। वहाँ जाने और रहने की इच्छा हो तो अधिकारपूर्वक वहाँ जावे और वहाँ के दिव्य भोगों को भली प्रकार भोगे। यदि वहाँ जाने की इच्छा न हो तो उन भोगों से इसी लोक में रह कर भी विरक्त हो सकता है। अतः वहाँ का विशेष विज्ञान यहाँ रह कर प्राप्त करना चाहिये। इस बाह्य स्थूल देह के अध्यास से ऊपर उठ कर योगी को अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा उस दिव्य लोक के साथ सम्पर्क बनाना चाहिये। इस सूक्ष्म शरीर में महान् बल हैं। इसकी दिव्य दृष्टि असंख्यों मील तक पहुँच सकती है। इन स्थूल नेत्रों से ही करोड़ों अरबों मील दूर के लोक यहाँ बैठे ही दृष्टि का विषय बनते हैं। दूरवीक्षण लगाने से तो इस से भी अधिक दूरी के नक्षत्र दीख जाते हैं। सूक्ष्म नेत्र की दिव्य दृष्टि को भी जितनी दूर फैंकना चाहोगे जा सकेगी। इस प्रकार अनन्त दूरी तक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड को अपने दर्शन का विषय बनाओ। कहीं भी जाने की अथवा यन्त्रों के संग्रह की आवश्यकता नहीं है। अपने आसन पर ही बैठ कर योगी अनन्त दूरी तक अपने दिव्य नेत्रों से सब कुछ देख सकता है। सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के विज्ञान को भी अच्छी तरह प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्म दर्शन

यही इस अग्नितन्मात्रा या रूप-तन्मात्रा का विषय है। योगी को इसका विशेष विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वास्तव में इस दिव्य रूप में ही ब्रह्म दर्शन यथार्थरूप में हो सकता है, क्योंकि भगवान् का रूप भी दिव्य ही है; यदि उसका कोई रूप माना जाये तो। वह इस रूप-तन्मात्रा में ही अच्छी तरह से विज्ञान का विषय बन सकता है।

संसार के सब वैज्ञानिकों और योगियों को इस अग्नितत्त्व के सूक्ष्म रूप में ही ब्रह्म का अध्यारोप कर के उसको विज्ञान का विषय बनाना चाहिये। जैसे इस लोक में सूर्य के तेज में भगवान् का अध्यारोप कर के उपासना और ज्ञान का विषय बनाते हैं। इसी प्रकार इस सूक्ष्म जगत् की रूप-तन्मात्रा में अर्थात् समिष्ट सूक्ष्म अग्नि भूत में भगवान् का अध्यारोप कर के इसकी उपासना करनी चाहिये, और विज्ञान भी प्राप्त करना चाहिये। वह ज्योतियों की ज्योति है। अतः सूक्ष्म ज्योति में ब्रह्म की उस सूक्ष्मता का यथार्थ रूप में साक्षात्कार हो सकता है।

उपनिषद् इस विषय में इस तेज का इस प्रकार उल्लेख करती है, यथा :—

"यस्तेजसि तिष्ठन् स्तेजसोऽन्तरो,
यं तेजो ने वेद, यस्य तेजः शरीरम्।
यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मा,
अन्तर्याम्यमृतः॥

बृहदारण्यक० अ० ३। ब्रा० ७। मं० १४।

—जो ब्रह्म तेज के अन्दर ठहरा हुआ है। जिसको यह सूक्ष्म-तन्मात्रा का तेज नहीं जानता है। जिसका यह तेज ही शरीर है। जो इस तेज रूपी शरीर का अन्दर से ही संचालन करता है। यही आत्मा-ब्रह्म तेरा अन्तर्यामी अमृतरूप है। इसी की उपासना और इसी का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये।"

यह इस रूप-तन्मात्रा के प्रथम स्थूल रूप अवस्था का निरूपण किया गया है।

समष्टि रूप-तमात्रा मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रूप-तन्मात्रा का द्वितीय रूप)

२. **रूप-तन्मात्रा के स्वरूप में**—रूप-तन्मात्रा का स्वरूप रूप है। रुप-तन्मात्रा का धर्म रूप है। यह रूप सदा रूप-तन्मात्रा में रहता है। कभी भी उससे अलग नहीं हो सकता। वास्तव में रूप का और रूप-तन्मात्रा का अभेद है। तादात्म्य है। गुण-गुणी या धर्म धर्मी का अभेद रूप सम्बन्ध है।

जहाँ रूप-तन्मात्रा होगी वहाँ रूप भी होगा। यह रूप रूप-तन्मात्रा में भी है और रूप तन्मात्रा के धर्म रूप-परिणामों में भी है।

संसार में जितने भी रूप हैं, सामान्य रूप के परिणात्मक गुण हैं। हमारे सांसारिक जीवन में परिणत रूपों का ही व्यवहार होता है। उन्हें जानने में हम देर नहीं लगाते। काले, पीले, लाल को हम तत्काल पहिचान लेते हैं। पर काले के ही कितने परिणाम हैं। रात काली होती है, सिर के बाल काले होते हैं। सुरमई पैन्सिल काली होती है, काली स्याही, कोयला, आबनूस, रीछ, सलेट, काला कम्बल, तिल, हबशी, अफ्रीकी सब काले हैं, पर सब की कालिमा में भेद है। उसी के कारण तो अलग-अलग नाम रखे हैं, लेते ही जान जाते हैं। पीले के कितने भेद हैं ? हल्दी, सरसों, सन्तरा, अमरूद, बेर, केला, आम, पीला कन्द, कनेर, पकी नाशपाती, कमरख, खरबूजा, अलूचा, पके पत्ते यह सब पीले ही हैं। सबका पीलापन भिन्न है जिस भिन्नता से उसे हम पहचानते हैं। इसी प्रकार सब रंगों में विभिन्न प्रकार के नानारूप हैं। हैं यह सब रूप-तन्मात्रा के परिणाम भेद। रूप-तन्मात्रा का परिणाम अग्नि या प्रकाश, उस प्रकाश या अग्नि के ही ये विभिन्न रूप परिणाम हैं। सब वृक्षों का रूप हरा, पर सब के हरेपन में भेद है। इन सब में जो सामान्य रूप है, वही रूप-तन्मात्रा है।

हिमाछन्न पर्वतों का एक रूप है, जो देखते ही मोहित कर लेता है। पर्वत शृंग मेखला का भी एक मनोहरी रूप है जो आकृष्ट करता है। विशाल 'अनन्त जल राशि समुद्र का भी एक मोहक रूप है, जो बरबस आँखों को आकृष्ट कर लेता है। वर्षा कालीन मेघों का भी एक आकर्षक रूप है जो मोर को केकारव करने एवं नाचने के लिए विवश कर देता है। भगवान् कृष्ण का भी तो हृदयहारी रूप ही था, जो जन-जन का आकर्षण रहा है, और रहेगा। पूर्णिमा के चान्द का कैसा हृदयहारी रूप है, जो सृष्टि के आरम्भ से आज तक कवियों की लेखनी का विषय बना रहा। पर उसका सुन्दर रूप लेखनी बद्ध न हो सका। यह सब रूप ही तो है। कोई नाम नहीं। पदार्थ को उपाधि बना कर भले ही समझने समझाने का साधन बना लो, पर रूप तो रूप ही है। जिससे स्थूल आँखें आकृष्ट हो, स्थूल रूप का ग्रहण करती हैं। सूक्ष्म नेत्र के पास भेजने का साधन बन स्थूल रूप को सूक्ष्म में परिणत कर देती है। सूक्ष्म रूप ही सूक्ष्म नेत्रों का विषय है। उपाधि भेद से रहित रूप ही रूप-तन्मात्रा है।

यह सामान्य रूप रूप-तन्मात्रा है। शेष सब देखे विना देखे रूप इसी का परिणाम हैं। जो रूप-तन्मात्रा का धर्म है, यह रूप धर्म रूप-तन्मात्रा में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। रूप कभी भी रूप-तन्मात्रा से अलग नहीं मिलता। यही रूप-तन्मात्रा की स्वरूपावस्था है रूप का रूप तन्मात्रा के साथ अभेद है। रूप धर्म से रूप तन्मात्रा भिन्न कोई वस्तु नहीं है। रूप का ही नाम रूप-तन्मात्रा है। रूप-तन्मात्रा ही रूप, सुरूप, कुरूप अरूप हैं। यह अलग नहीं हो सकते, धर्म धर्मी एक ही हैं।

सुरूप, कुरूप, अरूप रूप के भेद कहे जा सकते हैं, पर वास्तव हैं रूप ही, भेद कुछ नहीं, केवल मानव के किए गये भेद हैं। हर एक माँ को अपना कुरूप से कुरूप पुत्र भी प्यारा लगता है। दूसरे की नजर से उसे बचाती है। सब ही पुत्र सुरूप हैं तो कुरूप कौन रहा। परत्व या स्वार्थ की भावना पदार्थों में सुरूप कुरूप का भेद कर देती है। गरम देशवासियों के लिए पसीना और उस का मैल कुरूपता है, पर तिब्बतियों के लिये वह सुगन्ध है। हिन्दु युवक के लिये दाढ़ी मूंछ के बाल कुरूपता हैं, वह प्रतिदिन उन्हें

प्रातः ही साफ करने की चिन्ता में रहता है। परन्तु सिख युवक के लिये केश शोभा हैं। धर्म चिन्ह हैं। सिखों में नंगा सिर कुरूपता है, अपशकुन है, बंगालियों का यह चिन्ह है। इस लिये सुरूप कुरूप कोई भेद नहीं, जिसको जो अच्छा लगे वही सरूप है।

रूप-तन्मात्रा कहो या दिव्य-रूप, बात एक ही है। यह दिव्य-रूप अग्नि के कारणभूत असंख्यात सूक्ष्म परमाणुओं का अयुत-सिद्ध समुदाय एक रूप-तन्मात्रा है। रूप ही रूप-तन्मात्रा से कहा जाता है। यह रूप-तन्मात्रा अपने परिणामात्मक विविध सूक्ष्म रूपों में सूक्ष्म शरीरों का भोग निष्पादन करती है। परिणाम भाव को प्राप्त हो कर यही सूक्ष्म स्थूल भूतों में चली जाती है।

रूप-धर्म रूप-तन्मात्रा में सदा अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी रूप-तन्मात्रा में सदा अनुस्यूत रहता है। ब्रह्म सर्व-व्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है। रूप-तन्मात्रा किस प्रकार क्रमशः अपने सामान्य विशेष धर्मों में परिणत होती रहती है और परिणत होते हुए भी उनसे पृथक नहीं होती। इस सूक्ष्म परिणाम क्रम में सूक्ष्माति सूक्ष्म चेतन ब्रह्म की व्यापकता और निमित्त-कारणता का अनुभव करें। जो रूप के परमाणुओं को गतिमान् करके परस्पर संघात-रूप में परिणत करता रहता है। निमित्त कारण चेतन ब्रह्म ही है।

यहां रूप-तन्मात्रा का जो वर्णन है, वह द्रव्य और गुणों का वर्णन है। हम द्रव्य से गुणों को पृथक् नहीं मानते। अतः यहाँ द्रव्य सूक्ष्म-अग्नि भूत और इसके गुण, रूप भेद से अनेक हैं। दोनों का परस्पर अभेद है। इस लोक में अग्नि स्थूल इन्द्रियों का विषय बनती है। जैसे कोयलों में अग्नि जल रही है। यहाँ यह स्थल-नेत्र का विषय है। कोयले के ऊपर गरम जल रखा है, वहाँ उस की उष्णता नेत्रों से नहीं दीखती, स्पर्शेन्द्रिय से उस का प्रत्यक्ष होता है। हाथ डालने पर जान पड़ता है कि जल गरम हो गया है, यहाँ स्पर्श रूप-गुण वायु के संयोग से आया है क्यों कि वायु सूक्ष्म है। ज्येष्ट मास के मध्याह्न काल में बहुत उष्णता प्रतीत होती है, यह भी स्पर्शेन्द्रिय का गुण है, परन्तु यहां वह आकाश-मण्डल में अनुभव किया जा रहा है; क्यों कि विभु आकाश यहां अग्नि में ओत-प्रोत हो रहा है।

योगी का सूक्ष्म जगत् में प्रवेश

जब योगी योग-शक्ति से सूक्ष्म-जगत् में प्रवेश करता है तो सूक्ष्म-जगत् में विद्यमान रूप-तन्मात्रा की अनुभूति उसके सूक्ष्म शरीर के प्रत्यक्ष का विषय बनती है। वह योगी रूप-तन्मात्रा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। उस योगी ने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वर्ग के किसी देश-विशेष में अग्नि के परमाणु संघात को प्राप्त होते हुए देखे, उस समय उनमें बड़ी भारी हलचल रूप क्रिया होती है। संयुक्त होते समय ये योगी के सूक्ष्म शरीर के दर्शन का विषय बन जाते हैं। यदि शरीर के पास ही उनका संघात हो रहा हो तो वह तेज के द्वारा स्पर्श का विषय भी बन जाते हैं। तन्मात्रा के मण्डल में इनसे अत्यन्त उष्णता सी व्याप्त हो जाती है। ये इस रूप में भी सूक्ष्म शरीर के प्रत्यक्ष का विषय बन जाते हैं।

समाधि की स्थिति में भी जब योगी ध्यान बल से सूक्ष्म-जगत् में प्रवेश कर जाता है, उस काल में भी इस प्रकार की अनुभूतियां सूक्ष्म शरीर में प्रत्यक्ष रूप से हुआ करती हैं। यह रूप-तन्मात्रा सूक्ष्म शरीर का विषय-रूप से भोग है। समाधि-काल में इस प्रकार सूक्ष्म जगत् के साथ सम्बन्ध कर लेने पर रूप-सम्बन्धी अनेक प्रकार की अनुभूतियां हुआ करती हैं। परन्तु साधक प्रायः इनको ठीक-ठीक नहीं समझ पाते, और कल्पना कह कर उपेक्षा कर बैठते हैं। या मनोराज्य कह देते हैं।

इस प्रकार के अनेक दृश्य सम्प्रज्ञात-समाधि-काल में योगी को प्रायः आते हैं। परन्तु वह इनको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता है। यह वास्तव में सूक्ष्म जगत् के ही दृश्य होते हैं। सूक्ष्म जगत् का ही दर्शन होता है। इनके विज्ञान का अभ्यासियों को विशेष अनुसन्धान करना चाहिये। स्वर्ग में भी तो ऐसे ही भोग प्राप्त होते हैं। जो कि अभ्यासियों को समाधि काल में दृश्यों के रूप में सामने आये हैं। अभ्यासी लोग इन दृश्यों की अपेक्षा मानसिक जाप को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। परन्तु विज्ञान की दृष्टि से इन सूक्ष्म दृश्यों का महत्त्व अधिक होना चाहिये। वे कल्पनायें नहीं होती हैं। किन्तु तन्मात्राओं के सूक्ष्म जगत् में अभ्यासी योगी का प्रवेश होता है। और उसके सामने नाना प्रकार के सूक्ष्म दृश्य आने लगते हैं। जब तुम बाजार में या वन में जाते हो, तो सब कुछ देखते जाते हो। वहां के पदार्थों को देखने में तुम्हें बिल्कुल उपेक्षा नहीं होती है। फिर सोचो! ध्यान समाधि के समय पञ्चतन्मात्रा के उपवन में पहुंच कर तुम्हें उपेक्षा क्यों हो जाती है। उसको भी देखो, ध्यान से देखो! उनका पूरा विज्ञान प्राप्त करो। उनपर मनन और निदिध्यासन करो। उन्हें साक्षात् रूप से सही अर्थों में जानो। समझ लो वह कोरी कल्पना नहीं है। किन्तु सूक्ष्म जगत् की वास्तविकता का दर्शन है और सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म शरीर का व्यापार है।

यदि कहो इन सब व्यापारों को बन्द करना है, इनका तो अभाव करना है, तो पहले स्थूल जगत् के व्यवहारों को बन्द करो, जिन्हें दिन रात करते नहीं अघाते। यदि इस लोक से तुम्हारा चित्त उपराम हो गया है, और सब व्यापार छोड़ दिये हैं, तब तो अन्दर के व्यापारों को छोड़ना ठीक होगा। इस प्रकार की ख्याति के विरक्त योगी को तो अधिक से अधिक दिन रात का समय 'अहमस्मि' स्व-स्वरूप के अभ्यास में अथवा 'अयमस्ति' ब्रह्म के स्वरूप के अभ्यास में लगाना चाहिये।

यह रूप-तन्मात्रा के द्वितीय स्वरूप में ईश्वर की उपासना और उसके विज्ञान का एवं सूक्ष्म जगत् का वर्णन किया यहा धर्म धर्मी के अभेद रूप परिणाम में ब्रह्म का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

समष्टि रूप-तन्मात्रा मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रूप-तन्मात्रा का तृतीय रूप)

३. रूप-तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि रूप-तन्मात्रा अपने पूर्व रूप में वर्त्तमान जिस कारण से परिणत हुई है उस कारण रूप पदार्थ को रूप-तन्मात्रा का सूक्ष्म-रूप कहेंगे।

अहंकार तीन प्रकार का है। १. सात्त्विक, २. राजस ३. तामस। इनके भिन्न-भिन्न कार्य हैं। तीनों अलग-अलग उपादान कारण बनकर अलग-अलग अपने कार्यों को उत्पन्न करते हैं। कारण कार्य में सजातीय विजातीय का प्रयोग किया गया है, क्योंकि तीनों के तीन पदार्थ बने हैं। समष्टितमः प्रधान अहंकार ही समष्टि रूपतन्मात्रा का उपादान कारण है। इसके सहकारी सात्त्विक और राजस अहंकार भी हैं। यहां समष्टि-तमः अहंकार अपने कार्य-विशेष रूप-तन्मात्रा में अनुस्यूत है। यह कारण कार्य का अयुत सिद्ध समुदाय समष्टि रूप-तन्मात्रा है। अहंकार के सूक्ष्म-अंश सामान्य और रूप-तन्मात्रा के विशेष रूप का समुदाय ही यहां एक अयुत सिद्ध द्रव्य रूप-तन्मात्रा वनता है। यहां तमः प्रधान अहंकार कारण में कार्य रूप रूपतन्मात्रा की सूक्ष्मता है। इसी को रूप-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहते हैं। अर्थात् सामान्य विशेष का परस्पर संघात ही रूप-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप है।

इस अवसर पर जो एक विशेष क्रिया होकर समष्टि तमः प्रधान अहंकार में उस के सहकारी सत्त्व रजस् में परिणाम के साथ २ होती है, वह विलक्षण ही होती है। रस-तन्मात्रा की अपेक्षा कुछ और ही होती है, आश्चर्य में डाले रखती है। यहां समाधि में दिव्य दृष्टि से इसी अद्भुत प्रक्रिया को देखना होता है। देखिये ! यहां किस प्रकार सत्त्व की ०.३, रजस् की ०.७ मात्रायें तमः प्रधान अहंकार के २·० अंश में कैसे परिणाम पैदा कर रही हैं। अन्तिम क्षण में वह किस प्रकार रूप-तन्मात्रा बन वैठती है। साथ ही यह भी दीख रहा है कि किस प्रकार सजातीय विजातीय धर्मों का नियोजन ब्राह्मी चेतन सत्ता के सन्निधान से अयुत-सिद्ध द्रव्य रूप-तन्मात्रा बनकर तयार होती जा रही है। ब्रह्म की चेतना संघात करने वाली प्रेरिका है। इसी ब्रह्म-सत्ता का आप को विज्ञान करना है।

अहो विचित्रता ! केवल बुद्धि का बिषय तमः अहंकार अब रूप-तन्मात्रा बनते ही दिव्य चक्षुः का विषय बन गया। दिव्य चक्षुः से देखने योग्य हो गया। यहां तमः अहंकार धर्म-लक्षण-अवस्था भेदों से परिणत होता हुआ रूप-तन्मात्रा में पलट गया है।

रूप-तन्मात्रा की सूक्ष्मता को योगी इस प्रकार समझता है—परोक्ष में कहीं सेब रखा है। योगी उस पर संयम करता है। सेब में पांचों भूत सम्मिश्रित हैं। पृथिवी की गन्ध, जल का रस (स्वाद), अग्नि का रूप, वायु का कोमल चिकना स्पर्श, और आकाश अवकाश प्रदान किये है। योगी पांचों में से केवल रूप पर संयम करता है। स्थूल चर्म चक्षुओं से दृश्य रूप उसके समक्ष आ जाता है। गहरी दृष्टि से अनुभव करता है कि स्थूल रूप दिव्य चक्षुः के सम्पर्क में आने से सूक्ष्म हो गया है। और गहरी दृष्टि से देखता है, सूक्ष्म रूप विशेष परिणाम है। सामान्य रूप तो अन्तर्निहित है। जिस को देखकर अजान अपरिचित बालक भी कह उठता है कैसा सुन्दर रूप है। यही रूप तन्मात्रा है। और गहरी दृष्टि ले जाता है तो इस तन्मात्रा के कारण जड़रूप सत्तात्मक तमः अहंकार का साक्षात् करता है। इस जड़ सत्तामय तमः अहंकार का ही परिणाम तो रूप तन्मात्रा है। यहां सामान्य तमः अहंकार है और विशेष रूप-तन्मात्रा है। इनका समुदाय ही अयुत-सिद्ध द्रव्य है। रूप की विशेषता जिससे सामान्य रूप के परिणाम-भूत सेब के रूप को जाना गया है। यह सेब का रूप रूप-तन्मात्रा का परिणामात्मक गुण है।

यही इसका सूक्ष्म रूप है। रूप-तन्मात्रा का यह तीसरा रूप है।

(शंका) 'अहंकार तो एक ही पदार्थ है, परन्तु उसकी तीन अवस्थायें हैं' ऐसा मानें तो क्या आपत्ति है ?

(समाधान) शास्त्रकार सात्त्विक अहंकार से और राजस अहंकार से मन की उत्पत्ति मानते हैं। इससे सिद्ध है कि ये भिन्न २ ही पदार्थ हैं। मन के उपादान कारण सात्त्विक अहंकार और राजस अहंकार भी सात्त्विक, राजस तामस, भेद वाले हैं। अतः अहंकार को भी तीन भेद वाला मानना ही ठीक है क्योंकि ये तीनों भिन्न पदार्थ को उत्पन्न करते हैं। यदि अहंकार एक ही पदार्थ होता तो इसके कार्यों में विलक्षणता न आती। न उनके भिन्न २ धर्म होते। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, और तन्मात्रायें भिन्न धर्म-गुण वाले अहंकार के तीन कार्य हैं। अतः अहंकार भी तीन ही प्रकार का है क्योंकि उपादान के भेद और विलक्षणता से कार्य में भी भेद और विलक्षणता आ जाती है।

(प्रश्न) कहीं ऐसा तो नहीं है कि एक ही पदार्थ तीन रूपों में परिणत हो गया हो। जैसे अग्नि भूत में ११ धर्म या परिणाम आ गये। मूल-प्रकृति भी साम्यावस्था के पश्चात् त्रिगुणात्मक हो गयी। ऐसे ही अहंकार भी त्रिगुणात्मक हो गया। अलग अलग पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता ?

(उत्तर) यदि प्रारम्भ में तीनों गुणों को धर्म ही मान लिया जाये तो विचारो, आगे सृष्टि का विकास कैसे होगा, क्योंकि कार्यात्म पदार्थ के प्रारम्भक केवल गुण नहीं होते पदार्थ ही होता है। प्रकृति से कार्यात्मक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ये कार्य होने से ही अग्रिम कार्य को उत्पन्न करते हैं। उनके प्रति सर्वत्र ही उपादान कारण रहते हैं। जैसे पांचों भूत अपने-अपने कार्यों के आरम्भक होते हैं। इसी प्रकार सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन पदार्थ और आकाश, दिशा, काल मिलकर कार्यों के आरम्भक होते हैं। पृथिवी में जो धर्म उत्पन्न होते हैं, वहां भी पृथिवी अकेली ही नहीं है, उसके साथ जल-अग्नि आदि भी तो मिले हुए हैं। तब ही प्रत्येक धर्म में भेद एक दूसरे की अपेक्षा होता है। जैसे गुरुत्व की अपेक्षा रूक्षता धर्म में बहुत अन्तर है। गुरुत्व पृथिवी में अपना और जल के योग से आया है। रूक्षता धर्म वायु का इसमें आ गया है। ऐसे ही कृशता रूप धर्म अग्नि से आया है।

इसी प्रकार तीनों प्रकार के अहंकारों को अलग-अलग ही पदार्थ समझना चाहिये। अग्नि के तृतीय-रूप सूक्ष्म रूप में अहंकार के अंश से ही सूक्ष्मता आयी है। सामान्य विशेष के संयोग से ही एक अयुत सिद्ध द्रव्य रूप तन्मात्रा उत्पन्न हुई है। अतः आहंकारिक सृष्टि की उत्पत्ति तीन-तीन पदार्थों से ही माननी चाहिये, जैसे भूतों की पाचों से है। इति।

यह जो रूप-तन्मात्रा की सूक्ष्म तीसरी अवस्था है, यहां सूक्ष्मता की विशेषता है। जो इस के उपादान कारण आहंकारिक अवयवों के संयोग से एक द्रव्य विशेष बना है, यह सामान्य विशेष भेदों से अनुगत समुदाय अयुत सिद्ध द्रव्य है। यहां उपादान कारण अहंकार से रूप-तन्मात्रा की जो उत्पत्ति है यही कारण कार्य का सम्बन्ध सूक्ष्म-रूप है।

इन अवयवों की सूक्ष्मता के संयोग में उस ब्रह्म के स्वरूप का भी प्रत्यक्ष करना चाहिये, जो पदार्थ के परिणाम धर्म में सर्वत्र अनुस्यूत होकर वर्त्तमान रहता है। यही ब्रह्म की उपासना भी है, और विज्ञान भी है। यहां प्रत्येक अवयव में वह अभेद रूप से विजातीय होकर भी व्याप्य व्यापक भाव से सदा रहता है।

समष्टि रूप-तन्मात्रा मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रूप-तन्मात्रा का चतुर्थ रूप)

४. रूप-तन्मात्रा के अन्वय रूप में —

इस रूप-तन्मात्रा का अपने परम्परागत उपादान कारण प्रकृति में अन्वय है, यही रूप-तन्मात्रा का अन्वय है।

यह प्रकृति परिणाम रूप से अनुपतन हुए रूप-तन्मात्रा में पहुँची है। अन्वय का अभिप्राय कारण का कार्य में अनुगत होना है। रूप-तन्मात्रा में प्रकृति अपने गुणों सहित अनुगत हुई है। समष्टि तमः अहंकार कारण है, और समष्टि रूप-तन्मात्रा कार्य है। समष्टि तमः अहंकार का कारण समष्टि महत्तमः है। समष्टि महतमः का कारण अव्यक्त अपरिणत नित्य मूल प्रकृति है। यह मूल प्रकृति अजन्मा है। शाश्वत् है। नित्य है। इसका कभी विनाश नहीं हीता। इसका धर्म सत्ता है। धर्म धर्मी का अभेद है। यह इसका स्वरूप है। ज्ञान और क्रिया इसके गुण हैं। अपने स्वरूप और गुणों को साथ-साथ लिये सब कार्यों में अनुपतित हुई है। कारण कार्य का अभेद है।

प्रकृति की सत्ता से ही रूप-तन्मात्रा की सत्ता है और रूप-तन्मात्रा के कार्यात्मक परिणामों की सत्ता है। मूल-प्रकृति और रूप-तन्मात्रा के मध्य अनेक कार्य-परिणामों के पड़ाव पड़े हैं। बहुत लम्बा दूरान्वय है। इस लिए मूल प्रकृति रूप तन्मात्रा में सत्ता धर्म को मुख्यतः लेकर पहुंची है। ज्ञान और क्रिया गुण स्वल्प-मात्रा में रह गये हैं। ज्ञान क्रिया की अपेक्षा अधिक है। रूप के ज्ञान गुण के कारण सब रूप से ही पहचाने जाते हैं। रूप ही एक दूसरे का भेदक है। वास्तव में रूप से ही सब की सत्ता है। जातीय विजातीय का भेद भी इसी का कारण है। रूप के अभिन्न मूल कारण रूप-तन्मात्रा की ही यह महिमा है। जो इसे मूल प्रकृति के और प्रभु के सन्निधान से प्राप्त ज्ञान गुण के कारण मिली है। इस प्रकार रूप-तन्मात्रा में अन्वय रूप धर्म चरितार्थ हुआ है।

रूप-तन्मात्रा के अन्वय रूप में रस-तन्मात्रा से भी सूक्ष्मतर अवस्था में ब्रह्म की सूक्ष्मतम व्यापकता का अनुभव होना चाहिये। इस अनुपतन के निमित्त कारण ब्रह्म का ही अभ्यास में लक्ष्य रूप से साक्षात्कार कीजिये। जिससे भगवान् की सर्व व्यापकता और सन्निधानता में विश्वास और विज्ञान की दृढ़ मूलता हो।

समष्टि रूप-तन्मात्रा मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रूप-तन्मात्रा का पञ्चम रूप)

५. रूप-तन्मात्रा के अर्थवत्त्व रूप में—यह समष्टि रूप-तन्मात्रा वायु-तन्मात्रा के योग से स्पर्शयुक्त और आकाश की तन्मात्रा के योग से शब्द-युक्त बनी हुई है। ये

दोनों गुण इन तन्मात्राओं के योग से इसमें आये हुए हैं। समस्त सूक्ष्म शरीरों के निर्माण में ये प्रयुक्त हुई हैं। मुख्य रूप से रूप-तन्मात्रा का वास जठर और नेत्र में हुआ है। इसके कारण से सूक्ष्म शरीर हल्के, आकाश-गामी, देदीप्यमान, तेजस्वी, चमकते हुए प्रकाश-युक्त देखने में आते हैं। वास्तव में वे ऐसे ही हैं भी। बहुत बार ध्यान काल में अनेकों सूक्ष्म-शरीर तेज से पूर्ण, ज्योतिर्युक्त देखने में आये हैं। मानों सूक्ष्म जगत् का आकाश-मण्डल इन्हीं से भरा हो। सूक्ष्म जगत् में इस रूप-तन्मात्रा की यही विशेष अर्थवत्ता है।

अनेक प्रकार से यह सूक्ष्म-लोक में यह भोग का हेतु बनी हुई है। अनेक सूक्ष्म पदार्थों का निर्माण योगी लोग भी इस भौतिक जगत् में इस से कर लिया करते हैं। रूप-तन्मात्रा पर अधिकार हो जाने पर ही यह सिद्धियाँ प्राप्त होंती हैं। अपने मनोबल तथा बुद्धि-बल से इस लोक में, अथवा ध्यान काल में अपने सम्मुख सूक्ष्म शरीरों का आह्वान् भी कर लेते हैं।

ध्यान काल में सिद्धों के दर्शन

ध्यान-काल में अनेक सूक्ष्म-शरीराभिमानी देवों के दर्शन हुआ करते हैं। कोई-कोई महान् आत्मा बहुत देर तक ध्यान काल में आकाश मण्डल में देखने में आती रहती है। मानों उपदेश देने आई हो। इनके दर्शनों से महती शान्ति प्राप्त हुआ करती है। अभ्यास में विशेष उन्नति होने लगती है। श्रद्धा भक्ति बढ़ जाया करती है। विशेष शान्ति और आनन्द की उपलब्धि होने लगती है। इस प्रकार के दर्शनों की अभ्यास काल में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"मूर्ध-ज्योतिषि सिद्ध-दर्शनम्।"

योग० विभूति पाद ३। सूत्र० ३२।

—मूर्धा—ब्रह्म-रन्ध्र या भ्रूमध्य (आज्ञा चक्र) में योगी ध्यान करते हैं, उनको सूक्ष्म शरीराभिमानी सिद्धों के दर्शन होने लगते हैं। उन सिद्धों में बहुत से तो बिल्कुल श्वेतरङ्ग के बरफ के समान धवल होते हैं। बहुत से चमकते स्वर्ण या सूर्य के समान होते हैं। बहुत से मन्द फीकी-सी नीलिमा से युक्त देखे गये हैं। बहुत से धुन्धले रंग के शरीर वाले होते हैं। ये सब देखने में आते हैं। हमारे लोक में भी गमनागमन उनका होता है, क्योंकि पञ्च-तन्मात्रा का लोक तो सर्वत्र ही है।

जो सूक्ष्म-शरीर इस लोक के मरने वाले सर्वसाधारण के होते हैं, और जिन्हों ने निकट-भविष्य में जन्म लेना होता है, उनके सूक्ष्म-शरीरों के रंगों में उनकी अपेक्षा कुछ अन्तर होता है। इन शरीरों को तन्मात्रा के लोक का विशेष ज्ञान नहीं होता है और न सूक्ष्म भोगों का ही विशेष ज्ञान होता है। सामान्य या पशु के समान या जंगली के समान जीवन-यापन-मात्र का ज्ञान होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी से नियोजित किये हुए से आकाश में गमनागमन कर रहे हों। ऐसी स्थिति के ये स्थूल लोक के बद्ध सूक्ष्म-शरीराभमानी जीव होते हैं। जो विज्ञान द्वारा मुक्त हो कर जाते हैं, वे स्वेच्छाचारी होते हैं। वे सब प्रतिबन्धों से रहित होते हैं।

इस सूक्ष्म जगत् का विशेष विज्ञान योगी को करना हो तो ध्यान-काल में सूक्ष्म लोक के साथ सम्बन्ध जोड़ कर वहाँ का सर्व-विज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सूक्ष्म जगत्

का विज्ञान भी अत्यन्त रोचक है। विशेष सुख, आह्लाद और आनन्द का देने वाला है। इस लोक में स्थूल शरीर के व्यवहार में भी तो कई घन्टे मनुष्य लगाता है। अतः योगी को अभ्यास काल में जब सूक्ष्म दृश्य आने प्रारंभ हों, अवश्य ध्यान देकर उन की तह में जाना चाहिए। अपनी भ्रान्ति को दूर करना चाहिये, कि ये वास्तविक रूप में सत्य हैं या अन्यार्थ झूठी कल्पना है।

जब अभ्यासी का ध्येय अभ्यास काल में कोई दृश्य देखने का न हो और कोई इस ओर ध्यान भी न हो, यदि ऐसी स्थिति में भी सूक्ष्म दृश्य सामने आते हैं तो इनको मिथ्या या कल्पना नहीं कहना चाहिए। किन्तु सूक्ष्म जगत् में यह मन-बुद्धि का प्रवेश समझना चाहिए। उस काल में बुद्धि को स्वतन्त्र छोड़ दो, और जो सूक्ष्म दृश्य सामने आवे उसको अच्छी तरह देखो। पूर्वापर मिलाकर यथार्थ निर्णय करो, कि आपके सम्मुख यह यथार्थ वस्तु है या व्यर्थ में कोई मनोराज्य है। मनोराज्य में यह बात होती है कि वह इच्छा पूर्वक होता है और यहाँ अनायास ही नाना प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ सामने आने लगते हैं। जो कभी देखे सुने भी नही होते हैं। अतः योगी को इस सूक्ष्म जगत् का विज्ञान विशेष अनुसंधान एवं तन्मयता के साथ करना चाहिए, और अधिकार पूर्वक करना चाहिए। अधिकार पूर्वक अपने दिव्य चक्षु से कार्य लेना चाहिए। जिस दिव्य लोक के विद्वान् आचार्य लोग बड़े सब्ज बाग दिखाते हैं। अपने उपदेशों में उन का मनोहारी वर्णन करते हैं। इनका प्रत्यक्ष विज्ञान और उनका भोग योगी को इस स्थूल शरीर में ही करना चाहिये। यदि उस समय इच्छा हो, और वह सुख और आनन्द का हेतु प्रतीत हो तो इसकी प्राप्ति और भोग के लिये यत्न विशेष करना चाहिए। इच्छा या आकर्षण न हो तो पुनः पुनः इसी स्थूल शरीर को धारण करना, और यदि यह भी दुःख और क्लेश का हेतु प्रतीत हो तो वशीकार संज्ञा वैराग्य द्वारा परम वैराग्य प्राप्त करना चाहिये। जिसमें तीनों प्रकार के गुणों से युक्त प्रकृति जो जगत् का कारण है, इससे भी वैराग्य प्राप्त कर के उस मोक्ष को प्राप्त करना श्रेष्ठ होगा, जिसमें सब ही शरीरों का अभाव हो जाता है। इत्यलं विद्वद्वरेषु।

इस सूक्ष्म अग्नि-तन्मात्रा में ब्रह्म का आरोप करके उसकी उपासना और विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उस की व्यापकता और सन्निधानता एवं निमित्ता का इसमें अनुभव करना चाहिये।

इति समष्टि रूप-तन्मात्रा मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये ततीयः खण्डः ।।

इतिषड्विंशमावरणम्

चतुर्थ खण्ड

२५वाँ आवरण

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा मण्डल

पांचों रूपों में ब्रह्म-दर्शन

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा व्यष्टि स्पर्श तन्मात्रा का उपादान कारण है। समष्टि-से व्यष्टि उत्पन्न होता है। योगी या सूक्ष्म-शरीराभिमानी सूक्ष्म-त्वचा या सूक्ष्म-स्पर्शेन्द्रिय से जिस स्पर्श-तन्मात्रा का उपभोग करता है वह व्यष्टि स्पर्श-तन्मात्रा है। इसी समष्टि-तन्मात्रा से व्यष्टि तन्मात्रा उत्पन्न होती रहती हैं। और व्यक्तियों को भोग देने के लिये आती रहती हैं। प्रलय पर्यन्त यह क्रम चलता रहता है।

ब्रह्म के सम्पर्क से चेतन सी बनी स्पर्श-तन्मात्रा इस कारण-कार्य रूप परिणाम चक्र को घुमाती रहती है। स्पर्श-तन्मात्रा के भी पाँच रूप अन्यों की भाँति हैं— १. स्थूल २ स्वरूप ३. सूक्ष्म रूप ४. अन्वय रूप और ५. अर्थवत्त्व। इन पाँचों रूपों की सूक्ष्मता को भी समझिये और इन पाँचों रूपों में परिणाम उत्पन्न करने वाली निमित्त कारण बनी भगवान् की सन्निधानता भी अनुभव कीजिये।

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श-तन्मात्रा का प्रथम रूप)

१. स्पर्श-तन्मात्रा के स्थूल रूप में—

वायुमहाभूत का कारण समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा है। स्पर्श-तन्मात्रा ही वायु-महाभूत में परिणाम भाव को प्राप्त हुई है। स्पर्श-तन्मात्रा वायु-महाभूत की अनुद्भूत सूक्ष्म अवस्था है। वायु स्थूल या उद्भूत अवस्था है। स्थूल वायु का स्थूल त्वचा या स्पर्श से ज्ञान हो जाता है। स्पर्श-तन्मात्रा अनुद्भूत अर्थात् अप्रकट सूक्ष्म अवस्था है। जिसका ज्ञान ब्रह्म-रन्ध्रस्थ सूक्ष्म स्पर्शन इन्द्रिय से होता है। बस निष्कर्ष निकला कि सूक्ष्म स्पर्शनेन्द्रिय जिसका ग्रहण करती है, वह स्पर्श-तन्मात्रा है। सूक्ष्मस्पर्शेन्द्रिय सूक्ष्म शरीर का अवयव है। स्थूल स्पर्शेन्द्रिय स्थूल अन्नमय शरीर का भाग है। स्थूल स्पर्शेन्द्रिय स्थूल-शरीर-व्यापिनी त्वचा में सर्वत्र वास करती है। स्थूल स्पर्श का अनुभव स्थूल स्पर्शेन्द्रिय से होता है। यही स्थूल स्पर्श सूक्ष्म-स्पर्शेन्द्रिय तक पहुँचते-पहुँचते सूक्ष्म-स्पर्श तन्मात्रा रह जाती है। स्थूल स्पर्श का उप भोग स्थूल शरीर कर लेता है। सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय जिसके सम्पर्क से स्थूल स्पर्श छन कर सूक्ष्म स्पर्श-तन्मात्रा बनता है, सूक्ष्म-शरीर के भाग बुद्धि मण्डल में बास करती है। स्थूल स्पर्श का अनुभव प्राणिमात्र करते हैं। सूक्ष्म दिव्य स्पर्श-तन्मात्रा का भोग योगी, सूक्ष्म-शरीराभिमानी आकाशचारी आतमायें अथवा स्वर्ग में वास करने वाली सुखैक-कर्मफला पुण्य आत्मायें किया करती हैं।

स्पर्श के शीतल उष्ण भेद तो जल और अग्नि के सम्पर्क से हो जाते हैं। स्पर्श वास्तव में एक ही है, जो अनुष्णाशीत है। जो न गरम है, न ठण्डा। बस स्पर्श है। जिसका हम हाथ से या शरीरगत त्वचा वाले किसी भी भाग से अनुभव करके जानते हैं कि रात्रि को अन्धेरे में हम चले जा रहे हैं। सहसा पैरों को कुछ छू जाता है। हम चौकन्ने हो जाते हैं। कहते हैं—'कुछ छू गया है। बस यह जो कुछ छूना है यही सामान्य स्पर्श, स्पर्श-तन्मात्रा का रूप है। शेष विशेष स्पर्श इसी स्पर्श के परिणाम हैं। कठोर, कठोरतर, कठोरतम, कोमल, कोमलतर, कोमलतम आदि स्पर्श के अनेक परिणामात्मक भेद हैं। प्रति विशेष स्पर्श का अनुभव साधारणतया कम अवगत होता है। पर यदि एक ही माप के जूते पड़े हों और हमारा जूता भी उसी माप का वहाँ पड़ा हो। अन्धेरा भी हो, तो उस समय अस्पृश्य यह पैर देवता उतावले हो आगे बढ़ते हैं, और सब जूतों को पहन-पहन कर अपने जूते को स्पर्श से छाँट करने लगते हैं; और अपने ही स्पर्श को पा जूते को छाँट लेते हैं। फिर प्रकाश में जा आखों से पुष्टि करा लेते हैं। प्रज्ञा-चक्षुओं में स्पर्श-परिणाम की अनुभूति बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है। प्रज्ञा-चक्षु: साथी जब कभी बहुत दिनों के बाद आते तो सब साथी एकत्र हो जाते। बिना नाम लिये साथी को आगे कर पूछते, 'बताओ कौन है ?' वह हाथ पकड़ते, हाथ फेरते स्पर्श का अनुभव करते, और नाम लेकर कह देते, 'अमुक हैं।' यह स्पर्श के परिणामों के ज्ञान-अभ्यास का ही परिणाम था। इसी प्रकार कठोर कोमल शीतोष्ण आदि के तारतम्य से स्पर्श का परिणाम भेद हो जाता है।

स्पर्श-तन्मात्रा के विषय में वैशेषिक दर्शन ने सूत्र दिया है—**'स्पर्श वान् वायु':**— स्थूल सूक्ष्मभूत वायु स्पर्श गुण वाला है। अत: उपरि प्रदर्शित अनेक प्रकार के स्पर्श वायु तन्मात्रा के हैं। आपने वायु के वेग से चलते समय देखा होगा, वायु भी शब्द करती है। यह गुण इस में आकाश के व्यापक होने से प्रतीत होता है। वायु का वास्तविक स्पर्श-रूप त्वक् इन्द्रिय का विषय है।

जब सूक्ष्म शरीरों का निर्माण होता है, तब यह स्पर्श-तन्मात्रा शरीरों में प्राण के रूप में सहकारी होती है। यही सूक्ष्म शरीरों के जीवन और गति का आधार बनती है। —'वायु लोकं च गच्छति'—जो यह वाक्य उपनिषद् में जीव के लिये आया है, वह इसी वायु-सूक्ष्म-तन्मात्रा के लोक का ही वर्णन है। आजकल जब मनुष्य वायुयान के द्वारा आकाश में बहुत ऊँचे चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ही वायु भी बहुत सूक्ष्म होती चली जाती है। इसी प्रकार यह स्पर्श-तन्मात्रा रूप वायु अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

स्थूल भूत और सूक्ष्म भूत वायु में अन्तर

(शंका) जब इस लोक में स्थूल वायु वर्त्तमान है और आप कहते हैं स्पर्श-तन्मात्रा भी यहाँ वर्त्तमान है, इसकी यहाँ क्या जरूरत है ? सूक्ष्म शरीराभिमानी स्थूल से ही काम ले सकते हैं।

(समाधान) जैसे आप सूक्ष्म-स्पर्श-तन्मात्रा से काम नहीं ले सकते हैं, आप के आहार व्यवहार और जीवन के लिये यह स्थूल वायु ही उपयोगी है। इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीरों के लिये भी सूक्ष्म-स्पर्श-तन्मात्रा ही उपयोगी है। इसी से उनका शरीर बना है।

यही उनके शरीरों का प्राण-रूप से आधार है। इस लोक में भी जो हमारे स्थूल शरीरों में सूक्ष्म-शरीर वर्त्तमान हैं यह भी तो स्पर्श-तन्मात्रा से ही अपने आहार को ग्रहण करते हैं। स्थूल शरीरों का स्थूल-भूत जीवन का आधार हैं; और सूक्ष्मों का सूक्ष्म। योगी लोग तो इस विज्ञान के रहस्य को प्रत्यक्ष-रूप से समझते हैं, और प्रत्यक्ष देखते भी हैं, स्थूल वायु तो सूक्ष्म के बाहर है, सूक्ष्म तो इसके अन्दर भी है और बाहर भी है, क्योंकि सूक्ष्म स्थूल का कारण है। यह सूक्ष्म वायु का सूक्ष्म-स्पर्श ही स्थूल वायु में भी गया है। शेष जो आठ गुण उसमें और आये हैं, सूक्ष्म का परिणाम हो कर ही आये हैं। जब यह सूक्ष्म वायु कार्य रूप में परिवर्तन होने लगी—उस परिणाम काल में उस स्थूल वायु में वे धर्म क्रम-पूर्वक उत्पन्न होते गये। वैसे बीज रूप में वे सूक्ष्म में भी वर्त्तमान हैं।

सूक्ष्म-शरीराभिमानी कोई विशेष व्यवहार या विज्ञान प्राप्त नहीं करते, उनका तो यह भोग-स्थल है। उनकी यह सुखमय—भोग योनि है। उनका एक स्पर्श-मात्र से ही कार्य सिद्ध हो जाता है। क्योंकि वहाँ केवल मात्र एक भोग ही प्रधान होता है। कर्म विशेष या विज्ञान विशेष की वहाँ जरूरत नहीं है। इनकी मानव लोक में ही आवश्यकता है, क्योंकि इनके विज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है। स्थूल वायु में स्पर्श-तन्मात्रा के परमाणुओं का गमनागमन होता रहता है। वे इसकी शक्ति और बल को बढ़ाते रहते हैं। इसका पोषणभी करते रहते हैं। प्रत्येक क्षण में परमाणुओं का परिणाम क्रम बना ही रहता है, क्योंकि ये सूक्ष्म-शरीरों का भी पोषण करते रहते हैं। इनको अपना आहार प्रदान करते रहते हैं। सूक्ष्म शरीर को केवल सूक्ष्म आहार ही चाहिये। अतः वह स्वभाविक रूप में ही इसे प्राप्त होता रहता है। उसके लिये यत्न की इसे जरूरत नहीं। कहावत भी तो है, देवता तो वासना के ही भूखे हैं।

इस तन्मात्रा के स्पर्श रूप में ब्रह्म का आरोप करके उपासना करनी चाहिये। ऐसा अनुभव करना चाहिये जैसे मेरे सूक्ष्म और स्थूल शरीर में ब्रह्म का ही आह्लाद और आनन्द दायक स्पर्श अत्यन्त मधुर रूप में हो रहा है। वह भगवान् इस स्थूल और सूक्ष्म-शरीर के रोम-रोम और कण-कण में व्याप्त हो रहा है। वह अन्दर भी है और बाहर भी। इस स्पर्श-तन्मात्रा के प्रत्येक परमाणु में ओत प्रोत होकर इन सूक्ष्म जर्रों में जीवन सा भर रहा है। इन को मानो कार्यों में नियोजित कर रहा है। इन्हें मानों प्रेरित कर रहा है। इसी के व्यापक रूप सम्बन्ध से यह सब प्राणियों में गति और चेतना का मानों सञ्चार कर रही है। समष्टि ब्रह्माण्ड में यह स्पर्श-तन्मात्रा ही ब्रह्म की चेतनता के साथ जीवन और चेतना को लेकर मानों मातृवत् पोषण कर रही है। इस प्रकार की भावना द्वारा इसको प्रतीक बनाकर भगवान् की उपासना करें और स्पर्श-तन्मात्रा के परिणत होते अनेक दिव्य स्पर्शों में ब्रह्म का अनुभव करें।

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श तन्मात्रा का द्वितीय रूप)

२. स्पर्श-तन्मात्रा के स्वरूप में—

स्पर्श-तन्मात्रा की यह दूसरी अवस्था है। या दूसरा रूप है। स्पर्श-तन्मात्रा का धर्म स्पर्श है। यह स्पर्श स्पर्श-तन्मात्रा में सदा वर्त्तमान रहता है। कभी अलग नहीं

होता। इसीलिये स्पर्श-तन्मात्रा और स्पर्श दो परार्थ अलग कभी नहीं मिलते। स्पर्श स्पर्श-तन्मात्रा का स्व-स्वसामान्य धर्म है। जहाँ स्पर्श-तन्मात्रा होगी वहाँ स्पर्श भी होगा। यह स्पर्श स्पर्श-तन्मात्रा में भी है, और स्पर्श-तन्मात्रा के परिणामों में भी।

संसार में जितने भी स्पर्श हैं, चाहे वे अग्नि के हों, चाहे हिम के, चाहे कान्टे के, चाहे फूल के, चाहे तलवार के, चाहे ढाल के, चाहे छुरी के, चाहे गोली के, चाहे बिजली के करन्ट के, चाहे साइनाइट के, चाहे संखिया और चाहे हलाहल के, चाहे सौदामिनी के, चाहे कामिनी के, चाहे कालकूट के, चाहे अमृत के, सब सामान्य स्पर्श के परिणाम हैं। स्पर्श-तन्मात्रा के धर्म है।

यह स्पर्श-धर्म स्पर्श-तन्मात्रा में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। स्पर्श कभी भी स्पर्श तन्मात्रा से अलग नहीं। यही स्पर्शतन्मात्रा या वायु के सूक्ष्म रूप धर्म का इस धर्मी के साथ स्वरूप सम्बन्ध है। अर्थात् सम्वाय सम्वन्ध है। यहाँ धर्म धर्मों का अभेद है। धर्म धर्मी में सदा बने रहते हैं। अतः परस्पर अभेद है। स्पर्श-तन्मात्रा का उपरिप्रदर्शित अपने अनेक परिणामात्मक नाना प्रकार के स्पर्श गुणों के साथ स्वरूप सम्बन्ध से अभेद है। स्पर्श धर्म से अलग स्पर्श-तन्मात्रा कोई पदार्थ नहीं है। स्पर्श का नाम स्पर्श-तन्मात्रा है। और स्पर्श-तन्मात्रा ही स्पर्श हैं। इनका त्रिकालावाध शाश्वत सम्बन्ध है। इनकी अलग-अलग सत्ता नहीं। धर्म धर्मी एक ही हैं। हम न्याय वैशेषिक के समान धर्मों को धर्मी से पृथक नहीं मानते हैं।

स्पर्श-तन्मात्रा कहो या दिव्य-स्पर्श बात एक ही है। यह दिव्य-स्पर्श वायु के कारण भूत अनन्त सूक्ष्म-परमाणुओं का समुदाय एक स्पर्श-तन्मात्रा द्रव्य है। दिव्य स्पर्श या स्पर्श-तन्मात्रा का अभिप्राय है स्पर्श का सूक्ष्म रूप। यह स्पर्श-तन्मात्रा अपने परिणामात्मक धर्मों सहित विविध स्पर्शों के रूप में सूक्ष्म शरीर के भोग में आती है। इस तन्मात्रा की स्पर्श रूप ही अवस्था है। परिणाम भाव को प्राप्त होकर यह सूक्ष्म-स्थूल भूतों में चली जाती है।

स्पर्श धर्म स्पर्श-तन्मात्रा में सदा अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी स्पर्श-तन्मात्रा में अनुस्यूत रहता है। क्योंकि ब्रह्म-सर्वगत है। स्पर्श-तन्मात्रा किस प्रकार क्रम पूर्वक अपने सामान्य विशेष धर्मों में अभेदरूप से परिणत होती रहती है। और परिणत होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं होती है। इस प्रकार अभेद रूप सम्बन्ध में उस अभेद रूप ब्रह्म की अभेद रूप से उपासना करें। मानों वह इस धर्म धर्मी के अभेद में समाया हुआ है। रमा हुआ है। और इसको एक प्रकार से चेतना देकर मानों प्राणियों के लिए महान् उपकार रूप से प्रस्तुत कर रहा है। योगी को अपनी सूक्ष्म-बुद्धि बना कर इस सूक्ष्म-सम्बन्ध में प्रवेश करके यथार्थ निश्चयात्मक विज्ञान को प्राप्त करना चाहिए। इस सम्बन्ध में ब्रह्म का आरोप करके प्रत्यक्ष-रूप से उसकी अनुभूति करनी चाहिये। यह ब्रह्म-विज्ञान का एक अच्छा क्रम है। इस क्रम से प्रकृति के यावत्मात्र कार्यों में सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति होती चली जायेगी, और पदार्थ के स्वरूप का भी विज्ञान हो जाएगा।

यह स्पर्श-तन्मात्रा की द्वितीय स्वरूप अवस्था का अभेद रूप से उल्लेख किया है। स्पर्श तन्मात्रा का और उसके अनेकानेक गुणों का स्वरूप सम्बन्ध है। इसे सम्वाय सम्बन्ध भी कहते हैं और तादातम्य सम्बन्ध भी कहते हैं।

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा मण्डल
तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(स्पर्श-तन्मात्रा का तृतीय रूप)

३. स्पर्श-तन्मात्रा के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा का जिस अवस्था से परिणाम हुआ है, समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा की उस पहिली स्थिति को स्पर्श-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहेंगे। समष्टि तमः अहंकार ही समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा का सूक्ष्म-रूप है। समष्टि तमः अहंकार अपने कार्य विशेष समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा में अनुस्यूत है। यह कारण कार्य का अयुत-सिद्ध समुदाय समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा है। अहंकार के सूक्ष्म अंश सामान्य और विशेष स्पर्शतन्मात्रा का समुदाय ही यहाँ एक आयुत-सिद्ध द्रव्य स्पर्श-तन्मात्रा बनता है। यह तमः प्रधान अहंकार कारण में कार्य रूप स्पर्श-तन्मात्रा की सूक्ष्मता है। इसी को स्पर्श तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहते हैं।

इस अवसर पर समष्टि-तमः-अहंकार में उनके सहयोगी सत्त्व रजस के साथ में जो एक विशेष क्रिया के उपरान्त एक विशेष परिणाम होता है। उसका दर्शन आश्चर्य-मय है। योगिन्! इस परिणाम प्रक्रिया का यहाँ दर्शन कीजिये। यह दर्शन सम्प्रज्ञात समाधि में ही होगा।

आप साक्षात् देखेंगे कि किस आश्चर्यमय रूप से तमः प्रधान अहंकार में सत्त्व रजः अहंकार की मात्रायें कैसे परिणाम पैदा करती हैं। वह कैसे अन्ततोगत्वा स्पर्श-तन्मात्रा में परिवर्त्तित हो जाता है। साथ ही यह भी अनुभव करें कि किस प्रकार सजातीय-विजातीय धर्मों का नियोजन कर ब्राह्मीचेतन सत्ता अपने सन्निधान से अयुत-सिद्ध द्रव्य स्पर्श-तन्मात्रा का निर्माण कर रही है। किस प्रकार सूक्ष्म तमः अहंकार का १·७ भाग सत्त्व के ०·४ भाग और रजस् के ०·६ भाग के साथ संघात को प्राप्त होकर स्वस्थूलाकार स्पर्श-तन्मात्रा के रूप में पलट रहा है। ब्रह्म की सर्वव्यापक चेतना ही इस अवसर में संघात करने वाली प्रेरिका है। इसी ब्रह्म-सत्ता का आपको यहाँ अनुभव करना है।

विलक्षणता देखिये, समष्टितमः अहंकार बुद्धिगम्य था। स्पर्श-तन्मात्रा में पलटा तो दिव्य स्पर्शेन्द्रिय का विषय बन गया।

संक्षेप में समष्टितमः अहंकार का समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा के रूप में परिणाम हुआ है, और वह समष्टि-तमः अहंकार धर्म-लक्षण-अवस्था रूप में परिणत होकर स्थूल रूप में आ गया है।

स्पर्श-तन्मात्रा की बारीकी को इस प्रकार समझिये—हमारे भूमण्डल में मानव की आदि जन्म भूमि त्रिविष्टप में वर्त्तमान कैलाश शिखर का योगी ध्यान करता है। हिमाच्छन्न धवल कैलाश शिखर योगी के सामने हैं। कैलाश शिखर से योगी कैलाश शिखर के शान्त वातावरण पर ध्यान की दिव्य दृष्टि स्थिर करता है। शीतल, शून्य ताप से भी नीचे हिमशीतता का अनुभव करता है। उस शीतता में और गहरा पैठता है, सामान्य स्पर्श का अनुभव करता है जिस स्पर्श का यह शीतता परिणाम है, और

रेगिस्तान में जिस स्पर्श का परिणाम झुलसा देने वाला हो, उन दोनों तथा अन्य स्पर्शों में वर्त्तमान सामान्य स्पर्श का अनुभव करता है। और अधिक संयम की स्थिति में इस सामान्य स्पर्श-तन्मात्रा के पूर्ववर्त्तमान उसके मूल कारण सत्तात्मक तमः प्रधान अहंकार का प्रत्यक्ष करता है। यह जड़ सत्तात्मक तमः अहंकार ही तो स्पर्श-तन्मात्रा के रूप में परिणत हुआ है। यहाँ सामान्य तो तमः प्रधान अहंकार है। और विशेष स्पर्श-तन्मात्रा है। इनका समुदाय ही अयुतसिद्ध द्रव्य स्पर्श-तन्मात्रा है। स्पर्श की विशेषता जिससे सामान्य स्पर्श के परिणतगुण कैलाशहिम की शीतता को जाना गया है, स्पर्श-तन्मात्रा का ही परिणामात्मक गुण है।

यही स्पर्श-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप है। स्पर्श तन्मात्रा का यह तीसरा रूप है। योगी इस परिणात्मक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष कर लेता है। कारण कार्यरूप में सदा पलटता ही रहता है। योगी को अपनी सूक्ष्म बुद्धि बनाकर इस सूक्ष्म सम्बन्ध में प्रवेश कर के यथार्थ निश्चयात्मक विज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। इस सम्बन्ध में ब्रह्म का आरोप कर के प्रत्यक्ष रूप में उसकी अनुभूति करनी चाहिये। यही इसकी सूक्ष्म अवस्था है। योगी को ध्यान काल में ऋतंभरा बुद्धि से इनका निर्माण होते हुए अपनी दिव्य दृष्टि से अनुभव करना चाहिये, क्योंकि यहाँ कार्य से कारण का बोध परिणाम होते हुये करना है। साथ में ब्रह्म की अनुभूति भी। यहाँ तमः-प्रधान अहंकार ही स्पर्श-तन्मात्रा की सूक्ष्म अवस्था है।

जितना यह सूक्ष्म-पदार्थों का विज्ञान कठिन और गहन है, उससे अधिक गहन उस ब्रह्म का विज्ञान है। जो यहाँ कारण और कार्य में ओत प्रोत हो रहा है। यह सजातीय विजातीय अहंकार और तन्मात्राओं का परिणाम क्रम सूक्ष्म-रूप से सदा होता रहता है। तन्मात्राओं के परमाणु परिणत होकर या अपने कार्य से अलग होकर नवीनता प्राप्त करने के लिये अपने कारण में जाते रहते हैं। इसी तरह अहंकार के सूक्ष्म अंश उस से पृथक होते हैं, और परिणाम भाव को प्राप्त होकर अपने महान् कार्य-तन्मात्रा में आते रहते हैं। यह आवागमन सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक बना ही रहता है। इस सूक्ष्म परिणाम क्रम में ब्रह्म की भावना करनी चाहिये। इन सूक्ष्म अंशों का किस सूक्ष्मता से यह नियोजक बना हुआ है। सर्वत्र अपने स्वरूप के अनुभव के साथ उसके अनन्त स्वरूप की तुलना कर के देखते रहें कि वास्तव में यह चेतन ब्रह्म का स्वरूप है। जैसे चित्त में मिले हुए अपने स्वरूप की अनुभूति होती है, ऐसे ही सूक्ष्म कारण कार्य में व्याप्त हुए ब्रह्म की अनुभूति होनी चाहिये।

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श-तन्मात्रा का चतुर्थ रूप)

४. स्पर्श-तन्मात्रा के अन्वय रूप में—स्पर्श-तन्मात्रा का मूल-प्रकृति के साथ परम्परागत कारण कार्य रूप सम्बन्ध स्पर्श-तन्मात्रा का अन्वय है। स्पर्श-तन्मात्रा का कारण क्या है? उस कारण का कारण क्या है? अन्तिम कारण किस अकारण, अपरिणामिणी मूल-प्रकृति का है। इस प्रकार कारण के कारण को जानना स्पर्श-तन्मात्रा का अन्वयरूप जानना है।

समष्टि तमः ग्रहंकार समष्टि-स्पर्श-तन्मात्रा का कारण है। समष्टि महत्तमः समष्टितमः ग्रहंकार का कारण है। ग्रव्यक्त ग्रपरिणामी नित्य मूल प्रकृति समष्टि महत्तमः का कारण है। इस मूल-प्रकृति में ही स्पर्श-तन्मात्रा का इस प्रकार परम्परागत ग्रन्वय है। यह स्पर्श-तन्मात्रा की वंशावलि है।

मूल प्रकृति ग्रजन्मा है, ग्रतः नित्य है। स्थिति इसका स्वरूप है। प्रभु के सन्निधान से इस में ज्ञान ग्रौर क्रिया गुण ग्राये। ग्रपने स्वरूप ग्रौर गुणों के साथ ग्रपने परम्परागत सब कार्यों में इसका ग्रनुपतन हुग्रा है। प्रकृति का कोई कारण नहीं, प्रकृति किसी का परिणाम नहीं, किसी का कार्य नहीं, पर कार्यों में परिणत होती जाती है। स्पर्श-तन्मात्रा में ग्रपने स्वरूप ग्रौर गुणों को लिए ग्रनुपतित हुई है। प्रकृति की सत्ता से ही स्पर्श-तन्मात्रा है। प्रकृति है तो स्पर्श-तन्मात्रा ग्रौर उस के कार्य हैं। कारण प्रकृति के गुण कार्य रूप स्पर्श-तन्मात्रा में ग्राये हैं। बहुत लम्बी परम्परा के कारण सत्ता रूप धर्म ही स्पर्श तन्मात्रा में मुख्यतः ग्राया है। इस लिए स्पर्श-तन्मात्रा में स्पर्श की सत्ता है। स्पर्श रूपेण इसका बोध होता है। प्रकृति का ज्ञान ज्ञेयत्व रूप से स्पर्श में ग्राया है। स्पर्श के द्वारा जब कुछ जाना जाता है, तो ज्ञान भी ग्रव्यक्त से रूप में इसमें ग्राया प्रतीत होता है। प्रकृति की क्रिया तो इस में ग्राकर विलुप्त सी हो गयी हैं, स्पर्श कहीं स्वयं जाता नहीं। किसी के ग्राश्रय से गमन इस में ग्राया सूक्ष्म-रूपावशिष्ट क्रिया का द्योतक है। इस प्रकार स्पर्श-तन्मात्रा में ग्रन्वय-धर्म वर्त्तमान है।

स्पर्श-तन्मात्रा के ग्रन्वय रूप में ब्रह्म की सूक्ष्म रूप-व्यापकता का ग्रनुभव करना चाहिये। क्योंकि किसी पदार्थ की भी परिणत होती हुई ग्रवस्था चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से ग्रलग नहीं रह सकती। ग्रतः इस ग्रनुपतन ग्रौर इसके निमित्त-कारण ब्रह्म का भी विज्ञान ग्रभ्यास में साथ-साथ करना चाहिये। जिससे ब्रह्म की सर्व-व्यापकता ग्रौर सन्निधानता ग्रनायास ही हृदयंगम होती जाये।

समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श-तन्मात्रा का पञ्चम रूप)

५. स्पर्श-तन्मात्रा के ग्रर्थवत्त्व रूप में—यह स्पर्श-तन्मात्रा स्थूल भूत वायु में मुख्य रूप से उपादान कारण होती है। इस का एक ही धर्म मुख्य रूप से स्पर्श है। जिस की स्थूल सूक्ष्म में सर्वत्र ग्रनुभूति होती है। सूक्ष्म शरीर में इस की प्राण-रूप से प्रतिष्ठा है। वहाँ इसका ग्राहार रूप में भी उपभोग होता है। जैसे स्थूल लोक में भूमि के पास की वायु प्राणदा है, मानव के जीवन का ग्राधार है। इसी प्रकार पृथिवी-तन्मात्रा की निकटवर्त्ती यह स्पर्श-तन्मात्रा सूक्ष्म शरीरों के लिये प्राणदा होती है। हर प्रकार से सूक्ष्म शरीरों का पालन-पोषण तर्पण करती है। यही इसका ग्रर्थवत्त्व है।

जब तन्मात्रायें प्रलय-काल में प्रवेश करती हैं, तब यह ही इनका संहार करने में भाग लेती है। प्रत्येक तन्मात्रा को गति-प्रदान करती है। इसके कारण चारों तन्मात्राग्रों के परमाणुग्रों में सदा कम्पन बना रहता है। चाहे गतिशील हो या स्थित, इसके कारण कम्पन ग्रवश्य होता है। यह भी इसकी ग्रर्थवत्ता है। इसकी ग्रर्थवत्ता में ब्रह्म का ग्रनुभव करना चाहिए।

यह अध्यात्म-वादियों का परिणाम इतनी सूक्ष्म अवस्था पर पहुँचा है कि जिस की साधारण व्यक्ति कल्पना ही नहीं कर सकता। वह समझ ही नहीं सकता है। यह उसकी पहुँच से परे है।

प्रत्यक्ष-वादियों की भ्रान्ति

प्रत्यक्षवादी अभी भ्रान्त ही हैं क्योंकि वे प्रत्येक पदार्थ को स्थूल इन्द्रियों का विषय मानते हैं। जो पदार्थ इन को प्रत्यक्ष न हो, वह संसार में है ही नहीं। ऐसी इन की मान्यता है। ध्यान समाधि में इनका विश्वास ही नहीं है। जिन के द्वारा इन सूक्ष्म परार्थों को जाना जा सकता है। जो सूक्ष्म पदार्थ अभी इन की समझ में नहीं आये हैं, उन्हें कुछ स्वीकार तो करते हैं, परन्तु कहते हैं कि हम अपने विज्ञान के आधार पर प्रत्यक्ष करके इनके विषय में कुछ कहेंगे। जैसे मन का अनुमान तो करते हैं, प्रत्यक्ष रूप से देख नहीं पाये हैं। हमारा कथन है कि जैसे आप मन को स्वीकार करते हैं, पर अभी प्रत्यक्ष नहीं कर पाये हैं। इसी प्रकार तन्मात्रा और स्पर्श के विषय को भी स्वीकार करना चाहिये।

इस शरीर का अभिमानी जीवात्मा है। और इस सृष्टि का कर्ता ईश्वर भी है। यहाँ ये लोग कहते हैं, जब देखेंगे तो मान लेंगे। इसी प्रकार अन्य अनेक भ्रान्त आत्मायें संकार में हैं।

सूक्ष्म भूत वायु जैसे सूक्ष्म रूप से संसार में सूक्ष्म भूतों और पदार्थों को क्रिया करा रहा है। इसी प्रकार इसके अन्दर भी एक चेतन सत्ता है जो प्रत्येक परमाणु को अन्तर्यामी रूप से क्रिया शील कर रही है। इस समष्टि स्पर्श-तन्मात्रा में ब्रह्म का अध्यारोप कर के उपासना और विज्ञान करना चाहिये। वह अन्तर्यामी रूप से प्रत्येक कण-कण को चेतनवत् बनाये हुए है। यह उस ही चेतन की महती, अपार एवं अनन्त शक्ति है। इस चेतन सत्ता ने इन जीवों पर अनन्त उपकार किये हैं। जिस के ऋण से अनेक जन्मों में उऋण नहीं हो सकते हैं, यदि इस को ऋण ही समझा जाये तो। परन्तु ब्रह्म से तो यह कार्य होना ही है। चाहे हम ऋण समझें या न सकझें। चाहे उस की भक्ति उपासना या पूजा करें या न करें। वह नहीं कहता कि मेरी पूजा करो, ध्यान करो, भक्ति करो। किन्तु हमें ही एक लज्जा सी आती है कि जिसने हमारे लिये अनेक पदार्थ बनाये, उपकार किये, उसका धन्यवाद भी नहीं करते हैं। हमें अपना जीवन कुछ कृतघ्न सा प्रतीत होने लगता है। इसी लिये ईश्वर के प्रति श्रद्धा भक्ति विश्वास की भावना कर के उऋण होने के लिये बाध्य होना मानव का कर्तव्य हो जाता है, कि उसकी पूजा, जाप, उपासना, ध्यान किया जाये। इससे मानव की बुद्धि और चित्त शान्त होते हैं। और विकारों से बचे रहते हैं। अपनी ससीमता की-तुच्छता की अनुभूति होने लगती है। अहंकार भावना जाती रहती है। महान् समुद्र की जल राशि के सामने अपने आप को एक छोटे जलबिन्दु के समान समझने लगता है। उस भगवान् के निष्काम कर्म को देख कर स्वयं ही निष्काम कर्म करने की भावना बनती है। भगवान् के कर्तृत्व के निरभिमान-भाव को देख कर स्वयं भी निरभिमानी बनने का यत्न करता है। अनेक पाप कर्मों और बुराईयों से बचता है। जीवन सुखी और शान्त बनता है। ज्ञान और वैराग्य की भावना दृढ़ होती है। दुःखों से निवृत्ति

का उपाय करता है। भगवान् के समान दया और दान की भावना उपजती है। भगवान् को अपनाने का विशेष प्रयत्न करता है। संसार के भोगों से उदासीन होने लगता है। संसार को परिणामी, अनित्य एवं निस्सार समझ कर ज्ञान और वैराग्य के पथ को दृढ़ करता है। आध्यात्मिक, आधिभोतिक, आधिदैविक परिणाम ताप संस्कार रूप दुःखों के स्वरूप को समझ कर इन से अलग होने की, निवृत्त होने की भावना प्रबल हो जाती है। इन साधनों से मोक्ष का मार्ग सुन्दर, सरल, निरातंक, निर्भय, निष्कण्टक, सुखदायक, आनन्द प्रद प्रतीत होने लगता है और इसी जीवन में मुक्त हो जाता है।

इति समष्टि स्पर्शतन्मात्रा मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थः खण्डः

इति पञ्चविशंमावरणम्।

पञ्चम खण्ड

२४वाँ आवरण

समष्टि शब्द-तन्मात्रा मण्डल

पाँचों रूपों में ब्रह्मदर्शन

समष्टि शब्द-तन्मात्रा सदा आकाश मण्डल में सुरक्षित कोष के रूप में सुरक्षित हैं। जिस से व्यष्टि शब्द-तन्मात्रा उत्पन्न हो हो कर योगियों, सूक्ष्म-शरीराभिमानियों के उपभोग में आती है, वह ही समष्टि शब्द-तन्मात्रा का सुरक्षित कोष है। समष्टि शब्द-तन्मात्रा का स्तर सब से अन्तिम स्तर है। पर यह अन्य पृथवी जल अग्नि वायु की समष्टि तन्मात्राओं में व्याप्त सी हो कर रहती है अतः विशेष स्तर के अतिरिक्त समस्त आकाशमण्डल में शब्द-तन्मात्रा उपलब्ध होती है।

प्रतिक्षण असंख्य व्यष्टि शब्द-तन्मात्रायें प्राणियों का उपभोग सम्पादन करती हैं। अपना कार्य पूरा कर फिर समष्टि में जा मिलती हैं। उधर समष्टि शब्द-तन्मात्रा भी प्रतिक्षण व्यष्टि शब्द-तन्मात्राओं की असंख्य तन्मात्राओं की व्युत्पत्ति करती रहती है। ब्रह्म के सम्पर्क से चेतन सी बनी शब्द-तन्मात्रा इस करण कार्य रूप परिणाम चक्र को घुमाती रहती है। समष्टि शब्द-तन्मात्रा के भी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, और अर्थवत्त्व पांच रूप हैं। उन पाचों रूपों, उनमें क्रमशः होते परिणामों को भी योगी को साक्षात्करना है, साथ ही उनके प्रेरक नियामक सर्वत्र विद्यमान भगवान् की चेतन-सन्निधानता को भी सर्वत्र प्रत्यक्ष करना है।

समष्टि शब्द-तन्मात्रा मडण्ल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(शब्द तन्मात्रा का प्रथम रूप)

१. शब्द-तन्मात्रा के स्थूल रूप में—

आकाश का पूर्वरूप शब्द-तन्मात्रा है। यह शब्द-तन्मात्रा ही आकाश महाभूत में पलटी है। शब्द-तन्मात्रा आकाश की अनुद्भूत सूक्ष्म अवस्था है। आकाश शब्दतन्मात्रा की उदभूत अवस्था है। शब्द-तन्मात्रा का ज्ञान सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। श्रोत्र तो बाहर कनपटी पर दिखाई देते हैं। पर सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय ब्रह्म-रन्ध्र में सूक्ष्म शरीर में रहती है। श्रोत्र स्थूलेन्द्रिय हैं, और अन्नमय शरीर का भाग हैं। स्थूल शब्द स्थूल श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है। और यही स्थूल शब्द सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचते-पहुँचते सूक्ष्म शब्द-तन्मात्रा के रूप में बन जाता है। स्थूल शब्द का उपभोग स्थूल शरीर कर लेता है। और सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय जिस का ग्रहण करती है वही शब्द-तन्मात्रा है सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय सूक्ष्म शरीर के एक भाग बुद्धिमण्डल में अन्य सूक्ष्मन्द्रियों के साथ रहती है। स्थूल शब्द का व्यवहार प्राणीमात्र करते हैं। सूक्ष्म दिव्य शब्द-तन्मात्रा का व्यवहार उपभोग योगी, सूक्ष्म शरीराभिमानी आकाशचारी आत्मायें अथवा स्वर्गस्थ आत्मायें करती हैं।

शब्द-तन्मात्रा कहें या आकाश-तन्मात्रा बात एक ही है। यह परिणाम भाव को प्राप्त होते हुए अनेक सूक्ष्म शब्दों को गुणों के रूप में उत्पन्न करती है। जो कि दिव्य लोक में प्रयुक्त होते हैं और इस लोक में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में और दश प्रकार के नाद के रूप में प्रकट हुए हैं। हारमोनियम आदि का सप्तक षड्ज, रैवत, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद यह सब आरोह अवरोह के भेद से शब्द-तन्मात्रा के परिणामात्म कार्य स्वरूप ही विभिन्न विभिन्न भेद हैं।

शब्द के विषय में अनेक वाद विवाद हैं। कोई इसे अनित्य कहते हैं, कोई इसे नित्य मानते हैं। हम इससे कार्य रूप से अनित्य और कारण रूप से नित्य कहते हैं। संयोग से प्रकट होता है इस लिये अनित्य है। सूक्ष्म रूप से कारण में वर्त्तमान था, संयोग ने इस को प्रकट कर दिया, इसलिये नित्य है। प्रादुर्भाव इस का आकाश में ही होता है। अन्यत्र इस के लिये कोई स्थान ही नहीं है। आकाश सर्वत्र है। अतः शब्द जहाँ भी होगा, वह आकाश में होगा। शब्दतन्मात्रा को दिव्य शब्द भी कहते हैं, यह सूक्ष्म शरीर की कर्णेन्द्रिय का विषय है। इसका उपभोग सूक्ष्म शरीर द्वारा होता है जब योगी का सूक्ष्म-भूतों पर अधिकार हो जाता है। वह भी इच्छा पूर्वक संकल्प द्वारा इसको सुन लिया करता है और सूक्ष्म-शरीरों के शब्द संकेतों की भी समझने की योग्यता हो जाती है। ध्यान काल में योगी दिव्य शब्दों को सुना करता है। दश प्रकार के नादों के सूक्ष्म शब्दों को योगी सुनता है। उन पर ध्यान लगाता है। जो बाहर के स्थूल शब्दों से विचित्र, मनोरञ्जक एवं मन बुद्धि को समाहित करने में अत्यन्त ही उपयोगी होते हैं, और भी नाना प्रकार के सूक्ष्म शब्दों को योगी सुनता है, जिनको आकाशवाणी के रूप में प्रायः कहा करता है। इन से अनेक प्रकार के विज्ञान प्राप्त कर के भविष्य वाणी के रूप में साधकों को सुनाया करता है।

ये सब शब्द-तन्मात्रा के ही परिणात्मक नाना प्रकार के शब्द गुणात्मक विषय होते हैं। जब योगी को इसका रहस्य समझ में आ जाता है, और दिव्य शब्द पर अधिकार हो जाता है, तब सिद्धों के दर्शन के समय में उन से वार्ता करके विज्ञान प्राप्त करने की शक्ति भी योगी में हो जाया करती है। यदि दिव्य शब्द पर संयम करके अधिकार प्राप्त न किया हो तब सिद्धों का केवल दर्शन ही हो कर रह जाया करता है। इसके विषय में योग दर्शन ने भी इस प्रकार लिखा है, यथाः—

'ततः प्रातिभश्रावण-वेदनादर्शास्वाद-वार्ताः जायन्ते'

योग दर्शन-विभू० पा०. ३। सू ३६

प्रातिभ विज्ञान के द्वारा सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-अतीत अनागन ज्ञान प्राप्त होता है। और दिव्य-शब्द, दिव्य-स्पर्श, दिव्य-रूप, दिव्य-रस, दिव्य-गन्ध का विज्ञान हो जाता है।"

अभ्यास काल में योगी अपने साधक अभ्यासी पर दूर देश में भी अपने विज्ञानात्मक शब्दों द्वारा सन्देश भेजा करता है। वे शब्द उसी प्रकार के विज्ञान या पदार्थ बोध का हेतु बन जाते हैं। कई बार ऐसा भी करके देखा गया है यदि कोई परिचित या अपरिचित—जिसके आकार आदि का कुछ विवरण मिल गया हो, दूर देश में उसके ऊपर ताड़ना के शब्दों का प्रयोग किया जाये या ऐसा कहा जाये कि यह काम नहीं करना है तो उस व्यक्ति पर ये शब्द अवश्य प्रभाव डालते हैं। वे वाणी से निकले हुए स्थूल शब्द

आकाश में गमन करते हुए सूक्ष्म-भाव को प्राप्त होकर उसके मन पर प्रभाव डाल कर उसे उस कार्य में प्रवृत्ति से रोक देते हैं। ऐसा अनेक बार करके देखा गया है। और यथार्थ निकला है।

शब्द-तन्मात्रा पर योगी का कुछ अधिकार हो जाने से दिव्य शब्द की अनुभूति स्वयं भी होती है, और दूसरे को अनुभव कराने में भी समर्थ हो जाता है।

एक योगी का चमत्कार

एक योगी मेरे पास कुछ काल तक अमृतसर में नहर पर मोती राम की बगीची में रहे थे। उन्होंने कई बार उपदेश रूप में मेरे पास नीचे से ऊपर के कमरे में सन्देश भेजे थे। वे पहिले अपने पास लिखकर रख लेते थे। मुझे भी समझाया हुआ था कि आप भी सन्देश जैसा समझ में आवे कागज पर नोट कर लिया करो। अमुक समय मेरे पास ले आया करो और दोनों नोटों का मिलान किया करो।

दोनों ओर के लेखों की बातें प्रायः समान ही हुआ करतीं थीं। केवल भाषा का ही कुछ अन्तर होता था, लिखा हुआ विषय पत्रों का समान ही होता था।

इनके अन्दर कई सिद्धियां थीं। एक खद्दर की चद्दर और दो लंगोटी केवल इनके पास थीं न कोई अन्य वस्त्र, न बरतन। कुछ भी तो और न रखते थे। कमज़ोर दुबला पतला सा शरीर था। किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। मैं इन्हें नित्य साबुत मूंग पका कर घी डाल कर दिया करता था। २४ घन्टे में बहुतथोड़ा सा यही आहार था। २, ३ मास ही वहां रहे। अन्त में अन्तर्धान होकर चले गये थे। फिर कभी कहीं भी न मिले। वे बाङ्गर देश के सन्त थे। इन्होंने कुटिया के अन्दर समाधि में बैठकर बाहर से मेरे से ताला लगवा कर पहरा बठाया था, ४ दिन तक। परन्तु जब चौथे दिन ताला खोला गया तो वे अन्दर नहीं मिले थे।

यह शब्द-तन्मात्रा का विषय अत्यन्त ही सूक्ष्म और गहन है। यह सूक्षम शरीरों, योगियों और अन्तरिक्ष में रहने वाले सूक्ष्म शरीरों के भोगने, व्यवहार में लाने या प्रयोग करने का विषय है। एकान्त में रहकर निरन्तर अभ्यास करने, और अन्तर्मुख वृत्ति होने से इस पर बहुत कुछ अधिकार हो जाता है। बाह्य मुख वृत्ति में इस विषय का ह्रास होता है।

इस आकाश-तन्मात्रा में सब सूक्ष्म भूतों और सूक्ष्म शरीरों का व्यवहार होता है, जैसे स्थूल आकाश में स्थूल भूत और स्थूल शरीरों का व्यवहार होता है। यह शब्द-तन्मात्रा सात्त्विक, राजस, तामस भेद से सूक्ष्म जगत् के लिये महान् उपकारक है। योगी भी इस से अपना अनेक कार्य करते हैं।

तमः प्रधान अहंकार से सर्व-प्रथम इसी की उत्पत्ति हुई है। इसके पश्चात् जो जो भूत उत्पन्न होते गये यह सबका आवास स्थान बनती गयी। सबको अपने अन्दर धारण किया। इस आकाश-तन्मात्रा के अनेक परिणामात्मक शब्द धर्म है और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म। अर्थात् स्थूल शरीर की श्रोत्रेन्द्रिय से जो स्थूल शब्द सुनाई देते हैं उनसे अत्यन्त सूक्ष्म और विलक्षण हैं। स्थूल शब्द की गति भी अत्यन्त तीव्र और सूक्ष्म है।

यह शब्द सहस्रों मील सैकिण्डों में पहुंच जाता है। अमरीका में रेडियो स्टेशन पर भाषण होता है, और वह सैकिण्डों में भारत पहुंच जाता है। वहां यह शब्द कण्ठ, तालु, दन्त ओष्ठ आदि के संयोग से ही उत्पन्न हुआ था।

इस आकाश-तन्मात्रा का बहुत विस्तृत, व्यापक, एवं सूक्ष्म प्रसार है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म जगत् ओत-प्रोत होकर ठहरे हुए हैं। इतना सूक्ष्म होते हुए भी इतने बड़े ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए है। इसकी शक्ति और बल का वर्णन ही नहीं हो सकता है। इस सूक्ष्म शब्द-तन्मात्रा में उस चेतन सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ब्रह्म का अध्यारोप करके इसको अपनी उपासना और विज्ञान का विषय बनाना चाहिये। यह सूक्ष्म विज्ञान की अत्यन्त पराकाष्ठा है। इस अवस्था में ही पहुंच कर भगवान् की सूक्ष्मता की पूर्ण अनुभूति होती है। यदि इस आकाश-तन्मात्रा में भगवान् का आरोप करके विज्ञान प्राप्त किया जाये तो सब कामनायें शान्त हो जाती हैं। सब विषय निवृत्त हो जाते हैं। अन्तः करण में शून्यता छा जाती है। सब विषय-भोगों का अभाव हो जाता है। यहां आकर वशीकार संज्ञक वैराग्य हो जाता है। ऐहिक और स्वर्गीय सब विषयों का अभाव हो जाता है। यहां पहुंच कर दोनों प्रकार के भोगों का आभास तक समाप्त हो जाता है। अथवा यहां सूक्ष्म शब्द अर्थात् ओङ्कार में भगवान् का अध्यारोप करके इस शब्द-तन्मात्रा द्वारा ब्रह्मोपासना या ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अथवा 'ओम् खं ब्रह्म' इस रूप में उपासना और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह सूक्ष्म आकाश ही ब्रह्म रूप है क्योंकि ब्रह्म इसमें व्यापक है। यदि भगवान् को किसी रूप में ही देखना है तो इस शब्द-तन्मात्रा के रूप में ही देखना चाहिये। यही मानव मात्र की उपासना का विषय होना चाहिये। यह उपासना का विषय होते हुए भी निर्विषय ब्रह्म की उपासना या विज्ञान है। यह शब्द-तन्मात्रा सूक्ष्म आकाश रूप ही है। अतः इसमें ही 'शब्दो वै ब्रह्म' इस रूप में ब्रह्मोपासना करनी चाहिये।

आकाश सूक्ष्म भूत की अनित्यता

(शंका) आप आकाश-तन्मात्रा (शब्द-तन्मात्रा) की भी उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु न्याय वैशेषिक तो आकाश को नित्य मानते हैं। आप आकाश-तन्मात्रा के अनित्यत्व का ठीक रूप से समाधान करें, ताकि हमारी समझ में भी आ जाये।

(समाधान) सूक्ष्मता की दृष्टि से योग और सांख्य, न्याय वैशेषिक से बहुत आगे बढ़ गये हैं। जिन सूक्ष्म परमाणु रूप भूतों को न्याय वैशेषिक नित्य मानते हैं, योग सांख्य इनको अनित्य मानते हैं। सब पदार्थों का मूल-उपादान कारण प्रकृति को ही बताते हैं। अतः इस सिद्धान्त की दृष्टि से ये सूक्ष्म भूत कार्यात्मक ही सिद्ध होते हैं। न्याय वैशेषिक इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। और मन (अन्तःकरण) को नित्य और अणु-प्रमाण मानते हैं। बुद्धि को गुण मानते हैं, जो आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होती है। इस प्रकार परस्पर विचार भेद है। दर्शनों में योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक इन चार दर्शनों ने ही पदार्थों का विवेचन अच्छी तरह से किया है। इनमें भी सांख्य और वैशेषिक ने विशेष प्रकार से विवेचन किया है।

जब प्रकृति से सृष्टि का आरंभ होता है तब सर्वप्रथम छः पदार्थों की उत्पत्ति होती है। आकाश, काल, दिशा, सत्त्व, रजः, तमः ये प्रकृति के प्राथमिक कार्य-विशेष हैं। सृष्टि के निर्माण में ये अन्त तक कार्य रूप में परिणत होते जाते हैं। न्याय वैशेषिक ने आकाश, काल, दिशा प्रकृति के इन तीन कार्यों को नित्य मानकर इनके आगे होने वाले कार्यों को ही समाप्त कर दिया है। हम इन्हें अनित्य मानते हैं और इनको कार्यरूप दिया है, क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही अनित्य होगा। उसको अनित्य ही मानना पड़ेगा। प्रलयकाल में ये सब अपनी कारण रूप प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। सर्वप्रथम परिणाम भाव को प्राप्त होकर आकाश, काल, दिशा कार्यरूप में आये हैं। अतः इनका कार्यान्तिर भी होना ही है। योग सांख्य ने तो आकाश को कार्यान्तर में कर दिखाया है और सांख्य ने दिशा और काल को अकाश के अन्तर्गत करके एक सूत्र का निर्माण किया है यथा—

'दिक्कालावाकाशादिभ्यः'

सांख्य अ० २। सू० १२।

—भाष्यकार और वृत्तिकार आदि ने काल दिशा को आकाश की उपाधि से विशिष्ट समझकर इनको आकाश के अन्तर्गत कर दिया है। वृत्तिकार ने तो लिखा है, नित्य जो दिशा और काल हैं वे आकाश के प्रकृति भूत होकर, प्रकृति के ही गुण विशेष हैं। जब इन्हें प्रकृति का गुण-विशेष माना है, तब तो ये कार्यात्मक ही सिद्ध होते हैं। जैसे कि सत्त्व रज तम कार्यात्मक पदार्थ हो गये हैं। इसी प्रकार आकाश, काल, दिशा को भी कार्यात्मक ही मानना चाहिए। अतः आगे आकाश से आकाश, काल से काल और दिशा से दिशा की उत्पत्ति होती माननी चाहिए क्योंकि ये तीनों ही अनित्य हैं, जैसे सत्त्व रज तम ने अपने कार्यान्तरों को उत्पन्न किया है, इसी प्रकार आकाश काल दिशा ने भी परिणाम भाव को प्राप्त होकर अपने-अपने कार्यों को उत्पन्न किया है।

वैशेषिक के षट् पदार्थ

वैशेषिककार ने जो ६ पदार्थ माने हैं वे वास्तव में कारण प्रकृति के अन्तर्गत ही समझने चाहियें। १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. सम्वाय। ये ६ पदार्थ हैं। द्रव्य ९ माने हैं—१. पृथिवी, २. अप्, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिशा, ८. आत्मा, ९. मन। इनमें आत्मा को छोड़ कर शेष आठ प्रकृति के कार्य होने से इसके अन्तर्गत हो जाते हैं। इन्होंने वायु, आकाश, काल, दिशा, मन, आत्मा को नित्य माना है। शेष पृथिवी, अप्, तेज इन तीन को अनित्यनित्य माना है।

योग सांख्य ने गुण गुणी का अभेद माना है। अतः २४ प्रकार के गुण जो वैशेषिक मानता है, ये प्रकृति का कार्य होने से स्वरूप सम्बन्ध से प्रकृति के अन्तर्गत हो जाते हैं। कर्म तो कारण और कार्यों में सदा ही बना रहता है। अतः यह भी प्रकृति के अन्तर्गत हो जाता है। यह प्रकृति का गुण विशेष ही है क्योंकि यह सूक्ष्म रूप से साम्यावस्थारूप प्रलयकाल में और स्थूल रूप से कार्य सृजन, और सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलयकाल तक बना रहता है। सामान्य और विशेष दोनों पदार्थ योग सांख्य में धर्म धर्मी के अभेद से गतार्थ हो जाते हैं। जैसे प्रकृति के सत्त्व, रज, तम तीन गुण प्रकृति से भिन्न

नहीं हैं, इसके ही परिणाम विशेष हैं। कार्य रूप से अनित्य, कारण रूप से नित्य। अतः सामान्य रूप से प्रकृति और विशेष रूप से सत्त्व रज तम ये अयुतसिद्ध द्रव्य ही प्रकृति हैं।

रहा सम्वाय सम्बन्ध। यहाँ स्वरूप सम्बन्ध प्रकृतिरूप धर्मी अपने सत्त्व, रज, तम धर्मों से अलग नहीं होता है। क्योंकि कारण कार्य के साथ सदा सूक्ष्म रूप से बना रहता है। जैसे सोना कुण्डल के रूप में बना रहता है। अतः प्रकृति भी सत्त्व रज तम गुणों में विद्यमान रहती है। सो वैशेषिक का सम्वाय सम्बन्ध योग का स्वरूप सम्बन्ध ही है। गुण और गुणी का अभेद होने से सम्वाय सम्बन्ध भी प्रकृति के अन्तर्गत हो जाता है।

वैशेषिक के ६ पदार्थ अनित्य होने से प्रकृति के ही कार्य विशेष हैं। अतः प्रकृति के अन्तर्गत हो जाते हैं। इसी हेतु से हमने आकाश, काल, दिशा को अनित्य मानकर कार्य रूप माना है।

'प्रकृति-पुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्।'

सांख्य० अ० ५। सूत्र ७२।

—प्रकृति और पुरुष—अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा से भिन्न सब कुछ अनित्य है।

शब्द की अनित्यता

शब्द को बहुत से लोग नित्य मानते हैं, परन्तु उत्पन्न होने वाली वस्तु नित्य नहीं हो सकती है। आकाश अनित्य है क्योंकि शब्द-तन्मात्रा से परिणत हुआ है। कार्य रूप में आया है। कार्य अनित्य ही होता है, इसी प्रकार शब्द तन्मात्रा भी तमः प्रधान अहंकार का परिणाम है अतः अनित्य है।

आज के विज्ञानवादी

वर्तमान के विज्ञानवादी ४।५।१० हजार वर्षों के शब्दों को पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं। पर वह भी शब्दों का पकड़ना नहीं होगा। वह तो ऐसे ही होगा, जैसेकि फोनोग्राम के रेकार्ड पर या टेपरैकार्ड के टेप पर शब्द प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। ऐसे ही २।४।१० हजार वर्षों के शब्द भी पृथिवी के भागों पर अंकित या प्रतिबिम्वित मिल सकते हैं। एक प्रकार से इनको शब्दों का संस्कार ही समझना चाहिए। जैसे कि अन्तःकरण पर संस्कार पड़े हुए हैं। इसी प्रकार बाहर के रैकार्ड पर भी समझना चाहिए।

वास्तव में यह सब भौतिक विज्ञान का विकास है—रेडियो पर शब्द का पकड़ना टेलीविजन पर रूप को पकड़ना। रेडियो और टेलीविजन की मशीनें पार्थिव हैं, अतः पार्थिव पदार्थों पर शब्द और रूपों को अंकित कर लिया है। ऐसे ही शरीर में भी तो पार्थिव पदार्थ अधिक हैं। कान शब्द को पकड़ता है और यह आंख रूप को पकड़ती है। इस शरीर रूपी प्राकृतिक मशीन का अनुकरण ही यह मानव की ईजादें, रचनायें या कृतियाँ हैं। इन स्थूल इन्द्रियों के बेकार हो जाने पर कृत्रिम इन्द्रियरूपी मशीनें आंख, नाक, कान आदि लोक व्यवहार के लिए, अपने सुख और आराम के लिए मानव ने बना लिए हैं। यह मानव की बुद्धि का विकास है। उस प्रकृति या कुदरत का ही अनुकरण है।

इस स्थूल शरीर की इन्द्रियों से भिन्न इनसे भी सूक्ष्म, सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म इन्द्रियाँ ब्रह्म-रन्ध्र में हैं; जिनके आधार पर ये स्थूल शरीर आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियां और यन्त्र रूपी कृत्रिम इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। जब यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर चल देता है, तब उस स्थूल शरीर को मृत शव समझकर अग्नि, जल, भूमि आदि में फैंक देते हैं। अतः यह जीवित शरीर की आंखें, कान आदि तथा इनके स्थानापन्न कृत्रिम आंख कान आदि के यन्त्र सब सूक्ष्म इन्द्रियों के ही उपकरण मात्र हैं। करामात तब होगी जब भौतिक विज्ञानवादी शरीर के मृत हो जाने पर कई वर्ष या मास के पश्चात् उसमें कृत्रिम यन्त्र रूपी इन्द्रियों का संयोग करके उस शरीर को पुनः जीवित कर कार्य रत कर देवें। जब यह भौतिक विज्ञान से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विज्ञान के सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करेंगे तब सम्भव है सूक्ष्म शरीर पर और सूक्ष्म तन्मात्राओं पर इस लोक के समान अधिकार करलें। जैसे योगी करते हैं, परन्तु हमारी दृष्टि में ये फिर योगी ही कहलायेंगे।

योगी की हेय उदासीनता

अत्यन्त खेद का विषय है कि जब हमारे भारतीय योगी अध्यात्मिक विज्ञान में कुछ प्रवेश करके कुछ सफलता प्राप्त करने लगते हैं। थोड़ी-सी विभूति के प्राप्त होने पर सन्तुष्ट होकर व्यर्थ में दुरभिमानी हो, आलसी, प्रमादी, भोगी विलासी बन जाते हैं। सब कुछ करा कराया नष्ट कर लेते हैं। प्रकृति का अन्त नहीं, अतः इसकी विभूतियों का भी अन्त नहीं है। जिस प्रकार दुनियादार लोग संसार के पदार्थों और ऐश्वर्यों की प्राप्ति में अहर्निश लगे रहते हैं। हतोत्साह नहीं होते हैं, दिन प्रतिदिन उन्नति करते चले जाते हैं। मरण पर्यन्त कहीं रुकते ही नहीं। इसी प्रकार योगी को भी सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करके रुकना नहीं चाहिये। दिन-प्रतिदिन उन्नति ही करनी चाहिये। सब सूक्ष्म पदार्थों पर अधिकार करना चाहिये। उनकी सूक्ष्मता के विज्ञान को बढ़ाना चाहिये। थोड़ी-सी विभूति से सन्तुष्ट होकर आलसी, प्रमादो, भोगी नहीं बनना चाहिये। इसका नाम त्याग वैराग्य नहीं है जो अनमिले के त्यागी वैरागी बन जाते हैं। यदि एक धनी है, उसमें धन ऐश्वर्य कमाने की कुशलता है, बल है, शक्ति है, बुद्धि है, पराक्रम है, तो उसको भी उस में सन्तुष्ट होकर आलसी, प्रमादी, अकर्मण्य, दीर्घ सूत्री, भोग विलासी नहीं बनना चाहिये। उसको अपने लिये जरूरत नहीं है तो उसको दीन-दुखी, अनाथ, विधवा, निर्धनों, असाहयों के लिये अपने धन ऐश्वर्य को देकर उनके दुःखों को निवारण करना चाहिये। तब ही वह धनी यथार्थ सच्चा त्यागी वैरागी हो सकता है। योगी को भी यदि अपने लिये उस अध्यात्म विज्ञान या सूक्ष्म जगत् के ऐश्वर्य की आवश्यकता नहीं है तो उसे दूसरे अधिकार सेवाओं को प्रदान करते हुए त्यागी वैरागी बनना चाहिये। बुद्धिमत्ता दानी के लिये दोनों प्रकार के ऐश्वर्य केवल अपने भोग के लिये नहीं होने चाहिये। अपितु दूसरों के लिये होने चाहिये तब ही उसका त्याग और वैराग्य सिद्ध होगा।

यहां कई प्रकार से आकाश-तन्मात्रा या शब्द-तन्मात्रा में ब्रह्मोपासना और विज्ञान के क्रम लिखे गये हैं। योगी को इनके द्वारा शब्द-तन्मात्रा का साक्षात्कार; ब्रह्मोपासना तथा ब्रह्म-विज्ञान एवं ब्रह्म-साक्षात्कार करना चाहिये।

समष्टि शब्द-तन्मात्रा मण्डल
तिद्वीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(शब्द-तन्मात्रा का द्वितीय रूप)

२. शब्द-तन्मात्रा के स्वरूप में—शब्द-तन्मात्रा की यह दूसरी अवस्था है। शब्द-तन्मात्रा का धर्म शब्द है। यह शब्द धर्म शब्द-तन्मात्रा में सदा रहता है। सूक्ष्म भूत आकाश या आकाश-तन्मात्रा के जनेक गुण या धर्म है। आकाश-तन्मात्रा का शब्द आदि धर्मों के साथ अभेद है। आकाश-तन्मात्रा धर्मी और अनेक परिणामात्मक शब्द धर्म हैं। धर्म धर्मी का परस्पर अभेद है। यह भेद में अभेद का वर्णन है। यही वास्तव में स्वरूप सम्बन्ध है।

संसार में जितने भी शब्द हैं, चाहे मानव की भाषा हो, कोई सी भाषा हो, संस्कृत हिन्दी, अंग्रेजी, तामिल, तैलगू, गुजराती, महाराष्ट्री, पञ्जाबी, बंगाली, फ्रांसीसी, रूसी, जर्मन, जापानी, अरबी, फारसी, युनानी, संसार की हजारों भाषाओं में से कोई भी भाषा हो, पशु पक्षी की बोलियां हो, या नाना प्रकार के वाद्यों की धुनें हों, चाहे युद्ध का तुमुलरव हो, चाहे वायु की सायं-सायं या नदी की कलकल,या सुनसान वन के पत्तों की खड़-खड़ाहट हो, है यह सब सामान्य शब्द के निकटवर्त्ती अथवा दूरगामी परिणाम।

शब्द कभी भी शब्द-तन्मात्रा से अलग नहीं होता, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध है। शब्द-तन्मात्रा ऊपर दिखाये परिणामात्मक नाना प्रकार के शब्दों के साथ स्वरूप सम्बन्ध से अभेद है। शब्द का नाम शब्द-तन्मात्रा है, और शब्द तन्मात्रा ही शब्द है। इनकी अलग-अलग सत्ता नहीं। धर्म धर्मी एक ही हैं।

शब्द-तन्मात्रा कहो या दिव्य शब्द बात एक ही है। यह दिव्य शब्द आकाश के कारण भूत अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का समुदाय एक शब्द-तन्मात्रा है। दिव्य शब्द का अर्थ है शब्द का सूक्ष्म-रूप, यह शब्द-तन्मात्रा भी अपने परिणामात्मक धर्मों सहित विविध शब्दों के रूप में सूक्ष्म शरीरों के भोग में आती है। इसकी शब्द-रूप ही अवस्था है। परिणाम भाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म स्थूल भूतों में चली जाती है।

शब्द धर्म शब्द-तन्मात्रा में सदा अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी शब्द-तन्मात्रा में अनुस्यूत रहता है। शब्द-तन्मात्रा किस प्रकार अपने सामान्य विशेष धर्मों में अभेद रूप से परिणत होती रहती है। गुण-गुणी के स्वरूप सम्बन्ध में योगी को भेदाभेद का प्रत्यक्ष विज्ञान होना चाहिये, और इसी स्वरूप सम्बन्ध में सूक्ष्म रूप से चेतन ब्रह्म की भी व्यापक रूप से अनुभूति होना चाहिये।

समष्टि शब्द-तन्मात्रा मण्डल
तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(शब्द-तन्मात्रा का तृतीय रूप)

३. शब्द-तन्मत्रा के सूक्ष्म रूप में—समष्टि-शब्द-तन्मात्रा की उस पहली अवस्था को जिससे इसका परिणाम हुआ है, इसी का सूक्ष्म रूप कहेंगे। समष्टि तमः अहंकार ही इसका सूक्ष्म-रूप है। वह अपने कार्य विशेष समष्टि शब्द-तन्मात्रा में अनुस्यूत है। यह कारण कार्य का अयुत-सिद्ध समुदाय समष्टि शब्द-तन्मात्रा है। सूक्ष्म अंश अहंकार

के सामान्य और शब्द-तन्मात्रा विशेष तदात्मक अयुत-सिद्ध निरन्तर- अवयव सामान्य विशेष के भेद में अनुगत समुदाय ही द्रव्य की सूक्ष्म-अवस्था है। यह तमः प्रधान अहंकार कारण में कार्य-रूप शब्द-तन्मात्रा की सूक्ष्मता है। इसी शब्द-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप कहते हैं।

आप सम्प्रज्ञात समाधि में प्रत्यक्ष करेंगे कि १.४ तमः प्रधान अहंकार में ०.५ सत्त्व और १.१ रजः प्रधान अहंकार की मात्रायें कैसे परिणाम पैदा करती है। वह कैसे शब्द-तन्मात्रा में परिवर्त्तित होता है। ब्रह्म की सर्व व्यापक चेतना ही इस अवसर पर संघात करने वाली प्रेरिका है। इसी ब्रह्म की विद्यमानता का आपको यहाँ अनुभव करना है।

समष्टि तमः अहंकार बुद्धिगम्य था। शब्द-तन्मात्रा में पलटा तो दिव्य श्रोत्र का विषय बन गया।

शब्द-तन्मात्रा की सूक्ष्मता को इस प्रकार समझ सकते हैं। हिमालय की कन्दरा में, एकान्त गुफा में योगी समाधिस्थ है। पास में ही अनीश्वरवादी नास्तिक चीन का फैंका गोला कन्दरा के समीप ही आ फटता है। अभिनिवेश-मुक्त, मृत्युजंय योगी उसी गोले की गडगडाहट पर ध्यान करता है। यह शब्द कैसा ? पहले कभी सुनने में आया नहीं। योगी थे, ध्यान मग्न तत्काल शब्द-तन्मात्रा सामने आयी। यह तो कारण है, इसका कार्य क्या है ? दिव्य दृष्टि फैंकी गोले की गडगडाहट सामने आयी। जाना यह शब्द-तन्मात्रा का परिणाम है और जान लिया। समाहित हो स्थूल से सूक्ष्म की ओर लौटे। शब्द-तन्मात्रा किस से परिणत हुई जाने तो, योगी ने संकल्प किया और शब्द-तन्मात्रा का पूर्वरूप कारणभूत तमः प्रधान अहंकार सामने था।

यहाँ इस प्रक्रिया में सामान्य तो तमः प्रधान अहंकार है और विशेष शब्द-तन्मात्रा है। इनका समुदाय ही आयुत सिद्ध द्रव्य शब्द-तन्मात्रा है। शब्द की विशेषता जिससे सामान्य शब्द के परिणत गुण गोले की गडगडाहट को जाना गया है। शब्द तन्मात्रा का परिणात्मक गुण है।

यही शब्द-तन्मात्रा का सूक्ष्म रूप है। आपने देखा, योगी ने इस परिणामात्मक सम्बन्ध को प्रत्यक्ष कर लिया। कारण में कार्य परिणाम सदा होता रहता है। योगी को अपनी ऋतंभरा बुद्धि से सूक्ष्म सम्बन्ध में प्रवेश करके यथार्थ विज्ञान का निश्चय करना चाहिये। साथ ही उस परिणाम क्रम में ब्रह्म का भी अनुभव करना चाहिये क्योंकि यहां अत्यन्त सूक्ष्म परिणाम क्रम है। इसमें सूक्ष्म ब्राह्मी चेतना का अनुभव अच्छी तरह हो सकता है।

समष्टि शब्द-तन्मात्रा मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्मविज्ञन

(शब्द-तन्मात्रा का चतुर्थ रूप)

४. शब्द-तन्मत्रा के अन्वय रूप में—

कार्योन्मुख मूल-प्रकृति का अपने कार्यों सहित अनुपत होते हुए शब्द तन्मात्रा में अन्वय हुआ है। यही शब्द-तन्मात्रा का अन्वय है। यही अन्वय रूप अवस्था है। सब कार्य रूप पदार्थों का अन्वय मूल-प्रकृति में है। अतः अन्वय अवस्था सब की समान है।

किसी में एक दो सीढ़ी कम किसी में अधिक यही भेद रहता है । प्रकृति का स्वरूप स्थिति है। ज्ञान और क्रिया गुण हैं । प्रकृति की स्थिति से ही शब्द तन्मात्रा की स्थिति है। प्रकृति के ज्ञान गुण के कारण शब्द-तन्मात्रा सर्वाधिक ज्ञान की प्रकाशिका बनी है। जितना भी ज्ञान है वह शब्द-तन्मात्रा अथवा उसके कार्यात्मक परिणामों से प्रकाश में आता है। शब्द और ज्ञान का नित्य सम्बन्ध बन गया है। बिना शब्द के ज्ञान की सत्ता ही नहीं। ज्ञान न कराये तो शब्द भी व्यर्थ है। अपशब्द है। शब्द अभिधायक है, और ज्ञान अभिधेय है। इसी सिद्धान्त को महर्षि पतञ्जलि ने अपने अष्टाध्यायी के व्याकरण महाभाष्य में वैयाकरण शिरोमणि वार्तिककार वररुचि के वार्तिक को उद्धृत कर प्रतिपादन किया है :– यथा 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे ।' शब्द अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों नित्य हैं। १. शब्द २. अर्थ ३. शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य हैं। जब तक शब्द है शब्द का अर्थ है। जब तक पदार्थ है उसका वाचक शब्द है। कोई जाने कोई न जाने, यह दूसरी बात है।

इस प्रकृति के सन्निधान से उपात्त ज्ञान गुण शब्द-तन्मात्रा में आकर पूर्ण रूपेण विकसित हो गया। शब्द ही प्रकृति के ज्ञान का मुख्य ज्ञापक बना है। क्रिया गुण को भी शब्द ने पूर्णतया ग्रहण किया है। शब्द की गति सर्वाधिक है। प्रकाश से भी अधिक है। बड़े परिश्रम और यत्नों के उपरान्त शब्द से भी अधिक तीव्रगामीयान का आविष्कार कर पाये हैं। अस्तु कुछ हो शब्द ने प्रकृति के क्रिया गुण को अपनी तीव्रगति में पूर्णतया धारण किया है।

शब्द-तन्मात्रा के अन्वय रूप में ब्रह्म की सूक्ष्म-तम व्यापकता का समाधि में अनुभव करना चाहिये। क्योंकि सब परिणामों में ब्रह्म निमित्त रूप से उपस्थित होता है, बिना उसकी समीपता के कोई परिणाम नहीं हो सकता।

समष्टि शब्द-तन्मात्रा मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(शब्द-तन्मात्रा का पञ्चम रूप)

२. शब्द-तन्मात्रा के अर्थवत्त्व में—

इस आकाश-तन्मात्रा में यह समष्टि ब्रह्माण्ड ओत प्रोत होकर ठहरा है। इसकी सूक्ष्मता और विभुता में अनन्त शक्ति है। अतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण किए हुए है। सूक्ष्म दैवी दिव्य सृष्टि का सब कार्य या व्यवहार इसमें होता है। सूक्ष्म जगत् के निर्माण में सर्व-प्रथम इसका उपयोग होता है। दिव्य आत्माओं का गमनागमन और भोग इसी सूक्ष्म आकाश में होता है। इसके अनेक गुण या धर्म अतीन्द्रिय शब्द हैं, इनका सब कर्म-व्यापार गमनागमन और उपभोग इसी में होता है, यह इसकी अर्थवत्ता है।

सूक्ष्म शरीरों के निर्माण-काल में सहकारी कारण के रूप में सर्वप्रथम इसी का प्रवेश अवकाश प्रदान करने के लिये होता है। सहकारी कारण से तात्पर्य यह है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में मुख्य रूप से पृथिवी भूत और पृथिवी तन्मात्रा उपादान कारण के रूप में होते हैं। इनका भाग शरीरों में अधिक मात्रा में होता है। शेष का भाग कम होता है। अतः शेष सहकारी कारण होते हैं। पदार्थ-रचना में मुख्य एक उपादान

कारण ही होता है। शेष सहकारी कारण हुआ करते हैं। शरीर में गुरुत्व—भारीपन धर्म अधिक होता है। यह धर्म पृथिवी का मुख्य और जल का गौण है। क्योंकि यद्यपि जल में भी गुरुत्व धर्म है सही पर पृथिवी से कम।

दिव्य सूक्ष्म-शरीर वैसे तो आकाश गामी होते हैं। परन्तु उनमें भी पृथिवी-तन्मात्रा का अंश अधिक होता है अन्य भूतों की अपेक्षा। उनमें भी सब ही मात्राओं का मिश्रण होता है। अतः तन्मात्राओं की अपेक्षा से कुछ-न-कुछ गुरुत्व मानना ही पड़ेगा। इन शरीरों के निर्माण में पृथिवी-तन्मात्रा में रस, रूप, स्पर्श, शब्दों की तन्मात्रायें मिली होती हैं। जल-तन्मात्रा में भी रूप, स्पर्श-शब्दों की तन्मात्रायें मिली होती हैं। अग्नि तन्मात्रा में शब्द और स्पर्श की तन्मात्रायें मिली होती हैं। वायु-तन्मात्रा में केवल आकाश-तन्मात्रा का योग होता है। आकाश तन्मात्रा में किसी का योग नहीं होता है। वह स्वयं शब्द-तन्मात्रा के रूप में अवस्थि है। प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म भूत अपने-अपने धर्मों या गुणों को साथ लेकर ही दूसरे भूतों में संघात को प्राप्त होकर पदार्थ का निर्माण करता है। तब ही ये सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के भोग प्रदान करने में समर्थ होते हैं। यह सब आकाश-तन्मात्रा की अर्थवत्ता है।

इस शब्द-तन्मात्रा में ब्रह्म का अध्यारोप कर के इसकी उपासना और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि यही अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म है। और ब्रह्म सूक्ष्मतम है। अतः दोनों के लिये लगाई गयी समाधि की स्थिति में ऋतंभरा बुद्धि के द्वारा पूर्ण रूपेण ब्रह्म की अनुभूति हो सकती है। इनका बहुत समीप-वर्त्ती सम्बन्ध है। यह दो पदार्थ हैं। इनका व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध है और ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है। यह तन्मात्रा आकार-वान् न होते हुए भी, आकारवान् इसलिये कहा है कि यह उत्पन्न हुई थी। अतः आकार वाली होते हूये भी निराकारवत् है। इसमें ही ठीक रूप से ब्रह्म का अनुभव हो सकता है।

सूक्ष्म जगत् का निर्माण

समष्टि तमः प्रधान अहंकार के सूक्ष्म स्तर में ब्राह्मी चेतन सत्ता के सम्बन्ध विशेष से परिणामात्मक एक महान् क्रान्तिकारी क्षोभ उत्पन्न होता है। जो सम्पूर्ण अहंकारों को कम्पायमान कर देता है। बहुत समय तक यह क्षोभ बना रहता है। फिर इसमें सूक्ष्म रूप से विभाग धर्म उत्पन्न होने लगता है। इससे उसमें शनैः शनैः अत्यन्त सूक्ष्म कण या परमाणु बनने लगते हैं।

सर्व प्रथम इस अहंकार का परिणाम आकाश के परमाणुओं के रूप में होता है। जो महा आकाश प्रकृति से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था, वही परिणत होता हुआ आ रहा है। वह इस अहंकार में भी वर्त्तमान है, जो कि परिणत होता हुआ, इसके साथ आया है। यह अहंकार के साथ-साथ अवकाश प्रदान करता है। तत्पश्चात् यह कारण रूप अहंकार आकाशतन्मात्रा के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होकर एक सूक्ष्म आकाश का स्तर बनाता है।

तत्पश्चात् इसमें एक और महान् क्षोभ उत्पन्न होता है। जिसमें कि असंख्य सूक्ष्म-शब्द-रूप-गुण इसके परिणामकाल में उत्पन्न होते हैं। जब वह अहंकार परिणाम

भाव को प्राप्त होकर आकाश-तन्मात्रा के रूप में जा रहा था, आकाश-तन्मात्रा संज्ञा होने से पूर्व ही अनेक शब्द रूप गुण उसके आश्रय में ही उत्पन्न हुए अर्थात् वे शब्द-तन्मत्रा को साथ लिये हुए प्रकट हुए।

तब इस धर्मी में एक महान् क्रान्तिकारी क्षोभ हुआ। और तब इस सूक्ष्म-शब्द-तन्मात्रा ने अनेक मन्द-मन्द कम्पन करते हुए आकाश के परमाणुओं में अनन्त सूक्ष्म शब्दों को उत्पन्न करते हुए टक्करें सी लगाईं। इन शब्दों की गति ने आकाश के परमाणुओं को क्रिया शील बनाकर गति देते हुए वायु को परमाणुओं के रूप में प्रकट किया। शब्दों ने ही गति करते हुए वायु के परमाणुओं में स्पर्श रूप धर्म उत्पन्न किया। तब वायु के परमाणु शब्द और स्पर्श रूप गुणों से युक्त हो कर गतिशील बन गये। इस परिणति से वायु-तन्मात्रा में गति रूप धर्म स्वाभाविक ही होगया। ये अपने इस धर्म को लेकर ही प्रकट हुए। तब इसकी स्पर्शतन्मात्रा संज्ञा हुई जो गतिमान पदार्थ होगा वह ही संयोग से स्पर्श रूप धर्म को पैदा करेगा। आकाश अपने गुण शब्द को लेकर वायु तन्मात्रा के रूप में प्रकट हुआ। आकाश के अनन्त परमाणु शब्दों के रूप में थे, वे कारण रूप से मण्डल के रूप में भी वर्त्तमान रहे, और उनका बहुत कुछ अंश वायु के परमाणुओं के रूप में परिणत हो गया। अब स्थूलरूप से इस अवकाश में वायु के ही परमाणु अनन्त रूप से गतिशील हो गये। और अपने मण्डल के बनाने में समर्थ हुए।

इसके अनन्तर इनमें उस महान् चेतन सत्ता के कारण एक महान् क्रांतिकारी क्षोभ हुआ। सारा ब्रह्माण्ड आकाश के परमाणुओं मिश्रित वायु के परमाणुओं से ही भरपूर हो गया। एक महान् उथल-पुथल के रूप में वड़ा भारी क्षोभ था। बहुत काल पर्यन्त यह क्रिया होती रही।

आकाश और वायु के परमाणु संघात को प्राप्त हो कर अग्नि-तन्मात्रा के रूप में प्रकट हुए। अब इस सर्व संघात से रूपात्मक धर्म आगया। ये चमकते हुए सब परमाणु बन गये। शब्द, स्पर्श, रूप गुण युक्त ये परमाणु बन गये। कुछ स्थूल भाव में दर्शन का विषय बन गये। आकाश-तन्मात्रा ने वायु-तन्मात्रा को अपने गर्भ में धारण कर लिया। वायु-तन्मात्रा ने अग्नि-तन्मात्रा को अपने गर्भ में धारण कर लिया। एक मण्डल के रूप में बन गईं।

फिर इस समष्टि अग्नि-तन्मात्रा में सम्पूर्ण विश्व भर में एक बड़े-भारी कम्पन-पूर्वक क्षोभ हुआ। सब मण्डल-रूप और परमाणु रूप विश्व कम्पायमान हो कर क्षुभित हो उठा। त्रित्व के रूप में परिणत हो कर अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि के परमाणुओं में परिवर्तित हो कर जल-तन्मात्रा का निर्माण हुआ। इस रस-तन्मात्रा में इन तीनों तन्मात्राओं के धर्म भी आ मिले।

फिर रस-तन्मात्रा के समष्टि मण्डल में एक बड़ी भारी कम्पन रूप क्रिया में क्षोभ होता रहा। बहुतकाल के अनन्तर ये सब मण्डल और परमाणु अपने गुणों को साथ लेते हुए पृथिवी-तन्मात्रा के रूप में परिणत हुए। इस परिणामकाल में गन्ध-रूप धर्म इस तन्मात्रा में उत्पन्न हुआ। शेष पहली तन्मात्राओं के धर्म भी ओत-प्रोत हो गये। तब सम्पूर्ण रूप से सूक्ष्म-पृथिवी मण्डल की गन्ध तन्मात्रा संज्ञा हुई।

हमारे सिद्धान्त में ये सब तन्मात्रायें उत्पन्न होने के कारण एक की अपेक्षा एक सूक्ष्म है, और एक की अपेक्षा एक स्थूल है। न्याय वैशेषिक के समान नहीं हैं क्योंकि

वे परमाणुओं का परिणाम क्रम नहीं मानते। वे उन्हें नित्य, एक ही रूप में रहने वाला अविकृत मानते हैं। हमारे सिद्धान्त में ये सब तन्मात्रायें विकारी हैं। उत्पन्न होकर आयी हैं। अतः एक दूसरे की अपेक्षा स्थूल सूक्ष्म हैं। इस परिणाम से पूर्व ये व्यापक मण्डल के रूप में थीं। अब ये छोटे अंश के रूप में हो गयी हैं। और मण्डल के रूप में भी वर्त्तमान रहेंगी। इनमें से छोटे-छोटे परमाणु गमनागमन करते रहेंगे क्योंकि इन्हों ने अब सूक्ष्म जगत् का निर्माण करना है। सो यह अंश रूप में ही संघात को प्राप्त हो कर कर सकेंगी।

तन्मात्राओं के निर्माण का सूक्ष्म रूप यह है—

"सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तमः प्रधान अहंकार का एक अत्यन्त सूक्ष्मतर स्तर सर्वत्र व्यापक सा ठहरा हुआ था। वह परमाणु रूप पञ्च-तन्मात्रा के रूप में खण्ड-खण्ड हो गया। उसके सूक्ष्म और स्थूल दो रूप बने। इस पञ्चत्व के रूप में वह खण्ड -खण्ड होगया। यह चूर्ण रूप अवथा ही पञ्चतन्मात्रा, सूक्ष्म भूतः या परमाणु रूप अवस्था बनी।

सूक्ष्म-शरीरों का निर्माण

पूर्वोल्लिखित प्रकार से पांचों समष्टि-तन्मात्राओं के पाँच सूक्ष्म मण्डल एक दूसरे के ऊपर और एक दूसरे में व्याप्त पाँच सूक्ष्म मण्डल बनें। सब से पहले आकाश मण्डल में शेष चारों मण्डल ठहरे। सूक्ष्म जगत् में भी स्थूल जगत् की तरह पांचों ही सूक्ष्म भूत हैं। जब ये तन्मात्राओं के मण्डल सूक्ष्म शरीरों के निवास योग्य हो गये, तब सूक्ष्म शरीरों का निर्माण हुआ।

इन पञ्चतन्मात्राओं के निर्माण से पूर्व ही कर्म और ज्ञान इंद्रियों के तथा मन, बुद्धि, चित्त आदि के समष्टि लोक, और इनके कार्य रूप व्यष्टि समुदाय भी उत्पन्न हो चुके थे। यह सब अगले प्रकरणों में स्पष्ट रूप से आयेगा।

तब ये व्यष्टि इन्द्रिय आदि संघात को प्राप्त होकर इन तन्मात्राओं से परिवेष्टित हो सूक्ष्म शरीरों का निर्माण करते हैं। इसमें चित्त मुख्य होता है। इसी में जीवात्मा वास करता है। यह चित्त अपने संस्कारों से सूक्ष्म शरीर में सम्मिलित होता है। सूक्ष्म शरीरों के निर्माण-काल में भी सब ही तन्मात्राओं में एक महान् क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभकाल में ही सूक्ष्म शरीर आकाश मण्डल में बन जाते हैं। इनके भी सात्त्विक, राजस, तामस आदि भेद होते हैं। यह सूक्ष्म-शरीरों का निर्माण उस चेतन ब्रह्म के सन्निधान से नियमित गतिशील हुई-हुई सर्वोपादान-कारण रूप प्रकृति देवी भवानी की विशेष सृजन रूप क्रिया से ही होता है। प्राणियों के भोग और मोक्ष के लिए ही सूक्ष्म जगत् का निर्माण होता है। अनेक वर्षों तक इस सूक्ष्म जगत् का निर्माण होता रहता है। इन सूक्ष्म-शरीरों को धारण कर के ही आत्माओं की जीवात्मा संज्ञा होती है। उस समय यह सूक्ष्म-शरीराभिमानी बन जाता है और सूक्ष्म-तन्मात्राओं से भोग ग्रहण करते हुए अपने को कृतकृत्य मानता है। सूक्ष्म दिव्य भोगों को अपनी सात्त्विक, तामस , राजस वृत्ति के अनुसार भोगने लगता है।

जब तक स्थूल-सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती तब तक ये सूक्ष्म शरीराभिमानी इसी सूक्ष्म लोक में निवास करते हैं। पांचों सूक्ष्म भूत ही इन के सूक्ष्म भोगों का सम्पादन

करते हैं। जब स्थूल-सृष्टि का निर्माण हो जाता है तब अपने अपने कर्म फल के अनुसार मर्त्य लोक में अथच लोक लोकान्तरों में चले जाते हैं। स्वर्गलोक के अधिकारी इसी तन्मात्रा के मण्डल में रह कर दिव्य भोगों को भोगते रहते हैं।

स्वर्ग का स्वरूप

अब दो प्रकार की सृष्टियों का वर्णन किया गया है। १. स्थूल २. सूक्ष्म। इनके भोग भी स्थूल और सूक्ष्म हैं। जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर के द्वारा भोगे जाते हैं। इन के भोगों का क्रम कभी समाप्त नहीं होना है। जब तक कि इन से परमवैराग्य हो कर इन के बन्धन से मुक्त नहीं होते। स्थूल जगत् में भोग भोगते हुए जन्म मरण का क्रम तब तक समाप्त नहीं होता जब तक स्वर्ग के दिव्य भोगों को भोगने की अभिलाषा अत्यन्त तीव्र न हो जाये। उसके लिये भी अनेक जन्मों तक अनेक शुभ और पुण्य कर्म करने की आवश्यकता है। बहुत जन्मों तक यम-नियम, जप-तप, योगाभ्यास आदि के करने की परम आवश्यकता है। तब यह तन्मात्राओं का दिव्य-लोक प्राप्त होता है। इस लोक में वास करने की अवधि शास्त्रकारों ने यह बताई है, यथा—

'दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः,
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वभिमानिकाः।
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः,
पूर्णं शत-सहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्त-चिन्तकाः॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य काल-संख्या न विद्यते।'

'—जो केवल सूक्ष्म इन्द्रियों को आत्मा समझ कर चिन्तन करते हैं, उनका समष्टि इन्द्रिय-लोक में वास होता है। वे दश मन्वन्तर तक इस लोक में ठहरते हैं। एक मन्वन्तर ३०६७२०००० वर्ष का होता है।

जो सूक्ष्म भूतों को आत्मा समझकर उपासना करते हैं वे १०० मन्वन्तर तक तन्मात्रा के लोक में वास करते हैं।

जो अहंकार को ही आत्मा समझकर उपासना करते है वे १००० मन्वन्तर तक **अस्मिता** के लोक में वास करते हैं।

जो बुद्धि को ही आत्मा समझ कर उपासना करते हैं वे दश हजार (१००००) मन्वन्तर तक महत्त्व-लोक में वास करते हैं।

जो अव्यक्त प्रकृति को ही आत्मा समझ कर उपासना करते हैं वे सौ हजार (१०००००) अर्थात् एक लक्ष मन्वन्तर तक प्रकृति की सूक्ष्म अवस्था में ठहरते हैं।

जो योगी निर्गुण पुरुष की उपासना करते हैं उनके मोक्ष के काल की कोई संख्या नहीं। या संख्या गिनने में नहीं आ सकती है। यहाँ पुरुष शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण होता है। इन श्लोकों में आरोप अर्थ के लिये कोई शब्द नहीं दिया है। इसका भाव तो यही है जो इन्द्रियों, भूतों, अहंकार, बुद्धि एवं अव्यक्त प्रकृति का चिन्तन करने वाले हैं वे इन लोकों में गमन करते हैं, और इनके सुखों को भोगते हैं और उल्लिखित अनेक वर्षों तक वहां रह कर लौट आते हैं, परन्तु निर्गुण आत्मा और ब्रह्म का जो चिन्तन करते हैं, इन के स्वरूपों का साक्षात्कार करते हैं, इनके मोक्ष के वर्षों की संख्या कोई गिन नहीं सकता है।

इन प्रमाणों को उद्धृत करने का तात्पर्य यही है कि जब मुक्ति प्राप्त होने वाली है तो इसका समय मानना ही पड़ेगा। जैसे यह बन्ध है, ऐसे यह फिर भी तो हो सकता है। अब क्यों बन्ध हुआ है। जब अब हुआ है तो मोक्ष के बाद भी हो सकता है। या कहो कि मोक्ष अब तक कभी नहीं हुआ है। तो क्यों नहीं हुआ? और बन्ध हुआ तो कब से हुआ। बन्ध होने का भी तो आपके पास कोई प्रमाण नहीं है। अतः बन्ध है तो मोक्ष भी है और मोक्ष है तो बन्ध भी पुनः होना ही है क्योंकि अब जो हुआ है।

इन सूक्ष्म-भूतों या तन्मात्राओं के मोक्ष में भोग की अवधि १०० मन्वन्तर तक कही है। इस लोक में सूक्ष्म दिव्य भोगों का भोग होता है। इस से ऊपर के जो लोक हैं, उनमें पंच-तन्मात्राओं के भोगों का अभाव है। तब वहाँ उन लोकों में सूक्ष्म शरीर को आहार कहाँ से प्राप्त होगा? यही एक बड़ी भारी समस्या उत्पन्न होती है। जिस का कोई समाधान समझ में नहीं आता है। सूक्ष्म शरीर को तो आहार चाहिये। उन मण्डलों में तो स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के आहारों का अभाव है। इन से अलग और कोई सूक्ष्म शरीर के लिये आहार नहीं है, जिस से कि यह जीवन धारण कर सके।

यदि सूक्ष्म शरीर का अभाव मोक्ष में मान लें तब किसी भी प्रकार के आहार की वहाँ आवश्यकता नहीं है। फिर ब्रह्मानन्द के सुख के भोगने का भी कोई साधन या द्वार नहीं रहेगा। जिस के द्वारा ब्रह्म-लोक में ब्रह्म का सुख भोग सके।

"अतः हमारा ही सिद्धान्त कुछ श्रेष्ठ प्रतीत होता है। कि जिस मोक्ष में सूक्ष्म शरीर का अभाव हो कर अपने सत्-चित् आनन्द स्वरूप में स्थिति हो जाती है।"

इति समष्टि शब्द-तन्मात्रा मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये पञ्चमः खण्डः।

इति चतुर्विंशमावरणम्।

योनि, चाहे उभय योनी। यह व्यष्टि कर्मेन्दियाँ समष्टि कर्मेन्द्रियों से परिरणत हुई हैं। इन समष्टि कर्मेन्द्रियों के मण्डल ग्राकाश में निर्मित हो ग्राकाश में ग्रवस्थित होते हैं। पाँचों भूतों ग्रौर पाँचों तन्मात्राग्रों के मण्डल ग्राकाश में ग्रवस्थित हैं। उन के ऊपर यह कर्मेन्द्रियों का मण्डल है एक दूसरे से यह मण्डल सूक्ष्म होते जाते हैं। पंच भूतों की ग्रपेक्षा तन्मात्राग्रों का मण्डल सूक्ष्म है। ग्रौर तन्मात्रा की ग्रपेक्षा कर्मेन्द्रियों का मण्डल सूक्ष्मतर है। उन मण्डलों के पाँचों स्तर भी एक दूसरे की ग्रपेक्षा सूक्ष्म हैं।

सूक्ष्म मण्डल स्थूल में ग्रोत प्रोत भी होता है। उस से पृथक ऊपर भी। ग्रपने से सूक्ष्म में वह व्याप्त नहीं होता। स्थूल में ही व्याप्त होता है। इस प्रकार समष्टि पृथिवी मण्डल में ग्रन्य चारों भूतों, तन्मात्राग्रों ग्रौर कर्मेन्द्रिय ग्रादि के मण्डल व्याप्त हैं। पर समष्टि पृथिवी मण्डल केवल ग्रपने में ही व्याप्त है। समष्टि जल मण्डल में उसका प्रवेश नहीं। पर समष्टि जल मण्डल समष्टि पृथिवी मण्डल में व्याप्त है। समष्टि ग्रग्नि मण्डल ग्रपने से पूर्ववर्त्ती समष्टि पृथिवी मण्डल ग्रौर समष्टि जल मण्डल में व्याप्त है पर ग्रगले वायु ग्रादि के मण्डल में नहीं। इस प्रकार सूक्ष्माति सूक्ष्म ब्रह्म तो सब में हैं। इस लिये सब मण्डलों में दर्शन का विषय बन जाता है। पर ब्रह्म की सूक्ष्मता में कोई नहीं। क्योंकि उस से सूक्ष्म कोई नहीं है।

यह पाँचों समष्टि कर्मेन्द्रियाँ भी पञ्चतन्मात्राग्रों की तरह ग्रहंकार की सृष्टि हैं। इनमें समष्टि राजस ग्रहंकार की प्रधानता है। चलं हिरजः। इसलिए कर्मेन्द्रियाँ गतिशील है। कर्म-निपुरण हैं। ग्रहंकार ग्रविद्या रूप है। जड़ है। ग्रतः कर्मेन्द्रियाँ भी कर्म निपुरण होते हुए भी जड़ ही हैं। इन्हें ग्रपने कर्म का भले-बुरे का बोध नहीं होता। ग्रन्य से प्रेरित हो कर्म करती हैं। सत्त्वाहंकार की स्वल्पमात्रा इनमें होती है, जिससे इन को ग्रपने-ग्रपने कर्म को व्यवस्थित करने में सहायता मिलती है। समष्टि पाँचों कर्मेन्द्रियाँ ग्रहंकार का परिरणाम है। इसमें ग्रहंकार समष्टि राजस, समष्टि तामस एवं समष्टि सत्त्वाहंकार सम्मिश्रित हैं। इन तीनों का तारतम्ययुक्त जो ग्रंश ध्यान दृष्टि में ग्राया है उसे दर्शाते हैं—

समष्टि कर्मेन्द्रियों में तीनों समष्टि ग्रहंकारों का भाग

समष्टि कर्मेन्द्रिय	समष्टि सत्त्वाहंकार	सम० राजसाहंकार	स० ता० ग्रहं०
१. गुदा	·१	१·५	१·४ = ३·०
२. शिश्न	·२	१·७	१ १ = ३·०
३. पाद	·४	१·८	·८ = ३·०
४. हस्त	·६	१·९	·५ = ३·०
५. वारणी	·८	२·०	·२ = ·३०

इनमें राजस ग्रहंक़ार की मात्रा ग्रन्य दोनों की ग्रपेक्षा ग्रधिक है, ग्रतः यह कर्म प्रधान हैं। यह पाँचों कर्मेन्द्रियाँ प्रत्येक देहधारी को व्यष्टि रूप में व्यक्तिगत रूप से मिली हैं, यही सदा मोक्षपर्यन्त जीव के साथ सूक्ष्म शरीर में रहती है।।

ग्रहंकार से समष्टि कर्मेन्द्रियों के मण्डल परिरणत हुए, ग्रौर समष्टि मण्डल से व्यष्टि इन्द्रियाँ। जो गुरण, धर्म, कर्म व्यष्टि इन्द्रियों में हैं, वही समष्टि इन्द्रियों में हैं,

क्योंकि कार्य में कारण के ही गुण आते हैं। व्यष्टि इन्द्रियों के गुण धर्म कर्म तो व्यक्ति में दृष्टिगोचर होते हैं, स्पष्ट प्रतीत होते हैं, पर समष्टि इन्द्रिय मण्डल में यह सब होते हुए भी अव्यक्त हैं, इसलिए समष्टि मण्डल के गुण, धर्म, कर्म बताने के लिए व्यष्टियों का ही उल्लेख किया जाता है। अतः सर्वत्र व्यष्टि के निदर्शन से समष्टि का ही व्याख्यान समझ लेना चाहिए।

यह कर्मेन्द्रियाँ भोग का तो साधन हैं ही, जीवमात्र अपने भोग और पुरुषार्थ के अनुसार भोगों का उपभोग करता ही है, पर जब साधक इनके तथ्य को हृदयंगम कर लेता है यही अपवर्ग का साधन बन जाती हैं। समष्टि भी और व्यष्टि भी। समष्टि कर्मेन्द्रियों में यह ब्रह्म की उपासना का क्रम इसी का निदर्शन है। यह ध्यान रखिये यह साधना परम वैराग्य से ही सफल होगी। बिना वैराग्य तो सिनेमा की स्क्रीन मात्र है। वेद मन्त्रों का रिकार्ड मात्र है। जिससे केवल हमने वेद सुन लिया, हमने योग सीख लिया की मिथ्या धारणा पुष्ट होती है। यदि आप भगवान् के दर्शन करना चाहते हैं तो वैराग्य भावना को साथ-साथ दृढ़ करते चलिए।

मण्डलों का प्रयोजन

समष्टि तन्मात्रा के मण्डलों का उपयोग तो महाभूतों के निर्माण और विलय में सदा होता रहता है। स्वर्गीय जीव, सूक्ष्म शरीराभिमानी तथा योगी उनका उपयोग करते रहते हैं। इसी प्रकार इन कर्मेन्द्रियों के मण्डलों का उपभोग सर्गारंभ में तो सूक्ष्म शरीरों के निर्माण में होता है। सूक्ष्म शरीर की रचना हो जाने पर प्रत्येक जीव अपने-अपने सूक्ष्म शरीर में वास कर उसका अभिमानी बन जाता है और मोक्षपर्यन्त उसका सम्बन्ध अटूट रहता है। उस सर्ग के पश्चात् उन सुरक्षित कर्मेन्द्रिय मण्डलों से योगी चाहे तो कर्मेन्द्रियों का निर्माण तथा चित्तों एवं सूक्ष्म शरीरों का निर्माण कर लेता है। मुक्तात्माओं के सूक्ष्म शरीर एवं चित्त भी तो सुरक्षित रहते हैं। उनके कर्मेन्द्रिय भी इन्हीं समष्टि कर्मेन्द्रिय मण्डलों में आसुरक्षित होते हैं। मुक्ति से पुनरावृत्ति पर उन्हीं आत्माओं के साथ उनके संचित संस्कारों का शेष रहा भोग भुक्ताने के लिए जा संयुक्त होते हैं।

अब पाँचों समष्टि कर्मेन्द्रियों के पाँचों रूपों का अवलोकन भी क्रमशः एक-एक खण्ड में कीजिए। जिससे व्यक्त हो जाएगा कि यह पाँचों अवस्थाएँ प्रकृति के ही परिणामों की हैं, और इन सब में ही वैराग्य भावना की परिपक्वता के साथ ब्रह्मदर्शन करना है क्योंकि मोक्ष प्राप्ति में परवैराग्य ही मुख्य हेतु होगा।

समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल

पांचों रूपों में ब्रह्मानुभूति

प्रति व्यक्तिगत गुदा इन्द्रिय समष्टि गुदा इन्द्रिय के मण्डल का परिणाम है। क्योंकि समष्टि से ही व्यष्टि उत्पन्न होता है। पहले समूह या स्टाक होता है, उसमें से फिर एक-एक अलग होता है वही व्यष्टि है। गुदा इन्द्रिय दो प्रकार की हैं। १. स्थूल, २. सूक्ष्म।

१. **स्थूल गुदा इन्द्रिय**—स्थूल तो प्रत्येक देह में माँस रुधिर आदि से बनी होती है, यह स्थूल शरीर का ही अंश है। इसमें स्वतः कोई क्रिया नहीं होती। अन्य की प्रेरणा

पर यह क्रियाशील होती है। यह ऐसे ही जैसे मकान का मल निकालने के लिए 'सीवर' बना दिया हो। 'सीवर' में मल का धकेलना और बहाकर ले जाना किसी अन्य प्राणी या जल, वायु के दबाव आदि का ही काम है। वे सब क्रियारत होंगे तो 'सीवर' बहाकर ले जायेगा। यदि वे क्रिया में नहीं लगे तो 'सीवर' का काम बन्द रहता है। ऐसे ही गुदा इन्द्रिय भी जब इसके प्रेरक काम नहीं करते तो व्यापार-विरत रहती है।

२. सूक्ष्म गुदा इन्द्रिय—यही वास्तव में गुदा इन्द्रिय है, जो समष्टि-गुदेन्द्रिय के मण्डल से निर्मित हो जीव को सूक्ष्म शरीर के साथ मिली है। यही स्थूल की प्रेरिका है। इसी की प्रेरणा से अपान की अधोगति होती है और वह मल को स्थूल गुदा के द्वारा बाहर निकाल कर ले जाती है। यही तो प्राणी के ध्यान से प्रेरित हो मलविसर्जन के लिए प्राण को प्रेरित करती है। यही कारण है कि जब तक ध्यान न दिया जाये वेग नहीं होता।

यह व्यष्टि गुदा इन्द्रिय की बात हुई। मलविसर्जन इसका धर्म है। व्यष्टि में यह धर्म क्रियान्वित होने से स्पष्ट प्रतीत होता है। पर समष्टि गुदा इन्द्रिय के मण्डल में यह धर्म तो वर्तमान है परन्तु व्यापाराभाव के कारण प्रतीत नहीं होता। क्योंकि समष्टि गुदा इन्द्रिय में यह धर्म था तभी तो व्यष्टि में आया। यह समष्टि गुदा इन्द्रिय का मण्डल सदा आकाश में सुरक्षित रहता है। जब कोई योगी किसी मानव लोक में निर्माण-शरीरों का निर्माण करता है तो इसी मण्डल से गुदा इन्द्रिय को लेकर उस नये शरीर में जोड़ देता है। मुक्ति से लौटी आत्माओं को भी जब शरीर मिलता है, तो गुदा इन्द्रिय इसी समष्टि मण्डल से मिलती है।

ब्रह्म के सम्पर्क से चेतन-सी बनी इस प्रकृति महामाया का विधान इसी प्रकार चलता रहता है।

समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गुदा इन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि गुदा इन्द्रिय के स्थूल रूप में—

गुदा इन्द्रिय अहंकारिक-सृष्टि की ग्यारहवीं और समष्टि राजस अहंकार का अन्तिम पाचवाँ परिणाम है। गुदा इन्द्रिय के निर्माण से पूर्व सब शेष कर्मेन्द्रियाँ बन चुकी हैं। यद्यपि गुदा इन्द्रिय समष्टि-राजस अहंकार का पृष्ठभूमि में पड़ा अन्तिम परिणाम है, पर उपयोगिता की दृष्टि से सर्वतो महान्, सर्वश्रेष्ठ और उपयोगतम परिणाम है, क्योंकि इसका एक ही धर्म 'मल त्याग' है। और यह शरीर की दृष्टि से सर्वाधिक आवश्यक है। मल का विसर्जन न हो तो शरीर जीवित ही नहीं रह सकेगा। कितना ही उत्तम से उत्तम आहार किया जाये, मल तो बनेगा ही। यदि उस मल का विसर्जन न हो तो वह उत्तम आहार भी निकृष्टतम हो घातक हो जायेगा।

व्यष्टि गुदा इन्द्रिय स्थूल मल का भी निस्सरण करती और अपान वायु का भी। जब प्राणी अहंभाव में आ जाता है, तो वह गुदा इन्द्रिय को अपवित्र समझने लगता है। उसके शोधन का ध्यान नहीं रखता। स्वाद के चस्के में दबादब खाये जाता है।

गुदा इन्द्रिय मल निस्सारण नहीं कर पाती। मल रुकता है। सड़ता है, अपान बढ़ जाता है। उसके भी निकलने का मार्ग मल से अवरुद्ध हो जाता है। कितनी पीड़ा होती है उस समय। अहंकार के अभिमान और अछूत गुदा की परवाह न करने वाले के कारण ही यह आपत्ति आयी, और यदि मार्गाविरोध के कारण गुदा इन्द्रिय के काम न करने पर अपान का विलोम गमन हो जाये; और गति करते-करते यह मस्तिष्क में पहुँच जाये तो ब्राह्मण सिर और क्षत्रिय हाथ आदि सब उलटे काम करने लग पड़ते हैं। पागलपन या उन्माद जाग जाता है, रोगी भागता है। उपचारक को पीटता है। वश में ही नहीं आता। कभी मरणान्तक हिचकियां लग जाती हैं। हिचकी के साथ जिह्वा अन्दर को ही धसती जाती है। जीवन का कोई उपाय नहीं दिखता। उस समय गुदा इन्द्रिय का रूप समझ में आता है। यह जड़ गुदा इन्द्रिय जड़ राजस अहंकार का परिणाम, स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती। पर देखी आप ने जड़ की करामात भगवान् के सन्निधान और जीवात्मा के अनुशासन से यह गुदा इन्द्रिय ही मल विसर्जन द्वारा जीवन धारक एवं प्राण रक्षक बनी हुई है। मल-त्याग जीवन का परम उपयोगी एवं सहायक है। यह मल विसर्जन रूप धर्म ही समष्टि गुदेन्द्रिय के मण्डल में अव्यक्त रूप से और व्यष्टि में व्यक्त रूप से अवस्थित रहता है। इस धर्म अवस्थिति का कारण वह परब्रह्म चेतना ही है। इस समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल के प्रत्यक्ष के साथ ही इसके धर्म की व्यवस्थापिका ब्राह्मी चेतना की सन्निधानता का भी प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिये।

(शंका) गुदा इन्द्रिय स्थूल शरीर में तो मल विसर्जन करती है पर क्या सूक्ष्म शरीर में भी मल त्याग का काम करती है? सूक्ष्म शरीर तो है ही सूक्ष्म उसमें मल कहाँ से आयेगा?

(समधान) हाँ! सूक्ष्म शरीर में भी सूक्ष्म मल त्याग होता ही है। देखिये। सूक्ष्म शरीर का भोग तन्मात्राओं का आहार है। तब ही तो सूक्ष्म शरीर जीवित रहता है। सूक्ष्म आहार होने से मल का त्याग भी अवश्य ही सूक्ष्म रूप से होना हुआ। अतः सूक्ष्म शरीर में भी गुदा इन्द्रिय का होना आवश्यक है। हाँ यदि आप बाह्य शरीर के गोलकरूप गुदेन्द्रिय का सूक्ष्म शरीर में होना स्वीकार नहीं करते तब ठीक है, जब वहाँ स्थूल शरीर ही नहीं तो इन्द्रियों के स्थूल गोलक कहाँ से आयेंगे। सूक्ष्म शरीर की आकृति तो स्थूल शरीर से मिलती है, पर उस आकृति में स्थूल गोलक नहीं होते। देखो इन स्थूल गोलकों को दार्शनिक, इन्द्रिय भी स्वीकार नहीं करते। योग और सांख्य शास्त्र तो इन्द्रियों को अहंकारिक ही मानते हैं। अहंकार से तो सूक्ष्मेन्द्रियाँ ही परिणत हुई हैं अतः सर्वत्र सूक्ष्म इन्द्रियों का ही ग्रहण होता है और स्थूल शरीर में जो नाक कान गुदा आदि हैं ये तो केवल बाहर के गोलक हैं। ये गोलक तो इन सूक्ष्म इन्द्रियों के कार्य या व्यापार के अथवा भोग सम्पादन के बाह्य साधन हैं। वास्तव में तो सूक्ष्म इन्द्रियाँ—जो ब्रह्मरन्ध्रस्थ सूक्ष्म शरीर में स्थित हैं—वे ही भोग और मोक्ष का साधन हैं। बाह्य गोलक नहीं।

मल-विसर्जन एक ही धर्म इस इन्द्रिय का है। इसमें उसपर ब्रह्म की चेतना ही कार्य कर रही है। अतः इसकी अनुभूति करनी चाहिये।

समष्टि गुदा इन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गुदा इन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि गुदा इन्द्रिय के स्वरूप में—

मल त्याग गुदा इन्द्रिय का धर्म है यह धर्म गुदा इन्द्रिय में सदा वर्तमान रहता है। गुदा इन्द्रिय से मल त्याग धर्म कभी अलग नहीं होता। जहां गुदा इन्द्रिय होगी वहीं त्याग धर्म भी होगा। यह मल त्याग गुदा इन्द्रिय का स्वरूप है। इनका धर्म धर्मी भाव सम्बन्ध हैं। मलत्याग गुण है, गुदा इन्द्रिय गुणी है। गुण गुणी से पृथक नहीं हुआ करता है। इनका स्वरूप सम्बन्ध है।

(शंका) आप कहते हैं गुदा इन्द्रिय प्राणीमात्र की समान हैं। पर जतनी भी योनियाँ हैं सब की गुदा इन्द्रिय भिन्न २ क्यों भासती है। हाथी और चीन्टी की, गधे और टिड्डे की, इसी प्रकार सब योनियों की गुदा इन्द्रिय भिन्न २ प्रकार की हैं। यह क्यों ?

(समाधान) जिन को आप गुदा इन्द्रिय कह रहे हो, वे इन्द्रिय नहीं इन्द्रियों के गोलक हैं। यह सूक्ष्म गुदा इन्द्रिय के व्यापार करने के मार्ग हैं। देखो ! जब शरीर से जीव निकल जाता है, तो यह गोलक तो इसी शरीर में रह जाता है। उस मृतशव का गोलक इन्द्रिय तो अब मरने के पीछे मुरदा रूप में मल विसर्जन नहीं कर सकता। यदि यही शरीर का गोलक गुदा इन्द्रिय होता तो इस का मल विसर्जन धर्म इस से पृथक् न होता। वास्तविक गुदेन्द्रिय तो सूक्ष्म शरीर में जीव के साथ चला गया। मल विसर्जन धर्म उसके साथ वर्त्तमान है। जब तक सूक्ष्म शरीर में रहेगा वहां सूक्ष्म मल विसर्जन करता रहेगा। जब स्थूल के साथ सम्बन्ध होगा तो स्थूल के गोलक से मल विसर्जन करेगा।

यह भी विचारने की बात है कि सब योनियों के गुदा-गोलक भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। मल विसर्जन का प्रकार भी भिन्न है। पक्षी, उष्ट्र, हाथी, कीट, मत्स्य, पतंग आदि सब का मल-विसर्जन प्रकार भिन्न २ हैं, कोई खड़ा होकर, कोई लेटकर, कोई बैठ कर कोई उड़ते-उड़ते और वह भी भिन्न २ प्रकार से मल विसर्जन करते हैं। मल का आकार प्रकार भी भिन्न २ प्रकार का होता है। यदि प्रत्येक योनि में नई, नये ढंग की गुदा इन्द्रिय जीव को मिलती तो बेचारा जीव परेशान हो जाता, हर योनि में नया प्रकार सीखना पड़ता, और जब तक न सीख लेता मल विसर्जन ही न कर पाता। बिना मल विसर्जन के वह छोटा सा नवजात शिशु कैसे जीता। भगवान् के सन्निधान से प्रकृत्ति महामाया की ऐसी व्यवस्था है कि प्रत्येक जीव को मोक्ष पर्यन्त सदा के लिये एक ही सूक्ष्म शरीर और उसमें वही इन्द्रिय मिली हैं। उनके धर्म निश्चित हैं। उन धर्मों का उनके साथ स्वरूप सम्बन्ध है। धर्म धर्मी का अभेद है। किसी भी योनि में किसी प्रकार का वाह्य गोलक मिले उन के गुणाश्रित किया व्यापार में अन्तर नहीं पड़ता।

यही मल विसर्जन धर्म समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल में अव्यक्त रूप में स्वरूप सम्बन्ध से वर्त्तमान है। साधक को इस समष्टि मण्डल गुण गुणी स्वरूप सम्बन्ध में इसके नियामक भगवान् के सन्निधान का प्रत्यक्ष करना है। बिना प्रभु की व्यापक सत्ता

के परिणाम भूत समष्टि गुदा इन्द्रिय मण्डल का यह गुण गुणी भाव अविभाज्य सम्बन्ध बना नहीं रह सकता।

जिस प्रकार की गुदा इन्द्रिय का दर्शन आपने आत्म-विज्ञान के अभ्यास में किया है, या 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ में पढ़ा है, उसी प्रकार चमकता हुआ उसी प्रकार के नारंजी से रंग का यह गुदेन्द्रिय मण्डल का स्तर होगा। यह २३ वाँ परदा है, जो आपके और ब्रह्म के बीच में पड़ा है, इसे पहले दस पर्दों की नाईं विदीर्ण कर आपने ब्रह्म के और अधिक निकट हो ब्रह्म दर्शन पाना है। बिना गुदा इन्द्रिय के भोग रूप से वैराग्य पाये यह अपवर्ग मार्ग पार करना असंभव है। वैराग्य इसमें परम साधन है।

समष्टि गुदा इन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गुदा इन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि गुदा इन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल का जिस अवस्था से परिणाम हुआ है, वही इसका सूक्ष्म रूप है। समष्टि सात्त्विक अहंकार और समष्टि तामस अहंकार की अल्पमात्राओं के सहयोग से समष्टि राजस अहंकार का यह समष्टि गुदा इन्द्रिय मण्डल परिणाम है और इसका परिणाम व्यष्टि गुदा है। इस समष्टि गुदा इन्द्रिय और समष्टि रजः प्रधान अहंकार की प्रधानता में तीनों अहंकारों के सम्मिश्रण का जो समुदाय है यही यहां अयुत सिद्ध द्रव्य है। जैसे मनुष्य का शरीर अवयवी और हाथ पैर आदि अवयव, यह अवयव और अवयवी का समुदाय ही अयुत सिद्ध द्रव्य है। अर्थात् समष्टि रजः प्रधान आदि समष्टि अहंकारत्रय का मिश्रण ही गुदा का यहां सूक्ष्म रूप समझना चाहिये। एक प्रकार से कार्य कारण का अभेद ही यहाँ अयुत सिद्ध द्रव्य बनता है। पृथक व्यष्टियों का समुदाय यहाँ द्रव्य नहीं है जैसे कि ग्रामों का वन या मनुष्यों का संघ होता है।

यह गुदा इन्द्रिय तो समष्टि अहंकारत्रय के भेद रूप से अभेद को प्राप्त एक द्रव्य है। गुदा इन्द्रिय का परिणाम समष्टि सात्त्विक अहंकार ·१ अंश+समष्टि राजस अहंकार १·५ अंश+और समष्टि तामस अहंकार १·४ अंश के सम्मिश्रण से अभेद रूप में हुआ है।

समाधि में तो आप साक्षात् करेंगे ही—तनिक अभी पढ़ते-पढ़ते कल्पना तो कीजिये कहाँ तो तीनों समष्टि अहंकार और कहाँ जन-जन से दुतकारी गुदा। 'ममेदं' का या 'मेरा-मेरा' का प्रसार करने वाला तो अहंकार, जो प्रकृति के तमस् से परिणाम को प्राप्त हुआ और उसको प्रभावित किया या सत्त्व रजस् तमस् ने, अपने तीनों गुणों के साथ, और परिणत हुई समष्टि गुदा इन्द्रिय भगवान् के सन्निधान की माया है। इस अवसर पर जो विशेष क्रिया होकर विशेष परिणाम रूप में जो समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल परिणत होता है और व्यष्टियों को उत्पन्न करता है। वह एक आश्चर्यमय दृश्य है। इस काल में ब्राह्मी चेतन सत्ता संघात करने वाली प्रेरिका होती है क्योंकि जड़ द्रव्य क्रियावान् होते हुए भी परिमित मात्रा में, परिमित दिशा काल में गति नहीं कर सकते। इसी नियोजन में ब्रह्म का दर्शन करना चाहिये।

इन समष्टि इन्द्रियों के विज्ञान काल में यह बात सदा ध्यान रखनी चाहिये और भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि दोनों प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म-शरीरों की रचना में जो गुदा आदि मार्ग शरीरों में हैं। यह तो बाह्य उपकरण हैं। इनकी रचना तो स्थूल पृथिवी आदि भूत तथा उनकी तन्मात्राओं से हुई है। यह इन्द्रियाँ नहीं हैं। उनके व्यापार के मार्ग हैं। दशों इन्द्रियाँ तो ब्रह्म-रन्ध्र में ज्योतियों के रूप में हैं। मन उनमें एक तीव्र ज्योतिः है। वेद ने भी तो कहा है, 'ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेन मनः।'— इन्द्रियरूप ज्योतियों की जो ज्योतिः है। उनको प्रकाशित करने वाली, उनसे व्यवहार कराने वाली जो ज्योतिः है वह मन है। यही वास्तव में इन्द्रियाँ हैं। लोक व्यवहार में गोलकों को इन्द्रियाँ और इन्हें सूक्ष्म इन्द्रियाँ कह देते हैं। पर व्यवहार मात्र से तो शरीर-माँस-चर्म-अस्थिमय इन्द्रियाँ नहीं बन जायेगा। प्रति शरीर में यह व्यष्टि इन्द्रियाँ हैं; और आकाशमण्डल में समष्टि इन्द्रियों के स्तर हैं, जिससे व्यष्टि इन्द्रियां उत्पन्न हुई हैं। इन व्यष्टि इन्द्रियों के भोगों से विरत और विरक्त हो समष्टि इन्द्रियों के स्तर में प्रेरक चेतन ब्रह्म का साक्षात्कार करना है।

समष्टि गुदा इन्द्रिय मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गुदा इन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि गुदा इन्द्रिय के अन्वय रूप में—

समष्टि गुदा इन्द्रिय का स्तर भी मूलतः मूलप्रकृति से ही परम्परा रूप से परिणत हुआ है। मूल प्रकृति ही अपने आवान्तर परिणामों को अभिव्यक्त करती हुई गुदा रूप में परिणत हुई है। प्रकृति अपने स्थिति रूप धर्म और भगवान् के सन्निधान से प्राप्त ज्ञान और क्रिया गुणों को लेकर मध्यगत परिणामों को पार करती हुई गुदा रूप में अनुपतित हुई है। मूल प्रकृति परिणामिनी है। इस परिणामिनी मूल प्रकृति का अनुपतन ही समष्टि और व्यष्टि गुदा इन्द्रिय रूप में हुआ है। वह प्रकृति अपने धर्म और गुणों के साथ ही अनुपतित हुई। इस गुदेन्द्रिय समष्टि मण्डल का धर्म भी मल-विसर्जन ही है। यह सृष्टि का रचना काल है। समष्टि में उसके धर्म मल-विसर्जन का कोई कार्य व्यवहार इस काल में नहीं होता जैसे बिजली के तार में बिजली का करन्ट है, उसमें प्रकाश धर्म है, पर वह व्यक्त होता है, बल्ब में जाकर ही। ऐसे ही समष्टि का धर्म मलविसर्जन व्यष्टि गुदा इन्द्रिय में ही अभिव्यक्त होता है। यह विसर्जन धर्म वाला समष्टि गुदा इन्द्रिय का मण्डल या स्तर समष्टि सत्त्व राजस् तमः अहंकार का परिणाम है। समष्टि सत्त्व राजस् तमः अहंकार समष्टि महत्तमः का परिणाम है। समष्टि महत्तमः मूल प्रकृति से अपने स्वरूप में आया है। मूल प्रकृति अजन्मा सत् और नित्य है। उसका क्रिया धर्म ही गुदा इन्द्रिय के मल-विसर्जन रूप धर्म में व्यक्त हुआ है। मूल प्रकृति की स्थिति ही तेजः स्वरूप गुदा इन्द्रिय के समष्टि स्तर की स्थिति रूप में व्यक्त हुई और मूल प्रकृति का ज्ञान गुण समष्टि गुदा इन्द्रिय के स्तर में निहित ता है जिससे वह जानी जाती है, और स्तरों से पृथक् अपनी सत्ता रखे है पर व्यष्टि गुदा

इन्द्रिय के व्यवहार काल में यह ज्ञान धर्म प्रस्फुटित हो उठा है जिसके आधार पर यह व्यष्टि गुदा इन्द्रिय शरीर के समस्त भोज्य में से अनुपयोगी भाग का ही ग्रहण कर विसर्जन कर देती है। विसर्जन क्रिया द्वारा केवल मल और अपान को ही बाहर निकालना गुदा इन्द्रिय का प्रकृति से अपहृत ज्ञान गुण को प्रमाणित करता है।

इस प्रकार मूल प्रकृति अपने धर्म और गुणों के साथ समष्टि गुदा इन्द्रिय के स्तर में अनुपतित हुई है। यही समष्टि गुदा इन्द्रिय मण्डल का अन्वय है। इस मण्डल या स्तर के प्रत्यक्ष समय में उस ब्राह्मी चेतन सत्ता की विद्यमानता का भी साक्षात् प्रत्यक्ष करना है जिसकी सन्निधानता से इस मण्डल में मल विसर्जन धर्म इस अद्‌भुत रीति से निहित है।

इस गुदा इन्द्रिय के मल विसर्जन का सहारा लेकर दबादब खाने-पीने, और रसास्वाद में ही जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिये। यदि आपको दिव्य नेत्र के सहारे गुरु चरण कृपा से इन स्तरों का साक्षात्कार हो गया है, और उनमें ब्रह्मानुभूति भी होने लगी है तो भी यह ध्यान में रख लीजिये कि यह रसास्वाद आपको फिर आत्म दर्शन या ब्रह्म दर्शन से विमुख कर देगा, क्योंकि ब्रह्म दर्शन तो केवल ज्ञान और परम वैराग्य के ही पर परमपुनीत पात्र में चिर स्थिर रह सकता है, अन्य तांबे या पीतल के पात्र में पड़े स्वच्छ निर्मल दही की तरह नीला, कड़वा, विष बनकर ब्रह्म-ज्ञान अहंभाव-अहंमन्यता का कारण बन जायेगा, इसलिये योगिन् अपने पर दया कर ब्रह्म के साक्षात्कार के साथ-साथ परवैराग्य की सुधा का भी पान करते चलो। जिससे आप की साध पूरी हो सके। यह हुआ समष्टि गुदेन्द्रिय के चतुर्थ रूप में ब्रह्म दर्शन।

समष्टि गुदा इन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(गुदा इन्द्रिय का पञ्चम रूप)

५. समिष्ट गुदा-इन्द्रिय के अर्थवत्त्व रूप में—

समष्टि गुदेन्द्रिय स्तर का अर्थवत्त्व तो इसी में है कि यह योनिमात्र के अर्थात् ८४ लाख योनियों के स्थूल शरीरों और उससे भी पहले सूक्ष्म शरीरों के निर्माण में उपयुक्त होती है। योगी जन भी निर्माण चित्तों के साथ और स्थूल शरीरों के निर्माण में इसी स्तर से इच्छानुसार अपेक्षित गुदा इन्द्रियों को लेकर उनके शरीरों में अपने भोगों को परिसमाप्त कर मुक्त होते हैं। यदि यह समष्टि गुदेन्द्रियों का स्तर न होता और आकाश मण्डल में सर्वत्र व्याप्त न होता तो सर्वत्र भूमण्डल, और लोक लोकान्तरों में विषम से विषम और जटिल से जटिल परिस्थितियों में भी शरीर निर्माण कैसे होता अतः समस्त आकाश मण्डल में सर्वत्र विद्यमान इस गुदा-मण्डल की शरीर निर्माण में अर्थवत्ता है।

समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल में विद्यमान 'मल विसर्जन' धर्म की अर्थवत्ता व्यष्टि गदा इन्द्रिय में प्रकट होगी। यह गुदा इन्द्रिय मल-विसर्जन क्रिया सजीव मात्र के स्थूल

ग्रौर प्रत्येक सूक्ष्म शरीर में कल्याण का हेतु बनी है किसी कारण से एक दिन मल का विसर्जन न हो तो कितनी बेचैनी ग्रौर परेशानी होती है। कष्ट ग्रौर क्लेश की सीमा नहीं रहती। पेट फूल जाता है, ग्रफारा ग्रा जा है। हाथ पैर ग्रकड़ जाते हैं, ग्राँखे पथरा जाती हैं। शरीर को छोड़ जीव बाहर भागने की तैय्यारी में लगता है। देखने वाले इधर-उधर भागते हैं, नाना प्रकार के उपचार करते हैं, ग्रौषधि खिलाते-पिलाते हैं, यदि उस से मल-विसर्जन हो गया, ग्रपान बाहर निकाल दिया तो प्राण बच जाते हैं। ग्रन्यथा मरण निश्चित है ही। यह दशा भोग योनि ग्रौर कर्म योनि की समान रूप से होती है। ऐसी है ग्रर्थवत्ता इस गुदेन्द्रिय के मल विसर्जन की है।

यदि यह गुदेन्द्रिय किसी भी कारण से नियमित कार्य न कर सके, ग्रौर ग्रतिसार या विशूचिका, दस्त या हैजा हो जाये, ग्रौर इस क्रिया को भी ग्रौषधि से नियमित न किया जा सके तो भी मरण निश्चित है। ग्रतः गुदा इन्द्रिय का वास्तविक उपयोग ही सूक्ष्म ग्रौर स्थूल शरीर में ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है।

जब किसी वैद्य या डाक्टर के पास जाना पड़ जाता है तो वह सर्व प्रथम गुदेन्द्रिय के मल- विसर्जन के बारे में ही पूछता है यदि मल-विसर्जन ठीक होता रहे तो स्वास्थ्य ठीक रहता है। स्वस्थ व्यक्ति ही भोगों को भोग सकता है, ग्रौर स्वस्थ व्यक्ति ही योगाभ्यास कर सकता है। स्वस्थ व्यक्ति ही भोगों से उपराम हो विरक्त हो सकता है। रोगी तो कुछ भी नहीं कर सकता। स्वास्थ्य बनाये रखने में गुदेन्द्रिय की बड़ी भारी ग्रर्थवत्ता है।

मनुष्य दिन-रात में बहुत ग्राहार खा जाता है। ग्रन, फल, दूध, घी, शाक, दाल ग्रादि। यदि यह इन्द्रिय न हो इनका पाकान्तर ग्रवशिष्ट मल कहाँ रहे। यदि शरीर में रह जाये तो सैकड़ों प्रकार के भयंकर से भयंकर रोग उत्पन्न कर देता है। इसी लिये ग्रायुर्वेद में कहा गया है—'न वेगान् धारयेत् धीमान्'—बुद्धिमान् मल के वेग को रोकता नहीं, तत्काल उस मल का विसर्जन करता है। यह गुदा इन्द्रिय का ही काम है जो ग्रनावश्यक ग्रनुपयोगी, हानिकारक मल का विसर्जन करती है। स्थूल शरीर के समान सूक्ष्म शरीर में भी सूक्ष्म गुदेन्द्रिय ग्रकेली मल त्याग का काम करती है। इसी मल त्याग के कारण दोनों शरीर स्वस्थ बलवान्, ग्रारोग ग्रौर दीर्घ जीवी रहते हैं।

(शंका)क्या सूक्ष्म शरीर में भी रोग ग्रदि होते हैं?

(समाधान)—'भोगे रोग-भयम्'—जहाँ' जहाँ भोग है वहाँ रोग भी हैं। जब सूक्ष्म शरीर पंच-तन्मात्राग्रों का भोग करते हैं, तो मल का त्याग न होने पर सूक्ष्म शरीर में कुछ न कुछ विकार तो होगा ही। पर विद्वान् लोग वहाँ विकार नहीं मानते क्योंकि वहाँ ग्रत्यन्त सूक्ष्म-तन्मात्राग्रों का भोग होता है। वे हमारी तरह पेटु नहीं होते। केवल वासना मात्र से ही उनकी तृप्ति हो जाती है।

इस प्रकार ग्राप ने देखा कि व्यष्टि गुदेन्द्रिय का मल विसर्जन जीवन के लिये कितना ग्रपरिहार्य धर्म है। यही धर्म समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डल में ग्रधिष्टित है। उस धर्म की यथावसर इतनी बड़ी भारी ग्रर्थवत्ता है। समष्टि गुदेन्द्रिय में इस ग्रर्थवत्ता का समाधि-काल में प्रत्यक्ष करें ग्रौर साथ ही सर्वव्यापक उस ब्राह्मी चेतना का भी साक्षात् करें जिसके सन्निधान से चेतन सी वनी जड यह समष्टि व्यष्टि गुदाइन्द्रिय जीवमात्र का भोग ग्रौर

मनुष्य का अपवर्ग भी सम्पादन करने में समर्थ है। ब्रह्मानुभूति करते हुए भी इसे स्मरण रखें कि अत्यन्त उपयोगी इस समष्टि और व्यष्टि गुदेन्द्रिय से विरक्ति लाभ किये बिना यह ब्रह्मानुभूति चिर-स्थायिनी न होगी। अभ्यास के साथ-साथ वैराग्य की निष्टा अभ्यास से भी अधिक आवश्यक है यही मुक्ति प्रदान करेगी।

इति समष्टि गुदेन्द्रिय मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये षष्ठः खण्डः

इति त्रयोविंशमावरणम्

सप्तम खण्ड

२२वां आवरण

समष्टि राजस-अहंकारिक उपस्थेन्द्रिय मण्डल

पांचों रूपों में ब्रह्मानुभूति

समष्टि अहंकारिक उपस्थेन्द्रिय का मण्डल समष्टि गुदेन्द्रिय के मण्डल के ऊपर है, यह मण्डल चमकदार और नारञ्जी से रंग का है। गुदेन्द्रिय के मण्डल से मिलता-जुलता है। गुदेन्द्रिय की अपेक्षा इसमें सत्त्व की श्वेतिमा और राजस की लालिमा कुछ अधिक है। तामस पीतिमा उससे कम है। गुदेन्दि मण्डल में तमोगुण अधिक है। अतः उसमें पीलापन अधिक है। सत्व गुण और रजोगुण की मात्रा अधिक होने से उपस्थेन्द्रिय मण्डल में चेतना और क्रिया की मात्रा अधिक है। गुदेन्द्रिय मण्डल की अपेक्षा इसमें चञ्चलता और स्वछता अधिक है।

योगिन्! आप के और ब्रह्म के वीच नीचे से यह वारहवां परदा है। ग्यारह को पार कर आये हैं। उनकी अपेक्षा इसको विदीर्ण करना तनिक कष्ट साध्य है। यदि आप ने काम पर विजय पा ली है, तो इसको पार करने में कोई कठिनाई न होगी। काम पर विजय ही सर्वाधिक दुःसाध्य है। पर वैराग्य ही इसकी विजय का अचूक शस्त्र है। इस मण्डल में सूक्ष्म रूप से दो धर्म निहित हैं, १—मूत्र विसर्जन २. वीर्य विसर्जन। यहाँ इन धर्मों की अभिव्यक्ति नहीं है। इन धर्मों की अभिव्यक्ति तो सूक्ष्म शरीर की रचना के सम्पन्न होने पर होगी। अभी तो सूक्ष्म शरीरों की रचना के लिये गोदाम भरे जा रहे हैं। जिस प्रकार जब कोई भोज करना होता है तो कोठार में सब सामग्री एकत्रित कर ली जाती है। उस सामग्री में भोज के समय उपस्थाप्यामान सब मिठाइयों के रस और स्वाद विद्यमान हैं, पर यदि कोई उसी समय उनको चखने की बात कहे तो मूर्खता होगी। पर हलवाई सब निश्चय पूर्वक जानता है। विज्ञ जन भी। इसी प्रकार यहाँ उपस्थेन्द्रिय समष्टि मण्डल में मूत्र और वीर्य-विसर्जन दोनों धर्म विद्यमान हैं। भगवान् की इस करामात को योगिजन ही जान सकते हैं। समाधिस्थ हो इसे जानने का प्रयत्न करते है।

यह समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल सृष्टि काल में सदा आकाश मण्डल में रहता है। सृष्टि काल में तो इसका उपयोग समस्त सूक्ष्म शरीरों के निर्माण में होता है और उसके पश्चात् 'यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते' (व्यास भाष्य) जब योगी बहुत शरीरों को बनाता है तब इस समष्टि मण्डल से उपस्थेन्द्रिय को लेकर शरीर रचना पूरी करता है, मुक्ति से लौटने वाली आत्माओं की शरीर-पूर्ति भी इसी मण्डल से उपस्थेन्द्रिय लेकर होती है।

ब्रह्म के सम्पर्क से चेतन सी बनी इस प्रकृति महामाया का विधान इस प्रकार आगे बढ़ता है। समष्टि उपस्थेन्द्रिय के पाँचों रूप भी इस विधान का अंग हैं। उन पाँचों

रूपों का तथा उनमें अपने तीव्र ज्ञान और वैराग्य की पुट से ब्रह्म का साक्षात् अनुभव कीजिये।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(उपस्थेन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि उपस्थेन्द्रिय के स्थूल रूप में—

समष्टि उपस्थेन्द्रिय अहंकारिक सृष्टि का दसवां और समष्टि राजस अहंकार का चौथा परिणाम है। ब्रह्म और जीव के बीच यह २२वाँ आवरण है। इसके हट जाने पर २१ आवरण अभी और हटाने हैं। समष्टि उपस्थेन्द्रिय के निर्माण से पूर्व तीनों समष्टि कर्मेन्द्रियों वाणी हस्तपाद के मण्डल तथा ज्ञानेन्द्रियों आदि के मण्डल बन चुके हैं। तीनों कर्मेन्द्रियों तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियों से बढ़ कर इसकी उपादेयता और क्लिष्ट-तम-हेयता है।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल में दो धर्म निहित हैं १. मूत्र-त्याग २. वीर्य विसर्जन। इस समष्टि मण्डल में इनका व्यवहार सूक्ष्म शरीर के समस्त अवयव सहित अवयवी के निर्माण तक व्यक्त नहीं होता। यह दोनों धर्म समस्त समष्टि मण्डल में हैं, तभी तो व्यष्टियों में व्यक्त हो पाते हैं।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय के स्थूल रूप को समझने के लिये इन दोनों धर्मों को समझना आवश्यक है। इन दोनों धर्मों का विशद रूप में स्पष्टी करण व्यष्टि में ही हो सकता है। अतः व्यष्टि का आश्रय लेकर इनको समझना है।

शरीर के स्वास्थ्य की दृष्टि से मूत्र-विसर्जन अत्यन्त आवश्यक है। मल का विसर्जन तो दो चार दिन के संगृहीत होने के बाद ही चिन्ता का विषय बनता है। मूत्र-विसर्जन में यदि कुछ घन्टों का ही विलम्ब हो जाये तो तबाही मचा देता है। डाक्टर भी चिन्तित हो उठते हैं। तत्काल सलाई डाल कर मूत्राशय से मूत्र निकाल कर ही समझते हैं रोगी बच गया। यदि किसी मांसपेशी के अटक जाने से या अन्य किसी व्युत्क्रम के कारण मूत्र नहीं उतरता तो निराशा का वातावरण छा जाता है। मूत्र विषाक्त हो जाता है। मूत्र की अधिक मात्रा से अफारा तो हो ही जाता है, विष भी बड़ी तीव्रगति से शरीर में फैलना आरंभ कर देता है। और जीवन लीला शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। मूत्रावष्टम्भ का ऐसा घातक परिणाम होता है। उपस्थेन्द्रिय जीवन के लिये अपरिहार्य है।

प्यास मिटाने के लिये जब जल का पान किया जाता है। और भूख मिटाने के लिये दूध या फलों आदि का रस पान किया जाता है, तो शरीरानुपयोगी जल तत्त्व के निकलने का मार्ग तो होना ही चाहिये। वह मार्ग उपस्थ में रखा गया है। मूत्र के साथ केवल जलीय दुष्ट अंश ही बाहर नहीं निकलता, शरीर के अन्य बहुत से विष भी मूत्र के साथ बहकर बाहर निकलते हैं। शरीर को स्वस्थ बनाये रखते हैं।

उपस्थेन्द्रिय को भी लोग मूत्र की नाली कह कर अपवित्र समझ लेते हैं। चाहते हैं उपस्थेन्द्रिय तो शरीर से तरल मल को निकालती रहे, चाहे वे उस को साफ न करें।

रसोई, घर, पाखाने आदि की मोरियों को साफ न किया जाये तो वे रुक कर घर भर को खराब बना देती हैं। इसी प्रकार यदि मूत्रेन्द्रिय को साफ न रखा जाये, मूत्र-वेग के समय मूत्र विसर्जन न किया जाये, खाल को हटाकर धोया न जाये तो अनेक घातक रोग उत्पन्न होने का डर लगा रहता है। इसीलिये शिष्ट लोग मूत्र के उपरान्त जल से इन्द्रिय का प्रक्षालन अवश्य करते हैं।

पीने में भी मात्रा का ध्यान रखते हैं, स्वाद के चस्के स्वादिष्टपेय या भोजन अतिमात्रा में नहीं खाते। इस मूत्रेन्द्रिय के दुरुपयोग के लोमहर्षक दुष्परिणाम देखने हों तो किसी पब्लिक हस्पताल के मूत्र-रोग वार्ड को देख लेना चाहिये। इतना उपयोगी और अनिवार्य है यह मूत्र-विसर्जन।

२. दूसरा धर्म है वीर्य-विसर्जन। वीर्य शरीर का ओज बल कान्ति है। इसीसे शरीर में कान्ति आती है। जो कुछ हम आज खाते हैं ४० दिन में जा कर रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि आदि बनते बनते अन्त में वीर्य बनता है। वैद्य लोगों का कथन है ४० सेर अन्न से केवल एक तोला वीर्य बनता है। दीपक में तैल के समान यह स्थूल-शरीर का जीवन है। 'अमृतविन्दुधारणम्' इसके एक बून्द की भी रक्षा करनी चाहिये यह अमृत है। इसी से बुद्धि तत्त्व पुष्ट होता है। वेद ने भी कहा है, ब्रह्मचर्येणमृत्युमुपाघ्नत' वीर्य रक्षा से मृत्यु पर विजय प्राप्त होता है। इसी के धारण से हनुमान् वज्राङ्ग बने। भीष्मपितामह इसी के आधार पर १७५ वर्ष के महाभारत युद्ध भूमि में तहलका मचा गये, और शरशय्या पर छः मास तक लेटे मृत्यु को ललकारते रहे, जब सूर्य उत्तरायण हुआ तभी प्राण त्यागे। इस युग के वेद के विद्वान् अखण्ड आबाल ब्रह्मचारी अष्ट प्रकार के मैथुनों से रहित योगिवर दयानन्द धर्म में क्रान्ति लाये, और अन्त में मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सिद्धासनस्थ हो प्रसन्न मुद्रा में प्राण त्यागे। वीर्य रक्षा की महिमा महान् है। इसके संरक्षण पर ही योग की पूर्णता निर्भर है। आज का संसार इसके महत्त्व को नहीं समझ रहा है। इसका रक्षण ही परम धर्म है।

सृष्टि के चलाने और वंश परम्परा को बनाये रखने के लिये वीर्य में ८४ लक्ष योनियों के सृजन का बीज भी निहित है। पशु पक्षी मानव कीट पतगं सब ही प्राणियों की उत्पत्ति इससे होती है। इस महत्त्वशाली वीर्य के निस्सरण का मार्ग भी उपस्थ में ही रखा गया है। इसी से प्राणी गर्भाधान कर वंश परम्परा कायम रखते हैं। मानव का प्रजनन भी इसी के द्वारा होता है। सब प्राणियों में यही बुद्धि जीव है। पर इसने बुद्धि का उपयोग विपरीत मार्ग में किया। प्रकृति के सब प्राणी ऋतुगामी हैं। ऋतु आने पर, या समझिये प्रजनन का समय आने पर ही संयुक्त हो अपना वंश चलाते है। सब योनियों का प्रजनन समय निर्धारित है। पर मानव ! बुद्धि जीवी मानव। सब मर्यादाओं को तोड़ बैठा। प्राकृतिक भी और शास्त्रीय भी। इसने भोग विलास को ही उपस्थ का धर्म समझ लिया। ऋतु, समय का सब विचार भुला कर दिन रात मुँह काला करना ही सुख का सार समझ लिया। परन्तु यह घोर अनाचार है। घोर पाप है।

अन्य भोग योनियों के लिये प्रजनन धर्म हो सकता है, पर मानव के लिये नहीं। वे भोग-योनियाँ हैं। परवश हैं। यह तो कर्म योनि है। मानव देह वह चौराहा है जिस से मोक्ष में भी जा सकते हैं, स्वर्ग में जा सकते है, अन्य नरक योनियों में भी जा सकते हैं

ग्रौर मानव देह में भी लौट सकते हैं। इस चौराहे पर तो इस लिये ग्राये हैं कि मोक्ष प्राप्त करना है। ८४ लाख भोग योनियों में से यही तो ग्रवसर है, न जाने कितने जन्मों, ग्रौर कितने वर्षों के बाद हाथ लगा है, यदि यहाँ ग्राकर भी मोक्ष के लिये कटिबद्ध न हुग्रा, तो न जाने कितने युगों के लिये लख चौरासी के चक्कर में फिर भटकना ग्रौर यातनायें सहना पड़ेगा। ग्रतः मानव धर्म तो ग्रखण्ड ब्रह्मचर्य धारण कर मोक्ष प्राप्त करना ही हैं। मानव जीवन में तो उपस्थ का केवल एक ही धर्म उपयोक्तव्य है मूत्र विसर्जन। वीर्य-विसर्जन तो पथ-भ्रष्ट करने वाला है। इस लिये उपस्थ का मुख्य धर्म एक ही है मूत्र विसर्जन। इस लोक में बाल-ब्रह्मचारी इस इन्द्रिय के एक ही धर्म का उपभोग करते हैं केवल मात्र मूत्र त्याग का ही। ग्रतः यही धर्म सब के लिये मुख्य है। काम भोग, प्रजा जनन गौण हैं। मुक्ति की इच्छा वाला सन्तानोत्पत्ति का कार्य करेगा ही नहीं, क्योंकि उसकी भावना पुत्रैषणा की जाती रही है। बाल-ब्रह्मचारी भी इस काम धर्म का उपभोग नहीं करते हैं। वैसे भी शास्त्र मर्यादानुसार ब्रह्मचारी वानप्रस्थ ग्रौर सन्नयास तीन ग्राश्रमों में काम धर्म सर्वथा वर्जित है। निर्बल ग्रात्माग्रों के घोर पतन से बचाने के लिये ग्रायुः का चौथा भाग गृहस्थ के लिये रखा था। यह तो ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकने वाले रोगियों के लिये हस्पताल था। परन्तु महान् खेद का विषय है कि सब रोगी बनने जा रहे हैं, डाक्टर कोई भी नहीं। ग्रधः पतन का मार्ग ही सबने ग्रपना लिया है।

मुक्ति की इच्छा वाला सन्तानोत्पत्ति का कार्य करेगा ही नहीं। इस उपस्थ का यह काम धर्म गौण ही है। मुख्य धर्म मूत्र त्याग ही है।

तन्मात्रा के स्वर्ग लोक ग्रादि में भी इस उपस्थ का धर्म मूत्र त्याग ही है, क्योंकि वहाँ कुटुम्ब कबीला ग्रौर सन्तानोत्पत्ति नहीं है।

यह व्यष्टि उपस्थेन्द्रिय के दोनों धर्म समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल में बीज रूप से वर्त्तमान रहते हैं। वही व्यष्टियों में ग्राकर विकास भाव को प्राप्त हुए उपलब्ध होते हैं। यह समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल का प्रयोजनमय स्थूल रूप है। समाधि द्वारा ग्रापने इसी का प्रत्यक्ष करना है। सर्वत्र विद्यमान निमित्त कारण भगवान् की सन्निधानता का भी ग्रनुभव करना है। यदि भगवान् की ग्रनुभूति को चिरस्थायी ग्रौर दृढ़ बनाना है तो वैराग्य की भावना को दृढ़तम करना होगा। जो वास्तव में मोक्ष का हेतु बनेगी।

(शंका) क्या स्वर्ग में भी पेशाब करने की जरूरत पड़ती है? तब तो वहाँ शौचालय ग्रादि भी होते होंगे, ग्रौर गृह ग्रादि भी।

(समाधान) यदि स्वर्ग में शौचालय ग्रौर घर माने जायें तो इस लोक में ग्रौर उस लोक में क्या ग्रन्तर हुग्रा। दोनों ही समान हुए। फिर ऐसे स्वर्ग लोक के लिए कौन बुद्धिमान् कठिन साधना ग्रौर घोर तप करेगा?

तन्मात्रा के स्वर्ग लोक में रस-तन्मात्रा का भोग तो ग्रवश्य है, पर वह इस जल का ही सूक्ष्म रूप है। वहाँ सूक्ष्म गन्ध ग्रौर सूक्ष्म रस के क्या मल-मूत्र बनेंगे। यदि कुछ बने भी तो वह उस सूक्ष्म ग्राकाश मण्डल में ही ग्रग्नि ग्रौर वायु की तन्मात्राग्रों से भस्मी भूत होकर समाप्त हो जायेंगे। स्थूल लोक तक नहीं पहुँचेंगे। सूक्ष्म गन्ध ही उनका भोग है। सूक्ष्म रस में यहाँ के षट्रस के स्वाद भी समझने चाहियें। सो गन्ध ग्रौर स्वाद का

क्या मल वनेगा । नाम मात्र को भी बनता हुआ नज़र नहीं आ रहा है । सूक्ष्म शरीर में गुदा और उपस्थ सूक्ष्म चमकती दीप्त तार का रूप सूक्ष्म इन्द्रियों से क्या मल निकलेगा। नहीं के बराबर ना मालूम ही होगा, जो वहीं दूसरी तन्मात्राओं में ही विलीन हो जाता है । यहाँ का मल स्थूल भूतों में विलीन हो जाता है, वहाँ का सूक्ष्म भूतों में । वहाँ का आकाश मण्डल में अपने ही भूत में विलीन हो जाता है ।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(उपस्थेन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि उपस्थेन्द्रिय के स्वरूप में--

मूत्र त्याग और वीर्य विसर्जन दोनों धर्म समिष्ट उपस्थेन्द्रिय मण्डल में अव्यक्त रूप में सदा वर्त्तमान रहते हैं । यह दोनों धर्म समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल से कभी अलग नहीं होते । यह दोनों धर्म ही समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल का स्वरूप हैं । इनका धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध है । यह दोनों गुरण हैं और मण्डल गुरणी है । गुरण से गुरणी अलग नहीं हुआ करता है । इनका स्वरूप सम्बन्ध है ।

(शंका) इस लोक में जिस प्रकार प्रत्येक योनि का उपस्थेन्द्रिय भिन्न आकृति वाला है, क्या इनके काररण भूत समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल में यह आकृतियाँ भी निहित रहती हैं ?

(समाधान) यह विभिन्न योनियों में विभिन्न आकृति के उपस्थ, उपस्थेन्दियाँ नहीं हैं । वास्तविक उपस्थेन्दियाँ तो सूक्ष्म रूप में ब्रह्म-रन्ध्र में रखी हुई हैं । वह तो चमकते हुए नारंगी रंग के छोटे-छोटे तारे जैसे करण हैं । यह सब योनियों में एक जैसे होते हैं । इन में कोई भेद नहीं होता । दोनों धर्म इन में साथ-साथ रहते हैं । यह तो सूक्ष्म शरीर का एक भाग है । जो आवागमन के समय सूक्ष्म शरीर के साथ जाता है । कर्मानुसार यही सूक्ष्म शरीर सब योनियों में जाता है । यह सूक्ष्म शरीर संकोच विकास शील है। हाथी के शरीर में फैल जाता है । चीन्टी के शरीर में सुकड़ जाता है। यह सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही साथ जाती हैं । साथ ही अगले शरीर में आती हैं । यही वास्तविक इन्द्रियाँ हैं । उपस्थ इन्द्रिय भी इसी प्रकार एक तारा-सा करण है । यह बाहर के अंग तो इस सूक्ष्म इन्द्रिय के व्यवहार के मार्ग हैं । यह तो शरीर के साथ ही भस्मीभूत हो जाते हैं। समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल से व्यष्टि रूप में यह छोटे-छोटे चमकते तारे ही उत्पन्न होते हैं । इन तारों का काररण वह विशाल समष्टि उपस्थेन्दिय मण्डल है । वहाँ इन आकार-प्रकारों की क्या कल्पना । इस ब्रह्म-विज्ञान को समझने के लिए स्थूल, सूक्ष्म आदि शरीरों का विज्ञान हमारे 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ से प्राप्त कीजिए ।

मूत्र त्याग और वीर्य विसर्जन धर्म हैं, उपस्थेन्द्रिय मण्डल धर्मी है । धर्म-धर्मी का अभेद है। इस अभेद का ही आप को समाधि में दर्शन करना है । इस मण्डल का यह बारहवाँ परदा है, इसके अन्दर दिव्य दृष्टि से समाधि की गहन स्थिति में प्रवेश कीजिये, और सर्वान्तर्यामी प्रियतम के दर्शन कीजिये । पर ध्यान रखिये यह प्रियतम भी एक स्नेही व्रत को चाहता है । इसी से प्रेम करने वाले को यह दर्शन देता है, अन्यानुरक्त से तत्काल अन्तर्धान हो जाता है । यदि आपने भगवान् के दर्शन को शाश्वत बनाना है

प्रकृति की रति के राग से अलग हट जाइये। परम वैराग्य को धारण कीजिये। फिर देखिए ये परदे कैसे फटते हैं, और कितना शीघ्र उस प्रियतम का दर्शन या मिलन होता है।

(शंका) समष्टि मण्डल से दोनों धर्मों का अभेद है वे उससे कभी अलग ही नहीं होते, तव तो स्वर्ग लोक में भी उपस्थेन्द्रिय में काम धर्म रहता होगा, उनका वहाँ निवारण कैसे होता होगा।

(समाधान) इस लोक में मोक्ष की इच्छा वाला ब्रह्मचारी इसका दमन कामोद्दीपक सामग्री के होते हुए भी कर लेता है। तो स्वर्ग लोक में इसके निवारण की क्या बात वहाँ तो कामोद्दीपक प्रसंग है ही नहीं। वहाँ तो स्त्री पुरुष नाम का कोई भेद है ही नहीं। सूक्ष्म शरीरों में यह भेद होता ही नहीं। साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है, कि उपस्थ का मुख्य धर्म मूत्र त्याग है। इसी लिए मोक्ष की इच्छा करने वाला ब्रह्मचारी काम वासना को दमन कर लेता है। यदि उपस्थ का धर्म वीर्य विसर्जन होता तो इस लोक में ब्रह्मचारी या सन्यासी से काम-दमन न होता तो शास्त्र आदि में ब्रह्मचर्य पालन का आलाप व्यर्थ ही सिद्ध होगा। फिर जितेन्द्रियता क्या हुई। देखो काम-भोग और प्रजाजनन के बिना तो मनुष्य रह सकता है, जैसे सन्यासी, वानप्रस्थी, बाल ब्रह्मचारी, योगी, जितेन्द्रिय पुरुष रहते ही हैं। परन्तु पेशाब किये बिना तो कोई भी मनुष्य नही रह सकता है। अतः उपस्थेन्द्रिय का मुख्य धर्म मूत्र त्याग ही है।

(शंका) बहुत से बड़े-बड़े विद्वान् स्वर्ग के बड़े-बड़े सब्ज बाग दिखाते हैं कि वहाँ अप्सरायें, देवाङ्गनायें, या हूरें भोगने को मिलती है। तब काम रूप वीर्य-विसर्जन दूसरा धर्म अनर्थक कैसे हुआ।

(समाधान) मालूम होता है यह सब इस प्रकार का स्वर्ग या जन्नत में देवाङ्गनाओं के मिलने का ऐतिहासिक वर्णन उन भोगी, विलासी, कामी पुरुषों की प्रसन्नता एवं आकर्षण के लिए किया गया होगा जिनकी इस लोक में भोगों को भोगते-भोगते तृप्ति नहीं हुई वास्तव में स्वर्ग या जन्नत की प्राप्ति तो अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म करने वाले जितेन्द्रिय पुरुषों के लिए है। अतः जितेन्द्रिय महान् आत्माओं का ही वहाँ गमन होता है। जिससे कि वे वहाँ अनन्तसुख शान्ति और आनन्द भोग सकें।

(शंका) स्वर्ग में स्त्रियाँ भी तो गमन करती होंगी। और पुरुष तो जाते ही हैं, तब दोनों का निवास वहाँ होता ही होगा। तब काम की व्यवस्था भी होगी।

(समाधान) वहाँ इस संसार के समान राग-द्वेष, मोह-काम, भोग आदि कर्म नहीं होते हैं। ये तो इसी मनुष्य लोक के भोग हैं। स्वर्ग में तो केवल पञ्च-तन्मात्राओं के सूक्ष्म भोग ही होते है। केवल गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ही तन्मात्राओं के रूप में परि-तृप्ति करने वाले होते हैं। इनका भोग दिव्य होता है। जैसे मनों गुलाब सूँघने पर वह तृप्ति नहीं होती जो तनिक से उसके इतर के फाये से हो जाती हैं, और चिरस्थिर रहती है। गुलाब तो सबको मिल जाता है पर इतर किसी किसी को। स्पर्ग के दिव्य भोग भी महान् आत्माओं को प्राप्त होते हैं। मुक्ता स्त्रियाँ भी स्वर्ग में होती हैं। बाह्य आकृति में भेद होता है, पर स्थूल शरीर और स्थूल इन्द्रियाँ नहीं होतीं। सूक्ष्म शरीर ही तो होते हैं। स्त्री-पुरुष के सूक्ष्म शरीरों में भेद नहीं होता। जैसा उपस्थ सूक्ष्मेन्द्रिय तारिका के समान पुरुष के सूक्ष्म शरीर में होता है ठीक वैसा ही स्त्री के सूक्ष्म शरीर में छोटे से तारे

जैसा योनि का सूक्ष्मेन्द्रिय होता है। सूक्ष्म शरीरों में काम भोग की कल्पना बेहूदा कल्पना है। वहाँ तो दिव्य ज्ञानेन्द्रियों का दिव्य ग्रानन्द है। कर्मेन्द्रियाँ तो केवल कर्म करने के लिए हैं, उनमें ग्रानन्द नहीं। हाथ से उठाने या पैर से चलने में क्या ग्रानन्द है, कुछ भी नहीं। इसी प्रकार मूत्र त्याग ग्रौर पुरीषोत्सर्ग में कोई ग्रानन्द नहीं। वीर्योत्सर्ग में भी ग्रानन्द नहीं पर मिथ्या कल्पना एवं भ्रान्तिवश ऐसा मानव मान बैठा है। जैसे सूखी हड्डी में कोई ग्रानन्द नहीं, पर कुत्ते को ग्रपने दान्तों मसूढ़ों का खून ही हड्डी का रस मालूम पड़ता है। वीर्योत्सर्ग में भी कोई ग्रानन्द नहीं, ग्रपितु महान् विषाद एवं कष्ट होता है, इसका ग्रनुभव युवक को ग्रपनी युवा ग्रवस्था में स्वप्नदोष के समय होता है। वीर्योत्सर्ग का तो इतना मानस विषाद होता है कि कोई-कोई तो ग्रात्महत्या तक को उतारू हो जाते हैं। ग्रनुभव सबका ऐसा ही होता है, मूर्ख ग्रज्ञानी उसकी परवाह नहीं करता। स्पर्श में भी कोई सुख नहीं। यह भी भ्रान्ति है। सर्प का स्पर्श कितना कोमल होता है पर क्या वह सुखदायी है? सर्वथा नहीं, ग्रौर उसके स्पर्श से तो होश ही गुम हो जाते हैं। स्पर्श से तो स्पर्श वाले से प्राप्त होने वाले भावी सुख दुःख की कल्पना ही सुख-दुःख है, वास्तव में कुछ नहीं। प्रिय के स्पर्श में सुख ग्रौर ग्रप्रिय के स्पर्श में दुःख क्यों? यदि स्पर्श में ही सुख हो तो यह भेद न हो। ग्रतः स्वर्ग में इस प्रकार के स्पर्श सुख को काम भोग की कोई बात नहीं होती।

(शंका) स्वर्ग में स्त्रियों के भी तो दिव्य शरीर होते हैं ग्रतः दिव्यों का दिव्यों के साथ सम्वन्ध हो सकता है?

(समाधान) पूर्व समाधान में ही इसका तथ्य वता दिया गया है। दिव्य शरीरों में इस प्रकार का भोग नहीं बनता। फिर यह भी तो विचारो, कि ये भोग तो इस लोक में प्राप्त हैं, फिर इन भोगों के लिए स्वर्ग में जाने की क्या जरूरत। ऐसा मानोगे तो इस लोक में ग्रौर स्वर्ग लोक में कोई ग्रन्तर नहीं रहेगा। फिर स्वर्ग की भावना या धारणा ही समाप्त हो जायेगी। स्वर्ग तो ऐसा लोक है, जहाँ न राग है, न द्वेष है, न मोह है। न काम है। न किसी से प्रीति है, न कोई दुःख है, न कोई बन्धन है। सब प्रकार के क्लेशों का ग्रभाव है। पूर्ण शान्ति। पूर्ण सुख। पूर्ण ग्रानन्द है।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल के द्वितीय रूप धर्म धर्मी के ग्रभेद में ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस इन्द्रिय के समष्टि मण्डल में ब्रह्म की व्यापकता ग्रौर चेतना का ग्रनुभव करना चाहिए, यह ग्रनुभव स्थिर तव ही होगा जब इस प्रकृति के परिणामों का ठीक-ठीक रूप समझ, इनकी ग्रसलियत को पहचान इनसे वैराग्य धारण कर पर-वैराग्य को प्राप्त किया जाये। ग्रात्म-रूप ग्रौर ब्रह्म-रूप पहिचानने की जानने की, ज्ञान ग्रौर वैराग्य ही महौषध है। इसका हाथ लगना ही वास्तविक पुरुषार्थ है।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(उपस्थेन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि उपस्थेदिन्य के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि सात्त्विक ग्रहंकार ग्रौर समष्टि तामस ग्रहंकार के स्वल्प मिश्रण से समष्टि राजस ग्रहंकार का समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल परिणाम है। इस समष्टि उपस्थे-

न्द्रिय का और समष्टि रजः प्रधान अहंकार की प्रधानता में तीनों अहंकारों के सम्मिश्रण का जो समुदाय समष्टि उपस्थेन्द्रि-मण्डल बना है यही अयुत-सिद्ध द्रव्य है। अथवा समष्टि रजः प्रधान अहंकार सामान्य और समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल विशेष का समुदाय ही यहाँ अयुत-सिद्ध द्रव्य है। इनका यह परस्पर भेद से अनुगत अभेद रूप समुदाय है। यहाँ समष्टि रजः प्रधान अहंकार तीनों अहंकारों का सम्मिश्रण कारण और समष्टि उपस्थेन्द्रिय कार्य है यही इसका सूक्ष्म रूप है। इसी प्रकार समष्टि उपस्थेन्द्रय और व्यष्टि का कारण कार्य भावरूप सम्बन्ध सूक्ष्म रूप समझें।

यहाँ उपस्थेन्द्रिय तो समष्टि अहंकारत्रय के भेद रूप से अभेद को प्राप्त एक द्रव्य है। समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल का परिणाम, समष्टि सात्विकाहंकार ·२ अंश+ समष्टि राजस अहंकार १·७ अंश+समष्टि तामस अहंकार १·१ अंश के सम्मिश्रण से अभेद रूप में हुआ है। शिश्न में गुदा की अपेक्षा सत्त्व दुगना है। यही कारण है, गुदा में सत्त्व का रूप ज्ञान तिरोहित सा है पर शिश्न में ज्ञान गुदा की अपेक्षा अत्यधिक है। मूत्राशय में मूत्र एकत्र हुआ इसमें उसे निकाल बाहर करने की चेतना आयी। ब्रह्म-रन्ध्रस्थ उपस्थेन्द्रिय के कार्यवाहक शरीराँश माँस नलिका और पेशियों में प्राण का सञ्चार हो जाता है, और वे उपस्थेन्द्रिय की आज्ञा मान तत्काल उस मूत्र को बाहर निकालने के लिए तत्पर हो जाती हैं, यहाँ तक कि गाढ निद्रा में सोये जीव को भी चेतन कर देती हैं। इससे भी बुरी दशा काम विकार या विषयवासना के मन में आने पर या स्वप्न दशा में विषय वासना की घटना के आने पर होती है। शिश्न में गुदा की अपेक्षा राजस भी ·२ अंश अधिक है। यह रजो गुण उस समय मानव को उतावला बना देता है। सत्त्व तो इसमें केवल ·२ भाग है,पर रजो गुण १·७ भाग है। यह क्रिया शील हो उठता है, भड़क जाता है। उस समय इस राजोगुण का निवारण अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। इसलिये पहले से ही सात्त्विक भावनाओं को बढ़ाते रहना चाहिये। जिससे रजोगुण उपद्रव न मचा सके। नहीं तो महीनों वर्षों की कमाई क्षण भर में लुटते देर नहीं लगती।

इस शिश्न मण्डल का सूक्ष्म रूप तो तामस अहंकार ही है। अहंकार भी तामस् से उत्पन्न हुआ, और वह अहंकार भी तामस। करेला और नीम चढ़ा। जड और ममत्व की भावना से भरा। उसमें रजोगुण का यह पुट राजस अहंकार की मात्रा से आया। तामस अहंकार की मात्रा तमोगुण ने मिलकर उत्पन्न किया उसके मण्डल को। इनका परिणाम हुआ शिश्न और मूत्र विसर्जन, और वीर्य विसर्जन में। मूत्र तो शरीर के रस का निकृष्ट-तम भाग और वीर्य शरीर का भोज्य को सर्वोत्तम भाग। यदि शिश्-नेन्द्रिय सरल स्वाभाविक रूप में चलाई जाती रहे तो महा उपयोगी, शरीर से मूत्र को बाहर निकाल उसे स्वस्थ बनाये रखती है, और अष्ट मैथुनों में से किसी का भी कुसंग इसे स्पर्श कर गया तो शरीर के सर्वस्व वीर्य पर सीधा हमला कर बैठती है। ऐसा करारा घात्र लगती है कि आयु भर उपचार किये जाओ ठीक ही होने में नहीं आता, अतः आरम्भ से ही आठों प्रकार के मैथुनों से युवा मनुष्य, बचता रहे तभी कल्याण है। इस शिश्न को उसके स्वाभाविक धर्म-कर्म मूत्र त्याग में लगा रहने दे। अप्राकृतिक अस्वाभाविक कामवासना को मन में आने ही न दे जिससे यह शिश्नेन्द्रिय बिगड़े बाघ की तरह हमला कर सदा के लिये घायल न कर सके।

पाठक ! आपने समझा, समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल का परिणाम समष्टि तामस, राजस एवं सत्त्वाहंकारों की मात्राओं से हुआ है। उस समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल से व्यष्टि उपस्थेन्द्रिय का निर्माण हुआ है। जो चमकते नारञ्जी रंग के छोटे से तारे के रूप में हैं। यही व्यष्टि उपस्थेन्द्रिय सूक्ष्म शरीर में है, और सूक्ष्म शरीर के साथ ही स्थूल शरीर में आयी है। समष्टि मण्डल में इसके दोनों धर्म प्रस्तुत होते हैं। सूक्ष्म शरीरों में सूक्ष्म सी मात्रा में मूत्रत्याग-धर्म का ही उपयोग होता है। प्रजनन सूक्ष्म शरीर में नहीं है। जब यह सूक्ष्म शरीर स्थूल में प्रवेश करते हैं, वहाँ दोनों धर्म जागरूक हो उठते हैं मूत्र त्याग और वीर्य-विसर्ग भी अधिक मात्रा में होते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन इस वीर्य, विसर्ग को रोक सकता है, और रोकना चाहिये। इन दोनों धर्मों को क्रियान्वित करने के लिये स्थूल शरीर में ये लिङ्ग और योनि के रूप में मार्ग रखे गये हैं। ये दोनों वास्तव में मार्ग हैं, स्थूल मांसपिण्ड शरीर के भाग हैं। यह इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्हें तो गौणरूप से इन्द्रियाँ कह दिया जाता है। कहने मात्र से इन मांस पेशियों या मांस के लोथड़ों को इन्द्रियाँ नहीं समझ लेना चाहिये। यह व्यष्टि इन्द्रियाँ प्रत्येक प्राणी के शरीर में हैं और समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल जिससे यह उत्पन्न हुई हैं; आकाश में व्याप्त चमकदार १२वां स्तर है। रजः अहंकार समष्टि उपस्थेन्द्रि का सूक्ष्म रूप है और समष्टि उपस्थेन्द्रिय व्यष्टि उपस्थेन्दिय का सूक्ष्म रूप है।

इन तीनों समष्टि अहंकारों का जव परिमित मात्राओं के संयोग से समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल में परिणाम होता और इससे व्यष्टियों का उत्पादन है, तो वह भी एक विस्मय कारक दृश्य होता है। उस काल में ब्राह्मी चेतन सत्ता संघात की प्रेरिका होती है। क्योंकि जड पदार्थों को अपनी परिमित मात्रा का ज्ञान कैसे हो सकता है। परिमित काल में परिमित दिशा में ब्रह्म का नियोजन समष्टि उपस्थ मण्डल को परिणत कर देता है और इससे व्यष्टि को इस भेदानुगत व्यष्टि समष्टि मण्डल में ब्रह्मानुभूति करनी चाहिये। क्योंकि कोई भी पदार्थ उसकी व्यापकता से खाली नहीं। पर साधक-वृन्द यदि गुरुकृपा, या उनके निर्देशानुसार अपने अध्यवसाय से ब्रह्म दर्शन कर भी लिये तो विना पर वैराग्य-निष्ठा के यह स्थायी नहीं होंगे, न मोक्ष तक ले जा सकेंगे। अतः वैराग्य के रंग को परिपक्व करते चलिये। तभी आपकी साधना सार्थक होगी।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(उपस्थेन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि उपस्थेन्द्रिय के अन्वय रूप में—

समष्टि उपस्थेन्द्रिय का स्तर भी उत्पन्न हुआ है, परिणत हुआ है। सदा से इसी रूप में नहीं है। प्रलय काल में यह नहीं रहता। अब भी घटता बढ़ता रहता है। जव व्यष्टि उपस्थ वनते हैं; यह कम हो जाता है। यह योगी निर्माण शरीरों के लिये उपस्थों का आहरण करता है तो कम हो जाता है। जब मुक्तात्माओं योगियों के निर्माण-शरीरों के चित्त लौटते हैं तो यह बढ़ जाता है। यह परिणामी है अतः उत्पन्न हुआ है। यह स्तर भी परम्परा से मल-प्रकृति का ही परिणाम है। मूल प्रकृति अपने स्थिति धर्म और ज्ञान

तथा क्रिया गुणों के साथ अनुपतित हुई है। प्रकृति सर्वप्रथम महत्सत्त्व महद्रज और महत्तम में परिणत हुई उनमें वे महत्तम समष्टि सत्त्वाहंकार समष्टि राजसाहंकार और समष्टि तामस अहंकार में परिणत हुआ। उन तीनों से समष्टि उपस्थेन्द्रिय का मण्डल परिणाम भाव को प्राप्त हुआ और इससे व्यष्टि उपस्थ। प्रकृति के क्रिया और ज्ञान इनमें मुख्य रहे, और वे मूत्र त्याग और वीर्य विसर्जन में परिणत हो गये। समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल में यह दोनों धर्म अव्यक्त हैं। पर हैं अवश्य। इनकी अभिव्यक्ति सूक्ष्म रूप से सूक्ष्म शरीर में और स्पष्ट रूप से स्थूल शरीर में होगी।

इस सबका अभिप्राय यही है कि कारण रूपा प्रकृति, भोगात्मक कार्यरूपा प्रकृति के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होती हुई समष्टि व्यष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल में अपने धर्मों और गुणों सहित अनुपतित हुई है। इस अनुपतन में ही योगी को ब्रह्मानुभूति करनी चाहिये, क्योंकि वह अनन्त है और है सर्वव्यापक। उपस्थ के स्तर में यह ब्रह्मानुभूति तब ही स्थिर होगी जब आप इस तत्त्वज्ञान के परिणाम पर वैराग्य को दृढ़ कर इतने दृढ़ हो जायेंगे कि व्यष्टि उपस्थ के चक्कर में न पड़ जायेंगे। भगवान् शंकर की तरह पूर्ण काम विजयी होंगे। और काम आपके सामने आते ही अनंग हो जायगा। उसकी कुछ न चलेगी।

समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(उपस्थेन्द्रिय का पञ्चम रूप)

५. समष्टि उपस्थेन्द्रिय के अर्थवत्व रूप में—

समष्टि उपस्थेन्द्रिय स्तर की अर्थवत्ता या सार्थकता इसी में है कि ब्रह्माण्ड भर के जीवों के सूक्ष्म शरीरों की रचना में यह काम में आती है। उन्हीं से फिर स्वर्गस्थ सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरस्थ सूक्ष्म शरीरों में विभाजन होता है। योगी भी जब अपनी योगशक्ति से नये शरीरों का निर्माण करता है तो इसी स्तर से उन शरीरों के लिये उपस्थ लेता है। जब जीव मुक्त हो जाते हैं तो उनके सूक्ष्म शरीरों के उपस्थ भी इसी स्तर में सम्मिलित हो जाते हैं। यह स्तर अपनी परिधि में समस्त आकाश मण्डल में फैला हुआ है, इसीलिये आकाशवर्त्ती समस्त लोक लोकान्तरों में सब परिस्थितियों में शरीर निर्माण हो जाता है। योगी का सामर्थ्य कहीं भी अवरुद्ध नहीं होता। मरण समय में यदि कोई क्षति या न्यूनता सूक्ष्म शरीरों में आ जाती है तो इन्हीं स्तरों में से जाते हुए वह पूर्ण हो जाती है। मनुष्य की कल्पना भी जहाँ नहीं पहुँच पाती वहाँ भी यह स्तर विद्यमान हैं, और लोक लोकान्तरों में आवान्तर प्रलय होने पर इन स्तरों के आधार पर ही सृष्टि निर्माण और शरीर निर्माण चल रहा है।

इस उपस्थ के स्तर में भी जो मूत्र-त्याग और वीर्य विसर्जन धर्म विद्यमान हैं उनकी अर्थवत्ता प्राणियों की व्यष्टिगत उपस्थेन्द्रियों से प्रकट होगी। यदि किसी भी योनि में उपस्थ न होता तो उस शरीर का सार हीन अनुपयोगी तरल तत्त्व कैसे बाहर

निकलता। कैसे वह शरीर जीवित रहता। कैसे कर्म करता। कैसे भोग-योनि या कर्म योनि सार्थक होती है। मोक्षैक मार्ग मनुष्य योनि के लिये वीर्योत्सर्ग गौण धर्म होते हुए भी अन्य भोग योनियों के लिये मुख्य ही धर्म है। यदि उनमें उपस्थ प्रजनन न करता शुभाशुभ कर्मों के भोग की व्यवस्था ही समाप्त हो जाती। यदि यह कर्म योनियाँ समाप्त हो जायें तो मानवजीवन में पड़ी हुई आदतें, या इन्द्रियों का दुरुपयोग स्वभाव कहाँ ठीक होता। वह इन की योनियों में आकर सुधरता है। मनुष्य जिस अंग का असदुपयोग करता है, उसके वे संस्कार दृढ़ हो जाते हैं, उन संस्कारों के अवरोध के लिये उसे ऐसी योनि में जाना पड़ता है जहाँ वे संस्कार पनप न सकें, उस इन्द्रिय का वहाँ उपयोग नहीं होता। यदि इन भोग योनियों में उपस्थ का प्रजनन धर्म न होता तो भोग योनियाँ समाप्त ही हो जातीं। यह दूसरी बात है कि प्रकृति के प्रकोप या मानव की उच्छृंखलवृत्ति से कुछ योनियों का लोप कभी-कभी होता रहता है। जैसे अभी वर्त्तमान में अधिक शिकार खेलने से सिंह की नसल ही समाप्त हो चली थी। तब सरकार को वन्य संरक्षण के आधीन सिंह का शिकार वर्जित करना पड़ा। श्वेतसिंह भी अब केवल चिड़िया घरों या पञ्जरों में ही सुरक्षित हैं। इस प्रकार भोग योनि की स्थिति के लिये उपस्थ का प्रजनन धर्म अनिवार्य है, इसी लिये प्रजनन का नाम शास्त्रकारों ने पशु धर्म रखा है। प्रतीत होता है यह पशुओं का ही धर्म है मानव का नहीं।

यह इन्द्रिय भोग और अपवर्ग में सहायक है। इसके द्वारा ही जीवात्मा मानव देह धारण कर पाती है, जो कि मोक्ष का एक मात्र साधन है। सन्तानोत्पादन के लिये, कामवासना के लिये नहीं, किया हुआ वीर्य-दान भी इसी लिये धर्म माना गया है, कि इसके द्वारा किसी जीव को मनुष्य देह मिल सकेगा, और वह और मोक्ष की तैय्यारी करेगा। पर यदि किसी के दान किये हुऐ सद्भावनामय वीर्य से उत्पन्न हो कर भी मानव भोग विलास और काम-तृप्ति में पड़ जाता है, तो उस से बढ़ कर अभागा नहीं। वीर्य दान देने वाले का तो महाविनाश किया और अपना कुछ वनाया नहीं। क्षुद्र योनियों के जीव भी इसी उपस्थ की कृपा से मानव देह प्राप्त कर जीवन सफल बनाने का अवसर प्राप्त करते हैं।

पर प्रायः प्राणी इसका उपयोग अवर्ग और मोक्ष के लिये न कर इस इन्द्रिय का दास वन भोग-विलास में फंस जाते हैं। मानों यही एक भोग उनके लिये मुख्य है शेष गौण हैं। अन्य इन्द्रियों के भोग भी इसी के अंग से बन जाते हैं। श्रोत्र जिस से भगवद्भक्ति, या सदाचार देश भक्ति आदि के गान सुनने चाहियें थे, वह भी कामोत्तेजक कामवासना से भरे गाने में प्रवृत्त हो मानों इसे ही रिझाने और भड़काने का ठेका ले बैठी है। आँख भी उसी प्रकार के कामुक वेश-भूषा को पसन्द करती है, जिस से इसकी तृप्ति हो। इसी प्रकार के खेल-तमाशे और सिनेमा देखती है, जिनसे इसको ही प्रोत्साहन मिले। नासिका भी इसी प्रकार की अप्राकृतिक गन्धें पसन्द करती है जिस से इसको बढ़ावा मिले। रसना भी ऐसे ही स्वाद चखती है जिस से यह उत्तेजित हो, हर्षित हो। स्पर्श भी इसी प्रकार के स्पर्श का संग्रह करता है, जिस से इसका लालन हो। पैर भी वहीं जाते हैं। जिसमें इसकी प्रसन्नता हो और स्वच्छन्द विहार हो। हाथ भी उन्हीं वस्तुओं को पकड़ते हैं जिसमें इसका प्रसाद मिले। इसके सम्पर्क में आते

ही संसार पलट जाता है । शान्त अशान्त हो जाता है । गंभीर चंचल हो उठता है । अमृत विष बन जाता है । इसका नशा ऐसा चढ़ता है कि अन्य नशों को मातकर देता है । यह मोक्ष से हटा नरक में डाल देता है । न जाने कितना पीछे धकेल देता है । मनुष्य इसकी तृप्ति करने के लिये राज्य को देश को परिवार घर को छोड़ कर चल देता है ।

पर यदि मानव की बुद्धि विचलित होने से रुक जावे, और मननशील मानव को विवेक-पूर्वक उसे रोकना ही चाहिये —तब तो इस पर विजय प्राप्त कर लेने पर सारी ही इन्द्रियाँ अपने आप वश में होती चली आती हैं। मानव वास्तव में पूर्ण रूपेण स्वर्ग तथा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। किसी कवि ने कहा है, 'तेषु तास्त्रप्यनासक्त :, साक्षान्नरो भर्गाकृतिः' कामिनी और कनक में जो नहीं फंसा वह साक्षात् महादेव है । कामवासना रहित व्यक्ति संसार के अनेकानेक बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

संसार के मूर्ख जीव वीर्य के पतन में सुख का अनुभव करते हैं, इसके खोने के अनेक साधन या उपाय इकट्ठे करते हैं । इसके विनाश का विवाह बहुत अच्छा साधन माना जाता है । मानों वीर्य-विनाश का पासपोर्ट मिल गया है । पर यह सब मूर्खता है, भोलापन है । नादानी है और है भयंकर बेवकूफी । मानव को जान-बूझ कर अन्धा नहीं बनना चाहिये । जानते पहचानते विष नहीं खाना चाहिये, गरल नहीं पीना चाहिये । संसार का इस भावना ने आज सत्यानाश कर दिया है ।

यदि इस अमूल्य रत्न की रक्षा की जाये, इसको भगवान् के निमित्त धरोहर समझ कर सुरक्षित रखा जाये, तो इस से मिलने वाले आनन्द का व्याख्यान नहीं हो सकता । यह लोक भी सुख और आनन्द से भरपूर और स्वर्ग और मोक्ष भी सामने उपस्थित । ऐसी अनोखी दुधारी तलवार है यह उपस्थ । अतः योगि प्रवर ! सावधान हो जाँच कर ऐसा हाथ मारो कि यह कामवासना की विषवल्लरी सदा के लिये उच्छिन्न हो जाये, और इस उपस्थ के वास्तविक मुख्य धर्म मूत्र त्याग का आप यथोचित प्रयोग कर सकें । अपनी समाधि द्वारा समष्टि व्यष्टि उपस्थस्तर के इस मुख्य धर्म का साक्षात् कर सकें ।

उपस्थ का मुख्य धर्म ?

(शंक) काम-भोग और सन्तानोत्पत्ति स्वाभाविक हैं, जैसे हाथ पैर मुख आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्म करती हैं । आँख देखती है, कान सुनते हैं, इत्यादि सब कर्म स्वाभाविक ही हैं। इनका निरोध कैसे हो सकता है । इसी प्रकार उपस्थ का भी स्वाभाविक कर्म प्रजनन ही है, पशु पक्षी आदि को कौन सिखाता है, बिना सीखे ही बच्चे पैदा करने लगते हैं ।

(समाधान) हाथ से दूसरों की हिंसा, प्राण वियोग और चोरी आदि निन्दित कर्म भी किये जा सकते हैं । और इन्हीं हाथों से दीन, दुःखी, अनाथ, पीड़ित, रोगी आदि की सेवा और रक्षा का कार्य भी किया जा सकता है । पैर से भी इसी प्रकार चोरी, हिंसा, ताडन आदि का कार्य भी हो सकता है, और चल कर दूसरों की रक्षा और श्रेष्ठ कर्म भी किये जा सकते हैं । मुख से अच्छे सात्विक पदार्थ भी खाये जा सकते हैं, और बुरे माँस मछली, अण्डे, प्याज आदि भी । आँख महापुरुषों के दर्शन करा अच्छी

भावना भी पैदा कर सकती है। और किसी रूपवती सुन्दरी या सुन्दर पुरुष को देख कर उसके प्रति काम जन्य बुरी भावना भी पैदा कर सकती है। कान अच्छे कल्याणकारी हितकर वचनों को भी सुन सकते हैं, और निन्दा, चुगली, गाली, कुमार्ग प्रवर्तक वचनों को भी सुन सकते हैं। हम चाहें तो इन इन्द्रियों से कैसा भी कोई कर्म न करें। आँख से देखना बन्द कर सकते हैं। कान से सुनना बन्द कर सकते हैं। हाथ से पकड़ना, और पैर से चलना छोड़ सकते हैं।इसी प्रकार मैथुन कर्म को भी जीवन में सदा के लिये छोड़ सकते हैं। बन्द कर सकते हैं। यदि यह मैथुन उपस्थ का मुख्य कर्म होता तो हमारी इच्छा के विरुद्ध भी होता रहता। यदि उपस्थ का मुख्य और अनिवार्य कर्म मानना है तब तो मूत्रत्याग करना ही मुख्य और अनिवार्य कर्म है। यदि गुदा का मुख्य कर्म लें तो मल त्याग का कार्य करना ही मुख्य है, क्योंकि नित्य खाते भी हैं और पीते भी हैं। अतः इनका मल-मूत्र बनना ही हुआ। अन्न जलादि उदर में जाते ही हैं, पाक होकर शरीर के पोषण-योग्य अंश को छोड़कर, शेष मल-मूत्र के रूप में बाहर निकल आता है। यह आवागमन बना ही रहता है। पूर्ण बाल ब्रह्मचारी अष्ट प्रकार के मैथुनों का परित्याग कर आजीवन ब्रह्मचारी रह सकता है। कितने ही रह चुके हैं, और आज भी रह रहे हैं, अतः उपस्थ का मुख्य धर्म काम-भोग नहीं हैं। मुख्य धर्म तो मूत्रत्याग ही है, जिसे किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ा जा सकता मूत्र बन्द न योगी कर सकता है, न भोगी। यदि वीर्य-विसर्जन ही मुख्य और अनिवार्य धर्म होता तो संसार में कभी कोई जितेन्द्रिय न बन सकता और न उन्हें मोक्ष ही हो सकता। रही पशु-पक्षी की बात यह भी संसर्ग से प्रवृत्त होते हैं। और फिर यह हैं भी भोग-योनि के। इनके लिये ब्रह्मचर्य धर्म लागू नहीं होता है। क्योंकि ज्ञान का अभाव है। मनुष्य में तो ज्ञान है, अतः यह इन्द्रियों पर विजय पा सकता है।

(शंका) गीता में कहा है 'प्रकृति यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति'। इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्मों को रोका नहीं जा सकता है। अतः इनका निरोध करना बेकार है?

(समाधान) आँखों ने जरूर देखना है, परन्तु वह वस्तु का देखना भी अच्छी पवित्र और धार्मिक भावना से होना चाहिये। कान ने अवश्य सुनना है पर उसे भी अच्छे उपदेश और सत्संग की अच्छी बातें सुननी चाहियें। हाथों ने हिलना है. पैरों ने चलना है, पर इन्हें भी अच्छे कार्यों के लिये हिलाना चाहिये। गुदा और उपस्थ ने मल मूत्र का त्याग करना है, अतः स्वाभाविक है। परन्तु दुराचारी दोनों इन्द्रियों का मैथुन के रूप में प्रयोग करते हैं जो अस्वाभाविक है।

यदि मुख्य और अनिवार्य काम भोग को मान लिया जाये, तब तो स्वर्ग में इसकी पूर्ति के लिये भी देवाङ्गनाओं की आवश्यकता होगी। स्वर्ग में काम भोग का जीवन बन जाने से इस लोक में और स्वर्ग-लोक में अन्तर ही क्या रहा? अतः काम भोग उपस्थ का मुख्य और अनिवार्य गुण नहीं है। हां वीर्य का स्वाभाविक धर्म सन्तति जनन अवश्य है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का ठीक पालन नहीं कर सकते, जितेन्द्रिय नहीं बन सकते हैं, वे इसके द्वारा अच्छी श्रेष्ठ सन्तान पैदा कर के संसार की परम्परा को बनाये रख सकते हैं। आगे चला सकते हैं।

इस अर्थवत्ता-रूप में भी ब्रह्म का अनुभव होना चाहिये। मोक्ष के जिज्ञासुओं को इन्द्रियों के आसक्ति पूर्ण भोगात्मक कर्मों को त्याग कर, पूर्ण वैराग्य धारण कर, जितेन्द्रिय हो आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

इति समष्टि उपस्थेन्दिय मण्डलम्।

इति द्वितीयाध्याये सप्तमः खण्डः।

इति द्वाविंशमावरणम्

अष्टम खण्ड

२१ वां अवरण

समष्टि राजस् अहंकारिक पादेन्द्रिय मण्डल

पांचों रूपों में ब्रह्मानुभूति

अहंकार से परिणत समष्टि पादेन्द्रिय का मण्डल समष्टि उपस्थेन्द्रिय मण्डल के ऊपर अवस्थित है।

आप के और ब्रह्म के बीच यह तेरहवां परदा है। बारह तो आप पार कर आये। ग्यारवहां कठिनतम था, वैराग्य की तीक्ष्ण धार से आप ने उसे भी विदीर्ण कर ही दिया। इसमें सात्विकता अधिक है, इसे आप सरलता से पार कर सकेंगे। इस मण्डल में सूक्ष्म रूप से 'गमनागमन' गति रूप धर्म निहित है। 'गमनागमन' धर्म का इस मण्डल में भान नहीं होता। इस धर्म की प्रतीति कार्य-काल अर्थात् सूक्ष्म शरीरों की रचना होने पर होगी। अभी तो सूक्ष्म-शरीर की सामग्री एकत्र की जा रही है। इस संग्रह-काल में भी यह 'गमकागमन' इसमें निहित है। इस धर्म का प्रत्यक्ष इस स्थिति में योगज दिव्य-नेत्र से हो सकता है।

यह समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल भी सृष्टि काल में आकाश मण्डल में ही वर्त्तमान रहता है। सूक्ष्म-शरीरों की व्यष्टि पाद इन्द्रियां इसी समष्टि मण्डल से परिणत होती हैं। मुक्ति से लौटी आत्माओं के पुनः शरीर धारण पर इसी पाद मण्ड पादेन्द्रिय लेकर शरीर रचना होती है।

ब्रह्म की व्यापक-सन्निधानता से चेतन सी बनी प्रकृति अपना रचना चक्र घुमाये चलती है। समष्टि पादेन्द्रिय भी इसी चक्र का एक अरा है। आगे उन्हीं पांचों रूपों का अवलोकन कीजिये। उनमें ओत-प्रोत ब्रह्म का भी साक्षात् दर्शन कीजिये।

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(पादेन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि पादेन्द्रिय के स्थूल रूप में—

समष्टि पादेन्द्रिय अहंकारिक सृष्टि की नवमी और समष्टि राजस अहंकार का तीसरा परिणाम है। ब्रह्म और जीव के बीच यह २१ वां परदा है। हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर आ रहे हैं। रचना तो सूक्ष्म से स्थूल की ओर चलती है।

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल में एक ही धर्म निहित है। १. गमनागमन। सूक्ष्म शरीर रचना पूर्ण होने तक यह 'गमनागमन' धर्म व्यक्त नहीं होगा। पर यह धर्म समष्टि पादमण्डल में है तभी तो सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म-पादेन्द्रिय में व्यष्टि रूप में व्यक्त होगा।

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल के 'गमनागमन' धर्म को समझने के लिये व्यष्टि पादेन्द्रिय में ही इस धर्म के परिणामों को समझना होगा। व्यष्टि पादेन्द्रिय गमनागमन का

कार्य करती है। पर वास्तव में जो सूक्ष्म पादेन्द्रिय 'गमनागमन' रूप धर्म से युक्त है, उसका गमनागमन साधारण अवस्था में ज्ञात नहीं होता। उसको तो योगी ही ध्यानस्थ हो सूक्ष-शरीर का साक्षात्कार कर साक्षात् कर सकता है। साधारणतया पादों में जो गमनागमन प्रतीत होता है या समझा जाता है, वह उस सूक्ष्म पादेन्द्रिय के निमित्त से होता है। यह पैर तो उसके कार्यवाहक यन्त्र हैं। इस लिये इन्हें स्थूल पादेन्द्रिय कह कर पुकारा जाता है।

यद्यपि पैर दो हैं, पर सूक्ष्म शरीरस्थ पादेन्द्रिय एक ही है, और वह सब योनियों के शरीरों में एक ही है। परन्तु योनियों के शरीरों की पाद-संख्या भिन्न है। मनुष्य के दो पैर हैं। पशुओं के चार पैर हैं। षट् पद के ६ पैर है। मकड़ी के आठ पैर होते हैं। कनखजूरे के सैङ्कड़ों। और इसी प्रकार कान सलाई के अनगिनत। सबके पैरों की संख्या भिन्न २ होते हुए सब की एक ही और एक सी पादेन्द्रिय हैं। यदि पैरों की संख्या के अनुसार सूक्ष्म पादेन्द्रिय की संख्या मानी जाये तो व्यवहार नहीं हो सकेगा। अनेक सूक्ष्म इन्द्रियां, अपने- अपने पैर को चलने का आदेश देंगी। भिन्न-भिन्न होने से यथा-रुचि भिन्न २ दिशाओं में ही चलने का आदेश देंगी। यदि ऐसा हो तो प्राणी एक भी पग आगे न धर सकेगा। यदि मन को नियामक मान भी लिया जाये, तो वह तो एक काल में एक से ही कार्य करायेगा। एक क्षण में एक ही पैर उठा और स्तब्ध रहा तब भी गति असम्भव हो जायेगी। अतः एक ही सूक्ष्म पादेन्द्रिय सब पैरों से काम कराती है तभी ताल मेल बैठता है। तब ही सब पैर ठीक २ एक दूसरे की गति से गति मिला कर चलते हैं।

पैर का गमनागमन वास्तव में केवल गति ही है। शरीर से स्थान की अपेक्षा दूसरी दिशा में गति हो गयी गमन हो गया। उसी स्थान की ओर गति हो गयी, आगमन हो गया। गमन और आगमन का अर्थ केवल गति या क्रिया है। गति किसकी ओर हो रही है यह तो 'आ' उपसर्ग से व्यक्त किया जा रहा है। गम्लृ धातु 'गतौ' केवल गति अर्थ को ही कहती है। और उपसर्ग भी धातु के अर्थ अर्थात् धातु में जो अर्थ निहित है, उसे ही व्यक्त करते हैं। उसी के द्योतक होते हैं। अपना उनका कोई अर्थ नहीं होता। अतः आगमन का अर्थ भी गति ही है अन्य कोई भिन्न अर्थ नहीं है। भोजन तो भोजन ही रहता है, चाहे किसी के हाथ में जाये। किसी का हाथ लगने से भोजनत्व में अन्तर नहीं आता।

(शंका) चलना तो हाथों से भी होता है, अभ्यासी व्यक्ति कितनी दूर तक मोर चाल चल लेता है। यहाँ तक कि पैरेलल बार पर भी हाथों से चलता है। सिंगल बार पर भी हाथों से चलता है। फिर चलना धर्म पैरों का ही कैसे हुआ?

(समाधान) गति करना, शरीर को इधर-से-उधर ले जाना तो पैरों ही का काम है। जब किसी यात्रा में जाते हैं, लम्बी यात्रा होती है। पैर थक जाते हैं। हम भी थक कर बैठ जाते हैं, क्या ऐसे अवसरों पर कभी आपने इन चल सकने वाले हाथों से चलते देखा है। जब पैर थक जाते हैं, तो हाथ भी मोर चाल नहीं चल सकते। थके पैरों में गति नहीं रही वे थक गये, जब उनमें गति नहीं तो अपनी गति को रोक दूसरे

को कैसे दे। अतः गति धर्म मुख्य रूप से पैरों का है। हाँ गति का अर्थ हिलना-डुलना लें, तो वह सारे ही शरीर में, और शरीर के सब ही अंगों में है। पर यहाँ पैर के गमनागमन का अर्थ पैरों का स्वयं जाना आना भी नहीं है, क्योंकि शरीर से अलग होते ही यह शक्ति उनकी समाप्त हो जाती है, क्योंकि ब्रह्मरन्ध्रस्थ सूक्ष्मादेन्द्रिय से उन का सम्बन्ध टूट गया। वही तो उनकी चालक थी। अब कौन चलावे। इसलिए पैरों के गमनागमन का अभिप्राय इस २-२॥ मन की लाश को लिए फिरना है। भला है किसी श्रमजीवी में इतना सामर्थ्य कि २॥ मन के बोझे को २४ घन्टे उठाये फिरे। यह सूक्ष्म पादेन्दिय की ही सामर्थ्य है कि २४ घन्टे पैरों से शरीर को उठवाये रखती है। यह पैर चलने के लिए हर समय तत्पर रहते हैं। अन्धेरा हो, रात हो, उबड़-खाबड़ हो, कांटे हों कैसी ही विषमता हो यह पैर स्वामी की आज्ञा मान हर समय चलने को तैय्यार। पहाड़ों में यह पहाड़ी मनो बोझ सिर में अटका कमर पर लाते हैं, मार्ग को छोटा करने के कारण कठिन से कठिन चढ़ाई पर चढ़ जाते हैं, मार्ग में सड़क से न चलकर, सीधी चढ़ाई पर चलेंगे, जहाँ विना बोझ चढ़ना कठिन है। वहाँ यह सहिष्णु पैर अपने मालिक को जवाब नहीं देंगे। खैंच-खाँचकर सब को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचा ही देते हैं।

पाठक यह न समझें, चलने वाले तो स्थूल पैर हैं, सूक्ष्मेन्द्रिय क्या कर सकती है। आपने कटे पैरों की दशा देखो विना सूक्ष्मेन्द्रियों के छटपटाते हैं, और एक पग या इंच भी नहीं चल सकते। पर सूक्ष्मेन्द्रिय पाद की गति अव्याहत होती है, वेरोक-टोक होती है, उसके मार्ग में न समुद्र, न पहाड़, न खाई, न खन्दक, न ऊँचाई, न नीचाई, न आग, न पानी बाधक हो सकते हैं। पहले समय में प्रायः और आजकल भी कभी-कभी हिन्दू देवियाँ जीते जी सती होती देखी गयी हैं। यह अग्नि केवल स्थूल शरीर को ही जलाता है, सूक्ष्म शरीर तो अक्षुण बना रहता है। आग पानी हवा सबमें से अछूता निकल जाता है। उस समय भागने वाली यह सूक्ष्म पादेन्द्रिय होती हैं। यह सूक्ष्मेन्द्रिय पाद ही सूक्ष्म शरीरों को स्वल्प समय में लाखों मील की दूरी के लोक-लोकान्तरों का भ्रमण करा देती हैं। स्वर्गस्थ जीव तो इसी सूक्ष्म पादेन्द्रिय के आश्रय यथेच्छ लोकों में गमन करते हैं। उनका सर्वत्र कामचार इसी सूक्ष्म पादेन्द्रिय के आधार पर है। योगी भी इसी सूक्ष्म पादेन्द्रिय के आधार पर है। योगी भी इसी सूक्ष्म पादेन्द्रिय के आधार पम सूर्य की किरणों पर आरोहण करता है। और अव्याहत गति हो सकता है। दौड़ना, चलना, कुदकना, फुदकना, दुलकी, रुहाल, रेंगना आदि सब पाद के ही कर्म हैं। यह सब गमनागमन या गति के ही विभिन्न रूप या परिणाम हैं। हैं सब पादेन्द्रिय के धर्म। जो समष्टि में गति रूप से निहित हैं।

यह व्यष्टि पादेन्द्रिय में 'गमनागमन' समष्टि पादेन्द्रिय से ही आया है। इस प्रकार का विचित्र शक्तिशाली गमनागमन समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल में निहित है। योगिन्! समाधि द्वारा आपने इसी का प्रत्यक्ष करना है। इस समष्टि पादेन्द्रिय के मण्डल में जो गमन की शक्ति अन्तर्निहित है वह चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से ही परम्परागत रूप से आई हुई है। अतः इस गमनागमन अभिन्न धर्म में ब्रह्म की अनुभूति होनी चाहिये। यदि ब्रह्मानुभूति को स्थायी और अचल बनाना है तो इस प्रकृति के सौंदर्य के अलोकनार्थ, या दुर्गम तीर्थों में पुण्यार्जनार्थ, अथवा संसार के संघर्ष में अर्थोपार्जनार्थ दोड़-धूप

से वैराग्य प्राप्त कीजिये। वैराग्य को ऐसा दृढ़ कीजिये कि अचल कूटस्थ भगवान् की स्थिर प्राप्ति के लिये आप भी अचल कूटस्थ हो जायें।

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(पादेन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि पादेन्द्रिय के स्वरूप में—

'गमनागमन' धर्म समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल में सदा अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। यह 'गमनागमन' इस समष्टि मण्डल से कभी अलग नहीं होता। यह गमनागमन व्यष्टि समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल का स्वरूप है। इसको धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध भी कहते हैं। यह गमनागमन गुण है और मण्डल गुणी है। गुण गुणी अलग-अलग दो पदार्थ नहीं होते। यह इनका स्वरूप सम्बन्ध है। जब नाश होगा दोनों का ही होगा एक का नहीं।

(शंका) आपने पहले प्रकरण में बताया कि समष्टि इन्द्रिय मण्डल का परिणाम ही व्यष्टि इन्द्रियाँ हैं समष्टि इन्द्रिय मण्डल सबका एक है, और सूक्ष्म इन्द्रियाँ सब की समान हैं, तो फिर स्थूल पाद इन्द्रिय के स्वरूप में आकृति में भेद क्यों ?

(समाधान) जैसे सब प्राणियों की आत्मा और सूक्ष्म शरीर समान होते हुए भी कर्म भोग के अनुसार योनियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उनके शरीर की आकृतियाँ भिन्न हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म इन्द्रियाँ सब की समान होते हुए भी स्थूल इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। आदमी, ऊँट, हाथी, कुत्ता, बिल्ली, चूहा, सिंह, कृमि, कीट पतंग आदि सब ही योनियों के पैर भिन्न-भिन्न शकल के हैं क्योंकि ये योनियाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न वातावरण में उत्पन्न होती हैं। उस देश एवं वातावरण के अनुकूल शरीर और पाद आदि इन्द्रिय बने हैं। ऊँट के पैर वक्र, लम्बे, विचित्र टेढ़े-मेढ़े होते हैं। वे रेतीले रेगिस्थान का जहाज है। उसके पैर की गद्दी रेत में नहीं धसती। बैठता भी है तो फैलकर, जिससे रेत में न धसे। डील-डौल भी इतना बड़ा है कि सहसा कोई रेत का टीला उड़कर आ भी जाये, तो उसे न दबा सकेगा। वह दो-चार पैर मारकर उससे निकल जायेगा। इन सब परिस्थितियों के लिए भगवान् के सन्निधान से प्रकृति ने उसको ऐसे पैर दिये। यदि यही ऊँट पहाड़ पर ले जाया जाये तो बिल्कुल नहीं चढ़ सकता। भेड़-बकरी छोटी-छोटी फटाफट बिना किसी असुविधा के यूँ ही चढ़ जाती हैं। इनके पैर छोटे-छोटे होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न स्थान-स्थान के उपयोग के अनुपात से मनुष्यों, जीव-जन्तुओं के शरीर और अंग बनाये गये हैं। सूक्ष्मेन्द्रियाँ सब की समान हैं, जो इनसे काम लेने वाली हैं, उन पर देश, स्थान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे तो अव्याहत गति हैं।

गमनागमन धर्म है, चाहे व्यष्टिगत उसका स्वरूप चलना, फिरना, दौड़ना, उछलना, छलाँग लगाना, कुदकना, फुदकना कोई भी क्यों न हो है वह धर्म। समष्टि व्यष्टि पादेन्द्रिय मण्डल धर्मी, गमन धर्म है। धर्म धर्मी की अभिन्नता है। इस अभिन्नता के साथ ही इस व्यष्टि समष्टि मण्डल का आपको दर्शन करना है। संयम-समाधि की स्थिति में इसका भी दर्शन कजिये और जिसकी सन्निधि से यह सब कार्य-कलाप हो रहा है, उसका

भी साक्षात्कार कीजिये। यदि चिरकाल तक इस अपूर्व दर्शन का आनन्द उठाना चाहते हैं, प्रकृति नटी की वास्तविकता को हृदयंगम कीजिये, और इसमें अविवेक—जात राग को समाप्त कीजिये और वैराग्य द्वारा स्वरूपस्थ हो ब्रह्मदर्शन को चिरस्थिर बनाइये।

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(पादेन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल के सूक्ष्म रूप में—

सब कर्मेन्द्रियों के समष्टि मण्डल राजस प्रधान समष्टि अहंकारों के कार्यात्मक परिणाम हैं। समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल भी समष्टि राजस अहंकार का परिणाम है। इस समष्टि राजस अहंकार के समष्टि सात्त्विक और तामस अहंकार सहायक होते हैं। समष्टि तीनों अहंकार और समष्टि पादेन्द्रिय का जो समुदाय समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल बना है यही अयुतसिद्ध द्रव्य है। अथवा राजस प्रधान तीनों अहंकार सामान्य और समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल विशेष का समुदाय अथवा समष्टि पादेन्द्रय व्यष्टि का समुदाय ही यहां अयुत-सिद्ध द्रव्य है। इनका यह पारस्परिक भेद से अनुगत अभेदरूप समुदाय है। रजः-प्रधान तीनों समष्टि अहंकार कारण और समष्टि पादेन्द्रिय मण्डण कार्य है। यही इस मण्डल का सूक्ष्म रूप है। अथवा समष्टि पादेन्द्रिय व्यष्टि इन्द्रिय का सूक्ष्म रूप है यहाँ कार्य के प्रति कारण में ही सूक्ष्मरूपता है।

यहाँ समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल एक द्रव्य है जो तीनों अहंकारों से भिन्न होते हुए भी अभिन्नता को प्राप्त हुआ है। इस मण्डल के कारण भूत तीनों अहंकारों का सम्मिश्रण निम्न अनुपात से हुआ है। समष्टि राजस अहंकार १·८ अंश+समष्टि सात्विक अहंकार ·४ अंश+समष्टि तामस अहंकार ०·८ अंश तीनों का सम्मिश्रण जोड़ पूर्ण ३·० है। यह इस समष्टि पादेन्दिय मण्डल का त्रयीकरण है। इस मन्डल में शिश्न की अपेक्षा सात्त्विक अंश दुगुणा है। शिश्न मण्डल में इसकी अपेक्षा सात्त्विकता आधी है। शिश्न में मूत्र आदि दूसरे के प्रेरक होने पर चेतना जागती है। पर पादेन्द्रिय सदा जागरुक रहती है। कैसा ही अन्धेरा हो, किसी सत्संग में एक ही साइज के जूते एकत्र हों, पैर में जूता पड़ते ही बुद्धि द्वारा पादेन्द्रिय तत्काल पहचान लेती है, यह मेरा पाद रक्षक है। गुदा और शिश्न पर सामुद्रिक लक्षण नहीं होते, पर पादतल में सात्विकता की अधिकता के कारण अनेक सामुद्रिक लक्षण होते हैं। सीधी ऊर्ध्व रेखा सम्राट् होने या भाग्य शीलता का चिन्ह है। नदी पर स्नानार्थ गये। बरफ सा शरीर का काटने वाला जल कैसे स्नान होगा। हाथ शीत से बचने के लिये वस्त्र को अपने ऊपर लपेटे हैं। अछूत सजातीय पाद सेवार्थ आगे बढ़ा। जल की शीतता आपत्ति अपने पञ्जों पर ली, पानी में घुस ही तो गया। सूचना दी—अरे क्या डरते हो। जल ठंडा है, पर इतना नहीं कि प्रवेश न किया जा सके। आओ हिम्मत करो। वस्त्रों को किनारे रखो। आओ स्नान करें। बस शरीर की हिम्मत बँधी और स्नान करने लगा। नदी में जल कितना है। आगे बढ़ें तो कहीं डूब न जायें। लकड़ी या डण्डा पास में नहीं कैसे थाह लें। पाद के सात्त्विक

भाग ने साहस किया पग आगे बढ़ा। शनैः शनैः दो दो तीन इञ्च नापता चला। फुटों आगे बढ़ गया। छाती तक जल में पहुँच गया यह पाद का सात्विक अंश न जाने कहाँ कहाँ कठिनाई में काम आता है। यह सब कर्म पाद में बुद्धि की सहायता से होता है। परन्तु करता यही है।

इस पाद में राजस शिश्न से ·१ अंश अधिक है। पाद कभी उतावला नहीं होता। चढ़ाई चढ़नी है, तो पैर गंभीरता से, सारे शरीर का बोझा संतुलित किये, पहले पग को जमाये अगले पैर के लिये स्थान उसी से खोज उसको वहाँ जमा पिछले पैर को आगे लाता है। गिरने नहीं देता। देखी आप ने पादेन्द्रिय की रजो गुण नियन्त्रिता। यदि कभी उपद्रव हो जाये, और शरीर उसमें घिर जाये, या कभी कोई पाटच्चर सामने से आक्रमण कर दे, या कोई जंगली जानवर हमला कर दे तो फिर पैरों के रजोगुण की करामात देखिये। कैसे पैरों को पर लगते हैं। कैसी तीव्रगति से दौड़ होती है, और जान बचाई जाती है। फुटबाल, क्रिकिट या दौड़ के मैदान में या युद्ध में जहाँ हारजीत की वाजी हो वहाँ पादेन्द्रिय के इस रजोगुण का प्रभाव देखिये। इस का तमोगुण अंश शिश्नि से कम है पर इस का प्रभाव विभिन्न दिशा में है। पाद के तामस अंश ने इस में तमोगुणी पृथिवी के समान सहन शीलता को बढ़ाया। पैर ने कुछ कहना ही नहीं, कितना ही भार लाद लो, कितना ही चलालो। यदि थक गये तो दम ले लिये फिर चल पड़े।

यह है समष्टि पादेन्द्रिय का सूक्ष्मरूप। समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल समष्टि तीनों अहंकारों का परिणाम है। तीनों के सूक्ष्म धर्म इस मण्डल में निहित हैं। इस समष्टि मण्डल से व्यष्टि पादेन्द्रियों का निर्माण हुआ। यह गति धर्म समष्टि मण्डल में अव्यक्त जो व्यष्टि रूपमें है में आकर इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ।

जब इन तीनों समष्टि अहंकारों की परिमित मात्रायें ब्राह्मी चेतना के सन्निधान से संयुक्त हो पादेन्द्रिय में परिणत होने लगती हैं तो वह भी दृश्य अपूर्व ही होता है ऐसे दृश्य तो योगी ही देख सकता है। ब्राह्मी चेतना संघात की प्रेरिका होती है, क्योंकि जड पदार्थ चाहे चेतन से बने हों, पर फिर भी बिना चेतन प्रेरणा के परिमित परिमाण में, परिमित काल में परिमित दिशा में स्वयं संयुक्त नहीं हो पाते हैं। अतः इस स्थिति में योगी को इस पादेन्द्रिय मण्डल के परिणाम का भी साक्षात्कार करना चाहिये, और उस में निहित प्रेरिका ब्राह्मी चेतन सत्ता का भी। ब्रह्म के इस साक्षात्कार से आप के वैराग्य का रंग दृढ़तर होना चाहिये, जिससे आप पादेन्द्रिय के चक्कर में पड़ घुमक्कड़ न बनें। और अपने लक्ष्य सच्चिदानन्द ब्रह्म प्राप्ति को ही सदा के लिये खो बैठे। यहाँ मुख्यरूप में राजस अहंकार और गौण रूप में सत्व तमस अहंकार समष्टि पादेन्द्रिय के सूक्ष्म रूप हैं, और समष्टि पादेन्द्रिय व्यष्टि पादेन्द्रिय का सूक्ष्म रूप है। दोनों कार्यों की अपने अपने कारण में सूक्ष्म अवस्था है।

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल
चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(पादेन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि पादेन्द्रिय के अन्वयरूप में—

सब ही समष्टि मण्डल उत्पत्तिधर्मा हैं। और परिवर्तन शील हैं। सदा एक रस

नहीं रहते। प्रलय काल में अपने कारण में लय हो जाते हैं। फिर अगले सर्ग में इन का निर्माण होता है। इसी प्रकार समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल का स्तर भी अपने अभिन्न कारण से परिणत हुआ। सदा एक रूप नहीं रहता। सदा घटता बढ़ता रहता है। इसी से व्यष्टि पादेन्द्रिय बन कर निकल जायेंगे यह घट जायेगा, और व्यष्टि पादेन्द्रिय मुक्त जीवों या निर्माण शरीरों के लौटेंगे यह बढ़ जायेगा। इस प्रकार यह परिणामधर्म वाला है। अतः उत्पन्न है। जो जो परिणामी हैं सब उत्पद्यमान हैं। इस स्तर का भी अन्वय परम्परा से मूल-प्रकृति में पर्यवसित होता है। मूल प्रकृति अपने स्थिति धर्म ज्ञान तथा क्रिया के साथ अनुपतित होती चली आ रही है। प्रकृति का परिणाम जो महत्तम हुआ। उससे समष्टि तामस आदि तीनों अहंकार, परिणत हुए। उन तीनों के आनुपातिक सम्मिश्रण से यह समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल परिणत हुआ और इससे व्यष्टि पादेन्द्रिय प्रकृति का क्रिया गुण मुख्य रूप से समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल में आया। जो गमनागन रूप में परिणत हो इस मण्डल का धर्म बना। मण्डल में यह धर्म स्पष्टतया कार्याभाव के कारण उपलब्ध नहीं होता। पर उसकी सत्ता वहाँ अवश्य है। तभी तो व्यष्टियों में आकर व्यक्त हुआ। स्थूल शरीर में स्थूलेन्द्रिय पाद में गति स्पष्टतया जानी जाती है। पर योगी इन धर्मों के अधिकरण सूक्ष्म शरीरों का स्थूल शरीर में भी और उस के बिना भी प्रत्यक्ष करता है।

इस प्रकार कारणरूपा प्रकृति भोगात्मक कार्यरूप सर्ग में परिणत हुई है। आवान्तर कार्य-कारण परम्परा में अनुपतित होती हुई समष्टि पादेन्द्रिय-मण्डल में अपने धर्म और गुणों सहित अनुपतित हुई है। जो गुण मुख्य रूप से इस में अभिव्यक्त विभिन्न रूपों में हुए हैं। इस अनुपतन का योगी को साक्षात्कार करना है और साथ ही और निमित्तरूप से वर्तमान भगवान् के सन्निधान का भी प्रत्यक्ष अनुभव करना है। यह प्रत्यक्ष तभी स्थिर होगा जब मुनि नारद के समान घुमक्कड़ न बन पूर्ण वैराग्य लाभ कर प्रकृति से तथ्यतः उपराम हो जायेंगे।

पादेन्दिय-विजय की एक घटना।

अमृतसर में स्वांक-मण्डी में श्री पूज्यपाद पं० हरिश्चन्द्रजी दार्शनिक से हम दर्शन शास्त्र पढ़ते रहे हैं। ये दर्शनों के वड़े भारी माने हुए उस काल के उच्चतम कोटि के विद्वान थे। ये आजीवन बालब्रह्मचारी रहे। एक दिन उनके पिता श्रीराम शरणजी ने सुनाया कि जिस स्थान पर आजकल आप पण्डित जी से पढ़ रहे हैं, पहले यहाँ पर एक बड़े भारी योगी महात्मा रहे हैं। मैं उनको बाहर जंगल से यहाँ ले आया था उन की सेवा के लिये बहुत आग्रह करने पर वे आये, और इस शर्त पर आये कि वे कोठे से नीचे नहीं उतरेंगे। उस महापुरुष ने उनकी बैठक में आकर दो रस्सियाँ सूत की मंगाई। पद्मासन लगा कर उन्होंने दोनों घुटनों को रस्सियों से बान्ध दिया। फिर जीवन पर्यन्त कभी खोला नहीं। पास में ही टट्टी और पेशाव करने हाथों के ही सहारे जाते थे। ये वड़े भारी सिद्ध थे। इन्होंने सब इन्द्रियों पर विजय पा ली थी। परन्तु पैरों पर विजय पाने के लिये रस्सियों से घुटनों को बाँध कर यह साधन अपनाया था और पैरों से गमनागमन की तृष्णा को शान्त किया था। एक दिन वे श्री रामशरण जी से कहने लगे, कि फ्रांस का बादशाह तखत से गिर गया है। दूसरे दिन फ्रांस से खबर आयी कि बादशाह

मर गया है। इस प्रकार की अनेक सिद्धियाँ इस महापुरुष में थीं। बड़े भारी वीत राग महापुरुष थे। शरीर को तृणवत् समझते थे। किसी भी पदार्थ की आसक्ति नहीं थी। बहुत कम बोलते थे। हर्ष और शोक उनके अन्दर नहीं था। जीवनमुक्तों के समान इन का जीवन था।

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(पादेन्द्रिय का पञ्चम रूप)

५. समष्टि पादेन्द्रिय के अर्थवत्त्व में—

समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल की अर्थवत्ता इसी में है कि अगणित सूक्ष्म शरीरों के निर्माणार्थ व्यष्टि पादेन्द्रियों के रूप में परिणत हो काम में आता है। स्वर्गस्थ सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरस्थ या आकाशस्थ सूक्ष्म शरीरों के निर्माण में यही स्तर पादेन्द्रियाँ प्रदान करता है। योगी भी तो निर्माण शरीरों की रचना के लिये इसी मण्डल से पादेन्द्रिय का आकर्षण करता है। मुक्ति लाभ होने पर मुक्तात्माओं के सूक्ष्म पादेन्द्रिय भी इसी मण्डल में आ शामिल होते हैं। यह समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल सारे आकाश में फैला हुआ है। इसीलिये सर्वत्र सब परिस्थितियों में शरीर निर्माण में कठिनाई नहीं होती और न योगी का ही शरीर निर्माण सामर्थ्य कहीं अवरुद्ध होता है। मरणोपरान्त मरण समय में आयी सूक्ष्म शरीर क्षति भी इन ही स्तरों को पार करते हुए पूरी हो जाती है। सर्वत्र यह स्तर विद्यमान हैं, इसी लिये लोक लोकान्तरों में आवान्तर प्रलय होने पर भी इसी स्तर के आश्रय सृष्टि निर्माण या शरीर निर्माण चल रहा है। कहीं भी कोई सूक्ष्म शरीर विकलांग लूला लंगड़ा दृष्टि गोचर नहीं होता। स्थूल शरीर तो लंगड़े मिलेंगे पर सूक्ष्म शरीर कहीं एक भी लंगड़ा नहीं मिलेगा। कोई चाहे तब भी सूक्ष्म शरीरों को विकलाङ्ग नहीं बना सकता।

इस समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल की अर्थवत्ता को व्यष्टि पादेन्द्रिय में देखिये। इसी से इसकी परिणति हुइ। समष्टि के धर्मों को लिये हुए ही व्यष्टि रूप में आयी है। स्थूल शरीर का गमनागमन इस व्यष्टि पादेप्द्रिय के बिना नहीं हो सकता है। शरीर के अनेक कार्यों का सम्पादन भी इसी इन्द्रिय के द्वारा होता है। सब प्राणियों के सब कार्य जो गमनागमन द्वारा चल फिर कर किये जाते हैं, वे इसी पादइन्द्रिय के द्वारा होते हैं। शरीर के पालन पोषण कें अनेक कार्य इसी से सम्पन्न होते हैं। सब शरीरों की गति का यही कारण है। इसके बिना शरीर सुन्दर भी नहीं लगता है। इसके बिना तो यह मानव अपाहज होकर एक स्थान पर ही पड़ा रहता है। पराधीन हो जाता है। इस लोक में और स्वर्ग लोक में गमनागमन इसी के द्वारा होता है। इस प्रकार यह अत्यन्त ही उपकारी इन्द्रिय है।

पादेन्द्रिय संसार के भोग और अपवर्ग में अत्यन्त ही सहायक है। समस्त विश्व-मण्डल की तो बात ही क्या यह हमारा भूमण्डल ही इतना विशाल है कि दृष्टि फैलाकर तो क्या किसी दूर वीक्षण से भी सारा एक दम नहीं देखा जा सकता है। पर आप देखते हैं इस भूमण्डल के चित्र बने हैं। भूमि के सातों खण्डों के चित्र बने हैं। भूमि के

सातों महासागरों के चित्र बने हैं। भूमि के समस्त पहाड़ों वनों नदियों के चित्र बने हैं। सब का पूरा २ वर्णन लिखा और छपा मिलता है। यह सब इसी व्यष्टि पादेन्द्रिय की कृपा है। मानव की आस-पास की, और आस पड़ोस की, फिर दूर दराज़ की, और फिर समस्त भूमण्डल की चप्पा-चप्पा भूमि देखने की आकांक्षा और अधिक-से-अधिक भाग को अपने अधीन करने की भावना ने पादेन्द्रिय को विवश किया कि अपने गमनागमन का विस्तार करे, सब कुछ देखे और दाव चले तो सब पर कबजा करे। मानव निकल पड़ा, पैरों को जूते पहनाये नये-नये ढंग के, मौजे दिये, गरम कपड़े की पट्टियां दीं, बान्ध जूड़ कर मजबूत किया, जिससे थकने का नाम न ले। मानव ने कूच बोल दिया इन पैरों के सहारे। और समाचार ले आया जंगल बियाबानों के, उनमें रहने वाले नाना प्रकार के जीवों, जन्तुओं, हिंसकों अहिंसकों के, वृक्ष वनस्पतियों के झील झरने नदी सरोवरों के कीट पतंग सरीसृपों के, लता औषधि जड़ी बूटियों के। फल-फूल कन्द मूल के। सोना चान्दी लोहा ताम्बा आदि धातुओं की खानों के। लाल काले सफेद रंग-विरंगे संगमरमर आदि के। हीरा पन्ना लाल मोती पुखराज के। कोयला, तैल पैट्रोल के। और न जाने, जाने अजाने किस-किस के समाचार ले आयीं या लिवा लायीं यह पादेन्द्रियां। देशों की ओर बढ़ी तो देशविदेशों को छान मारा। समुद्रों की ओर चली तो उनका ओर छोड़ न छोर। समुद्र के तल का चप्पा २ ढूंढ लाई यह पादेन्द्रिय। कहाँ मछलियां हैं। कहां घोंघे। हां ह्वेल। कहां मगरमछ, कहां मोती। कहाँ गहरा है, कहां उथला कहां बरफ है। हां पानी। जल धारा कितनी गहरी है। सब ही कुछ तो पता ले आयी पादेन्द्रिय।

जिस विश्वोचच्तम गौरी शङ्कर शिखर पर देवाधिदेव महादेव भगवान् और माता पार्वती ने योगाभ्यास किया, विचरण किया। जिन के नाम इस शिखर का नाम करण हुआ। देखें तो इस पर क्या है यह लालसा तेनसिंह को बचपन से गौरीशंकर की ओर खेंच रही थी। पादेन्द्रिय ने प्रोत्साहन दिया—'चल! आगे बढ़। मैं तेरे साथ हूं।'

पादेन्द्रिय सबसे आगे थी। अन्ततः पादेन्द्रिय की कृपा से तेनसिंह ने गौरी शंकर शिखर पर सर्वप्रथम पहुंच तिलक किया। मस्तक नवाया। भारत का तिरंगा फहराया। भारत का सिर ऊंचा किया। विश्वविजयी यात्री बना। सब इस पादेन्द्रिय की कृपा और अर्थवत्ता से।

श्री महात्मा विनोबा भावे जी ने भारत की पद यात्रा करते हुए भूदान यज्ञ किया अनेक ग्रामों और नगरों से जमीदारों से भूमियें लेकर गरीबों को प्रदान की। यह सब इस पादेन्द्रिय की अर्थवत्ता है।

भगवान राम ने १४ वर्ष बनवास में रहते हुए पद यात्रा करते हुए अपने धर्म और मर्यादा एवं पिता की आज्ञा का पालन किया। यह पाद की अर्थवत्ता है।

पाण्डवों ने १२ वर्ष बनवास में रहकर सर्वदा पद यात्रा ही की। यह भी पादों की अर्थवत्ता ही है।

सन् १९२४ में ज्येष्ठ मास से आश्विन मास के अन्ततक ५ मास में मैंने पंजाब देश के पर्वतों में योगियों की खोज में १७५० मील की पद यात्रा की थी यह भी पाद की अर्थवत्ता का स्वरूप है।

युवा अवस्था में ध्यान समाधि के अभ्यास में प्रातः २ बजे से ११ बजे तक और सायं काल में ६ बजे से ११ बजे तक निरन्तर एक आसन पर स्थिर होकर बैठना नित्य प्रति की साधारण सी ही बात थी। किन्तु एक ही आसन पर अडोल निश्चेष्ट होकर कई-कई दिन की शून्य समाधि में बैठकर भी समय व्यतीत किया यह भी एक आसन से निरन्तर कई दिन बैठना पाद या पैरों की ही अर्थवत्ता विशेष रूप में है।

घर से निकल पड़े बाल्यावस्था में हिमालय से समुद्र तक पश्चिम से पूर्व तक, काश्मीर से मानसरोवर तक, शिखर-शिखर पर कन्द्रा-कन्द्रा में योगियों के दर्शनों के लिये। विलुप्त भारत की सर्वस्व विलुप्त योग पद्धति को खोजा। योगी गुरु जनों की कृपा हुई। हमने पाया 'विशोका ज्योतिष्मती' को उसी का प्रसाद यह बहिरङ्ग योग, आत्म-विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान है। यह सब अर्थवत्ता हुई व्यष्टि पादेन्द्रिय की। ऊपर की घटनायें पादेन्द्रिय भोगार्थता को सिद्ध करती हैं। और हमारी घटनायें पादेन्द्रिय की अपवर्गार्थता को।

प्रकृति का परम्परागत कार्य होने से पादेन्द्रिय में यह अर्थवत्ता धर्म आया है। इस लोक और परलोक में चल फिर कर जितने भी व्यवहार होते हैं, या भोग संग्रह होता है वह सब इसी पादेन्द्रिय के द्वारा होता है यह रेलें, मोटरें, हवाई जहाज़ सब इसी पादेन्द्रिय के गमनागमन धर्म का विस्तार है। नगरों में बड़े-बड़े व्यापार केन्द्रों में, कल कारखानों में देखें कोई निश्चिन्त या निश्चल नहीं बैठता। दिन रात दौड़ की होड लगी है। जो अधिक भाग दौड़ करता है। वही अधिक सफल होता है। क्या व्यापारी क्या मजदूर। क्या क्लर्क क्या सेठ साहूकार। आजकल तो सन्त भी इसी पादेन्द्रिय की भाग दौड़ से अधिकतर प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। और तो क्या चुनावों को भी यह पादेन्द्रिय सफल बनाती है। जितना कोई अधिक भाग दौड़ करेगा, उतना ही सफल होगा। चाहे वह मिनिस्टर हो या प्राइममिनिस्टर। आजकल तो भोगवाद के युग में पादेन्द्रिय का गमनागमन भगवान् का वरदान सा बना हुआ है। इतनी बड़ी अर्थवत्ता हो गयी है इस पादेन्द्रिय की।

वेद ने तो ईश्वर के पादों का भी अलंकार रूप से या अध्यारोप से वर्णन किया है। **"पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि'** इस ब्रह्म का एक पाद सम्पूर्ण विश्व के भूतों में है। और तीन पाद द्यौलोक में हैं। अर्थात् अहंकारिक सृष्टि त्रिगुण सृष्टि और मूल प्रकृति।

पादेन्द्रिय संसार के भोग और अपवर्ग में अत्यन्त ही सहायक है। अतः इसमें यही सर्व श्रेष्ठ अर्थवत्ता है। सब जीव इसी द्वारा सर्वत्र चलते फिरते हैं। अपने सुखों के लिये अनेक कार्य करते हैं। पदार्थों का संग्रह करते हैं, और अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते हैं। योगाभ्यासियों के योग साधन में भी पादेन्द्रिय की बड़ी भारी अर्थवत्ता है। योग के जितने भी आसन हैं, उनके निमित्त भी यह पैर हैं। बिना पैरों के तो एक भी आसन नहीं बनता। सिद्ध, स्वस्तिक या पद्मासन जिसमें लगातार १२ घन्टे तक अचल बैठकर समाधि की स्थिति उत्पन्न होती है, वह भी इस पादेन्द्रिय की ही अर्थवत्ता है।

इस इन्द्रिय की उपादेयता और सुख आराम को देखकर भगवान् का अनेक धन्यवाद करते हैं। जिस के निमित्त कारण की विचित्र रचना में हमें अनेक सुख और

भोग प्राप्त हो रहे हैं। व्यष्टि पादेन्द्रिय का यह सब अर्थवत्त्व वास्तव में समष्टि पादेन्द्रिय मण्डल का हैं, क्योंकि उसी के गुण और धर्मों को लेकर यह व्यष्टि रूप में परिणत हुई है। इस परम्परा से भगवती मूल प्रकृति देवी भी अपने विभिन्न कार्यों द्वारा मानव के भोग और अपवर्ग का साधन वनी हुई है। उस भगवान् से अपने अन्दर चेतना को धारण करके अपने परिणत पदार्थों द्वारा मानव के भोग और अपवर्ग का साधन वनी हुई है। जिससे प्राणी मात्र का कल्याण हो।

अतः उस भगवान् के असीम उपकारों को समझ कर उसका अनेकशः धन्यवाद करना चाहिये। इन उपरोक्त अर्थवत्ताओं में सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिये। वह निष्क्रिय होकर भी प्रकृति के साथ मिलकर क्रियावान् सा बना हुआ है। वह अकर्ता होते हुए भी अज्ञानियों को कर्ता प्रतीत हो रहा है वह सर्वत्र होते हुए भी अज्ञानियों के लिये एक देशी सा बना हुआ है, या अज्ञानियों ने ही उसे एक देशी बनाया हुआ है। इसका विज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि इसके विज्ञान के साथ ही प्रकृति के अनेकानेक कार्यों का भी विज्ञान हो जाता है, जो कि हमारे राग और बन्ध का हेतु बने हुए हैं। इनका प्रत्यक्ष ज्ञान करके ही मानव इनके बन्ध से छूट सकता है। अलग हो सकता है। विरक्त हो सकता है। अतः प्रकृति पुरुष-विवेक और पर वैराग्य ही मोक्ष का हेतु है।

इति समष्टि पादेन्द्रिय मण्डलम्।

इति द्वितीयाध्यायेऽष्टमः खण्डः।

इत्येकविंशमावरणम्॥

नवम खण्ड

२० वां आवरण

समष्टि राजस-अहंकारिक हस्तेन्द्रिय मण्डल

(पाँचों रूपों में ब्रह्मानुभूति)

समष्टि अहंकारिक हस्तेन्द्रिय का मण्डल समष्टि पादेन्द्रिय के मण्डल के ऊपर है। यह मण्डल चमकदार, सफेदी लिये हुए हल्के से नारञ्जी मैले से रंग का है। अन्य कर्मेन्द्रियों के मण्डल की अपेक्षा इस में पीलापन कम है, क्योंकि तामस की मात्रा उनसे कुछ कम है। समष्टि पाद मण्डल में इसकी अपेक्षा राजस की लालिमा किञ्चित् अधिक है। पाद में राजस इसकी अपेक्षा अधिक है। चञ्चलता भी अधिक है पर कमठता पाद से कम। डटने की सामर्थ्य भी पैर से न्यून है।

ब्रह्म के बीच और आपके बीच नीचे से यह १४वाँ आवरण है। पहले स्थूल थे। उनकी अपेक्षा यह सूक्ष्म है। पादेन्द्रिय की अपेक्षा हाथ पर विजय थोड़ा अधिक परिश्रम चाहती है। इस इन्द्रिय मण्डल के मुख्य दो ही धर्म है १. ग्रहण २. त्याग। पर यहाँ इस समष्टि मण्डल में यह साफ-साफ जान नहीं पड़ते। क्योंकि यहाँ इनका कोई व्यवहार नहीं है। जब इनसे सूक्ष्म शरीरों की रचना हो जायेगी, तब उनमें यह स्पष्ट रूप से मिलेंगे। अभी तो इनका संग्रहालय में संग्रह हो रहा है।

यह समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल सृष्टि के निर्माण काल में आकाश में उपस्थित रहता है। सारे सूक्ष्म शरीरों की सूक्ष्म हस्तेन्द्रियें इसी मण्डल से अपहरण की जाती हैं। यही व्यष्टि हस्तेन्द्रिय का उपादान कारण हैं। मुक्ति से लौटी आत्माओं के सूक्ष्म शरीरों के लिए सूक्ष्म हस्तेन्द्रियें इसी से ली जाती हैं। मुक्ति में जाने वाली आत्माओं के सूक्ष्म हस्तेन्द्रियें इसी समष्टि मण्डल में आ सम्मिलित होती हैं।

ब्राह्मी चेतना के सन्निधान से चेतन-सी बनी प्रकृति अपना यह सृजन चक्र घुमाती रहती है। समष्टि हस्तेन्द्रिय के पाँच रूप भी इस ३२ चक्र वाली प्रकृति का एक अरा है। उन पाँचों रूपों का तथा उनमें निमित्त-भूत भगवान् का समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कीजिये। वैराग्य की सम्पदा से ब्रह्म दर्शन को परिपक्व करके कैवल्य भाव को प्राप्त कीजिये। यह हमारा ब्रह्म-विज्ञान नास्तिकों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि प्रकृति और इसके कार्यात्मक पदार्थों का बोध होता है।

समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(हस्तेन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि हस्तेन्द्रिय के स्थूल रूप में—

समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल अहंकारिक सृष्टि का आठवाँ और समष्टि राजस अहंकार का दूसरा परिणाम है। ब्रह्म और जीव के बीच-यह ऊपर से २०वाँ आवरण

है। समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल के निर्माण से पूर्व समष्टि वाणी कर्मेन्द्रिय का मण्डल तथा ज्ञानेन्द्रियों आदि के मण्डल बन चुके हैं। हस्तेन्द्रिय मण्डल की भोगार्थ उपादेयता सर्वाधिक है।

समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल में दो धर्म है : १. ग्रहण २. त्याग। अथवा आदान-प्रदान। समस्त हस्त के कर्म इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। हाथ से लिखना, हाथ से पैरों को धोना, हाथ से खाना खाना, या पानी आदि सब ही कर्म आदान-प्रदान में आ जाते हैं। लिखना आदान ही है, लेखनी पकड़कर लिखता है। यदि स्याही या रंग में अंगुली भर कर लिखता है, तब भी स्याही या रंग का पहले आदान और पीछे दीवार या कागज पर त्याग है। पैरों के धोने में भी पहले जल का हाथ में चुल्लु में या किसी पात्र में आदान करता है, फिर त्याग करता है डालता है। तभी धोना बनता है। खाना खाने में भी पहले हाथ से पकड़ता है आदान करता है। उठाता है, आदान किये हुए। मुख में देता है, आदान किये हुए। छोड़ता है—रखता है —प्रदान करता है त्याग करता है।

इस प्रकार के हाथ के सब ही कर्म आदान-प्रदान के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। यह आदान-प्रदान स्थूल रूप से स्थूलेन्द्रिय लम्बे-लम्बे से हाथों का काम प्रतीत होता है, पर यह तो बाह्य उपकरण मात्र हैं। हड्डी माँस आदि के बने हैं। शरीर ही तो है। यह आदान-प्रदान करने वाली ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सूक्ष्म हस्तेन्द्रिय है। जो चमकते छोटे से छोटे तारे के रूप में है। यही समष्टि मण्डल से परिणाम-भाव को प्राप्त हुई है। दिव्य लोक में यह पञ्च-तन्मात्राओं से निर्मित्त सूक्ष्म शरीर में स्थित हस्त को प्रेरणा कर कर्म कराती है। इस लोक में स्थूल शरीर में स्थित मस्तिष्क के भीतर ब्रह्म-रन्ध्र से इन पाञ्च-भौतिक हाथों से कर्म कराती है। जोकि अनेक धर्मों के द्वारा इस शरीर और लोक का कार्य करते हैं। वास्तव में यह सब कार्य सूक्ष्मेन्द्रिय द्वारा ही होता। परन्तु लोग कहते हैं कि हाथ कार्य कर रहे हैं। इसके कर्म या गति के लिए सूक्ष्म शरीर वाले मस्तिष्क से ही प्रेरणा होती है। बुद्धि मन के द्वारा हस्तेन्द्रिय को कर्मशील बनाती है।

यह दोनों धर्म हैं तो समष्टि मण्डल में ही, उसी से व्यष्टियों में आये हैं। पर वहाँ इनका कोई व्यवहार नहीं। इसलिए व्यष्टि को लेकर ही समझाना पड़ता है। व्यष्टि सूक्ष्मेन्द्रिय के व्यवहार को भी सिद्ध योगी ही देख सकते हैं। अत उनकी क्रियाओं को समझाने के लिये उनके उपकरण भूत शरीर के अवयव हाथों को लेना पड़ता है। हस्तेन्द्रिय में समष्टि सत्त्वाहंकार की मात्रा ·६ है। अब तक वर्णित सब ही कर्मेन्द्रियों से अधिक है। सत्व कहें या ज्ञान बात एक ही है। यह ज्ञान है भी ब्रह्म-रन्ध्रस्थ कर्मेन्द्रिय में यह सूक्ष्म कर्मेन्द्रिय सब योनियों में सूक्ष्म शरीर के साथ जाती है। पर भोग योनियों में बुद्धि का व्यापार बहुत थोड़ा रह जाता है, क्योंकि यह योनियाँ कर्म-प्रधान नहीं भोग प्रधान हैं इसलिए यदि भोग-सम्पादनार्थ किसी ज्ञानेन्द्रिय की आवश्यकता होती है तो उसकी उस इन्द्रिय की शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। कई कीट सैंकड़ों मील दूर से अपना भोज्य प्राप्त करने के लिए गन्ध से आकृष्ट हो जाते हैं। चील आकाश में उड़ती हुई बहुत मील ऊपर से माँस के टुकड़े को देख लेती है। भोग योनियों में ये इन्द्रियाँ केवल भोग उपार्जन के लिए ही कोई-कोई इन्द्रिय काम में आती है, शेष ज्ञान की मात्रा तो प्रसुप्त रहती है। पशुओं के चार पैर होते हैं, खुर और सुम वाले पशुओं के तो चारों

पैर चलने के काम आते हैं। सूक्ष्म हस्तेन्द्रिय पकड़ने का काम लेने के लिये उपकरण मुख को बनाती है। गाय, भैंस, गधा, घोड़ा, ऊँट सब पकड़ने का काम मुख से ही करते हैं। रोहतक की घटना है। एक ऊँट के मालिक ने ऊँट के बिगड़ने पर बड़े जोर का एक लठ जमा दिया। उस समय तो ऊँट मार से सहम गया। जैसा मालिक चाहता था कर दिया। पर मार को भूल न सका। मालिक भी इस बात को भाँप गया। ऊँट को नौकर के सुपुर्द कर दिया और स्वयं दूर रहने लगा। एक रात पेशाब करने उठा। नींद में था। ऊँट के पास ही बैठ गया। ऊँट ने झटझपट डंडे वाला हाथ पकड़ लिया। इतने जोर से दबाया कि ऊँट के दाँत कलाई के आर-पार हो गये। ऊँट चाहता था, छाती के नीचे दबा उसे पीस डालो। मालिक सब समझ रहा था। वह सहायता के लिए चिल्लाया भी, और दूसरे हाथ को जमीन पर टिका दूसरी ओर निकल जाता, और छाती के नीचे आने से बच जाता। इतने में एक जमींदार उबले बिनौले की गरम मटकी लेकर अपनी भैंस को डालने जा रहा था। उसने ऊँट वाले की पुकार सुनी। ऊँट के पास पहुँचा, और गरम-गरम मटकी ऊँट के सिर पर दे मारी। मटकी फूटी। गरम-गरम बिनौले सिर पर पड़े ऊँट घबराया, चिल्लाया। मालिक का हाथ छूटा, जान बची। इस प्रकार इन पशुओं में हाथ का आदान-प्रदान मुख में आ जाता है।

पंचनख वाले शेर, चीता, कुत्ता, बिल्ली आदि अगले पंजों से आक्रमण भी करते हैं, और पकड़ने का काम भी लेते हैं। इनके पकड़ने की हस्तेन्द्रिय की शक्ति अगले पंजों तथा मुँह में निहित रहती है। वैसे अगले और पिछले पैरों से चलने का काम तो लेते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मेद्रियाँ विभिन्न योनियों में अपने कार्य के लिये भिन्न-भिन्न अंगों को पकड़ लेते हैं। सांप पैरों का काम अपनी हड्डियों से लेता है। हाथी हाथ का काम सूण्ड से लेता है। इसके हाथ की सूक्ष्म इन्द्रिय में सात्त्विक अंश अधिक है, ज्ञान की मात्रा अधिक है, पर उस का यहाँ उपयोग नहीं, क्योंकि भोग योनि में बुद्धि बहुत ही परिमित से स्वल्प से रूप में काम आती है। पर मानव योनि में इसका विकास अद्भुत रूप से हुआ है क्योंकि मानव योनि कर्म और ज्ञान प्रधान योनि है।

देखिये ! मानव का हाथ कैसा कौशल दिखाता है। यद्यपि स्वयं जड़ है। एक चावल के दाने पर गीता का पूरा ३२ अक्षर का श्लोक खोद कर अंकित कर सकता है, जो सूक्ष्मेक्षण से साफ-साफ पढ़ा जा सकता है। दिल्ली की विश्व-प्रदर्शनी और लाहौर के अद्भुतालय में यह रखा गया था। तनिक विचारिये ! हाथ तो जड़ हैं, शरीर का भाग हैं, श्लोक को कैसे लिख या पढ़ सकते हैं। यदि गीता को खोल कर हाथ की हथेली या अंगुलियों के नीचे या किसी भी बड़े से बड़े विद्वान की अंगुलियों के नीचे, क्या वे श्लोक पढ़ सकेंगी। नहीं कदापि नहीं क्योंकि हाथ तो जड़ है। आप कह सकते हैं, अन्धे तो हाथ से ही पढ़ते हैं। या कहिये उनके तो हाथ ही पढ़ते हैं। उनकी पुस्तकें मोटे कागज की बनी होती हैं। उन कागजों पर उभार कर अक्षर बनाये होते हैं, जैसे कि काश्मीरी अखरोट की लकड़ी पर पच्चीकारी का काम होता है। अन्धा-व्यक्ति उन पर अंगुली रख कर सब पढ़ देता है पर यहाँ भी आप देखें वही चौपायों वाला नियम काम कर रहा है। चौपाये के मस्तिष्क में सूक्ष्म हस्तेन्द्रिय बर्तमान है। चौपाये हाथ न होने से चौपाये की सूक्ष्मेन्द्रिय मुँह से पकड़ने का काम लेती है। अन्ध विद्यालय

में अन्धे भाइयों के स्थूल आँखें नहीं हैं, सूक्ष्म हैं, उन्हों ने अन्धों की अंगुलियों को ही अपने उपकरण बना लिये। इसी प्रकार जब किसी दुर्घटना में पैर कट जाते हैं तो लंगड़े लूले की सूक्ष्म पादेन्द्रियाँ हाथों से या लकड़ी घोड़ियों से चलने का काम ले लेती हैं।

इस प्रकार आपने देखा कि हस्तेन्द्रिय का सूक्ष्म ·६ ज्ञानाँश बुद्धि के साथ मिलकर किस प्रकार काम करता है। यह सूक्ष्मेन्द्रिय का ज्ञानाँश ही जो इस प्रकार हाथों से मुँह बोलते चित्र बनवा लेता है। गगन चुम्बी ५० तल के मकान बनवा लेता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल से विशाल कारीगरियों में यह जड़ हाथ सूक्ष्म हस्तेन्द्रिय को प्रेरणा पर चलते हैं। सूक्ष्मेन्द्रिय बुद्धि से संयुक्त होती है। और बुद्धि आत्मा से। सब तन्मय हो एक दूसरे की प्रेरणा पर चलता है। तब ही यह जड़ हाथ चेतन सा बना इतनी सुन्दर कलाकृतियाँ बना पाता है। एक-एक कलाकृति हजारों और कोई-कोई लाखों रुपए मूल्य पाती हैं। बांस की पोरी में समाने वाला, हाथी की अम्बारी को ढकने वाला, अंगूठी के छल्ले में से पार हो जाने वाला, सात तहों में भी नंगा शरीर दिखाने वाला ढाके की मलमल का थान इन्हीं हाथों की करामात था। हाथों और हाथों की अंगुलियों में तो चेतना है, पर इन नाखूनों को जो चेतना रहित, आये सप्ताह काटे जाने पर पीड़ा नहीं करते, इनके दबाव से कोरे कागज पर उभार दार मानव आकृति बनायी जा सकती है। केवल सैकिण्डों में, यह सब सूक्ष्म हस्तेन्द्रिय की करामात है, इस कलाकौशल के मौलिक धर्म आदान-प्रदान को इस सूक्ष्म हस्तेन्द्रिय ने समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल से प्राप्त किया है। यह सब दूर गामी समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल का ही स्वरूप है। बुद्धिमान् की इस कर्मशीलता के अन्दर उस ईश्वर की चेतन सत्ता ही यह ग्रहण और त्याग का कार्य करती है। दिव्य शरीरों में दिव्य रूप से और स्थूलों में स्थूल रूप से कार्य का सम्पादन करती है। इस में ही ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति करनी चाहिये। पर यह अनुभूति भी हाथ इन्द्रिय के भोगार्थ रूप से अनासक्त हो पर वैराग्य की दृढ़तर भूमि पर आरूढ़ होने से स्थिर होगी। अतः योगिन्! वैराग्य का चोला पक्के रंग से रंगते चलिये। यही परम कल्याण का मूल है क्यों ये ज्ञान और वैराग्य ही मोक्ष के कारण होंगे इन्हीं की सिद्धि के लिये यह विस्तार पूर्वक उल्लेख किया जा रहा है।

समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(हस्तेन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि हस्तेन्द्रिय के स्वरूप में—

हस्तेन्द्रिय के दो धर्म हैं। १. ग्रहण और २. त्याग। वस्तुतः हस्तेन्द्रिय का धर्म तो एक ही है ग्रहण। जहाँ ग्रहण होता है वहाँ त्याग अनायास ही आ जाता है। इसी प्रकार पाद का भी एक ही धर्म है गमन। वैसे गमन अनेक प्रकार का हो सकता है। वास्तव में सब ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का एक-एक ही धर्म है। फिर यह एक-एक धर्म अनेक अनेक प्रकार हो जाता है। हस्तेन्द्रिय मण्डल और ग्रहाधर्म का स्वरूप सम्बन्ध है। इसे ही तादात्म्य सम्बन्ध भी कहते हैं, क्योंकि इसका यह धर्म इस से कभी अलग नहीं होता। यहाँ धर्म धर्मी का अभेद है। ग्रहण गुण है, समष्टि हस्तेन्दिय गुणी है। गुण से गुणी अलग नहीं हुआ करता।

(शंका)—जिन योनियों में हाथ नहीं हैं, जैसे कीड़े, मकोड़े, मछली, पक्षी, साँप, बिछु आदि। क्या इनके सूक्ष्म शरीर में हस्तेन्द्रिय नहीं होती?

(समाधान) सूक्ष्म शरीर किसी भी यौनि में विकल नहीं होते। पूर्ण १७ तत्त्वों सहित होता है। जिन सूक्ष्म इन्द्रियों के बाह्य उपकरण नहीं होता, वह अपना काम किसी अन्य भाग से लेती है। सर्प के पैर नहीं होते, पर इतना तीव्रगति से दौड़ता है कि घुड़ सवार भी दौड़ में साँप को नहीं पकड़ सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साँप की सूक्ष्म पादेन्द्रिय समूचे शरीर से ही अपने चलने का काम लेती हैं। यदि सूक्ष्मेन्द्रिय नियामक नहीं होती तो शव के समान सर्प का शरीर भी कभी चल न पाता। कौवा पकड़ने का काम चोंच से लेता है। कबूतर और कोयल आदि के बच्चों को चोंच से उठा कर ले जाता है। बिल्ली अपने नवजात बच्चों को मुख से उठा-उठा कर सात स्थानों पर रखती फिरा करती है। इनके सूक्ष्म इन्द्रियाँ होती हैं, तभी तो अन्य अंगों से उसी क्रिया को कर पाते हैं। सूक्ष्म शरीर और सिद्ध योगी तो बिना स्थूल शरीर तथा स्थूल इन्द्रियों के सूक्ष्म शरीर से ही सब काम करते हैं। बिना मुख से उच्चारण किये अपनी सूक्ष्म वाणेन्द्रिय के दूसरे के कान तक शब्द पहुँचा देते हैं। कभी भाषा माध्यम होती है। कभी बिना भाषा के केवल भावमात्र ही प्रेषित किये जाते हैं। यह उस समय होता है जब योगी किसी दूसरे देश वाले से बात चीत करता है। अतः जिन शरीरों में वाह्य गोलक नहीं हैं उनमें भी वे सूक्ष्मेन्द्रियाँ होती हैं, और यथा-समय अपना काम करती हैं। सब योनियों की सूक्ष्मेन्द्रियाँ एक ही आकार प्रकार की समान होती हैं। बाह्य गोलको में तो योनिकृत भेद तो होता ही है, एक ही योनि के व्यक्तियों की स्थूलेन्द्रियों की आकृति बनावट में भी भेद होता है। उसी भेद को मस्तिष्क में रख कर अन्धे लोग हाथ आदि को टटोल कर व्यक्ति को पहिचान लेते हैं।

इस प्रकार के धर्म-धर्मी के अभेद में ब्रह्म की सूक्ष्मता की अनुभूति करनी चाहिये। पर वैराग्य से ही यह ब्रह्मानुभूति दृढ़ होगी। अदि योगी हस्तेन्द्रिय के धर्म संग्रह में पड़ गया तो वह किया कराया सब नष्ट कर बैठेगा। अतः योगी को अभ्यास की परिपक्वता के साथ-साथ लोक संग्रह, धन संग्रह, जन संग्रह सब ही प्रकार के संग्रह का परित्याग करना चाहिये। वैराग्य ही भगवान् के विज्ञान और मोक्ष का प्रधान साधन है। इन सर्व पदार्थों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना, इनका विज्ञान और इनसे वैराग्य ही हमारा मुख्य हेतु है, बिना इनके विज्ञान के इन से यथार्थ विरक्ति नहीं हो सकती है। इन से विरक्ति और ब्रह्म-ज्ञान तथा अपने स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति में मुख्य हेतु है।

समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्मानुभूति

(हस्तेन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि हस्तेन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

रजः प्रधान अहंकार जोकि समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल का प्रधान तथा उपदान कारण है। यह इस मण्डल का सूक्ष्म रूप है। समष्टि सात्विक अहंकार और समष्टि

तामस-ग्रहंकार की ग्रपेक्षाकृत ग्रल्प मात्राग्रों के सम्मिश्रण से समष्टि राजस ग्रहंकार का परिणाम यह समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल है। यहाँ पृथक्-पृथक् पदार्थों का समुदाय नहीं है। किन्तु जैसे शरीर में हाथ पैर ग्रादि शरीर से ग्रलग नहीं होते, या जैसे घड़े से मिट्टी ग्रलग नहीं हैं। इस समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल का ग्रौर समष्टि रजः—प्रधान ग्रहंकार की प्रधानता में तीनों ग्रहंकारों के सम्मिश्रण का जो समुदाय समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल बना है यही ग्रयुत-सिद्ध द्रव्य है। ग्रथवा समष्टि रजः प्रधान ग्रहंकारत्रय यहाँ सामान्य ग्रौर समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल विशेष का समुदाय ही यहाँ ग्रयुत सिद्ध द्रव्य है यहाँ समष्टि रजः प्रधान ग्रहंकार तीनों ग्रहंकारों का सम्मिश्रण कारण ग्रौर समष्टि हस्तेन्द्रिय कार्य है। व्यष्टि हस्तेन्द्रिय के प्रति समष्टि हस्तेन्द्रिय कारण है व्यष्टि हस्तेन्द्रिय कार्य है। इस प्रकार सामान्य विशेष समुदाय ही यहाँ हस्तेन्द्रिय है। इसी को द्रव्य कहते हैं।

इसी प्रकार कारण ग्रौर कार्य का भेद होते हुए भी ग्रभेद बना रहता है, क्योंकि सत्कार्य-वाद सिद्धान्त ही ऐसा है कि कारण कार्य में ग्रनुस्यूत रहता है। जैसे स्वर्ण ग्राभूषण में ग्रनुस्यूत रहता है। यहाँ समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल तो समष्टि ग्रहंकारत्रय के भेदरूप से ग्रभेद को प्राप्त एक द्रव्य है। समष्टि सात्विक ग्रहंकार ०·६ ग्रंश + समष्टि राजस ग्रहंकार १·६ ग्रंश समष्टि तामस ०·५ ग्रंश के ग्रानुपातिक सम्मिश्रण से समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल ग्रभेदरूप में परिणत हुग्रा है। हस्तेन्द्रिय मण्डल में पादेन्द्रिय मण्डल की ग्रपेक्षा समष्टि सत्त्विक ग्रहंकार १$\frac{1}{2}$ गुणा है। पादेन्द्रिय में चेतना है पर हाथ की ग्रपेक्षा बहुत न्यून। हाथ से सुन्दर से सुन्दर मानव ग्राकृति कागज पर, कैन्वस पर ग्रौर यहां तक कि पत्थर ग्रौर लोहे ग्रादि तक पर बनाई जा सकती है। पादेन्द्रिय की तो व्यक्ति विशेष में विकसित या हस्त के ग्रभाव में पाद में विकसित यह शक्ति कागज तक ही सीमित रहती है। संसार में लकड़ी, कागज, टीन, पत्थर, मिट्टी, सोना, चान्दी ग्रादि की जितनी भी मनोमोहक कारीगरी दृष्टि-गोचर हो रही है, यह सब हस्तेन्द्रिय ज्ञान प्रधानता का व्याख्यान है। हाथ में सर्वाधिक मात्रा राजस ग्रहंकार की है। जिससे यह कर्म का प्रतीक बन गया है। इसी लिये लोकोक्ति बनी 'ग्रपना हाथ जगन्नाथ।' जगन्नाथ भगवान् के सन्निधान से तो यह चर ग्रचर समस्त सृष्टि की रचना हुई है। इसी प्रकार मानव के हाथ ने ही यह सब भोगात्मक रचना की है। गगन चुम्बी ग्रट्टालिकायें ग्रौर दो महासागरों को मिलाने वाली नहर स्वेज इसी हाथ की कर्मण्यता का ही तो फल है। सब कला कौशल मशीनरी, बड़े-बड़े कारखाने इस हाथ की ही तो करामात है। ये मोटर, तार, रेल, हवाई जहाज, स्पुतनिक घन्टे, घड़ियां सब इस हाथ के कर्म कौशल का ही बखान कर रही हैं। इन विश्वसंहारक विश्वयुद्धों का सञ्चालक हाथ ही तो है। तलवार, बन्दूक, तोप, एटम सब हाथ से ही चलाये जाते हैं। संसार में सब व्यवहार, व्यापार, कार्य कलाप हाथ से ही तो होते हैं। शरीर में भी सब इन्द्रियों की सेवा हाथ ही करता है। गुदा, उपस्थ, पाद, मुख सब की शुद्धि हाथ ही करता है। यह सब ग्रहण त्याग का ही परिणाम या रूपान्तर है। समष्टि तमः ग्रहंकार भी हस्तेन्द्रिय में ग्रपना स्थिति-शीलता का काम करता रहता है। यदि हस्तेन्द्रिय में तमोगुण न होता तो बिना ब्रेक की मोटर के समान संहारक हो जाते। रुकने का नाम ही न लेते। जिस काम पर लगते लगे ही रहते। बस सदा एक ही काम होता दूसरा ग्रारम्भ ही न हो पाता।

इस प्रकार व्यष्टि हस्तेन्द्रिय में व्यक्त हुए यह सब धर्म समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल से मूलतः आये हैं। मूलतः मण्डल में यह धर्म अनभिव्यक्त रूप में वर्तमान थे। जब मण्डल का व्यष्टि में परिणाम हुआ तो यह धर्म व्यष्टि में पूर्ण रूपेण विकसित हो उठे। यह समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल पादेन्द्रिय की अपेक्षा हलके रंग का है। श्वेतिमा ज्ञान की मात्रा इस में अधिक है। व्यष्टि हस्तेन्द्रिय भी इसी रंग की है। व्यष्टि हस्तेन्द्रिय छोटे से तारे के रूप में ब्रह्म-रन्ध्र में है, समष्टि मण्डल आकाश में अपनी परिधि में और अपने से स्थूलों में व्याप्त है।

इस समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल का परिणाम अहंकारत्रय की परिमित मात्राओं के संयोग से होता है तो पूर्वापेक्षा चमत्कृति-पूर्ण होता है। इस प्रकार के भेदाभेद में भगवान् का भी भेदाभेद जानना चाहिये। भिन्न पदार्थ होने से भेद भी है, और सदा व्यापक रहने से अभेद भी है। इस भेदानुगत व्यष्टि समष्टि मण्डल में ब्रह्मानुभूति करनी चाहिये।

यदि हाथ की इस रचना चातुरी से आपको वैराग्य न हुआ और कहीं इसमें तनिक भी आसक्त रह गये तो किया कराया सब अभ्यास और ब्रह्म-दर्शन के हवाई किले सब ध्यस्त हो जायेंगे। अतः सावधान हो ज्ञान और वैराग्य-भूमि को दृढ़तम बनाते चलना।

समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल
चोथे रूप मे ब्रह्मानुभूति
(हस्तेन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि हस्तेन्द्रिय के अन्वय रूप में—

समष्टि हस्तेन्द्रिय का मण्डल उत्पत्ति धर्म वाला है। सदा से इसी रूप में नहीं है। अपने कारण से परिणाम को प्राप्त हुआ है। प्रलय काल में अपने कारण में लय हो जाता है क्योंकि सदा एक समान नहीं रहता, घटता बढ़ता रहता है। जब समष्टि मण्डल बन चुकेंगे, तब इन मण्डलों से व्यष्टियों का निर्माण होता है, वे व्यष्टि संघात को प्राप्त हो सूक्ष्म शरीरों का निर्माण करते हैं। तब पञ्च भूतों की सृष्टि के उपरान्त स्थूल शरीरों का निर्माण होता है। जब व्यष्टि हस्तेन्द्रियों का निर्माण होता है, तो समष्टि हस्तेन्द्रिय के मण्डल से ही होता है। समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल व्यष्टियों का कारण है, उस समय समष्टि मण्डल कम हो जाता है। जैसे घड़ा बनने पर जिस मिट्टी के ढेर से वह बना है, कम हो जाता है। जब मुक्त पर वास्तव में देखा जाये तो हस्तेन्द्रिय मण्डल घटता बढ़ता नहीं। जितनी मात्रा एक बार बन गयी, अन्त प्रलय तक मात्रा उतनी ही रहेगी। चाहे वह व्यष्टि रूप में हो चाहे समष्टि रूप में। कभी समष्टि अधिक, कभी व्यष्टि अधिक, पर हस्तेन्द्रिय नामक में न्यूनाधिकता नहीं होती। यह परिणामी है इस लिये उत्पन्न हुआ है। पूर्व वर्णित अन्य स्तरों की भान्ति यह परम्परा से मूल-प्रकृति का ही परिणाम है। मूल प्रकृति के अपने स्थिति ज्ञान और क्रिया का इसमें अनुपतन हुआ है। प्रकृति से सर्वप्रथम महत्सत्त्व, महत् रजस्, और महत् तमस् परिणत हुए। उन में से महत् तमस् तीनों अहंकारों के रूप में परिणत हुआ। उन तीनों के आनुपातिक न्यूनाधिक सम्मि-

श्रण से समष्टि हस्तेन्द्रिय का स्तर बना है। प्रकृति का ज्ञान गुण अन्यापेक्षा इस में अधिक रहा। क्रिया मुख्य होते हुए भी अपेक्षाकृत कम हुई। यही दोनों क्रमशः ग्रहण और त्याग में परिणत हुए। समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डल में यह दोनों धर्म व्यवहारी दशा न होने के कारण अव्यक्त रूप में ही निहित है। इनकी स्पष्ट रूप से प्रतीत सूक्ष्म रूप से सूक्ष्म-रूप में सर्व ज्ञेय रूप से स्थूल शरीर में होगी।

संक्षेप में—इस हस्तेन्द्रिय मण्डल में अन्वय रूप से प्रकृति ही अपने धर्मों और गुणों सहित अनुपतित हुई है। इस लिये इस का मुख्य क्रमानुगत सम्बन्ध प्रकृति के साथ ही है। प्रकृति अपने परिणामरूप धर्म से अपने गुणों सहित अनुपतन होती हुई हस्तेन्द्रिय के अन्वय में पहुंची है। यही स्हतेन्द्रिय का अन्वय रूप है। इसी अन्वय में ब्रह्म की व्यापकता का अन्वेषण करना चाहिये।

(शंका) आप सर्वत्र इन्हीं १०।२० वाक्यों को दोहराते रहते हैं, क्या यह पुनरुक्ति दोष नहीं है?

(समाधान) हम इसी प्रकार के वाक्यों द्वारा अलग पदार्थों के साथ प्रकृति, उसके कार्य तथा ब्रह्म का सम्बन्ध दिखाते हैं। अत; यह पुनरुक्ति दोष नहीं। पुनरुक्ति दोष तो तब होता जब एक ही पदार्थ के साथ पुनः पुनः सर्वत्र उन्हीं शब्दों या वाक्यों का प्रयोग करते। हम तो प्रत्येक प्रदार्थ में अन्वय रूप धर्म दिखा रहे हैं। हमने आरम्भ में संकेत किया है, कि कई आचार्यों ने सब पदार्थों की पांचों अवस्थाओं को न समझ पाया तो लिख मारा सब की पांच अवस्थायें नहीं होतीं, पाँचों अवस्थायें केवल पांच भूतों में घटती हैं। तन्मात्रादि में नहीं। ऐसी टीकाओं को पढ़ यही धारणा योग दर्शन के पाठकों की बनती जा रही है। इस धारणा को हटाने के लिये हमें वार-वार खोल कर विस्तार के साथ लिखना पड़ा। संक्षेप में तो पतञ्जली और व्यास दोनों ही लिख गये हैं। कितनों ने समझा और कितनों ने उसको क्रियात्मक रूप देकर भगवान् का साक्षात्कार किया। इस सृष्टि में ३३ पदार्थ हैं जो भगवान् से स्थूल हैं और उनकी १५७ दशायें बनती हैं, जिस प्रत्येक में भगवान् की सन्निधानता की अनुभूति करते २ अन्त में भगवान् का साक्षात् होगा। यदि आप इन स्थितियों को भी पुनरुक्ति कह कर अभ्यास से मुख मोड़ें तो आप ने विषय को समझ लिया बस। इतना विस्तार से लिखने पर भी यदि कोई १५७ मंजिलें पार कर भगवान् के दर्शन कर सका तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे। अतः ऐसे दुरूह विषय में हमें यह पुनरुक्ति नहीं लगती। यह तो विशद रूप से समझाना ही है।

साधक! आप को इस हस्तेन्द्रिय मण्डल चतुर्थ अन्वय रूप में अब तक बताये क्रम से ६९ वें रूप का साक्षात् करना है। साथ में निमित्त भूत प्रभु के सन्निधान का भी प्रत्यक्ष करना है, पर इन सबकी दृढ़ आधार-भूमि परम वैराग्य ही है, उसे दृढ़, दृढ़तर, दृढ़तम करते चलिये, यही इस मार्ग का पार करने वाला शीघ्रगामी यान है। इसको दृढ़ धारणा के साथ अपनाये रहिये तब ही कैवल्य भावः अवस्था प्राप्त होगी।

समष्टि हस्तेण्द्रिय मण्डल
पाचवें रूप में ब्रह्मानुभूति
(हस्तेन्दिय का पांचवां रूप)

५. समष्टि हस्तेन्द्रिय की अर्थवत्ता—

इस मण्डल की अर्थवत्ता इसी में है कि यह ब्रह्माण्ड भर के जीवों के सूक्ष्म

शरीर की रचना में काम आता है। इसी समष्टि मण्डल से सूक्ष्म शरीरों के निर्माण के लिये व्यष्टि हस्त सूक्ष्मेन्द्रियां ली जाती हैं। उन्हीं सूक्ष्म शरीरों का विभाजन हो जाता है, कुछ स्वर्गस्थ आत्माओं के सूक्ष्म शरीर बनते हैं। कुछ सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरों के चालक बनते हैं। योगियों के नवनिर्मित निर्माण शरीरों में भी यहीं से व्यष्टि हस्तेन्द्रिय आकृष्ट किये जाते हैं। मुक्त जीवों के सूक्ष्म शरीरों के हस्तेन्द्रिय भी इसी मण्डल में आकर लय हो जाते हैं। यह मण्डल भी सारे ही आकाश मण्डल में फैला हुआ है पर अपनी परिधि में। अब तक के वर्णित १३ मण्डलों में यह व्याप्त है, क्योंकि उन से सूक्ष्म है। अगले वाणी आदि के १६ मण्डलों में यह नहीं है क्योंकि उनसे स्थूल है। इसीलिये आकाशवर्त्ती समस्त लोक लोकान्तरों में सब परिस्थितियों में शरीरों का निर्माण हो जाता है। आवान्तर प्रलय के समय भी इन्हीं मण्डलों से नव सृष्टि निर्माण होता है।

इस मण्डल के धर्म ग्रहण और त्याग हैं, इनकी अर्थवत्ता शरीरगत व्यष्टि इन्द्रियों से अभिव्यक्त है। यदि किसी योनि के किसी शरीर में यह हस्तेन्द्रिय न होता, तो उस योनि का कर्म करना या भोग भोगना ही समाप्त हो जाता, अर्थात् कर्म योनि, भोग योनि, उभय योनि सब ही निष्प्रयोजन हो जातीं। मानव योनि में हाथ है, उठाता खा लेता है, हाथ न होते तो जीवन कैसे रहते। पाद आदि कोई भी शरीरावयव तो यह काम नहीं कर पाता। पशु का हस्तेन्द्रिय मुख में आ गया है, क्यों उन का मुख जिह्वा वाणी का काम नहीं करते। पहले जन्म में मानव रूप में इन आत्माओं ने वाणी का दुरुपयोग किया। गाली गलौच दी, अपशब्द का प्रयोग किया, असत्य बोला, निन्दा की आदि। उस आदत को छुड़ाने के लिए इसे ऐसी योनि मिली कि बोल ही न सके। बोलने के संस्कारों को ही भुला दे क्योंकि इसे, बहुत बुरा मुहावरा हो गया था। बोली के स्थान को हस्तेन्द्रिय का काम सौंप दिया गया। जिससे परिमित रूप में पकड़ने का भी काम कर सके। हाथ के दुरुपयोग को भी सुधार सके। हाथी को हाथ नहीं दिये पर नाक को ही इतना लम्बा कर दिया कि उससे पकड़ने का भी काम कर सके। दण्ड रूप में उससे बड़े शहतीरों या वृक्षों के रूप में बोझा उठाये। यह सृष्टि विचित्रताओं से भरी है।

इस हस्तेन्द्रिय का धर्म तो आदान-प्रदान है। पर इस की व्यापकता बड़ी अनोखी है। गुदेन्द्रिय मल त्याग करती है। मल को बाहर निकाल देती है, पर स्वयं अपवित्र हो जाती है। उसकी पवित्रता यह हाथ ही करता है उसको पवित्र कर स्वयं भी मिट्टी पानी से अपनी सफाई करता है। शरीर के किसी अंग पर मैल हो यही सफाई करता है। मूलेन्द्रिय को धोता, पैरों को धोता, मुँह आँख, नाक कान सब की सफाई करता है। मानों सब ही इन्द्रियों की सफाई इस का ही काम है। मुख खाना खा सकता है, पेय पी सकता है, पर यदि हाथ मुँह में न डाले, मुख तक पेय को न पहुंचाये तो मुख स्वयं कुछ नहीं कर सकता। बुद्धि में जो विचार आयें उन्हें लेना समझना और लिपि बद्ध करना इसी का काम है। कितना सुन्दर लेख यह लिख सकता है। कितने बढ़िया ढंग से हाव भावों को तूलिका से कागज पर अंकित करता है। कैसी मुहं देखती, मुहं बोलती तस्वीरें बनाता है। मानव का कौन सा कार्य-कलाप है, जिसमें हाथ आगे न हो। भवन बनाना हो, झोंपड़ी बनानी हो हाथ आगे। यदि हाथ ईन्टें न बनाता, लकड़ी न चीरता, पत्थर को न तराशता तो भवन महल माड़ी किले कुछ भी न बन पाते। कैसी बड़ी बड़ी मशीनों को

ढाला है, इन हाथों ने। हाथ जिस काम को महीनों में कर पाता, बुद्धि की सहायता से ऐसी मशीनें बनाई हाथों ने कि वह उन कामों को क्षणों में पूरा कर देती हैं। लाखों गज कपड़ा दैनिक बुना जाता है। लाखों मन गन्ना प्रतिदिन पिलता है। लाखों मन गेहूं नित्य पिसता है। लाखों मन जल प्रतिदिन घरों में नलों से पहुंच जाता है, यह सब करामात है हाथों की। कितने बड़े बड़े नगर, सड़कें, बान्ध और डेम बान्ध डाले इन हाथों ने। कितनी-कितनी बड़ी बड़ी पुस्तकें लिख डालीं और छाप डाली इन हाथों ने, मानों समस्त ज्ञान को सुरक्षित करने का श्रेय इन्हीं हाथों को है। जब छापे खाने नहीं थे इन्हीं हाथों ने भोज पत्र पर लिख लिख कर शास्त्रों को सुरक्षित किया।

घर का समस्त कार्य यही हाथ करते हैं। खाना पकाते हैं। कपड़े धोते, सारे ही घर की सफाई करते हैं। जिस अन्न का भोजन बनता उसको खेत में यही उपजाते, पानी देते, खाद देते, फिर काटते साफ करते, बोरों में भरते, गाड़ियाँ लादते, घरों में लाते खतियों में भरते, निकालते और बेचते।

जब कोई आक्रमण करता है यही हाथ शस्त्र ले रक्षा को तैय्यार हो जाते। शस्त्रों को बनाते, और युद्ध में चलाते भी हैं। आततायी को भगाने के लिये कैसे शस्त्र बनाये इन हाथों ने। जब अकाल पड़ता या बाढ़ आती है तब यही हाथ तो संकट का मुकाबला करते हैं, पानी में तैरते, नॉव चलाते, हेलीकोपटर लाते, आकाश से आपद् ग्रस्तों के लिये सहायता पहुँचाते हैं, इस प्रकार भोग सम्पादन के लिये हाथों की अनन्त अर्थवत्ता है।

जब विपरीत मार्ग पर बुद्धि इन्हें ले जाये तो यह त्राहि-त्राहि बुलवा देते हैं। चोर इन्हीं हाथों से चढते, दिवारें फाँदते, ताले तोड़ते, और माल लूट कर ले जाते हैं। कोई इस पाप कर्म में बाधा डाले तो उसे वहीं ढेर कर देते हैं। रास्ता चलतों को लूटना, मारना यही तो हाथ करते हैं जेब काटना, हाथ पैर गले से जेवर उतारना भी यही हाथ करते हैं। रेलवे लाइन उखाडना, तारों को काट देना आदि उपद्रवों को भी यही हाथ जन्म देते हैं। हाथ जोड़ कर इज्जत भी हाथ करते हैं, और टोपी उछाल कर बेइज्जती भी यही हाथ करते हैं। दस्तावेजों को सही रूप में भी यही लिखते हैं, और उलटे रूप में अलटा पलटी कर अनर्थ भी यही करते है। रोगी को औषधि पिला जीवित भी करते हैं, और विष पिला पर-लोक भी यही पहुँचाते हैं। इस प्रकार के असंख्य पाप पुण्य के कामों को करते हैं। पाप कर्मों का फल दारुण दुःख इन हाथों की बदौलत मानव को भोगना पड़ता है। नाना प्रकार के सुखों का मूल भी यह हाथ हैं। यह सब धर्म हस्तेन्द्रिय मण्डल में आदान प्रदान रूप में निहित हैं। यह धर्म जीवन के लिये कितना उपयोगी तथा अपरिहार्य है। कितनी बड़ी इसकी अर्थवत्ता है। समाधिकाल में इसका प्रत्यक्ष करें और साथ ही ब्रह्म की चेतन सत्ता का भी साक्षात् कार करें। जिस के सन्निधान से यह हस्तेन्द्रिय भोग सम्पादन में समर्थ है। ब्रह्मानुभूति को चिर स्थिर बनाने के लिये इस बात का ध्यान रखें कि भोगों में अनासक्ति ही इस हस्तेन्द्रिय को कुकर्मों से रोक सकती है। इसी से सम्पादित भोगों में आसक्ति भी जन्ममरण के दुःखदायी चक्र में घुमाने वाली है। जिस में सुख के क्षण थोड़े होते हैं। अधिकतर तो उपार्जन-संरक्षणकृत दुःख ही दुःख होता है। अतः पर-वैराग्य को धारण

कर इस शरीर बन्धन से छुटकारे का उपाय करें। पर वैराग्य से ही उस भगवान् के निरन्तर सान्निध्य का लाभ उठावें। स्वरूपस्थ हो मोक्ष लाभ करें।

(शंका) आपने अपने ग्रन्थ आत्म-विज्ञान में स्थूल शरीर का जो पाँच-भौतिक वर्णन किया है उसमें क्रम पूर्वक कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में विशेष रूप से भूतों की प्रधानता दिखायी है। जैसे गुदा में पृथिवी तत्त्व, उपस्थ में जल तत्त्व, पाद में अग्नि तत्त्व, हाथ में वायु तत्त्व, वाणी में आकाश तत्त्व प्रधान बताया है। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में भी प्रत्येक भूत की कुछ प्रधानता सी कथन की है। क्या इस सूक्ष्म शरीर में भी इन्द्रियों में पञ्चतन्मात्राओं की प्रधानता है।

(समाधान) जो नियम स्थूल शरीर में है। वही नियम सूक्ष्म में भी है। सूक्ष्म के आधार पर ही स्थूल शरीर में वर्णन किया गया है। सूक्ष्मेन्द्रिय रजः प्रधान अहंकार का परिणाम हैं। ये एक समान एक ही रूप में दोनों स्थूल और सूक्ष्म शरीर में रह कर अपना कार्य करती हैं। हस्तेन्द्रिय की अर्थवत्ता सूक्ष्म शरीर में कम और स्थूल शरीर में अधिक है। क्योंकि यहाँ कर्म और ज्ञान का विशेष उपार्जन करना होता है। एवं भोग और मोक्ष भी सम्पादन करना होता है। तन्मात्रा लोक में तो केवल भोग ही करना है।

इति समष्टि हस्तेन्द्रिय मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये नवमः खण्डः।

इति विंशमावरणम् ॥

दशम खण्ड

१९ वाँ आवरण

समष्टि राजस-अहंकारिक वाक् इन्द्रिय मण्डल

पाँचों रूपों में ब्रह्मानुभूति

समष्टि अहंकारिक वाक् इन्द्रिय मण्डल समष्टि हस्तेन्द्रिय-मण्डल के ऊपर है। ब्रह्म के बीच और आप के बीच नीचे से यह १५ वाँ आवरण है। १४ आवरण आप पार कर आये हैं। यह आवरण उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं। वाणी पर संयम सर्वाधिक कठिन है। यह क्षण में शान्ति और क्षण में उपद्रव कर सकती है। फूलों का हार भी पहना सकती है। और थपड़ की मार भी।

इस का एक ही धर्म है— बोलना। यह बोलना समष्टि वाग् इन्द्रियमण्डल में विद्यमान है, पर वहाँ प्रतीति का विषय नहीं। क्यों कि इसके उपयोग और व्यवहार का यहाँ अवसर नहीं। सूक्ष्म-शरीरों में यह धर्म व्यक्त होगा, और इह लोक वालों को स्थूल शरीर में। योगी को सर्वत्र प्रत्यक्ष है। अभी तो इनका गोदाम भरा जा रहा है।

सृष्टि रचना के समय यह समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल अन्य मण्डलों की भान्ति अपना एक स्तर बनाये रखता है। इस समष्टि वाक् इन्द्रिय के मण्डल रूप उपादान कारण से व्यष्टि सूक्ष्म वाक् इन्द्रिय परिणत होते हैं। सूक्ष्म शरीरों में विद्यमान सूक्ष्म वाक्इन्द्रिय यही व्यष्टि वाक् इन्द्रिय है।

भगवान् की चेतना के सन्निधान से मण्डलों का यह निर्माण चक्र चलता रहता है। समष्टि वाक्इन्द्रिय मण्डल भी इस चक्र का एक अरा है। उसके भी अन्यों की भाँति पाँच रूप हैं। उन सब के साथ-साथ निमित्त भूत भगवान् का भी समाधि द्वारा दर्शन कीजिये। और पर-वैराग्य की अचूक औषध से उसे स्थायी बनाइये।

समष्टि वाग् इद्रन्यि मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्मानुभूति

(वाग् इन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के स्थूल रूप में—

यह अन्तिम कर्मेन्द्रिय मण्डल है। इस मण्डल का एक ही धर्म है—बोलना अर्थात् भावों को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना। भाव तो सब बुद्धि के होते हैं, जो आत्मा के सम्पर्क से उत्पन्न होते हैं। वाणी उन्हें प्रकट कर देती है। यह धर्म समष्टि मण्डल में वर्त्तमान है। पर इस की अभिव्यक्ति व्यष्टि सूक्ष्म इन्द्रिय में योगी के लिये और स्थूल में भोगी जनों को भी हो जाती है।

कर्मेन्द्रियों में यह अन्तिम मण्डल है। यह भी अब तक वर्णित सभी मण्डलों में सूक्ष्म होने के नाते व्याप्त है। बहुत हलके नारञ्जी रंग का चमकदार स्तर। अन्य

कर्मेन्द्रिय मण्डलों से अधिक चमकदार है। इसमें सत्त्व की मात्रा सर्वाधिक है। सत्त्व की मात्रा अधिक होने से इस में ज्ञान भी प्रचुर है। और रजोगुण के कारण क्रिया शीलता भी पर्याप्त है। वाणी का उपयोग कर्मेन्द्रियों में सर्वाधिक होते हुए अन्य हाथ, पैर, गुदा, शिश्न के समान इसका कोई स्थूल इन्द्रिय नहीं। जिह्वा है, जिह्वा को लोग वाणी कह भी देते हैं। जिह्वा शब्द का अर्थ भी पुनः-पुनः बुलाने वाली है, पर फिर भी जिह्वा वाणी नहीं है। यह तो रसना है। रसास्वादन इसका धर्म है। वाणी के बोलने में जिह्वा बड़ा भारी साधन है। इसके स्पर्श से ही सारे शब्द बोले जाते हैं। कहीं जिह्वा का अग्र भाग, कहीं मध्य, तो कही मूल भाग स्थानों को छूता है। जिह्वा के प्रधान सहायक होने पर भी जिह्वा वाणी नहीं। राजा के अनेक सहायक होते हैं। दायाँ वायाँ हाथ होते हैं, पर राजा 'राजा' ही होता है। सहायक कोई भी हों वाणी तो वाणी ही रहेगी। जिस प्रकार उच्चारण में जिह्वा सहाय है, तालु, कण्ठ ओष्ठ, मूर्धा आदि भी तो सहायक हैं, यदि वे वाणी नहीं तो जिह्वा भी वाणी नहीं। भगवान् पाणिनी ने अपनी शिक्षा में लिखा है—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्, मनोयुवते विवक्षया।
सः कायाग्निमाहन्ति। सः प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन मन्द्रं जनयति स्वरम्॥"

पाणिनीय वर्णोच्चारण शिक्षा—

—आत्मा बुद्धि द्वारा अर्थों का संग्रह करता है। जब बोलना चाहता है तो मन को लगाता है। मन शरीर की अग्नि को आघात पहुँचाता है। टक्कर देता है उस आघात से वायु गति शील हो जाता है। उरः आदि स्थानों में वायु घूमता हुआ स्वर को उत्पन्न करता है।' यह सारा मुख—उरः से ले कर ओष्ठपर्यन्त बुद्धिस्थ वाग् इन्द्रिय की स्थूल इन्द्रिय है। जिसमें ब्रह्मरन्ध्रस्थ वाग्इन्द्रिय शब्दों को उत्पन्न करती है। नाना प्रकार की सार्थक ध्वनियों को उत्पन्न करती है। देखिये प्रकृति नटी की विचित्र लीला। ब्रह्म-रन्ध्रस्थ श्रोत्रेन्द्रिय कर्णशष्कुली-अवछिन्न आकाश से शब्दों को ग्रहण करती है। दूसरी वहीं ब्रह्म-रन्ध्र में बैठी सूक्ष्म वाग् इन्द्रिय आस्यावछिन्न आकाश से वर्णों को व्यक्त करती रहती है। यही तो तथ्य है कि शब्द का अधिकरण आकाश है। चाहे शब्द सुनना हो, चाहे बोलना हो, माध्यम आकाश ही रहेगा। 'मेरे घर में' मेरे घर से अवछिन्न आकाश मेरा हो गया। मैं उस में किसी को आनेदूं या न आने दूं। ऐसे ही 'तुम्हारे घर से अवछिन्न आकाश तुम्हारा हो गया। तुम अपने आकाश में किसी को आने दो न आने दो। इसी प्रकार आकाश तो एक ही है, पर अवच्छेदक भेद से कान सुनता है और मुख बोलता है। सुनने बोलने वाली तो सूक्ष्मेन्दिय है, यह तो उन के उपकरण हैं। इन उपकरणों से ही काम लें यह भी कोई नियम नहीं है। स्थूल शरीर में ही सूक्ष्मेन्द्रिय कान से भी सुनती है और माथे से भी सुनती है। सीधा बिना कान के। तनिक घड़ी को माथे पर लगा कर देखिये। कैसा साफ शब्द सुनाई देता है। इसी प्रकार योगी की तथा अभ्यासी की भी सूक्ष्म चक्षुः इन्द्रिय बिना आँख के गोलक के शरीर में बाहर भी सब देखती है। अन्य सूक्ष्म इन्द्रियों का भी यही स्वभाव, केवल अभ्यास द्वारा शक्ति को विकसित करने की आवश्यकता है इन्हीं को दिव्य इन्द्रिय कहा जाता है। इसी प्रकार

की यह दिव्य श्रोत्र, दिव्य चक्षु, दिव्य रसना आदि इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार यह समस्त मुख-व्यापिनी आकाशरूपा स्थूल वाग् इन्द्रिय है।

इसका धर्म बोलना है, उच्चारण करना है। वर्णों का अक्षरों का या ध्वनियों का। जिनमें वर्ण स्पष्टतया प्रतीत नहीं होते उन्हें हम ध्वनि कहते हैं। वर्णों को हम पहचान लेते हैं, ध्वनियों को जान लेते हैं, अनुकरण भी कर सकते हैं पर उनके अभिप्राय को नहीं समझते, इसलिये हम उन्हें बोली नहीं मानते।

बोली की समस्या आजकल के शब्द-शास्त्रियों के लिये एक समस्या है। न सुलझ सकने वाली समस्या है। जिसे निराश हो आज का योरप छोड़ बैठा है। वाणी या भाषा सर्वप्रथम कैसे आयी, इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं। भगवान् से आयी ऐसा मानने को वे तय्यार नहीं, क्योंकि फिर तो सबसे प्राचीन ऋग्वेद ही ईश्वर की वाणी सिद्ध हो जायेगा। भावाभिव्यक्ति का प्राथमिक और कोई उपाय बनता नहीं। इसलिये भाषा के मूल की खोज ही योरप ने छोड़ दी है और मूल ढूंढ़ने वाले को प्रमत्त कहने लगे हैं।

यह जो पशु, पक्षी, कीट, पतंग बोलते हैं, इसको निरर्थक समझा जाता है। पर वनचारी शिकारियों ने कुछ और ही सिद्ध किया है। जानवर भी मनुष्य के समान भाव अभिव्यक्त करते हैं। सिंह का शिकार खेलने वालों को सिंह मारना था। सिंह वन में था। पर सामने नहीं आता था। शिकारियों ने चातुमती, सहवासीभलाषिणी सिंहनी की उसे हरे होने के समय की ध्वनि को रेकार्ड पर चढ़ाया हुआ था। उसी रेकार्ड को चढ़ाया। और सिंह कामातुर हो सिंहनी की तलाश में बाहर निकला और शिकार हो गया। आवाज़ भिन्न प्रकार की थी, जिसे सिंह समझता था। उसमें सिंहनी की भाव व्यञ्जना थी। इसी प्रकार जब सिंह बन में आ जाता है, तो पक्षी विशेष बोली बोल अन्य वनचरों को सावधान कर देते हैं। वे समझ लेते हैं, और छिपकर अपनी रक्षा कर लेते हैं। इस प्रकार पशु पक्षियों की अनेक घटनायें देखने में आयी हैं, और इन वन्य शास्त्रियों ने उन्हें रेकार्ड किया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी "सर्व भूत रुत-ज्ञानम्' विभूति पाद। सू-१७। वाचस्पति मिश्र ने भी "सर्वेषां भूतानां पशु-मृग-सरीसृप-वयः प्रभृतीनां यानि रुतानि (तानि जानाति)।" पशु, मृग, सांप आदि तथा पक्षियों के रुत को जान लेता है। कादम्बरी में तो तोते से ही राजा को आशीर्वाद दिलाया है। हैं तो यह भी बोलियाँ ही। मनुष्य नहीं समझता तो क्या हुआ? न समझने से बोली का बोलीपना समाप्त नहीं हो जाता। संसार में हजार प्रकार की तो मुख्य भाषायें हैं, लाखों उनकी आवान्तर भाषायें हैं। साथ में रहने वाले मनुष्य एक दूसरे की बोली नहीं समझते। पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, पहाड़ी आपस में अपनी बोली बोलें तो अन्य कुछ नहीं समझ सकते हैं। यद्यपि रहने वाले एक ही देश के हैं। फिर विभिन्न देशों की भाषाओं की तो बात ही क्या। रूसी, जर्मन, जापानी, चीनी, अंग्रेजी सब भाषायें सर्वथा भिन्न हैं।

इस प्रकार यह सब बोलियाँ वाणी का ही विषय है। वाणी का धर्म बोलना है। उच्चारण करना है। बुद्धि-गत विचारों को यह वाणी ही प्रकट करती है। यह वाणी विचारों का आदान प्रदान करती है। पशु-पक्षी तो खाना मिलने पर संभव है बिना वाणी के रह जायें, पर मनुष्य बिना वाणी का प्रयोग किये नहीं रह सकता। मौन

धारण के लिये साहस चाहिये। जब मौन धारण कर लेता है, तब लिखकर या संकेत से भावों को प्रकट करता है। जब इस पर भी संयम करना हो तो काष्ठमौन धारण करना होता है। न संकेत न लिखना।

जन साधारण के लिये वाणी ही व्यवहार का मुख्य साधन है। वाणी की श्लिष्टता और शिष्टता से व्यक्ति की योग्यता और स्तर तक जाना जाता है। मधुर सरस वाणी हृदय को आकृष्ट कर लेती है। पराये को अपना बना लेती है, और अपने लिये प्राण तक न्योछावर करने को तय्यार कर लेती है। कटुवाणी झगड़ा, कलह, फिसाद, मुकद्दमे-बाजी तक करा देती है। खून खच्चर करा देती है। लाठी तलवार और बन्दूक तक की नौबत ला देती है।

वाणी से ही मनुष्य बुद्धिगत ज्ञान का प्रकाश करता है। कथा, सत्संग, व्याख्यान, सभा, जलसे सब इसी की तो करामात हैं। गाना, कविता करना, कहानी सुनाना इसी का ही तो रूप हैं। जीवित काल में जीवन के गहन से गहन अनुभवों को यह वाणी ही प्रकाशित करती है। इस वाणी का ही मूर्त रूप यह लिपि है। जिस प्रकार से टेढी मेढी होकर ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार की टेढी मेढी लकीरें लिखकर यह लिपि बन गयी है। लिपि वाणी का मूर्तरूप है। यह वाणी का मूर्त-रूप जीवन काल में भी काम आता है, और जब मनुष्य की वाणी इस लोक में कानों से नहीं सुनी जा सकती उस समय वाणी का मूर्तरूप लिपि ही काम देती है।

वाणी के इस मूर्तरूप में ही तो विश्व के मनीषियों का अनुभव साहित्य भण्डार में सुरक्षित है। लाखों, करोड़ों, अरबों वर्ष की वाणी आज भी लिपि बद्ध मूर्त रूप में पढ़ी जा सकती है, उच्चारण की जा सकती है। लिपि में आने पर भी वाणी ने अपना उच्चारण धर्म नहीं छोड़ा। यदि वाणी का यह मूर्त रूप न होता तो वेद पुराण, बाइ-बिल, कुरान, तौरैत आदि की प्रचीनतम पुरानी विचारधारा मानव के सामने कैसे उपस्यित होती।

यह वाणी ही मानव के अन्तर भावों को अभिव्यक्त करती है। रागद्वेष, प्रेम, शत्रुता, क्रोध, दया आदि सब ही भावों को वाणी व्यक्त करती है। दिन रात चौबीस घन्टे यह वाणी विभिन्न प्रकार के नाना व्यापार करती है। वाणी का बड़ा भारी महत्त्व है, इस संस्कार के निर्माण में। सदा रहा है, और सदा रहेगा। वाणी स्वयं जड़ है, पर जिसके पास यह हो उसे यह चेतन बना देती है। वाणी भी जड़, बुद्धि भी जड़ पर दोनों बोलती ज्ञान की बातें हैं। ज्ञान, विज्ञान, धर्म, नीति, राजनीति, इतिहास भूगोल, खगोल, भूगर्भ, पुरातत्व, भाषा विज्ञान, आदि समस्त बिषयों का उल्लेख वाणी ही करती है।

यह वाणी के धर्म और रूप सब समष्टि मण्डल में निहित हैं, व्यवहार न होने से व्यक्त नहीं होते। व्यक्त होते हैं व्यष्टि में आकर। स्थूल शरीर में स्थूल शब्द बोले जाते हैं, और सूक्ष्म शरीरों में सूक्ष्म शब्द बोले जाते हैं, उसी को शब्द तन्मात्रा कहते हैं। इस लोक में स्थूल शब्दों से व्यवहार होता है। सूक्ष्म तन्मात्रा लोक में शब्द-तन्मात्रा से व्यापार होता है। शब्द सर्वप्रथम सूक्ष्म तन्मात्रा के लोक में होता है और पश्चात् स्थूल लोक में उच्चारण होता है।

(शंका) क्या तन्मात्रा के लोक में भी शब्द या वाणी से वार्तालाप होता है ?

(समाधान) जब तन्मात्रा के लोक में सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मेन्द्रियाँ वर्तमान हैं तो शब्द तन्मात्रा से या सूक्ष्म शब्द से कुछ न कुछ व्यवहार तो मानना ही पड़ेगा। जब योगी इस लोक में शब्द-तन्मात्रा से काम ले सकता है, तो स्वर्ग में क्यों नहीं लेगा। योग भाष्यकार ने कहा है—'जिह्वामूले शब्द संवित्'—जिह्वा के मूल भाग में शब्द पर संयम करने से दिव्य शब्द की अनुभूति होती है। शब्दों का उच्चारण वाणी द्वारा होता है। तन्मात्रा के लोक में भी सूक्ष्म वाग् इन्द्रिय द्वारा होता है। जैसे इस शरीर में भी जब अजपाजाप या मानस जाप किया जाता है तो सूक्ष्मेन्द्रिय वाग् ही सूक्ष्म बोली बोलती है। जब यह पुस्तक लिख रहे हैं, उस समय भी तो सूक्ष्म वाणी ही काम कर रही है। स्थूल तो अवाक् है, निःस्तब्ध है।

यह समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल का स्थूल रूप है। समाधि की सूक्ष्म स्थिति में इसका अनुभव कीजिये। और उसी अन्तर्हित भगवान् की सन्निधानता का अनुभव कीजिये जिसके निमित्त से यह सब परिणति हो रही है। यदि भगवान् के प्रत्यक्ष को बनाये रखना है, तो वाणी से वैराग्य धारण कीजिये इस द्वारा प्राप्त होने वाले माया-जाल में मत फँसिये। यह वैराग्य तरिण ही संसार सागर को पार कर मोक्ष प्राप्त करायेगी। वैराग्य को ही दृढ़ता से संभाले रहिये।

समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्मानुभूति

(वाग् इन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के स्वरूप में—

बोलना धर्म समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल में सदा वर्तमान रहता है। यह धर्म ही इस का स्वरूप है। इनका भी धर्म धर्मी भाव सम्बन्ध है। बोलना गुण है मण्डल गुणी है। गुण गुणी एक ही होते हैं। कभी अलग नहीं होते। बोलना धर्म का प्रत्यक्ष यहाँ समष्टि मण्डल में नहीं होता। जितनी भी वाणी है उसका उच्चारण व्यष्टि वाग् इन्द्रियों द्वारा होता है। व्यक्ति गत वाक् की उत्पत्ति समष्टि वाक् से ही होती है। व्यष्टि वाक् और इसके गुण का भी गुण गुणीभाव सम्बन्ध हैं।

(शंका) वाणी क्या है ? बोलने को वाणी कहें तो रेडियो, फोनोग्राफ आदि भी तो बोलते हैं, क्या यह भी वाणी है।

(समाधान) नहीं यह वाणी नहीं है। यह तो वाणी की नकल है। उसकी प्रतिकृति है। मसाले को ऊँचा नीचा थोप कर वैसे ही ध्वनि निकाली गयी है। वह उरः कण्ठ आदि स्थानों से वायु के संघर्षण से इच्छानुरूप उद्भूत नहीं की जा सकती। वाणी से इच्छानुसार भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। रेडियो फोनोग्राफ आदि में तो ध्वनि की प्रतिकृति मात्र है। हाँ उन पर जो बोलने वाले होते हैं वह वाणी होती है। वाणी तो, वाणी कर्मेन्द्रिय का धर्म है। विना वाक् कर्मेन्द्रिय के हम एक अक्षर का भी उच्चारण नहीं करा सकते हैं। मानव नकल कर सकता है। असल एक भी वस्तु आज

तक न बना सका। नकली फल बनाये पर असली फल एक भी न बना सका। वाणी से भी मानव नकल करता है, पर वह नकल नहीं रहती असल बन जाती है। यही वाणी में और इन यन्त्रोच्चारित ध्वनियों में भेद है।

(शंका) बोलना क्या है? जिसे आप वाणी कहते हैं? टेलीफोन की घंटी बोलती है, बाजा बोलता है, बाँसुरी बोलती है, क्या यह सब भी बोली बोलते हैं?

(समाधान) नहीं टेलीफोन बाजे आदि की यह बोलियाँ नहीं हैं। यह ध्वनियाँ हैं। ध्वनियाँ तो बोली में भी होती हैं, पर वे ध्वनियां सार्थक होती हैं। कई ध्वनियाँ मिलकर किसी पदार्थ को कहती हैं। वह वर्णों की समुदाय रूप ध्वनि सार्थक होती हैं। अतः उस स्फोट के अवयव वर्ण भी सार्थक होते हैं। जिसका समुदाय सार्थक है उसका अवयव भी सार्थक होता है। तिलों के ढेर से तेल निकलता है, तो उसके अवयव एक तिल से भी तेल निकलता है, चाहे वह थोड़ी ही मात्रा में हो। रेत के मनों ढेर से एक बूँद तेल भी नहीं निकलता तो रेत के कण से क्या निकलना है। इसी प्रकार का वर्णों का समुदाय सार्थक है तो वर्ण भी सार्थक है। यदि समुदाय में केवल एक ही वर्ण को सार्थक मानें तो शेष अनर्थक हो जायेंगे। यदि 'यूप' शब्द में 'य्' ही सार्थक है तो अप अनर्थक हो जायेगा। अप सार्थक है तो य् अनर्थक हो जायेगा। इस प्रकार तो यूप, कूप, सूप, स्तूप, में ऊप के कारण अर्थ-सांकर्य हो जायेगा। सब वर्ण सार्थक हैं, इसीलिए उनका समुदाय भी सार्थक होता है। बस जो ध्वनि सार्थक, कुछ अर्थ वाली है, वही बोली है। बाजे, टेलीफोन, घण्टे आदि की ध्वनियाँ निरर्थक हैं, घन्टों बजाते रहो कोई अर्थ निकलता नहीं। उनसे कोई संकेत बना लिया जाये तो वह तो उसका अर्थ नहीं। वह तो काल्पनिक है अनित्य है। अनियमित है। एक ही ध्वनि से आप कुछ संकेत रख सकते हैं, दूसरा कुछ और ही रख सकता है। अतः व बोली नहीं।

ध्वनि शब्द का गुण है, जो आकाश में रहती है। बोली भी रहती तो आकाश में ही, आकाश में ही सुनी भी जाती है, पर उस बोली का बोलने वाला शरीरधारी जीव होता है। यदि शरीर स्थूल हुआ तो बोली भी स्थूल होगी। शरीर सूक्ष्म होगा तो बोली भी सूक्ष्म होगी। अतः टेलीफोन आदि के शब्द का गुण ध्वनियाँ हैं बोली नहीं।

बाजा भी, बाँसुरी भी गाना गाते हैं। गाने के स्वर में स्वर और ताल में ताल मिलाते हैं। पर वह भी बोली नहीं है। गाना तो किसी न किसी बोली में है, पर बाजा किसी बोली को नहीं बोलता। बाजा तो ध्वनि के उतार-चढ़ाव से लय या तरज़ निकालता है। गाना नहीं गाता। उस तरज़ पर सैंकड़ों गाने गाते हैं। जब बाजा कोई तरज़ निकालता है तो सुनने वालों को उस तरज़ पर जो भी गाना आता होगा, बाजे में वही सुनाई देगा। यदि सुनने वाले १०० हों, और एक ही तरज़ के भिन्न गाने सब को आते हों तो, एक बाजा सौ के सौ गानों के साथ एक ही बजेगा अतः बाजा भी लयात्मक ध्वनि निकालता है, बोली नहीं बोलता।

(शंका) समष्टि व्यष्टि वाग् इन्द्रिय का जो बोलना आप धर्म बताते हैं, वह कौन-सी भाषा का बोलना वाग् इन्द्रिय का धर्म है, क्या वह अनादि भाषा संस्कृत है?

(समाधान) नहीं वह बोलना प्राचीन भाषा संस्कृत का नहीं है। बस वह तो बोलना है। सामान्य धर्म है। यह भाषायें या बोली तो उसके परिणात्मक धर्म हैं।

माइक्रोफोन ने तो बोलना है, रेकार्ड आप किसी देश की भाषा का, बोली का चढ़ा दें, वह उसे ही बजा देगा। उसका धर्म बोलना है। भाषा कौन-सी है इससे उसका प्रयोजन नहीं। मुँह का धर्म खाना है, दाँतों का चबाना, जो भी आयेगा मुख उसे खायेगा, दाँत चबायेंगे। चाहे वह खट्टा, मीठा, नमकीन, कठोर, कोमल कैसा भी हो इससे उसका प्रयोजन नहीं। इस हिन्दी की वर्णमाला को ही ले लीजिए, यह वर्ण ध्वनियों को बताने वाले हैं। आप किसी भी भाषा की ध्वनियों को इसमें लिखें। संस्कृत, प्राकृत, पाली, शूरसेनी, मागधी, ब्रजी, मराठी, गुजराती, बंगाली, मलयाली कुछ भी लिख सकते हैं, इसी प्रकार समष्टि वाग् का धर्म बोलना है। कौन-सी भाषा है इससे उसका प्रयोजन नहीं है। यह तो सामान्य और विशेष परिणामों को समझने की बात है। प्रकृति, जल, आकाश, प्रकाश सब के लिए हैं। यह हिन्दुओं के नल या कूएँ थोड़े ही हैं, जो विशेष के लिए सुरक्षित हों। यही कारण है कि समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल का विश्व भर के व्यष्टि विभिन्न देशों के मानव, तथा विभिन्न योनियों एवं परिस्थितियों में जीव इसी मण्डल के आधार पर अपनी-अपनी वाग् इन्द्रिय से अपनी-अपनी बोली बोलते हैं। कभी किसी प्रकार प्रतिरोध उत्पन्न नहीं होता।

(शंका) भगवन्! इस समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के प्रत्यक्ष के लिए किस-किस भाषा का जानना आवश्यक है? तैरना सीखना हो तो पानी में उतरना ही पड़ता है, बोलना हो तो कोई भाषा तो होनी ही चाहिये, बोलना बिना भाषा के नहीं हो सकता?

(समाधान) समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के प्रत्यक्ष के लिये किसी भी भाषा का ज्ञानी होना आवश्यक नहीं। गूँगा भी और वाचाल भी, मौनी भी और वाग्मी भी इसका प्रत्यक्ष कर सकता है। अभ्यास करते-करते शब्द, अर्थ, प्रत्यय (ज्ञान) के प्रविभाग पर अलग-अलग सत्ता पर संयम करे तो सब मानव, पशु, पक्षी आदि की बोली का ज्ञान हो जाता है। जब योगी योग से अभ्यास करने पर सब भाषाओं को जान सकता है तो किसी एक भाषा को सीख कर ही योग क्यों सीखे। योग तो पृथिवी भर के मानवों के लिये खुला है। किसी भाषा, देश, धर्म या मत का इसमें प्रतिबन्ध नहीं है। बालक उत्पन्न होते ही बोलता है। सब का बालक बोलता है, किसी भी जाति का हो, उसका आरंभिक बोलना सामान्य बोलना है। अंग्रेज, रूसी, जर्मन, अमरीकन, चीनी, जापानी, सब बच्चे उत्पन्न होते समय एक ही बोली बोलते हैं, वही मौलिक बोली है। क्या नवजात शिशु का रोना सुनकर संसार का कोई भी भाषा विशेषज्ञ पहचान सकता है, किस देश का बालक जन्मा है। देव-दारु किसी भी देश में उत्पन्न हो रूप उस का एक ही देश के कारण आकृति भेद नहीं। समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल विश्वभर के लिए एक है। उससे व्यष्टि वाग् इन्द्रिय भी सब एक-सी ही परिणत हुईं, जिन का धर्म भी समान हैं। विषमता तो पीछे विशेष परिणामों में आयी है। बोलना पहले होता है, भाषा पीछे। सब प्राणी पहले बोलते हैं, जिसे सुनते ही हम कहते हैं, कोई बोल रहा है। भाषा तो पीछे का परिणाम है। इसलिए बोलने मात्र के लिये किसी की भाषा की आवश्यकता नहीं। इस समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल में बोलना धर्म है। जिस के आधार पर सब भाषायें बोली जाती हैं।

समष्टि व्यष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल के द्वितीय रूप में धर्म-धर्मी के अभेद का साक्षात् करना चाहिए और उसमें निमित्त रूप से वर्तमान भगवान् की सन्निधानता का

भी प्रत्यक्ष करना चाहिये। यह वाग् इन्द्रिय जहाँ इतना उपयोगी है वहाँ इसके मोह में फंस मृग अपने प्राण गंवा देता है। इसके स्वरूप को समझ पर वैराग्य से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त बनाना चाहिए।

समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्मविज्ञान

(वाग् इन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि वाग् इन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि सात्त्विक अहंकार ०·८ भाग + समष्टि तामस अहंकार ०·२ भाग और + समष्टि राजस अहंकार २·० भाग के सम्मिश्रण का परिणाम यह समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल है। इस समुदाय के सम्मिश्रण से जो मण्डल बना है, वह अयुतसिद्ध द्रव्य है। तीनों अहंकार सामान्य और मण्डल विशेष का समुदाय अयुतसिद्ध है। यह परस्पर भेद से अनुगत अभेद रूप समुदाय है। यहाँ तीनों अहंकार कारण और वाग् मण्डल कार्य है। समष्टि राजस अहंकार की मात्रा सर्वाधिक होने से यह राजस अहंकार का परिणाम कहलाती है। यही समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल का सूक्ष्म रूप है। समष्टि वाक् इन्द्रिय व्यष्टि वाक् का सूक्ष्म रूप है, कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध होने से।

वाग् इन्द्रिय में अन्य कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा सत्त्व का भाग सर्वाधिक है। इस लिये यह मण्डल सर्वाधिक ज्ञान प्रधान है। अतः वाग् भावाभिव्यक्ति में अत्यन्त निपुण है। इस सत्त्व की प्रधानता बनाये रखने से वाणी मधुर, प्रिय, एवं आकर्षक होती है। सात्त्विक पुरुष की वाणी सत्त्व प्रधान होती है। सात्त्विक वाणी सदा ज्ञान, ध्यान, धर्म, प्रेम, सहानुभूति एवं सौहार्द को व्यक्त करती है। सात्त्विक गुण की अधिकता ही अनन्त ज्ञान के भण्डार को वाणी द्वारा व्यक्त कराने में समर्थ होती है। इसी गुण के कारण वाणी स्वयं जड़ होते हुए कैसी-कैसी अद्भुत ज्ञान की गहरी बातों को दूसरों पर प्रकाशित कर देती है। वाणी अधिकाधिक सात्विक बने, इसी लिये राजस और तामस को दबाया जाता है। वाणी का कम प्रयोग करने से वाणी में सात्विकता बढ़ती है। वाणी जब सत्य का ही आश्रय करती है, यथार्थ भाव को ही प्रकट करती है तो—'सत्य प्रतिष्ठायां वाचिक्रिया श्रयत्वम्' सत्य के साध लेने पर वाणी से जो कहता है, वही हो जाता है। 'अमोघास्य' वाग् भवति' सत्याश्रयी की वाणी विफल नहीं होती। जो कुछ कह देता है, वही हो जाता है। सात्विक वाणी ही मनुष्य को प्रेय से श्रेयमार्ग की ओर लगाती है। प्रणवः एवं गायत्री आदि पवित्र मन्त्रों का जाप वाणी का सात्विक अंश है। सब इन्द्रियों को प्रधानतया ज्ञानेन्द्रियों को श्रेयः की ओर लगाने का श्रेय इस सात्विक जाप को ही है। वाणी में सात्विकता का आधान ही मानव को पशुता से देवता की ओर ले जाता है।

वाणी का राजस भाग नियन्त्रित रहे तो सात्विक क्रियाओं को आगे बढ़ा, सत्त्व को ही अभितः विकसित करता है। राजस स्वयं प्रधान हो जाये तो वाणी में तीक्ष्णता वाचालता और कटुता ले आता है। वाणी की कटुता बड़ी भयंकर होती है। शस्त्रों के जखम तो भर जाते हैं, पर वाणी का ज़खम कभी नहीं भरता। वाणी की कटुता लड़ाई,

झगड़े, मुकदमे तक करवा देती है। सिर फुड़वा देती है। रामायण और महाभारत का सूत्र-पात कटु वाणी से हुआ। मन्थरा की कटु वाणी ने राम को १४ वर्ष बन में वास करा दारुण दुःख दिये। द्रौपदी की कट-भाषिता ने महाभारत सा प्रलयंकारी युद्ध करा दिया।

वाणी का तामस गुण भड़क जाये, तो वाणी प्रभाव हीन हो जाती है। अधर्म अनाचार की बातें करती हैं, इस लोक को भी बिगाड़ती है, और परलोक का तो सत्यानाश कर देती हैं। अन्धतमस तन्द्रालु योनियों का कैदी बना देती है। सदा उत्साह हीनता और अकर्मण्यता की ही बातें करती रहती है। राजस अवस्था में बोलना तीव्रतर हो जाता है। तामस अवस्था तो स्वाभाविक सा मौन ले आती है। व्यक्त भी होती है तो अव्यक्त शब्दों के रूप में।

वाणी के ये तीनों रूप ब्रह्मरन्ध्रस्थ वाग् इन्द्रिय से अभिव्यक्त होते हैं। स्थूल मुख आदि में वर्त्तमान वाग् इन्द्रिय तो उस के उपकरण मात्र हैं। वाणी में ये धर्म उसके सूक्ष्म-रूप तीनों अहंकारों से आये हैं। यह इन कारणों के भेद में अभेद रूप से अनुस्यूत है। इस प्रकार कार्य की कारणता में सूक्ष्मरूप से वाक् सम्बन्धित है। इस सूक्ष्मरूप की अनुभूति के साथ इस में सर्वव्यापक भगवान् की भी सूक्ष्मरूप से अनुभूति करनी चाहिए। तब ही तो इस ब्रह्म की सब पदार्थों में, सब अवस्थाओं में सर्वव्यापकता की अनुभूति होगी। इस ब्रह्मानुभूति को स्थायी बनाने के लिये वैराग्य की भावना को दृढ़तर करते जाइये, कहीं ऐसा न हो कि वाणी के बाह्य आकर्षण में ही आप रम जायें, शब्द और नाम तक ही आप की गति हो कर रह जायें, या मधुर तान में ही खोये जा कर उस ब्रह्म को खो बैठें। अतः वैराग्य और ज्ञान की भावना को दृढ़ कीजिये यही आपका प्रकृति से बन्धन काटेगी।

समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(वाग् इन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि वाग् इन्द्रिय के अन्वय रूप में—

प्रकृति कार्य के स्वभाव वाली है। अतः अपने धर्म और गुणों को साथ लेकर प्रत्येक कार्य में अनुगत होती है। इस समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल में भी प्रकृति ही परम्परा से अपने धर्म गुणों सहित अन्वित हुई है। प्रकृति के सर्व-प्रथम परिणाम महत्सत्त्व महत्रजः और महत्तमस् हैं। महत् तम से तीनों समष्टि अहंकार परिणत हुए। उन तीनों ने मिलकर समष्टि वाग् इन्द्रिय स्तर को प्रस्तुत किया है। इस मण्डल में प्रकृति का ज्ञान प्रधान रहा। स्थिति और क्रिया गौण रहे। वह ज्ञान क्रिया के मेल से 'बोलना' रूप-धर्म में परिणत हुआ। बोलना धर्म इस समय मण्डल में प्रतीत नहीं होता पर व्यष्टियों में व्यक्त होगा।

इस प्रकार यह समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल उत्पत्ति धर्म है। सदा से इसी रूप में नहीं है। व्यष्टियों के परिणाम काल में यह घट जाता है। व्यष्टियों के लय से यह बढ़ जाता है।

(शंका) बोलना क्रिया तो शब्द के होने पर होगी, शब्द-तन्मात्रा सृष्टि क्रम में पीछे बनती है, तो यह वाग् इन्द्रिय मण्डल पहले कैसे बन सकता है ?

(समाधान) बोलना एक धर्म है, जो अपने धर्मी में रहता है। बोलना एक क्रिया भी है। जिसकी बात आप कह रहे हैं। यह बोलना क्रिया तो कण्ठ, जिह्वा, तालु, मुख आदि के होने पर ही हो सकती है। अभी तो सूक्ष्म शरीर के अवयव भी पूरे नहीं हुए, कण्ठादि की रचना की बात तो बहुत दूर है। अतः यह 'बोलना' रूप धर्म कण्ठ आदि की क्रिया से भिन्न है, अन्य है। यह भी विचारणीय है कि जो व्यक्ति दिल के दौरे से मरा है, अभी कुछ क्षण पहले बोल रहा था। कण्ठ, तालु, मुख सब ही तो मौजूद हैं वह बोलता क्यों नहीं। आप कह सकते हैं, आत्मा नहीं इस लिये नहीं बोलता। पर जानना तो यह है, कि मृत होने की घोषणा से पूर्व, जब अभी आत्मा शरीर में ही था, कण्ठ तालु आदि भी थे, तब क्यों नहीं बोलता था। बोलना एक क्रिया है। जिसे वाग् इन्द्रिय कराती है। बोलना उस वाग् इन्द्रिय का धर्म है या रूप हैं, धर्म धर्मी का अभेद है। बोलना धर्मरूप वाग् इन्द्रिय की प्रेरणा से, आदेश से यह उपकरण बोलने की क्रिया करते हैं। उस क्रिया से आकाश का धर्म शब्द प्रकाशित होता है। उस शब्द को प्रकाशित करने के लिये बोलना क्रिया की आवश्यकता है। बोलना क्रिया तो मुख आदि अवयवों में है, उस बोलना क्रिया का निमित्त आकाश नहीं। जब बोलना क्रिया का निमित्त भी आकाश नहीं है तो बोलना धर्म रूप वाग् इन्द्रिय की सत्ता के लिये आकाश निमित्त की क्या आवश्यकता। अतः यह शंका निराधार रही। वाग् इन्द्रिय मण्डल की सत्ता स्वतन्त्र है, जिसका धर्म बोलना है। जिस धर्म के कारण से बोलना क्रिया होती है।

इस प्रकार कारण-रूपा प्रकृति, तमस् और अहंकारों के रूप में परिणत होती हुई, अब इस रूप से वाग् इन्द्रिय मण्डल में परिणत हुई है। इस अद्भुत परिणाम दशा का योगी को साक्षात्कार करना चाहिये। इस अवसर पर ही निमित्त कारण भगवान् की सन्निधानता का समाधि में साक्षात्कार करना चाहिये। इस अन्वय अवस्था में भी ईश्वर का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। किस प्रकार ईश्वर के सन्निधान या व्यापक होने से यह क्रम पूर्वक अन्वय प्राप्त हुआ, और चेतन ब्रह्म किस प्रकार इससे सम्बद्ध है। ब्रह्म के इस साक्षात्कार को भी आप वैराग्य की तीव्र भावना से ही दृढ़तम कर सकते हैं बिना वैराग्य तो यह सब बालू पर किला है, जो हवा की एक हलकी सी लहर से धराशायी हो जायेगा। अतः वैराग्य को दृढ़ करने से ही यह सब क्रिया-कलाप योगाभ्यास बद्ध मल होगा।

समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(वाग्इन्द्रिय का पञ्चम रूप)

५. समष्टि वाग् इन्द्रिय के अर्थवत्त्व रूप में—

समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल का अर्थवत्त्व इसी में है कि इसी से व्यष्टि वाग् इन्द्रियों का निर्माण होता है, और उनसे समस्त सूक्ष्म शरीरों की रचना सम्पन्न होती है। उन्हीं में से जो सूक्ष्म शरीर स्वर्ग-भोगी होते हैं, वे स्वर्ग में इन व्यष्टि इन्द्रियों

से सूक्ष्म भोग सम्पादन करते हुए वास करते हैं। जो सुख-दुःख भोगी होते हैं वे लोक-लोकान्तरों में अपनी-अपनी व्यष्टि वाग् इन्द्रियों के लिए भोग योनियों में कृत-सञ्चित कर्मों का भोग भोगते हैं। शेष ज्ञान सम्पन्न मानव शरीर में मोक्ष के प्रयत्नार्थ और मानव योनि के भोगों को भोगने के लिए व्यष्टि वाग् इन्द्रिय को लिए हुए आते हैं। यह मण्डल आकाश मण्डल में अपनी परिधि में सर्वत्र फैला हुआ है। इसीलिए सर्वत्र सूक्ष्म शरीरों का निर्माण हो जाता है। आवान्तर प्रलय में जब सृष्टि निर्माण होता है तो इसी मण्डल से वाग् इन्द्रिय का आहरण शरीर निर्माणार्थ होता रहता है।

बोलना धर्म इस वाङ् मण्डल में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है उसकी अर्थवत्ता व्यष्टि वाग् की अर्थवत्ता से ही जानी जा सकती है। समस्त संसार का बोलने का व्यवहार स्थूल या सूक्ष्म वाणी के द्वारा ही होता है। वाणी व्यवहार दो ही बातों के लिए होता है, भोग या अपवर्ग के लिए। अतः वाग् भोग और अपवर्ग का हेतु है। दिव्य रूप से वाणी का व्यवहार स्वर्ग लोक में होता है। अदिव्य रूप से इस लोक में कार्यों को करती है। शब्दों का उच्चारण होने पर वाक्यार्थ बोध इस के द्वारा ही होता है। गुरु वाणी द्वारा ही शिष्यों को अध्यापन कराता है। उपदेष्टा सन्यासी, पुरोहित भी वाणी द्वारा ही उपदेश करते हैं। जिससे मानव मात्र का कल्याण अभीष्ट होता है, उस पर आचरण करने वालों का कल्याण भी इसी के कारण होता है।

उपनिषद् में भी वाणी की बहुत प्रशंसा की गयी है—

"वाक् प्राणं भूत्वा मुखं प्राविशत्"

—वाणी प्राण रूप होकर मुख में प्रवेश कर गयी। वाग् इन्द्रिय का वास तो ब्रह्मरन्ध्र में है। उसका व्यापार मुख में है। इसलिए मुखं प्राविशत् कहा है। वाणी का सब व्यापार प्राण पर आश्रित है। प्राण के द्वारा ही सब उच्चारण व्यवहार होता है, अतः मानो वाणी प्राण रूप होकर मुख में प्रवेश कर गयी 'मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयतिस्वरं'—वायु ही हृदय में संचार करता हुआ वाणी को उत्पन्न करता है।' (पाणिनीय शिक्षा)

प्राणी अपनी भावाभिव्यक्ति वाणी द्वारा ही कर सकता है। हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, क्रोध, सन्तोष, दया सब ही भावों की अभिव्यक्ति वाणी द्वारा होती है। मरणासन्न व्यक्ति की जब वाणी अवरुद्ध हो जाती है, और वह अपने भाव तक प्रकट करने में असमर्थ होता है, कुछ कह नहीं पाता, कहना बहुत कुछ चाहता है। अपने जीवन की कमाई अपनों को सौंपना चाहता है। जीवन का अनुभव, सार, तत्त्व सब कुछ प्रकट करना चाहता है। पर लाचार एक अक्षर भी न बोल पाता तो चार-चार आँसू रोता है। सांस फूली जाती है। देखने वाले भी विषण्ण हुए जाते हैं; ऐसा विषाद वाणी के अपने व्यापार को छोड़ देने पर होता है।

अव्यक्त वाक् प्राणी भी अपनी आन्तर व्यथा को करुणामयी वाणी से व्यक्त करते हैं। सिंह जैसा हिंसक जानवर अपनी दीन दशा को करुणामयी वाणी में व्यक्त करने पर मजबूर होता है। नन्हा-सा शिशु भी अपनी भूख प्यास को तोतली वाणी में व्यक्त न कर पाये तो माँ अपने धन्धे में उसे खिलाना-पिलाना भूल जाये। वाणी जहाँ शिशु के जीवन का आधार है वहाँ मानव जीवन सारा ही इससे ओत-प्रोत है। जीवन के प्रत्येक स्तर में वाणी की महत्ता है। वस्तु खरीदनी हो वाणी की महत्ता है। यदि मुख

से नहीं बोलते तो दुकानदार कैसे समझेगा, आप क्या लेना चाहते हैं। उसके झुंझलाकर पूछने पर आपने हाथ से संकेत कर बता भी दिया कि अमुक वस्तु लेनी है। दुकानदार ने पूछा कितनी लेनी है। वाणी है नहीं, या उपयोग नहीं करना कैसे समझायें ? लेनी चार आने की थी। पास में अठन्नी थी। बोलना हैं नहीं, मजबूर अठन्नी दे, जितनी वस्तु दी लेकर चले आये, न भाव जान सके न तोल। बिना वाणी व्यवहार चल ही नहीं सकता। बिना वाणी व्यापारी से कैसे व्यापार होगा। कैसे भाव ठहरेगा। कैसे आर्डर दिया जायेगा। आदि।

वाणी के सहारे ही देश-विदेश की, देखे बिन देखे की, जाने अजाने प्रदेश की हज़ारों मील की यात्रा सुखद हो जाती है। इस प्रकार वाणी से हज़ारों नित्य नये अनुभव होते हैं। जो लोग उतनी दूर नहीं जा सकते उनको वाणी द्वारा ही तो सब समझाया जाता है। वेद शास्त्र इतिहास पुराणों में निहित अरबों वर्षों का अनुभव, ज्ञान विज्ञान इस काल के मानव तक वाणी के द्वारा ही तो प्राप्त हो सका है। स्पुतनिकों द्वारा आकाश यात्रा जान जोखों में डाल लाखों रुपया व्यय कर, हज़ारों व्यक्तियों के परिश्रम के आधार पर कुछ ही व्यक्ति कर पाये हैं, वह सब अनुभव वाणी देवी की कृपा से ही तो बिना किसी परिश्रम के ही साधारण व्यक्ति को प्राप्त हो जाता है। शत्रु मित्र देश संसार की समस्याओं को सुलझाने का यत्न इस वाणी द्वारा ही करते हैं। इस वाणी के प्रयोग ने महाभारत सा संसार संहारक युद्ध कराया। वर्तमान युग के संसार का पहला और दूसरा विश्व-युद्ध नरसंहार का कारण भी इसी वाणी द्वारा बना। हिरोशिमा पर एटम बम भी इसी वाणी के आदेश से गिराया गया। वह युद्ध विराम भी इसी वाणी के द्वारा हुआ। आज भी तीसरे विश्व-युद्ध की ज्वाला भड़की हुई है, और उसे भी अभी तक यह वाणी ही रोके हुए है। अन्तिम क्षण तक वाणी का प्रयोग कर युद्ध को रोका जा सके इसके लिए बड़े-बड़े राष्ट्रों के राष्ट्रपतियों का टेलीफून सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। जल और स्थल से वाणी का प्रयोग कर मित्र राष्ट्र वार्तालाप कर सकते हैं, पर शत्रु चाहे तो दोनों का सम्बन्ध तोड़ सकता है, ऐसे साधन तो विज्ञान ने उपस्थित कर दिये हैं, पर आकाश के माध्यम से टैलस्टार द्वारा हज़ारों मील दूरी पर बात करने में बाधा के साधन विज्ञान के पास अभी नहीं हैं, अतः टैलस्टार द्वारा मित्र राष्ट्रों ने वाणी के प्रयोग की योजना चालू की है।

वाणी का प्रयोग ऊँचे-से-ऊँचे स्तर, और नीचे-से-नीचे स्तर के लिए अनिवार्य है। वैज्ञानिकों ने इस प्रकार वाणी के प्रयोग को अक्षुण्ण बनाने के लिए भागीरथ प्रयत्न किया है, उधर प्राकृतिक अनुराग से विरक्त परम वैराग्यवान योगी भी स्थूल वाणी का संयम द्वारा प्रयोग बन्द कर सूक्ष्म वाणी के प्रयोग को इतना विकसित कर लेता है, कि हजारों मील की दूरी पर भी बिना किसी प्रकार के बाह्य सम्बन्ध के अपने हार्द-भावों को भेज सकता है। अपने शिष्य का मार्ग प्रदर्शन कर सकता है। जिसको चाहे अपना समाचार भेज सकता है। आज के विज्ञान ने वाणी का ही सम्बन्ध सदा बनाये रखने के लिए टेलीफून, वायरलेस, टेलीप्रिन्टर आदि की व्यवस्था की हुई है। मानव जीवन से भोगवाद में तो वाणी को एक क्षण के लिए भी पृथक् नहीं किया जा सकता। इस वाणी का भोगात्मक रसास्वादन करने के लिए फोनोग्राफ, रेडियो, माइक्रोफोन, टेपरिकार्डर

आदि का आविष्कार किया गया। एक ने एक बार बढ़िया गाना गाया उसे ही प्लेट पर चढ़ा सदा के लिए सुरक्षित कर लिया। राष्ट्रपिता गांधी आज नहीं, पर उनकी वाणी आज भी आकाशवाणी से कभी-कभी प्रसारित की जाती है। विदेश स्वदेश के राष्ट्र नेताओं की वाणी आज सुरक्षित कर ली गयी है।

इस वाणी का मानव जीवन से अविच्छेद्य सम्बन्ध हैं। स्कूल, गुरुकुल, पाठशाला विद्यालय, महाविद्यालय कालिज, यूनिवर्सिटियाँ इस वाणी के प्रचार केन्द्र हैं। जहाँ संसार भर में वाणी के परिणामों का प्रशिक्षण होता है, और साथ ही उसी वाणी द्वारा हजारों प्रकार के विषयों का प्रशिक्षण होता है। मानव विज्ञान की कोई सीमा नहीं। संसार भर के देशों में एक से एक बढ़कर विद्वान् हुआ है। उन्होंने अपनी विद्या का प्रकाश अपने देश की वाणी में किया है। सब देश सब विद्वानों के विचारों एवं विज्ञान से लाभ उठाने के लिए अपनी-अपनी वाणी से अनुवाद करना चाह रहे हैं। उसके लिए यन्त्रों का भी आविष्कार किया है। एक ही यंत्र कई-कई भाषाओं में एक साथ ही वाणी का अनुवाद कर सके। इस प्रकार वाणी की अर्थवत्ता दिन-प्रतिदिन अधिक अनुभव की जाने लगी है। इसके लिए भौतिक विज्ञान का तो उपयोग किया जा रहा है, पर सर्वकामधुक्, वाणी के मूल का ज्ञाक कराने वाली योग-प्रक्रिया को क्रियात्मक रूप देने की ओर संसार का ध्यान नहीं है। भारतीय योगियों पर यह भार है, कि स्वल्प में आत्म-सन्तुष्टि प्राप्त कर परमवैराग्य के नाम पर विज्ञान के आविष्कार से विमुख न हों। परम्परागत योग विद्या बराबर विकसित करते जायें, विज्ञान को भी चकित करने वाले रहस्यों का उदघाटन कर संसार के समक्ष उपस्थित करें।

वाणी की यह सब अर्थवत्ता समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल में निहित है उसी से व्यष्टि में आयी है। समष्टि वाग् इन्द्रिय का मण्डल तन्मात्राओं के मण्डल से भी सूक्ष्म है। उनमें ओत-प्रोत है, और उनसे ऊपर भी है। शेष कर्मेन्द्रियों के मण्डल से सूक्ष्म है, उनमें भी है और उनके ऊपर भी है, क्योंकि यह रजः प्रधान अहंकार का कार्य है, और सर्व-प्रथम कार्य है। यह उपादान कारण के रूप में सदा सूक्ष्म आकाश मण्डल में ठहरा है। व्यष्टि वाक् को उत्पन्न करता रहता है। भोग और मोक्ष का साधन बना हुआ है। वास्तव में इतना सूक्ष्म मण्डल होते हुए भी एक प्रकार से ब्रह्म की सूक्ष्मता का आवरण किये हुए है। इस आवरण को भेदन करके ही ब्रह्म की सूक्ष्मता का अनुभव कर सकते हैं। जैसे राजा अपनी रक्षा के लिए किला बनाता है, और उसके चारों तरफ कई-कई कोट बनाया करता है। प्रत्येक कोट में दरवाजे रखता है। इसी प्रकार ब्रह्म के उपर भी प्रकृति के कार्यों के अनेक कोट बने हुए हैं। अपनी स्थूलता के कारण सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्रह्म को आच्छादित किये हुए हैं। यही कारण है कि उसके अन्वेषण और विज्ञान में देरी लगती है। सर्वसाधारण की वहाँ प्रगति नहीं होती है। गीता में कहा भी है—'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये'—सहस्रों लोखों मनुष्यों में कोई बिरला ही उसकी प्राप्ति कर पाता है। यत्न तो बहुत करते हैं। परन्तु सफलता किसी बिरले को ही मिलती है क्योंकि गुरु की कृपा भी होनी चाहिए, कोई बाधा भी उपस्थित न हो, और कटिबद्ध होकर योगी लग जाये, तब ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।

समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डल की इस अर्थवत्ता में भी ब्रह्म का अनुभव करना है। ब्रह्म के सन्निधान से ही इस मण्डल में यह अर्थवत्ता व्यापी है। इस अर्थवत्त्व रूप के

साथ ही योगी को ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है। यह वाणी स्वर्ग और नरक दोनों का निमित्त बनती है। अतः इस वाणी के आकर्षण और प्रलोभन में योगी को फँसना नहीं चाहिये। वाणी-निमित्तक संसार के भोगों से परम वैराग्य प्राप्त कर ब्रह्म-ज्ञान में लगा रहना चाहिए।

इति समष्टि वाग् इन्द्रिय मण्डलम्।

इति द्वितीयाध्याये दशमः खण्डः।

इत्यैकोनविंशमावरणम् ॥

एकादश खण्ड

१८ वां ग्रवरण

सात्त्विकाहंकारिक सृष्टि अन्ववतरणिका

पांचों ज्ञानेंद्रियों के पांच मण्डल

योगिन् ! आपने द्वितीय अध्याय के दशम खण्ड तक प्रदर्शित आत्मा और भगवान् के बीच पड़े हुए पन्द्रह आवरणों के स्वरूप को समझ लिया है। इनके वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा या परमात्मा की सजातीयता इन में तनिक भी नहीं हैं। चित्त और अहंकार परिवेष्टित आत्मा अपने आपको शरीराभिन्न समझ बैठता है। शरीर के व्यामोह से यह प्रकृति की रंग रलियों में रम जाता है। स्वल्प से सुख-मय प्रतीयमान क्षणों के लिए अनन्त दुःख राशि के खारे संसार सागर में गोते खाता रहता है। पौनः पुन्येन दारुण दुःख-दानव के विकराल अहर्निश खुले जवाड़े में गिरता है। त्राहि-त्राहि कर उससे निकलना चाहता है, पर अज्ञान वश वचने के लिये भी पुनः उसी में जा फंसता है। अज्ञानवृत जीव के लिये यह सृष्टि रचना विकराल जबाड़ा बन जाती है। ज्ञानी तत्त्व वेत्ता जब तत्त्व को भली भान्ति समझे लेता है तो इसी प्रकृति को अज्ञान-भंवर से पार होने के लिये नौका के रूप में प्रयोग करता है, और पार उतर जाता है।

पांचों ज्ञानेन्द्रियों के मण्डल सात्त्विक अहंकार के परिणाम हैं। सात्त्विक होने से ज्ञान युक्त और प्रकाशमय हैं। अन्दर का प्रकाश दिव्य ज्योतिः भगवान् तक पहुंचने के लिए टार्च का काम देती है। पर यही टार्च यदि डाकू या चोर के हाथ में पड़ जाये तो डाके और चोरी में सहायक होती है। इन्हीं मण्डलों के परिणाम व्यक्त धर्मा, व्यष्टि ज्ञानेन्द्रियों से वर्त्तमान युग का वैज्ञानिक प्रकृति नटी के मोहिनी रूप में फंसता जा रहा है। उन की आविष्कृत सुख-सुविधाओं से संसार विलासिता के गहरे गढ़े में गिर गया है। जहाँ आचार अनाचार और शिष्टता के विवेक को भी खो बैठा है। 'भोगार्थंहिदृश्यं' केवल को शत प्रतिशत अपना लिया गया है। भोगे रोग-भयं, और भोग भावी नारकीय योनियों के निमित्त हैं, इस बात को भुला दिया है। भावी की क्या बात इसी जीवन में यह भोग तृष्णा, डाह, असहिष्णता, राग, द्वेष और पापाचार का मूल बन मानव की मानवता को ही समूल उखाड़ रहे हैं। सर्व-संहारक विश्व युद्ध की बिभीषिका मानव मात्र को त्रस्त किये है। योगिन् ! इस भयावह अन्धकार मय समय में तुम्हें यह अध्यात्म पाँच जन्य नाद गुञ्जाना है सावधान और सतर्क हो आगे बढो !

पांचों ज्ञानेन्द्रियों के मण्डल पहले पन्द्रह मण्डलों से अधिक रहस्यमय जटिल और पेचीदा हैं। तनिक असावधानी इनके व्यवहार में हुई तो स्वर्ग से पाताल में गिराने वाली सिद्ध होगी। संभल कर चलते रहे तो विजय श्री तुम्हारे हाथ है। भोगवाद से त्रस्त विज्ञ मानव आज भी पुरातन भारत की ओर निहार रहा है। जहाँ आप इसमें सफल हो भूले भटके संसार का मार्ग प्रदर्शन करेंगे, वहाँ आत्मकल्याण होगा। उस पर ब्रह्म

की झांकी और अखण्ड दर्शन का असीम सुख का लाभ भी होगा, जिसके लिये आप की यह मानव जीवन की साध है ।

घ्राण, रसना, आंख, त्वचा और कर्ण यह पांच ज्ञानेन्द्रियों के समष्टि मण्डल हैं । जिनका आपने इन खण्डों में अध्ययन करना है । और अपनी योग-समाधि में साक्षात्कार करना है । इन्हीं मण्डलों से पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ व्यष्टि रूप में प्रत्येक देही को प्राप्त होती हैं । वह देही चाहे भोग योनि में रहे, चाहे कर्म योनि में, चाहे उभय योनि में । सात्त्विक, राजस, तामस, तीनों अहंकारों के यह मण्डल परिणाम हैं । सात्त्विक अहंकार तीनों में प्रधान रहता है, कर्मेन्द्रिय और तन्मात्राओं की अपेक्षा सात्त्विक अहंकार की मात्रा अधिक होती है । यह मण्डल भी आकाश में ही स्थित हैं । पहले १५ मण्डलों से ऊपर हैं । और उन पन्द्रह में भी सूक्ष्म होने से व्याप्त हैं । आपस में भी रचना क्रम से व्याप्त हैं । घ्राण में चारों, रसना में अगले तीनों, आख में अगले दोनों त्वचा में केवल कर्ण, कर्ण सब में, पर अपने में अब तक वर्णित १९ की अपेक्षा अकेला ही रहता है । हां इन से पहले निर्मित आगामी प्रकरणों में आने वाले मण्डल इसी तारतम्य से सब में व्याप्त हैं ।

अहंकारिक सृष्टि में इन में सत्त्व की अधिकता होने से जड़ होते हुए भी चेतन सी भासती हैं । भले बुरे का विवेचन कराती हैं । बुद्धि से इनका सम्पर्क अधिक होता है । व्यष्टि सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियां रहती भी बुद्धि मण्डल में ही हैं । राजस अहंकार के सहयोग से ज्ञान सम्पादन में बहुत तीव्रता दिखाती हैं । तमोगुण इनको नियन्त्रित रखता है । इन तीनों अहंकारों का जो तारतम्य ध्यान दृष्टि में आया है, वह निम्न प्रकार है—

समष्टि अहंकारों का भाग

समष्टि ज्ञानेन्द्रिय	१. स० सात्त्विकांहार	२. समष्टि राजसाहंकार	३. समष्टि तामसाहंकार
१. समष्टि घ्राण	१·१	·९	१·०=३·०
२. ,, रसना	१·२	१·०	·८=३·०
३. ,, नेत्र	१·३	१·१	·६=३·०
४. ,, स्पर्श	१·४	१·२	·४=३·०
५. ,, श्रोत्र	१·५	१·३	.२=३·०

इन में कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा सात्त्विक अहंकार की मात्रा अधिक है । अतः यह ज्ञान प्रधान हैं । यह पांचों ज्ञानेन्द्रियां प्रत्येक देही को व्यष्टि रूप में व्यक्तिगत मिली हैं । यही मोक्ष पर्यन्त सूक्ष्म शरीर में जीव के साथ रहती हैं । आत्मा का मोक्ष हो जाने पर यह अपने-अपने समष्टि मण्डल में सम्मिलित हो जाती हैं ।

अहंकार-त्रय के न्यूनाधिक मिश्रण से ज्ञानेन्द्रियों के मण्डल परिणाम भाव को प्राप्त हुए हैं । समष्टि मण्डल से यह व्यष्टि परिणत हुए हैं । जो गुण धर्म-कर्म समष्टि में हैं वे ही व्यष्टि में आये हैं, क्योंकि कार्य में कारण के गुण ही अनुस्यूत होते हैं । समष्टि में यह धर्म व्यवहार भाव के कारण, दृष्टि गोचर नहीं होते, व्यष्टि में तो स्पष्ट रूप से मिलते ही हैं । इसी लिये समष्टि मण्डलों की व्याख्या कुछ व्यष्टि के सहारे भी करनी

पड़ती है। चित्र सं० ६ में देखें।

ज्ञानेन्द्रियां भी भोग और अपवर्ग दोनों का साधन है। मिलीं तो वास्तव में प्रकृति का विवेक कर उस से उपरत होने के लिये हैं। पर प्रकृति का विकार होने से प्रकृति के चक्कर में फंस जाती हैं और प्राकृतिक विकारों के निर्माण और विविधता में सारा समय नष्ट हो जाता है। फिर उस में ऐसा लगाव हो जाता है कि इन सब के दुःख-बहुल होते हुए भी उन में सुख की अभिलाषा में फंसा रहता है। सुख की उपलब्धि न होने पर भी उन में फंसा ही रहता है। यही अज्ञान है, यही मोह है। विवेक द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। इस मोह के दूर हो जाने पर यह इन्द्रियां अपवर्ग की साधिका बन जाती हैं। तथ्य ज्ञान उत्पन्न कर बहुत शीघ्र वैराग्य के प्राङ्गण में लाकर खड़ा कर देती हैं। उस समय समष्टि का भी साक्षात् होने लगता है। और इन सब का अपवर्ग-साधकत्व ही सिद्ध हो जाता है। समष्टि ज्ञानेन्द्रियों में ब्रह्मोपासना का यह क्रम इन्हीं का निर्देशक है। ब्रह्म साक्षात्कार की पूर्णोपलब्धि पर वैराग्य से ही सम्पन्न होगी। बिना वैराग्य तो यह केवल इन्द्रजालिक का छलावा है। गुरु की कृपा से गुरु के सान्निध्य में तो सफलता ही सफलता दिखती है। दूर हटे कि दीवा गुल। बिना वैराग्य के तो यही होना है और क्या हो सकता है। यह विद्या तो वैरागियों की है, रागियों में वितरण करना तो भीलनी के आगे मोतियों का बखेरना है। वह मोतियों को क्या जाने। उसे तो अपनी कण्ठी के लिये मूंगा ही चाहिए। इस लिये यदि वास्तव भगवान् के लिये तड़प है तो उसी के हो कर रहिये। प्रकृति नटी के राग रंग से अपने को दूर हटाइये।

समष्टि ज्ञानेन्द्रियों के मण्डलों का उपभोग भी समष्टि कर्मेन्द्रियों के मण्डलों की भान्ति ही होता है। अब पाँचों समष्टि ज्ञानेन्द्रियों के मण्डलों का भी पांचों रूपों में क्रमशः साक्षात्कार कीजिये। जिस से स्पष्ट हो जायेगा कि यह सब पसारा आनन्द रहित जड़ प्रकृति का ही है, और वह भी भगवान् के सन्निधान से। इस प्राकृतिक लीला के प्रत्यक्ष में उस लीला के सूत्रधार भगवान् के सन्निधान का भी प्रत्यक्ष हो जायेगा।

समष्टि घ्रणाइन्द्रिय मण्डल

पाँचो रूपों में ब्रह्मविज्ञान

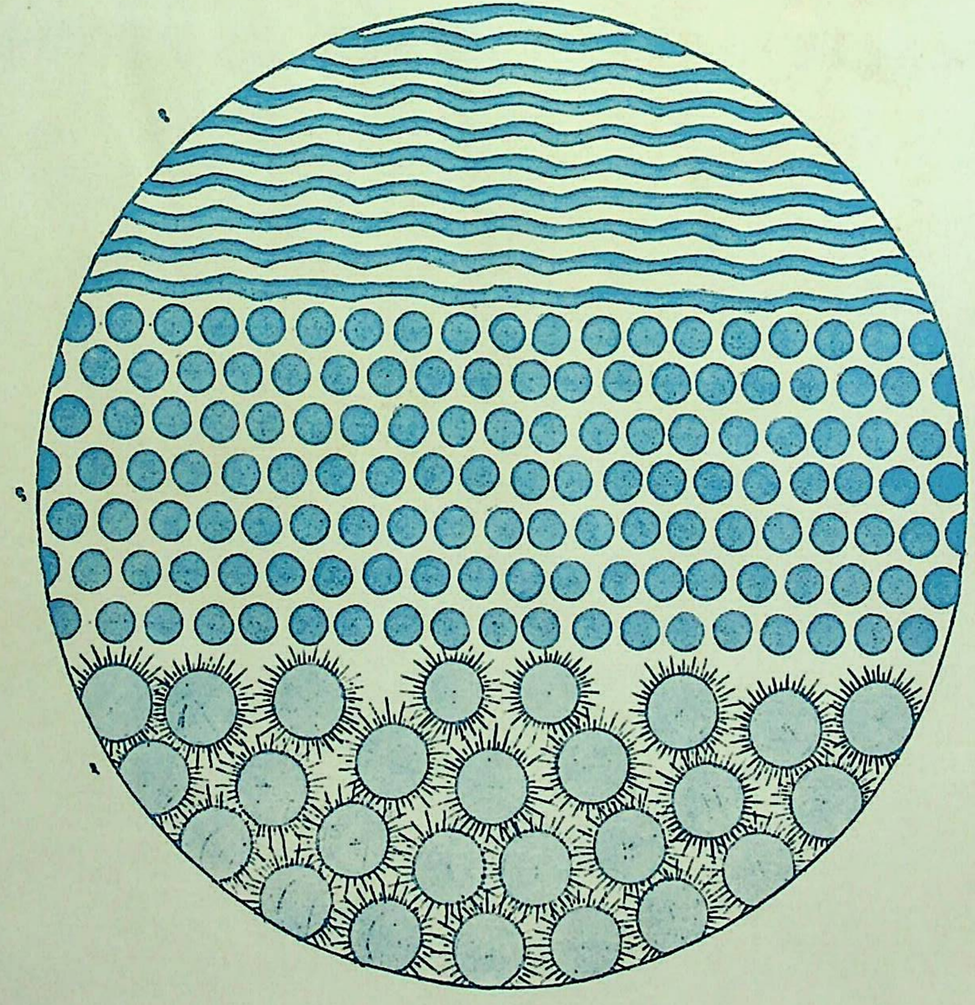
समिष्टि घ्राणेन्द्रियं मण्डल सात्त्विक अहंकार-प्रधान है। समष्टि कर्मेन्द्रि मण्डलों के ऊपर यह ज्ञानेन्द्रियों के समिष्ट-मण्डल हैं। समष्टि ज्ञानेन्द्रिय मण्डल में घ्राणेन्द्रिय समष्टि-मण्डल सबसे पहला है। इस मण्डल की अपनी पृथक् सत्ता भी है। यह मण्डल

चित्र सं० ६ में न० १ समष्टि सत्व प्रधान अहंकार अपने सहकारी कारण रजः तमः अहंकार के साथ मिलकर क्षोभ को प्राप्त होकर बड़ी बड़ी विशाल तरङ्गें उत्पन्न करते हुए व्यष्टि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति कर रहा है।

न० २ में प्रशान्त क्रिया रहित व्यष्टि ज्ञानेन्द्रियों को दिखाया गया है।

न० ३ में क्रिया शील भोग और मोक्ष प्रदान करने में समर्थ सूक्ष्म दिव्य ज्ञानेन्द्रियों को दिखाया गया है। जो कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में रहकर भोग और मोक्ष प्रदान करती हैं।

इस चित्र में से केवल एक ही समष्टि ज्ञानेन्द्रिय को उत्पन्न होते हुए दिखाया गया है, शेष चारों को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।



चित्र संख्या ६

समष्टि सत्व अहंकार से व्यष्टि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

चमकदार श्वेतिमा से युक्त हल्के लाल रंग का पीत कालिमा सी लिये हुए प्रतीत होता है। वाणी के मण्डल से विभिन्नता है। इसमें प्रकाश और चमक उसकी अपेक्षा अधिक है। लालिमा हल्की पर पीत कलौंच कुछ थोड़ी सूक्ष्म सी अधिक ध्यान से देखने पर प्रतीत होगी। सत्त्व की मात्रा अधिक होने से चेतना सी अधिक है।

योगिन् यह अठारवां आवरण है। अब इसका पार करना कठिन न होगा। यह ज्ञानेन्द्रियों में सर्व प्रथम है। इसे ज्ञान की मात्रा से सरलता से विजय किया जा सकता है। इस मण्डल का धर्म है 'गन्ध को जानना'। यह मौलिक पाँच ज्ञानों में से एक है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच ज्ञान मौलिक हैं संसार के समस्त ज्ञान का विस्तार इन्हीं मूल भूत पाँच ज्ञानों का विस्तार है। यह घ्राणेन्द्रिय के गन्ध और गन्ध के परिणामों को जानने की मौलिकता का प्रधान केन्द्र है। गन्ध को जानने का तत्त्व इस स्तर में निहित है। अब तक के १५ तत्त्वों में जानने का धर्म नहीं था। वे सर्वथा जड़ थे, सत्त्व की उनमें अत्यन्त न्यूनता थी, उसके कारण वे ज्ञान का विषय बने। इस घ्राणेन्द्रिय मण्डल में सत्त्व और रज की अधिकता आरंभ हुई तो इस में जानने अर्थात् अन्य को जताने का धर्म प्रादुर्भूत हुआ। चेतन के सम्पर्क से चेतन को जताने में समर्थ हुआ। स्वयं तो इसको कोई बोध नहीं होता। पर चेतन के सम्पर्क में आते ही इसका जानना धर्म सार्थक हो जाता है। हम सब व्यवहार करते हैं, आँख देखती है, कान सुनते हैं, आदि; क्या वास्तव में आँख देखती है। आँख खुली है, ध्यान कहीं, और कुछ नहीं दीखता, क्यों? आँख का धर्म देखना है, तो आँख को दिखना ही चाहिये। नहीं दिखता, क्योंकि देखने वाला कहीं और लगा है। आँख तो देखने का साधन-मात्र है, इसी प्रकार यहाँ भी यह मण्डल जानने की, या कहिये जनाने की, जताने की सामर्थ्य वाला है। इस मण्डल से परिणत हुई घ्राणेन्द्रिय में ही गंध जानने की—सूंघने की शक्ति होती है। यह शक्ति ही धर्म है, जो मण्डल में विद्यमान थी और व्यष्टि में आयी है। मण्डल के इस धर्म का प्रत्यक्ष योगी ही समाधि द्वारा कर सकते हैं। योगिन यही आपकी साधना की परीक्षा है।

ब्रह्म के सन्निधान से चेतन सी बनी इस प्रकृति देवी का विधान-चक्र आगे बढ़ता है। समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल के पाँच रूप या स्थितियाँ भी इसी विधान का अवयव हैं। उन पाँचों रूपों में वैराग्य से पवित्र हो ब्रह्म का दर्शन कीजिये।

समष्टि घ्राण् इन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म विज्ञान

(घ्राण इन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि घ्राण इद्रिय के स्थूल-रूप में—

समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल का एक ही धर्म है—'गन्ध का ज्ञान' अर्थात् गन्ध को जानने का सामर्थ्य। गन्ध धर्म स्थूल पृथिवी का है। स्थूल पृथिवी गन्ध-तन्मात्रा का परिणाम है। यह गन्ध तन्मात्रा और उसके परिणाम समस्त पार्थिव परिणामों में विद्यमान है, इनके जानने का एक मात्र साधन समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल में ही निहित है। कोठार में सैंकड़ों प्रकार के पदार्थ रखे हैं, घोर अन्धकार है। उनके जानने का एक मात्र साधन प्रकाश है। दीपक आया और सब दिखने लगा। दीप नहीं तो होते हुए भी नहीं दिखता। इसी प्रकार गन्ध, गन्ध-तन्मात्रा या उसके परिणामों के रूप में है तो

पर उसके जानने का साधन जब तक न हो वह जानी नहीं जा सकती। 'इस गन्ध के ज्ञान' धर्म वाला यह समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल है। 'गन्ध का ज्ञान' ही इस मण्डल का रूप है। 'प्रकाशक सत्'-सत्त्व गुण प्रकाशक है। विद्यमान को प्रकट करता है। गन्ध है, या होगी उसका प्रकाशक-ज्ञान कराने वाला सत्त्व की प्रधानता से यह मण्डल है।

'घ्रा' धातु 'गन्धोपादाने' अर्थ में हैं। गन्ध को ले लेती है। गन्ध को जान लेती है। बिना लिये, या बिना सम्बन्ध के तो कोई वस्तु ली नहीं जा सकती। 'लेना' भी यहाँ केवल सम्बन्ध मात्र का ही द्योतक है, क्योंकि अन्य वस्तु का लेना—उससे सम्बन्ध जोड़ना ही होता है। उपादाने में इस भाव को 'उप' द्योतित कर रहा है। उप का अर्थ है 'समीप लाना' अर्थात् संयोग सम्बन्ध का होना। इस समष्टि घ्राण मण्डल का सम्बन्ध गन्ध और उसके परिणामों से होता है, उनको जान लेती है। प्रकृति का अपना स्वरूप स्थिति है। ज्ञान और क्रिया गुण हैं। जो भगवान् के सन्निधान से अभिव्यक्त होते हैं, परिणत होते हैं। प्रकृति का प्रथम परिणाम महत् सत्त्व ज्ञान रूप ही तो है। उसी सत्त्व के अंश को लेकर सत्त्वाहंकार परिणत हुआ। जिसका परिणाम यह घ्राणमण्डल है। इसी लिये इसमें गन्ध को जानने का सामर्थ्य है।

यह गुण व्यष्टि घ्राण में अभिव्यक्त होता है। समष्टि में तो व्यवहाराभाव के कारण ज्ञात नहीं होता। जब कोई पदार्थ सूक्ष्म अवस्था में प्रतीति का विषय नहीं होता तो उसे स्थूल-दर्शक के आगे रख कर देखते हैं। दाढ़ी बनाने में भी इस शीशे का प्रयोग करते हैं। छोटे से बाल को बहुत बड़ा दिखाता है। खुर्दबीन भी छोटे को बड़ा कर के दिखाती है। इसी प्रकार व्यष्टि घ्राण समिष्टि का कार्य है। 'कारण गुणपूर्वकः, कार्य गुणो दृष्टः।' कार्य में कारण के ही गुण तो आते हैं। स्थूल घ्राण इन्द्रिय के पास किसी गन्ध को रखो तत्काल बता देगी। इस में गन्ध शक्ति अपने कारण समष्टि गन्ध मण्डल की ही है।

प्रत्येक पदार्थ का हर समय चय अपचय होता रहता है। वृक्ष पर फूल फल लगे हैं। पादप के साथ सम्बन्ध होने से वह हर समय आहार का आहरण कर रहा है। उसका बराबर चय हो रहा है। कुछ-कुछ गन्ध भी बाहर फेंकता रहता है, वह उसका अपचय है। पर अपचय की अपेक्षा चय अधिक है। जब वृक्ष से फल टूट जाता है, उसका अपचय ही होता है। जलादि के सम्बन्ध से नाममात्र का चय दिखाई देता है। इस अपचय द्वारा गन्ध निकल कर घ्राण से सम्बन्धित होती है। घ्राण जान लेती है, गन्ध है। उसके परिणाम पर जाती है बुद्धि द्वारा बता देती है, अमुक गन्ध है। यह सब बता रही प्रतीत होती है, बाह्य नासिका। पर वास्तव में यह नासिका तो गोलक मात्र है, उस सूक्ष्म घ्राण इन्द्रिय का उपकरण है, जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है। ब्रह्मरन्ध्रस्थ घ्राण वास्तविक घ्राण है क्योंकि वह केवल गन्ध के जानने का काम करती है। यह बाहर की नासिका तो उसकी सहायक मात्र है। गन्ध को प्रवेशार्थ मार्ग प्रदान करती है, जानती कुछ नहीं। यह तो केवल मार्ग है, इस से गन्ध भी जाती है, श्वास भी जाता है। प्रश्वास निकलता भी है। सिंघाणक मल के निकलने का भी यह मार्ग है। प्रतिश्याय का भी यही राजमार्ग है। अधिक उष्णता या शीतता या चोट से कोई शिरा फट जाये रक्त स्राव इसी से होता है। अन्तः पाक हो जाये तो पीव भी इसी से निकलती है। यह तो इतने काम करती है।

वास्तविक घ्राण तो केवल एक ही काम 'गन्ध ज्ञान' का करती है। अन्य काम वह कर ही नहीं सकती वह ही वास्तव में घ्राण इन्द्रिय है। यह बाह्य नासिका तो शरीर का ही भाग है। प्रति शरीर में इसकी आकृति भी भिन्न होती है। मानव की नासिका ही अनेक प्रकार की है, लम्बी, मोटी, चौड़ी, फूली, नोकीली, चपटी, छित्ती, भिञ्ची, उठी हुई, बैठी हुई, आदि न जाने कितने प्रकार की है। प्रकार के अतिरिक्त व्यक्तिगत नासिका भी सब की अलग-अलग है। सब में समानता होते हुए भी निराली है। फिर अन्य योनियों की नासिकाओं को देखिये, भैंस की, घोड़े की, ऊँट की, बकरे को, सिंह की, सियार की, कुत्ते की बिल्ली की, हाथी आदि सब की ही निराली हैं। पक्षियों, सरीसृपों, मक्खी, मच्छर, कीट पतंग सब की अनोखी है। किन्हीं की नासिका का पता ही नहीं चलता। भौरे मक्खी, पतंगों की नाक का कुछ पता चलता है, कैसी है। सुगन्ध के लिए मीलों से उड़े चले आते हैं। पर यह बाह्य नासिक तो घ्राण नहीं है। घ्राण तो सब की एक सी है। अत्यन्त सूक्ष्म, जो ब्रह्मरन्ध्र में सूक्ष्म शरीर में वास करती है। वही सूक्ष्म-घ्राणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय समष्टि मण्डल से परिणत हुई है, वही उसका कार्य है। उस कार्य के धर्म से ही कारण का धर्म जाना जाता है।

यह गन्धोपादान ही पदार्थों और उन की अवस्था के भेदक है। घ्राणेद्रिय का बाह्य उपकरण यह मुख पास में इसीलिये रखा गया है कि खाते-पीते भी गन्ध से भोज्य अभोज्य का परीक्षण हो जाये। पर्युषित पूतिगन्ध वाला भोजन नहीं करना चाहिए। ऐसा भोजन बाह्य रूप से न भी पहचाना जाये तो घ्राण उसे तत्काल पहचान लेती हैं। योग मार्ग में तामसिक भोजन वर्जित है। प्याज, लहशुन, हींग आदि तामसिक हैं। इन की गन्ध इतनी तीखी होती है, कि इनके पास रक्खी होम्योपैथिक औषधियाँ सर्वथा नष्ट हो जाती हैं। जो इन्हें नहीं खाते, इनके तनिक से स्पर्श को ग्रास के नासिका के पास आते ही पहचान लेते हैं, कि अमुक गन्ध मिली है और छोड़ देते हैं। हाँ जीरा, घृत, धनिया आदि की ऐसी गन्ध है कि नासिकाग्र में पहुँचते ही भूख को वढ़ा देती है। ताजे फलों और बासी फलों की गन्ध में बड़ा भारी अन्तर होता है। तत्काल ही फल पहचाने जाते हैं। काष्ठादि औषधों की गन्ध भी वर्षा काल में औषधि के खराब होने से पलट जाती है। उसी गन्ध के आधार उन्हें फेंक देना चाहिए। जब अपनी वांस्तविक गन्ध न रहे, अन्य प्रकार की आने लगे तो समझ लेना चाहिए खराब हो गयी। वन्य पशु तो गन्ध से ही अपना आहार ढूँढते हैं। इस प्रकार समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल का यह गन्ध ज्ञान धर्म बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करता है।

इस घ्राण का जो विषयाकार रूप परिणाम है यह इसका भोग है। जब यह सात्त्विक अहंकार से परिणाम भाव को प्राप्त हो रही होती है तब ही इसमें गन्ध ग्रहण रूप धर्म की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति को ही स्थूल रूप दिया गया है, क्योंकि कारण से कार्य भाव को प्राप्त होती है। इस उत्पत्ति काल में इसका साक्षात्कार और इसमें ब्रह्म का विज्ञान भी करना चाहिए। देखना चाहिए ब्रह्म का वहां क्या सम्बन्ध है। वास्तव में हमारा प्रयोजन यहाँ व्यष्टि इन्द्रिय से नहीं है, किन्तु समष्टि से तात्पर्य है। किस प्रकार से समष्टि ही व्यष्टि भाव को प्राप्त हो जाती है, और जानना है कि समष्टि का वास्तव में क्या स्वरूप है। समष्टि पदार्थों की उत्पत्ति के साथ सर्वत्र ब्रह्म का सम्बन्ध

है। इसका ही विज्ञान साथ-साथ करना है। इन पदार्थों में ईश्वर का अध्यारोप करके उपासना और ज्ञान को समुज्जवल बनाना है। इन सब पदार्थों के साथ ब्रह्म का विज्ञान होना आवश्यक है। बिना वैराग्य भावना के यह दृढ़ होने वाला नहीं इस समष्टि गन्ध-तन्मात्रा के मौलिक धर्म गन्धोपादान के स्वरूप को समझ इस से आसक्ति परे हटा परमवैराग्य को सिद्ध करना होगा, तब ही ब्रह्म-साक्षात्कार अक्षुण्ण होगा।

समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(घ्राणेन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के स्वरूप में—

'गन्ध ज्ञान' घ्राणेन्द्रिय मण्डल में सदा वर्त्तमान रहता है। कभी उस से अलग नहीं होता। यह धर्म ही इस मण्डल का स्वरूप है, क्योंकि गन्ध ज्ञान और घ्राणेन्द्रिय मण्डल का अभेद है, इस मण्डल के परिणाम काल में उत्पन्न हुई हुई यह शक्ति विशेष है। जो गन्ध को जान लेगी। इसे ही सूंघना कहते हैं। इसी को स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं।

घ्राण के इस परिणत होते हुए दूसरे स्वरूप रूप में भी ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिए। ब्रह्म का इसके साथ व्याप्य व्यापक-भाव सम्बन्ध है। इस हेतु सदा इसमें वर्त्तमान रहता है। योगिन्! यह ब्रह्मानुभूति वैराग्य और उसकी भी परिपक्व अवस्था पर वैराग्य की दृढ़ आधार शिला पर टिक सकेगी। यदि ब्रह्म की एक ही झांकी लेनी हो तब तो सम्भव है वैराग्य की एक झपकी से ब्रह्म की क्षणिक झांकी मिल जाये, हैं तो यह भी कठिन। पर उस क्षणिक झांकी से तो अत्यन्त विमोक्ष होना नहीं। वह तो पूर्णतया वशीकार संज्ञक वैराग्य से भी होना नहीं, वह गुण वैतृष्ण्य परवैराग्य से ही सम्भव होगा। अतः इस परवैराग्य को लक्ष्य में सदा रखिए, और क्रमश आगे बढ़ते जाइये।

(प्रश्न) शरीर के अन्दर रुधिर मांस, मज्जा आदि पूतिगन्ध वाले पदार्थ हैं, सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय को इन की दुर्गन्ध या सुगन्ध क्यों नहीं आती?

(उत्तर) वर्षा होती है, प्रकृति पर निखार आ जाता है। जी चाहता है, प्रकृति को एक टक निहारे जायें, नित नया स्नान प्रकृति वर्षा जल में करती है, नित्य नया रूप पाती है। शिशिर आता है, सारी सुष्मा मारी जाती है, एक-एक पत्ता पक-पक कर झड़ने लगता है। जैसे जरठ के सिर के सफेद बाल झड़-झड़ कर गिरते हैं। जहाँ ताजा वायु का संचार है, और जीवनी शक्ति से सम्बन्ध जुड़ा है वहाँ दुर्गन्ध उत्पन्न नहीं होती। प्रकृति नयी वर्षा और हवा से ताजी बनी रहती है। टूट कर गिर जाये जीवनी शक्ति से सम्बन्ध न रहे, वही जल उसे सड़ा देता है, दुर्गन्धित कर देता है। नदी, कुएँ और सोते का जल बहता रहता है, ताजा बना रहता है। रुक जाये सड़ जाता है। जिन तालावों में सोते का जल होता हो, ताजा रहता है। बिना सोते के तालाब सड़ उठते हैं। शरीर के रुधि मांस मज्जा सब का ही सम्बन्ध जीवनी शक्ति से है, श्वास से हर समय ताजी हवा लगती है। फुफुस हर ३ सैकिण्ड में शरीर भर में रक्त का सञ्चार करते रहते हैं। इनमें दुर्गन्ध कहाँ? पार्थिव होने से सामान्य गन्ध होती है, उसका प्रश्न

नहीं उठता वहाँ तो सर्वत्र ही है, पर प्रतीत नहीं होती क्योंकि मन सदा परिणाम गन्धों का ही अभ्यासी हो गया। यही कारण है दूसरे के जीवित शरीर से किसी को भी दुर्गन्ध नहीं आती और मृत शरीर में से सब को ही दुर्गन्ध आती है, इसीलिए उस पर चन्दन केसर कपूर आदि मल देते हैं, फूल लाद देते हैं, विलायती सेन्ट आदि डाल देते हैं। मृत का सम्मान भी हो गया, और उठाने वाले दुर्गन्ध से बच गए। यदि यह सुगन्ध आदि न लगाई जाए तो लाश पर च्यूँटियाँ ही बहुत जल्दी हमला बोल देती हैं। जीवित शरीर पर कभी च्यूंटियाँ इस प्रकार नहीं आतीं। हाँ पायरिया आदि दुर्गन्ध वाला बगल गन्ध आदि रोग हो तो अपने को भी दुर्गन्ध आती है औरों को भी। स्वस्थ शरीर के मांस आदि में दुर्गन्ध नहीं होती। इसलिए सूक्ष्मेन्द्रिय को भी उस का अनुभव नहीं होता। मुरदा मांस आदि में दुर्गन्ध होती है। और अभ्यास की उच्चावस्था में तो शौचात् स्वांगजुगुप्सा हो ही जाती है।

(प्रश्न) यह मांस आदि तो सजीव होने से दुर्गन्ध रहित हैं, पर मल मूत्र तो सजीव नहीं उनकी दुर्गन्ध क्यों नहीं आती ? अभ्यास काल में भी नहीं आती जब ध्यान वहीं केन्द्रित होता है ?

(उत्तर) क्यों जी ! भूगर्भ गत सीवरों से, पटे गन्दे नालों से दुर्गन्ध क्यों नहीं आती। शीशे की बोतलों में रखी औषधियों की सुगन्ध या दुर्गन्ध क्यों नहीं आती। गान्धि की दुकान पर तो सब शीशियों में गन्धसार होता है, फिर सुगन्ध फैलाने के लिये इतर को रूई के फाये में क्यों लगाता है ? इसीलिये कि तीव्र गन्ध भी उन परदों से ढकी थी। ऐसे ही शरीर के मल मूत्र भी ऐसी खाल की थैलियों में बन्द हैं, जिन से दुर्गन्ध बाहर नहीं निकल सकती। यदि यह खालें निर्बल होतीं तो दुर्गन्ध आने की तो क्या बात सारा शरीर ही सड़ जाता और जीवन दुर्भर हो जाता। इस लिये मल मूत्र को ऐसी थैलियों में रखा गया है, जहां से दुर्गन्ध बाहर नहीं निकलती। शरीर की रचना बड़ी विचित्र है। शरीर की रचना भी भगवान् के सन्निधान में हुई है। उसकी सत्ता का भी इस वैचित्र्य में दर्शन करना चाहिये।

समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(घ्राणेन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि सात्त्विक, राजस, तामस तीनों अहंकारों के आनुपातिक सम्मिश्रण से समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल का परिणाम हुआ है अब तक प्रदर्शित आहंकारिक सृष्टि में इसी मण्डल में सत्त्व की प्रधानता है। तन्मात्रा के मण्डल तामस प्रधान थे, और कर्मेन्द्रियों के मण्डल राजस प्रधान। ज्ञानेन्द्रिय मण्डल सत्त्व प्रधान है। अतः सब ज्ञानेन्द्रियों का वह सामान्य रूप से कारण है। समष्टि सत्त्व प्रधान अहंकार अन्य दोनों अहंकारों से मिश्रित तो यहाँ सामान्य है, और समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल यहां विशेष है व्यष्टि घ्राण के प्रति समष्टि घ्राण मण्डल सामान्य है, और व्यष्टि घ्राण विशेष है। इस प्रकार सामान्य विशेष का समुदाय ही यहां अयुत-सिद्ध द्रव्य या पदार्थ समझना चाहिये। यहां कारण से कार्य में परिणाम ही कारण में पदार्थ की सूक्ष्मता है। यही घ्राणेन्द्रिय मण्डल तथा व्यष्टि घ्राण तीसरी अवस्था सूक्ष्म रूप है।

यहां समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल तीनों अहंकारों के भेदरूप से अभेद को प्राप्त एक द्रव्य है। इस मण्डल के निर्माण में तीनों अहंकारों का अनुपात इस प्रकार साक्षात् किया गया है। समष्टि सत्त्वाहंकार १·१ भाग+समष्टि राजस अहंकार १·० भाग+समष्टि तामस अहंकार ·६ भाग=३·०। इस मण्डल में सात्त्विक अंश के प्राधन होने से ज्ञान की प्रधानता है। वही ज्ञान की प्रधानता व्यष्टि में आयी है। व्यष्टि घ्राणेन्द्रिय का ही सर्वप्रथम प्रयोग होता है। आमों की खोज में निकले। सहसा गन्ध आयी। यह तो दशहरी की गन्ध है। बहुत बढ़िया। इधर ही चलो, उधर ही चल पड़ते हैं, और बढ़िया आम हाथ लग जाते हैं। खरबूजों का ढेर लगा है। भाव खुला है। खरबूजे लेने हैं। एक-एक खरबूजे को उठा रहे हैं, और नाक से लगा रहे है। खाने मुख ने हैं। रस जिह्वा बतायेगी। खरीदने से पहले मुख और जिह्वा का प्रयोग किया नहीं जा सकता, इस लिये घ्राण पर ही इनका बोझ आ पड़ा। सुगन्ध भी सूंघे, और सुगन्ध से स्वाद का अनुमान कराये। इस प्रकार घ्राण का यह सत्त्व प्रधान भाग अपना कार्य नैपुण्य दिखाता है। वैद्यों के घृतादि तथा अन्य औषधि आदि प्रमाणता इस घ्राणेन्द्रिय के ज्ञानांश पर ही प्रधानतया आधारित रहती हैं।

हां, अभ्यास से दिव्य घ्राण की उपलब्धि कर ली जाये तो अन्य बात है। स्थूल गोलक का उसमें चारा ही क्या है और यह तो बेचारी वैसे ही शरीरवयव मात्र होने से सूक्ष्म घ्राण की आदेश पालिका है। बाहर की गन्ध को सूक्ष्म तक पहुंचाने का मार्ग मात्र माध्य ही तो है। ज्योतिर्मय सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय ही वास्तविक घ्राणेन्द्रिय है। इसका ज्योतिर्मय रूप भी समष्टि मण्डल से ही उपलब्ध हुआ है, क्योंकि वह भी तो ज्योतिर्मय है।

(शंका) आप का सिद्धान्त विचित्र है। ज्ञानेन्द्रियां भी चमकती हैं, कर्मेन्द्रियां भी चमकती हैं, यह भी चमकता है, वह भी चमकता है। यह सब आपको ही दिखता है, वैज्ञानिक तो कोई मानता ही नहीं; उन्हें शरीर काटने पर कोई चमकता पदार्थ मिला ही नहीं ?

(समाधान) यह सारी चमक सत्त्व की है। क्योंकि सत्त्व प्रकाशमय है। हम ही नहीं मानते, सांख्य योग के सब ही आचार्यों ने माना है। 'प्रकाशकं सत्' प्रकाश क्रिया स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकम् (योग० २·१८)। यदि सत् न होता तो न कोई वस्तु दिखाई देती न कोई दिखाने वाला होता सब तमस् से आवृत होते। जहां सत् है वहां २ चमक है। सब में ही तीनों गुण हैं, इसी लिये त्रयीकरण है। हां सत् के तारतम्य से चमक में भेद हैं। ज्ञानेन्द्रियों की चमक शुक्लता लिये है। कर्मेन्द्रियों की पीतरङ्ग नारञ्जी सी। तन्मात्राओं में चमक कम है। स्थूल भूतों में दर्शन का विषय बनने मात्र की चमक है। हम कहते हैं, या लिखते हैं, इसलिये मानने की कोई बात नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष का विषय है। महीना दो महीना अभ्यास कीजिये और देख लीजिये। जिस जिस ने अभ्यास किया उस उस ने देखा। रही वैज्ञानिकों की बात, हम पहले भी लिख चुके हैं वे अभी वहां तक पहुंच नहीं पाये हैं। वे मन की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं, पर उसे भी जान नहीं सके हैं। वे भौतिकवादी हैं, अपनी स्थूल इन्द्रियों पर ही विश्वास रखते हैं। वे इन आध्यात्मिक पदार्थों के देखने में असमर्थ हैं। इनको देखने के अभी कोई साधन नहीं बने हैं। संभव है कभी बन जावें। जीवित शरीर को अन्दर से देखने के ऐसे यन्त्र

बने हैं, पर अधूरे हैं। विशेष भागों को ही स्क्रीन पर लाते हैं। यह एक्सरे भी प्रकाश ही है। अन्दर के अस्थि स्थूल भाग का ही चित्र लेती है। प्रकाश का चित्र नहीं ले सकती। जब चान्दनी, धूप, अग्नि, बिजली मोमबत्ती, दीवे आदि के प्रकाशों की विभिन्नता दिखाने वाला चित्र संभव हो जायेगा। जब खरे खोटे सोने, असली नकली मोती का चित्र गत भेद वहाँ की चमक से ही प्रतीति का विषय बन सकेगा, तब संभव है आन्तरिक प्रकाशों का चित्र भी हड्डी मांस आदि की ओट से संभव है लिया जाना संभव हो। अतः इन वैज्ञानिकों की बात में अभी कैसे विश्वास किया जा सकता है। इनके भौतिक निर्णय भी तो अस्थिर हैं। दस वर्ष पूर्व कुछ थे, आज कुछ हैं। इन को अन्तिम निर्णय पर पहुंचने दीजिये, अभी इनकी प्रयोग शाला को चलने दीजिये। सैङ्कड़ों बात अज्ञात हैं, उन्हें ही जान लेने दीजिए। आप सत्य के अन्वेषी हैं, तो शब्द प्रमाण की बात ही क्यों करते हैं। आइये थोड़ा काल पूर्वजों का अनुकरण कीजिये और सब स्वयं प्रत्यक्ष कर लीजिये।

तीनों अहंकार अनुपात से मिलकर जब समष्टि घ्राणेन्द्रि मण्डल में परिणत होते हैं, वह भी एक देखने योग्य ही घटना होती है। इस अवसर पर ब्राह्मी चेतन सत्ता प्रेरिका होती है। उसके सन्निधान से ही यह तीनों जड़ अहंकार चेतन से बने परिमित मात्रा में, परिमित दिशा में परिमित गति कर इस घ्राण रूप मण्डल में परिणत हो जाते हैं। यहां कारण से कार्य रूप में परिणाम ही कारण में पदार्थ की सूक्ष्मता है। यही इसका सूक्ष्म रूप तीसरी अवस्था है। सत्त्व प्रधान अहंकारत्रय से समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल की उत्पत्ति होती है, और समष्टि घ्राणमण्डल से व्यष्टि घ्राणेन्द्रिय की समष्टि घ्राण मण्डल व्यष्टि का लक्ष्य रूप है। इस कारण से कार्य के परिणाम काल में घ्राण मण्डल की ओर उस में ब्रह्म की अनुभूति होनी चाहिये क्योंकि इस साधना का ब्रह्मानुभूति ही मुख्य लक्ष्य है। हां! गौण रूप से पदार्थ का विश्लेषण और कारण कार्य का विज्ञान भी है, क्यों कि इस विज्ञान के पश्चात् ही परम वैराग्य प्राप्त हो सकता है वास्तव में यह परम वैराग्य ही मोक्ष का हेतु है। यह अभ्यास और साधन तो इस वैराग्य के ही साधक हैं। इसे दूसरे क्रम से ऐसे समझें।

योगी को चाहिये कि सर्व प्रकार से चित्त को शान्त और समाहित कर ध्यान की सूक्ष्म दृष्टि द्वारा सविचार और निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश करके सत्व प्रधान अहंकार से उत्पन्न होते हुए घ्राण के समष्टि मण्डल और इससे उत्पन्न होती हुई व्यष्टि घ्राण इन्द्रिय का साक्षात्कार करें यहां दोनों में कार्य कारण का जो सम्बन्ध है यह कारण ही सूक्ष्म अवस्था है इसी में ब्रह्म का साक्षात्कार करें। इसके अनन्तर परम वैराग्य द्वारा कैवल्य भाव प्राप्त होगा।

समष्टि घ्राणेन्दिय मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्मविज्ञान

(घ्राणेन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के अन्वय रूप में—

समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल का परिणाम समष्टि सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों अहंकारों के आनुपातिक सम्मिश्रण से हुआ है। तीनों समष्टि अहंकार महत्तमस् से परिणत हुये हैं। महत्तमस् मूलप्रकृति का परिणाम है। अर्थात् समष्टि घ्राणमण्डल

प्रकृति की चौथी पीढ़ी, या पुश्त में है। इस चौथी पीढ़ी में भी मूल प्रकृति के गुण धर्म विकसित रूप में विद्यमान हैं। प्रकृति के स्थिति रूप धर्म से घ्राण मण्डल में स्थिति धर्म विद्यमान है ही। भगवान् के सन्निधान से जो दो गुण ज्ञान और क्रिया प्रकृति में हैं, वह घ्राण मण्डल में चतुर्गुण हो गये हैं। वही ज्ञान यहां गन्ध-ज्ञान में परिणत हो गया है। स्थिति शील तमस् का अहंकारत्रय परिणाम भी स्थिति शीलता लिये हुए है, पर उनमें सत्त्व की पुट घ्राण मण्डल में आकर गन्ध-ज्ञान के रूप में व्यक्त हो गयी है। गन्धज्ञान, अर्थात् जानने की सामर्थ्य मण्डल में विद्यमान है तभी तो व्यष्टि घ्राण में आयी। इसी से व्यष्टि घ्राण गन्ध को जान लेती है। सूक्ष्मरूप को अभिवृद्ध कर लेने पर तो न जाने कैसी २ दूर तक की गन्ध का अनुभव कर लेती है। मीलों दूर की गन्ध को छोटे-छोटे कीट पतगं कर लेते हैं। इतनी दूर की गन्ध की अनु- भूति मूल प्रकृति से आयी क्रिया का ही परिणाम है। यह दिव्य सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय सिद्ध योगी की मीलों-सैकड़ों मीलों का समाचार ले आती है। इसी सूक्ष्म घ्राण की इस दिव्य शक्ति से स्वर्गस्थ आत्मायें दूर-दूर की दिव्य गन्ध का उपभोग करती हैं

इस प्रकार मूल प्रकृति अपने धर्म और गुणों के साथ इस समष्टि-घ्राण-मण्डल और व्यष्टि में अनुपतित हुई है। यही इस मण्डल का अन्वय है। इस मण्डल को प्रत्यक्ष करते समय इस समस्त परिणति के निमित्त ब्राह्मी चेतन सत्ता की विद्यमानता का भी अनुभव करना चाहिये, जिसकी सन्निधानता से इस मण्डल का 'गन्ध ज्ञान' धर्म इस अद्भुत रीति से व्यक्त हुआ है।

इस गन्ध से जहां भ्रमर कीट आदि बौराय फिरते हैं, वहाँ यह ज्ञानवान् सर्व-श्रेष्ट मानव भी गन्ध के चक्र में कम नहीं फंसा। तैल फुलेल में गन्ध, साबुन में गन्ध, क्रीम में गन्ध। पाउडर में गन्ध। इतर में गन्ध। आइस क्रीम में गन्ध। मस्टर्ड में गन्ध। फिरनी में गन्ध। चाकलेट में गन्ध। मिठाई में गन्ध। शेम्पू में गन्ध। जिस में देखो गन्ध। इस गन्ध के मोह में भगवान्-भजन के अमूल्य समय को यह मानव नष्ट करता है। विना गन्ध से वैराग्य-भाव प्राप्त किये गन्धमण्डल और उसमें भगवान् की झांकी से विशेष लाभ नहीं होना है। यदि शाश्वत मोक्ष धाम की अभिलाषा है तो पर वैराग्य को अहर्निश, क्षण-क्षण में और कण-कण में धारण कर तभी तेरी साध पूरी होगी।

समष्टि घ्राणेन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(घ्राणेन्द्रिय का पंचम रूप)

५. समष्टि घ्राणेन्द्रिय के अर्थवत्त्व रूप में—

वास्तव में घ्राणमण्डल में जो अर्थवत्ता है, वह प्रकृति से ही आयी हुई है। योग दर्शन ने कहा है—

'प्रकाश-क्रिया स्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (योग ०२।१८)—

—प्रकृति और तीनों गुणों से उत्पन्न हुआ जो कार्यात्मक दृश्य जगत् है, यह सब भोग और अपवर्ग के लिये है।

वास्तव में प्रकृति और तीनों गुणों में ही भोग और अपवर्ग दान करने की स्वाभाविक शक्ति है। अतः इस घ्राण-मण्डल में भी भोग और अपवर्ग की शक्ति इन्हीं से आयी है। इसका उपभोग दोनों लोकों में होता है। इस लोक में स्थूल पदार्थों की

गन्ध का प्राणीमात्र उपयोग करते हैं। प्रत्येक प्राणी को विशेष प्रकार की गन्ध रुचिकर है। मुसलमान को प्याज लहशुन की गन्ध बहुत अच्छी जान पड़ती है। हिन्दू उस से भागता है। ईसाई सिगरेट सिगार खूब पीता है। सिख उससे कोसों दूर भागता है। इसी प्रकार भोग योनियों में भिन्न-भिन्न गन्ध रुचिकर है। गाये भैंस खल की गन्ध को पसन्द करती है। उससे भीगे चारे को बड़ी रुचि से खाती है। घोड़ी हरी-हरी शाद्वल को पसन्द करती है। बकरी पत्तों को तो ऊँट कांटेदार शाखाओं को। सबकी गन्ध निराली है। सिंह चीता आदि हिंस्रक जानवर अपने शिकार की गन्ध दूर से ही ले लेते हैं। कुत्ते को बिल्ली की और बिल्ली को चूहे की गन्ध भाती है और दूर से आ जाती है। मानव मानव की गन्ध निराली होती है, हम न पहचान पायें, पर कुत्ते इस गन्ध को खूब पहिचानते हैं। अपने पराये की, चोर डाकू की पहचान वे गन्ध से ही करते हैं। नये आदमी के आते ही सूंघते हैं, और पहिचान कर फिर भूंकते हैं। गुप्तचर कुत्ते गन्ध से ही अपराधी को पहचानते हैं, और गन्ध से ही चोरी किये माल को बरामद करा देते हैं। सहराओं, और बरफीले टण्डराओं में यह गन्ध ज्ञान ही खोये मानव की खोज निकालता है। दैनिक व्यवहार में भी तो गन्ध ही अच्छे बुरे, ताज़ी-बासी, कड़वे मीठे की पहचान कराती है। यह गन्ध ज्ञान न हो तो बड़ा संकट उपस्थित हो जाये। पुराने नये, सड़े, अच्छे अन्न की पहचान ही न हो। अण्ट-शंण्ट सब खाया जाये, तो कौन स्वस्थ रहेगा। बुसी मिठाइयां, सड़े फलों, और विकृत औषधियों की पहचान कैसे होगी। फिर तो सरकार के स्वास्थ्य विभाग बेकार हो जायेंगे। जब सुगन्ध और दुर्गन्ध का विवेक नहीं होगा तो सफाई के दारोगा क्या करेंगें। शहरों की नालियां, नाले, पाखाने, सीवर सब सड़ा करेंगे। रोग के कीटाणु खूब पलेगें, खूब महामारी फैला करेंगी। मलेरिया विभाग जिस का बड़ा भारी महकमा है, गन्ध के अभाव में बन्द करना पड़ेगा। पोखरों, तालाबों, गड्ढों, झीलों, आदि में मच्छर खूब पलेंगे, फिर तो मलेरिया का ही बोल-बाला होगा। इन सब आधि व्याधि और उपद्रवों को रोकने का समष्टि मण्डल और व्यष्टि का गन्धज्ञान ही तो एक प्रधान साधन है। यह समष्टि व्यष्टि घ्राण मण्डल मानव जीवन का रक्षक है। घ्राण-मण्डल के गन्ध-ज्ञान के आधार पर ही (D. D. T.) डी० डी० टी, फिनाइल, डिटोल, फिलिट, लाल दवा, कलोरीन आदि का आविष्कार किया गया है। इनके गन्ध-ज्ञान से विषाक्त कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। पर मानव को भी इनकी दुर्गन्ध हानि ही पहुंचाती है, चाहे अल्पमात्रा में सही, क्योंकि इन की दुर्गन्ध से सिर में पीड़ा हो जाती है; और चक्कर आते देखा गया है। इस समष्टि गन्ध मण्डल के कारण ही, बाम, क्रीम, चन्दन, केसर, इतर आदि की गन्धों का ज्ञान सिर की पीड़ा एवं सिर में चक्कर आदि के आने को रोक देता है। इस गन्ध ज्ञान के कारण ही गुलाब, चम्बा, गेन्दा चमेली की गन्ध मस्तिष्क को प्रफुल्लित कर देती है। मिठाइयों की गन्ध बिना खाये ही हलवाई की तृप्ति कर देती है। मन्दिरों, देवालयों में, कपूर चन्दन, केसर, धूप अगर तगर आदि की गन्ध देवताओं की तृप्ति के लिये जलाई जाती है। खेतों में फलों को कीड़े के डंक से बचाने के लिये लोबान आदि का धूआं दिया जाता है। आर्य हिन्दुओं में प्रत्येक पर्व सुगन्धित भोज्य पदार्थों एवं घृत दीप आदि की सुगन्धि से अपनी और इष्ट देवताओं की प्रसन्नता के लिये मनाया जाता है। गंगा, यमुना, आदि पवित्र नदियों, एवं पुष्कर, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों का सम्मान पुष्पाञ्जली से भेंट कर किया जाता है। विवाह अवसर पर वधू भी सुगन्धित फूलमाला

से वर का वरण एवं स्वागत करती है। इस नये वैज्ञानिक युग के उच्च शिक्षित एवं उच्चतम पदाधिकारी, यहां तक कि देश विदेश के राष्ट्रपति एवं प्रधान मन्त्री भी सुगन्धित मानव परिमाण के सुगन्धित पुष्पों के हारों से दिवंगत नेताओं के सम्मानार्थ उनकी समाधियों, मकबरों पर चढ़ाते हैं। मूर्तिपूजा के शत्रु कहे जाने वाले ईसाई मुसलमान भाई भी कबरों पर फूल, हार, मालायें चढ़ाते हैं, और मुश्क की महक बनाये रखते हैं। आर्य हिन्दुओं में बालक के जन्म से लेकर मरण पर्यन्त १६। २४। या ३२ सब ही संस्कारों में सुगन्धित सामग्री एवं घृत तथा चन्दन से बड़ा हवन मुख्य अङ्ग है। विवाह संस्कार भी तीन चार घन्टे तक हवन के द्वारा सम्पन्न होता है। मृतक दाह भी मनों चन्दन, घृत, सामग्री, केसर कस्तूरी, कपूर आदि से ही किया जाता है। निर्धन थोड़ा सुगन्धित शाकल्य डालता है पर डालता अवश्य है। विना सुगन्धि के हिन्दू दाह संस्कार अनाथ का ही होता है।

प्राचीन काल में आर्य हिन्दूओं में तो गन्ध-मण्डल के गन्ध ज्ञान का पुष्कल मात्रा में यज्ञों द्वारा प्रयोग किया जाता था। प्रत्येक फसल पर नवसस्येष्टि यज्ञ द्वारा नये अन्न को देश भर में एक तिथि और एक ही समय में होली दिवाली के अवसर पर बड़े बड़े यज्ञ करके विशुद्ध, कीटाणु रहित बनाया जाता था। जिस का छोटे रूप में अब भी चलन है। महामारियों के अवसर पर अब भी भारत में बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन होता है और उनकी सुगन्ध से महामारी दूर होती देखी गयी हैं। जो प्लेग दवाइयों और इन्जेकशनों से न हटी वह एक दिन सार्वत्रिक यज्ञ से दूर हो गयी। प्राचीन काल में तो महामारी आदि रोगों की घटना कहीं इतिहास में नहीं मिलती, इस का कारण था, उस समय में लगातार १००। १०० वर्ष के यज्ञ किये जाते थे। उनमें घृत की गोमुखी धारा पड़ती थी। ऐसे यज्ञों का उल्लेख अनेक ऐतिहासिक एवं याज्ञिक ग्रन्थों में मिलता है। महर्षि पतञ्जली ने भी शातवार्षिक सहस्रवार्षिक यज्ञों का उल्लेख अपने व्याकरण महाभाष्य में किया है। चित्तौड़ गढ़ के किले में आज भी ऐसे यज्ञों का यज्ञ कुण्ड और घृत भरने के तालाब का अवशेष मौजूद है। इस कलि काल में सन्नयास लेने के अवसर ८ सहस्र रुपया व्यय करके हमने भी रुद्र याग किया था। देहली में करपात्री जी ने भी लाखों रुपया व्ययकर शतमख यज्ञ किया था। इतने बड़े भूमण्डल पर इस प्रकार के आजकल के यज्ञ कितना प्रभाव डाल सकते हैं। प्राचीन काल में तो ऐसी परम्परायें चलती थीं, जिससे वायु मण्डल शुद्ध रहता, महामारी आदि रोगों का नाम भी नहीं था। इस यज्ञ प्रक्रिया से समष्टि गन्ध मण्डल ही प्रभावित हो उठता था। गन्ध ज्ञान के विस्तार से देश सुखी और सम्पन्न था।

इस प्रकार यह गन्ध समष्टि मानव जीवन के लिये अर्थवान है, और वैयक्तिक जीवन में भी यह गन्ध भोजन, आच्छादन औषधि आदि में सर्वत्र प्रयुक्त होती है। महाराजा नल का पाक शास्त्र तो इस गन्ध ज्ञान की क्रियात्मक प्रयोग शाला ही है। विदेशों में इस गन्ध ज्ञान का पाक विद्या के साथ इतना ताल मेल नहीं है, पर भारत के प्रान्त प्रान्त की शाला इस गन्ध ज्ञान का भरपूर प्रयोग करती है। जिस से स्वाद और स्वास्थ्य दोनों की तृप्ति होती है।

तन्मात्रा के लोक में तो स्वर्गस्थ आत्मा या देवता तो सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय द्वारा सूक्ष्म दिव्य गन्ध का ही उपभोग करते हैं। वहां इस मर्त्यलोक की भान्ति स्थूल पदार्थ

नहीं होते, वहां तो केवल पदार्थों की विभिन्न दिव्य गन्धें ही तृप्ति का हेतु होती हैं। उन्हीं गन्धों से उनका भोग सम्पन्न होता है। यही इस की अर्थवत्ता है।

इस लोक में मनुष्य गन्ध युक्त पदार्थों का निर्माण करके भोगते हैं। विशेष प्रयत्नों और परिश्रमों के द्वारा उपार्जन करते हैं दिव्य लोक में ऐसी बात नही है। वहाँ किसी प्रयत्न या परिश्रम विशेष के करने की नौबत नहीं आती। वहाँ तो केवल संकल्प मात्र से ही सब प्राप्त हो जाता है, जैसे-योगी स्थूल और सूक्ष्म भूतों का साक्षात् करके उन पर विजय पा लेता है, और अपने संकल्प बल से ही अनेक सूक्ष्म पदार्थों का पञ्च-तन्मात्राओं से निर्माण कर लिया करता है।

(शंका) स्थूल सूक्ष्म भूतों पर योगी का अधिकार हो जाना, उन को यथेच्छ प्रयोग में लाना, पदार्थों का निर्माण करके स्वयं भोगना या दूसरों को भोग के लिये देना तो ईश्वर के अधिकार को छीन लेने वाली बात है।

(समाधान) इन साधारण कार्यों से ईश्वर का अधिकार नहीं छीना जा सकता। इस लोक में भी तो नाना प्रकार के कला कौशल का निर्माण करके मनुष्य नाना प्रकार से भूतों का उपभोग करते हैं। योगी ने कर लिया तो आपत्ति क्यों ? ये सूक्ष्म और स्थूल भूत जीवों के भोग के लिये उत्पन्न हुए हैं भगवान् के मुख्य अधिकार की बात तो सर्व-प्रथम सृष्टि की रचना है, जिस को अनेक योगी भी मिल कर नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार आपने परखा कि समष्टि और व्यष्टि घ्राण मण्डल का गन्ध ज्ञान प्राणी मात्र के लिये कितनी अर्थवत्ता से भरा है। इसकी अर्थवत्ता का समाधि में साक्षात् करें और साथ ही निमित्त कारण भूत उस ब्राह्मी चेतना का भी साक्षात् करें जिस की चेतना के सन्निधान से चेतन सा बना यह समष्टि व्यष्टि गन्ध मण्डल मानव के भोग और अपवर्ग सम्पादन करने में समर्थ हुआ है। आप के वैराग्य की भावना तीव्रतम है तो यह ब्रह्म के साक्षात्कार के साथ-साथ अपवर्ग का हेतु भी बनेगा। अन्यथा भोग का निमित्त बन जन्म जन्मान्तर तक भटकाता रहेगा। अतः अभ्यास के साथ पर वैराग्य की निष्ठा अनिवार्य है। अनिवार्य है।

इति समष्टि घ्राण् इन्द्रिय मण्डलम्

इति द्वितीयाध्याये एकादशः खण्डः।

इत्यष्टादशमावरणम्।

द्वादश खण्ड

१७वां आवरण

समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल

पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

समष्टि रसना मण्डल तीनों समष्टि अहंकारों से परिणत हुआ है, जिनमें सात्त्विक अहंकार की प्रधानता है। समष्टि घ्राण मण्डल के ऊपर यह मण्डल व्यवस्थित है। समष्टि ज्ञानेन्द्रिय मण्डलों में यह दूसरा मण्डल है। यह मण्डल पहले से अधिक चमकदार सफेद रंग का है। इसमें लाली पहले से कम है। मैला पीलापन पहले से अधिक है। नासिका मण्डल की अपेक्षा इसमें चेतना भी अधिक है तमोगुण रजस् के सहयोग से प्राणी को अपने वशीभूत कर व्यामोह में डालने की शक्ति इसमें अधिक है।

योगिन्! यह १७वां आवरण है। आवरणों को विदीर्ण करने का आपको पर्याप्त अभ्यास हो गया है। पर इस विजय में आपको पूरी शक्ति लगानी पड़ेगी। कर्मेन्द्रिय मण्डल में जैसे शिश्न मण्डल पर विजय पाना सरल नहीं, वैसे ही ज्ञानेन्द्रिय मण्डल में रसना पर विजय पाना अति दुष्कर है। सावधान हो वैराग्य की तीखी दुधारी को लिये आप जागरूक रहें, तो यह नत-मस्तक हो सदा के लिये शीघ्र ही हार मान लेगी।

यह रसना मण्डल रस और रस के परिणामों के आस्वादन शक्ति का केन्द्र है। रस का चखना इसी मण्डल में निहित है। इसी मण्डल की देन है जो जीवमात्र किसी भी योनि में रहता है, रसास्वादन कर लेता है। पूर्व वर्णित महाभूतों, तन्मात्राओं और कर्मेन्द्रियों में सत्त्व था पर स्वल्प मात्रा में। इसीलिये उन में ज्ञान गुण केवल ज्ञेय मात्रा में था। ज्ञानेन्द्रिय मण्डल सत्त्व की प्रचुरता से चेतन सा प्रतीत होता है और प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानने में समर्थ है। ज्ञानेन्द्रियों में भी ज्ञानमात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सत्त्व के इतना बढ़ जाने पर भी रसना स्वयं तो जड़ ही है। बुद्धि के सम्पर्क से इस में स्वाद का ज्ञान कराने की शक्ति आती है। यदि बुद्धि का सम्बन्ध रसना के साथ है तो वह स्वाद बता देगी किसका स्वाद है और यदि चखने वाला गप्पों में लगा है, तो यह रसना कुछ ही चखे जाये उसे पता ही नहीं चलेगा। ज्ञान का अधिकरण तो कोई और है, रसना तो केवल स्वाद बताने वाली है। परन्तु यह नहीं बता सकती कि किसका स्वाद है वह निर्णय बुद्धि करती है। जिस से यह व्यष्टि रसना बनी है उस मण्डल से ही रसना ने यह गुण लिया है। रसना मण्डल में ही तो रसास्वादन निहित है। यह मण्डल ही रसास्वाद को बताने की सामर्थ्य वाला है। यह रसास्वाद ही इस मण्डल का धर्म है। मण्डल के इस धर्म का प्रत्यक्ष योग समाधि में होता है।

यह मन्डल आकाश में १७वीं तह है। यह तह सदा आकाश में बनी रहती है। हाँ! प्रलय में अवश्य अपने कारण में लय हो जाती है और सब ही अपने कारण में लय हो जाते हैं, इस लिये तो वह प्रलय कहलाती है। सृष्टि के रचना काल में इस मण्डल

का भी उपयोग सूक्ष्म शरीरों के निर्माण, उनकी क्षति-पूर्ति, और उनके भाग रसना इन्द्रियों के सुरक्षित करने में होता है।

इस रसना मण्डल के भी पांच रूप हैं। उन पाँचों रूपों में ब्रह्म का साक्षात्कार कीजिये। रसना रानी के चक्कर में न फंस वैराग्य को अक्षुण्ण बनाये रखिये, जिससे ब्राह्मी स्थिति दृढ़ हो।

समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रसना इन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि रसना इन्द्रिय के स्थूल रूप में—

समष्टि रसना मण्डल का एक ही धर्म है। "रसास्वादन" अर्थात् रस को या स्वाद को चखने की सामर्थ्य। रस धर्म स्थूल भूत जल का है, और स्थूल जल रस-तन्मात्रा का परिणाम है। यह रस-तन्मात्रा और उसके परिणाम सब ही जल के विभिन्न परिणामों में विद्यमान हैं। पर रस को जानने या चखने की एक मात्र सामर्थ्य रसना मण्डल में ही है। स्वाद तो सब में है, पर चखने की शक्ति वाला नहीं, तो सब बेकार। किसी को गुड-मार बूटी खिला दीजिये, फिर किसी भी मिठाई के भण्डार में ले जाइये। सब मिठाईयाँ उठा-उठा कर देते जाइये। मिठाई की शक्ल देख कर बड़े चाव से मुख में रखेगा। पर सब को ही एक-एक करके, थू-थू करके थूकता जायेगा। सब ही बेस्वाद मानो गारा की गोली हो। मिठाइयों में तो स्वाद है, कोई भी खाये उसे स्वाद आता है, पर गुड मार ने तो रसस्वाद को ही मार दिया। जब स्वाद चखने की सामर्थ्य ही मारी गयी तो स्वाद के होते हुए भी स्वाद चखे कौन? इसी प्रकार यदि रसना मण्डल न हो तो न व्यष्टि रसनायें बन सकें न स्वाद लेने वाला ही कोई रहे।

रस का आस्वादन ही इस मण्डल का रूप है। रसा स्वाद ही इस मण्डल का धर्म है। सत्त्व अहंकार का परिणाम होने से इसमें सत्त्व की प्रधानता है। सत् प्रकाशक है। वर्त्तमान का प्रकाश करता है। बिना प्रकाश के विद्यमान वस्तु भी नहीं दीखती। रस आस्वादन कराने की सामर्थ्य वाले मण्डल का निर्माण हो गया। अब आगे जो रस-गुणाभिन्न रस-तन्मात्रा या उसके परिणाम सृष्टि रचना क्रम में होंगे उनका यह रसास्वादन करा उनके रसवत्त्व को प्रमाणित करेगा।

रसास्वादन रसना मण्डल में सदा रहता है। पर मण्डल अवस्था में इस गुण का कोई व्यवहार नहीं। न तो समूचा मण्डल ही किसी का स्वाद लेता है, न इस समष्टि मण्डल के द्वारा कोई स्वाद लेने वाला है। जीव तो प्रकृति में फंसा हुआ, व्यष्टि रसना से स्वाद लेता है, पर ब्रह्म तो प्रकृति में लिप्त नहीं जो इस समष्टि रसना-मण्डल का उपभोग कर रसों का आस्वाद ले। इसलिये रसना-मण्डल में यह 'रसास्वाद' होते हुए भी व्यवहार में नहीं आता। पर जब यह व्यष्टि-रसनाओं का निर्माण कर देता है तो इसका यह धर्म उनमें उग्र रूप में प्रकट होता है। गुरु की योग्यता और पाण्डित्य शिष्य में ही प्रकट होता है। आचार्य द्रोण ही तो अर्जुन और ऐकलव्य में चमकते थे। दूध में घी है पर दीखता नहीं। दूध का दही और उससे तक्र में परिणाम हुआ तो घी अलग साफ दिखाई देता है। इसी प्रकार इस समष्टि का 'रसास्वादन' व्यष्टि में व्यक्त हो

गया है। जिह्वा पर कोई पदार्थ रखो तत्काल उसके रस को बतायेगी। पीसा सोडा नमक और फिटकरी पास-पास रखे हैं, बिलकुल सफेद। तीनों एक से लग रहे हैं। घ्राण ने सब को अपने पास रखा, पर कुछ पता नहीं चलता सब बेकार। रसना आगे बढ़ी तनिक सी चुटकी जिह्वा पर रखी, बुद्धि ने निर्णय दिया तत्काल बोल उठी अरे यह तो नमक है। यह फिटकरी है और यह सोडा है। रसना की यह सामर्थ्य रसना-मण्डल की है क्योंकि मण्डल ही इस का कारण है। इस में प्रकाशक सत्व की प्रधानता है रसों का भेदक-ज्ञान बुद्धि द्वारा ही होता है।

इस व्यष्टि रसास्वाद ने संसार में उथल-पुथल मचाई हुई है। भारत की नारी चाहे शिक्षित चाहे अशिक्षित रसास्वादन उनका पुराना चस्का है। चूल्हा इनका प्रिय-स्थान है, और कढ़ाई प्रिय पात्र। पहले ही एक रस के छः रस परिणाम हैं उन छः रसों के नित्य प्रति रसोई घर में बैठकर नित्य ३६ रस वाले ३६ व्यञ्जन तैयार करती हैं। उन्हें दिनरात इन्हीं का कार्य क्रम बनाने में बीतता है। प्रातः ब्रह्म मूहूर्त में उठेंगी पर भगवान् भजन को नहीं, भोजन-भजन को। आज गाजर का हलवा है, तो कल पिस्ते की लाज, परसों बादाम की बरफी। नित्य नया पुरोग्राम। यह स्वास्थ्य या रोग-निवारण के लिये नहीं। केवल रसास्वाद के लिये। एक-एक तोले की ३६ कटोरियों के व्यञ्जनों का आस्वादन कोई होम्योपेथिक का मल्टीप्लीकेशन (शक्तिं सवर्धन) तो तैयार करेंगी नहीं, और न ही कोई युन्नानीतिब की कोई माजून बनेगी क्योंकि इन पोथियों से उन देवियों का कोई लगाव नहीं। यह तो सब रसास्वादाविष्कर्त्री हैं, और जो कुछ कर रहीं रसास्वाद के लिये।

शिक्षित महिलायें चौका चूल्हा नहीं संभालतीं। वह तो रसोईयों के सर्वथा आधीन हो गयी हैं, जैसे मिल जाता है, उसमें और उसके साथ बाजार के अलंम-गलंम के साथ रसास्वाद की हविस पूरी कर लेती हैं। परन्तु इनकी यह हविस पार्टियों में, सम्मान भोजों में और पिकनिक में गुल खिलाती है। दिल खोल कर माल उड़ते हैं। आधे पेट में आधे प्लेट में। इन्हें तो बिल पर हस्ताक्षर ही करने हैं, पेमन्ट जिसे करना पड़े करता रहे। यह हैं निराली करतूतें रसास्वाद की।

किसी महानुभाव मिनिस्टर महोदय को पान खाने की आदत थी। जेबी पान-दानी कहीं रह गयी। देहात का मुआयना। पान कहाँ से आये। फरमाइश तो कर ही दी गयी। फिर क्या था, कार दौड़ी। चार पैसे का पान ले कर आयी परञ्च चालीस रुपये पर पानी फिर गया। परवाह नहीं पान तो मिला। बान की आन तो रही। ऐसे-ऐसे रंग दिखाता है यह रसास्वाद।

वैद्य जी का प्रसिद्ध औषधालय है। नाम बिकता है। हजारों की औषधियाँ नित्य बिकती हैं। च्यवनप्राश तैयार करना है। सब प्रज्ञेय डाले, घोट-घाट कर तैयार हुआ। मालिक ने आकर चखा। क्या बनाया है? बड़ा बेस्वाद है? "महाराज। शास्त्रोक्ति वधि से बनाया है। एक-एक वस्तु तोलकर डाली है। अन्दाजे का काम नहीं। तैयार करने में पूरा समय लगाया। पूरा लाभ करेगा महराज!" "लाभ करेगा, यह तो ठीक। पर कोई खायेगा तब ही तो। देखते नहीं और कम्पनियों के कितने स्वाद हैं।" "उनमें गुण क्या हैं महाराज।" "चूल्हे में गया गुण। एक मन चीनी और डाल दो।

मूर्खों ! स्वाद बन जायेगा। स्वाद। रुपये सेर की चीनी १० रुपये सेर बिकेगी। ३६० का नेट लाभ होगा। वाह-वाही अलग मिलेगी।" देखा। श्रीमान् यह करामात हैं रसास्वाद की।

दही भल्ले वाले का दही खट्टा हो गाया। बे स्वाद खाओ, तो पित्त उखाड कर विरेचन लगा दे। नौकर ने मालिक से पूछा, 'फैंक दू ?' आश्चर्य से—'क्यों ?' 'खट्टा जो हो गया है।' पागल कहीं का। ला चीनी, और थोड़ा दूध। अभी ठीक होता है। अरे लोग स्वाद को चखते हैं स्वाद को। स्वाद के आगे स्वास्थ्य की नहीं चलती। यूँ दही फैंकता तो शहर में यूँही दो हवेली बातों से बन जातीं।" यह स्वाद है रसास्वाद का।

देसी घी की जलेबी का नाम चल निकला। बस और क्या चाहिये था। जलने लगा देसी के नाम पर बनास्पति। लोगों को चाहिये स्वाद। स्वाद में कोई अन्तर नहीं। थोड़ा असली भी जो साथ है। लस्सी वाले की दुकान चल निकली। चार आने का गिलास आठ आने में, बड़ी गाढ़ी लस्सी, बड़ी मोटी मलाई। लेने वालों की लाइन की लाइन हर समय लगी रहे। ट्रैफिक पुलिस भी हैरान। शिकायत पहुँची। पुलिस ने छापा मारा। वढ़िया ब्लाटिंग पेपर का वण्डल दुकान से बरामद। इसी की तो मलाई बनती थी अरारोट के साथ। जो मीठा छिड़कते ही लाजवाब हो जाती थी। यह करतूतें हैं रसास्वाद की।

इस प्रकार रसास्वद के मिथ्या चक्कर में पड़कर यह मानव अपना स्वास्थ्य, धर्म कर्म सब बरबाद कर देता है। रसनामण्डल की रचना हुई सब योनियों की व्यष्टि रसना के लिये। जिस से वे परिणामों का रसास्वादन कर अपने भोगों को सम्पन्न करें और मानव योनि में इस रसास्वाद के द्वारा रसनामण्डल तक पहुँचें। रसना से अनुकूल प्रतिकूल का बोध कर स्वास्थ्य को ठीक रखें, और विवेक के मार्ग पर लग कर भगवान् को पहचानें। रसना मण्डल का निर्माण इसलिये तो नहीं हुआ कि उसकी कार्य रूप व्यष्टि रसना के परिणामों के विकारों में फंस कर स्वास्थ्य रक्षा के योग्य भी न छोड़ा जाये। इस रसास्वाद के पीछे मानव ने भक्ष्या भक्ष्य का विचार भी छोड़ दिया। सात्त्विक को तामस बना कर खाने की आदत पड़ गयी। अंगूर और जौ कितना सात्त्विक। पर इन्हें और ऐसी ही अन्य वस्तुओं को सड़ा-सड़ा कर उत्तेजक अंगूरी और बारले जैसी सैंकड़ों प्रकार की शराबें बना डालीं। केवल रसास्वाद के पीछे। जिन्हें पी आदमी प्रमत्त हो जाता है। अन्न आदि के खाने से तो पेट ही नहीं भरता। इस शराब के पाचन के लिये चाहिये मांस। वह भी थोड़ा नहीं प्रमत्तता ही जो ठहरी। आरम्भ हो गया शिकार। पहले जंगली जानवरों में बहादूरी की शेखी बघारी, नागरिकों का वनों जंगलों तक पहुँचना कठिन। ग्राम्य पशुओं की मौत आयी न बकरी छोड़ी न भैंस, न गाय न ऊँट। इनसे भी पेट न भरा तो निरीह कबूतरों मुर्गों, चिड़ियों, अण्डों पर नजर गयी। इस रसास्वाद के चस्के कब्रिस्तान बना यह पेट।

इस रसास्वाद के चस्के ने क्या अनर्थ नहीं किये इस मानव ने या दानव ने। मैडकों, चूहों, टिड्डों, कैंकड़ों न जाने किस-किस निरीह प्राणी का आचार डाला इस रसास्वाद की तृप्ति के लिये। कैंचुए, बीर बहोटी, लाल चीन्टी तक भी खाने से नहीं बचीं। रसास्वाद की दृष्टि में पहला मानवा आकार था, वह भारतीय था। यह है दानवाकार,

जो है हिंस्रक राक्षसों का जिसे अब अभागा भारत भी अपनाता जा रहा है। अपनी प्राचीन ऋषियों की संस्कृति को मिटाने पर उतारु हो गाया।

लोग इसे रसास्वाद का भोग कहते हैं। यह भोग नहीं मानसिक रोग है, संसार की रक्षा के लिए जिसका राजकीय उपचार आवश्यक है। यह तो मानव की उच्छृंखलता है, उद्दण्डता है। और नृशंसता। अध्यात्मिक तत्त्व की दृष्टि से यह असह्य है।

रसास्वादन तो मनुष्य, देव, दानव, और भोग योनियां सब ही करते हैं। बिल्ली दूध और दूध की मलाई को नहीं छोड़ती। न जाने कहाँ से कब आकर खा जाती है कुत्ता घी नहीं छोड़ता, चाहे हजम न हो। चूहे कपड़े और कागज नहीं छोड़ते। चीन्टियां मीठा नहीं छोड़तीं, कोई रसास्वाद ही है न। भोग योनियाँ तो प्रकृति वशात् अपना भोग सम्पादन करती हैं। भोग कर फिर कर्म योनि में आ कैवल्य के लिये यत्न करेंगी। देव दिव्य भोगों को भोग मानव जन्म ले भोगों से तृप्त हुए शीघ्र कैवल्याधिकारी बनेंगे। मानव योनि ही कैवल्य का पड़ाव है। मानव योनि में आकर जो रसास्वाद के पीछे दानव बन गये हैं, उनसे बढ़कर अज्ञानी और मूर्ख कौन होगा। ८४ लाख योनियों की मंजिल पार-कर, बड़े लम्बे समय की प्रतीक्षा के पीछे लाखों कष्ट पाकर कैवल्य साधन का समय आया तो दानव रूप धारण कर फ़िर अध: पतन के नारकीय गर्त से गिरने के लिये पाप के पत्थर गले में बान्ध लिये। इसे ही तो कहते है दैव विडम्बना।

मानव तो वे ही हैं जो अपने विवेक से काम लें, रसास्वाद पर संयम कर हिंसा रहित स्थूल भूतों से बने पदार्थों द्वारा अपना भोग सम्पादन करते हैं कैवल्य की ओर अग्रसर होने के लिये। देवता भी दिव्य भोग सम्पादन करने के लिये सूक्ष्म तन्मात्राओं से निर्मित पदार्थों का उपभोग करते हैं। पुन: मानव जीवन में आ कैवल्य साधते हैं। अज्ञानी मनुष्य रसना के दास बन जाते हैं। इस प्रकार आसक्ति पूर्वक रसास्वाद बन्ध का हेतु बन जाता है और निरासक्ति पूर्वक भोग मोक्ष का हेतु बनता है।

इस प्रकार समष्टि व्यष्टि रसना-मण्डल बन्ध-भोग-मोक्ष साधक रसास्वाद धर्म के लिये है। यह रसना-मण्डल कर्मेन्द्रिय मण्डल से ऊपर है और सूक्ष्म भी है। ब्रह्म की अन्वेषणा में यह १७ वां आवरण है। अत: अपने ध्यान समाधि का इसे विषय बनाकर ब्रह्म की खोज इस में करनी चाहिये। वैराग्य आपका उग्र और तीव्र बना रहे जिस से यह रसास्वाद विषय का विकराल व्याल डस न ले। ज्ञानेन्द्रियों में इसी रसना पर अधिकार पाना सब से कठिन है। पर वैराग्य की वीणा इसे भी वशंवद बना लेती है। वराग्य की नौका ही आपको इन व्यामोहक भ्रमरों से पार ले जायेगी। वैराग्य के रंग को गहरा करने चलिये, विजय ही विजय है। बिना ज्ञान के कोरा वैराग्य भी कुछ नहीं। ज्ञान वैराग्य और अभ्यास तीनों से ही सिद्धि होगी।

समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रसना इन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि रसना इन्द्रिय के स्वरूप में—

'रस आस्वाद' रसना मण्डल में सदा रहता है। रसास्वाद कभी भी रसना मण्डल से अलग नहीं होता। रसास्वाद और रसनामन्डल का अभेद है। यह आस्वाद

इस मण्डल के परिणाम काल में उत्पन्न हुआ है। यह इस की विशेषता है, इसके निर्माण में समष्टि सत्त्वाहंकार आदि तीनों का सम्मिश्रण तो सामान्य है, और विशेष है यह रसना मण्डल । व्यष्टि रसना के प्रति समष्टि रसना मण्डल सामान्य और व्यष्टि विशेष है । अतः इन सामान्य और विशेष का समुदाय ही यहां अयुत सिद्ध एक द्रव्य है । इसी को रसना मण्डल तथा व्यष्टि रसना का स्वरूप कहते हैं ।

रसना इन्द्रिय में जो रस आस्वादन की सामर्थ्य है वह इस का ही परिणाम होने से इस में आयी है । व्यष्टि रसना इन्द्रिय रसना मण्डल से ही परिणत हुई हैं । व्यष्टि रसना इन्द्रिय का रसास्वाद स्वरूप ही इसका बोधक है । रसास्वाद-स्वरूप की प्रत्यक्ष प्रतीति रसना इन्द्रिय में ही होती है । जैसे व्यष्टि रसना इन्द्रिय और रसास्वाद धर्म का अभेद है ऐसे रसना मण्डल और रसास्वाद का अभेद है । व्यष्टि रसना ही इस अभेद की साधिका है । यहाँ भी धर्म-धर्मी का परस्पर सम्वाय सम्बन्ध है । इसको ही स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं ।

रसना-मण्डल की इस परिणत होती हुई दूसरी स्वरूप अवस्था में, इस सम्वाय सम्बन्ध में, और व्यष्टि के भी स्वरूप सम्बन्ध में, इसके अन्दर ब्रह्म की भी अनुभूति करनी चाहिये । ब्रह्म यहाँ भी व्यापक है । सदा इस में रहता है । यह स्वरूप अवस्था की ब्रह्मानु-भूति भी पर वैराग्य की परम पुनीत भूमि में ही बद्ध मूल हो सकेगी । अतः वैराग्य की भूमि में ही स्थिर हो कर अनुभव कीजिये, जिससे यह अनुभव स्थायी हो सके ।

(प्रश्न) सूक्ष्म रसना इन्द्रिय ब्रह्मरन्ध्र में ठहरी है । वहाँ सब ओर रुधिर मांस मज्जा है, उसका रसास्वाद सूक्ष्म रसना से क्यों नहीं होता ? हमें तो यह सब स्थूल में सूक्ष्म आदि की ही कल्पना मालूम होती है ।

(उत्तर) अच्छा मान लो सूक्ष्म-इन्द्रिय की कल्पना ही है । पर यह तो बताओ स्थूल रसना में भी तो रक्त है, यह उसका स्वाद क्यों नहीं बताती ? यह तो प्रत्यक्ष की बात है, यहाँ तो कोई कल्पना नहीं । देखो छलनी में छिद्र होते हैं । अन्दर बाहर दोनों ओर दिखाई देते हैं । छिद्रों की चौड़ाई में भी कोई अन्तर नहीं । पर क्या छलनी में को उलटा कर छान सकते हैं । या घिया कस को उलटा रख घिया कस सकते हैं । जब आप इतना सा व्यतिक्रम कर अपने उद्देश्य में असफल हो जाते हैं । यह शरीर रचना तो ज्ञानमय भगवान् के सन्निधान से हुई है । उसे समझने का प्रयास कीजिये, ऊपर की व्यर्थ की शंकाओं से कुछ पल्ले नहीं पड़ेगा । देखो ! सूक्ष्म रसों का ही आस्वाद सूक्ष्म रसना लेती है । यह स्थूल रसना स्थूलों का ही स्वाद लेती है । इसका स्थूल सम्वेदन सूक्ष्म रसना तक पहुंचते पहुंचते सूक्ष्म बन जाता है । उसीका वह आस्वादन करती है । ब्रह्म रन्ध्र में तो सब स्थूल ही स्थूल भरा है । उसका रसास्वादन उसकी परिधि से परे है । शिक्षक छात्रों में घूमता है, पर इस से वह पढ़ने वाला छात्र नहीं बन जाता । अपना ही अधिकार पूर्ण कार्य वहां भी करता है । स्थूल रसना में भी जिस प्रकार स्वाद का अनुभव होता है वैसे ही होगा । उलटी छलनी से आटा छनना नहीं । जिह्वा कट जाती है । उसे कटे पर नमक डालो तो चिर मराहट ही होगा, स्वाद नहीं आयेगा । जिस प्रकार जिह्वा के कोष रस लेते हैं उसी प्रकार लेंगें । विपरीत नहीं । अब आपने भली भान्ति समझ लिया होगा, यह वैज्ञानिक तत्त्व है, कोरी कल्पना नहीं । स्थूल सूक्ष्म और मण्डल तीनों का होना आवश्यक

है। तीनों का अपना-अपना क्षेत्र और कार्य नियत है। उसमें व्यतिक्रम होते ही सब उलट पलट हो जायेगी। कोई भी व्यवहारिक व्यवस्था न चल सकेगी। यह सब रचना बुद्धि पूर्वक हैं। सर्वज्ञ के सन्निधान से हुई है।

(प्रश्न) यह जिह्वा चखने का भी काम करती है और बोलने का भी। सब ज्ञानेन्द्रियां एक-एक काम करती है, यह दो क्यों?

(समाधान) जिह्वा का भी एक ही काम रसास्वादन है। बोलना इसका काम नहीं, वाग् इन्द्रिय का काम है। वाक् के काम में जिह्वा भी सहयोगी है, जैसे दान्त, तालु कण्ठ आदि अन्य भाग सहायक हैं। हां! वाग् इन्द्रिय का जिह्वा करण है जिह्वा से ही विभिन्न स्थानों का स्पर्श होने से ही वर्णों का उच्चारण होता है। जिह्वा न हो तो स्थानों के स्पर्श के अभाव में उच्चारण नहीं हो पाता। जैसे भक्त देवी पर जिह्वा चढ़ा कर गूंगे हो जाते हैं। इससे धोखा हो जाता है कि जिह्वा ही बोलती है। दान्त टूट जाने पर तवर्ग आदि दन्त्य अक्षरों का उच्चारण नहीं होता। होंठ कट जाने पर ओष्ठय अक्षरों का उच्चारण नहीं होता। तोतले बच्चों को स्थान की भ्रान्ति होती है। वे भिन्न स्थान से उच्चारण करते हैं उच्चारण बिगड़ जाता है। रोटी को लोटी, मोरी को मोली आदि बोल जाते हैं। 'र' का उच्चार मूर्धा से करना था, कर जाते हैं दान्त से। इसी प्रकार जिह्वा करण है। बोलने में सहायक है। बोलना जिह्वा का धर्म नहीं। स्वरूप सम्बन्ध की परिणति होती हुई अवस्था में अर्थात् जब धर्मी धर्मान्तर के रूप में परिणत हो उस अवसर में सर्व व्यापक चेतन ब्रह्म का भी अनुभव होना चाहिये और धर्म-धर्मी का भी साक्षात्कार होना चाहिये।

समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रसना इन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि रसना इन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

इस समष्टि रसना मण्डल का सूक्ष्म रूप उपादान कारण सात्विक अहंकार प्रधान रूप से और दोनों अहंकार सहायक रूप से हैं। यह अहंकार सब ज्ञानेन्द्रिय मण्डलों के प्रति सामान्य कारण है और इन्द्रिय विशेष हैं। यहाँ भी सामान्य और विशेष का समुदाय ही रसना इन्द्रिय मण्डल है। यह समष्टि रसना मण्डल ही व्यष्टि रसना इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप या उपादान कारण है। रसना मण्डल सामान्य और व्यष्टि रसना इन्द्रिय विशेष है। यह सामान्य विशेष का समुदाय ही यहां अयुत सिद्ध द्रव्य है। यहां कारण से कार्य में परिणाम ही कारण में पदार्थ की सूक्ष्मता है। यही रसना मण्डल तथा व्यष्टि रसना की तीसरी अवस्था है। यही सूक्ष्म रूप है।

तीनों अहंकारों के भेद रूप से अभेद को प्राप्त यह रसना मण्डल एक द्रव्य है। इसकी रचना में तीनों अहंकारों का अनुपात इस प्रकार है—

समष्टि सात्त्विकाहंकार १·२ भाग+समष्टि राजसाहंकार १·०+समष्टि तामस-अहंकार ०·८=३·० यहमण्ड ल भी सत्त्व की पूर्वापेक्षा अधिक मात्रा होने से ज्ञान की प्रधानता है। यही ज्ञान की प्रधानता इस मण्डल के कार्य रसना इन्द्रिय में आयी है। ज्ञान की प्रधानता के कारण रसना का महत्त्व अधिक है। जहाँ अन्य इन्द्रिय मौन धारण कर

लेती हैं, उन्हें कुछ पता नहीं चलता वहाँ रसना ही आगे बढ़ उलझी समस्या को सुलझाती है। लेबल लगा-लगाकर औषधियाँ रखीं, वर्षा हवा से स्याही बिगड़ गयी। पढ़ा नहीं जाता क्या नाम है। जो रंग से पहचानी जा सकीं उन्हें अलग कर लिया। उनमें भी जिनके रंग और आकृति एक-सी थी। पता नहीं था कौन-कौन-सी औषधि हैं। जिह्वा की नोक पर रख-रखकर चखा बुद्धि ने निर्णय किया और सबका पता लगा लिया। नये लेबल लगा दिये इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में खाद्य तथा पेय पदार्थों के निश्चय में बुद्धि द्वारा यही निर्णायक होती है। घ्राण का निर्णय अनुमान पर होता है, रसना का प्रत्यक्ष। स्वाद के निर्णय को रसना का ही अन्तिम निर्णय बुद्धि द्वारा प्रमाणित करता है। इस प्रकार रसना का सत्त्व प्रधान भाग अपना कार्य करता है। रसना में भी तामस-भाग है। यह भी राजस समान है। इसलिए रसना में चल धर्म बहुत कम है। कहीं जाती आती नहीं। मुख तक ही इसकी गति सीमित है। तामस की अधिकता बढ़ जाने के कारण अल्पप्राण भी है। कोई अधिक तीव्र स्वाद वाला पदार्थ खाया जाये, या अधिक शीत या अत्यन्त शीत पदार्थ खाया जाये तो थोड़े काल के लिये तामस के बढ़ जाने से अपनी स्वाद लेने की चेतना ही खो बैठती है। हाँ ! दिव्य रसना सदा जागरूक बनी रहती है, उस पर किसी की उग्रता का प्रभाव नहीं पड़ता। जब स्थूल स्वाद सूक्ष्म होकर उसके पास पहुँचता है तभी वह अपना कार्य प्रारम्भ करती है। स्वतन्त्र रूप से योगियों और स्वर्गस्थ आत्माओं को दिव्य रसों का आस्वादन स्थूल के बिना किसी प्रकार के सहयोग के चखाती है। वे दिव्य रस तो देवताओं का भोग हैं। आप का दिव्य रसास्वादन की इच्छा हो आयी है, तो अच्छा ही है आप भी योगाभ्यास की पुनीत 'विशोकाज्योतिष्मती' पद्धति का अभ्यास कर सूक्ष्म चमकती ब्रह्मरन्ध्रस्थ दिव्य रसना इन्द्रिय का पहले साक्षात् कर और फिर उस पर अधिकार पा इस मानव शरीर में ही देवताओं के भोगों को भोग सकते हैं।

सूक्ष्म रसना का ज्योतिर्मय स्वरूप, ज्योतिर्मय समष्टि रसना मण्डल से ही प्राप्त हुआ है। समष्टि मण्डल से ही तो यह व्यष्टि परिणत हुई है। जब यह समष्टि रसना मण्डल तीनों अहंकारों के परिणामस्वरूप अपने रूप में परिणत होता है। अथवा जब यह रसना मण्डल व्यष्टि रसना इन्द्रिय में परिणाम को प्राप्त होता है वह भी एक अनोखा परिणाम होता है। यह परिणाम उस चेतन भगवान् के सन्निधान के निमित्त से ही होता है। भगवान् का सन्निधान ही इन कारणों की मात्रा, दिशा, परिणाम आदि का नियामक है। यहां कारण से कार्य में परिणाम ही कारण में रसका मण्डल और रसना इन्द्रिय की सूक्ष्मता है। यही इस मण्डल का सूक्ष्म रूप तीसरी अवस्था है। इस कारण से कार्य परिणाम काल में ब्रह्मानुभूति करनी होती है। यही मुख्य लक्ष्य साधना का है। गौण रूप से पदार्थों के तत्त्व का भी बोध हो जाता है। 'ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्' ज्ञान की अन्तिम सीमा यही है कि रसना मण्डल और उसके परिणाम व्यष्टि रसना इन्द्रिय से भी वैराग्य हो जाये। अभ्यासपूर्वक वैराग्य ही मोक्ष का हेतु है। अभ्यास से भी वैराग्य ही पुष्ट होता है। अतः साधनों में वैराग्य ही परम साध्य है। इसकी ही उपासना अभीष्ट उद्देश्य तक पहुँचायेगी।

समष्टि रसना इद्रन्यि मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(रसना इन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि रसना इन्द्रिय के अन्वय रूप में—

इस रसना इन्द्रिय का प्रकृति के साथ परम्परागत अन्वय रूप सम्बन्ध है, क्योंकि यह अपने प्रत्येक कार्य में अनुपतन होती हुई रसना मण्डल में और उसके परिणाम रसना में पहुँची है। समष्टि रसना मण्डल प्रकृति की चोथी पीढ़ी में है। प्रकृति के गुण और धर्म ही रसना मन्डल और रसना में विद्यमान् हैं। प्रकृति के स्थिति धर्म से ही समष्टि और व्यष्टि रसना की स्थिति है। प्रकृति का सत्त्व ही रसना में 'आस्वाद' रूप में परिणत हुआ है। रसास्वादन समष्टि रसना मण्डल में था, वही व्यष्टि रसना इन्द्रिय में आया है। सूक्ष्म रसना इन्द्रिय तो आकाश मण्डल में वर्त्तमान सामान्य रस के परिणामों को भी यथेच्छ रूप में उपभोग कर लेती है। इस प्रकार मूल प्रकृति अपने धर्म और पदार्थों के साथ इस रसना मण्डल और रसना इन्द्रिय में अनुपति हुई है। यही इस मण्डल और रसना का अन्वय रूप है। इस अन्वय रूप का प्रत्यक्ष समाधि में कीजिए। समस्त परिणति के निमित्त भगवान् की सन्निधानता का भी प्रत्यक्ष कीज़िए। जिस के कारण इन मण्डलों में अन्वय रूप में प्रकृति का धर्म पहुँचा है।

प्रकृति का यह सब परिणाम भोग और अपवर्ग के सम्पादनार्थ है। यदि भोग में रति है तो ८४ लाख योनियां भी आपकी नीरस भ्रमण स्थली के लिए उपस्थित हैं। सूअर, कुत्ता, बिल्ली, कीड़ा-मकोड़ा जिस योनि में भी चाहें जाइये। यदि इन योनियों की दीनता-हीनता को देख भोग से वैराग्य हो गया तो अवश्य ही इच्छा कीजिए। बिना रसना और रसना मण्डल से वैराग्य प्राप्त किये मोक्ष की साधना पूरी नहीं होती।

समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूव में ब्रह्म-विज्ञान

(रसना इन्द्रिय का पञ्चम रूप)

५. समष्टि रसना इन्द्रिय के अर्थवत्व रूप में—

संसार में अर्थात् इस लोक और परलोक में जितने भी स्वाद हैं, वे सब इस जिह्वा के विषय हैं। यदि इसकी रस ग्रहण करने की शक्ति खतम हो जाये, तो संसार के सब रस बेकार हैं। एक बार गलत दवाई खाने से मेरी जिह्वा की रस ग्रहण करने की शक्ति कुछ मास के लिए जाती रही थी। ऐसा मालूम होता था, कि संसार में कोई रस ही नहीं है। मिट्टी में भी कुछ-न-कुछ स्वाद होता ही है, परन्तु जैसे रेत का कोई स्वाद नहीं होता इसी प्रकार चीनी और नमक का स्वाद प्रतीत होता था। यह रसना इन्द्रिय ही रसास्वादन रूप आसक्ति का विषय होती है। यदि इस पर विजय पा लिया जाये तो संसार के एक बड़े भारी बन्धन से मुक्ति हो जाय। यह रसना भोग और मोक्ष में सहायक है। यही इसमें अर्थवत्ता है।

रसना पर विजय के लिए घोर तप

यह इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों में अत्यन्त बलवान् है। मानव दिन भर नाना प्रकार के व्यञ्जन बना बनाकर खाने में कई-कई घन्टे नष्ट कर देता हैं। ४-५ अंगुली की जिह्वा की

तृप्ति के लिए अनेक व्यञ्जन बनाता है। गृह देवियाँ तो प्रायः अधिक समय पाकशाला में इसी की तृप्ति के लिए खर्च कर देती हैं। परन्तु फिर भी इस जिह्वा की तृप्ति के अनुकूल भोजन नहीं बनता है। ४-५ अंगुल कण्ठ से नीचे उतर कर सब रसों का एकीकरण हो जाता है। बहुत से महात्मा इसको वश में करने के लिए भोजन करने के समय में सब खाद्य पदार्थों को एक ही बरतन में मिला लेते हैं। एक बार कश्मीर बैरीनाग में मेरे साथ एक महात्मा भोजन करने गये। जिस परिवार में भोजन करने गये थे; उसमें माता ने बड़ी श्रद्धा भक्ति से नाना प्रकार के स्वादिष्ठ खाद्य पदार्थ बनाये थे। महात्मा के पास खप्पर था। उसने थाली से कटोरियाँ उठा-उठाकर सब सब्जी तथा अन्य खाद्य पदार्थ अपने खप्पर में डालने शुरू कर दिये। माता ने महात्मा जी को रोकते हुए कहा[1] यह आप क्या करने लगे हैं। मैं तो सारा दिन पका-पकाकर मर रही। आप सब अच्छी चीजें इस कुण्डे में एक ही करने लगे हैं। आपने पहले ही कहना था, "मैं इतना परिश्रम न करती।

सन्त शरमिन्दा से होकर कहने लगे "मैंने सब स्वादों पर विजय पाने के लिए कई वर्ष से ऐसा ही आचरण किया हुआ है।"

माता बोली, "तो क्या सब पर विजय पा लिया है।"

"हाँ! मुझे कोई ऐसा स्वाद अनुभव नहीं होता है, सब एक समान से ही हो गये हैं।"

माता ने थाली उठा ली और कहा—"आपके लिए एक ही सब्जी लाती हूँ। सब क्यों खराब करनी हैं।"

माता एक बड़े कटोरे में घीया की सब्जी डालकर और ऊपर से एक मुट्ठी नमक डालकर मिला लाई, और महात्मा के खप्पर में डाल दिया। महात्मा तो २-३ फुलके खाकर हट गये, मैंने खूब पेट भर खाया।

मैंने पूछा—"क्या बात है? आज तो आपने बहुत ही कम भोजन किया?"

चुपकर के आहिस्ता से कहने लगे—"माई ने नमक बहुत डाल दिया है।"

मैंने कहा—"आपने तो सब रसों पर विजय पा ली है। फिर कैसे मालूम हो गया नमक अधिक है?"

मैंने पुनः माता को बुलाकर कहा—"सन्त आपकी परीक्षा में फेल हो गये हैं। पुनः अच्छा और स्वादिष्ट भोजन पहले जैसा ले आवें।"

माता मुस्कराते हुए बोली—"इसमें क्या नुक्स था?"

मैंने कहा—"आपको पता तो है, अब क्हा पूछती हैं। सन्त भूखे रह जायेंगे। आपके घर से सन्त भूखा नहीं जाना चाहिए। आप गृहस्थ हैं, यह अतिथि सेवा है।"

माता ने उत्तर दिया—"अतिथि के सामने तो जो भिक्षा आ जाये, चुप करके खा लेनी चाहिए। मैंने बहुत बड़े महात्मा समझकर बहुत अच्छा भोजन बनाया था। इन्होंने मेरे सामने मेरी मेहनत, श्रद्धा एवं प्रेम को इस खप्पर में गड़मड़ कर दिया। मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ, और क्रोध आ गया; अतः एक बड़ी मुट्ठी नमक की सब्जी में डालकर ले आई थी।"

१. यह माता सेठ तुलसीराम बम्बई निवासी की धर्मपत्नी मनसा देई जी थी जो अपने पति के साथ अभ्यासार्थ आईं थीं।

सब परिवार वाले खूब हंसे। उस दिन से सन्त जी ने नियम कर लिया ऐसा नहीं करूंगा।

इसका भाव यह है कि रसना इन्द्रियं पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। यह रसना ज्ञानेन्द्रियों में अत्यन्त बलवान् है। यह तो एक व्यष्टि इन्द्रिय की बात है। यह उस समष्टि इन्द्रिय का विषय है जो कि इसका भी उपादान कारण है। जिसका कि हमें विज्ञान करना है। एक-एक इन्द्रिय को विजय करने में अनेक वर्ष और अनेक जन्म भी लग जाते हैं।

अमृतसर में एक सन्त थे। उन्होंने २६ वर्ष तक रसना इन्द्रिय को विजय करने में कठिन तपस्या की थी; परन्तु फिर भी वह वश में न हुई। २६ वर्ष तक कोई भी मीठी वस्तु खाने को नहीं ली थी। परन्तु २६ वर्ष के पश्चात् भी इसने जलेबी खाने में जबरदस्ती प्रवृत्त कर दिया था। गीता में कहा है—

"इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥
इन्द्रियाणां हि चरतां, यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर्नावमिवाम्भसि ॥" (६७ अ० २०)

—'इन्द्रियें अत्यन्त बलवान् हैं। यह बहुत शीघ्र मन को बहका लेती हैं। हरण कर लेती हैं। जिसकी इन्द्रियां वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। चलायमान या चञ्चल नहीं होती है। इन्द्रियों को विषय में गमन करने से यदि रोका नहीं जाता है, और मन भी उनके पीछे चल देता है, तो इसकी बुद्धि को ऐसे हरण कर लेती हैं; जैसे अत्यन्त तीव्र वायु जलाशय, नदी, या समुद्र में नाव को इधर-उधर अपने वेग से उड़ा ले जाती है।'

अतः योगी को इन्द्रियों का निरोध अवश्य करना चाहिये। यह सब रसना इन्द्रिय की अर्थवत्ता का वर्णन किया गया है। क्योंकि यह भोग और अपवर्ग में सहायक होती है। इसका विजय और विज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके विज्ञान और अर्थवत्ता में ब्रह्म का भी विज्ञान अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके आवरण का भेदन करके ही ब्रह्म लोक में गमन होना है। यह ब्रह्म के ऊपर १७वां आवरण है। वैराग्य से ही इन्द्रियों पर जय लाभ होगा, अतः वैराग्य भावना को अधिकाधिक दृढ़ करना है।

इति समष्टि रसना इन्द्रिय मण्डलम्।

इति द्वितीयाध्याये द्वादशः खण्डः।

इति सप्त-दशमावरणम्॥

त्रयो दश खण्ड

१६ वां आवरण

समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल

(पाँचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान)

समष्टि कर्मेन्द्रियों के मण्डलों के पश्चात् ज्ञानेन्द्रियों के मण्डल हैं। समष्टि नेत्र मण्डल उन में तीसरा है यह मण्डल सफेद तीव्र चमक वाला अधिक गहरे लाल रंग का है। पीतकालिमा कम है। रसना-मण्डल से भिन्न प्रतीत होता है। प्रकाश और चमक उसकी अपेक्षा तीव्र हैं। सत्त्वगुण और रजोगुण की मात्रा अधिक है, इसीलिये चेतना और जागरुकता अधिक है। ज्ञान उपार्जन में यही सर्वाधिक उपयोगी है।

योगिन्! यह १६वां आवरण है। यह मण्डल स्वयं प्रकाश प्रधान है। ज्ञान के द्वारा इस पर और इसके कार्य व्यष्टि इन्द्रिय पर विजय पाना कठिन न होगा। दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते चलो। इसका धर्म है, 'रूप दिखाना'। संसार के समस्त ज्ञानों के मूल-भूत ५ ज्ञानों में से यह एक है। यह नेत्र रूप और रूप के परिणामों को जानने, पहचानने का केन्द्र है। रूप और रूप के परिणामों को पहचानने का सार-भूत तत्त्व इस मण्डल के स्तर में निहित है। इस स्तर में भी इस धर्म का व्यवहार नहीं है। व्यष्टि नेत्रन्द्रिय में यह व्यक्त होता है। तत्त्व से तो यह मण्डल और व्यष्टि नेत्र दोनों जड़ हैं स्वयं अपने आप देखने की इनमें कोई सामर्थ्य नहीं; पर चेतन जीव के सम्पर्क से नेत्र में और परब्रह्म के सम्पर्क से नेत्र मण्डल में दिखाने की सामर्थ्य आ जाती है। यदि मन बुद्धि का सम्बन्ध किसी अन्य इन्द्रिय से जुड़ा है तो आँख देखते हुए भी नहीं देख सकेगी। यह नेत्र मण्डल 'रूप दिखाने' की सामर्थ्य वाला है। इसीलिये इस उत्पन्न हुई व्यष्टि नेत्रेन्द्रिय जीव को दिखाने में समर्थ होती है। यह सामर्थ्य भी मण्डल से परिणत सूक्ष्म नेत्रेन्द्रिय में है। जो अनादि काल से सूक्ष्म शरीर के साथ है। प्रत्येक योनि में साथ रहती है। यह बाहर का आँख का गोलक तो इस शरीर के साथ उत्पन्न होता है। नवजात शिशु की आँख छोटी सी होती है। युवा होने तक पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। शिशु तो आरम्भ में कुछ देख ही नहीं पाता। कई मास में प्रकाश को पूर्णतया पकड़ पाता है, और दृष्टि स्थिर होती है। पुनः शनैः-शनैः सूक्ष्म विषयों को भी ग्रहण करने लगती है, और शरीरान्त समय में यह आँख शरीर के साथ ही चली जाती है। परन्च सूक्ष्म आँख इस प्रकार से उत्पत्ति विनाश वाली नहीं। लाखों, करोड़ों, अरबों वर्ष तक एक ही सूक्ष्मशरीर में बनी रहती है। जीव का मोक्ष होने पर या प्रलय अवस्था में अपने कारण में लय हो जाती है। इतने वर्षों का अनुभव है देखने का इस आँख का। ऐसा अति दीर्घ काल-स्थायी देखने का धर्म इसमें आया है इस नेत्र मण्डल से। जो प्रत्येक योनि के छोड़ने के अवसर इसकी क्षति पूर्ति करता रहता है। नेत्र-मण्डल में इस रूपधर्म का प्रत्यक्ष योगी को समाधि में करना होता है।

नेत्र-मण्डल भी अन्य मण्डलों की भाँति सदा आकाश में रहता है। प्रलयकाल में अपने मूल प्रकृति में लीन रहता है। सृष्टिकाल में इसका उपयोग व्यष्टि नेत्रेन्द्रिय के

निर्माण तथा सूक्ष्म शरीरस्थ नेत्रेन्द्रिय की क्षति पूर्ति एवं प्रत्यावर्तित नेत्रेन्द्रियों के आत्मसात् करने में होता रहता है।

इस प्रकार ब्रह्म के सन्निधान से यह प्रकृति निर्माणोन्मुख करती रहती है। नेत्र-मण्डल के पाँचों रूप भी इसी निर्माण का एक अंश हैं। उन पाँचों रूपों का समाधि में प्रत्यक्ष कीजिये। वैराग्य की पुनीत भट्टी में तपाये हुए सोने की भाँति कुन्दन वन सर्व-व्यापक ब्रह्म का दर्शन कीजिये।

समष्टि नेत्र-इन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(नेत्र इन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि नेत्र इन्द्रिय के स्थूल रूप में—

समष्टि-नेत्र-मण्डल का एक ही धर्म है "रूप को दिखाने का सामर्थ्य' अर्थात् रूप उपलब्ध करना। रूप धर्म स्थूल अग्नि का है। और स्थूल अग्नि रूप-तन्मात्रा का परिणाम है। यह रूप-तन्मात्रा और उसके परिणाम समस्त अग्नि परिणामों में वर्त्त-मान हैं। इनको देखने का- एक मात्र साधन समष्टि-नेत्र-मण्डल में निहित है। संसार में रूप के मूल-रूप तीन या सात रंग हैं। उनके आनुपातिक रासायिनिक विभिन्न मिश्रणों से परिणाम रूप सहस्रों रंग बन जाते हैं। सातों रंग तो इन्द्र-धनुष में रवि-रश्मियों के विभक्त होने से वन जाते हैं। यही रवि-किरणों के रंग सहस्रों परिणामों के रूप में प्रकृति के विभिन्न फूलों, कीट पतंगों पशु पक्षियों की रंगीन झांकियों, और उनकी ही अनुकृति के विभिन्न मिश्रणों से मानव रचना में जो रंग-विरंगे वहुरंगे मनोरम दृश्य एवं रूप दिखाई देते हैं, यदि देखने का उपकरण आँख न हो तो सव वेकार। यह सारे रंग रूप अन्धकार में परिणत हो जायें। यह आंख इसी नेत्र-मंण्डल का तो परिणाम है। यह 'रूप दिखाने की सामर्थ्य' इस नेत्र मण्डल में ही निहित है। नेत्र मण्डल कारण है और आंख कार्य। कारण से ही कार्य में यह धर्म आया है। मण्डल से ही यह धर्म व्यष्टि-नेत्र में आया है। 'देखना' धर्म नेत्र-मण्डल में है। पर मण्डल न स्वयं देखता है, न साक्षात् रूप में स्वयं किसी को दिखाता है। अतः व्यापक से नेत्र मण्डल में 'रूप दिखाने' का धर्म मूल रूप में सुरक्षित रहता है। जो व्यष्टि नेत्रों में कार्य रूप में परिणत होता है।

'णीञ्' धातु 'प्रापणे' अर्थ में है। नयति प्रापयति इति नेत्रम्। जो ले जाती है या प्राप्त कराती है वह नेत्र है। आंखें ही सब को ले जाती हैं। आंखें न हो या फूट जायें तो एक पग चलना भी दूभर हो जाये। यह दूसरी वात है कि आंखें न रहने पर अन्ध व्यक्ति की स्पर्श शक्ति बढ़ जाती है। वह हाथ पैर से टटोल-टटोल कर आंखों का काम निकालता है। गुन्जान आबादी और बीहड़ जंगल में वह नहीं चल सकता। ऐसे स्थानों पर तो चलने में आँख ही सहायक है। गुन्जान आबादी में भी आंख वाले कैसी सरपट साइकिल दौड़ाते हैं। एक साइकिल ही क्या, जितनी भी रेल, मोटर, हवाई जहाज, टांगा, टमटम, बग्घी जो भी ले जाने वाली सवारियाँ हैं। सब ही आंखों से ले जायी जाती हैं, और सुरक्षित उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचाई जाती हैं। यदि आंख वाले पाइलेट या ड्राइवर तनिक सी असावधानी से आंखों के काम में चूक जायें तो वस सारी ही यात्रा ठप, और यात्रियों की दुर्दशा का तो कहना ही क्या। अतः इन आंखों का काम

ही ले जाना, या पहुंचाना है। इस ले जाने या पहुंचाने के साधन तो पैर हैं, आंख उठाकर नहीं ले जाती। आंख तो अपना काम रूपोलब्धि का ही करती है। बुद्धि वृत्ति आंख के द्वारा बाहर निकल कर प्रकाश रश्मियों द्वारा दृश्य के साथ सम्बन्ध करती है। इस सम्बन्ध के उपरान्त उस दृश्य का प्रतिबिम्ब प्रत्यावृत्त मन की वृत्ति द्वारा बुद्धि पर पड़ता है, और दृश्य का बोध कराता है। ले जाने या पहुंचाने में आंख यही तो काम करती है। पग के उठने से पहले, जहां पग पड़ना है, उस स्थान के दृश्य की सम्पूर्ण उपलब्धि करा देती है। बुद्धि मण्डल के निर्णय दे देने पर पग उठता है, और ठीक निर्णीत स्थान पर रखा जाता है। यात्रा सुख पूर्वक सम्पन्न हो जाती है। पर यदि यह चञ्चल मन असावधानी कर जाये। आंख का साथ छोड़ दे, या मार्ग को छोड़ अन्य कुछ निहारने लगे, या कहीं और अटक जाये, तो तत्काल ठोकर लगती है, और बुद्धि सावधानी से चलने के लिये सचेत कर देती है। यदि अधिक असावधानी बरती गयी तो ऐसी ठोकर लगती है, कि चलने वाला चारों खाने चित्त आ पड़ता है।

यह सब दिखाने का काम स्थूल नेत्र करता प्रतीत होता है। यदि कोई स्थूल नेत्रों को बन्द कर दे, तो दिखना बन्द। यह तो सही, पर जब मरणासन व्यक्ति पर-लोक यात्रा के लिये प्रयाण को तत्पर है, और परलोक की ओर अपनी अन्दर की सूक्ष्म आंखों को फेर लेता है, तो यह आंखें खुली की खुली रह जाती हैं। जिस अत्यन्त स्नेहपत्र प्रियतम व्यक्ति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता था, अभी कुछ क्षण पूर्व जिस से घनिष्ट आत्मीयता की बातें कर रहा था, जिसे अपने पास से उठने ही नहीं देता था, जिसकी आंखों में आंखें डाल सर्वस्व न्योछावर सा कर रहा था; खुली आंखों के सामने वह ही व्यक्ति खड़ा है, प्यार से बुला रहा है, ढाहें मार २ कर बुला रहा है। वही प्यार भरी आंखें खुली हैं पर देख नहीं रहीं। देखने वाली सूक्ष्म आंखें तो सूक्ष्म शरीर के साथ चली गयीं। अब देखे कौन। यह स्थूल आंखें तो उन सूक्ष्म आंखों के जाने आने का ही मार्ग थीं। माईक खड़ा है। बैटरी चालू है। पर बोलने वाला ही नहीं। माईक क्या बोले। देखने वाली सूक्ष्म आंखें नहीं तो यह आंखें क्या देखें। वास्तविक नेत्र तो ब्रह्म रन्ध्रस्थ सूक्ष्म आंखें हैं। यह बाहर के डेले तो उसके सहायक मात्र मार्ग रूप हैं। आंख का धर्म तो केवल रूप का देखना है, जो इस में कारण भूत नेत्र मण्डल से आया है। यह बाह्य स्थूल नेत्र तो समष्टि नेत्र मण्डल का परिणाम नहीं। मण्डल का परिणाम तो सूक्ष्म नेत्र है,। वही देखती है, उसी का धर्म देखना है। वह देखती मात्र है। अन्य कुछ भी नहीं करती। पर यह स्थूल आंख तो आंसू भी बहाती है, कीट भी निकालती है, पाण्डु रोग में पीली हो जाती है। आंखें दुखनी आ जायें तो लाल भी हो जाती हैं, विकारवान् हैं, नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। स्थूल शरीर के साथ ही उत्पन्न होती है, स्थूल के साथ ही नष्ट हो जाती है। सूक्ष्म तो ऐसी नहीं, लाखों अरबों वर्ष उसकी आयु की अवधि है। मुक्तावस्था में ही कारण में लय होती है। या प्रलय समय में। सृष्टि काल में तो बनी ही रहती है। ऐसी है यह वास्तविक सूक्ष्म नेत्र। बाह्य स्थूल आंख तो शरीर का अवयव है। शरीर की आकृति के साथ इसकी भी आकृति पलट जाती है। मनुष्य, बिल्ली, ऊंट, हाथी, कव्वा, तोता, सांप, मेंढक सब की ही आखें निराली हैं। किसी की लम्बी, किसी की गोल, किसी को छोटी, किसी की मोटी, किसी की सुकड़ी, किसी की चौड़ी यह सब शरीरों के भेद से

हैं। पर सूक्ष्म नेत्र सब एक से हैं समान हैं उनमें कोई भेद नहीं। चाहे किसी भी योनि में हों, क्यों कि सूक्ष्म शरीर संकोच विकास धर्मवाला है। सूक्ष्म नेत्र ही नेत्र मण्डल से परिणत हुआ है। सूक्ष्म नेत्र के 'रूप दिखाना' धर्म से ही कारण रूप नेत्र मण्डल का धर्म जाना जाता है। फलों से ही वृक्ष पहचाना जाता है।

यह रूपोपलब्धि ही पदार्थों की भेदिका है। यह नेत्र ही रूप को पहचानता है। हजारों गौओं की आकृति समान है, गोत्व रूप ही तो सब में है, पर प्रत्येक गौ में व्यष्टि गोत्व रूप भी है, जिसके आधार पर गवाला प्रत्येक गाय को पहचानता है, यह अमुक स्वामी की है। इतकी सूक्ष्मता से रूपोपलब्धि करना नेत्र का ही स्थूल रूप है।

इस नेत्र का जो विषयाकार रूप परिणाम है वही इसका भोग है। जिस समय सात्विक अहंकार से परिणाम भाव को प्राप्त होता है, उसी समय नेत्र-मण्डल में 'रूप को दिखाने' के धर्म का प्रादुर्भाव होता है और जब व्यष्टि नेत्र समष्टि से उत्पन्न होता है तब वह भी अपने रूप धर्म को साथ में लेकर उत्पन्न होता है। इस काल में ही समाधि में इनका साक्षात्कार करना चाहिये। इसके साथ ही साथ सब के निमित्त ब्रह्म के सन्नि-धान का भी साक्षात् करना चाहिये। समष्टि पदार्थों की उत्पत्ति के साथ सर्वत्र ब्रह्म का सम्बन्ध है। इसलिये व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। बिना वैराग्य की पूर्णपुट के यह ब्रह्म ज्ञान अक्षुण्ण होने वाला नहीं; अतः वैराग्य और पुन परम वैराग्य को सिद्ध करते चलिये। तभी शाश्वत ब्रह्म का शाश्वत दर्शन होगा और मोक्ष प्राप्त होगा।

(शंका) क्या बाहर के गोलकों के विकृत हो जाने पर, या टूट फूट जाने पर अन्दर के गोलक भी टूट-फूट जाते हैं ?

(समाधान) अन्दर के सूक्ष्म नेत्र टूटने-फूटने वाले नहीं हैं। उन का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के साथ है। यदि बाहर के गोलक विकृत हो जाते हैं, तो इनका इलाज करने से बहुधा ठीक भी हो जाते हैं। यदि बिलकुल ही खराब हो जावें, तो उसका उपाय भी किया गया है। साइन्सदानों ने एक छोटे से यन्त्र का आविष्कार किया है, आँखों के नष्ट होने पर उससे पढ़ने आदि का काम ले लेते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अन्दर वाले सूक्ष्म नेत्र खराब नहीं होते हैं। इनका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है, उसका विनाश होने पर ही वे समाप्त होंगे। उससे पूर्व ये न खराब होते हैं, न अकेले नष्ट होते हैं अर्थात् सूक्ष्म शरीर कभी अन्धा नहीं होता। ये सूक्ष्म तन्मात्रा के लोक में भी दर्शन का काम करते हैं, और इस स्थूल शरीर में भी। समष्टि नेत्र-मण्डल कारण है; और व्यष्टि नेत्र कार्य। समष्टि मण्डल से ही व्यष्टि नेत्रों की उत्पत्ति होती है। समष्टि मण्डल की उत्पत्ति सत्त्वप्रधान समष्टि अहंकारों से होती है और व्यष्टि इन्द्रिय की उत्पत्ति समष्टि मण्डल से होती है। इस प्रकार क्रम-पूर्वक इन का निर्माण होता रहता है और जीवों के साथ मिल कर भोग और मोक्ष का हेतु बनती रहती हैं।

(शंका) पहले आप कथन कर चुके हैं कि सत्त्व प्रधान अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, और अब कहते हैं कि समष्टि नेत्र-मण्डल से व्यष्टि नेत्रों की उत्पत्ति हुई है ?

(समाधान) जब ब्राह्मी सृष्टि उत्पन्न होती है, तब सब पदार्थों की उत्पत्ति समष्टि के रूप में ही होती है। तत्पश्चात् जब प्राणियों की उत्पत्ति होती है उस समय

एक-एक समष्टि मण्डल से उसके कार्यों की अनेक रूपों में उत्पत्ति होती है, अर्थात् समष्टि नेत्र-मण्डल कारण रूप है और वह व्यष्टि इन्द्रियों को उत्पन्न करता रहता है। जैसे वर्तमान में हमारी पृथिवी अपने अनेक कार्यों का सृजन करती रहती है; धातुओं, पाषाण भेदों, तेल और गैसों के रूप में जो भी इससे सम्भावित कार्य हो सकते हैं उनकी रचना करती रहती है। इसी प्रकार ये इन्द्रियों आदि के समष्टि मण्डल भी अपने-अपने कार्यों को उत्पन्न करते रहते हैं। वैसे सब का उपादान कारण प्रकृति है और निमित्त कारण सर्वत्र भगवान् है। इस उपरोक्त क्रम में भगवान का भी अनुसन्धान करना चाहिए, अथवा नेत्र-मण्डल में ब्रह्म का आरोप करके, कि इसमें यह अन्दर स्थिर है—ऐसी भावना से इसे विज्ञान का बिषय बनाना चाहिये। व्यष्टि चक्षु इन्द्रिय में ब्रह्म की उपासना का प्रकार इस तरह वर्णन किया है यथा—

"यश्चक्षुषि तिष्ठँ चक्षुषोऽन्तरो,
यं चक्षुर्नवेद, यस्य चक्षुः शरीरं,
यश्चक्षुरतरो यमयति,
एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥"

बृहतरा० अ० ३। ब्रा० ७। मं० १८॥

— जो ब्रह्म व्यापक रूप से नेत्र में ठहरा हुआ है जिसको चक्षु नहीं जानती, जिसका नेत्र ही शरीर है, जो नेत्र को अन्तर्यामी रूप से सञ्चालन करता है, वह आत्मा ब्रह्म है। वह मोक्ष रूप है। वह अमृत रूप है।

(शंका) स्थूल नेत्र के नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्म नेत्र तो बना ही रहता है, उससे ही मनुष्य देख लिया करे, क्योंकि वही तो दिखाने का मुख्य कारण है। माइक के न रहने पर भी तो वक्ता बोलता ही है ?

(समाधान) दृष्टान्त विषम है। माइक बोलने की ध्वनि को दूर तक फेंक देता है। माइक बोलता नहीं है, न ही बोलने वाले के बोलने में निमित्त है। स्थूल नेत्र-इन्द्रिय तो सूक्ष्म नेत्र का उपकरण है। बाहर के स्थूल रूप को, सूक्ष्मरूप-तन्मात्रा में परिवर्त्तित कर सूक्ष्म-नेत्र तक पहुँचाती है। सूक्ष्म नेत्र तो सूक्ष्म रूप को ही देख सकता है, स्थूल में उसकी गति नहीं। जब तक कि योगी अपनी साधना से सूक्ष्म नेत्र को इस प्रकार न बना ले। साधारण व्यक्ति का सूक्ष्म नेत्र तो सूक्ष्म रूप को ही देखता है। स्थूल को नहीं देख सकता। यदि सूक्ष्म नेत्र स्थूल रूप को देखने लग जाये तो ८४ लाख योनियाँ ही न बन सकेंगी। सब योनियों के स्थूल नेत्र भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। बिल्ली रात में भी और दिन में भी देखती है। उल्लू केवल रात को देखता है दिन में नहीं। मनुष्य प्रकाश में ही देखता है, अन्धेरे में नहीं। मछली पानी में भी देखती है। हाथी की आँख छोटे को बड़ा देखती है। चील और गिद्ध की आँख बहुत दूर का देखती हैं, मीलों दूर का। अजगर की आँख पक्षियों को बेहोश कर खेंच लेती हैं। जितनी योनियाँ हैं उतना ही आँखों का प्रकार भेद है। उतने ही विभिन्न प्रकारों से उन योनियों का काम चलता है। उतने ही विभिन्न प्रकारों से उनकी आँखों की रचना हुई है यदि सूक्ष्म-नेत्र को भी देख लेता तो सब का दर्शन समान ही प्रकार का होता। योनिकृत भेद न हो पाता। जैसे आँख देखने वाली है, जैसे रंग की ऐनक लगाता है उसी रंग का देखने लगती है। पर पाण्डु

रोगी की आँख तो पीला ही पीला देखती है। ऐनक के शीशे का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार स्थूल नेत्रों की विभिन्नता से विभिन्न योनियों में सूक्ष्म-नेत्र विभिन्न प्रकार से देखने में समर्थ होता है। बिना स्थूल गोलक के सूक्ष्म-नेत्र कार्य नहीं करता।

इस नेत्र का जो विषयाकार परिणाम है, यह इसका भोग है। जब यह परिणाम भाव को प्राप्त हो रही होती है, तब ही इसमें 'रूप ग्रहण' रूप धर्म की उत्पत्ति होती है। इस जन्म समय में ही इस का साक्षात्कार करना चाहिए और निमित्त कारण भगवान् का भी बोध करना चाहिए। क्योंकि व्यष्टि समष्टि की उत्पत्ति के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध है। प्रकृति का अध्यास छूट जाये और ब्रह्म का ही साक्षात्कार हो—यह बिना वैराग्य के धारणा पक्की होने वाली नहीं। अतः वैराग्य को ही अपना प्रधान अवलम्ब बनाइये। बिना वैराग्य के सर्व तृष्णाओं व सर्व कामनाओं का अभाव नहीं होता ये कामनायें भोगों की वासनाओं को दृढ़ करती हैं वैराग्य ही भोगों से चित्त को विरक्त बनाता है उपराम करता है अतः चित्त निर्मल होकर इसमें आत्मा और ब्रह्म का आभास ठीक रूप में प्रतीत होने लगता है। अतः योगी को परम वैराग्य की तीक्ष्ण धारा से हृदय से कामनाओं का सर्वथा उच्छेद कर देना चाहिए। यथाच उपनिषत् 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्तेकामायेऽस्यहृदिश्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यन्न ब्रह्म समश्नुते॥ प्रश्नोपनिषत् अ० २ च ३ म० १४॥ जब योगी की सर्वकामनायें जाती रहती है जो कि इसके चित्त में वर्तमान थीं तब यह योगी अमृत रूप होकर मोक्ष को प्राप्त कर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(नेत्र इन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि नेत्र इन्द्रिय के स्थूल रूप में—

'रूप का देखना' समष्टि नेत्र मण्डल में सदा व्यक्त रूप से वर्तमान रहता है। यह धर्म ही इसका स्वरूप है। गुण गुणी भाव से इनका अभिन्न सम्बन्ध है। नेत्र मण्डल के परिणाम काल में रूप को देखने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः धर्म धर्मी अभेद से अयुत-सिद्ध एक द्रव्य है। इसी को स्वरूप सम्बन्ध भी कहते हैं।

(शंका) पहिले रूप तन्मात्रा का स्वरूप सम्बन्ध इस रूप से बताया था, अब यहाँ नेत्र मण्डल और रूप का भी उसी प्रकार स्वरूप सम्बन्ध प्रतिपादन कर रहे हैं, यह क्या ?

(समाधान) वहाँ जब अग्नि-तन्मात्रा का निर्माण हो रहा था, तब उस के परिणाम काल में रूप धर्म प्रकट हुआ था। वह रूप धर्म किसी अर्थ भी तो आना था। अग्नि ने तो उसका भोग करना नहीं था। उसका प्रादुर्भाव नेत्रेन्द्रिय के लिए ही हुआ था। जब नेत्रन्द्रिय भोग देने के कार्य क्षेत्र में उतरी तब यह भी अपने साथ रूप धर्म को लेकर ही परिणत हुई, क्योंकि यह तो अग्नि-तन्मात्रा से समष्टि रूप में पहिले ही उत्पन्न हो चुकी थी। अतः इसके अन्दर अपना अनुद्भूत रूप प्रकाश परिणत होते हुए प्रकट हुआ। इसने बाह्य अग्नि तन्मात्रा के रूप के द्वारा या उसकी सहायता से अग्नि-तन्मात्रा के रूप धर्म को भोग का विषय बनाया। जैसे स्थूल शरीर में नेत्रों में भी प्रकाश

धर्म है, परन्तु फिर भी वे बाहर के प्रकाश सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत, लालटेन आदि की अपेक्षा करती हैं। इसी प्रकार दोनों प्रकाश रूप धर्म अपने-अपने कारण रूप द्रव्य में ही प्रकट हुए। अग्नि-तन्मात्रा का रूप धर्म अलग और नेत्र मण्डल का रूप धर्म अलग अनुद्भूत रूप प्रकाश के रूप में प्रकट हुआ। परिणाम भाव को प्राप्त होकर स्वरूप सम्बन्ध से वर्तमान हुआ। यह है दोनों रूपों में अन्तर।

इसी प्रकार व्यष्टि चक्षु इन्द्रिय और इस के धर्म अनुद्भूत-रूप प्रकाश का धर्म धर्मी भाव से सम्बन्ध है और इन का परस्पर अभेद है। इसी को स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं। इसका विषय रूप-तन्मात्रा कारण-कार्य रूप में है। योगी इसी इन्द्रिय की दिव्य दृष्टि द्वारा रूपवान् स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को बहुत दूर तक देखने की सामर्थ्य रखता है। प्रकृति के जितने भी कार्यात्मक पदार्थ है, उन सब का दर्शन इसी दिव्य दृष्टि द्वारा होता है। मन रूपी दूरवीक्षण इसके साथ लगा देने से असंख्य मीलों की दूरी तक सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् पदार्थों को देखने लगता है।

अमृतसर स्वांक मण्डी में चौधरी रामशरण जी के मकान पर बैठक में एक बड़ा भारी सिद्ध महात्मा रहा करता था। उसने अपने पैर रस्सियों से बान्धकर रक्खे हुए थे, ताकि इधर-उधर जाने-आने के बन्धन से छूट जाऊँ। एक दिन चौधरी इनके पास बैठे थे, जोर से कहने लगा वह महात्मा—"अरे रामशरण ! ओ रामशरण ! फ्रांस का बादशाह तख्त से गिर गया।" कुछ घन्टे पश्चात् ही खबर आ गयी कि फ्रांस का बादशाह मर गया है। इस महात्मा की दिव्य दृष्टि बहुत दूर तक कार्य करती थी। अनेक सिद्धियाँ इस में थीं। योग दर्शन के भाष्यकार का कथन है कि "तालुनि रूप संवित्।" जिह्वा के ऊपरी भाग तालु में दीर्घ काल तक अभ्यास करने से दिव्य रूप का विज्ञान होने लगता है। इस पर संयम के परिपक्व हो जाने पर दूर के दर्शन होने लगते हैं।

तिब्बत तकला कोट के एक महात्मा अपनी दिव्य दृष्टि और मनोबल से दूर-दूर तक की वर्षा, औले, बर्फ और आन्धी को बन्द कर दिया करते थे। यह विद्या वर्तमान में लुप्त सी हो गयी है। इस पर विशेष यत्न नहीं करते हैं।

अत्यन्त आश्चर्यजनक और मनोरञ्जक सूक्ष्म तन्मात्राओं पर अधिकार की बात है। जो योगी युवावस्था में कटिबद्ध होकर इस ओर लग जाते हैं। उनको अवश्य सफलता होती है। बाह्य मुख-वृत्ति का अभाव करके, सर्व सम्बन्धों को त्याग कर, एकान्त में रहकर, श्रद्धा भक्ति पूर्वक इस सूक्ष्म जगत् में दीर्घ काल तक अभ्यास करने से तन्मात्राओं और सूक्ष्म इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है। तब जो कार्य चाहो इन से ले सकते हैं।

इस समष्टि नेत्र-मण्डल के परिणत होते हुए दूसरे रूप में ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिए। ब्रह्म की सर्व व्यापकता ही इस परिणाम का निमित्त है। योगिन ! यह ब्रह्मानुभूति वैराग्य के परिपक्क हिम शृंग पर ही स्थिर रह सकेगी। यदि थोड़ा ही चलकर देखना है तो ताजे हिम पात पर थोड़ा चल सकोगे, फिर हिम में ऐसे धंस जाओगे कि निकलना ही कठिन हो जायेगा। इस लिए दूध के उफान जैसी वैराग्य भावना से शाश्वत ब्रह्म-सन्निध्य उपलब्ध नहीं होगा। इस के लिए तो

परिपक्क वैराग्य की दृढ़ शिला अडिग होनी चाहिए । तब ही यथार्थ रूप में कैवल्य भाव को प्राप्त कर सकेंगे ।

समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(नेत्र इन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि नेत्र इन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि तीनों अहंकारों के अनुपातिक सम्मिश्रण से जिसमें सत्त्व अहंकार की प्रधानता होती है—यह समष्टि नेत्र मण्डल उत्पन्न हुआ । अतः सामान्य अहंकार-त्रय है, और विशेष नेत्र-मण्डल है, इन का समुदाय ही यहाँ अयुत सिद्ध द्रव्य है, जो कि भेद में अनुगत है, यही इस नेत्र मण्डल की सूक्ष्म अवस्था है, इस नेत्र-मण्डल से ही व्यष्टि नेत्र उत्पन्न हुए हैं । वास्तव में यहाँ कार्य-कारण भाव की परिणत होती हुई सूक्ष्म अवस्था का सम्बन्ध दिखाया है कि किस प्रकार कारण कार्य के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होता है । समष्टि नेत्रेन्द्रिय का सूक्ष्म और बृहद् मण्डल इस प्रकार का है, जैसे असंख्य तारिकाओं का एक महान् समुदाय हो । वास्तव में यहाँ परमाणुओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म और पतला समुदाय व्यापक आकाश सा है जिसको छोटे-छोटे टुकड़े काटकर विभक्त कर दिया गया हो । इसी प्रकार यह समष्टि व्यष्टि भाव को प्राप्त होती है । इस व्यष्टि में संकोच और विकास धर्म होता है । जब ब्राह्मी सृष्टि में और वह भी समष्टि नेत्र इन्द्रिय के मण्डल में महान् क्षोभात्मक एक सूक्ष्म क्रिया उत्पन्न होती है, उस समय इस मण्डल के कारण से कार्य-भाव को प्राप्त होते समथ व्यष्टि स्वरूप छोटी-छोटी दिव्य तारिकाओं के रूप में असंख्य ही सूक्ष्म इन्द्रियों का कार्य रूप में प्रादुर्भाव होता है । इस परिणाम-काल में इन्द्रियों के परिणत होते हुए ऐसी दशा भी आती है, जब कि इनमें अनुद्भूत रूप दिव्य प्रकाश उत्पन्न होता है । यह इसकी सूक्ष्म रूप अवस्था का वर्णन हुआ ।

यह जो अनुद्भूत रूप है, इसमें प्रकाश तो होता है, किन्तु दाह नहीं होता, जैसे कि सूर्य अग्नि आदि के प्रकाश में दाह होता है । अतः इसके लिए कोई बाहर के पदार्थ के प्रकाश के साथ मिलता हुआ दृष्टान्त प्रतीत नहीं होता । यह अनुद्भूत प्रकाश तरलता को, जीवन को, सरलता को और सौम्यता को लिए हुए होता है । यह आकर्षण, मोहकता, मादकता, मधुरता लावण्यता आदि धर्मों के लिए हुए स्नेह से भरा हुआ होता है । इस प्रकार के धर्म पूर्ण रूपेण चान्दनी में भी नहीं हैं । इस अनुद्भूत रूप प्रकाश में ध्यान और समाधि की सूक्ष्मता से इस ब्रह्म का प्रत्यक्ष विज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो कि इस में व्याप्त होकर इसके समान धर्मों वाला सा बना हुआ है और वैराग्य से उस ज्ञान को दृढ़ करना चाहिए ।

वास्तव में संसार के लोगों ने यथार्थ रूप से ब्रह्म को समझने का यत्न समाधि योग की सूक्ष्म दृष्टि से बहुत कम किया है । केवल छोटे-छोटे स्थूल पदार्थों—जो इन चर्म-चक्षुओं से देखने में आते हैं--में ही अध्यारोप करके जानने का यत्न किया है, परन्तु आगे सूक्ष्मता की ओर बढ़ने का प्रयत्न ही नहीं किया । वह चेतन ब्रह्म दीर्घ कालीन जाप आदि का विषय नहीं है । किन्तु सर्व वृत्तियों का निरोध करके, समाधि की

सूक्ष्म दृष्टि से बुद्धि द्वारा या चित्त द्वारा, समझने या अनुभव करने का, 'इदमस्ति' के रूप में व्याप्य व्यापक भाव से प्रत्यक्ष करने का विषय है। जितने सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान होता जाएगा, उतनी-उतनी ही ब्रह्म की सूक्ष्मता की भी अनुभूति होती जायेगी। वास्तव में उसका दर्शन तो प्रकृति के कार्यात्मक पदार्थों में और वह भी समष्टियों में ही हो सकता है। क्योंकि जैसे समष्टि पदार्थ महान् है वैसे ही ब्रह्म भी महान् से महान् है। ब्रह्म इन पदार्थों को छोड़कर अलग या अकेला कहीं वास नहीं करता, तब ही तो उसका नाम सर्वव्यापक बना है। संसार और इसके पदार्थों का अभाव नहीं होना है। अब कार्य रूप में है, प्रलय काल में कारण रूप में हो जायेंगे। अतः किसी भी काल में ब्रह्म, प्रकृति और इसके कार्यों से पृथक् न हुआ है, न होगा ही और न भूत काल में ही पृथक था। तब तो अन्यत्र खोजने का यत्न बेकार है। जिस योगी ने प्रकृति के कार्य आत्मक स्वरूपों को समझ लिया है, उसने मानों ब्रह्म को भी समझ लिया है, जान लिया है, देख लिया है, अनुभव कर लिया है, या प्रत्यक्ष देख लिया है। इसकी ठीक कसौटी तो तब भी उतरी समझो, जब वह अपने स्वरूप के साथ मिलता जुलता हो। केवल अन्तर इतना ही हो कि अपना स्वरूप अणु है, और उस ब्रह्म का स्वरूप महान् है, अनन्त है, सर्वत्र देखने में आता है।

समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(नेत्र इन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि नेत्र इन्द्रिय के अन्वय रूप में—

इस नेत्र-मण्डल और इसके परिणाम व्यष्टि नेत्र का परम्परागत सम्बन्ध प्रकृति में जाकर समाविष्ट होता है। इस मूल प्रकृति का कार्य परम्परा में अनुपतन होते हुए इनमें पहुँचता है। यही इसका अन्वय रूप है, और चौथी अवस्था है। इस प्रकार समझना चाहिये, प्रकृति के तीनों गुण महत्त्व रूप से परिणत होकर अहंकारभाव को प्राप्त हुए। अहंकार इन्द्रियों का कारण बना। अतः इन्द्रियाँ परिणाम-भाव को प्राप्त होकर अन्वय रूप हुईं। प्रकृति का स्थिति रूप धर्म नेत्र की सत्ता में विद्यमान है। ज्ञान गुण 'रूप दिखाने' में विकसित हुआ है, और क्रिया चाक्षुष वृत्ति में दिखाई देती है। जो साधारणतया बाह्य पदार्थों से संयुक्त होती है, और दिव्य नेत्र के रूप में हजारों मील का प्रत्यक्ष करा देती है। यह सब धर्म मण्डल में वर्तमान हैं, तभी तो व्यष्टि नेत्र में आये हैं। इसी दिव्य नेत्र की सामर्थ्य से सूक्ष्म शरीराभिमानी स्वर्गस्थ आत्मायें दूर-दूर का प्रत्यक्ष करती है।

इस मण्डल का प्रत्यक्ष करते समय इस सारी परिणति की निमित्त ब्राह्मी चेतन सत्ता की विद्यमानता का भी अनुभव करना चाहिये जिस की सन्निधानता से इस मण्डल का 'रूप दर्शन' धर्म इस रीति से अभिव्यक्त हुआ है।

इस रूप के वशीभूत पतंग जहाँ दीपक पर अपनी जान झोंक देता है, वहाँ रूप पर सर्वस्व न्योछावर करने वाले मानव दीवाने कम नहीं हैं। पतंग तो एक बार साहस कर दीपक की लौ में, या तेल में पड़कर समाप्त हो जाता है। पर यह रूप का दीवाना सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव वर्षों और कोई-कोई तो जीवन भर इसी रूप के पागल-

पन में तड़प-तड़प कर जान दे देता है। पर यह रूपोपासना का भयंकर असाध्य रोग है। इसकी एक ही महौषध है, जो अचूक है, वह है ज्ञान पूर्वक पर-वैराग्य। योगिन्! जब आप के मानस के कण-कण में यह व्याप्त हो जायेगा तभी साध पूरी होगी। तब ही यह मानुष्य जीवन की सफलता समझी जायगी।

समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(नेत्र इन्द्रिय का पंचम रूप)

५. समष्टि नेत्र इन्द्रिय के अर्थवत्त्व रूप में—

प्रकृति और इसके कार्य भोग और अपवर्ग के साधक होते हैं। अतः भोग और मोक्ष के लिये इन्हीं की मुख्यता है। प्रकृति के मुख्य होने से इसके कार्यों में भी गौण रूप से भोग और मुख्य रूप से अपवर्ग की सामर्थ्य हो जाती है। अतः नेत्रेन्द्रिय सब पदार्थों के दर्शन का हेतु होने से भोग और मोक्ष में सहायक होता है। यह समष्टि नेत्रेन्द्रिय का सूक्ष्म मण्डल १८ वां है। यह भी ब्रह्म को आवरण किये हुए है। परिणाम भाव को प्राप्त होकर स्थूल और सूक्ष्म जगत् के दर्शन का हेतु बन जाता है। यही इस में अर्थवत्ता है।

(शंका) इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में जब एक ही सत्त्व प्रधान अहंकार मुख्य कारण है तब भिन्न मण्डल या उपादान कारण मानने की क्या आवश्यकता है?

(समाधान) सब का उपदान कारण तो अवश्य एक ही है। परन्तु एक ही उपादान कारण ने भिन्न-भिन्न कार्यों को भिन्नभिन्न गुण या धर्म वाला उत्पन्न किया है। रज और तम भी न्यूनाधिक रूप में सहकारी कारण होते हैं। नासिका गन्ध ही ग्रहण करती है, रूप को नहीं। रसना रस को ग्रहण करती है, अन्य को नहीं। नेत्र इन्द्रिय रूप को ही ग्रहण करती है, शब्द को नहीं। प्रत्येक इन्द्रिय का स्वरूप और धर्म भिन्न है। अतः पदार्थ रूप से भी भिन्न-भिन्न होने चाहियें। एक धातु है, उस से नाना प्रकार के बरतन बनते हैं। और भिन्न-भिन्न कार्यों में आते हैं। गुण भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं। एक पृथिवी है, नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करती है। अतः पाँचों इन्द्रियों का एक ही उपादानकारण होने में कोई भी आपत्ति या हानि नहीं है। कार्य तो अनेक भी हो सकते हैं। यही तो कारण रूप पदार्थ की विशेषता है। जो अनेक कार्यों को उत्पन्न करता है, और अनेक प्रकार से भोग और मोक्ष का हेतु बना हुआ है। इस सत्त्व-प्रधान अहंकार के सहकारी राजस और तामस भी बने हुए हैं। इस समष्टि नेत्रेन्द्रिय के मण्डल में ब्रह्म का अध्यारोप कर के उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यह मण्डल अत्यन्त सूक्ष्म निर्मल, पवित्र, स्वच्छ, उदात्त, अनुद्भूत प्रकाश रूप है। इसकी सूक्ष्मता में ब्रह्म की सूक्ष्मता को समाधि की सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिये। अपनी ध्यान की दिव्य दृष्टि को आकाश मण्डल में फैंक कर प्रथम नेत्रेन्द्रिय मण्डल के अनुद्भूत प्रकाश को अपने दर्शन का विषय बनाना चाहिये। इसके दर्शन के पश्चात् इसी के प्रकाश में उस विलक्षण अनिर्वचनीय ब्रह्म की दिव्य ज्योति को अनुभव करना चाहिये, अर्थात् दर्शन करना चाहिये। इसी के रूप के समान ही तदाकार रूप दर्शन का विषय बनेगा। भगवान् बिलौर के कांच के समान स्वच्छ श्वेतवत् निर्मल है। जिस रंग का पानी शीशे

के गिलास में डाल दो, गिलास वैसे ही रंग का प्रतीत होने लगता है, क्योंकि उसका अपना कोई रंग नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म का रंग-रूप भी उसी पदार्थ के समान भासने लगता है। जिसमें उसका आरोप किया है।

इति समष्टि नेत्र इन्द्रिय मण्डल।

इति द्वितीयाध्याये त्रयोदशः खण्डः।

इति षोडशमावरणम्॥

चतुर्दश खण्ड

१५वाँ आवरण

समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डल

पांचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

समष्टि स्पर्श-मण्डल सात्विक अहंकार प्रधान है। समष्टि ज्ञानेन्द्रिय मण्डलों में यह चौथा है। इस मण्डल का अपना पृथक् स्तर है। यह मण्डल बहुत ही चमक वाली श्वेतिमा लिये है। लाली नेत्र-मण्डल जैसी ही है। पीतिमा उससे हलकी है। सत्त्व गुण और रजो गुण की मात्रा अधिक होने से चेतना और क्रिया अधिक है।

इस मण्डल का धर्म 'स्पर्शन' है। यह भी पाँच मौलिक ज्ञानो में से एक है। स्पर्श-मण्डल का परिणाम त्वचा है, जो प्रत्येक व्यष्टि स्पर्शन का माध्यम है। स्पर्श और स्पर्श के परिणामों को जताने की सामर्थ्य इसी में है। स्पर्शानुभव का सार इसी स्तर में है। चेतन के सम्पर्क से चेतन को स्पर्श का अनुभव कराता है। स्पर्श मण्डल तथा त्वचा को स्वयं तो कोई बोध नहीं होता। पर चेतन के संपर्क के साथ ही इसकी सत्त्व-परिणामता सार्थक हो जाती है। इस मण्डल से परिणत हुई स्पर्श इन्द्रिय स्पर्श का अनुभव कराने में समर्थ हो जाती है। यह 'स्पर्शन' मण्डल में वर्त्तमान था जो स्पर्शेन्द्रिय में आया है। मण्डल के इस धर्म का प्रत्यक्ष समाधि द्वारा करना है।

यह मण्डल सदा आकाश में रहता है। प्रलय समय में मूल कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। सृष्टि के समय इसका उपयोग भी अन्य मण्डलों की भाँति सूक्ष्म शरीरों के निर्माण, उनकी क्षति-पूर्ति एवं सूक्ष्म शरीर के अंश स्पर्शइन्द्रिय के सुरक्षित करने में होता है।

इस प्रकार यह प्रकृति ब्रह्म के सम्पर्क से चेतन सी बनी अपने निर्माण कार्य में लगी रहती है। स्पर्श मण्डल की पाँचों स्थितियाँ भी इसी निर्माण की एक कड़ी हैं। उन पाँचों अवस्थाओं और उनमें वैराग्य से पूत अन्तःकरण से ब्रह्म का दर्शन कीजिये।

समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श इन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि स्पर्श इद्रिय के स्थूल-रूप में—

समष्टि स्पर्श मण्डल का ही एक धर्म है "स्पर्शन" अर्थात् स्पर्श को अनुभव करने की शक्ति। स्पर्श धर्म स्थूल भूत वायु का है। स्थूल भूत वायु स्पर्श-तन्मात्रा का परिणाम है। यह स्पर्श तन्मात्रा और उसके परिणाम सारे ही वायु परिणामों में वर्त्तमान हैं। इनके अनुभव का साधन समष्टि स्पर्श मण्डल में निहित है। वन में सब प्रकार वृक्ष, वनस्पति, औषधि, लता. गुल्म, पशु पक्षी आदि होते हैं, पर बिना सूर्योदय के कुछ दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार स्पर्श स्पर्श-तन्मात्रा या उसके परिणामों के रूप में है तो पर उस के अनुभव वा साधन जब तक न हो, जाना नहीं जा सकता। बस इस स्पर्श का अनुभव करने की शक्ति वाला यह समष्टि स्पर्श मण्डल है, जिसके परिणामात्मक क्षोभ के समय अनन्त व्यष्टि इन्द्रियां अनेक प्रकार के स्पर्श को करने के धर्म

को साथ लिये हुए उत्पन्न होती हैं। 'स्पर्श करने की शक्ति' ही इस मण्डल का रूप है। जो भी स्पर्श है या होगा उसका ज्ञान कराने वाला सत्त्व की प्रधानता से यह मण्डल है। इस मण्डल से परिणत व्यष्टि स्पर्श इन्द्रिय सूक्ष्म शरीर के साथ विभक्त और सगठित होकर भोग देने के लिये प्रस्तुत हो जाती हैं। शीतोष्ण, कोमल कठोर कर्कश का अनुभव कराने लगती है। इसमें यह स्पर्शानुभूति अपने कारण स्पर्श मण्डल से ही आयी है। यद्यपि स्पर्श मण्डल में कार्याभाव के कारण स्पर्श का अनुभव नहीं होता, पर उसमें है अवश्य क्योंकि उसके परिणाम व्यष्टियों में व्यक्त हो रहा है।

व्यष्टि स्पर्शेन्द्रिय जो सूक्ष्म रूप से इस मण्डल से परिणत हुई है वह ब्रह्म-रन्ध्रवासी सूक्ष्म शरीर में रहती है। यह स्पर्शानुभूति उसी का कार्य है। उसकी इस स्पर्शानुभूति को कराने वाली इसकी उपकरण भूत त्वचा है। जो समस्त शरीर व्यापिनी है। त्वचा स्थूल स्पर्श को सूक्ष्मेन्द्रिय के पास भेजती है। सूक्ष्मेन्द्रिय के पास पहुँचते-पहुँचते वह स्थूल सूक्ष्म रूप में परिणत हो जाती है और सूक्ष्मेन्द्रिय उसको जानकर बुद्धि मण्डल के पास निर्णयार्थ भेज देती है। उससे ठीक-ठीक स्पर्श का अनुभव होता है। इस प्रकार वस्तुतः स्पर्शानुभूति करने वाली तो सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय है, जो ब्रह्मरन्ध्र रूपी राज भवन में वास करती है। यह स्थूल स्पर्शेन्द्रिय त्वचा तो उसकी चेरी मात्र है। जो सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय को स्थूल स्पर्श का समाचार भेज देती है। स्वेद प्रस्रावण रक्त संरक्षण आदि का कार्य भी करती रहती है। स्पर्शानुभूति केवल अकेला सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय का काम है। त्वचा का तो यह आनुषाङ्गिक काम है। यह त्वचा तो वस्तुतः बाह्य स्थूल शरीर का ही एक भाग है। यह स्थूल शरीर के काम भी करती है। मांस मज्जा तथा सूक्ष्म रक्त वाहिनी शिराओं की रक्षा करती है। यदि त्वचा का आवरण हटा लिया जाये तो रक्त बाहर को फूट पड़ेगा। कहीं शरीर बिखर सा जायेगा, विशीर्ण हो जायेगा। त्वचा ही इस को आवेष्टित किये है। शरीर के विषाक्त अंश को स्वेद के रूप में शरीर से बाहर यही निकालती है। रोम राजि द्वारा भी अनुपयुक्त अंश को यही बाहर निकालती है। परन्तु स्पर्शेन्द्रिय का काम तो केवल स्पर्शन है, अन्य कुछ नहीं, यह धर्म ब्रह्म-रन्ध्रस्थ सूक्ष्म स्पर्श इन्द्रिय में है, अतः वह ही वास्तविक स्पर्शेन्द्रिय है और समष्टि स्पर्शेन्द्रिय मण्डल से परिणत हुई है। यह स्थूल त्वचा तो विभिन्न शरीरों में विभिन्न प्रकार की है। हाथी, भैंसा, गेण्डा भिन्न भिन्न प्रकार की अत्यन्त स्थूल होती है। हाथी और गेन्डे को तो कुशाघास भी पुष्पवृष्टि सी लगती है। इनको अनुभव कराने के लिये नोकदार अंकुश या बल्लम की आवश्यकता पड़ती है। बकरी और हरिण आदि की कितनी कोमल होती है। बकरी और बकरे की खाल की ध्वनि में भी अन्तर होता है। बकरी की खाल मीठी मधुर बारीक ध्वनि निकालती है, बकरे की मोटी। दायें तबले पर बकरे की और बायें पर बकरी की खाल मण्ढी जाती है। ऊंट के कर्कश स्पर्श के कारण घी तैल के कुप्पे बनते हैं। दृढ़ स्पर्श के कारण बैल की खाल के चरस बनते हैं खरगोश की खाल के दस्ताने, लोमड़ी आदि की खाल के कालर, तथा बुरदार कोट बनते हैं। यह सब विभिन्न प्रकार के उपयोग इसीलिये हैं कि यह वास्तविक स्पर्शेन्द्रिय नहीं है। वास्तविक सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय का तो सिवाये स्पर्श के और कोई काम नहीं।

सूक्ष्म स्पर्श इन्द्रिय के उपकरण त्वचा की मानव शरीर में स्थान भेद से ही स्पर्शानुभूति में भेद होता है। हाथ, पैर के तलवे, होंठ आदि की स्पर्शानुभूति में अत्यन्त

तारतम्य है। यह स्पर्श योनि और लिङ्ग आदि स्थानों की त्वचा में अत्यन्त उग्र हो गया है, जिसके उत्तेजित होने पर संयम करने में बड़ी कठिनाई होती है। तीव्र वैराग्य की भावना, और स्पर्श तत्त्वज्ञान ही इसके नियन्त्रण के अमोघ अस्त्र हैं।

शरीर प्रत्येक समय हर परिस्थिति में स्पर्शानुभूति कर सके इस लिये इस सूक्ष्मेन्द्रिय के उपकरण त्वचा को समस्त शरीरव्यापी रखा गया है। आंखों से विहीन हो जाने पर शरीर व्यापी स्पर्श ही अन्धों के काम आता है। इसकी प्रवृद्ध शक्ति से वे अधिकतर काम निकालते हैं।

सृष्टि-काल में यह सूक्ष्मेन्द्रिय सूक्ष्म शरीर के साथ विभक्त और संगठित होकर भोग देने के लिये प्रस्तुत हो जाती है। यह समष्टि स्पर्श मण्डल ब्रह्म के ऊपर १९ वां मण्डल है। यह भी ब्रह्म को आच्छादित करके रहता है। इस मण्डल को भेदन कर के ही ब्रह्म का अगला साक्षात्कार का द्वार खुलता है। जैसे जीवात्मा के ऊपर कोश हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के ऊपर यह भी कोष के रूप में हैं। चित्त को समाहित करके समाधि द्वारा इस स्पर्शेन्द्रिय के मन्डल में प्रवेश करके इसका साक्षात करें और फिर इसी की सूक्ष्मता में ब्रह्म का साक्षात् करें, और पर वैराग्य की तीव्र भावना से इस साक्षात्कार को स्थिर रखें।

समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श इन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय के स्वरूप में—

स्पर्शेन्द्रिय मण्डल का धर्म केवल स्पर्श ही है। इस मण्डल में यह धर्म इसके साथ ही उत्पन्न होता है। इस स्पर्श का बोध इस मण्डल के परिणाम सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय द्वारा, और उसके उपकरण भूत स्थूल शरीर की त्वचा द्वारा होता है। यहां मण्डल और सूक्ष्मेन्द्रय धर्मी हैं, और स्पर्श धर्म है। इनका परस्पर अभेद है। भेद के होते हुए भी द्रव्य और गुण का भेदानुगत जो सम्बन्ध है इसे ही स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं।

इस स्वरूप सम्बन्ध में ब्रह्म के विज्ञान को भी प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि पदार्थ की प्रत्येक परिणत होती हुई अवस्था में भी ब्रह्मानुभूति होनी चाहिये।

इस स्पर्शमण्डल की देन कोमल, मसृण, आनन्ददायक शीतोष्णस्पर्शानुभूति के केन्द्र मखमली गद्दे, रेशमी वस्त्र, फर, और ललना तथा लला का स्पर्श कहीं अपने चक्कर में न फंसाले, और ब्रह्म की झांकी कहीं सदा के लिये विलीन न हो जाये, अतः उद्‌बुद्ध जागरूक हो सदा वैराग्य को हृदय से चिपटाये रहो। वैराग्य का पक्का रंग ही स्पर्शानुराग के रंग से बचायेगा। 'सर्वं वस्तु-जातं भयान्वितम्। वैराग्यमेवाभयम्।' का सदा जाप करते रहो। यही ब्रह्मपद प्राप्ति और अमर जीवन की सञ्जीवनी है।

समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श इन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि स्पश इन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि तीनों अहंकारों के आनुपातिक सम्मिश्रण से समष्टि स्पर्श मण्डल की उत्पत्ति हुई है। इस में सत्त्व की प्रधानता है। इस में सत्त्व १·४ अंश+राजस १.२ अंश

+तामस ०·४ अंश है। तीनों समष्टि अहंकारों का सम्मिश्रण तो यहां सामान्य है, और समष्टि स्पर्शमण्डल यहां विशेष है, और सूक्ष्मेन्द्रिय स्पर्श की उत्पत्ति में स्पर्श मण्डल सामान्य और सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय विशेष है। इस प्रकार इनका कारण कार्यात्मिक सम्बन्ध है, और यह सामान्य विशेष का समुदाय ही अयुत सिद्ध द्रव्य समझना चाहिये। कारण से कार्य में परिणाम ही कारण में पदार्थ की सूक्ष्मता है। यही समष्टि स्पर्श मण्डल की तीसरी अवस्था सूक्ष्म रूप है।

यहां यह मण्डल तीनों अहंकारों के भेदरूप से अभेद को प्राप्त एक द्रव्य है। इस मण्डल में भी सत्त्व प्रधान होने से ज्ञान की प्रधानता है। वही ज्ञान की प्रधानता व्यष्टि स्पर्शेन्द्रिय में आयी है। राजस की मात्रा अधिक होने से स्पर्शानुभूति से चञ्चलता मन में बड़ी जल्दी आती हैं। तामस की मात्रा कुछ कम है, पर जब रजोगुण का प्रभाव बढ़ जाता है तो तमोगुण भी सहायक हो जाता है और दोनों मिलकर सत्त्व के ज्ञान को तिरोहित कर देते हैं।

यह सूक्ष्म स्पर्शेन्द्रिय भी अपने मण्डल के समान ही शुभ्र वर्ण की है। चमकती तारिका के समान ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है। इसका सूक्ष्म रूप यह स्पर्श मण्डल है।

जब समष्टि स्पर्श-मण्डल का परिणाम तीनों अहंकारों के आनुपातिक मिश्रण से होता है, उस समय इनकी प्रेरिका ब्राह्मी चेतन सत्ता की भी अनुभूति का अवसर होता है। उसके सन्निधान से ही तीनों अहंकार जड़ होते हुए भी चेतन से बने परिमित मात्रा में, परिमित दिशा में, परिमित गति कर इस स्पर्श-मण्डल में परिणत हो जाते हैं। यही ब्रह्मानुभूति काल है। इस साधना का लक्ष्य भी ब्रह्मानुभूति ही हैं। पदार्थानुभूति एवं कारण कार्य विज्ञान गौण है। स्पर्श-मण्डल की इस कारण कार्य अवस्था को देख कर तत्वों का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर स्पर्शानुरक्ति, या स्पर्श की सुख साधन मान्यता बनी नहीं रह सकती। हाँ ! यदि सिनेमा की रील के समान इस योग साधना को भी मनोरञ्जन; या समय यापन साधन मात्र बना रखा हो तो दूसरी बात है। पर अमूल्य मानव जीवन के साथ आप से ऐसे खिलवाड़ की सम्भावना नहीं। अतः वैराग्य की ध्रुव अटल साधना को लेकर ब्रह्म साधना में अडिग हो जाइये, और अग्रिम पथ प्रशस्त कीजिये।

समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श इन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय के अन्वय रूप में—

समष्टि स्पर्श-मण्डल तीनों समष्टि अहंकारों के मिलने से उत्पन्न हुआ। यह मिलान पूर्व प्रदर्शित अनुपात में होता है। यह चौथी पीढ़ी है। यह तीनों समष्टि अहंकार महत्तम से उत्पन्न हुए। यह तीसरी पीढ़ी हुई। महत्तम मूल प्रकृति से उत्पन्न हुआ। यह दूसरी पीढ़ी है। पहली मूल भूत पीढ़ी प्रकृति है। इस चौथी पीढ़ी में भी मूल प्रकृति के धर्म और गुण विद्यमान हैं। प्रकृति की स्थिति से ही स्पर्श-मण्डल सत्तावान् है। वही स्थिति धर्म इसमें भी विद्यमान है। चेतन के सन्निधान से उत्पन्न ज्ञान और क्रिया

परिणत हुए हुए स्पर्श-मण्डल में 'स्पर्शन रूप' में प्रतीत हो रही है। यह क्रिया ही स्पर्श को सर्व शरीर व्यापी बनाये है। दिव्य स्पर्श के रूप में सूक्ष्माति सूक्ष्म-स्पर्श का भी अनुभव कराती है। इसी सूक्ष्म त्वगिन्द्रय से स्वर्गस्थ आत्मायें दिव्य स्पर्श का उपभोग करती हैं। यह परिणामिनी प्रकृति अपने धर्म और गुणों को साथ लेकर गमन करती हुई स्पर्श-मण्डल और उसके परिणाम स्पर्शेन्द्रिय में अनुगत हुई है। यही इसकी अन्वय अवस्था कहलाती है। प्रकृति की इस अनुपतन होती हुई अवस्था में ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त करना चाहिये, यह इस की चौथी अवस्था है। इस स्पर्श के चक्कर में फंसे हुए कुत्तें, घोड़े, हाथी, सर्प, और सब ही पशु-पक्षी कीट-पतंग इस भोग योनि में भी परेशान हैं, प्रकृति से नियन्त्रित धर्मशास्त्राध्ययन से रहित होते हुए भी ऋतु-धर्म का पालन करते हैं, पर यह मानव वेद-शास्त्र कण्ठस्थ करते भी, सन्तों का उपदेश दिन-रात सुनते भी इस स्पर्श में फंस कर ऐसा पतन कर वैठता है कि अनैतिकता अनाचार में फंस ऋतु की तो क्या, किसी भी समय असमय की सुध-बुध भुला वैठता है। स्पर्श के चक्कर में जितना यह सर्व श्रेष्ठ प्राणी फंसा इतना संसार का कोई भी प्राणी नहीं। अतः योगिन्। पूरी सावधानी के साथ वैराग्य की संजीवनी को पीते रहना। जिससे यह स्पर्श आपको कहीं बौरा न दे। इस वैराग्य के सूक्ष्मेक्षण को लगा सदा ब्राह्मी चेतना का दर्शन कर करते रहो।

समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डल

पंचम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(स्पर्श इन्द्रिय का पंचम रूप)

५. समष्टि स्पर्श इन्द्रिय के अर्थवत्व रूप में—

इस समष्टि स्पर्शेन्द्रिय से देव और मनुष्य कारण कार्य रूप से भोग और अपवर्ग प्राप्त करते रहते हैं। देव स्वर्ग में सूक्ष्म-स्पर्श का उपभोग करते हैं सूक्ष्म शरीर के द्वारा। इस मर्त्यलोक में मानव स्थूल शरीर के द्वारा नाना प्रकार के स्पर्शों का उपभोग करते हैं। यह धर्म सात्विक अहंकार में सूक्ष्म-तन्मात्रा के रूप में विद्यमान था। जब अहंकार परिणाम भाव को प्राप्त हुआ, तब यह धर्म इन्द्रियों के साथ में प्रकट हुआ, और इसका यह स्वाभाविक ही धर्म बन गया; जो कि देवों और मनुष्यों के भोग का साधन बना है। यह अर्थवत्ता इन्द्रिय में प्रकृति से आई है, क्योंकि जब प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम हो कर, तीनों गुण उत्पन्न हुए तब सर्वप्रथम इन्हीं में यह अर्थवत्ता आयी। इसके पश्चात् सब कार्यों में अनुपतन होती हुई चली गयी।

इस स्पर्श इन्द्रिय की अर्थवत्ता में भोग और अपवर्ग प्रदान करने की शक्ति वर्त्तमान है। इस की शक्ति में ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिये और ब्रह्म के स्वरूप को देखना चाहिये। जहां-जहां और जिस-जिस पदार्थ में सुखद, आनन्द प्रद, शान्तिदायक आह्लाद-प्रद स्पर्श की अनुभूति हो, वहाँ-वहाँ ब्रह्म की चेतन सत्ता की भी प्रतीति होनी चाहिये। मानो इनमें ही मिला हुआ भगवान् का भी मधुर-सुखद स्पर्श प्रतीत हो रहा है, क्योंकि भगवान् ओत-प्रोत होकर ठहरा हुआ है। प्रत्येक प्रकार के स्पर्श में उसका आवास है। जैसे सम्पूर्ण शरीर में त्वक् इन्द्रिय व्याप्त है, और सर्व शरीर में सर्वत्र स्पर्श की प्रतीति होती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी सर्व प्रकार के स्पर्शों में व्यापक हो कर ठहरा हुआ है। अतः स्पर्शेन्द्रिय और स्पर्श में उस ब्रह्म का आरोप करके उसकी उपासना और

विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। स्पर्श इन्द्रिय का जो समष्टि मण्डल है, इस में भी ब्रह्म का अध्यारोप करके आनन्दप्रद स्पर्श की अनुभूति करनी चाहिये। जैसे ब्रह्म ही स्पर्श रूप बन कर प्रत्यक्ष रूप से दर्शन दे रहा है। पर यह सब, तब ही संभव होगा जब ज्ञान और वैराग्य की भावना तीव्रतम होगी। दलदल में फंसा हुआ फूलों की सुगन्धि क्या लेगा। असंगरूप जल कमल वत् वास करता हुआ ही स्पर्शानुभूति में ब्रह्मानुभूति कर सकता है अतः वैराग्य-निष्ठा अपरिहार्य है, अपरिहार्य है।

इति समष्टि स्पर्श इन्द्रिय मण्डलम्।

इति द्वितीयाध्याये चतुर्दशः खण्डः।

इति पञ्चदशमावरणम्॥

पञ्चदश खण्ड

१४वां आवरण

समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल

पांचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

समष्टि कर्मेन्द्रिय मण्डल के ऊपर यह ज्ञानेन्द्रियों का समष्टि मण्डल है। इस मण्डल में समष्टि श्रोत्र मण्डल अन्तिम स्तर है। यह सात्विक अहंकार प्रधान है। इस मण्डल की अपनी सत्ता स्तर रूप में है। अब तक प्रदर्शित सब ही मण्डलों में व्याप्त है। यह उन सब से सुक्ष्म है। अगले मण्डल इसकी भी अपेक्षा सूक्ष्मतर हैं, अतः उनमें यह प्रवेश नहीं कर सकता। यह मण्डल अब तक के मण्डलों से अत्यन्त श्वेत है। चान्दी की चद्दर के समान चमकता है। मैलापन लिये लालिमा की झलक रजोगुण और तमोगुण के कारण से है। सत्त्व गुण की अधिकता के कारण चेतना सी सर्वाधिक है। क्रिया तमोगुण के कारण दब सी गयी है।

इस मण्डल का धर्म 'शब्द का सुनना' है। मौलिक पांच ज्ञानों में से अन्तिम है। यह मण्डल अपने व्यष्टि श्रोत्रेन्द्रिय के शब्द और शब्दों के परिणामों के सुनने की मौलिकता का केन्द्र है। शब्द को सुनने की सामर्थ्य इस मण्डल में निहित है। अब तक के तत्त्वों में सुनने का धर्म नहीं था। या तो उनमें सत्त्व की न्यूनता थी, या इतनी सत्त्व की मात्रा न थी कि सुनने की सामर्थ्य उत्पन्न होती। इस मण्डल में सत्व की प्रधानता से शब्द श्रवण की सामर्थ्य आयी। यह मण्डल स्वयं तो कुछ नहीं सुनता, पर चेतन के सम्पर्क में आने पर शब्द-श्रवण व्यक्त हो उठता है। इसकी परिणामभूत व्यष्टि इन्द्रिय सुनने लगती है। उस व्यष्टि का उपकरण कर्णशष्कुली भी सुनता सा प्रतीत होता है। यद्यपि मौलिक रूप से श्रवण-सामर्थ्य ब्रह्मरन्ध्रस्थ श्रोत्रेन्द्रिय में ही है। मण्डल की श्रवण सामर्थ्य ही व्यष्टि में अभिव्यक्त हुई है।

मण्डल के इस धर्म का प्रत्यक्ष योगी समाधि में कर सकते हैं। आप भी कीजिये यह मण्डल भी अन्यों की भान्ति सदा आकाश में रहता है। प्रलय काल में इसका भी लय मूल प्रकृति में हो जाता है। सृष्टि काल में इसका उपयोग विभिन्न प्रकार से होता रहता है। इस से परिणत व्यष्टि श्रोत्रेन्द्रियों से सूक्ष्म शरीर की परिपूर्णता होती है। मुक्त आत्माओं की श्रोत्र इन्द्रियों को सुरक्षित रखता है। आवागमन के फेर में पड़ी आत्माओं के सूक्ष्म शरीरों की क्षति-पूर्ति करता है। सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय कारण रूप से इसमें सुरक्षित रहती हैं, जब व्यष्टियों के निर्माण की आवश्यकता होती है, निर्माण कर ली जाती हैं।

ब्राह्मी चेतना से चेतन सी बनी प्रकृति कारण कार्य कलाप को चलाती रहती है। समष्टि श्रोत्र मण्डल के पांच रूप भी इसी के अंग हैं; ज्ञान वैराग्य से पूत आत्मा ही उन रूपों और उन रूपों में ब्रह्म का दर्शन कर सकता है।

समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(श्रोत्र इन्द्रिय का प्रथम रूप)

१. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय के स्थूल रूप में—

समष्टि श्रोत्रेन्द्रिय की जब समष्टि अहंकार प्रधान से उत्पत्ति होती है, तब यह पुन: परिणाम भाव को प्राप्त होकर अपने 'धर्म' शब्द को लिये हुए असंख्य व्यष्टि इन्द्रियों के रूप में प्रकट होती है। इसमें शब्द ग्रहण करने की शक्ति अपने उपादान कारण से ही आती है; क्योंकि इसने शब्द के रूप में देवों और मनुष्यों को भोग और मोक्ष-प्रदान करना है। यह सत्त्व प्रधान अहंकार का सर्वप्रथम परिणाम रूप कार्य है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा यही स्थूल और सूक्ष्म शब्द की प्रतीति का हेतु बनी है। उपनिषद् में इसी शब्द में ब्रह्म का आरोप करके उपासना का साधन बताया है। यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बन जाता है, यद्यपि यह आकाश का धर्म है, परन्तु इस धर्म की अनुभूति भी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ही होती है। इसके द्वारा ही विज्ञान या पदार्थ की प्रतीति होती है। यह इस श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होते हुए भी वेद के रूप में प्रकट हुआ है। सर्व प्रकार से विज्ञान का हेतु यह शब्द ही बनता है। इसके दो भेद हैं। १. सूक्ष्म २. स्थूल।

१. सूक्ष्म—सूक्ष्म तन्मात्राओं से उत्पन्न होता है।

२. स्थूल—भूतों से उत्पन्न होता है।

'सूक्ष्म' स्वर्ग-वासी देवों के भोग का कारण बनता है, और स्थूल मनुष्यों के भोग का और मोक्ष का साधन बनता है। इसकी सार्थकता इसी श्रोत्रेन्द्रिय से होती है। श्रोत्रेन्द्रिय दो प्रकार की है। सूक्ष्म देवों में और स्थूल तथा सूक्ष्म मनुष्यों में पशु आदि में सूक्ष्म और स्थूल से उन इन्द्रियों से अभिप्राय है जो दोनों शरीरों की रचना के काल में सूक्ष्म और स्थूल गोलक कर्णशष्कुली के रूप में बनती हैं। स्थूल के द्वारा सूक्ष्म इन्द्रिय अपने कार्यों का सम्पादन करती हैं। वैसे सूक्ष्म दिव्य कर्ण इन्द्रिय एक ही प्रकार की है जो स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरों में भोग और मोक्ष का हेतु बनती है।

इस समष्टि मण्डल का गुण 'शब्द' है। यद्यपि मण्डल के रूप में व्यवहार का विषय नहीं। पर सृष्टि आरम्भ काल में वेदों का शब्द रूप में प्रादुर्भाव इसी से हुआ। इसी से प्राणी को ध्वनि और शब्द की परम्परा चलाने का सौकर्य प्राप्त हुआ। यह शब्द सुनना धर्म व्यष्टि श्रोत में अभिव्यक्त हुआ।

"श्रोत्रोपलब्धि बुद्धि-निर्ग्राह्यः शब्दः।

व्याकरणमहाभाष्य

—जो कानों से सुना जाये, और बुद्धि जिसका निर्णय करे वह शब्द है।

शब्द किसी भाषा के हों, सबका सुनना धर्म एक ही है। इसीलिये तो सब देशों के मनुष्य सब देशों के शब्द को सुन लेते हैं। उनके स्वरूप को समझ लेते हैं। यह बाह्य कर्ण शष्कुली तों स्थूल शब्द के अन्दर प्रवेश का स्थूल मार्ग है, अन्दर सूक्ष्म मार्गों से जाता हुआ यह शब्द सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय के सम्पर्क में सूक्ष्म होकर ही जाता है। यह सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय ही वास्तविक श्रोत्रेन्द्रिय है। कर्ण शष्कुली तो उपकरण-मात्र है। सूक्ष्म इन्द्रिय तो प्राणीमात्र की समान है, जो ब्रह्मरन्ध्र में वास करती हैं। सूक्ष्म श्रोत्र ही इस मण्डल

का परिणाम है। सब योनियों के सूक्ष्म श्रोत्रों की आकृति समान है। यह सूक्ष्म श्रोत्र सिवाये 'शब्द सुनने' के अन्य काम नहीं कर सकता। इन स्थूल कर्ण शष्कुलियों की तो आकृति भी एक नहीं, मनुष्य का कान कैसा है। कुत्ते, घोड़े, गधे, बन्दर, हाथी, ऊंट, बिल्ली का कैसा है। सब पशु पक्षियों कीट पतंगों के कान में भेद है। सर्वथा भिन्न-भिन्न आकृति है। यह कान सुनने के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी करता है। कान से कीट निकलता है, जो मारक विष है। कानों से पीप रक्त आदि स्राव भी होता है। यह शरीर का अवयव है, शरीर की पुष्टि से इसकी पुष्टि होती है। उसीसे इसकी रचना हुई। समष्टि श्रोत्र मण्डल से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। समष्टि से तो सूक्ष्म श्रोत की ही उत्पत्ति हुई है। वही स्थूल और सूक्ष्म का भोग प्रधानतया सम्पादन करता है।

इस शब्द धर्म से ही विश्व भर में विद्या ग्रहण, प्रदान, बोल चाल आदि के समस्त व्यवहार चल रहे हैं। सुनने की शक्ति मारे जाने पर आधा जीवन बेकार और नीरस हो जाता है। इस श्रोत्र का विषयाकार परिणाम ही इसका भोग है। जब यह सात्विक अहंकार से परिणाम भाव को प्राप्त होता है तभी इस मण्डल में 'शब्द सुनना' धर्म उत्पन्न होता है। इस समष्टि श्रोत मण्डल में ही ब्रह्म का अध्यारोप करके उपासना करनी चाहिये। और इन ही दोनों का साक्षात्कार भी करना चाहिये।

इसको इस प्रकार अध्यारोप कर उपासना और ज्ञान का विषय बनावें—

"यः श्रोत्रेतिष्ठञ् छ्रोत्रादन्तरो, यं श्रोत्रं न वेद।
यस्य श्रोत्रं शरीरं, यः श्रोत्रमन्तरो यमयति।
एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥"

बृहदा० अ० ३। ब्रा० ६। मं० १९।

— जो भगवान् श्रोत्र के अन्दर निवास करता है। जिसको श्रोत्र नहीं जानता है। जिसका श्रोत्र ही शरीर है। जो श्रोत्र को शब्द आदि सुनने के लिये अन्दर से ही संचालन करता है। शब्द आदि सुनने के लिए प्रवृत्त करता है। वह तेरा अन्तर्यामी भगवान् है। उसकी उपासना और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि वह अमृत रूप है।"

तपस्विन्। ध्यान रखना, यह साधना वैराग्य से ही सफल होगी। यदि शब्द के राग-रंग में फंस गये तो मृग और सर्पवत् मारे जाओगे। योग क्रिया है, तो इन पर शासन करो, इनसे शासित मत होओ यह विरक्ति ही ध्येय तक पहुँचायेगी।

समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(श्रोत्र इन्द्रिय का द्वितीय रूप)

२. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय के स्वरूप में—

समष्टि श्रोत्र मण्डल में जो 'शब्द सुनने' की शक्ति है, इसका और मण्डल का धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध है, और भेद होते हुए भी धर्मी से धर्म का अभेद है। इसको स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं। कर्णेन्द्रिय में जो शब्द सुनने की शक्ति है, वह मण्डल से आयी है, वही सदा इस मण्डल में वर्तमान रहती है। कभी भी अलग नहीं होती। व्यष्टि कर्णेन्द्रिय समष्टि श्रोत मण्डल का परिणाम है। सुनने की शक्ति मण्डल से आयी है।

सुनने की शक्ति का और इन्द्रिय के सम्बन्ध को भी तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। इनके तादात्म्य सम्बन्ध में व्यापक होने से ब्रह्म का विज्ञान भी हो जाता है। जैसे धर्मी में धर्म अनुस्यूत है, इसी प्रकार ब्रह्म भी सर्व-व्यापक रूप से अनुस्यूत है। अतः स्वरूप सम्बन्ध के विज्ञान में ब्रह्म भी उपासना और विज्ञान का विषय वन जाता है। पर वह वैराग्य से परमपुनीत अन्तःकरण का ही स्थिर विषय वनता है। अतः वैराग्य की भावना को उच्चैस्तम और पवित्रतम वना आत्मसात् करते जाइये।

समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल

तृतीय रूप मे ब्रह्म-विज्ञान

(श्रोत्र इन्द्रिय का तृतीय रूप)

३. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय के सूक्ष्म रूप में—

सत्त्व प्रधान अहंकार अन्यों दोनों अहंकारों का सहकारी होते हुए ज्ञानेन्द्रिय मण्डल का उपादान कारण है। अतः यह सामान्य कारण हुआ। और विशेष हुआ श्रोत्रेन्द्रिय मण्डल। इन दोनों का समुदाय ही यह अयुत-सिद्ध द्रव्य होता है। इसका भावर्थ यह है कि सत्त्व-प्रधान अहंकार से श्रोत्रेन्द्रिय मण्डल की उत्पत्ति होती है। और श्रोत्र मण्डल से व्यष्टि श्रोत्र की उत्पत्ति होती है। अपने सूक्ष्म कारण से उत्पन्न होना ही सूक्ष्म अवस्था का द्योतक है। यहाँ कारण से अपने समीप-वर्त्ती सहकारी कारण का बोध होता है। यही श्रोत्रेन्द्रिय मण्डल का सूक्ष्म रूप सिद्ध होता है।

यहाँ समष्टि श्रोत्रेन्द्रिय मण्डल तीनों अहंकारों के भेद रूप से अभेद को प्राप्त एक द्रव्य है। इस मण्डल के निर्माण में तीनों अहंकारों का अनुपात इस प्रकार साक्षात् किया गया है। समष्टि सत्त्वाहंकार-१.५ भाग+समष्टि राजसाहंकार १·३ भाग+समष्टि तामसाहंकार ०·२ भाग=३·०। इस मण्डल में सत्त्व के प्रधान होने से ज्ञान की प्रधानता है। इसीलिये जितना ज्ञान विषय है इसी में अन्तर्निहित हो गया है। तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण की मात्रा अधिक होने से वहुत तीव्र गति से व्यापार रत होती है। इस मण्डल के कारण ही शब्द सुनने की गति अति तीव्र है।

यहाँ कारण और कार्य के सूक्ष्म सम्बन्ध में सूक्ष्म ब्रह्म का भी विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह सूक्ष्म समष्टि श्रोत्र-मण्डल ब्रह्म के ऊपर २०वां आवरण या कोश है इसका भेदन या विज्ञान करके योगी को आगे वढ़ना है। क्योंकि अभी और इससे भी सूक्ष्म अत्यन्त सूक्ष्म आवरण हैं इन सबका भेदन करते हुए विशुद्ध ब्रह्म में या निरावरण में प्रवेश करना है। यह प्रवेश तभी संभव होगा, जब आप प्रकृति से सर्वथा अलिप्त, असक्त, असंग एवं विरक्त होंगे। बिना वैराग्य के यह धारणा सफल नहीं होगी।

समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(श्रोत्र इन्द्रिय का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय के अन्वय रूप में—

प्रकाश, क्रिया, स्थिति रूप स्वभाव वाली प्रकृति का सव कार्यों में अनुगमन या अनुपतन होता आया है। इस समष्टि श्रोत्र मण्डल में भी समष्टि सत्त्व, रजस्, तमस्

तीनों अहंकारों का अनुपतिक सम्मिश्रण के रूप में अनुपतन हुआ है। तीनों समष्टि अहंकारों में महत्तमस् का अनुपतन हुआ। महत्तमस् में मूल प्रकृति अनुपतित हुई। इस प्रकार समष्टि श्रोत्र-मण्डल चौथी अनुपतन अवस्था है। अनुपतन होते-होते यह चौथा अनुपतन परिणाम है। इस अनुपतन में मूल प्रकृति ही अन्वय रूप है। अतः यह श्रोत्र इन्द्रिय की अन्वय अवस्था कहलाती है।

प्रकृति के ज्ञान और क्रिया गुण ही श्रोत्र-मण्डल में विकसित हो उठे हैं। प्रकृति की सत्ता से ही श्रोत्र-मण्डल की सत्ता है। इस प्रकार मूल प्रकृति अपने धर्म और गुणों सहित इस श्रोत्र मण्डल में अनुपतित हुई है। इस क्रमपूर्वक प्राप्त अन्वय में भी ब्रह्म का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यदि मोक्ष की आकांक्षा है, तो पर वैराग्य को सिद्ध कीजिए। सावधान रहिये शब्दाडम्बर की मोहिनी आप को पथ भ्रष्ट न कर पाये।

समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डल

पञ्चम रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

(श्रोत्र इन्द्रिय का पञ्चम रूप)

५. समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय के अर्थवत्त्व रूप में —

यह श्रोत्रेन्द्रिय समष्टि और व्यष्टि रूप में भुक्ति और मुक्ति दोनों ही प्रदान करती है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ शरीर में संघात को प्राप्त होकर भोग और मोक्ष का हेतु बनी हुई हैं। मानव का महान् उपकार भी करती हैं और अपकार भी करती हैं। यदि इन की साथी मन और बुद्धि सुशिक्षित हों तो सदा कल्याण के पथ पर ही ले जाती हैं। वरना नरक के पथ में फेंकने वाली भी हो जाती हैं। कठोपनिषद् में निम्न प्रकार का वर्णन इस विषय में आता है। यथा—

आत्मानं रथिनंविद्धि, शरीरं रथमेवतु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेवच ।।३।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान्स्तेषु गोचरान् ।।
आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं, भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।४।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्य युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।। ५ ।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति, युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणिवश्यानि, सदश्वा इव सारथेः ।। ६ ।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्प दमाप्नोति, संसारञ्चाधिगच्छति ।। ७ ।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
सतु तत्पदमाप्नोति, यस्मा द्भूयो न जायते ।। ८ ।।
विज्ञान-सारथिर्यस्तु, मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति, तद्विष्णोः परम पदम् ।। ९ ।।
इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परंमनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धेरात्मा महान् परः ।। १० ।।

महतः परमव्यक्तम्, व्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्, सा काष्ठा सा परागतिः ।। ११ ।।
एष सर्वेषु भूतेषु, गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया, सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः ।। १२ ।।
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य, वरान्ति बोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता, दुरत्या, दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति ।। १४ ।।
कठो० अ० १ । वल्ली ३ । मं० ३-१२, १४ ।।

भावार्थ—जीवात्मा रथ में सवार होने वाला है। शरीर को रथ समझना चाहिये। बुद्धि सारथि और मन लगाम है ।। ३ ।।

इन्द्रियाँ घोड़े हैं। विषय रूपी सड़क पर गमन करते हैं। शरीर इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को बुद्धिमान लोग भोक्ता कहते हैं ।। ४ ।।

जो अज्ञानी होता है, जिसका मन वश में नहीं रहता, वह बेलगाम के घोड़े के समान होता है। उसकी इन्द्रियां वश में नहीं रह सकती हैं। जैसे शैतान, उद्धत, दुष्ट घोड़े सारथि (कोचवान) के वश में नहीं रहते हैं ।। ५ ।।

जो बुद्धिमान, समझदार विद्वान् समाहित चित्त होता है, और जिसका मन भी वश में होता है। उसकी इन्द्रियाँ भी वश में रहती हैं। उसका सदा इन्द्रियों पर अधिकार रहता है। बिना आज्ञा के किसी भी ज्ञान या कर्म में प्रवृत्त नहीं होने देता है। जैसे सधे हुए अच्छे घोड़ों को सारथि कुमार्ग पर नहीं जाने देता है ।। ६ ।।

जो अज्ञानी हैं, मूर्ख हैं। जिनका मन पर बिलकुल अधिकार नहीं है। सदा विषय-गामी बना रहता है। बुद्धि जिसकी निर्मल नहीं है। वह उस आत्म-ज्ञान, या ब्रह्म-ज्ञान के पद को प्राप्त नहीं हो सकता। पुनः जन्म मरण के चक्कर में पड़ कर संसार में भोग भोगने के लिये आता रहता है ।। ७ ।।

जो विद्वान् योगी और ज्ञानी है। जिसका मन पवित्र है, और वश में है। बुद्धि ऋतंभरा हो गयी हैं। वह महापुरुष ही आत्म-ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वही अपवर्ग का सच्चा अधिकारी है। वह फिर मर कर कभी उत्पन्न नहीं होता है उसको सीधा मोक्ष प्राप्त होता है ।। ८ ।।

जिस शरीर रूपी रथ का बुद्धिमान् सारथि है अर्थात् जिसकी बुद्धिधर्म मेघ समाधि से उज्जवल हो गयी है। मन पर जिसने पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है। इन्द्रियों पर सर्वथा विजय प्राप्त कर ली है, वह योगी उस मोक्ष मार्ग पर चलकर संसार रूपी समुद्र को पार कर के विष्णु भगवान् के सर्व-व्यापक परम पद को प्राप्त कर लेता है ।। ९ ।।

अब आगे इस मोक्ष-मार्ग के क्रम या आत्मा और परमात्मा के पास कहाँ-कहां हो कर पहुंच जाता है, इसे कहते हैं—'इन्द्रियों से परम श्रेष्ठ विषय, और विषयों से परे सूक्ष्म मन और मन से सुक्ष्म बुद्धि, और बुद्धि से परे सूक्ष्म महान् है ।। १० ।।

महान् या महत् से परे अत्यन्त सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति है, और अव्यक्त से परे सूक्ष्म पुरुष है। पुरुष से यहां जीवात्मा और ईश्वर का ग्रहण है। पुरुष से परे सूक्ष्म, या आगे परे कुछ नहीं है। वह ही पराकाष्ठा है और वह पुरुष ही उत्कृष्ट परागति है। ११।

यह पुरुष सब भूतों या प्राणियों में सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ है। दृष्टिगोचर नहीं होता है। अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि वाले ऋतंभरा प्रज्ञा से युक्त होकर समाधि द्वारा उसे प्राप्त कर सकते हैं ।। १२ ।।

अन्त में आचार्य ने नचिकेता को उपदेश देते हुए कहा है "हे मनुष्यो ! उठो ! जागो !! सावधान होकर आत्मज्ञानी और ब्रह्म-ज्ञानी गुरु के पास पहुँचो। आत्म-ज्ञान को प्राप्त करो। यह आत्म-विज्ञान प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त दुस्तर है तेज़ छुरे या तलवार की धार पर चलना तो आसान है, पर इस पर चलना अत्यन्त कठिन है। विद्वान् योगी लोग इसको अत्यन्त कठिन और दुस्तर कहते हैं।

यह समष्टि श्रोत-मण्डल की अर्थवत्ता का वर्णन हुआ। आगे मन के पाँच रूपों का वर्णन होगा। वैराग्य की तीव्रगामिनी गंगा ही सब बाधाओं को हरेगी, इसको सदा ध्यान में रखिये।

इति समष्टि श्रोत्र इन्द्रिय मण्डलम् ।

इति द्वितीयाध्याये पञ्चदशः खण्डः ।

इति चतुर्दशमावरणम् ।।

षोडश खण्ड

१३वां आवरण

सात्त्विक-राजसाहंकारिक सृष्टि

अन्ववतरणिका

समष्टि मनोमण्डल

पाचों रूपों में ब्रह्म-विज्ञान

समष्टि मनो मण्डल सात्त्विक तथा राजस अहंकारों की प्रधानता से परिणाम भाव को प्राप्त हुआ है। तमोगुण स्वल्प मात्रा में है। सत्त्व का परिणाम होने से प्रकाश-मय है। ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा इसका प्रकाश महान् है। इन्द्रियों का प्रकाश तो चमकती छोटी-छोटी तारिकाओं जैसा है। मन तो शुक्र तारे के समान समुज्ज्वल है। इन्द्रियां दसों मिलकर भी जितना कार्य नहीं कर पातीं, जितना यह अकेला करता है। यह स्वयं बुद्धि के भी कार्य करता है, अपने भी और दसों इन्द्रियों को काम में लगाना, उनके आये ज्ञान को बुद्धि के पास भेजना, और उनमें ज्ञान साकर्य न होने देना आदि मन के कार्य हैं। यह सब रजस् परिणाम के कारण हैं। यही सब गुण धर्म इस मनोमण्डल में हैं। मन इतना तीव्रगति से ज्ञान और क्रिया सम्पादन करता है, कि बुद्धि चित्त अहंकार सब को ही मन समझ लिया इसी लिये उपनिषद् ने भी लिख मारा 'मन एव कारणं बन्ध मोक्षयोः' इसी दार्शिनिक विवाद को यहां न उठाकर इतना ही अभिप्रेत है कि मन की गति अतर्कित है। संसार के गति शील पदार्थों में यह सब से अधिक वेगवान् है।

मनोमण्डल का निर्माण भी तीनों समष्टि अहंकारों से हुआ है। सत्त्व और रजस् समान भाग हैं। यही कारण है कि ज्ञान और क्रिया दोनों का सम्पादन अतर्कित द्रुत गति से करता है। दस इन्द्रियों से विषय ग्रहण करता है, चाहे कितनी ही तीव्र गति से ग्रहण करना पड़े, करेगा एक एक ही इन्द्रिय के विषय को, वह काल चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो। चाहे क्षण का १०० वां भाग ही क्यों न हो। इन्द्रियां कितनी ही तीव्रगति से ज्ञान संग्रह करें, यह उतनी ही तीव्र गति से क्रमशः ज्ञानों को ले ले कर बुद्धि को अर्पित करता जायेगा, बुद्धि के तत्काल निर्णय को मन उसे भी उसी तीव्रगति से ग्रहण करेगा, और उसके अनुसार इन्द्रियों को आदेश देता जायेगा। यह आदान प्रदान इतनी तीव्रतम गति से होता है, कि साधारण व्यक्ति के लिये कल्पना में लाना भी कठिन है। यही धर्म इस समष्टि मनोमण्डल में निहित है, जो व्यष्टियों में अभिव्यक्त हुआ है।

मनोमण्डल के इस धर्म का प्रत्यक्ष योगी समाधि में कर सकते हैं। आप भी आगे बढ़िये। साक्षात् कीजिये। यह समष्टि मण्डल भी अब तक वर्णित सब मण्डलों के ऊपर आकाश में वर्त्तमान है। प्रलय काल में ही इसका भी लय मूल प्रकृति में हो जाता है। सृष्टि काल में सूक्ष्म शरीर रचना तथा क्षतिपूर्ति में इसका उपयोग होता है। मुक्तात्माओं के मन भी इसमें सुरक्षित रहते हैं। योगी भी इसी से आकृष्ट कर शरीरों का निर्माण कर सकता है।

अब आगे इस मण्डल की पाँचों अवस्थाओं तथा उनमें ब्रह्मानुभूति के पथ पर वैराग्य का आश्रय ले अग्रसर हूजिये ।

समष्टि मनोमण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि मन का प्रथम रूप)

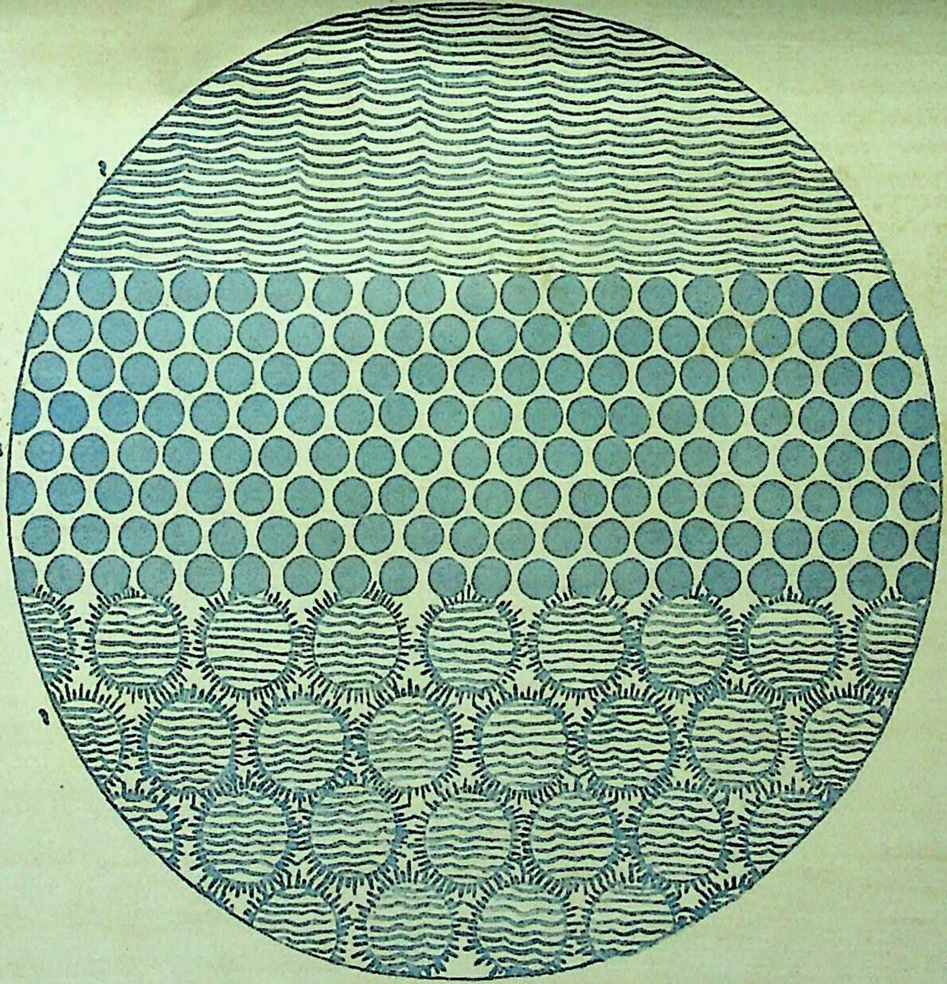
१. समष्टि मन के स्थूल रूप में—

समष्टि मन की उत्पत्ति सात्त्विक राजस अहंकारों की प्रधानता से हुई है। इसमें समष्टि सात्त्विक अहंकार १.४ भाग + समष्टि राजस अहंकार १.४ भाग + समष्टि तामसाहंकार २ भाग = ३.० भाग सम्मिलित हैं। प्रधानतया दोनों सत्त्व और रज ही मिल कर समष्टि मनोमण्डल को उत्पन्न करते हैं। जब समष्टि मण्डल में परिणाम भाव पैदा होता है, तब असंख्यात व्यष्टि मन अपने-अपने धर्मों सहित उत्पन्न हो जाते हैं। इन मनों की संज्ञा व्यष्टि है, यह समष्टि अपने व्यष्टियों का उपादान कारण होता है। इस व्यष्टि मन के धर्म ग्रहण और त्याग, अथवा आदान, प्रदान, और नियोजन ये धर्म मुख्य हैं। इन्हीं धर्मों के कारण यह अन्तः करण का एक भाग होता है। जिसको हम अन्तः करण चतुष्टय नाम से प्रतिपादन करते हैं। मुख्यतः दो पदार्थ इसके समान रूप में उपादान कारण होने से ही इसमें दोनों गुण आये हैं। कर्म और ज्ञानेन्द्रियों को विषयों में नियोजन करना, जोड़ देना, लगा देना, अथवा उदासीन होकर निवृत्त कर देना, या विषयों के साथ सम्बन्ध करा देना, या वहां से हटा देना, या चित्त मण्डल से प्राप्त संस्कारों को अहंकार लेकर, या उठा कर, या धक्का देकर बुद्धि मण्डल की ओर फेंक देता है, उन संस्कारों को लेकर बुद्धि में निर्णय करा कर कर्म के रूप में इन्द्रियों को कर्म कराने में प्रवृत्त करा देना। यह आदान-प्रदान रूप कर्म इस व्यष्टि मन का होता है। कई आचार्यों ने इस समष्टि मन को अध्यारोप करके ईश्वर का मन भी कह दिया है। ईश्वर इस मन को लेकर इस से आगे के स्थूल पदार्थों की रचना करता है। इससे ही करण का कार्य लेता है। सत्त्वाहंकारोत्पन्न ज्ञानेन्द्रियों से विषयों का ज्ञानोपार्जन करा देना इसी की सामर्थ्य है, और राजसाहंकारोत्पन्न कर्मेन्द्रियों से कर्म कराने की सामर्थ्य भी इसी में है।

मन की आवश्यकता

(शंका) मन की आवश्यकता क्या है ? बुद्धि ही स्वयं इन्द्रियों को प्रवृत्त या निवृत्त करा लेगी।

(समाधान) बुद्धि का कार्य केवल निर्णय करने का है। धर्म है या अधर्म, पाप है या पुण्य, अच्छा है या बुरा, यह कर्म करना चाहिये या नहीं। राजा को एक मन्त्री की आवश्यकता होती है, सब कार्य करने में वह समर्थ नहीं होता है। दफतर में एक चपरासी की आवश्यकता होती है, फाइलें इधर-उधर पहुंचाने के लिये। इसी प्रकार मन भी बुद्धि की फाइलें पहुंचाने या लाने का कार्य करता है। बुद्धि से आज्ञा मिली और झट इन्द्रियों को सावधान करके ज्ञान या कर्म में प्रवृत्त करा दिया। इन्द्रियों ने विषयों के रूप में जो कर्म या भोग द्वारा उपार्जन किया, उसी को लेकर निर्णयार्थ बुद्धि में प्रदान कर दिया। जो वहाँ निश्चय हुआ, वह संस्कार के रूप में अहंकार को भेज दिया। अत्यन्त



चित्र सं० १०
समष्टि सत्व रजः अहंकार से अभिमानों की उत्पत्ति

ही तीव्रगति इस मन की है। मालूम होता है कि जैसे यह एक-कालावच्छेदेन सब इन्द्रियों से कर्म करा रहा हो, और बुद्धि के भी सब काम एक ही समय में कर रहा है। परन्तु होता प्रत्येक कार्य क्रम पूर्वक ही है। अतः बुद्धि को भी अपना कार्य कराने के लिये एक करण की आवश्यकता थी। वह करण इस का मन है। इसके बिना बुद्धि का कार्य चल नहीं सकता। इस व्यष्टि मन का विस्तार-पूर्वक वर्णन पूर्व प्रकाशित हमारे ग्रन्थ 'आत्म-विज्ञान' में किया गया है। यहां हमारा ध्येय तो केवल समष्टि मन के वर्णन का है। इसके स्वरूप का दर्शन चित्र नं० १० में करें।*

समष्टि मनोमण्डल अत्यन्त सूक्ष्म है। इसने अपने से पूर्व के सब मण्डलों को आच्छादित किया हुआ है। जब इस में समष्टि सृष्टि सृजन करने की क्रिया दैवात् उत्पन्न होती है तो सारा सूक्ष्म आकाश मण्डल कम्पायमान हो जाता है। बहुत काल तक कम्पायमान रहने के कारण इसमें सूक्ष्म क्रिया बनी रहती है। व्यष्टि मनों का निर्माण अपने अपने गुणों को साथ लिये हुए होने लगता है। ये व्यष्टि मन सूक्ष्म-सूक्ष्म तारिकाओं के समान देदीप्यमान हो कर चमकते हुए आकाश-मण्डल में विभक्त हो जाते हैं। आकाश मण्डल कोई इस मनोमण्डल से अलग नहीं होता है, किन्तु वह अपने गर्भ में व्यष्टि मनो के ठैहरने के लिये अवकाश पैदा कर देता है। सम्पूर्ण विश्व में मानो मनों का ही राज्य हो। यह समष्टि मनोमण्डल २१वां आवरण या कोश भगवान् के ऊपर समझना चाहिये। यह अपनी स्थूलता के कारण ब्रह्म को आच्छादित किये हुए होता है, और सारे विश्व के अन्दर स्वयं अपनी सूक्ष्मता से व्याप्त भी होता है। इसकी इस महान् सूक्ष्मता में उस भगवान् की अन्वेषणा करनी है।

उपनिषद् इस विषय में ऐसा कहती है। यथा—

यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते॥

केन० प्रथम खण्ड। मन्त्र ५।

— जो मन के द्वारा मनन नहीं किया जा सकता है। जाना नहीं जा सकता है। उसके द्वारा मन को जान सकते हैं। उसको ही तुम्हें ब्रह्म समझना चाहिये। और जो तुम अन्य या इस प्रकार की उपासना कर रहे हो, यह ठीक नहीं है।

वह ब्रह्म तो ऐसा है जो तुम्हारे मन का विषय ही नहीं बन सकता है। क्यों कि अभी इसमें इतनी सूक्ष्म-दर्शिता नहीं आयी है कि जो बुद्धि द्वारा ठीक निर्णय करा दे कि वास्तव में ब्रह्म क्या है और कैसा है?

उपनिषत्कार ने और भी कहा है। यथा—

---

* चित्र नं० १० का विवरण—न० १ में समष्टि मन को परिणत होते हुए मन्द मन्द तरङ्गें उत्पन्न करते हुए दिखाया गया है।

न० २ में उत्पन्न हुए हुए मनों की प्रशान्त अवस्था को क्रिया रहित दिखाया गया है।

न० ३ में इन्द्रियों के विषयों से प्रतिबिम्बित व्यष्टि मनों में उत्पन्न होती हुई लहरों या कम्पनों को क्रिया शील होते हुए दिखाया गया है। प्रत्येक व्यष्टि मन भोग और मोक्ष का हेतु होता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

कठ० अध्याय १ । वल्ली २ । मंत्र २४ ।

— जो वैराग्यवान् नहीं है । जिसका मन विषयों से विरक्त नहीं हुआ है । उपरत नहीं हुआ है । जो दुश्चरित्र है । जिस का मन चञ्चल है । जिसका मन समाहित नहीं है । एकाग्र नहीं है । जिसका मन विक्षिप्त है, बिलकुल अशान्त रहता है, इनको वह ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता है । प्राप्त उन ही को होता है जिन में उपरोक्त दोष नहीं हैं । जो वैराग्य-वान् हैं, सचरित्र हैं, जितेन्द्रिय हैं, जिनके मन में चञ्चलता का अभाव है, जिनके मन समाहित हो चुके हैं, कभी भी भूल कर विषयों में नहीं जाते है; जिन की सब प्रकार की विक्षिप्ततायें जाती रहीं हैं । इस प्रकार के जितेन्द्रिय योगियों को विशेष विज्ञान के द्वारा, या सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा ब्रह्म प्राप्त होता है ।

यह मन समष्टि मण्डल विश्व में व्याप्त है । कार्य रूप में व्यष्टि भाव को प्राप्त होता है । तब एक अणु के समान हो जाता है और वह व्यष्टि भी महान् बन जाता है । जब हाथी या ह्वे ल मत्स आदि जन्तुओं के शरीर में प्रवेश करता है । अतः इसमें सङ्कोच और विकास धर्म बना ही रहता है । इसी प्रकार इसके अभिमानी सूक्ष्म शरीर का भी संकोच विकास धर्म बना ही रहता है । इसके लिये योग दर्शन के भाष्यकार ने कहा है "महाश्च भवत्यणुश्च भवति" महान् हो जाता है, और अणु भी हो जाता है ।

इस समष्टि मन के मण्डल में ब्रह्म का आरोप करके उपासना और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये । यह समष्टि मन भी ब्रह्म के ऊपर कोश या आवरण के रूप में है । अतः इस आवरण को हटा कर ही ब्रह्म का प्रत्यक्ष हो सकता है । यद्यपि यह मण्डल अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु ब्रह्म की सूक्ष्मता इससे भी अधिक है । जो मन को ही ब्रह्म समझ कर उपासना करते हैं, उन का मोक्ष इसी मण्डल में होता है । परन्तु योगी को इस से भी आगे बढ़कर, इस आवरण को हटा कर यथार्थ में ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त करना है, क्यों-कि यह भी अहंकार का कार्य होने से बन्धन का हेतु है ।

मानव शरीर में यद्यपि इसका आवास ब्रह्मरन्ध्र में मनोमय कोश में वर्तमान है परञ्च यह अपनी रश्मियों द्वारा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोशों को आच्छादित कर के रखता है । इसकी किरणें सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके रखती हैं । जैसे कोई मनुष्य खड़ा हो और उसके सिर पर एक बिजली का बल्ब जल रहा हो, जैसे उस बल्ब से निकली हुई प्रकाश की किरणें शरीर को आच्छादित कर लेती हैं । इस प्रकार इस मन की रश्मियें भी सब शरीर के कोशों को आच्छादित करके रखती हैं । वैसे इसका कार्य क्षेत्र ब्रह्मरन्ध्र में ही होता है जहाँ इसका आवासस्थान है । इसी प्रकार से ब्रह्म-रन्ध्र से कर्म और ज्ञान इन्द्रियों की ज्योतियाँ निकल कर शरीर को व्याप्त करती हैं ।

समष्टि मनोमण्डल
द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि मन का द्वितीय रूप)

२. समष्टि मन के स्वरूप में—

मन और इसके धर्मों का सम्वाय सम्बन्ध है । मन का परिणाम विशेष आदान-प्रदान और नियोजन ही इसके धर्म हैं, जो कभी इस से पृथक् नहीं होते, क्योंकि धर्म और

धर्मी का अथवा अवयव और अवयवी का अभेद है। जैसे—शरीर और हाथ पैर। शरीर धर्मी है, और हाथ पैर आदि इसके धर्म हैं। सो शरीर से हाथ पैर कोई अलग पदार्थ नहीं हैं। केवल व्यवहार में भेद-रूप से कथन किया जाता है। यहां अभेद में भेद का आरोप किया गया है। भिन्न पदार्थ न होने पर भी, पदार्थ का भेद-रूप से वर्णन करना, विकल्प ज्ञान के अन्तर्गत हो जाता है। अतः मन के धर्मों को मन से अलग नहीं मानना चाहिये। इसी का नाम स्वरूप सम्बन्ध है। मन के इस स्वरूप सम्बन्ध में ब्रह्म का विज्ञान करना चाहिये। समष्टि मन में ब्रह्म का आरोप करके इसकी उपासना और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

उपनिषद ने कहा है। यथा—

"मनसैवेदमाप्तयं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्यु ं गच्छति, य इह नानेव पश्यति।"

कठो०अध्याय २। वल्ली १। मंत्र ११।

— वह ब्रह्म मन (बुद्धि) के द्वारा ही प्राप्त होना चाहिये। इसके विज्ञान के विषय में भिन्न-भिन्न रूप से कुछ भी अवयव आदि या अंश आदि के भेद भाव से दिखना नहीं है। जो व्यक्ति इस ब्रह्म को नाना रूप से या अनेक रूप में देखता है, जांनता है, वह मृत्यु से फिर मृत्यु को प्राप्त होता है। पुनः-पुनः जन्म धारण करता है।

समष्टि मनोमण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि मन का तृतीय रूप)

३. समष्टि मन के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि मनोमण्डल का मुख्य उपादान कारण सत्त्वरजः प्रधान अहंकार है। व्यष्टि मनों का यह समष्टिमण्डल उपादान कारण है। यही यहां मन की सूक्ष्मता का कारण है। यहाँ अहंकार-त्रय सामान्य और मनोमण्डल विशेष का ही समुदाय है। कार्य का कारण के साथ जो सूक्ष्म सम्बन्ध है यही तीसरी सूक्ष्म अवस्था है। कारण से कार्य भाव को प्राप्त होते हुए समाधि द्वारा पदार्थ का प्रत्यक्ष करना और ब्रह्म की व्यापकता का भी साक्षात्कार करना है। सब ओर से वृत्तियों को रोक कर समष्टि मनोमण्डल और ब्रह्म की सूक्ष्मता में प्रवेश करके इनके व्याप्य व्यापक भाव को देखें। पर वैराग्य को सदा दृढ़ बनाये रखें, जिससे मन पथ भ्रष्ट न होने पाये।

मन की एकाग्रता

मन की एकाग्रता अत्यन्त ही आवश्यक है; क्योंकि यह बहुत ही नटखट है। तीव्र गति वाला होने से झट बाहर भाग जाता है। वैराग्य की कमी होने से यह स्थिर नहीं रहता है। वैराग्य से तो अनायास ही स्थिर हो जाता है।

महोपनिषद् में वैराग्य के विषय में कहा है।—यथा

'वैराग्यात पूर्णतामेति, मनो नाश-दशानुगम्।
आशया रक्ततामेति, शरदीव सरोमलम् ॥मं० ७५॥

तमेव भुक्तिविरसं, व्यापारौघं पुनः पुनः।
दिवसे दिवसे कुर्वन, प्राज्ञ : कस्मान्न लज्जते ।।७६।।

महोपनिषद अध्याय: ६ । मं० ७५।७६ ।।

—वैराग्य से ही मन का दमन होता है। आशा तृष्णा से राग युक्त होता है। वैराग्य से मन की शुद्धि ऐसे हो जाती है, जैसे शीत काल में सरोवर निर्मल हो जाता हैं। संसार के व्यवहारों को पुनः-पुनः करता है, नीरस पाता है पुनः करता है, प्रतिदिन करते-करते भी लज्जित नहीं होता है। इसी आसक्ति ने मुक्ति को भी नीरस बनाया हुआ है। ऐसे व्यक्ति को ब्रह्म-ज्ञान में भी आनन्द की अनुभूत नहीं होती है। जो रात-दिन संसार के धन्धों में लगा रहता है, उसको ईश्वर की भक्ति का मार्ग अच्छा नहीं लगता है।"

अन्यत्र भी कहा है। यथा—

'रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित्।'

महो० अ० ६ । मंत्र० ३६ ।

रस्सियों से वन्धा हुआ मनुष्य तो छूट सकता है, परन्तु तृष्णा से बंधा हुआ कोई विरला ही मुक्त हो सकता है।'

जिसके सब संकल्प शान्त हो गये हैं, और जिस की सब तृष्णा समाप्त हो चुकी है। जिसका मन बिलकुल स्थिर हो गया है। वही इस ब्रह्म-विज्ञान को प्राप्त कर सकता है। वही सब प्रकार के दुःखों और क्लेशों से मुक्त हो सकता है। ब्रह्म के विज्ञान और दर्शन में मन का निरोध होना अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके निरुद्ध होने पर इन्द्रियों के सब व्यापार समाप्त हो जाते हैं। इन्द्रियों में इसकी प्रवृत्ति ही बन्ध का हेतु बन जाती है। अतः इसको इसके व्यापारों से मुक्त करना चाहिये। तब ही यह बुद्धि द्वारा ब्रह्म चिन्तन में सहायक हो सकता है।

मुक्तिकोपनिषद् में कहा है। यथा—

'ब्रह्माकार-मनोवृत्ति-प्रवाहोऽहंकृतिं विना।
संप्रज्ञात-समाधिः स्याद्ध्यानाभ्यास प्रकर्षतः ।।५३।।
प्रशान्त-वृत्तिकं चित्तं परमानन्ददायकम्।
असंप्रज्ञातानामयं समाधि र्योगिनां प्रियः ।।५४।।

मुक्तिकोयनिपद् अध्याय २ । मंत्र ५३,५४ ।

—मन की वृत्ति ब्रह्माकार हो। जिस में अहंकार का अभिमान न रहे। जिसमें अहंकार के द्वारा अपना भान भी न हो। अपनी भी विस्मृति हो कर ब्रह्माकर वृत्ति हो जाये। अस्ति का साक्षात्पूर्वक निरन्तर प्रवाह चलता रहे। ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से यह संप्रज्ञात समाधि की अवस्था होती है।५३।।

इस अवसर में मन बुद्धि, अहंकार चित्त की सब वतियां शान्त हो जाती हैं। परमानन्द दायक अवस्था प्राप्त होती है। इसका नाम असंप्रज्ञात समाधि है। यह ब्रह्माकार स्थिति या ब्रह्म में लीनता योगियों को अत्यन्त प्रिय है ।।५४।।'

यह है समष्टि मनोमण्डल की सूक्ष्मता में उस परम सूक्ष्म ब्रह्म का संप्रज्ञात समाधि द्वारा साक्षात्कार।

समष्टि मनोमण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि मन का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि मन के अन्वय रूप में—

प्रकृति के सर्व प्रथम गुण ज्ञान और क्रिया हैं। इनके साथ प्रकृति का सब कार्यों में अनुपतन होता है। समष्टि मनोमय मण्डल में भी गुणों सहित प्रकृति का अनुपतन हुआ है यही इसकी अन्वय रूप चौथी अवस्था है।

(शंका) सत्त्व प्रधान अहंकार की मुख्यता से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है, इसलिये उनको ज्ञान-प्रधान माना है; और रजः प्रधान अहंकार की मुख्यता से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है, इसलिये उन्हें कर्म प्रधान कहा है; इन्हीं दोनों अहंकारों की प्रधानता से मन की उत्पत्ति हुई है, तो इसको ज्ञान और कर्म प्रधान क्यों न माना जाये, केवल कर्म ही क्यों माना है?

(समाधान) इन्द्रियों में ज्ञान और कर्म की प्रधानता का तो यह तात्पर्य है कि कर्मेन्द्रिय केवल आटोमैटिक रूप से कर्म ही करती हैं, उनको यह पता नहीं होता कि हम क्या कर्म कर रही हैं। इसका परिणाम यह है कि कर्म करना ही उनका कर्तव्य है 'इस कर्म का क्या फल है? यह पाप युक्त है या पुण्य युक्त है? यह धर्मात्मक है या अधर्मात्मक ?'—यह कुछ वे नहीं विचारतीं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी केवल ज्ञान का साधन हैं। पुण्यापुण्य या विशेष विवेचन का नहीं। जैसे- ज्ञानेन्द्रिय नेत्र केवल रूप को ही दिखाता है। रूप को देखना, है तो वहाँ ज्ञान ही, परन्तु नेत्र यह नहीं बताता है कि यह रूप काला, पीला, नीला, सफेद, लाल हरा इत्यादि किस प्रकार का है। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय भी यह नहीं बताती कि किस की गन्ध है, जायफल, जावित्री, केसर, कस्तूरी या अन्य किसी पुष्प आदि की? केवल गन्ध ग्रहण करना इसका कार्य है। यह भी एक प्रकार से है तो ज्ञानात्मक ही परन्तु विवेचनात्मक ज्ञान नहीं है। इस प्रकार का विज्ञान पूर्वक यथार्थ निर्णय करना यह बुद्धि का धर्म है। ज्ञानेन्द्रियों का धर्म केवल रूप या गन्ध को ग्रहण करना ही है। इसको हम सामान्य ज्ञान कह सकते हैं; जिससे हमारा कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। जब तक बुद्धि का निर्णयात्मक विज्ञान अपनी निश्चायक मोहर न लगा दे, कि अमुक रूप है या अमुक गन्ध है, तब तक नेत्र रूप को देखते हुए भी रूप का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकते हैं। यह निर्णयात्मक विज्ञान बुद्धि का ही होता है। गन्ध या रूप को सूंघना, देखना, है तो कुछ ज्ञान ही, परन्तु व्यर्थ सिद्ध होता है, जब तक बुद्धि अपना निर्णय न दे दे। मन को इसी लिये कर्म प्रधान कहा है कि यह नेत्र को कर्म करने में नियोजित तो कर देता है। जैसे सामान्य रूप से नेत्र रूप को देख रहा है, वैसे मन भी सामान्य रूप से साथ मिला हुआ देख रहा है, परन्तु मन भी यह तो निर्णय नहीं कर सका कि रूप कैसा है, किसका है, काला है या पीला इत्यादि, ऐसे ही गन्ध कैसी है, किस की है। यह निर्णय न देने से इसे कर्म प्रधान ही कहा गया है। यदि यही रस रूप गन्ध आदि का निर्णय कर देता, तब तो बुद्धि की भी आवश्यकता न रहती। परन्तु यह तो निर्णय देता ही नहीं है। निर्णय तो बुद्धि ही देती है। इसीलिये बुद्धि को ज्ञान प्रधान कहा है। अतः ज्ञानेन्द्रियों

का ज्ञान का यह अभिप्राय नहीं है कि वे रूपादि को देखती हैं, और बता दें कि अमुक रूप आदि है। देखो ! यदि बुद्धि किसी चिन्तन में लगी हो और नेत्र खुले हों, तो उस समय नेत्र देखते हुए भी नहीं देखते हैं। अथवा नासिका का यह न बता सकना कि अमुक प्रकार की गन्ध है, उसका एक प्रकार से कर्म सा होकर रह जाता है। हाँ ! कर्मेन्द्रियों के सामान कर्म नही हैं। बुद्धि के समान ज्ञान भी नहीं है। दोनों की बीच की अवस्था वाली ज्ञानेन्द्रियां हैं। बुद्धि इनके प्रेषित ज्ञान के बिना गन्धरस, रूप का निर्णय नहीं दे सकती है। अतः बुद्धि के विज्ञानात्मक निर्णय में ज्ञानेन्द्रियाँ सहायक हैं साक्षात् रूप से स्वयं ज्ञान करने में समर्थ नहीं हैं। मन तो केवल बुद्धि का सन्देश-वाहक है। कर्म और ज्ञानेन्द्रियों को प्रवृत्त करने में मददगार है। कुछ थोड़ा सा ज्ञानेन्द्रियों के समान ज्ञान भी इसे है। कर्म करने की प्रवृत्ति इसकी ही है। इसीलिये इसको उभयात्मक कहा है कारण भी इसके मुख्यतया सत्त्व-रजः प्रधान अहंकार हैं। और कार्य भी इसके ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय के प्रेरणात्मक ही हैं, अतः बुद्धि की अपेक्षा इसे कर्म प्रधान कहना ही उचित है। कारण और कार्यात्मक समष्टि व्यष्टि मनों की इस अन्वय अवस्था का प्रत्यक्ष करते हुए, इस अवस्था के निमित्त भगवान् के सन्निधान का भी प्रत्यक्ष करना चाहिये। वैराग्य से पवित्र आत्मा ही इस ब्रह्म दर्शक को स्थिर रख सकेगी। मल रहित पात्र में ही दूध-दही अविकृत रहता है। अतः आत्मा को वैराग्य से पवित्र बनाये रखिये, अत्यन्त सावधान रहिये कहीं मन का मैल इसे मैला न कर दे।

समष्टि मनोमण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि मन का पञ्चम रूप)

५. समष्टि मन के अर्थवत्त्व रूप में—

यह समष्टि मनोमण्डल जीवों को भोग कर्म और मोक्ष प्रदान करने के लिये इस ब्राह्मी चेतन सत्ता के निमित्त से सूक्ष्म क्रिया द्वारा क्षोभ को प्राप्त होकर व्यष्टि मनों का निर्माण करता है। परिणाम भाव को प्राप्त हुए व्यष्टि मन अपने धर्मों के सहित उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् पूर्व उत्पन्न हुए चित, अहंकार और बुद्धि के साथ संघात को प्राप्त होकर अन्तःकरण चतुष्टय के रूप में पूर्व धर्माधर्म संस्कारों से युक्त होकर जीवात्मा के भोग और मोक्ष प्रदान करने के लिये उसके साथ प्रस्तुत होते हैं। यह इस मन की अर्थवत्ता का मुख्य हेतु है।

(शंका) समष्टि मनोमण्डल क्या सारे का सारा एक दम व्यष्टि मनों के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होकर खतम हो जाता है, या उसका कुछ अंश कारण रूप में बना भी रहता है ?

(समाधान) उस समय जितने मनों की आवश्यकता होती है, उतने ही अंश का परिणाम होता है। शेष कारण रूप में पड़ा रहता है। आवश्यकता होने पर पुनः सृजन कर देता है। जैसे मिट्टी का पहाड़ बे अन्त पड़ा है, कुम्हार को अपने बरतनों के लिये जितनी मिट्टी की आवश्यकता होती है उतनी ही उस पहाड़ से लेकर बनाता है। एक दम सारे पहाड़ की मिट्टी को लेकर तो बनाने नहीं लगता है। ऐसे ही वैज्ञानिकों को जितनी धातुओं की जरूरत होती है, उतनी ही निकाल कर अपने कार्यों में लाते हैं, शेष धातुएं पृथिवी के गर्भ में पड़ी रहती हैं।

योगियों का अभाव

योग दर्शनकार ने एक सूत्र दिया है, जिसमें योगी का प्रकृति या उसके कार्यों पर अधिकार बताया है। यथा—

'निर्माण चित्तान्यस्मिता-मात्रात् ।'

योग० पाद ४ । सू० ४ ।

—भाष्यकार ने शंका उठाई थी, कि जब योगी भूतों पर अधिकार हो जाने से बहुत से शरीरों का स्वयं निर्माण कर लेता है तो वे शरीर एक मन वाले होते हैं या अनेक मन वाले । इसके उत्तर में यह सूत्र है। भाष्यकार व्यास महर्षि ने इसका अर्थ किया है—

"अस्मिता-मात्र जो चित्त का उपादान कारण है, योगी उसको ग्रहण कर बहुत से चित्तों का निर्माण कर लेता है। इस लिये प्रत्येक शरीर चित्त वाला होता है।

इसके आगे एक और सूत्र दिया है । यथा

प्रवृत्ति भेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।

योग० पा० ४ । सू० ५ ॥

प्रवृत्ति के भेद से सब चित्तों का प्रयोजक-नियामक एक ही चित्त होता है, जो कि सब का नायक होता है ।"

यहाँ यह दिखाना अभीष्ट है कि यदि उपादान रूप में समष्टि मनोमण्डल का शेष न रहा होता, तो योगी चित्तों को कहाँ से बनाता । अतः सम्पूर्ण मंण्डलों का कारण के रूप में रहना आवश्यक ही है । जितनी आवश्यकता होती है उनता ही अंश उपादान कारण से ले लिया जाता है ।

इस प्रकार के योगियों का वर्त्तमान में अभाव है । जो इस प्रकार शरीरों और अन्तः करणों का निर्माण करलें । यदि हमें इस प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ तो यह तो हमारी कमज़ोरी की बात है । शास्त्र को हम मिथ्या नहीं कह सकते । आज से ५० वर्ष पूर्व हवाई जहाजों, परमाणु बम्बों, राकेटों, रेडियों आदि अनेक यन्त्रों का अभाव था । अब सामने वर्त्तमान हैं । सब प्रकार की विद्याओं का कभी २ युग होता है । कभी काल वशात् नष्ट हो जाती हैं । संसार में कोई भी बात या कार्य असंभव नहीं है । समय समय पर सब ही संभव होते रहते हैं ।

इसी प्रकार की योग दर्शन में और भी सिद्धियां हैं, जैसे पर काया प्रवेश या अणिमादि सिद्धियां । इन विद्याओं का वर्तमान में अभाव सा ही है । योगी इन के विषय में आलस्यवान्, प्रमादी, या अकर्मण्य होकर रह जाते हैं । विशेष यत्न नहीं करते हैं । वरना असंभव तो कोई बात भी नहीं है । भूत-काल में किसी युग में इन विद्याओं की और सिद्धियों की प्रधानता रही है । इसी कारण योग दर्शन ने उनका उल्लेख किया है, जो सब ही यथार्थ है । उसमें से बहुतों का हमने भी क्रियात्मक अनुभव करके देखा है।

यह मन की अर्थवत्ता का वर्णन हुआ । इस समष्टि मनोमण्डल में ब्रह्म का अध्यारोप करके इसकी उपासना और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

इस समष्टि और व्यष्टि मन के साक्षात्कार का एक अन्य वर्णन उपनिषद् के आधार पर करते हैं । जो इस उपासना और विज्ञान का बहुत ही अच्छा साधन है । यथा—

"यो मनसि तिष्ठन्, मनसोऽन्तरो,
यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीरम्
यो मनोऽन्तरो यमयति,
एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥
वृहदारण्यक० अ० ३ । ब्रा० ७ । मं० २० ॥

योगी को चाहिये कि जो ईश्वर मन के अन्दर अपनी सूक्ष्मता और व्यापकता के कारण निवास कर रहा है, जिसको यह मन नहीं जानता है, परन्तु जिस ईश्वर का यह मन ही शरीर बना हुआ है, इस मन रूपी शरीर में भगवान् का आरोप करके आलंकारिक रूप से इसको शरीरी के रूप में कथन किया गया है । इस प्रकार इस मन रूपी शरीर को भगवान् का मन्दिर या निवास स्थान मान कर उपासना और विज्ञान का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है । कितना हृदय ग्राही साधन है । इससे भगवान् को मिलने या प्राप्त करने के लिये योगी को, भक्त को, इतस्ततः भटकना नहीं पड़ता है । वह अपने अन्दर ही भगवान् का साक्षात् कर लेता है ।

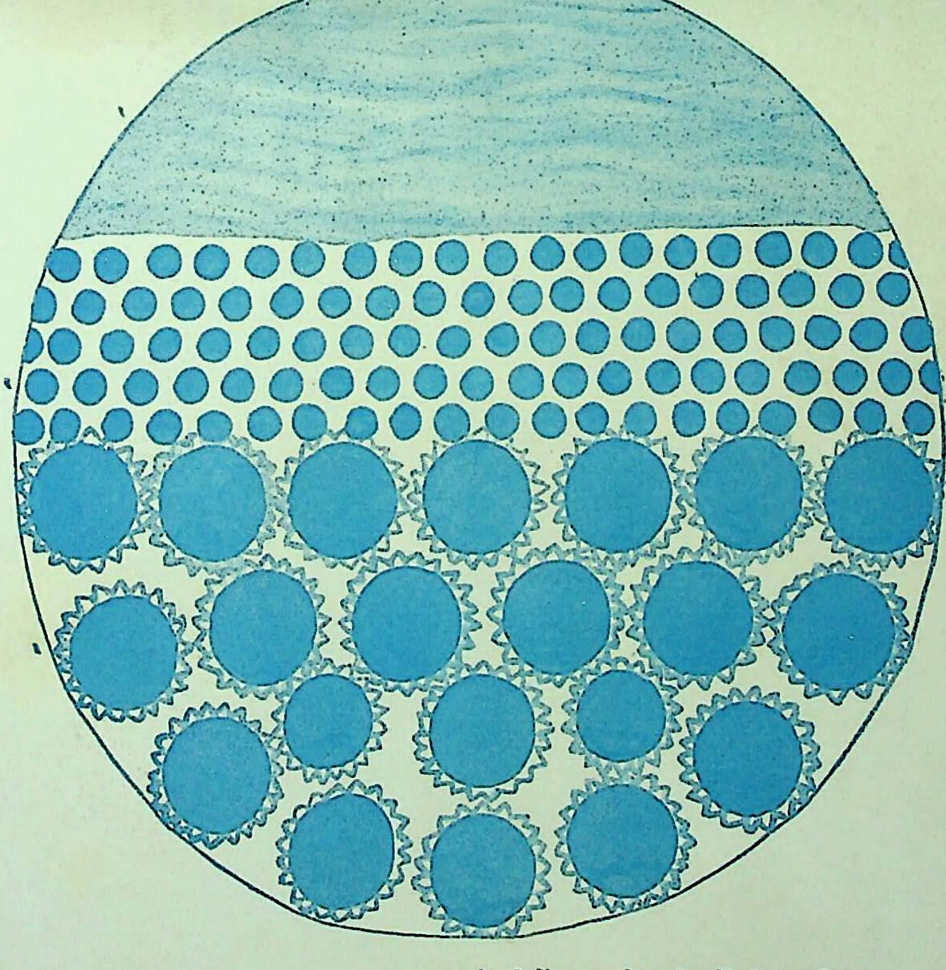
शरीर के वर्णन करने के पश्चात् बताया है कि वह भगवान् इस मन को अन्दर से ही क्रिया कराता है और कार्य में नियोजन का हेतु चेतनत्वेन होता है । यही तेरा अन्तर्यामी भगवान् है जो तेरे सब पाप पुण्यों एवं धर्मार्थों का ज्ञाता है । वह ही अमृत रूप है । अतः इस अमृत का पान समाधि द्वारा करना चाहिये, जिससे परमानन्द की प्राप्ति होगी ।

विपरीत क्रम क्यों ?

इस दूसरे अध्याय में अहंकारिक समष्टि सृष्टि की उत्पत्ति और उसके कार्यों का वर्णन किया गया है । इन सब पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक मानकर इनमें उपासना और ब्रह्म-विज्ञान का भी विधान किया है । इन पदार्थों की उत्पत्ति अहंकारों से हुई है । यह सब ब्राह्मी सृष्टि है । इसको ब्रह्म ही निर्माण करता है ।

वास्तव में तो सृष्टि का क्रम तो ऊपर से अर्थात् मूल-प्रकृति से आरम्भ होता है । वहीं से ग्रन्थ आरम्भ होना चाहिये था । परन्तु इस क्रम में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों का आरम्भ में ही वर्णन होने से सर्व साधारण की समझ में आना कठिन हो जाता । इसलिये हमने स्थूल भूतों से उपासना और विज्ञान को प्रारम्भ किया, जो कि सर्व साधारण की समझ में भी आ सकता है क्योंकि सब के प्रत्यक्ष का विषय है । पञ्चभूत प्रत्यक्ष हैं । इन में या इनके द्वारा उपासना और विज्ञान की बात शीघ्र ही समझ में आ जाती है । विज्ञान के विषय को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने से पदार्थ सरलता एवं सुगमता से समझ में आ सकते हैं, और इस क्रम से विज्ञान भी प्राप्त हो जाता है । अतः विपरीत क्रम पूर्वक अब तक २१ पदार्थों का वर्णन किया गया है । प्रत्येक में उपासना और विज्ञान का क्रम है । ये पदार्थ एक प्रकार से ब्रह्म के ऊपर आवरण या कोश के रूप में हैं और हैं ये प्रकृति के कार्य । इन कोशों का संभेदन ध्यान समाधि द्वारा करना होता है । इस प्रकार उनमें ब्रह्म का साक्षात्कार भी होता जाता है ।

यही क्रम पदार्थों और ब्रह्म-विज्ञान का सर्वश्रेष्ट साधन है, क्योंकि भगवान् किसी देश विशेष में तो बैठा ही नहीं है । ये समष्टि पदार्थ ही वास्तव में उस ब्रह्म के घर या



चित्र संख्या ११ समस्टि महत [illegible]ों प्रकार के अहंकारों की उत्पत्ति

निवास स्थान हैं, और भगवान् इन सब का निवास स्थान है । यदि किसी मार्ग पर ही चल कर वह प्राप्त होना है तो उसके मिलने का मार्ग और क्रम यही यथार्थ प्रतीत होता है भगवान् सर्व देशी हैं । अतः यह पदार्थ ही उसका देश हो सकते हैं । इन्हीं देशों में उस की गवेषणा करनी है । इन्हीं में उसे प्राप्त करना है ।

वह अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म है । तभी तो हम स्थूल से सूक्ष्म पदार्थों में गमन करते हुए उसे प्राप्त कर सकते हैं। जब वह सर्वत्र विद्यमान है, तो उसकी अनुभूति प्रत्येक पदार्थ में होनी चाहिये । इसीलिये इस क्रम और साधना को अपनाया गया है ।

इन २१ पदार्थों मं से प्रत्येक पदार्थ की पांच-पाँच अवस्थाओं में और प्रत्येक के परिणाम क्रम में ब्रह्म की अनुभूति का उल्लेख किया है । जिस से पदार्थ के स्वरूप और साथ-साथ ब्रह्म के स्वरूप का भी साक्षात्कार हो जाता है । साथ-साथ परवैराग्य की अनिवार्यता का भी प्रतिपादन किया है क्योंकि मोक्ष के प्रति परवैराग्य की ही मुख्य कारणता है ।

अहंकारिक सृष्टि

व्यष्टि अहंकार

व्यष्टि अहंकार अहंकारिक सृष्टि का अन्तिम चरण है । व्यष्टि अहंकार की उत्पत्ति अहंकारों की समष्टि के निम्न अनुपात से हुई है । समष्टि सात्विक अहंकार ०.८ भाग+समष्टि राजस अहंकार ०.६ भाग+समष्टि तामस अहंकार १.३ भाग=३.०। समष्टि तीनों अहंकारों के मण्डल पृथक्-पृथक् हैं ही, इसलिये पृथक् समष्टि अहंकार मण्डल की कोई तुक नहीं । इन तीनों के अनुपातिक सम्मिश्रण से यह उत्पन्न हुआ है जैसे चित्त बुद्धि महत् सत्त्व, महत्रज से उत्पन्न होकर अपने-अपने व्यष्टि रूप रखते हैं, ऐसे ही तीनों अहंकारिक मण्डल भी व्यष्टि अहंकारों को उत्पन्न करते हैं । यह व्यष्टि अहंकार अपने साथ सब धर्मों को ले कर उत्पन्न होते हैं । चित्र सं० ११ में देखें ।

अभिमान, ममेदम्, अनुद्भूत प्रकाश, आदान-प्रदान, अभिमानात्मक कर्म तथा संस्कारों को उलट-पलट करना, संस्कारों का चित्त और बुद्धि में आदान-प्रदान करना इस अहंकार के गुण हैं । इसके ये अभिमानात्मक कर्म ज्ञान पूर्वक नहीं होते हैं । इसको तो यह भी पता नहीं होता कि में अभिमान कर रहा हूँ । ज्ञान प्रधान चित्त ही इसकी अभिमानात्मक वृत्ति द्वारा सब कार्य करा रहा है । यह अहंकार तो चित्त का सन्देश-

---

चित्र संख्या ११ में न०१ में समष्टि अहंकारों में विशेष क्षोभ के उत्पन्न होने पर परिणाम द्वारा व्यष्टि अहंकारों की उत्पत्ति दिखाई गई है । नं० २ में तीनों अहंकारों ने मिलकर विशेष क्रिया द्वारा व्यष्टि अहँकारों को उत्पन्न किया है । जिनकी अवस्था शान्त और स्थिर है ये प्रत्येक व्यक्ति में संयुक्त होकर भोग और अपवर्ग के हेतु बनने जा रहे हैं । न० ३ में प्रत्येक मानव में प्रवेश करके अथवा स्थूल/सूक्ष्म शरीर में क्रियाशील हो कर ममेदम या अहमस्मि का बोध कराने में या भोग अपवर्ग सम्पादन करने में प्रवृत हुए हुए हैं । यहां तीनों अहंकारों के कारण कार्य सर्व रूप न दिखाकर केवल मात्रा एक ही स्वरूप दिखाया गया है । चित्र संख्या अधिक न हो जाने के कारण से । यहाँ तीनों अहंकारों ने मिलकर व्यष्टि अहंकारों को उत्पन्न किया है।

वाहक है। चित्त का इसके विना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। यह चित्त का अत्यन्त ही समीपस्थ अनुचर के समान है। अहंकार जहां बन्ध का हेतु है, वहाँ आत्म साक्षात्कार का भी कारण है। इसके द्वारा ही तो आत्मा को अहमस्मि का बोध होता है। आत्मा को एतद्विशिष्ट होने पर ही स्वरूप का बोध होता है। अन्यथा आत्मा स्वरूप का बोध नहीं कर सकता। इसीलिये यह आत्मा के बन्ध और मोक्ष दोनों का हेतु है।

स्वर्गवासी आकाशगामी देवता भी इसके आधार पर स्वर्ग के सुखों का उपभोग करते हैं। पृथिवी मण्डल पर वास करने वाले सब प्राणी भी इसी के आधार पर इस लोक के सुख भोगते हैं। सब प्राणियों को देह का अध्यास इसी के द्वारा बना हुआ है। इसने सब जीवों को अपना दास वना रखा है। सब क्लेशों की जड़ों को यह दृढ़ वनाये रखता है। छः प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म दुःखों को यही दृढ़ वनाता है। इनकी नीव को मजबूत करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह इसी की उपज है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश को यही दृढ़ करता है। सदा इनका पोषण भी करता रहता है। स्वयं जड़ होते हुए भी चेतन आत्मा से वलवान् बना हुआ है। इसी कारण आत्मा को बान्ध कर रखा हुआ है। यथाच—

'कस्तरति ? कस्तरति मायाम् ? यःसन्गान्स्त्यजति,
यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ।।

नारद भक्ति सूत्र। सूत्र ४६ ।।

— सूत्रकार स्वयं ही शंका उठाकर समाधान करते हैं। 'कौन माया को, अविद्या को, प्रकृति को, या भव सागर को पार कर सकता है ?

दो बार इस प्रश्न को बल पूर्वक दोहराया गया है। उत्तर देते हैं—

जो सांसारिक प्रवृत्त्यात्मक सर्व प्रकार के संगों को त्याग करता है, और योग वित् आत्म-ज्ञानी महानुभाव का संग करता है, उसकी सेवा करता है। जो सब प्रकार की ममता को छोड़ अहंकार रहित होता है, वह भी भवसागर को पार करता है।'

श्रीमद् भगवद् गीता में भी इस प्रकार कहा है। यथा—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रकरुण एवच।
निर्ममो निरहंकार समदुःखसुखः क्षमी ।।

अध्याय १२। श्लोक १३।

अहंकारबलं दर्पं, कामक्रोधपरिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो, ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

अध्याय १८। श्लोक ५३।

— जो योगी सर्व प्राणियों के साथ वैर भाव को त्याग कर मित्र भाव से, दया भाव से व्यवहार करता है। सर्व प्रकार की ममता छोड़, सब प्रकार के अभिमान-अहंकार से रहित हो, सुख दुःख को समान समझ, सदा क्षमावान् होता है, अहंकार, बल, दर्प, काम क्रोध, परिग्रह, ममता को छोड़ सदा शान्त रहता है वह ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

इन दोनों श्लोकों में मुख्य रूप से अहंकार का ही त्याग बताया है। अतः योगी को चाहिये कि अहंकार के कारण और उस में व्यापक ब्रह्म का साक्षात् करे।

इस व्यष्टि अहंकार के कारण समस्तविश्व में ठहरे हुए है सर्व प्रथम यह बीज रूप से प्रकृति के गर्भ में थे। तभी तो यह प्रकृति देवी 'एको हं, बहुस्याम' की भावना को लेकर परिणामोन्मुख हुई और इस श्रुति को भी चरितार्थ किया—

'अजामेकां' लोहित कृष्ण शुक्लां,
बह्वीः प्रजाः सृजमाना स्वरूपाः।'

—उत्पन्न न होने वाली, सदा नित्य अकेली,—लोहित=रजोगुण शुक्ल=सत्त्व गुण कृष्ण=तमोगुण—इन तीनों गुणों वाली मैं अनेक प्रजाओं को अपने समान रूप में सृजन करू' इस भावना वाली' इत्यादि अनेक उद्धरणो से स्पष्ट है कि कारण रूप प्रकृति में ही यह अहंकार मौजूद था। सर्वपदार्थों का उपादान मूल कारण यह प्रकृति देवी अपने कार्यों की साथ में लेकर पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करती है। इस विषय में सांख्य ने कहा है—

'संहत-परार्थत्वात् पुरुषस्य'

सांख्य० अ० १। सूत्र. ६६।

—प्रकृति अपने सब कार्यों को साथ में लेकर पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होती है। पुरुष का प्रयोजन है भोग और अपवर्ग।' अन्यच्च—

'रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयति एकरूपेण।।

सांख्य० अ० ३। सू० ७३।

—प्रधान-प्रकृति अपने सात रूपों से आत्मा को बान्धती है। सात रूप ये हैं+१. धर्म, २. वैराग्य ३. ऐश्वर्य ४. अधर्म ५. अज्ञान ६, अवैराग्य ७. अनैश्वर्य। इन अपने गुणों से आत्मा को बान्धकर रखती है। जैसे रेशम की कीड़ा कोश से बन्ध जाता है। केवल एक गुण इस में आत्मा को मुक्त करने का है। वह है तत्त्व-ज्ञान। इस विषय में यह सूत्र दिया है—

'विवेकान्निःशेषदुःख-निवृत्तौकृतकृत्यो नेतरान्नेतरात्।'

सांख्य० अ. ३। सू० ८४।।

—विवेक से सम्पूर्ण दुःख की निवृत्ति होती है, और पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। इस से भिन्न और कोई उपाय नहीं है। इससे भिन्न और उपाय नहीं है।'

अहंकार और उसके कारण ही आत्मा के भोग और अपवर्ग का हेतु हैं। इस अहंकार के अनेक गुण रूप दोष बन्ध के हेतु होते हैं। 'अहमस्मि' के द्वारा आत्मा को स्वरूप का बोध कराना' केवल यही इस में एक गुण है। जीवात्मा चित्त रूपी दर्पन में अहम् वृत्ति से जब अपने स्वरूप को प्रतिबिम्बित देखता है, तब ही इसे अहंकार विशिष्ट अपने स्वरूप का बोध होता है। यह अस्मिता वृत्ति ही आत्मा के साक्षात्कार का हेतु बन जाती है। अन्यथा आत्मा के पास स्वरूप साक्षात्कार का और कोई साधन नहीं है। प्रारम्भ में बन्ध का कारण भी यही हुआ, और अन्त में भी यही अहंकार मोक्ष का कारण हुआ। इस अस्मिता रूप अहंकार में ही आत्म दर्शन की योग्यता है।

(शंका) 'निर्माणचित्तान्यस्मिता मात्रात्' योग दर्शन या० ४। सू० ४। इस सूत्र के आधार पर अस्मिता से चित्तों की उत्पत्ति योगी कर लेता है, परन्तु आप कहते हैं, व्यष्टि चित्त का उपादान कारण समष्टि चित्त मण्डल है ?

(समाधान) सांख्य दर्शन कार ने 'प्रकृते महान्, महतो हंकारः०' अ० १। सूत्र ६१॥ इस सूत्र में महत् से अहंकार की उत्पत्ति कही है। ये बुद्धि और चित्त को एक ही मानते हैं। इसलिये इनके मत में अन्तः करण तीन ही हैं। महत् ही इनके मत में बुद्धि और चित्त भी है। यही महत् अहंकार का कारण है।

हमारे विचार में तो अस्मिता रूप अहंकार चित्त का कारण नहीं है। व्यास भाष्यकार ने इस सूत्र का अर्थ यह किया है—'अस्मिता-मात्रंचित्तमुपादायनिर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति।' इस भाष्य की पंक्ति में चित्त का विशेषण 'अस्मिता-मात्रम्' है। यहाँ भी अस्मितामात्र ही चित्त का उपादान कारण गृहीत हुआ है। बालक राम ने भी 'अस्मितामात्रात्' का अर्थ अहंकार ही किया है। टीकाकारों ने भी अस्मिता =अहंकार को ही उपादान कारण माना है। परन्तु हमारे सिद्धान्त में चित्त का कारण महत्त्व या महत्सत्त्व ही है। अस्मिता मात्र को अभिमान-वृत्ति मान कर अर्थ कर लिया जाये तब ठीक है। वास्तव में जिस का जो कारण है उसी से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये। कारणाभावात् कार्याभावः। योगसूत्र—'विशेषाविशेष लिङ्गमात्रालिङ्गानिगुण-पर्वाणि। (पाद० २। सूत्र० १६) में भी १६ विशेष कार्य माने हैं। और ६ अविशेष कार्य माने हैं। यहाँ भी ६ अविशेषों में अहंकार महत्त्व का कार्य है। और सांख्य ने भी 'महतो ऽहंकारः' कहा है। व्यास भाष्यकार ने शंका उठाते हुए कहा है, 'यदा तु योगी बहून कायान् निर्मिमिते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्ति अथानेकमनस्का इति।'—जो योगी योग बल से बहुत शरीरों का निर्माण करता है, तब वे शरीर एक मन वाले होते हैं या अनेक मनवाले।' यहाँ शंका मन के विषय में ही है। तब सूत्र में जो चित्त पाठ है इस चित्त का अर्थ मन ही करना चाहिये। तब कोई भी शंका नहीं हो सकती है। मन का उपादान कारण तो है ही अहंकार। परन्तु चित्त शब्द के विषय में किसी ने भी शंका नहीं उठाई है। अतः हमारे विचार में चित्त शब्द का अर्थ मन ही करना चाहिये। क्योंकि सांख्य और योग के भाष्यकारों ने अनेक स्थानों में चित्त बुद्धि का अर्थ मन ही किया है, अर्थात् अस्मिता रूप वृत्ति से मन का निर्माण करता है। अतः यहाँ चित्त का अर्थ मन ही ग्रहण करना चाहिये। तब सूत्र की संगति ठीक बैठ जाती है। और कोई भी शंका उपस्थित नहीं होती है।

इति व्यष्टि अहंकार प्रकरणम्।

इति द्वितीयाध्याये षोडशः खण्डः।

इति त्रयोदशमावरणम्।

द्वितीयो ऽध्यायः समाप्तः॥

तृतीय अध्याय

समष्टि महत् त्रिगुणत्मक सृष्टि

योगिन् ! द्वितीय अध्याय में व्याख्यात अहंकारिक सृष्टि के समष्टि मण्डलों का साक्षात्कार कर लिया है, और जिसके सन्निधान से यह परिणाम चक्र चलायमान है उस पर ब्रह्म की भी परदों में से झांकी ले ली है। अन्य आवरणों के व्यवधान को भी हटाने के लिये अब समष्टि-त्रिगुणात्मक सृष्टि में भी प्रवेश कीजिये।

समष्टि महत्सत्त्व, समष्टि महत् रजस् और समष्टि महत्तमस् के समष्टि मण्डलों के आनुपातिक सम्मिश्रण से यह समष्टि त्रिगुणात्मक सृष्टि हुई है। सृष्टि क्रमानुसार इस का क्रम इस प्रकार है—

१. समष्टि चित्त मण्डल २. समष्टि बुद्धि मण्डल ३. समष्टि सात्त्विकाहंकार मण्डल ४. समष्टि राजसाहंकार मण्डल ५. समष्टि तामसाहंकार मण्डल। स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने के कारण पहले ५ वें समष्टि तामसाहंकार मडण्ल आदि के क्रम से व्याख्यान किया जायेगा। इन पांचों का उपादान कारण समष्टि महत् तीनों गुण हैं। इस लिये यह समष्टि-महत् त्रिगुणात्मक सृष्टि कहलाती है।

५. ४. ३. संख्या वाले समष्टि तीनों अहंकार मण्डल हैं। इन तीनों के आनुपातिक त्रयी-करण से दूसरे अध्याय में वर्णित १६ समष्टि मण्डलों की उत्पत्ति हुई है, और १७ वे व्यष्टि अहंकारों की भी इन्हीं से उत्पत्ति हुई है। अब इस तीसरे अध्याय में इन तीनों अहंकारों का सुस्पष्ट वर्णन होगा, जो इनके गुण, धर्म, कार्य, भोग और अपवर्ग की निमित्तता दर्शायेगा। इसी प्रकार समष्टि बुद्धि मण्डल और समष्टि चित्त मण्डल का भी ऊहापोह किया जायेगा। इन पांचों के पांचों रूपों का भी दिग्दर्शन कराया जायेगा। इन पच्चीसों अवस्थाओं को हृदयंगम कराते हुए इन सबके निमित्त, सन्निधान मात्र से प्रेरक सर्वव्यापक परब्रह्म का भी साथ-साथ साक्षात्कार कराया जायेगा। अब आप ब्रह्म-विज्ञान के उपोत्तम चरण में पहुंच गये हैं। यह सब अदृष्टचर अननुभूतपूर्व अपूर्व दर्शन तो मिलेगा ही पर इसको स्थिर रखने के लिये अपने परमप्रिय अभ्हस्तचर पर वैराग्य को दृढ़तम करना होगा। कहीं तनिक सी चञ्चलता से सब किये कराये पर पानी न फिर जाये। अब आप शिखर के समीप ही हैं, सावधानी से परवैराग्य को अपनाये रहिये।

समष्टि महत् त्रिगुणात्मक सृष्टि

त्रयीकरणम्

	महत्सत्त्व	महत् रजस्	मसत्तमस्	
१. समष्टि चित्त—	१·८	१·१	·१	=३·०
२. समष्टि बुद्धि—	१·४	१·५	·१	=३·०
३. समष्टि सत्त्वाहंकार—	·८	·९	१·३	=३·०
४. समष्टि राजसाहंकार—	·६	१·०	१·४	=३·०
५. समष्टि तामसाहंकार—	·५	·७	१·८	=३·०

महत् तीनों गुणों के इस आनुपातिक भेद से पांचों त्रिगुणात्मक परिणामों में में भेद हो गया है। यह समष्टि ही अपने व्यष्टियों के कारण हैं। अब क्रमशः इन के पांचों रूपों का अध्ययन कर पांचों में ही ब्रह्मानुभूति कीजिये।

समष्टि महत् त्रिगुणात्मक सृष्टि

प्रथम खण्ड

१२वाँ आवरण

समष्टि तामस् अहंकार मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(तामस् अहंकार का प्रथम रूप)

१. समष्टि तामस् अहंकार के स्थूल रूप में—

समष्टि तामस अहंकार की उत्पत्ति उपरि कोष्टक निर्दिष्ट अनुपात से महत् तीनों गुणों से हुई है। यहाँ प्रकरण समष्टि पदार्थों का है, अतः प्रत्येक पदार्थ यहाँ समष्टि-रूप वाला ही दिखाया गया है। अत: प्रत्येक पदार्थ के साथ समष्टि का प्रयोग समझ लेना चाहिए। यह समष्टि तमः अहंकार अपने गुणों को साथ लेकर ही उत्पन्न होता है, और अपने सब कार्यों को अपने गुणविभक्त कर देता है। इसके कार्य हैं, पञ्चतन्मात्रायें; जो तमः प्रधान होने से सर्वथा ही जड़वत् सी बन गयी हैं। यह तमः प्रधान अहंकार यहाँ से आगे की सूक्ष्म और स्थूल भूतों की सृष्टि का हेतु बन गया है। इसका ही प्रसार आगे होगा। इसके साथ महाकाश, महाकाल, महादिशा भी सहकारी होंगे। ये तीनों प्रकृति के सर्वप्रथम कार्य हैं। सब पदार्थों के साथ परिणत होते आ रहे हैं। अब यह आगे स्थूल भाव को प्राप्त हो जायेंगे।

तमः अहंकार के गुण—जड़तामय अहंभाव, शरीर में ममता का होना, तामसिक वृत्तियों के प्रति अहन्ता-भाव का होना, मोह अज्ञान में अधिक ममता-भाव का बन जाना। क्रूर कर्मों में अभिमान का होना, हिंसा, व्यभिचार, चोरी आदि में पापकर्मों में अहन्ता का भाव। दुःख रूप में भी सुख रूप का अभिमान होना इत्यादि तमः प्रधान अहंकार के गुण हैं। यह गुण समष्टि में अव्यक्त हैं, व्यष्टि अहंकार में इन की अभिव्यक्ति होती है।

यह अहंकार ही बन्ध और मोक्ष का हेतु है। इसका बना रहना बन्ध का हेतु होता है और इस की निवृत्ति मोक्ष का हेतु बन जाती है। यह भोग और आवागमन की जड़ों को दृढ़ करता है। बुद्धि और चित्त पर अपना आवरण डाले रहता है। ज्ञान वैराग्य को दबाये रखता है। जड़ता को दृढ़ करता है। पापयुक्त कर्मों की वृद्धि करता है। इसकी प्रधानता से श्रेयः कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती है। भोग और अधर्म की मात्रा को बढ़ाता है। तमोगुणी पुरुषों में इसका विशेष रूप से राज्य रहता है। वैराग्यवान् और ज्ञानियों के चित्तों में इसको स्थान नहीं मिलता है। मूढ़ों में इसका वास रहता है।

इस तमः अहंकार के मण्डल में और इसके परिणत होते हुए गुणों में ब्रह्म की चेतनत्त्वेन प्रत्यक्ष रूप से अनुभूति होनी चाहिये। इस ब्रह्म के स्वरूप में और अहं के स्वरूप में क्या अन्तर है—ब्रह्म के एक रूप से स्थिर बने रहने पर भी यह किस प्रकार परिणाम भाव को प्राप्त होकर अपने गुणों को उत्पन्न करता है, इन दोनों का ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से यथार्थ रूप में विज्ञान प्राप्त करें। इस अहंकार को बन्ध का हेतु जानकर इससे वैराग्य प्राप्त करें।

समष्टि तामस् अहंकार मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(तामस् अहंकार का द्वितीय रूप)

२. समष्टि-तामस् अहंकार के स्वरूप में—

समष्टि तमः अहंकार और इसके गुणों का स्वरूप सम्बन्ध है। ये गुण इसके स्वरूप से अलग नहीं होते हैं। इसमें उत्पन्न होकर, इसी के आश्रय रहते हुए भोग प्रदान करते हैं। अतः इनका परस्पर गुण गुणी भाव सम्बन्ध है। यही सम्वाय सम्वन्ध भी है।

इस गुण गुणी के सम्वन्ध में ब्रह्म भी सूक्ष्म रूप से वर्तमान होकर ठहरा हुआ है परन्तु यह अहंकार जड़ होने से इसे नहीं जानता है। यह ब्रह्म ही अन्तर्यामी रूप से इसे गति करा रहा है। इसे क्रिया शील किये हुए है, यही इस ब्रह्म की महत्ता है, इसका ही इस द्वितीय रूप में प्रत्यक्ष करना है। साथ ही वैराग्य की भावना को परिपक्व करना है, जिससे यह अहंकार बन्ध का हेतु न बनकर मोक्ष का ही साधक सिद्ध हो।

समष्टि तामस् अहंकार मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(तामस् अहंकार का तृतीय रूप)

३. समष्टि तामस् अहंकार के सूक्ष्म रूप में—

महत्सत्त्व, महत् रजस् और महत्तमस् द्रव्य इस अहंकार का कारण होने से सामान्य हैं, और अहंकार विशेष है, अतएव सामान्य विशेष का समुदाय ही आयुत सिद्ध द्रव्य समष्टि तामस अहंकार है। इस कारण में ही कार्य की सूक्ष्मता है। इस कारण और कार्य में ब्रह्म भी स्थित है। इस चेतना से प्रेरित होकर यह कारण अपने कार्य को किस प्रकार उत्पन्न करता है, और परिणाम काल में स्वगुणों का प्रादुर्भाव भी किस प्रकार और कैसे करता है, इत्यादि प्रत्येक परिणत होती हुई अवस्था में ब्रह्म की प्रतीति होनी चाहिये। ब्रह्म से व्याप्त इस अहंकार के स्वरूप को समझ कर इसका त्याग और इससे वैराग्य प्राप्त करना चाहिये। जब तक योगी इस अभिमान का त्याग नहीं करता है, तब तक कर्तापन की भावना बनी ही रहती है। भगवद्गीता इस के कर्तापन की पुष्टि इस प्रकार करती है—

'अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'

गीता० अ० ३। श्लोक २७॥

—अहंकार के द्वारा मूढता को प्राप्त होकर कर्तापन की भावना पुरुष अपने अन्दर कर बैठता है। निष्क्रिय होते हुए भी क्रियावान् बन जाता है।'

इसलिये यह अहंकार ही इस के बन्धन का हेतु बन जाता है। तथा च उपनिषद्—

"अक्षुब्धा निरहंकारा, द्वन्द्वेष्वननुपातिनी।
प्रोक्ता समाधिशब्देन, मेरोः स्थिरतरा स्थितिः॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० १। मं० ४६॥

—जब मुमुक्षु योगी इस अहंकार का परित्याग कर देता है, तब चित्त के सब प्रकार के क्षोभ शान्त हो जाते हैं। सब क्षोभों का कारण चित्त में यह अहंकार ही बना हुआ था, यही संस्कारों को कुरेद कुरेद कर जाग्रत करता रहता था। इसके शान्त हो जाने पर सर्व द्वन्द्वों को शान्त करने वाली समाधि की प्राप्ति होती है। जिसमें किसी भी प्रकार के द्वन्द्व भाव—भूख, प्यास, सरदी, गरमी आदि दुखों की उपज नहीं होती है। इस प्रकार की शान्त निर्विकल्प-समाधि होती है। जैसे सुमेरु पर्वत अडोल, निश्चेष्ट निष्क्रिय होकर ठहरा हुआ है, इस प्रकार शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण निश्चेष्ट हो कर स्थिर हो जाते हैं।'

अतः योगी को इस समाधि की स्थिति में ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इस समय सर्व प्रकार के हेय और उपादेय आदि कर्तव्य परि-समाप्त हो जाते हैं। पूर्णरूप से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सर्व दृश्य और दर्शन समाप्त हो जाते हैं। वासनायें अपने कारण समष्टि चित्त के गर्भ में प्रवेश करने के लिये दौड़ने लगती हैं। परम वैराग्य से आत्मा की मोक्ष में स्थिरता हो जाती है।

समष्टि तामस् अहंकार मण्डल
चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(तामस् अहंकार का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि तामस् अहंकार के अन्वय रूप में—

इस तमः प्रधान समष्टि अहंकार मण्डल में परार्थरूपा प्रकृति अपने ज्ञान क्रिया रूप गुणों को साथ लेकर सब पदार्थों में अनुगत होती हुई आकर अनुपतित हुई है। प्रकृति का परिणाम महत्तम, महत्तम का परिणाम समष्टि तामस् अहंकार मण्डल और इस समष्टि का परिणाम व्यष्टि अहंकार है। इस प्रकार प्रकृति की परम्परा में यह तीसरी पंक्ति में है। यह इस मण्डल की चौथी अन्वय रूप अवस्था है। इस अहंकार की अन्वय रूप अवस्था के साक्षात्कार क्षण में इस अवस्था के निमित्त कारण भगवान् का भी साक्षात् करना चाहिये। परवैराग्य की भावना को दृढ़ करना चाहिये जो प्रकृति पुरुष विवेक का प्रधान निमित्त है और मोक्ष का हेतु है। केवल वैराग्य या केवल विवेक से मोक्ष असंभव है। यह दो पहियों की गाडी है, दोनों पहिये होंगे तो मोक्ष की ओर बढ़ेगी। अन्यथा कहीं मध्य में ही ठप होकर सड़ जायेगी। इस लोक को भी बिगाड़ेगी परलोक तो हाथ से गया ही। अतः सावधानी के साथ दोनों का सन्तुलन कर ले चलिये। कहीं अज्ञान में फंस अविवेक से ही वैराग्य मत ले बैठना, फिर तो वैराग्य तामस् तप रह जायेगा। जो दुःख ही दुःख देने वाला होगा। यह दुधारी अत्यन्त सावधानी से उठानी होगी। तनिक सी असावधानी से अपने पर ही वार कर जाती है।

समष्टि तामस् अहंकार मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(तामस् अहंकार का पञ्चम रूप)

५. समष्टि तामस् अहंकार के अर्थवत्तव रूप में—

यह तमः प्रधान अहंकार पंच तन्मात्राओं को उत्पन्न करके संसार का महान् उपकार करता है। यह इन तन्मात्राओं में अनेक रूप से प्रकट हुआ है। इसी के अभिमान से मदमस्त हुई समस्त भोग योनियाँ इसी के द्वारा कर्म-भोग भोगती हैं। यह अपने प्रभाव से इन सब की बुद्धियों को जड़ बनाये रखता है। सब भोग योनियों की बुद्धि पर इसी का शासन बना रहता है। इन्द्रियों के भोग के सिवाये इन योनियों को और कुछ पता ही नहीं होता है। जब तक यह प्रधान बना रहता है तब तक भोग योनियों का जन्म मरण होता ही रहता है इसकी प्रधानता के रहते भोग योनियों का आवागमन कभी समाप्त नहीं होता है। यह भोग और कर्म का पोषण करता है। मूढ़ता को दृढ़ करता है। सत्त्व और रज को दबाये रखता है। उभरने ही नहीं देता है।

मोक्ष के जिज्ञासु को सावधान होकर इस तामस् अहंकार पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। इसके स्वरूप को समझकर इसको दमन करना चाहिये। एकान्त शान्त स्थान में रहकर इस अहंकार की गति विधि को देखते हुए मौन रहकर इसको दमन करने का प्रयत्न करता रहे। सब पदार्थों और उनकी भावनाओं से भी ममता रहित होकर इस तम की जडता को दूर करके सात्त्विक भावनाओं का उदय करे क्योंकि सात्त्विक भावनायें भी सात्त्विक अहंकार को उत्पन्न करती हैं जो अहमस्मि का बोधक होता है। वास्तव में अहमस्मि वृत्ति भी पुनः स्मृति वृत्ति को उत्पन्न करती है। जो कि रागात्मक ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि राग अत्यन्त ही सूक्ष्म है जो कि पुनः पुनः अहमस्मि द्वारा स्वस्वरूप का बोध कराता है, और स्मृति वृत्ति को बनाये रखता है। अतः अहंकार का अभाव या नाश ही राग और स्मृति का अभाव कर सकता है। अहंकार अत्यन्त ही दुर्गम दुस्तर है। इस में ब्रह्म का आरोप करके ब्रह्म को उपासना और ज्ञान का विषय बना कर ब्रह्म के स्वरूप को समझने और उसको साक्षात्कार करने का प्रयत्न करे। ब्रह्म की सूक्ष्मता सब पदार्थों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। इसका विज्ञान प्राप्त करना ही यहाँ मुख्य ध्येय है।

इस प्रकार प्रकृति पुरुष के विवेक के अनन्तर ही परम पुनीत दृढ़तम वैराग्य की आधार शिला पर आरूढ होकर ही योगी मोक्ष को प्राप्त होता है। अतः पर वैराग्य को प्रतिक्षण दृढ़ बनाये रखे।

इति समष्टि तामस् अहंकार मण्डलम्।

इति तृतीयाध्याये प्रथमः खण्डः।

इति द्वादशम् आवरणम्॥

समष्टि महत् त्रिगुणात्मक सृष्टि

द्वितीय खण्ड

११ वाँ आवरण

समष्टि राजस् अहंकार मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(राजस् अहंकार का प्रथम रूप)

१. समष्टि राजस् अहंकार के स्थूल रूप में—

समष्टि राजस् अहंकार मण्डल जब मिलकर व्यष्टि भाव को प्राप्त होता है, तब इस मण्डल के निम्न गुणों का प्रकाश रूप सामने आता है—

रजोगुण अहंकार के धर्म—अभिमान, मेरे पन की भावना, धन बल, जन बल, राज्य बल, विद्या बल का अभिमान, कर्म करने में अभिमान, शत्रु को दमन करने, कुचल देने, प्रतिकार लेने की अभिमान पूर्वक भावना, इत्यादि अमर्ष सूचक अनेक धर्म हैं। यह धर्म यहाँ अव्यक्त रहते हैं। व्यष्टि अहंकार में यह व्यक्त होते हैं। व्यवहार दशा में व्यष्टि ही आता है।

यह राजस अहंकार रजोगुण प्रधान होता है। यह मुख्य रूप से कर्मेन्द्रियों का उपादान कारण है। यह कर्म और भोग की जड़ों को मजबूत बनाता है। जब यह महत्तम तत्त्व से उत्पन्न होता है तो अपने रजोगुणात्मक धर्मों के साथ ही परिणत होता हुआ उत्पन्न होता है। यह सत्त्व प्रधान और तमः प्रधान अहंकार का सहकारी बनकर पदार्थों के निर्माण में सहायक होता है। और कर्मेन्द्रियों के प्रति मुख्य रूप से उपादान कारण बनता है।

इस रजः अहंकार के अन्दर ब्रह्म की खोज करनी चाहिये। ब्रह्म का इसके साथ किस प्रकार से सम्बन्ध है, किस प्रकार यह इसे क्रियाशील अथवा क्षोभयुक्त करता है, इस अहंकार के परिणामकाल में ब्रह्म में भी कोई परिवर्तन होता है या नहीं? इस अहंकार के विशेष क्षोभकाल में बाह्य पदार्थ मुख्य कारण होते हैं, अथवा ब्राह्मी चेतना ही इन क्षोभों का कारण होती है। इस अहंकार के विशेष परिवर्तन में ब्रह्म की स्थिति किस प्रकार रहती है? इस अहंकार की गति में उपादान कारण मुख्य हेतु होता है या कि निमित्त कारण? ब्रह्म साक्षात् रूप से उपादान में क्रिया का हेतु है या कि कार्य में? इत्यादि विज्ञान को तर्क वितर्क पूर्वक निश्चय करते हुए इस राजस अहंकार और ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ रूप से ऋतंभरा बुद्धि द्वारा साक्षात् करें। विवेचन से विवेक की धारा को निर्मल करें। उस विवेक द्वारा प्रकृति के व्यामोहक बन्धनों की निस्सारता को हृदयंगम कर पर वैराग्य को दृढ़ कर मोक्ष के पथिक बनें। वैराग्य और विवेक ही मोक्ष तक ले जायेंगे।

समष्टि राजस् अहंकार मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(राजस् अहंकार का द्वितीय रूप)

२. समष्टि राजस् अहंकार के स्वरूप में—

समष्टि राजस् अहंकार मण्डल का अपने गुणों के साथ अभिन्न रूप से स्वरूप सबन्ध है। वास्तव में ये धर्म इस अहंकार रूपी धर्मी की परिवर्तन होती हुई ही अवस्थायें हैं। अतः इनको पृथक् रूप नहीं दिया जा सकता जैसे एक मनुष्य शरीर की शिशु, किशोर, युवा, वृद्धा परिवर्तन होती हुई अवस्थायें ही हैं, इन्हें पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता, नहीं पृथक् रूप दिया जा सकता है। यह तो अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। यह धर्मी का धर्मों के रूप में परिणाम है। इसलिये इस अवस्था रूप परिणाम को स्वरूप सम्बन्ध के नाम से प्रतिपादन किया गया है।

इस समष्टि राजस अहंकार के स्वरूप में अर्थात् इसके परिवर्तन होते हुए धर्मों में इनके ज्ञान के साथ-साथ ब्रह्म का विज्ञान भी होना चाहिये। इसी हेतु से पदार्थों का विश्लेषण भी किया गया है। और अवस्थाओं का भेद दिखाया गया है कि इन पदार्थों के बोध के साथ ब्रह्म का बोध भी होता जाये, क्योंकि ब्रह्म-विज्ञान में वास्तव में यह पदार्थ ही निमित्त बनते हैं। वरना इनके विना ब्रह्म-विज्ञान ही प्राप्त होना असम्भव हो जाये। निराधार ब्रह्म का कोई आधार मान कर ही विज्ञान का विषय वनाया जा सकता है, तब ही प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ब्रह्म बनता है।

समष्टि राजस् अहंकार मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(राजस् अहंकार का तृतीय रूप)

३. समष्टि राजस् अहंकार के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि राजस अहंकार मण्डल का कारण महत्सत्त्व, महत्रजस् और महत्तमस् का पूर्व प्रदर्शित आनुपातिक मिश्रण है। ये ही इस के सूक्ष्म रूप हैं। ये तीनों ही सामान्य और समष्टि राजस अहंकार मण्डल यहाँ विशेष हैं और इसकी अपेक्षा व्यष्टि अहंकार विशेष है अत एव सामान्य विशेष का समुदाय ही यहाँ अयुतसिद्ध द्रव्य है। द्रव्य का अर्थ यहां पदार्थ समझना चाहिये, क्योंकि पदार्थ ही द्रव्य है।

इस की और सूक्ष्म कारण की अवस्था में भी ब्रह्म का प्रत्यक्ष करें। हमने ब्रह्म को सर्व पदार्थों में सर्वत्र ही वर्तमान हुए को असङ्ग ही स्वीकार किया है। जो कुछ परिणाम माने गये हैं, वे प्रकृति में ही इस ब्रह्म के सामीप्य या सन्निधान से ही माने गये हैं। इस सान्निध्य से ब्रह्म में भी अनेक स्थानों पर इस प्रकृति के कर्मों और गुणों का आरोप किया गया है। यह केवल पाठकों को समझाने के लिये किया गया है। साधकों के लिये भी उपाधि रूप से उल्लेख किया है। अन्यथा हमारे विचार में तो ब्रह्म सदा सर्वत्र निर्गुण ही था, है, और रहेगा। यह स्वयं असङ्ग है। परन्तु इसके सङ्ग से ही प्रकति में ही सर्व कार्य-व्यवहार, बन्ध मोक्ष आदि धर्म उत्पन्न होते हैं। यही प्रकृति के

धर्म जीवात्मा में भी आरोपित कर दिये हैं। इन आरोपों के कारण ही आत्मा का बन्ध और मोक्ष मान लिया गया है। क्योंकि वह एक देशी है, और इस के साथ अनादि काल से सम्बद्ध है। अन्यथा हम तो आत्मा को असंग ही मानते हैं।

समष्टि राजस अहंकार मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(राजस् अहंकार का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि राजस् अहंकार के अन्वय रूप में—

इस समष्टि राजस अहंकार मण्डल का अन्वय परिणाम प्रकृति में ही होता है। यह प्रकृति अपने वास्तविक ज्ञान और क्रिया गुणों को लेकर परिणत होती हुई सर्वत्र कार्यात्मक पदार्थों में अन्वयी रूप से वर्त्तमान रहती है। प्रकृति से महत्तम और महत्तम से यह समष्टि राजस अहंकार मण्डल परिणत हुआ और इस समष्टि के गुणों को लेकर इस से व्यष्टि अहंकार उत्पन्न हुआ सब देहों में वर्तमान है। इस प्रकार यह प्रकृति से तीसरा अन्वय-चरण हुआ। यही इस अहंकार का अन्वय है।

इस अन्वय अवस्था में भी इस के प्रत्यक्ष के साथ-साथ ब्रह्म का भी प्रत्यक्ष करें। दोनों के ही स्वरूप का साक्षात् करें। अहंकार और ब्रह्म का साक्षात् विभिन्न रूप से विवेचन हो जाने पर आप को कर्म में आबद्ध न कर सकेगा। इस राजस अहंकार की कर्म-कार्य शीलता को ही आत्मा अपनी कार्य-कुशलता मान असङ्ग होते हुए भी आबद्ध हो बैठता है। इस प्रकृति पुरुष के तथ्यात्मक विवेचन से ही अन्धतामिस्र का परदा फटता है। इस साक्षात् विवेकज ज्ञान से अनासक्ति रूप पर, वैराग्य की जड़ें दृढ़ होगा, इस पर वैराग्य के सुन्दर पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो आप मोक्ष के अधिकारी बन मोक्ष की ओर अग्रसर होंगे। अतः इस अभ्यास के साथ-साथ परवैराग्य साधना को परिपक्व करते चलिये। अभ्यास की अपेक्षा वैराग्य साधना जटिल, है। कष्ट साध्य है। संसार रोग के नाश के लिये यह कटु औषधि सेवन करनी ही होगी। यह भी पहले पहल ही कड़वी लगती है, फिर तो इसका स्वाद स्वतः ही आकृष्ट करता चला जायेगा। इस के बार-बार आस्वादन से संसार के सब स्वाद इसके आगे फीके पड़ जाते हैं। जब वैराग्य का स्वाद अपना स्वाद हो जायेगा तो विवेक भी साथ-साथ चला जायेगा। इस लिये योगिवृन्द विवेक और वैराग्य के जोड़े को बनाये रखो।

समष्टि राजस् अहंकार मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(राजस् अहंकार का पञ्चम रूप)

५. समष्टि राजस् अहंकार के अर्थवत्त्व-रूप में—

समष्टि राजस् अहंकार कार्य और कारण रूप से भोग और अपवर्ग का हेतु होता है। यह अपने गुणों के रूप में परिवर्तित होकर भी भोग का हेतु होता है। कार्य रूप में उत्पन्न हो कर या परिणाम भाव को प्राप्त हो कर कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति का हेतु होता है। अथवा सत्त्व अहंकार और तमः प्रधान अहंकार के साथ मिल कर भी पदार्थों की उत्पत्ति में सहकारी होकर भोग और मोक्ष में सहायक होता है। राज्य कार्यों में,

लोक व्यवहार में सर्वत्र इसकी ही प्रधानता होती है। इस के प्रभाव में आकर मनुष्य अनेक प्रकार से लोक संग्रह करता है। इसी के प्रभाव में आकर तो बड़े वीर योद्धा रणभूमि में मातृ-भूमि पर बलिदान हो जाते हैं। इसी अहंकार को उद्बुद्ध करके ही तो भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को महाभारत संग्राम का वीर विजेता बनाया था। 'रणा दुपरतं त्वां मंस्यन्ते महारथाः' —महारथी तुझे रण से भागा हुआ कहेंगे ऐसी बातें सुना सुना कर अर्जुन के अहंकार को जगाया था। जब अर्जुन का अहंकार जाग उठा तो 'करिष्येवचनं तव'—तुम्हारी बात मानूंगा कह कर अर्जुन गाण्डीव संभाल कर खड़ा ही तो हो गया। ऐसा है यह राजस् अहंकार।

लोक व्यवहार में मानव इसके द्वारा अपने बन्धनों को दृढ़ कर लेता है। बेटा-बेटी, पोता-पोती, धन-वैभव, शान-शौकत के मोह में पड़ कर अहंकार के बन्धनों को अत्यन्त दृढ़ कर लेता है। ये बन्ध संभवतः कभी भी मोक्ष के समीप न पहुँचने देंगे। यदि मानव मननशीलता से इससे छुटकारा पा जाये तो इसकी निवृत्ति मोक्ष का साधन बन जाती है। अतः इसकी अर्थवत्ता में भी सर्वत्र ब्रह्म का अनुसन्धान करके प्रत्यक्ष करना चाहिये। विवेकज वैराग्य से अपने मोक्ष की ओर अग्रसर होना चाहिये।

इति समष्टि राजस् अहंकार मण्डलम्

इति तृतीयाध्ये द्वितीयः खण्डः।

इत्येकादशमावरणम् ॥

महत् त्रिगुणात्मक सृष्टि

तृतीय खण्ड

१०वाँ आवरण

समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(सात्त्विक अहंकार का प्रथम रूप)

१. समष्टि सात्त्विक अहंकार के स्थूल रूप में—

समष्टि सात्त्विक अहंकार मण्डल का उपादान कारण तीनों महत् सत्त्व, महत् रजस् एवं महत् तमस् द्रव्य हैं, परन्तु मुख्य रूप से महत्तम है, शेष दोनों सहकारी हैं। समष्टि-सात्त्विक अहंकार के सम्मिश्रण से जब व्यष्टि अहंकार की उत्पत्ति होती है, तब उसके गुणों का आविर्भाव इस प्रकार से होता है।

सत्त्व अहंकार के गुण—अनुद्भूतरूप प्रकाश, अभिमान, आदान, प्रदान, आत्मा में 'अहमस्मि'—मैं हूँ—के बोध में अहंवृत्ति को पैदा करना, या 'अहमस्मि' के बोध का हेतु बनना। चित्त में सात्त्विक भावनाओं को पैदा करना। आत्मा के मुक्त होने में सहायक होना। चित्त के शुद्ध स्वरूप होने में सहायक होना। चित्त में सात्त्विकता उत्पन्न करने में सहायक होना। चित्त के सात्त्विक संस्कारों को क्रियान्वित करके बुद्धि में प्रक्षेपण करना। चित्त के सात्त्विक संस्कारों को उत्तेजित करके अपवर्ग की ओर ले जाना, या बुद्धि में प्रेषित कर देना, इत्यादि अनेक गुण इस सत्त्व अहंकार के हैं। समष्टि में ये सब गुण अव्यक्त दशा में होते हैं। इसके ये गुण इस उत्पन्न व्यष्टि में व्यवहार दशा में व्यक्त होते हैं।

इस अहंकार की परिणत होती हुई अवस्था के रूप में सविचार और निर्विचार समाधि द्वारा इसका साक्षात्कार करना चाहिये, कि किस प्रकार यह गुणों के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त हो रही है। किस प्रकार से इसमें गुणों का प्रादुर्भाव हो रहा है। एक-एक गुण के क्रमपूर्वक प्रकट होने में इस अहंकार की कैसी अवस्था होती है। इससे पूर्व के स्वरूप में और इस स्वरूप में क्या अन्तर हुआ है। इसके पहले स्वरूप और इस स्वरूप के कर्म और व्यापार में क्या भेद या क्या परिवर्त्तन होगा। इन सब विज्ञानों का अनुभव होना चाहिये।

इन सब विज्ञानों की परिवर्तन होती हुई अवस्था में साथ-साथ में चेतन ब्रह्म की भी अनुभूति होनी चाहिये। अनुभव करना चाहिये कि किस प्रकार इस चेतना शक्ति के व्यापक रूप से परिणाम धर्म में क्रिया हो रही है। यह चेतना इसमें विकार करके भी स्वयं निर्विकार रूप में, निष्क्रिय हो असंग रूप से वर्त्तमान है। योगिन्! इसी प्रकार आप भी असंग हो मोक्ष के साधन वैराग्य को दृढ़तम कीजिये।

समष्टि सत्त्व अहंकार मण्डल
द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(सत्त्व अहंकार का द्वितीय रूप)

२. समष्टि सत्त्व अहंकार के स्वरूप में—

सत्त्व अहंकार और इसके गुण जो ऊपर वर्णन किये गये हैं, इन का अङ्गाङ्गी रूप में या धर्म-धर्मी के रूप में परस्पर अभेद है। इसी को स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं। इस स्वरूप सम्बन्ध में ब्रह्म की भावना करके ब्रह्म का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस स्वरूप सम्बन्ध की दोनों अवस्थाओं में अर्थात् गुण-गुणी में ब्रह्म की अनुभूति होनी चाहिये। साथ ही मोक्ष के साधक विवेकज वैराग्य की पुट परिपक्व होना चाहिये।

समष्टि सत्त्व अहंकार मण्डल
तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(सत्त्व अहंचार का तृतीय रूप)

३. समष्टि सत्त्व अहंकार के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि सत्त्व अहंकार के उपादान कारण तीनों महत् सत्त्व, महत् रज: और महत्तम द्रव्य हैं। इनमें महत्तम प्रधान है, शेष दोनों सहकारी हैं। अत एव इस सत्त्व अहंकार की सूक्ष्म अवस्था इन गुणों में ही होती है। यहाँ इनका कारण कार्य भाव सम्बन्ध होने से ही सूक्ष्म अवस्था सिद्ध होती है। इन दोनों का समुदाय ही यहाँ अयुत-सिद्ध द्रव्य होता है।

इस कारण और कार्य की सूक्ष्म अवस्था में इनका विज्ञान करना चाहिये। इन की दोनों अवस्थाओं के सूक्ष्म रूप में भी ब्रह्म के दर्शन करने चाहियें क्योंकि ब्रह्म का और इनका अत्यन्त समीपवर्त्ती सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की प्रत्यक्ष रूप में अनुभूति होनी चाहिये। विवेकज पर वैराग्य की दृढ़ धारणा से मोक्ष के पन्था को प्रशस्त करना है।

समष्टि सत्त्व अहंकार मण्डल
चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(सत्त्व अहंकार का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि सत्त्व अहंकार के अन्वय रूप में—

इस सत्त्व अहंकार का अन्वय कारण रूप प्रकृति में होता है। कारण रूप प्रकृति अपने गुणों सहित परिणाम भाव को प्राप्त होती हुई, सब कार्यों में अनुपतित होती हुई अन्वय रूप से अहंकार में आई है। स्थिति वाली और ज्ञान क्रिया धर्म वाली मूल प्रकृति से महत्तम परिणत हुआ। महत्तम से यह समष्टि सत्त्व अहंकार परिणत हुआ। समष्टि से समष्टि के गुण धर्मों को लेकर प्रत्येक देहवर्त्ती व्यष्टि अहंकार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह अहंकार प्रकृति की तीसरी परम्परा है। यही इसका अन्वय है। यही अन्वय रूप है।

इस अनुपतन होती हुई अन्वय रूप अवस्था में भी ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये क्योंकि ब्रह्म का सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक अवस्था से बना हुआ है। इस विवेक के आधार पर ही पर वैराग्य को दृढ़कर मोक्ष की ओर अग्रसर होना चाहिये।

समष्टि सत्त्व अहंकार मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(सत्त्व अहंकार का पञ्चम रूप)

५. समष्टि सत्त्व अहंकार के अर्थवत्त्व रूप में—

यह सत्त्व प्रधान अहंकार समस्त व्यष्टि अहंकारों के निर्माण में सहायक होकर भोग और अपवर्ग का हेतु होता है। इसने रजः और तमः अहंकार के साथ मिलकर व्यष्टि मनों को उत्पन्न करके प्राणियों का महान् कल्याण किया है। अहंकार से बनने वाले सभी पदार्थों में उपादान और सहकारी कारण के रूप में प्रवृत्त हुआ है। यह इसकी महान् अर्थवत्ता है।

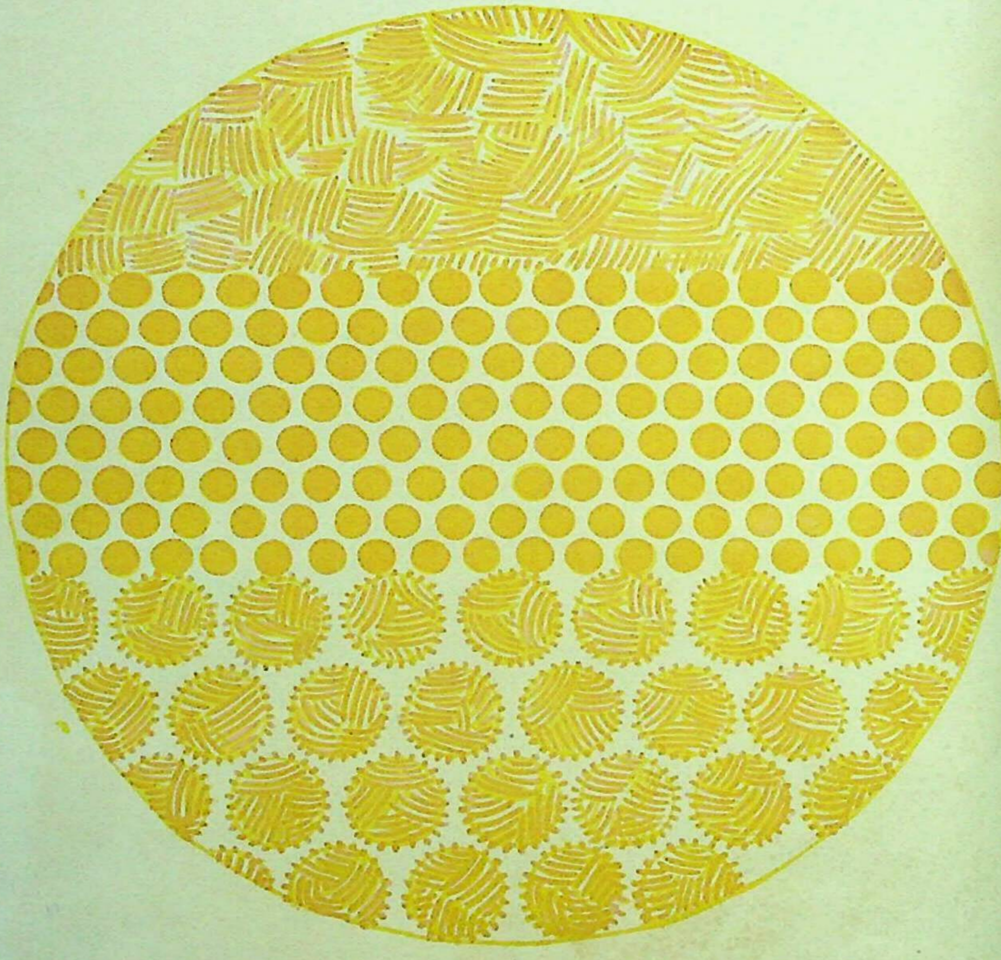
आत्मा के भोग और अपवर्ग में महान् सहायक होता है। संसार के सब प्राणियों में इसका गौण या मुख्य रूप से अर्थात् न्यूनाधिक रूप में वास है। बुद्धि और चित्त के सब कार्यों में यह सहकारी रूप से अत्यन्त ही सहायक होता है। ज्ञानेन्द्रियों के प्रति यही मुख्य रूप में उपादान कारण है।

इसकी अर्थवत्ता में ब्रह्म का विज्ञान भी करना अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्म इसके अन्दर सूक्ष्म रूप से वर्तमान होकर इसे क्रियाशील बनाये रखता है। योगिन् ! इस विवेक से वैराग्य को दृढ़ करो। यदि इस अहंकार का पूर्णतया दमन न हो सका तो देवराज इन्द्र की पदवी पाकर भी इस अहंकारमयदर्प के कारण फिर कहीं योनि-चक्कर में फँस-कर भोगी सर्प की योनि में पड़ सारे विवेक और वैराग्य पर पानी न फिर जाये। इस लिये इस अहंकार की मार से बचना। भगवान् शंकर की तरह इस अहंकार रूपी सर्प को वशीभूत कर अपने कण्ठ का हार बनाना और अहंकार विशिष्ट चित्त में आत्मदर्शन कर प्रकृति पुरुष के विवेक द्वारा परम विरक्त हो परमहंस बन मोक्ष का द्वार खट-खटाना। यह साध जागरूक परवैराग्य से ही पूर्ण होगी।

इति समष्टि सत्त्वाहंकार मण्डलम्।

इति तृतीयाध्याये तृतीयः खण्डः।

इतिदशममावरणम् ॥



चित्र सं० १२

समष्टि बुद्धि से व्यष्टि बुद्धियों की उत्पत्ति दिखाई गई है ।

महल त्रिगुणात्मक सृष्टि

चतुर्थ खण्ड

६ वाँ आवरण

समष्टि बुद्धि मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि बुद्धि का प्रथम रूप)

१. समष्टि बुद्धि के स्थूल रूप में—

भोग और अपवर्ग देने के लिए समष्टि बुद्धि का मण्डल परिणाम भाव को प्राप्त होता है, तब उस में ये धर्म उत्पन्न होते हैं :—समष्टि बुद्धि में ये धर्म सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान रहते हैं, पर उस अवस्था में कोई भोगात्मक व्यापार न होने से ये व्यक्त नहीं होते। इनकी अभिव्यक्ति व्यष्टि बुद्धि के भोग और अपवर्ग काल में ही होती है—चित्र नं० १२ में देखें।

१. परिज्ञातहेया	२. क्षीणहेयहेतुका	३. साक्षात्कृतहाना	४. भावितहानोपाया
५. चरिताधिकारा	६. गुणप्रयोजनाभाया	७. गुणसम्बन्धातीता	८. ऋतंभरा प्रज्ञा
९. प्रातिभज्ञानम्	१०. प्रज्ञालोक	११. ज्योतिष्मती	१२. आनन्द
१३. सुख	१४. ज्ञान	१५. मेधा	१६. गति
१७. शम	१८. हर्ष	१९. शान्ति	२०. धर्म
२१. बल	२२. क्षोभ	२३. तर्क	२४. वैराग्य
२५. सन्तोष	२६. अपरिग्रह	२७. ईशप्रणिधान	२८. निर्णय
२९. प्रमाण	३०. ऐश्वर्य	३१. नम्रता	३२. उदय
३३. तितीक्षा	३४. श्रद्धा	३५. भक्ति	३६. एकाग्रता
३७. आह्लाद	३८. प्रसन्नता	३९. वात्सल्य	४०. स्नेह
४१. चिन्तन	४२. मनन	४३. निदिध्यासन	४४. निष्कामता
४५. धृति	४६. लज्जा	४६. अहिंसाभाव	४८. न्याय

चित्र संख्या १२ का वृतान्त—न० १ में समष्टि बुद्धि की कारण रूप अवस्था को दिखाकर इसमें क्रिया के छोटे-छोटे कम्पन्न दिखाए गए हैं। यह समष्टि बुद्धि मण्डल क्रिया शील होकर कारण से कार्य रूप में परिणत होने जा रहा है। न० २ में व्यष्टि में बुद्धि उत्पन्न होकर आकाश मण्डल में शान्त रूप से स्थिर होकर ठहर गई है। नं० ३ में प्रत्येक प्राणी में प्रवेश करके क्रियाशील होकर भोग और अपवर्ग करने में प्रवृत हो चुकी है। जब इसके साथ मन का संयोग होता है तब इसमें ये तरंगें उत्पन्न होती हैं और विद्युत की तरह ज्योति के रूप में कौंध सी आ जाती है। नाना प्रकार की तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं कार्यात्मक व्यष्टि बुद्धि की व्यापार अवस्था को दिखाया गया है।

४९. स्मरणशक्ति	५०. धारणा	५१. ध्यान	५२. समाधि
५३. अविद्या	५४. राग	५५. द्वेष	५६. अभिनिवेश
५७. तृष्णा	५८. विपर्य्यय	५९. विकल्प	६०. स्वार्थपरता
६१. संशय	६२. विचिकित्सा	६३. संकल्प	६४. विकल्प
६५. शोक	६६. मोह	६७. लोभ	६८. काम
६९. विषाद	७०. चपलता	७१. ईर्ष्या	७२. स्पर्धा
७३. क्रोध	७४. दमन	७५. शत्रुता	७६. निन्दा
७७. भय	७८. शासन	७९. प्रतिशोध	८०. निर्लज्जता
८१. चिन्ता	८२. विषयभोगलिप्सा	८३. लोक संग्रह	८४. सम्मानेच्छा
८५. अपमान का भय	८६. उद्यम	८७. साहस	८८. धैर्य
८९. पराक्रम	९०. उद्वेग	९१. मिथ्याचार	९२. छल
९३. कपट	९४. क्रूरता	९५. प्राणतृप्ति	९६. धूर्तता
९७. लिप्सा	९८. विलासिता	९९. दुरभिमानिता	१००. असह्यता
१०१. अज्ञान	१०२. पापरति	१०३. दम्भ	१०४. दुराचार
१०५. व्यभिचार	१०६. चौर्यभावना	१०७. हिंसाभाव	१०८. रुदन
१०९. मांसमद्यरुचि	११०. आलस्य	१११. विषयलम्पटता	११२. नास्तिकता
११३. मूढ़ता	११४. मद	११५. अवैराग्य	११६ विस्मृति
११७. बलात्कार	११८. आततायिता	११९. अशौच	१२०. दुर्जनता
१२१. अविवेक	१२२. अधर्म	१२३. अकर्म	१२४. तामस पदार्थ रुचि
१२५. जड़ता			

इन धर्मों से युक्त व्यष्टि बुद्धियें जीवों के भोग और मोक्ष प्रदान करने में समर्थ होती हैं।

सम्प्रज्ञात समाधियों का फल

प्रान्त-भूमि प्रज्ञा सात प्रकार की उत्पन्न होती है :

१. (परिज्ञातं हेयम्) जितने कारण कार्यात्मक पदार्थ हैं, इन से उत्पन्न होने वाले जितने आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक परिणाम, ताप, संस्कार दुःख हैं ये सब क्लेश के ही हेतु हैं। इसलिए हेय हैं, त्यागने योग्य हैं। इसके पश्चात् फिर कुछ जानने योग्य नहीं रहता है। सम्पूर्ण कार्य कारण के ज्ञान का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है।

२. (क्षीण हेय हेतवः) त्याग या हेय के जो जो हेतु थे, वे सब क्षीण हो गये हैं; अब क्षीण होने योग्य कुछ नहीं रहा है।

३. (साक्षात्कृतम्) मैं ने प्रत्यक्ष के द्वारा निश्चय कर लिया है कि सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में निरोध समाधि द्वारा ही यह साध्य है, इसलिए यह हान है। अब पुनः कुछ और निश्चय करने योग्य नहीं है।

४. (भाविनो विवेक-ख्यातिरूपो हानोपायः) विवेक ख्याति का रूप जो हानोपाय है वह मैं ने प्राप्त कर लिया है। अब इस से परे और कुछ भी भावनीय नहीं है। इसे कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा कहते हैं। क्योंकि प्रकृति के कार्यों से मुक्ति समझनी चाहिए।

इसे चार प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा कहते हैं। अब आगे बुद्धि की विमुक्ति कहते हैं। यह तीन प्रकार की है।

५. (चरिताधिकारा बुद्धिः) जिस बुद्धि का भोग का अधिकार समाप्त हो गया है। अर्थात् जिस बुद्धि के भोग और अपवर्ग रूप कर्त्तव्य समाप्त हो गए हैं।

६. (न चैषां गुणानां विप्रलीनानां पुरस्त्युत्पादः प्रयोजना भावादिति) जैसे पर्वत के शिखर से गिरा हुआ पर्वत लुढ़कते-लुढ़कते चूर्ण-चूर्ण होकर अपने कारण में लीन हो जाता है। इस प्रकार ये तीनों गुण अपने कारण प्रकृति की साम्यावस्था में विलीन हो जाते हैं।

७ (एतस्यामवस्थायां गुण-सम्बधातीतः स्वरूपमात्र-ज्योतिरमलः केवली पुरुष इति) गुणों से अतीत होकर, सर्व मलों के बन्धनों से मुक्त होकर प्रकाश स्वरूप पुरुष (जीवात्मा) केवल्य भाव को प्राप्त होता है। मुक्त हो जाता है।

इस सात प्रकार की प्रान्त-भूमि प्रज्ञा द्वारा क्रम पूर्वक देखता हुआ पुरुष कुशल कहाता है। फिर इसका पुनर्जन्म या चित्त के साथ सम्बन्ध एक परान्त काल तक नहीं होता है। अब दूसरे परिणामों का क्रम-पूर्वक वर्णन करते हैं—

१. **ऋतंभरा प्रज्ञा**—इसके अनन्तर ऋतंभरा प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। जिस समाहित बुद्धि से विज्ञान उत्पन्न होता है, उसको ऋतंभरा कहते हैं। यह यथार्थ ज्ञान का ही बोध कराती है। पदार्थ के सत्यासत्य का यथार्थ निर्णय करती है। शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण जिस विज्ञान को कराते हैं वह तो सामान्य ज्ञान होता है। एक प्रकार से ये परोक्ष का ही बोध कराते हैं, यह नहीं बताते कि यह आत्मा है। यह ब्रह्म है। ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं करा सकते । समाधि की अवस्था में जो विशेष ज्ञान होता है उसे तो यह ऋतंभरा बुद्धि ही कराती है। प्रत्यक्ष रूप से उसकी अनुभूति कराती है। यह आत्मा है, यह ब्रह्म है। अतः विशेष ज्ञान की बोधक यह ऋतंभरा प्रज्ञा ही होती है।

(शंका) यहाँ तो आप प्रतिपादन कर रहे हैं कि समाहित बुद्धि से ऋतंभरा की उत्पत्ति होती है, और पहिले लिख आये हैं कि समष्टि बुद्धि के परिणाम काल में ये धर्म उत्पन्न होते हैं ?

(समाधान)—वास्तव में उत्पन्न तो होते हैं समष्टि के परिणाम काल में ही, परन्तु मल, विक्षेप, आवरण या तामस राजस गुणों के प्रभाव से या अधिकता से ये ऋतंभरा आदि गुण दबे रहते हैं। इन्हें उभारने या पनपाने का अवसर ही नहीं मिलता। जब सत्त्व गुण प्रधान होता है, और बुद्धि समाहित एवं एकाग्र होकर सम्प्रज्ञात अवस्था में पहुँची होती है, तब ऋतंभरा को प्रकट होने का अवसर प्राप्त होता है। इन सब धर्मों को साथ में लेकर ही बुद्धि उत्पन्न होती है। जब कार्य-क्षेत्र में उतरती है और जैसा-जैसा गुण या धर्म वर्तन का अवसर आता है, अथवा जैसा भोग और कर्म होता है, वैसे वैसे ही धर्म उस काल में प्रगट हो भोग देने लगते हैं, या ज्ञान की वृद्धि करने लगते हैं।

२. **प्रातिभ ज्ञान**—ब्रह्मरन्ध्र में जब योगी संयम करता है तब वहाँ एक दिव्य ज्योति प्रकट होती है। इस ज्योति में ही प्रातिभ नाम की बुद्धि, या विज्ञान अथवा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इस की ज्योति इस प्रकार की होती है, जैसा कि प्रातः काल के उदय

कालीन सूर्य का प्रकाश होता है। इस प्रातिभ विज्ञान के प्रकट होने पर योगी सब कुछ जानने में समर्थ हो जाता है। यह प्रातिभ बुद्धि ब्रह्मरन्ध्र और हृदय के सब पदार्थों का विज्ञान कराने में समर्थ हो जाती है।

३. प्रज्ञालोक—जब योगी का संयम सिद्ध होता है अर्थात् जिस पदार्थ पर योगी ने धारणा की हो, उसी पर ध्यान किया, और फिर उसी पदार्थ को समाधि का विषय बनाया, इस का नाम संयम है। इस संयम के जय हो जाने पर समाधि प्रज्ञा के द्वारा आलोक प्रकट होता है। इस को प्रज्ञालोक या बुद्धि का प्रकाश या विज्ञान कहते हैं। यह अभ्यास द्वारा ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों समाधि में पदार्थों का विज्ञान कराने की योग्यता बढ़ती जाती है। यह भी योग की भूमियों को पार करता चला जाता है। इस आलोक के प्राप्त होने पर सूक्ष्म पदार्थों के दर्शन में सफलता प्राप्त होती जाती है।

४. ज्योतिष्मती—इसका दूसरा नाम विशोका है। जब योगी को पञ्च-तन्मात्रों का विज्ञान या अधिकार हो जाता है, तब इसको ही मन की स्थिति के लिये अभ्यास में प्रयुक्त करने लगता है। इस अवस्था में इस बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यदि इसके द्वारा हृदय में प्रवेश कर के चित्त का प्रत्यक्ष करना चाहे तो कर सकता है। विशोका का अर्थ है जो बुद्धि विज्ञान के प्रकट हो जाने पर शोक रहित हो जाये। इस ज्योतिष्मती का रंग या प्रकाश सूर्य, चन्द्रमा, मणि, आदि के समान भास्वर होता है।

५. आनन्द—यह धर्म सब को ही विदित है। यह बुद्धि का परिणाम विशेष है। जिस को सब मनुष्य सुख के रूप में अनुभव करते हैं। एकाग्रता में अनुभव करते हैं। आत्मा और परमात्मा के साथ बुद्धि को जोड़कर विशेष प्रकार से अनुभव करते हैं। यह स्वयं ही सब का ज्ञात है।

६. सुख—यह भी सबको ज्ञात है, विषयों के संयोग से और आत्म संयोग से प्राप्त होता है।

७. हर्ष—इसमें रोमांच हो जाता है। मुख पर मुस्कान आजाती है। नेत्रों से अश्रु बहने लगते हैं। अपार सुख या आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

८. शान्ति—इस धर्म की अनुभूति विषयों से उपराम हो कर अथवा एकाग्रता में विशेष होती है।

९. तर्क—यह बुद्धि का धर्म है। प्रत्येक विषय तथा पदार्थ का निर्णय तथा बोध कराने में सर्वत्र सहायक होता है। यथा—'यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद'—जो विज्ञान तर्क के द्वारा अनुसन्धान करके या परख कर निश्चित किया जाता है, वही यथार्थ ज्ञान होता है।

१०. वैराग्य—यह भी बुद्धि का परिणाम विशेष है। सर्व भोगों से बुद्धि का उपराम या विरक्त हो जाना वैराग्य है। यह सब धर्म मोक्ष का हेतु होते हैं।

११. सन्तोष—यह धर्म भी बुद्धि का ही परिणाम है। यह सब प्रकार से तृप्ति या उपराम का हेतु बनता है। योगी को मोक्ष पथ पर दृढ़ बनाये रखता है।

१९. अपरिग्रह—इन्द्रियों को विषयों में गमन करते हुए रोकना, विषयों का सेवन न करना, बिना जरूरत के पदार्थों या भोगों का संग्रह न करना। यह धर्म भी अपवर्ग की ओर ले जाने वाला है। भोगों से तृप्ति करने वाला है।

२०. ईश्वर प्रणिधान—भगवान के प्रति बुद्धि में विशेष भक्ति या प्रेम हो जाना अपने सर्व कर्म फलों को भगवान् के अर्पण कर देना। यह धर्म तो इस लोक और परलोक को पावन करने वाला है। अनन्त सुख शान्ति और आनन्द को देने वाला है।

अब हम धर्मों की अधिक व्याख्या नहीं करते। बुद्धि के परिणाम धर्मों की संज्ञा मात्र आरंभ में ही लिख चुके हैं जो वास्तव में भोग और अपवर्ग का हेतु हैं। विस्तार भय और सर्वविदित होने से व्याख्या उपयोगी नहीं।

समष्टि बुद्धि के परिणामों के आधार पर ही विश्व के सर्व कार्य चलते हैं। यह ब्राह्मी सृष्टि चेतन ब्रह्म के संयोग से ही क्रिया शील रह कर भोग और अपवर्ग के लिये पदार्थों को उत्पन्न करती रहती है। इस बुद्धि मण्डल में क्रिया उत्पन्न कर व्यष्टि बुद्धि के रूप में परिणत करना, और संयोग करना इस चेतना के आधार पर ही होता है।

ज्ञान गुण किस का ?

शंका—यह विज्ञान चेतन का धर्म है या जड़ प्रकृति का ?

समाधान—यदि ज्ञान को चेतन का धर्म मान लें तो वह विकारी हो जायेगा। यदि केवल प्रकृति का ही कार्य या परिणाम धर्म मान लें तो प्रकृति जड़ नहीं रहती। अतः ब्रह्म के सन्निधान से प्रकृति में ही यह विज्ञान रूप धर्म या कार्य उत्पन्न होता है। बिना ब्रह्म के संयोग के यह धर्म इस में नहीं हो सकता है। जैसे लोहा चुम्बक पत्थर के साथ संयोग में आकर क्रिया शील हो जाता है, इसी प्रकार पकृति ब्रह्म के सन्निधान में रह कर क्रिया शील हो जाती है। अब इस क्रिया को हम प्रकृति की ही क्रिया शीलता कहेंगे क्योंकि ब्रह्म तो कूटस्थ है। अचल है। क्रिया रहित है। निरवयव है। इसका यह धर्म नहीं हो सकता है। इसको निमित्त कारण मान कर ही प्रकृति में क्रिया मानी गयी है। वैसे प्रकृति परिणाम धर्म वाली है। परन्तु इसमें परिणाम भी ब्रह्म के संयोग से ही होता है, स्वयं नहीं होता है। मोटर में चलने की शक्ति है, परन्तु चलाने के लिये ड्राइवर की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार प्रकृति में परिणाम रूप धर्म है, परन्तु वह चेतन ब्रह्म की अपेक्षा रखती है। इस की ही चेतना से सञ्चालित होती है। अतः यह समष्टि विज्ञानात्मक बुद्धि इसी भगवती प्रकृति देवी का ही एक परिणत हुआ कार्य है। इसी से यह परिणाम रूप गुण इस बुद्धि में आया है। जब यह भोग देने के लिये समष्टि बुद्धि का मण्डल परिणाम भाव को प्राप्त होता है तब व्यष्टि रूप में असंख्य बुद्धियें अपने अपने गुणों के साथ उत्पन्न होती हैं। फिर करण के रूप में प्रत्येक प्राणी के साथ भोग देने के लिये प्रस्तुत हो जाती हैं। इस समष्टि बुद्धि का परिणाम महत्सत्त्व तथा रज की प्रधानता से हुआ है। तम भी गौण रूप से सहकारी रहता है। इसी हेतु इसमें ज्ञान के साथ क्रिया शीलता अधिक है। सब इन्द्रियों के भोगों का सम्पादन और इनके ज्ञान का निर्णय, और मन को आज्ञा प्रदान करना आदि इसके अनेक कार्य हैं। जाग्रत् और समाधि

काल के सब निर्णय इसी के द्वारा होते हैं। महत्‌रजः का कार्य होने से क्रियाशील भी अधिक बनी रहती है। वैसे महत्तम का कार्य तो अहंकार ही है, परन्तु तम की अधिक प्रधानता से इसकी ज्ञानात्मक शक्ति खतम सी हो गयी है। केवल कर्म प्रधान ही रह गयी है। इसी लिये इसने मन, ज्ञान, कर्मेन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं के निर्माण में कहीं भी ज्ञान की अधिकता पैदा नहीं की है। केवल सामान्य ज्ञान सा ही ज्ञानेन्द्रियों और मनों में किया है। जैसे नेत्र रूप को तो जरूर दिखाता है, है तो वास्तव में यह भी ज्ञान ही परन्तु कैसा रूप है; किस का रूप है इत्यादि यह तो बताती नहीं। अतः केवल सामान्य रूप से ही बता सकती है। मन भी इसी का अनुकरण करता है। बुद्धि की तरह विशेष ज्ञान को यह भी नहीं कह सकता है। अतः बुद्धि का ही धर्म ज्ञान विज्ञान है।

बुद्धि और चित्त में भेद

शंका—आपने बुद्धि को चित्त से क्यों अलग कर दिया जब कि दोनों ज्ञान प्रधान हैं, और ज्ञान का ही उपार्जन करते हैं।

समाधान—चित्त बिलकुल सत्त्व प्रधान होने से भोग देने के लिये जीवात्मा को अपना सहयोगी बनाता है, क्योंकि इसकी स्वच्छता कुछ आत्मा के साथ मिलती जुलती है। सुख और दुःख का अहसास भी चित्त ही करने में समर्थ होता है। प्रायः स्वाभाविक ही हृदय पर हाथ रख कर कहते हैं, और अहसास कर के साक्षी के रूप में कहते हैं, हृदय या चित्त इस बात को स्वीकार नहीं करता है। जब कोई बात विचारने की होती है, तब मस्तिष्क को पकड़ कर सोचता है। विचार करता है। यह हृदय की अपेक्षा कुछ अलग ही बात है। निद्राकाल के सुख की अनुभूति भी चित्त में हो होती है। वहाँ सोच विचार का काम नहीं होता है, क्योंकि यह कार्य तो बुद्धि का ही होता है। इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी जो सोच विचार होता है, या जाग्रत्‌ काल में, अथवा विपर्यय विकल्प ज्ञान में जो सोच विचार करना होता है, इस को बुद्धि ही करती है। स्मृति का कार्य, निद्राकालीन सुख दुःख की अनुभूति चित्त में होती है। स्वप्न में स्मरण रूप कार्य चित का होता है। इन्द्रियों द्वारा जो कार्य होते हैं उनको कुछ अस्तव्यस्तरूप में बुद्धि कर देती है, अर्थात्‌ इस अवसर में दोनों अपना अपना कार्य करते हैं। निद्रा और समाधि काल में केवल चित्त ही कार्य करता है। समाधि का अभिप्राय यहाँ असंप्रज्ञात समाधि से है, जिस काल में अहमस्मि या अस्ति का बोध धारा प्रवाह से होता रहता है; अथवा केवल संस्कार निरोध मात्र ही होता रहता है। इसीलिये बुद्धि से इसका भेद किया है।

सम्प्रज्ञात समाधि में जितना भी विज्ञान होता है पुरुष, प्रकृति तथा इसके कार्यों का विवेक यह सब बुद्धि में ही होता है। यह सविचार अवस्था है। इसमें विज्ञान प्राप्त करने के समय, पदार्थ के स्वरूप और विज्ञान काल में ऊहापोह तर्क वितर्कपूर्वक निर्णय करना होता है, यह बुद्धि का ही व्यापार है। चित्त के विज्ञान में तर्क वितर्क, ऊहापोह विशेष नहीं होता है। बुद्धि जिस पदार्थ का निर्णय कर के दे देती है, केवल उस को निर्विचार अवस्था में पुनः अस्ति अस्ति या अस्मि अस्मि को दृढ़कर के रखता है। इसमें ननु न च नहीं करता है। ये कर्म चित्त के हैं—

१. आत्मा के प्रतिबिम्बों को ग्रहण करना।
२. सुख दुःख का अहसास (अनुभव) करना।
३. संस्कारों को धारण करना।
४. संस्कारों को स्मृति और अहंकार द्वारा उथल-पुथल करना।
५. निर्विचार अवस्था में अस्ति अस्ति, अस्मि अस्मि कह कर दुहराना।
६. संस्कारों का निरोध करना।

ये ६ कर्म इस के मुख्य हैं। अहंकार इन कर्मों में सामान्य रूप से सहयोग देता रहता है, और विशेष रूप में बुद्धि को सहयोग देता है। क्योंकि सङ्गी, सहकारी और समीपवर्त्ती है। इन्हीं हेतुओं से चित्त को बुद्धि से अलग माना है।

शेष सब कर्म बुद्धि के हैं। इन्द्रियों के जितने भी व्यापार हैं—स्थूल और सूक्ष्म, इन सबको बुद्धि ही करती है। मन के भी सब व्यापार बुद्धि द्वारा होते हैं। इन सब का सञ्चालन बुद्धि ही करती है, जाग्रत् के सब व्यापार बुद्धि द्वारा ही होते हैं। प्रमाण वृत्ति के व्यापार भी। प्रमाणों से अभिप्राय तीनों प्रमाणों से है। इन्द्रिय और मन के सन्निकर्ष, प्रत्यक्ष अनुमान, और शब्द प्रमाण से जो कर्म और ज्ञान प्राप्त होता है वह सब बुद्धि द्वारा होता है। विपर्यय ज्ञान=मिथ्याज्ञान; विकल्प ज्ञान=पदार्थ न होने पर भी पदार्थ का व्यवहार करना, जैसे मेरा मस्तिष्क; मस्तिष्क मुझ से अलग नहीं है, परन्तु नित्य ही ऐसा व्यवहार होता है। ये सब ज्ञान, विज्ञान्, अज्ञान इस बुद्धि के ही धर्म कर्म हैं। प्रकृति के यावत् कार्यों का बोध भी बुद्धि द्वारा ही होता है। प्रकृति, आत्मा, और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार भी इसी के द्वारा होता है। इन्हीं उपरोक्त धर्मों से चित्त और बुद्धि का भेद किया गया है।

समष्टि चित्त के पश्चात् समष्टि बुद्धि ज्ञानात्मक अनेक धर्मों को लेकर उत्पन्न होती है। समस्त ब्रह्माण्ड के भोग और अपवर्ग का यह हेतु बनेगी, इसी के आधार पर व्यवस्था चलेगी। जड़ से पशु, पशु से मानव, मानव से देवता यही बनाती है। सांख्य योग तो प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम इसी को मानते हैं। परन्तु हमारे अनुभव के आधार पर और भी कई प्रकृति के परिणाम हैं। जिनका वर्णन आगे आयेगा।

ज्ञान रूप इस समष्टि बुद्धि तत्त्व में ब्रह्म को व्यापक समझकर विज्ञानरूप भावना से ब्रह्म का प्रत्यक्ष करें, क्योंकि ब्रह्म भी ज्ञान रूप ही है। केवल अन्तर इतना ही है कि यह जड़ होते हुए ब्रह्म की चेतना से चेतनवत् सी बनी हुई है। जैसे अग्नि में लोहे का डला अग्नि सा ही बन जाता है। यह विज्ञान रूपता ब्रह्म से ही प्राप्त हुई है। ब्रह्म विज्ञान के लिये यह सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस ब्रह्म के विज्ञान से मानव के सब कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं। परम शान्ति की उपलब्धि होती है। यथा च उपनिषद्—

'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।'

—विद्वान् योगी धीर पुरुष उस ब्रह्म के विज्ञान से आनन्दरूप अमृत मोक्ष को प्राप्त करते हैं। तथा च—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मुण्डको० मु० २। खण्ड २। मंत्र ८।

—उस पर ब्रह्म के दर्शन हो जाने पर हृदय की सर्व ग्रन्थियें, उलझनें छिन्न भिन्न हो जाती हैं। सर्व प्रकार के संशय मिट जाते हैं। सब प्रकार के पाप पुण्यमय कर्म क्षीण हो जाते हैं। अपनी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। सर्व प्रकार के अविद्यात्मक संशयों का अभाव हो जाने पर, और कर्म क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यथा च—

'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।'

वैशेषिक दर्शन० अ० ५। सू० १८।

—कर्म, संशय, अविद्या, भोगवासना का अभाव होने पर शरीर के संयोग का अभाव होकर, पुनर्जन्म अभावरूप मोक्ष हो जाता है।'

समष्टि बुद्धि मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि बुद्धि का द्वितीय रूप)

२. समष्टि बुद्धि के स्वरूप में--

बुद्धि के जितने भी धर्म हैं, प्रत्येक की भिन्नता प्रतीत होती है। इस भेद में भी यह अभेद रूप से रहते हैं। इन्हीं के द्वारा बुद्धि की सत्ता का भी बोध होता है। ये बुद्धि रूपी धर्मी को छोड़ कर अलग नहीं होते हैं। अतः इनका परस्पर स्वरूप सम्बन्ध है। यही तादात्म्य सम्बन्ध है। इस प्रकार इसके स्वरूप को समझकर इसमें वर्तमान ब्रह्म भी भेद और अभेदरूप से दोनों तरह की अनुभूति का विषय बन जाता है। भिन्न पदार्थ है, इसलिये भेद है। व्यापक है इसलिये अभेद है। अतः दोनों प्रकार से ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। तथा चोपनिषद्—

'सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना।। कैवल्यो० मं० १०।

—आत्मा—ब्रह्म को सब भूतों वा पदार्थों में व्यापक समझे, और सब पदार्थों को ब्रह्म में स्थित समझे। इस प्रकार ब्रह्म को अच्छी तरह देखकर परम मोक्ष को प्राप्त होता है। इस से भिन्न और कोई कारण नहीं है और न मोक्ष का मार्ग ही है।'

ब्रह्म की उपासना और विज्ञान के विषय में वह बृहदारण्यकोपनिषद् के उद्दालक और याज्ञवल्क्य संवाद में याज्ञवल्क्य ने समाधान करते हुए यह कहा है—यथा

'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो,
यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरम्,
यो विज्ञानमन्तरो यमयति,
एष त अन्तर्याम्यमृतः ।।

बृहदारण्यको० अध्याय ३। ब्राह्मण ७। मं० २२।।

—जो ब्रह्म, विज्ञान में व्यापक रूप से ठहरा हुआ है। जो विज्ञान से भिन्न है। जिसको विज्ञान नहीं जानता है। जिस ब्रह्म का विज्ञान ही शरीर है। जो विज्ञान को अन्दर से सञ्चालन करता है। वह तेरा आत्मा अन्तर्यामीरूप अमृत है।'

यहाँ जीव और ब्रह्म दोनों का ग्रहण होता है। यह विज्ञान 'विज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्' के अनुसार वैराग्य की पराकाष्ठा पर दृढ़ता से खड़ा कर दे। वैराग्य ही मोक्ष का अनन्य साधन है।

समष्टि बुद्धि मण्डल

तृतीय रूप मे ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि बुद्धि का तृतीय रूप)

३. समष्टि बुद्धि के सूक्ष्म रूप में—

इस समष्टि बुद्धि का सूक्ष्म रूप महत् सत्त्व, महत् रजः तथा महत्तमः हैं। यही इसका उपादान कारण हैं। इन्हीं से इसका प्रादुर्भाव होता है। यहाँ तीनों गुण सामान्य हैं और समष्टि बुद्धि विशेष है। व्यष्टि बुद्धियाँ समष्टि मण्डल से उत्पन्न होती हैं। यह समष्टि मण्डल ही व्यष्टि बुद्धियों का उपादान कारण है। समष्टि से ही व्यष्टि का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ समष्टि मण्डल सामान्य और व्यष्टि बुद्धि विशेष है। सामान्य और विशेष का समुदाय ही भेद में अनुगत अयुत सिद्ध द्रव्य सिद्ध होता है। यही इसकी सूक्ष्म अवस्था है।

इस सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। योगी को इस समष्टि बुद्धि के मण्डल में ध्यान द्वारा अपनी सूक्ष्म बुद्धि से इसके स्वरूप का और ब्रह्म के स्वरूप दोनों का ही साक्षात् करना चाहिये। यथा उपनिषद्—

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु,
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

मुण्डको० मुण्डक ३। खण्ड १। मं० ८

—सात्त्विक शुद्ध बुद्धि से ज्ञान रूपी प्रसाद के द्वारा उस निष्कल पवित्र ब्रह्म को ध्यानावस्थित होकर देखे।

'प्रमादो ब्रह्म-निष्ठायां, न कर्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याहु र्विद्यायां ब्रह्मवादिनः ॥

अध्यात्मो० मंत्र १४।

—ब्रह्म की निष्ठा या प्राप्ति में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मवादियों ने प्रमाद को मृत्यु कहा है।'

तैत्तिरीयोपनिषद् में विज्ञान की बहुत प्रशंसा की है। यथा—

'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्।
विज्ञानाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ॥

—विज्ञान ही ब्रह्म है। अतः विज्ञान को ही ब्रह्म जाने। विज्ञानात्मक ब्रह्म से ही निश्चय पूर्वक सब भूत उत्पन्न होते हैं, और अन्त में प्रलय काल में विज्ञान रूप ब्रह्म में ही प्रवेश करते हैं। यह विज्ञान बुद्धि का भी धर्म है। इसी द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति या विज्ञान होता है। इसी के द्वारा परवैराग्य के तत्त्व को समझ धारण करें।

समष्टि बुद्धि मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि बुद्धि का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि बुद्धि के अन्वय रूप में—

प्रकृति पदार्थ होने से ज्ञान और क्रिया अपने गुणों को लेकर अनुगत होते हुए इस समष्टि बुद्धि मण्डल और व्यष्टि में भी कारणरूप से अनुपतित हुई है। अतः इसमें

अन्वयरूप धर्म प्रकृति से आया है। इसमें भी ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। विवेक के साथ वशीकारोत्तरवर्त्ती पर वैराग्य को दृढ़ता के साथ धारण करता जाये।

समष्टि बुद्धि मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि बुद्धि का पञ्चम रूप)

५. समष्टि बुद्धि के अर्थवत्त्व रूप में—

समष्टि बुद्धि में प्रत्येक प्राणी के लिये अर्थवत्ता है। यह कार्य भाव को प्राप्त होकर सर्व जीवों के लिये भोग और मोक्ष का हेतु होती है। योगी के लिये यह ऋतंभरा के रूप में आत्म-साक्षात्कार का हेतु बनती है। संशय, विपर्यय, विकल्प के रूप में यह अज्ञान और बन्ध का हेतु भी होती है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन करने में और विज्ञान प्राप्ति में यह २५वां पदार्थ है। जीवात्मा को मोक्ष-प्रदान करने में मुख्य कारण यही है। ब्रह्म का विज्ञान कराने और सब पदार्थों के बोध में यही मुख्य साधन है। सम्प्रज्ञात समाधि में जो भी अनुभव होते हैं, वे इसी के द्वारा होते हैं। विज्ञान में जो उस काल में संवृद्धि होती है वह भी इस का परिणाम विशेष या धर्म विशेष होता है। जीवात्मा और ब्रह्म के ऊपर जो मलविक्षेप आवरण माने गये हैं:—

१. मल—इन्द्रियों के द्वारा जो पाप होते हैं, इन्हें मल कहते हैं।

२. विक्षेप—विषयों के भोग से जो बुद्धि या मन में चञ्चलता आती है, इसे विक्षेप कहते हैं।

३. आवरण—आत्मा के ऊपर जो अज्ञान या अविद्या से परदा पड़ा है उसे आवरण कहते हैं।

इनका विध्वंस करने में भी यही मुख्य कारण होती है। जीवात्मा के बन्ध का कारण भी यही अज्ञान या अविद्या के रूप में होती है। इसमें ये दो गुण ही मुख्य हैं, बन्ध और मोक्ष। इसके दो रूप हैं १. विद्या २. अविद्या। इस विषय में यजुर्वेद में यह श्रुति पढ़ी गयी है। यथा—

'विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

यजुर्वेद० अ० ४०। मं० ११।

—जो योगी इस बुद्धि रूपी विद्या अविद्या के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, जान लेता है। यह प्रकृति का कार्य होने से जड़ात्मक है बन्ध का हेतु होने से अविद्या ही है। जब यह अविद्या परिणत होते हुए ऋतंभरा के रूप में जा पहुँचती है, उस समय यह जन्ममरण के बन्धन से मुक्त कर देती है। यह अर्थ हुआ 'अविद्यया मृत्युंतीर्त्वा' का, और 'विद्ययामृतमश्नुत' का अर्थ हुआ कि यह ज्ञान का रूप बन कर, समाधि द्वारा उज्ज्वल हो कर प्रान्त भूमि प्रज्ञा के रूप में मोक्ष या अमृत को प्राप्त कराने में समर्थ होती है।'

इसी की पुष्टि में उपनिषद् में और भी कहा है। यथा—

'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये, न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।।४।।
अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्तिमूढ़ाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।५।।
कठ० अ० १। वल्ली २। मं० ४। ५।।

—यह अविद्या और विद्या दोनो विपरीत स्वभाव वाली हैं। अविद्या संसार में ले जाकर बान्धने वाली है, और विद्या मोक्ष प्रदान करने वाली है। हे नचिकेता: तूने विद्या की ही अभिलाषा की है, ऐसा मैं समझता हूँ। तुझ को बहुत प्रकार के लोभो ने भी लुभायमान नहीं किया है। जो अविद्या के अन्दर फंसे हुए हैं; वे अज्ञानवश अपने को स्वयं ही धीर-बुद्धिमान् और पण्डित मानने वाले दुरभिमानी बने हुए हैं। जैसे मूढ़ पुरुष अन्धे के पीछे चलकर, भटकते हुए किसी गर्त में गिर जाते हैं, ऐसी ही स्थिति अविद्या के मार्ग में चलने वाले संसारी पुरुषों की होती है।

बुद्धि की इस पंचम अवस्था का साक्षात्कार करते हुए ब्रह्म का भी साक्षात्कार करे, और व्यष्टि बुद्धि के सहारे पर वैराग्य को संभाले रहे। जिस से विवेकोत्तर मोक्ष प्राप्ति में कोई वाधा न हो।

इति समष्टि बुद्धि मण्डलम्।

इति तृतीयाध्याये चतुर्थः खण्डः।

इति नवममावरणम्।।

महत् त्रिगुणात्मक सृष्टि

पञ्चम खण्ड

८वाँ आवरण

समष्टि चित्त मण्डलम्

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि चित्त का प्रथम रूप)

१. समष्टि चित्त के स्थूल रूप में—

यह समष्टि चित्त मण्डल महत्सत्त्व प्रधान त्रिगुणात्मक है। यह अन्तःकरण चतुष्ठय के उपादान कारण में सर्वप्रथम है। इसी में सम्पूर्ण संस्कार ठहरते हैं। संसार में जितने भी जीव हैं, इन सबके धर्मा-धर्म संस्कार इसी समष्टि चित्त मण्डल के विश्व-गर्भ में ठहरते हैं। सृष्टि काल में अनन्त जीवों के अनन्त संस्कारों को यही धारण करता है। प्रलय काल की अवस्था में यही समस्त प्राणियों के संस्कारों को धारण करके अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है।

समष्टि चित्त—सर्वप्रथम जब यह मण्डल कार्य रूप में परिणत होता है तो असंख्य व्यष्टि चित्तों में इसका परिणाम हो जाता है। चित्र सं० १३ में देखें वे व्यष्टिचित्त ही संचित और प्रारब्धोन्मुख संस्कारों को लेकर भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। यह ही जीवात्मा के साथ संयुक्त होकर इसके बन्धन का हेतु बनता है। अनादि काल से इसके साथ बन्ध और मोक्ष का सम्बन्ध चला आता है। यथा—

'चित्तं कारणमर्थानां, तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं, तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥

महोपनिषत् अ० ३। मं० २१।

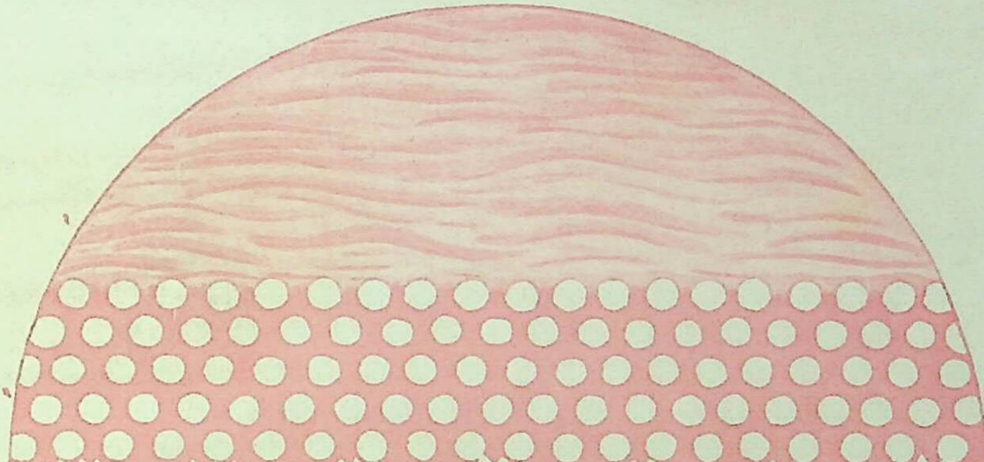
—सब प्रकार के भोगों का मूल यह चित्त है। इसी समष्टि चित्त में सम्पूर्ण जगत् ठहरा हुआ है। इसके क्षीण होने पर जगत् का नाश होगा। अतः प्रयत्नपूर्वक कटिबद्ध होकर इसके नाश का उपाय करना चाहिये।

समष्टि पदार्थों को भगवान् ही निर्माण करता है। व्यष्टियों को योगी भी निर्माण कर सकता है, समष्टियों को नहीं। इसलिए समष्टि और व्यष्टि दोनों का मानना

चित्र संख्या १३ के विवरण में नं० १. समष्टि चित्त जब परिणाम भाव को प्राप्त होकर व्यष्टि चित्तों को उत्पन्न करने चला है उस अवसर में इसमें अत्यन्त तीव्र रूप में क्षोभ होकर ये तरंगें उत्पन्न होती हैं। तब व्यष्टि चित्तों की उत्पत्ति होती है। उस ब्रह्म की चेतन सत्ता के सन्निध्य से यह समष्टि चित्त मण्डल गतिशील होकर व्यष्टि चित्तों को उत्पन्न करने लगता है।

नं० २ में सम्पूर्ण व्यष्टि चित्त उत्पन्न होकर प्रशान्त अवस्था में आकाश मण्डल में स्थिर हो गये हैं। अब ये सूक्ष्म शरीरों में भोग और अपवर्ग सम्पादन करने जा रहे हैं।

नं० ३ में स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में इनकी कार्यशीलता दिखाई गई है। इनके अन्दर में जो स्वेतिमा स्थान है इसमें जीवात्मा का वास होता है।



चित्र सं० १२

समष्टि चित्त से व्यष्टि चित्तों की उत्पत्ति

आवश्यक है। समष्टि सृष्टि साक्षात् रूप से जीव को भोग प्रदान करने में समर्थ नहीं होती। व्यष्टि सृष्टि ही भोग देने में समर्थ है। अतः व्यष्टि की ही विशेष व्याख्या की गयी है।

वास्तव में यह कारण कार्यात्मक चित्त ही बन्ध का हेतु है। यथा—

'चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशदूषितम्।
तदेव तैः विनिर्मुक्तं, भवान्तः इति कथ्यते॥'

महोपनिषद् अ० ४। मं० ६६॥

—यह चित्त ही संसार में राग द्वेष अभिनिवेश आदि दोषों को पैदा करता है। जब तक इनसे मुक्त नहीं होता तब तक संसार का अन्त नहीं होगा। दुःख क्लेश आदि बने ही रहेंगे। सर्ववासनाओं का क्षेत्र यही है। इसी में वासनायें अंकुरित होकर पनपती हैं। फलती-फूलती रहती हैं। इस विषय में उपनिषद् कथन करती है। यथा—

'यावन्न चित्तोपशमो, नतावत्तत्त्ववेदनम्।
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः॥
यावन्न तत्त्व-संप्राप्ति र्नतावद्वासनाक्षयः॥

अन्नपूर्णोपिनिषद् अ० ५। मं० ८०॥

—जब तक चित्त शान्त नहीं होता है, तब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि वासनायें (संस्कार) इसे शान्त होकर नहीं बैठने देतीं। जब तक वासनाओं का नाश नहीं होता है, तब तक आत्म साक्षात्कार और मोक्ष भी नहीं होता है। ये जन्म-मरण के हेतु बने ही रहेंगे।

जब यह महत् सत्त्व प्रधान समष्टि चित्त मण्डल भोग प्रदान करने के लिए विकार भाव को प्राप्त होता है अपने सब धर्मों सहित अनन्त चित्तों का उत्पादन करता है। चित्त के धर्म ये हैं—

१. ज्ञान	२. क्रिया	३. जीवन	४. शक्ति
५. परिणाम	६. संकोच	७. विकास	८. धर्म
९. संस्कार	१०. निरोध	११. स्मृति	१२. परिज्ञात हेया
१३. क्षीणहेयहेतुका	१४. साक्षात्कृतहाना	१५. भावितहानोपाया	१६. चरिताधिकारा
१७. गुण प्रयोजना भावा	१८. गुण सम्बन्धा-तीता	१९. ऋतंभरा	२०. विशोका
२१. विम्बीभाव	२२. अनुद्भूत प्रकाश रूप	२३. शुभ्रता	२४. आनन्द
२५. शान्ति	२६. सुख	२७. प्रणिधान	२८. हर्ष
२९. आह्लाद	३०. वैराग्य	३१. अविद्या	३२. अस्मिता
३३. राग	३४. द्वेष	३५. अभिनिवेश	३६. मोह
३७. संवेद	३८. इच्छा	३९. चिन्तन	४०. संकल्प
४१. शोक	४२. भय	४३. चिन्ता	४४. तृष्णा
४५. संयोग	४६. क्षोभ	४७. व्युत्थान	४८. जाग्रत्
४९. स्वप्न	५०. निद्रा	५१. तन्द्रा	५२. प्रमाद
५३. दुःख	५४. बन्ध	५५. मोक्ष	

इन धर्मों को साथ लेकर परिणत होता है।

१. **ज्ञान**—चित्त का सर्वप्रथम धर्म ज्ञान रूप में प्रकट होता है। जोकि मुख्य रूप से मोक्ष का हेतु बनता है। जीवात्मा को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कराने वाला है। इस लोक और परलोक को सुखी, शान्त सर्व उपद्रवों से रहित, और आनन्दयुक्त बनाने वाला है।

आत्मा भी ज्ञान स्वरूप है

(शंका) यदि जीवात्मा ही ज्ञान स्वरूप है तब चित्त को ज्ञान वाला मानने की क्या आवश्यकता है। क्या जीवात्मा की ज्ञानरूपता में कुछ कमी रह गयी जिसको यह चित्त पूरा करता है?

(समाधान) जीवात्मा ज्ञान स्वरूप होते हुए भी अपने को अज्ञानी समझता है, इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए चित्त के ज्ञान रूपी धर्म की जरूरत पड़ती है। यदि यह भ्रान्ति न होती तो कोई आवश्यकता न होती।

(शंका) जीवात्मा तो अल्पज्ञ है, क्या इस अल्पज्ञता को दूर करने के लिए चित्त के विज्ञान धर्म को मानना पड़ा।

(समाधान) अल्पज्ञता का अर्थ है थोड़ा ज्ञान। अल्प=थोड़ा; ज्ञता=ज्ञान। ब्रह्म की सर्वज्ञता की अपेक्षा जीव को अल्पज्ञ कहा गया है। क्योंकि आत्मा भी अत्यन्त सूक्ष्म है, जिसके विभाग नहीं हो सकते, अत्यन्त सूक्ष्म। अतः इसका ज्ञान भी अल्प ही होना चाहिए। अणु होने के कारण इस का ज्ञान अल्प है। ज्ञानाभाव तो नहीं कहा है। यदि ज्ञान का सर्वथा अभाव कहते तब तो चित्त के ज्ञान की इसे आवश्यकता होती है। अतः ब्रह्म की सर्वज्ञता की अपेक्षा अल्पज्ञता कही गयी है।

(शंका) तब तो चित्त का ज्ञान व्यर्थ हो जाता है।

(समाधान) व्यर्थ सिद्ध नहीं होता। आप संसार के प्राणियों को प्रत्यक्ष देख रहे हैं; ज्ञान स्वरूप होते हुए भी भ्रान्त हैं। इस भ्रान्ति की निवृत्ति यही करेगा।

(शंका) यदि जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप न माना जाये और चित्त के संयोग से ज्ञानोत्पत्ति मान ली जाये तो?

(समाधान) यदि जीव को ज्ञान स्वरूप नहीं मानोगे तो जड़ मानना पड़ेगा। जड़ होने से चित्त के समान ही हो जायेगा।

(शंका) इस जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप होते हुए भी यह भ्रान्ति कहाँ से उत्पन्न हुई है, जिसे आप दूर करना चाहते हैं?

(समाधान) जो बद्ध है, वह मुक्त भी होगा। जीवात्मा एक देशी है अतः प्रकृति के जाल में फँस जाता है और भ्रान्त हो जाता है, फिर इससे अलग होने का यत्न करता है। इस प्रकार इसका अनादिकाल से बद्ध मोक्ष का सिलसिला चला आता है, और चलता रहेगा। जब ब्रह्म इस माया के जाल में फँसा हुआ है, तब यह बेचारा जीव कैसे अलग रह सकता है। ब्रह्म के चक्र से तात्पर्य है प्रकृति के संहार और उत्पत्ति का। यह निमित्त कारण बन कर प्रकृति के अनेक कार्य करता है।

(शंका) तो क्या आप जीवात्मा के समान ईश्वर भी बद्ध होना मानते हैं ?

(समाधान) ईश्वर एक देशी नहीं है। एक देशी का ही बन्ध हो सकता है। ईश्वर अनन्त है, सर्व देशी है, अतः किस देश में कैसे प्रकृति बांधेगी।

चित्त के ज्ञान रूप धर्म की व्याख्या चल रही थी।

२. **क्रिया**—क्रिया का अर्थ है गति, चेष्टा। क्योंकि इसने जीवात्मा के कारण बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय आदि को गति देनी है, अतः इसमें क्रिया धर्म है।

(शंका) जब सर्वप्रथम ईश्वर के सन्निधान से प्रकृति में ज्ञान, क्रिया, धर्म उत्पन्न हो चुके हैं तब यहाँ चित्त में वर्णन की क्या आवश्यकता है ?

(समाधान) वहाँ प्रकृति की ज्ञान क्रिया ने समष्टि पदार्थों में कार्य करना है। यहाँ व्यष्टि पदार्थों के रूप में जीवों को भोग देने का कार्य चित्त ने करना है और इनके करण बनकर सब कार्य करने हैं। इसलिए यहाँ विशेष रूप से कथन की जरूरत पड़ी।

(शंका) जैसे ब्रह्म के संयोग से प्रकृति में ज्ञान और क्रिया पैदा हो गयीं, ऐसे ही जीवात्मा के संयोग से चित्त में भी ज्ञान और क्रिया पैदा हो जायेंगी। अलग वर्णन करने की क्या आवश्यकता ?

(समाधान) कारण के गुण कार्य में आते हैं, अतः सूक्ष्म रूप से ज्ञान क्रिया चित्त में भी आती हैं, परन्तु यह सामान्य रूप में ही होती हैं। जीवात्मा के संयोग से भोगात्मक विशेष ज्ञान और क्रिया का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञान से चित्त और बुद्धि में विलक्षण भोगात्मक और ज्ञानात्मक शक्ति पैदा हो जाती है। और क्रिया से सूक्ष्म प्राणात्मक जीवनी शक्ति बनकर तीनों शरीरों में जीवन का सञ्चार करती है। जीवात्मा के संयोग से यहाँ क्रिया में जीवन-सा भर जाता है। कुछ चेतना-सी आ जाती है, क्योंकि इसने जीवात्मा को भोग प्रदान करना है। इसी प्रकार ज्ञान से भी जीवन में चेतना-सी भर जाती है। जोकि चेतनवत् बनकर चित्त, बुद्धि और जीवात्मा के करण के रूप में भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं।

३. **जीवन**—जीवन का अर्थ है प्राणधारण, जो कि शरीर में देखने में आता है। यह श्वास प्रश्वास रूप में है। वैसे तो श्वास प्रश्वास वायु भूत का ही कार्य है, परन्तु श्वास प्रश्वास बाहर की वायु के समान नहीं है। इनमें जीवन सा, चेतना सी भरी हुई है, जो सूक्ष्म प्राण से आयी है। जब जीवात्मा और चित्त का संयोग होता है, तब सूक्ष्म प्राण की उत्पत्ति होती है। यह इस जीवन रूप गुण को लेकर शरीर में सर्वत्र जीवन का सञ्चार करता है।

४. **शक्ति**—अर्थात् तीनों शरीरों के कार्य करने की सामर्थ्य या बल। यह स्थूल शरीर में प्रत्यक्ष, और सूक्ष्म में अनुमान से जानी जाती है। यह शक्ति ही उद्भूत रूप से तीनों में कार्य कर रही है।

५. **परिणाम**—विशुद्ध महत्सत्त्व का कार्य होने से प्रतिक्षण, धर्म, लक्षण अवस्था रूप से चित्त में सदा परिणाम होता रहता है। प्रथम कारण रूप समष्टि चित्त से कार्य रूप व्यष्टि चित्त में आना धर्म परिणाम है। अनागत अवस्था को छोड़ वर्त्तमान अवस्था में आया। धर्मों में अतीत अनागत अवस्था यह लक्षण परिणाम है। दिन प्रति-

दिन इसमें पुराणता आ रही है एक दिन प्रलय अवस्था में जाएगा, यह इस में अवस्था परिणाम समझना चाहिए। यहाँ तीनों परिणामों में धर्म धर्मी का अभेद है।

६. **संकोच**—मच्छर आदि जन्तुओं के शरीर में जब जाता है तो वहाँ संकुचित होकर प्रवेश करता है, अतः सुकड़ जाना इस का धर्म है।

७. **विकास**—मनुष्य, हाथी या ह्वेल मछली के शरीर में जब प्रवेश करता है तो वहाँ विस्तार को प्राप्त होकर बड़े आकार का हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक शरीर को इस ने व्याप्त करके ठहरना है। आप इस दृष्टान्त से समझें—यदि दीपक को एक घड़े में रख दिया जाये तो घड़े को ही प्रकाशित करता है। यदि बड़े हाल में रख दिया जाए तो हाल को प्रकाशित कर देता है। दीपक में दीप शिखा बहुत छोटी सी होती है। अधिक-से-अधिक एक इन्च लम्बी चौथाई इन्च मोटी या चौड़ी होती है। परन्तु मैदान में रखने से अपनी किरणों द्वारा बहुत दूर तक प्रकाश फेंकती है। इसी प्रकार चित्त हृदय प्रदेश में एक बहुत छोटा सा अणु सा होता है, परन्तु अपनी रश्मियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में प्रकाश को फैंकता रहता है। जिस से तीनों शरीरों के कार्य चलते रहते हैं।

८. **धर्म**—धर्म से अभिप्राय पाप पुण्य का है। पाप पुण्य के आधार से कर्म में प्रवृत्ति होती है। फिर इससे सुख-दुःख का भोग होता है। इस गुण के द्वारा पूर्व जन्म का अनुमान हो जाता है कि इसका कर्म पुण्यात्मक था या पापात्मक। पुण्यकर्म से अच्छे कुल में अच्छे माँ बाप के यहाँ जन्म होता है। जहाँ सब प्रकार के आराम और सुख के साधन प्राप्त होते हैं। पुनः जीवन में शीघ्र ही उन्नति करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। यदि पापात्मक होता है तो अत्यन्त छोटे नीचे खानदान में माता-पिता के यहां जन्म होता है। जहां पेट भर खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र भी प्राप्त नहीं होते हैं। अच्छी तरह शिक्षा प्राप्त करने का भी अवसर भी नहीं मिलता है। साधनों का अभाव होता है।

९. **संस्कार**—इन्हें वासना भी कहते हैं। ये ही वास्तव में जन्म का हेतु बनते हैं। इन्हें लेकर चित्त गमन करता है। ये कारण और कार्य रूप चित्त में सदा ओत प्रोत होकर रहते हैं। स्मृति सदा इनको उथल-पुथल कर जगाती रहती है। क्रिया शील बनाये रखती है। इन संस्कारों को संयम द्वारा साक्षात कर लेने पर योगी को पूर्व जन्म की जाति का भी ज्ञान हो जाता है, कि मैं मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि किस जाति में था। यथा योग दर्शने—

'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।

योग० विभूतिपाद० सूत्र १८॥

महर्षि जैगीषव्य ने अपने सैंकड़ों जन्मों का पता लगाया था।

आवट्यस्तनुधर मुनि ने इनसे पूछा—इतने जन्मों का साक्षात्कार करके आपने क्या देखा?'

तब ऋषि ने उत्तर दिया—मैं जितने भी पशु पक्षी तथा अन्य जन्तुओं के शरीर में रहा, फिर मनुष्य देवादि शरीरों में भी रहा, सब का मुझे ज्ञान है। बार-बार उत्पन्न होकर जो कुछ मुझे अनुभव हुआ है—"तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यैवमि।" वह सब दुःख रूप ही देखने में आया हैं।

पुनः तनुधर ने पूछा—"इस समय जो आप सुख सन्तोष और आनन्द-पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, क्या इसे भी आपने दुःख रूप ही समझा है ?"

श्री महाराज जी ने उत्तर दिया—"विषय के सुखों की अपेक्षा यह सन्तोष सुख बहुत उत्तम है। परन्तु कैवल्य मोक्ष की अपेक्षा यह भी दुःख रूप ही है।"

व्यास भाष्य सूत्र ८। विभूति पाद।

१०. **निरोध**—यह धर्म साक्षात् रूप से मोक्ष प्रदान करने वाला है। यही श्रेष्ठ धर्म असम्प्रज्ञात समाधि को उत्पन्न करने वाला है। यही संस्कारों का निरोध करके व्युत्थान को उत्पन्न नहीं होने देता है जो वृत्तियों के समान ही चित्त को बना देता है। सब वृत्तियों का निरोध इसी के द्वारा होता है। आत्म-दर्शन की योग्यता मुख्यरूप से इसी में है। यह आत्म-दर्शन और ब्रह्म-दर्शन को दृढ़ बनाता है। अस्मि और अस्ति के रूप में दृढ़ी भूत कर देता है। धर्म मेघ समाधि को भी यही पैदा करता है। योग दर्शन कार ने 'योगानुशासनम्' इस सूत्र के द्वारा योग की शिक्षा को प्रारम्भ करके दूसरा सूत्र "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" दिया है। जितने भी धर्मों का वर्णन हो चुका है और होगा। यह सब चित्त वृत्तियाँ ही हैं। ये सब चित्त के ही धर्म हैं। अतः इन सब धर्मों और वृत्तियों का निरोध करने के लिए चित्त का निरोध धर्म ही है। जो जीव और ब्रह्म के स्वरूप को साक्षात्कार करा देता है।

११. **स्मृति**—स्मृतिधर्म हर समय संस्कारों को उलट-पलट कर क्षोभ बनाए रखती है। सब वृत्तियों में यह मुख्य वृत्ति है। इसी के आधार पर सब अपना-अपना कार्य करती हैं। स्वप्न भी इसी के द्वारा आते हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में यही कार्य करती है। सात प्रकार की 'प्रान्त भूमि प्रज्ञा' भी इसी के धर्म हैं। इनका व्याख्यान समष्टि बुद्धि के स्थूल रूप में देखें। चित्त और बुद्धि ज्ञान प्रधान हैं। अतः प्रान्त-भूमि प्रज्ञा दोनों के ही धर्म हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से धर्म समान ही हैं।

१९. **ऋतंभरा**—और विशोका ज्योतिष्मती—ये भी चित्त के धर्म हैं। आत्म दर्शन में दोनों सहायक हैं।

२०. **बिम्ब भाव**—चित्त में आभास पड़ने का धर्म है। आत्मा के बिम्ब को ग्रहण करता है।

शेष धर्मों की व्याख्या की आवश्यकता नहीं। नाम से बोध हो जाता है। इन धर्मों को लेकर ही चित्त जीवात्मा के साथ भोग और अपवर्ग देने के लिए संयुक्त होता है। जीवात्मा को अपने अन्दर धारण कर लेता है, क्योंकि जीवात्मा इससे सूक्ष्म है। इसके दूसरे अहंकार बुद्धि आदि करणों का संयोग होता है। यह सब मिल कर आत्मा को भोग और मोक्ष प्रदान करने में प्रयुक्त हो जाते हैं। इनके साथ मिला हुआ जीवात्मा अपने को बद्ध समझ लेता है, और फिर मुक्त होने के उपाय करता रहता है। इसी प्रकार का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है, और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

सब चित्तों के उपादान कारण इस समष्टि चित्त में भगवान् को व्यापक समझ कर उसकी उपासना करनी चाहिये क्योंकि इस विज्ञानात्मक पदार्थ का बहुत कुछ सादृश्य है, केवल अन्तर इतना ही है कि यह ईश्वर की अपेक्षा स्थूल है। अतः स्थूल में सूक्ष्म का

अनुभव करना चाहिये। मुण्डकोपनिषद् में परा विद्या का वर्णन आता है। वह इसी चित्त का धर्म विशेष है जो कि असंप्रज्ञात समाधि में उत्पन्न होती है। यथा –'परायया तद क्षरमधिगम्यते।'—इस परा विद्या के द्वारा अक्षर नाश रहित ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस चित्त का परिणाम विशेष यह परा विद्या है। इसके द्वारा ही भगवान के दर्शन होते हैं। यथा—

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं,
तदपाणिपादंयद् नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं,
तदव्ययंयद भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।। मुण्डक० ख० १। मं० ६॥

—वह ब्रह्म न देखा जा सकता है, न पकड़ा, और न ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि वह मनुष्य के समान शरीर धारी नहीं है जिसका कोई गोत्र या ब्राह्मण आदि वर्ण हो। न उसके नेत्र हैं, न श्रोत्र, न हाथ, न पैर। वह नित्य है। विभु है। सब में व्यापक अत्यन्त सूक्ष्म और नाश रहित है। जो सब पञ्चभूत आदि की योनि है, कारण है। जिसको धीर विद्वान् योगी देखते हैं। दर्शन करते हैं। चित्त के द्वारा अनुभव और प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार करते हैं।'

अतः यह ब्रह्म इसी विशुद्ध चित्त सत्त्व के साक्षात्कार का विषय है। योगियों को ऋतंभरा प्रज्ञा द्वारा असंप्रज्ञात समाधि में इसका साक्षात्कार होता है। इसके उपरान्त ही पर वैराग्य से मोक्ष प्राप्त होता है। वास्तव में ब्रह्म यहाँ दोनों समाधियों का विषय बन जाता है। जब इसका विज्ञान उहा पोह तर्क वितर्क से करते हैं, तब यह सम्प्रज्ञात समाधि का विषय होता है। वह सविचार अवस्था में होता है, जहाँ केवल ब्रह्म के अस्ति-अस्ति का बोध होता है तब यह निर्विचार का विषय हो जाता है। जब इस निर्विचार में इसके साक्षात्कार के अनुराग का अभाव करने लगता है क्योंकि यहाँ भी रागात्मक संस्कार है, तब असम्प्रज्ञात का विषय बन जाता है।

समष्टि चित्त-मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि चित्त का द्वितीय रूप)

२. समष्टि चित्त के स्वरूप में—

व्यष्टि चित्त के जिन क्रिया आदि अनेक धर्मों का वर्णन पहिले किया गया है, इन सब धर्मों का समष्टि और व्यष्टि चित्त के साथ धर्म धर्मी-भाव सम्बन्ध है। भेद होते हुए भी स्वरूप से अभेद है। अतः दोनों का परस्पर स्वरूप सम्बन्ध या तादात्म्य सम्बन्ध है। इस तादात्म्य सम्बन्धमें भी ब्रह्म सूक्ष्म रूप से इन दोनों के अन्दर वर्तमान है। तथाचोपनिषद्—

'ओमित्येवध्यायथथ आत्मानं,
स्वस्ति वः परास्यय तमसः परस्तात्॥

मुण्डक० मुण्डक २। खं० २। मं० ६।

--ओम् नाम से इस ब्रह्म का इस विशुद्ध चित्त सत्त्व में ध्यान करे जोकि आत्मा रूप है, अन्धकार से रहित है, और कल्याण करने वाला यह ब्रह्म है।' अतः इस समष्टि व्यष्टि चित्त में इसका साक्षात्कार करना चाहिये। और भी कहा है। यथा—

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु,
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।

मुण्डक० मुण्डक ३ । खं० १ । मं० ८।।

—जिस विशुद्ध चित्त सत्त्व का हम वर्णन कर रहे हैं इसी के ज्ञान रूपी गुण के द्वारा ध्यान योगी सर्वक्लेशों से मुक्त विशुद्ध ब्रह्म को देखते हैं।' इस ब्रह्म की सर्वत्र महिमा वर्णन की गयी है। और भी उपनिषद् ने कहा है। यथा—

'यथाऽग्निः दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं बिना ।
बिना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा नहि ।।

योगशिखोपनिषद्० अ० ६ । मं० ७६।।

—जैसे लकड़ियों में अग्नि होती है पर वह बिना मन्थन के रगड़ के प्रज्वलित नहीं होती है, इसी प्रकार बिना योगाभ्यास के वह ज्ञान रूपी दीप या ब्रह्म विद्यारूपी सूक्ष्म मेधा, अथवा ऋतंभरा प्रज्ञा उत्पन्न होकर ब्रह्म दर्शन कराने में समर्थ नहीं होती है। अतः योगी को समष्टि व्यष्टि चित्त के धर्म विशेष, सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात ज्ञात समाधि में उत्पन्न प्रान्त भूमि प्रज्ञा द्वारा इस समष्टि व्यष्टि चित्त में ही ब्रह्म साक्षात्कार करना चाहिये। यह व्यष्टि समष्टि चित्त तत्त्व ब्रह्म के साक्षात्कार का सर्व श्रेष्ठ साधन है। इस विज्ञान घन में ही ज्ञान स्वरूप चेतन ब्रह्म के दर्शन ठीक रूप में हो सकते हैं। इस समष्टि चित्त के विज्ञान की अवस्था में पहुंचकर बहुत से योगियों को भ्रान्ति हो जाया करती है। वे इस तत्त्व को ही ब्रह्म समझकर उपासना किया करते हैं, क्योंकि यह महान् भी ब्रह्म की व्यापकता से चेतनवत् सा बना हुआ है। जैसे सम्पूर्ण विश्व को इसी महत् सत्त्व के विज्ञान ने आच्छादित किया हुआ है। यह सूक्ष्म होने से आकाशवत् अन्दर और बाहर व्यापक होकर ठहरा हुआ है। इस को ही ब्रह्म मान कर जिन योगियों का मोक्ष हो जाता है वे दस हजार मन्वन्तर तक इसी में निवास करते हुए इसके आनन्द का उपभोग करते हैं। अतः इसको ब्रह्म न समझकर इसकी महान् सूक्ष्मता में इसके प्रेरक ब्रह्म की खोज करनी चाहिये, क्योंकि वह चेतन ब्रह्म इस से विलक्षण और अत्यन्त सूक्ष्म है। यह परिणामी है और ब्रह्म अपरिणामी, नित्य सदा एक रूप, सर्व विकारों से रहित विशुद्ध सत् चित् आनन्द स्वरूप है।

समष्टि चित्त मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि चित्त का तृतीय रूप)

३. समष्टि चित्त के सूक्ष्म रूप में—

इस समष्टि चित्त को समष्टि विशुद्ध सत्त्व प्रधान भी कहते हैं। यह तीनों गुणों का कार्य-विशेष है। यही समष्टि चित्त की सूक्ष्म अवस्था है। व्यष्टि चित्त इस समष्टि का कार्य है। यही व्यष्टि चित्त की सूक्ष्म अवस्था है। इस प्रकार सामान्य तीनों गुण और विशेष समष्टि चित्त सत्त्व, और समष्टि चित्त सामान्य तथा व्यष्टि चित्त विशेष संघात को प्राप्त होकर भेदानुगत समुदाय ही अयुत सिद्ध द्रव्य बनता है।

इस सूक्ष्मावस्था में भी ब्रह्मानुभूति करनी चाहिये, क्योंकि वह ब्रह्म इससे भी अति सूक्ष्म है। उपनिषद् ने भी कहा है—सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं विभाति।'—वह ब्रह्म सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होकर प्रकाशमान हो रहा है। ध्यान बिन्दूपनिषद् में कहा है। यथा—

पुष्पमध्ये यथा गन्धः, पयोमध्ये यथाघृतम्।
तिलमध्ये तथा तैलम्, पाषाणेष्विव काञ्चनम् ॥५॥
एवं सर्वाणि भूतानि, मणौसूत्रमिवात्मनि।
स्थिर-बुद्धिरसंमूढो, ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥६॥

—जैसे पुष्प में गन्ध व्याप्त है, दूध में घृत व्याप्त है, तिलों में तैल व्याप्त है, और पत्थर में सोना। इसी प्रकार सब भूतों में, माला के मणकों में पिरोये हुए सूत्र के समान वह भगवान् ओत-प्रोत होकर ठहरा हुआ है। इसी प्रकार समष्टि चित्त के अन्दर भी सूक्ष्म-रूप से वह ब्रह्म ओत-प्रति होकर ठहरा हुआ है। योगी को चाहिये कि समाहित चित्त होकर संप्रज्ञात समाधि द्वारा इस तत्त्व के मध्य में अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से ब्रह्म का साक्षात् करे। तथा च उपनिषद्—

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो,
मैत्रेय्यात्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वंविदितम्''

बृहदारण्यकोपनिषद् ० अ० २। ब्रा० ४। मं० ५।

—याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हैं—'हे देवि ! यह आत्मा देखने योग्य है। देखना चाहिये। श्रवण करना चाहिये। तदनन्तर मनन करना चाहिये, और निदिध्यासन से हृदयंगम करना चाहिये। हे मैत्रेयी ! 'आत्मा-दर्शन, श्रवण और मनन से विज्ञान के द्वारा जानने योग्य है।'

अतः योगी को इस विज्ञानात्मक व्यष्टि चित्त से, इसके कारण समष्टि चित्त की सूक्ष्मता में प्रवेश करके इसके भी स्वरूप को जानना चाहिये और ब्रह्म के स्वरूप का भी साक्षात् करना चाहिये। अत्यन्त ही सूक्ष्म यह विज्ञान है।

विज्ञानवादी बौद्धों ने तो इस समष्टि महत् सत्त्व पर आकर अपने विज्ञान को समाप्त कर दिया। इसके आगे अन्य कोई पदार्थ नहीं है। ऐसी भावना उनकी सदा के लिये हो गई जगत् को भी उन्होंने विज्ञानात्मक माना है। इस अवस्था में आकर बड़े-बड़े भ्रान्त हो जाते हैं। अतः योगी को चाहिये कि सूक्ष्म रूप से ब्रह्म की चेतना का साक्षात् करे, क्योंकि इस समष्टि सत्त्व में या इस अनन्त समष्टि चित्त में वे अन्त ब्रह्म का अनुभव करना है।

समष्टि चित्त मण्डल

चतुर्थ रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि चित्त का चतुर्थ रूप)

४. समष्टि चित्त के अन्वय रूप में—

इस विशुद्ध समष्टि चित्त का उपादान कारण तीनों गुण हैं। अन्वय इसका प्रकृति में होता है। सबका उपादान कारण तो प्रकृति ही है। इस चतुर्थ अवस्था का अन्वय प्रकृति में होता है।

भगवती प्रकृति देवी परार्थकरी है। ये अपने गुणों और कार्यों को साथ लेकर पुरुष के लिये भोग प्रदान करती है। प्रत्येक पदार्थ में इसका अनुपतन होता है। इस लिये यहाँ समष्टि और व्यष्टि चित्र में अनुपतन हुआ है। यही चित्त का अन्वय रूप है।

हमने सत्त्वरज तम तीनों पदार्थों में अन्वय इस लिये स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि वास्तव में साक्षात् रूप से प्रकृति ही परिणामिनी और कार्य वाली होने से पुरुष के लिये स्वयं ही भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिये उपस्थित हुई है। यथा—

'प्रधानस्य सृष्टिः परार्थं स्वयमप्यभोक्तृत्वा दुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्

सांख्य दर्शन अ० ३। सू० ५८॥

—प्रकृति की सृष्टि दूसरे के लिये है, क्योंकि जड़ होने से इस में भोक्तृत्व धर्म नहीं। जैसे ऊण्ट केसर के भार को उठा कर ले जाता है, पर उसे उसकी गन्ध का लाभ नहीं।

समष्टि चित्तमण्डल

पंचम रूप में ब्रह्म विज्ञान

(समष्टि चित्त का पंचम रूप)

५. समष्टि चित्त के अर्थवत्त्व रूप में—

इस चित्त में सबसे महती अर्थवत्ता यह है कि—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्

योग० कैल्यपाद० सू० २३।

—इस चित्त में प्रत्येक पदार्थ के प्रतिबिम्ब (आभास) को ग्रहण करने की योग्यता है। जब विषय इसके पास आता है, विषय का प्रतिविम्ब इसमें पड़ता है, और जब आत्मा का इसके साथ संयोग होता हैं तब आत्मा का प्रतिबिम्ब इसमें पड़ता है। यह स्फटिक मणि के समान है। इसके पास कई प्रकार के पुष्प रख दिये जायें, तो वह उतने ही रंग रूपों में भासने लगती है। यही दशा चित्त की है। यह अपने को ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्रह्यात्मक समझने लगता है क्योंकि इसमें एक काल में ही आत्मा का आभास पड़ जाता, विषय और इन्द्रियों का भी। इस लिये इसमें सर्वार्थता का विशेष धर्म है।

प्रकृति अपने सब कार्यों को साथ लेकर प्रयोजन सिद्ध करने वाली अर्थवती बनी। इसका कार्य होने से चित्त सत्त्व में भी यह धर्म आया। अतः समस्त प्राणियों के भोग और अपवर्ग के लिये यह समष्टि चित्ततत्त्व बना है। यह विज्ञान का सर्वप्रथम भण्डार है। इसके द्वारा ही सर्व प्राणी तृप्त होते हैं। यही वास्तव में सबके जीवन का श्रेष्ठतम आधार है। यही प्राणियों को प्रकाश की ओर ले जाता है। यह अनित्य होते हुए भी नित्य के समान बना हुआ है। सर्व संसार के मानव इस विज्ञानात्मक चित्त की ही महत्ता वर्णन करते हैं। यह अन्धों के लिए नेत्र है और और अज्ञानियों के लिए ज्ञान रूप प्रकाश है। यथा—

'अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम्॥'

योग तत्त्वोपनिषद्। मं० १६॥

—अज्ञान से संसार में प्रवृत्ति होती है, और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। यह जीवात्मा पहले ज्ञानस्वरूप ही है इस ज्ञेय के लिये ज्ञान ही साधन बनता है। इस जीवात्मा की भ्रान्ति दूर करने के लिये क्योंकि यह ज्ञानी होते हुए भी अपने को अज्ञानी समझने लगा है।'

यह २६वां पदार्थ है, अब तक जितने भी पदार्थों का वर्णन किया गया है, ये सब समष्टि और व्यष्टि रूप से देव, मनुष्यों, और इतर प्राणियों के भोग और मोक्ष के साधन सिद्ध हुए हैं। वास्तव में सब पदार्थों की रचना ही इनके लिये हुई है। यही मुख्य प्रयोजन सृष्टि रचना का है।

इस समष्टि चित्त के अर्थवत्त्व में ब्रह्म का आरोप कर के इसकी उपासना और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह समष्टि चित्त हिरण्यगर्भ के रूप में सब व्यष्टि चित्तों का उपादान कारण है। अतः इसकी कार्य कारण दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। ब्रह्म इन दोनों की प्रत्येक अवस्था में अपनी सर्वव्यापक रूपता से ओत-प्रोत होकर ठहरा हुआ है। अपने साक्षी रूप से प्रत्येक अवस्था को देख रहा है। जान रहा है चित्त सत्त्व अपनी कारण रूप प्रकृति से ज्ञान के रूप में उत्पन्न होकर सारे विश्व में ज्ञान का प्रसार कर रहा है। सर्वत्र सब चेतनाओं को तर्पण कर रहा है। इसके साथ मिली हुई ब्रह्म की चेतना इसे विशेष रूप से चेतनवत् सा बनाये हुए है। इसको सदा अपनी चेतना से तपर्ण करती रहती है। इसमें जो विशेष आलोक है वह इस चेतन ब्रह्म के ही सम्पर्क से आया है। तथा चोपनिषद्—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निगुर्णश्च॥

श्वेतश्वतरो० अ० ६। मं० ११॥

—वह ब्रह्म एक देव के रूप में सब भूतों में छिपा हुआ है, अत्यन्त गहन है, गूढ़ है। सर्व व्यापी है। सर्व भूतो का अन्तरात्मा है। सब प्राणियों के कर्मों का स्वामी है। कर्मफल विभक्त कराने में सहायक है। चेतनत्वेन सब जीवों को साक्षी रूप से देखता रहता है। चेतन है, ज्ञानस्वरूप है—क्योंकि जहाँ चेतना है वहाँ ज्ञान भी है। अकेला है। मोक्ष रूप है। गुणों से रहित है। गुणों का आरोप इस में किया जाता है। वास्तव में निर्गुण है। तथा च—

'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां योविदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं, ज्ञात्वा देवंमुच्यते सर्वपाशैः॥'

श्वेताश्वतरो० अ० ६। मं० १३॥

—नित्य पदार्थों में यह भी नित्य है। नित्यों का भी नित्य है। चेतनों का चेतन स्वामी है। अनेकों में एक है। जो सब जीवों के कर्मों को विभक्त कराता है। निमित्त कारण ब्रह्म है। सांख्य और योग ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जाता है। सांख्य ज्ञान और योगसमाधि द्वारा जाना जाता है इस पूज्य देव सर्व वन्दनीय भगवान् को योगिजन जान कर सब पापों, दुःखों, और क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं।'

इस विज्ञान और विज्ञानात्मक ब्रह्म की उपनिषद् ने वहुत प्रशंसा की है। यथा—'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्।'—विज्ञान को ही ब्रह्म जाने। अर्थात् विज्ञान रूप ही ब्रह्म है। अन्यच्च—

'ब्रह्मविदाप्नोति परमम्।' ब्रह्म का जानने वाला मोक्ष को प्राप्त होता है।

इति समष्टि चित्त मण्डलम्।

इति तृतीयाध्याये पञ्चमः खण्डः।

इत्यष्टममावरणम्॥

तृतीयध्याय : समाप्तः॥

चतुर्थाध्याय

प्रकृति की सृष्टि

उपासना और ज्ञान

योगिन् ! तृतीय अध्याय में व्याख्यात त्रिगुणात्मक सृष्टि के समष्टि मण्डलों का आपने साक्षात्कार कर लिया है। जिस महाचेतन सत्ता के सन्निधान से चेतन से बने यह मण्डल अपने कारण कार्यात्मक चक्र को चला रहे हैं, उस सर्वव्यापक भगवान् के भी मण्डलों के साक्षात्कार के साथ विज्ञान एवं दर्शन प्राप्त हो गया है। ज्ञान की तीक्ष्ण दुधारी से अन्तिम आवरणों को विदीर्ण करने के लिये प्रकृति की सृष्टि में प्रवेश कीजिये।

मूल प्रकृति प्रभु के सान्निध्य से चेतन सी बनी जब परिणाम भाव को प्राप्त होती है, तब सर्वप्रथम क्रमशः आकाश, दिशा, काल, महत्सत्त्व, महत् रजस् और महत्तमस् कार्य रूप में परिणत होते हैं। ये सब प्रकृति के कार्य हैं। प्रकृति से ही परिणाम भाव को प्राप्त होते हैं। ये स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नहीं हैं। ये सब प्रकृति के ही परिणाम हैं। इनके विवेचन तथा तर्क-प्रमाण-सहित ऊहापोह तत्तत् प्रकरण में दिया जायेगा।

स्थूल से सूक्ष्मता की ओर चलने के कारण विपरीत क्रम से इस अध्याय में ६ खण्डों में इन छः पदार्थों का व्याख्यान एवं उनमें ब्रह्म के साक्षात्कार का विस्तृत वर्णन रहेगा, जिसमें इन पदार्थों के गुण, धर्म, कार्य, भोग और अपवर्ग की निमित्तता दर्शायी जायेगी।

इनको गुण या स्वतन्त्रपदार्थ स्वीकार न करके प्रकृति का कार्य सिद्ध करना यह हमारा केवल शास्त्रीय ऊहापोह ही नही है, हमारा योगज साक्षात्कार इसी तथ्य को सिद्ध करता है। इसलिये हमें इस योगज साक्षात्कार को अन्य शास्त्रकारों का अभिमत न होते हुए भी रखना पड़ा, हमें किसी का खण्डन या मण्डन अभिप्रेत नहीं है। अनुभूत सत्य का प्रकाशन ही मानव स्वीकार करते हैं। इसलिये इन तथ्यों का प्रकाश करना हमने अपना कर्त्तव्य समझा है। अनेक वर्षों तक हिमालय के हिमाछन्न परम पुनीत प्रांगण में सम्प्रज्ञात समाधि में हमने इनका निर्णय किया है। इसीलिये इनको प्रकाशित करना मानव मात्र की दृष्टि से उपयोगी समझा हैं। यदि कोई साक्षात्कृत् धर्मा इस पर विचार विमर्श उपस्थित करेंगे तो उस पर अवश्य ध्यान दिया जायेगा। केवल शाब्दिक आडम्बर एवं विद्वत्ता प्रदर्शन में हम विश्वास नहीं रखते हैं। योगज-साक्षात्कार अक्षर-पण्डित्य-गम्य नहीं है। भारवि के शब्दों में कह सकते हैं—

'अस्ति भविष्यति वा कोऽपि मम समान धर्मा ,
विपुला च पृथिवी निरवधिश्च कालः ॥'

—हमारे विचार वाले आज भी हो सकते हैं, अथवा भविष्यत्काल में उत्पन्न हो सकते हैं। पृथिवी विशाल है, और समय की कोई परिधि नहीं।'

अब आप साधना के शिखर अन्तिम खण्ड पर आ पहुँचे हैं। साधना में एकनिष्ठा से डटे रहिये। इसको सफल करने के लिये अपने चिर अभ्यस्त, परीक्षित परम वैराग्य को दृढ़तम बनाये रखिये। यही आपको अभिप्रेत लक्ष्य तक पहुँचायेगा।



चित्र सं० १४

प्रकृति से उत्पन्न होते हुए सत्व रज तमः पदार्थ ।

प्रकृति की सृष्टि

प्रथम खण्ड

७ वां आवरण

समष्टि महत् तमस् मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महत्तमस् का प्रथम रूप)

१. समष्टि महत्तमस् के स्थूल रूप में—

समष्टि महत् तमस् प्रकृति का कार्य है। यह एक पदार्थ या द्रव्य ही है। यह समष्टि अहंकार का मुख्य रूप से कारण है। इसको शास्त्रों में गुण नाम से लिखा गया है कई आचार्यों ने इन्हें प्रकृति का गुण विशेष ही माना है परन्तु यह प्रकृति का इस प्रकार का गुण नहीं है जैसे कि अग्नि का प्रकाश गुण है या वायु का स्पर्श है गुण गुणी का अभेद होने से संभवत: इनको गुण कह दिया हो। हैं यह द्रव्यात्मक ही, ऐसा सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है। इसके गुणों की व्याख्या न करते हुए केवल शब्द ही दे रहे हैं। क्योंकि शब्द सरल हैं।

समष्टि महत् तमस् के गुण—

१. स्थिति	२. अज्ञान	३. बल	४. गुरुत्व
५. मोह	६. अप्रवृत्ति	७. स्तब्धता	८. निद्रा
९. आलस्य	१०. प्रमाद	११. मद	१२. विषाद
१३. दीर्घ सूत्रता	१४. शठता	१५. भय	१६. विप्रलंभ
१७. नास्तिक्य	१८. कौटिल्य	१९. कार्पण्य	२०. विस्मृति
२यु. जड़ता	२२. अवष्टम्भकत्व		

इनमें से स्थिति, बल, अवष्टम्भकत्व, गुरुत्व, जड़ता, अज्ञान गुणों के लिये हुए मण्डल उत्पन्न होता है, शेष गुणों को व्यवहार दशा में अन्यों का सहकारी होकर प्रकट करता है। जिन-जिन पदार्थों के निर्माण में यह उपादान या सहकारी कारण होता जायेगा उन उन पदार्थों में यह गुण प्रकट होते जायेंगे।

हम भी इन तीनों को द्रव्य मानते हैं, और अलग-अलग पदार्थ मानते हैं। जब इनकी प्रकृति से उत्पत्ति हुई है, तो ये कार्य ही हैं। कार्य होने से द्रव्य हैं। द्रव्य के रूप में ही इन्होंने आगे सर्व पदार्थों का निर्माण करना है। चित्र संख्या १४ में इन तीनों के स्वरूप का दर्शन करें।

चित्र सं० १४ में महत् सत्व महत् रजस् महत् तमस् तीनों पदार्थों के स्वरूप को दिखाकर इनमें विशेष क्रिया द्वारा लहरें या कम्पन दिखाए गए हैं, क्योंकि ये गति शील होकर अपने कार्यों को उत्पन्न करने जा रहे हैं।

नं० १ में महत् सत्व परिणाम भाव को प्राप्त होकर समष्टि चित्त को उत्पन्न करने जा रहा है। जो सर्व व्यष्टि चित्तों का उपादान कारण बनेगा।

नं० २ में महत् रज: ब्रह्म के संयोग से कम्पायमान होकर समष्टि बुद्धि तत्व को उत्पन्न करेगा, जोकि सम्पूर्ण- विश्व के प्राणियों की व्यष्टि बुद्धियों का उपादान कारण होगा।

(शेष पृष्ट ३७२ पर)

तीनों गुण द्रव्य हैं

सांख्य दर्शन में एक सूत्र दिया है—'सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्०' इत्यादि। सत्त्व रजस् तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। जब ये गुण परिणाम रूप विषमता को छोड़ समान भाव को प्राप्त हो जाते हैं, इनकी साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। अब शंका होती है, कि जब ये गुण समान भाव को प्राप्त हो जाते हैं, उस समय ये ही प्रकृति रूप हैं या प्रकृति इन से भिन्न द्रव्य है। इसका उत्तर स्पष्ट है, कि जब हम इनको कार्य मानते हैं तो प्रकृति को इनका उपादान कारण ही मानना पड़ेगा। अतः इनका उपादान कारण इन से भिन्न प्रकृति ही है। साम्यावस्था का यहाँ यही तात्पर्य है, कि जब ये तीनों पदार्थ प्रलय काल की अवस्था में स्थूल रूप से परिणत होकर सूक्ष्म रूप में अपने कारण प्रकृति में जाकर ठहर जाते हैं; तब कारण रूप ही हो जाते हैं। कार्य रूप विषमता वहाँ जाकर समाप्त हो जाती है। समान भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इस साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। इस अवस्था में प्रकृति में किसी भी प्रकार की कार्यरूप विषमता नहीं रहती है। सब प्रकार के कार्यात्मक क्षोभ या परिणाम समाप्त हो जाते हैं। अतः प्रकृति तीनों सत्त्व रज तम पदार्थों से भिन्न ही कारण रूप पदार्थ है और ये इसके कार्य हैं। यदि इनको गुण ही मान लिया जाये जैसे पृथिवी का गुण गन्ध है तब ये किसी भी पदार्थ के आरम्भक नहीं हो सकते। क्योंकि द्रव्य ही अपने कार्यरूप पदार्थ का आरंभक होता है। जब इनमें संयोग, विभाग, लघुत्व, चलत्व, गुरुत्वादि धर्म हैं तब तो यह द्रव्य ही सिद्ध होते हैं। पुरुष के बन्ध का हेतु होने से औपचारिक रूप से इनके लिये गुण शब्द का प्रयोग कर दिया है, वास्तव में हैं ये द्रव्य ही।

इनका प्रकृति के साथ कार्य कारण भाव सम्बन्ध है। यह समष्टि तम अपने सहयोगी अपने सत्त्व रजस् द्रव्य के साथ मिलकर उपादान और सहकारी कारण रूप में कार्यों का आरंभक होता है। हमने प्रकृति के ६ पदार्थ जो इसके मुख्य साक्षात् रूप से कार्य हैं—का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। ये हैं १. तम २. रज ३. सत्त्व ४. काल ५. दिशा ६. आकाश। इन ६ पदार्थों में चतुर्थ अन्वयरूप नहीं होता है, क्योंकि प्रकृति से ऊपर और कोई उपादान कारण के रूप में पदार्थ नहीं है। यही अन्तिम उपादान कारण है। इसमें तीसरी सूक्ष्म अवस्था ही सिद्ध होती है। चौथी अन्वयरूप अवस्था नहीं बनती है। यदि इस प्रकृति को ही अन्वयी मानकर अन्वयरूप को सिद्ध किया जाये तब सूक्ष्म रूप तीसरी और अन्वय रूप चौथी में कोई भेद नहीं रहता। अतः इनकी अन्वय अवस्था सिद्ध नहीं होती।

नं० ३ में महत्तम जो कि तीनों प्रकार के अहंकारों को उत्पन्न करने जा रहा है ये तीनों अहंकार ही १७ पदार्थों के उपादान कारण बनेंगे। यह सम्पूर्ण अहंकारी सृष्टि होगी। इस महत् तम में ब्रह्म के सान्निध्य से महान् क्षोभ उत्पन्न होकर महान् तरंगें उत्पन्न हो रही हैं जो कि सम्पूर्ण विश्व को कम्पायमान बनाए हुए हैं यह कारण रूप से कार्य भाव को प्राप्त होकर तीनों प्रकार के अहंकारों को उत्पन्न करेगा चित्रों की संख्या अधिक हो जाने के भय से तीनों पदार्थों को एक ही चित्र में दिखाया गया है।

(शंका) जैसे एक स्त्री किसी के लिये बहिन, किसी के लिए पत्नी, अन्य की लड़की और किसी की भूआ के रूप में सिद्ध होती है, इसी प्रकार क्या प्रकृति सूक्ष्म रूप और अन्वयी रूप में नहीं हो सकती है ?

(समाधान) यहाँ एक प्रकृति का ही सम्बन्ध सूक्ष्म और अन्वय रूप में है। जो कि दोनों अवस्थाओं में उपादान कारण के रूप में सिद्ध होता है। परन्तु स्त्री तो सब के प्रति उपादान कारण नहीं। भाई, पति, भतीजे के प्रति स्त्री तो उपादान कारण नहीं है। स्त्री में तो एक रिशता सिद्ध किया जा रहा है। न कि कार्य कारण भाव सिद्ध कर रहे हैं। सूक्ष्म रूप और अन्वय रूप तो कार्य कारण भाव सिद्ध कर रहे हैं, सूक्ष्म रूप तो प्रत्यक्ष ही कारण है, अन्वयरूप परम्परा से कारण है। अतः स्त्री का दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। इन छः पदार्थों के प्रति केवल प्रकृति ही मुख्य रूप से उपादान कारण है। अन्य कोई सहकारी कारण भी नहीं है। केवल ब्रह्म निमित्त कारण सहकारी है। प्रकृति सर्वगुण सम्पन्ना है। इसे किसी भी सहकारी कारण की आवश्यकता नहीं।

सब पदार्थों में स्थिति, बल, गुरुत्व आदि धर्म हैं वे सब इस तम द्रव्य के ही हैं। प्रलयकाल में प्रकृति में विशेष क्रिया का अभाव हो जाता है। उस समय यह तम ही अपने कारण में विलीन होकर स्थिति का हेतु बना रहता है। प्राणियों में जो अज्ञान आदि धर्म वर्तमान हैं, वे सब इसी के धर्म हैं। अतः यह तमः द्रव्य सब में अनुपतित हुआ है।

इस तम का धर्म स्थिति है या यह स्वयं स्थिति या बल शील है, इसमें भगवान् का आरोप करके या इसी को भगवान् का मन्दिर समझकर या इसमें ईश्वर का व्याप्य व्यापक भाव समझ कर उपासना और विज्ञान करना चाहिये। इसके अन्दर व्याप्त होकर भगवान् सबल बना हुआ है अन्यथा भगवान् तो निर्गुण है। उसमें जो बल रूप धर्म आया है वह इस तम का ही बल आरोपित किया गया है। ईश्वर में जो निष्क्रिय रूप गुण का प्रयोग किया गया है, वह भी इस तम के आरोप से हुआ है, क्योंकि तम भी निष्क्रिय है, अतः योगी को समाधि द्वारा इस तम पदार्थ के अन्दर ब्रह्म का आरोप करके इसी को ब्रह्म की मूर्ति समझकर इसकी उपासना करनी चाहिये। इसका विज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि मूर्तिमान् ब्रह्म ही दर्शन और प्रत्यक्ष का विषय बन सकता है। उपनिषदों में जैसे सूर्य, आकाश आदि, में ब्रह्म का आरोप करके उपासना और विज्ञान का वर्णन किया गया है, इसी प्रकार यहाँ भी इन तीनों गुणों में आरोप करके ब्रह्म की उपासना और विज्ञान का वर्णन समझें। यह उपासना और विज्ञान उससे सूक्ष्म और महान् है।

समष्टि महत्तमस् मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महत्तमस् का द्वितीय रूप)

२. समष्टि महत्तमस के स्वरूप में—

समष्टि तम और इसके गुणों का परस्पर धर्म धर्मी भाव सम्बन्ध है। जब इस की उत्पत्ति होती है, अपने अनेक गुणों को साथ लिये उत्पन्न होता है। इसके उत्पत्ति-

काल में इसके ये सब गुण या धर्म क्रम पूर्वक प्रकट होते हैं। एक क्षण में तो यह उत्पन्न नहीं होता है, उत्पन्न होने में भी समय लगता है। इस अवसर पर ये शनैः-शनैः क्रमपूर्व प्रकट होते रहते हैं। इन सब धर्मों का इसके साथ स्वरूप सम्बन्ध बना रहता है। ये इससे कभी अलग नहीं होते हैं। दोनों का परस्पर अभेद है। इस अभेद से ही हम इसको सम्वाय सम्बन्ध भी कहते हैं।

इस स्वरूप सम्बन्ध में अर्थात् परिवर्तन होते हुए धर्मों के काल में ब्रह्म की सत्ता और वर्त्तमानता का अनुभव करना चाहिये। इस विषय में महोपनिषत् का यह मन्त्र प्रमाण है। यथा च—

'एकं ब्रह्म चिदाकाशं, सर्वात्मकमखण्डितम्।
इति भावय यत्नेन, चेतश्चाञ्चल्यशान्तये॥ अ० ५। मं० ५६॥

—ब्रह्म एक है। चेतन है। आकाश के समान व्यापक है। सब पदार्थों में स्वरूप से अखण्डित होकर ठहरा हुआ है। अपने चेतस् की चञ्चलता की शान्ति के लिये—विक्षिप्ता को दूर करने के लिये सर्व व्यापक भगवान् की उपासना और आराधना करनी चाहिये।

ब्रह्म विज्ञान के विषय में और भी कहा है यथा—

'एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया।
आदाय विहरन्नेवं, संकटेषु न मुह्यति॥

महोपनिषद् अ० ६। मं० ७३॥

—जिसकी सब कामनायें शान्त हो गयी हैं, जो निष्काम भाव से ब्रह्म में सदा अपनी स्थिति को बनाये रखता है, जो सब रोगों से मुक्त हो गया है, जिसके सब क्लेश दूर हो गये हैं, वह पुनः जन्म मरण के संकट में नहीं पड़ता है, दुनियावी संकटों में नहीं फंसता है।'

अतः निष्काम भाव से ब्रह्म की उपासना और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तब ही जन्म मरण के बन्ध से मुक्त होकर ब्रह्म में स्थिति हो जाती है। सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

समष्टि महत्तमस् मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महत्तमस् का तृतीय रूप)

३. समष्टि महत्तमस् के सूक्ष्म रूप में—

इस समष्टि तमस् मण्डल का कारण प्रकृति है। अतः इसी में इसकी सूक्ष्मता की परिसमाप्ति होती है। प्रकृति सामान्य है, और यह तम विशेष है। अतः सामान्य विशेष का समुदाय ही अयुत सिद्ध द्रव्य बनता है। यह तम का तीसरा सूक्ष्म रूप है।

इस कार्य कारण में और इसके सूक्ष्म सम्बन्ध में ब्रह्म की अनुभूति होनी चाहिए। इस तम की सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म का आरोप करके इसकी उपासना करनी चाहिए। इसमें इस वेद वाक्य के आधार पर ब्रह्म का साक्षात्कार होगा। यथा—

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।'—वह भगवान् इस तम में आरोप किया हुआ जब उपासना और विज्ञान का विषय बनता है। तब इस तम से भी परे अर्थात् इस अन्धकार से परे, इस के आगे सूर्य के समान प्रकाशमान वह ब्रह्म प्रतीत होगा। इस ज्योतिर्मय भगवान् का साक्षात्कार होने पर योगी मृत्यु पर विजय पा लेता है। जन्म मरण के चक्र से छूट जाता है यह आदित्यवर्णं ही योगी या मानव मात्र की परागति है। परमधाम है। उपनिषद् ने इस वेद वाक्य की इस प्रकार पुष्टि की है। यथा—

'यथानद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
मुण्डको० मुण्डक ३। खं० २। मं० ८॥

—जैसे नदियाँ हिमालय आदि से निकल कर बहते-बहते समुद्र में जा मिलती हैं, क्योंकि पृथवी और हिमालय की अपेक्षा समुद्र नीचे के भाग में है, भूमि की ऊँचाई समुद्र से ही गिनी जाती है। सब नदियाँ सब देशों में प्रायः समुद्र में ही जा गिरती है, जब यह नदियाँ समुद्र में जा पहुँचती हैं, तो इन नदियों के नाम और रूप समाप्त हो जाते हैं। न गंगा-गंगा रहती है, न जमना-जमना। इनके जल की मधुरता भी समुद्र जल में जा विलीन हो जाती है। इसी प्रकार विद्वान योगी भी नाम, रूप, क्लेशों, दुःखों से मुक्त हो कर पर से पर दिव्य प्रकाश स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है।'

योगी के कार्य कारण रूप इस सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की परिणत होती हुई अवस्था में ब्रह्म वर्त्तमान है। यह ब्रह्म सदा एक रूप ही रहता है। प्रत्येक पदार्थ के कारण से कार्य में पलटते हुए इसमें कोई भी विकृति नहीं होती तथा च उपनिषद्—

'स ब्रह्मा सः शिवः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः सः प्राणः सः कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥ ८ ॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ ९ ॥
कैवल्योपनिषद् खं० १ ॥

—वह ईश्वर ही ब्रह्मा है। सबसे बड़ा है। सृष्टि की रचना का निमित्त है। वही शिव है। कल्याणकारी है। संहार कर्ता है। वह ही इन्द्र है। प्रकाशमान है। समष्टि इन्द्रियों का स्वामी है। वही अक्षर-नाशरहित ब्रह्म है। स्वयं प्रकाशमान है। स्वयं सम्पूर्ण संसार में शासन करता है। सब को अपने अधिकार में चलाता है। वह ही बिष्णु रूप में सब का पालक है। पोशक है। रक्षक है। वह ही प्राण रूप है। अन्तर्यामी होकर प्राण का, जीवन का संचार करता है। अपनी चेतन सत्ता के द्वारा पदार्थों को गति प्रदान करता है। वह ही काल रूप अग्नि है। मृत्यु में भी व्याप्त होकर ठहरा है। वह ईश्वर ही चन्द्रमा के समान प्रकाशमान है। प्रत्येक प्राणी को प्रकाश प्रदान करता है। वह ईश्वर भूत, वर्तमान, भविष्यत् तीनों कालों में वर्त्तमान है। काल रूप है। सनातन है। सदा से वर्त्तमान है। अनादि और अनन्त है। उसको जान कर मृत्यु को लांघा जाता है उस पर विजय पाता है। मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उस ज्ञानी को मौत का भय नहीं रहता है। संसार में मृत्यु से भयानक और कोई वस्तु नहीं है। सब प्राणी

सदा इससे कम्पायमान रहते हैं। कदम-कदम पर इसका भय बना रहता है। प्रत्येक प्राणी को इसके भय से ही सदा जीने की अभिलाषा बनी रहती है। यदि इसका भय दूर हो जाए तो जानो मानो मानव मुक्त हो गया। इसके भय से ही रोगों का उपाय करते हैं। मृत्युञ्जय मन्त्र का पाठ करते हैं। सर्वत्र और सर्वदा इससे बचने के अनेक उपाय करते हैं। यह सबसे बड़ा, बलवान और भयावह शत्रु मानव और प्राणियों का है। कोई विरला ही इस संसार में इस पर विजय पाता है। योग दर्शन कार ने भी मरणत्रास को ही अन्तिम क्लेश बताया है। इसका नाम अभिनिवेश क्लेश रखा है। सब ही प्राणियों की यही इच्छा बनी रहती है 'मैं कभी न मरूँ।' सदा जीवित रहूँ ?' इस मृत्यु: दु:ख को यह प्राणी पूर्व जन्म में देख आया है, अनुभव कर आया है। अत: कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता है।

इस मरण-त्रास से बचने के लिए इस मिथ्या ज्ञान का अभाव करना चाहिए। यह हृदयंगम कर लेना चाहिए, 'आत्मा कभी मरता नहीं है। यह सदा ही अजर, अमर नाश रहित, एक रस, एक रूप और असंग है। यदि इसके मरने की भ्रान्ति दूर हो जाए तब समझो मृत्यु पर विजय पा ली। इस पर अधिकार कर लिया। अब रही शरीर की बात, यह तो जन्म लेने वाला है। इसका मरण अवश्यभावी है। इसके प्रति भी मोह ममता भयादि त्याग देना चाहिए। इन दोनों प्रकार के भयों की निवृत्ति आत्म-विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान से होती है। इस तमस् की सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म-विज्ञान करना चाहिए। पर वैराग्य को दृढ़तम कर मोक्ष के लिए अग्रसर होना चाहिए।

४. **अन्वय रूप**—इस समष्टि तम की चतुर्थ अवस्था नहीं होती, क्योंकि प्रकृति से परे और कारण रूप पदार्थ नहीं है।

समष्टि महमत्तमस् मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महत्तमस् का पंचम रूप)

५. समष्टि महत्तमस् के अर्थवत्त्व रूप में—

संसार में विशेष रूप से इस तम का ही राज्य है। जितनी भी जगत् में भोग-योनियाँ हैं उनकी संख्या ८४ लाख बतायी गयी है। देव और मनुष्य इस में सम्मिलित नहीं हैं। इनसे भिन्न सब योनियों पर यह तम ही शासन करता है। सब प्राणी इसके दास बने हुए हैं। मनुष्यों में भी बहुत कम व्यक्ति हैं, जिनके शरीर और अन्तःकरण तमस् के प्रभाव से बचे हैं। वे बहुत ऊँचे दर्जे के ज्ञानी, योगी, वीतराग, आत्मदर्शी, और ब्रह्मवित् हैं। अन्यथा सारा जगत् इस तम की लपेट में ही आया हुआ है। इसके इशारे पर ही सब प्राणी कर्म और भोग कर रहे हैं। इसमें यही गुण है कि सब प्राणियों को बाँध कर रखता है।

सब भोगों का मूलाधार तमस्।

मल, विक्षेप, आवरण इसी के धर्म हैं। जो सदा जीवात्मा और ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित किये रहते हैं। अपने पाश से निकलने ही नहीं देते हैं। जहां-जहां इसका विशेष प्रभाव है, वहाँ अज्ञान, जड़ता, मूढ़ता, विषय लोलुपता, दीर्घ सूत्रता, पाप

की प्रधानता और नास्तिकता का राज्य रहता है। इस विषय में उपनिषत् का कथन है। यथा—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

कठ० अ० १। व० २ मं० ६ ॥

भोग योनि की बात तो जाने दीजिए, वे तो अपने इस जन्म में इस तम के पाश से मुक्त नहीं हो सकते। उन्हें फिर अनेक योनियों में भटक-भटक कर जब भी मनुष्य योनि प्राप्त होगी, तब भी विरले को ही इसके पास से मुक्त होने का अवसर संभव है मिल सके। परन्तु हम तो वर्तमान के मनुष्यों का वर्णन कर रहे हैं—जिनको अनेक पुण्यों के प्रभाव से यह मानव देह प्राप्त हुआ है। इस अमूल्य जीवन को प्राप्त करके यदि इस तम के बन्धन से मुक्त न हुए तब तो यह मनुष्य जीवन व्यर्थ ही खोया। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ था, वह तो पूरा न हुआ। यह तो मुख्य रूप में आत्म ज्ञान और ब्रह्मज्ञान के लिए प्राप्त हुआ था। इस अमूल्य ऐश्वर्य से वञ्चित ही रहे। तम के बन्धन से न छूट सके। संसार के मोह जाल में और भोगों में यह अमूल्य जीवन व्यर्थ में खोया। इस प्रकार के मनुष्यों के लिए ही उपनिषद् ने कहा है—"न साम्परायः आदि।

इन मूर्खो को—अज्ञानियों को—बालक के समान बुद्धि वालों को ईश्वर-भक्ति का मार्ग अच्छा नहीं लगता। रात-दिन भोगों और विषयों में आसक्त रहते हैं। प्रमादी बन कर वित्त के मोह या राग में फंसे रहते हैं। इसी उपार्जन और रक्षण करते रहते हैं। इस प्रकार के जो मूढ़ नर पशु हैं। वह यही समझ बैठे हैं, बस इस लोक से परे और कोई लोक नहीं है। इस जन्म के पश्चात् और कोई जन्म नहीं होना है। इसलिये खाओ, पीओ और खूब भोग विलास करो। इससे बढ़ कर और कोई सुख नहीं है। इस प्रकार मूढ़ नर पशु पुनः जन्म मरण के चक्कर में पड़कर अनेक दुःखों का भोग करते रहते हैं और अनेक जन्मों में भी इस तम के पाश से छूट नहीं सकेंगे। यह इस तम की ही अर्थवत्ता है। यह भोग तो प्रदान करता ही है, परन्तु मोक्ष का हेतु भी यही बन सकता है। जब कभी यह अपने बन्धन से छोड़ देगा।

इसलिये गीता में कहा है। यथा—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

अ० १८। श्लोक २८ ॥

—जब इस तामस की मनुष्यों में प्रधानता हो जाती है। तब उन्हें यह अच्छे श्रेष्ट श्रेयः—कार्यों में नहीं लगने देता है। बुद्धि को जडवत् बना देता है। अच्छे कार्यों में रुकावट डालता है। मानव स्तब्ध-सा हो जाता है। मूर्खता छा जाती है। मूढवत् बन जाता है। पापों से छुटकारा नहीं होने देता है। निष्कृति होने नहीं पाती है। सदा आलसी बना रहता है। किसी अच्छे कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती। सदा विषादी दुःखी चिन्तित बना रहता है। दीर्घ सूत्री बनकर सोचता रहता है। अच्छा ! कल करूँगा। परसों कर लूँगा। आज प्रातः भजन अभ्यास के लिये नहीं उठा तो कल जरूर उठूँगा। इसी तरह दिन

मास और वर्ष व्यतीत कर देता है। श्रेयः मार्ग के लिए सोचता रहता है। कल नहीं परसों इसी प्रकार करते-करते महीनों गुजार देता है। धर्म के कार्यों के विषय में सोचता ही रहता है, परन्तु करता कुछ नहीं है। यह दीर्घ सूत्री होना इस तमोगुण का ही प्रभाव है। अतः उपरोक्त दुर्गुणों से मानव को बचना चाहिये। इस मानव जीवन को सफल बनाने के लिए इस तमोगुण पर भी विजय प्राप्त करनी चाहिये। यही इस तम की अर्थवत्ता है। यदि तमोगुण पर अधिकार नहीं किया जायेगा तो मानव सदा इसका दास बना रहेगा। उसमें यह अधर्म उत्पन्न होते रहेंगे। यथा—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

गीता अ० १४। श्लोक १३॥

—भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी महाराज अपने शिष्य और मित्र अर्जुन को उपदेश देते हुए यह कह रहे हैं, हे अर्जुन! जब मानव में तमोगुण की प्रधानता हो जाती है। तब ये अवगुण उसमें आजाते हैं और उस मानव को पतन की ओर ले जाते हैं। उस मानव के हृदय और ब्रह्म रन्ध्र में अन्धकार-सा छाया हुआ प्रतीत होने लगता है। सदा अपने को अन्धकार में देखता है। कोई धर्म का कार्य करने की सूझती ही नहीं। सत्यासत्य का निर्णय ही नहीं कर पाता है। बुद्धि जडवत्-सी बनी रहती है। भले और बुरे की परख ही नहीं होती है। किसी भी अच्छे या धर्म के कार्य में उसको सफलता की झलक भी प्रतीत नहीं होती। अप्रवृत्ति—शुभ कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती। उत्साह और उद्यम का अभाव-सा हो जाता है। आत्मचिन्तन और भगवत् भजन की ओर बिलकुल झुकाव नहीं होता है। लोक सेवा पर उपकार का चित्त में भाव ही नहीं आता है। सत्संग, महापुरुषों के दर्शन में रुचि ही नहीं होती। प्रमाद—चित्त में कर्म करने का उत्साह ही नहीं होता है। अकर्मण्यता छाई रहती है। अच्छे कर्म करने के लिए उद्यम नहीं होता है। आलसियों की तरह पड़ा रहता है। कर्म करने के मनसूबे तो बनाता है परन्तु करने की हिम्मत कम होती है। मोह—स्त्री पुत्र आदि में अत्यन्त अनुराग हो जाता है। इनके मोह में फँसकर अनेक प्रकार के पाप कर्म करने लगता है। इस के मन में अविद्या का घर बन जाता है। विवेक की बात सूझती ही नहीं। सदा परिवार का ध्यान बना रहता है। इनके पालन-पोषण में ही रात दिन प्रवृत्त रहता है। यह तम का ही परिणाम मोह है। जो सदा बान्ध कर रखता है। ममता को बलवती बना देता है। पुनः-पुनः जन्म मरण के बन्धन को मजबूत बनाता है। प्राणियों में ममता पैदा करता है। इसके बन्धन को तोड़ना अत्यन्त कठिन हो जाता है। विशेषतः उस व्यक्ति के लिए जो गृहस्थाश्रम में एक बार प्रवेश कर गया है। सन्यास और वानप्रस्थ में जाने नहीं देता है। आश्रमों की मर्यादा को भी भंग कर देता है। स्वार्थ पैदा करके अनेक पाप कर्मों में प्रवृत्त कर देता है।

मोह की महिमा

यह मोह बड़े-बड़े योगियों को भी बान्ध कर रखता है। इस विषय में वाचस्पति मिश्र के यह वाक्य हैं। यथा—

'योगिनामष्टस्वणिमादिकैश्वर्येष्वश्रेयस्सुश्रेयोबुद्धिरष्टविधो मोहः।'

—योगी का आठ अणिमा, महिमा, लघिमा इत्यादि सिद्धयों में अनुराग हो जाता है, इन को ही श्रेयः मानने लगता है। परन्तु ये इसके लिए कल्याणकारिणी नहीं होती हैं, बन्ध का ही हेतु होती हैं। यह आठ सिद्धियाँ योगी के लिए आठ प्रकार का मोह हैं।" यह सब इस तमोगुण की ही उपज है। मोह का एक और अर्थ भी है, 'मोहोऽविद्य`त्युच्यते मोह को अविद्या भी कहते हैं, और तम का अर्थ भी अविद्या किया जाता है। यथा—

"अव्यक्त-महदहंकार-पंचतन्मात्रेष्वष्टस्वनात्मस्वात्मबुद्धिरविद्यातमः"

योग० स० पा० सू० ८। टीका॥

—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा ये आठों अनात्म पदार्थ हैं। इनमें आत्म बुद्धि रखना यह अविद्या रूपी तम है।' यह मोह जब अपना वस्तु-विस्तार करता है, तब १८ प्रकार का हो जाता है। इसकी संज्ञा उस समय महामोह हो जाती है। तब योगी भी इसमें दृढ़ता से बन्ध जाता है। अणिमा आदि ८ प्रकार की सिद्धियाँ+इस लोक के ५ (पाँच) अदिव्य विषय+और स्वर्ग लोक के ५ दिव्य विषय=इन १८ में जो राग हो जाता है, इसका नाम महामोह है। यह सब तमोगुण की ही सृष्टि है। यह सब जगत् पर छाया हुआ है। सर्वत्र इसका प्रभाव है। सर्व प्राणी इसकी मुट्ठी में बँधे हैं। योगी तक बन्ध जाते हैं, फिर सांसारिक पुरुषों का तो क्या कहना। कोई बिरला ही महान् पुरुष इसके बन्ध से मुक्त हो सकता है। लाखों करोड़ों में कोई बिरला ही इस वन्ध से मुक्त होने का यत्न करता है। अन्यथा सब इसके दास बनकर जन्म-मरण, सुख-दुःख, राग मोह द्वेष आदि के चक्र में पड़कर अनन्त काल तक नाना प्रकार के क्लेश और दुःख भोगते रहते हैं। यह तम की अर्थवत्ता और इसके द्वारा भोग का दिग्दर्शन है।

तमोगुण के अन्धकार में ब्रह्म

योगी अपनी सब वृत्तियों को शान्त करके और बुद्धि को समाहित करके आकाश मण्डल में अपनी ध्यान की दृष्टि को ले जाये। और फिर सूक्ष्म ऋतंभरा बुद्धि द्वारा इस तमोगुण के मण्डल में प्रवेश करे। पहले सर्वत्र अन्धकार ही अंधकार प्रतीत होगा, परन्तु जैसे रात्रि के अन्धकार में दीपक पदार्थ या मार्ग के दर्शन का हेतु होता है, इसी प्रकार योगी की सूक्ष्म ऋतंभरा बुद्धि प्रकाश का कार्य करेगी। जिस ओर भी ध्यान की दिव्य दृष्टि जायेगी, उस ओर तम ही तम प्रतीत होगा। इस तम ने ऊपर के सब पदार्थों को आच्छादित किया हुआ है ऐसा प्रतीत होगा। मानों इस अन्धकार के सिवाय संसार में और कोई वस्तु ही नहीं है। अमावस्या की रात्रि है और आसमान में घनघोर घटायें छायी हों। कोई भी पदार्थ दिखाई नहीं देता है। जहाँ हम ब्रह्म की ज्योतियों के अन्दर देखना चाहते हैं, वहाँ गाढ अन्धकार के अन्दर भी तो देखना चाहिये। बाहर चाहे अन्धकार हो या आलोक, देखना तुम्हारी आँखों ने ही है। यदि आँखें नहीं हैं, और निपट अन्धा है, तो न प्रकाश दीखेगा न अन्धकार ही। देखने वाली तो वास्तव में आँखें ही हैं। नेत्रों की अपेक्षा से अन्धकार और प्रकाश प्रतीत होता है। योगी के अन्दर भी तो देखने वाले दिव्य चक्षु ही हैं। जिस योगी के दिव्य चक्षु खुल गये हैं, और बुद्धि जिस की ऋतंभरा या प्रान्तभूमि प्रज्ञा बन गयी है, वह योगी ही ब्रह्म दर्शन करने में समर्थ हो सकता है। यदि अन्धकार में पदार्थ को देखने के लिए लैम्प तो हो परन्तु पदार्थ को समझने की बुद्धि न हो, तब लैम्प भी विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होता। केवल सामान्य ज्ञान-सा हो

जाता है कि कोई वस्तु है। क्या पदार्थ है यह ज्ञान नहीं होता। कैसा है? क्या इसके लाभ हैं, किस काम यह आता है, यह सब ज्ञान तो तब ही होगा जब बुद्धि भी प्रखर हो। सुलझी हुई हो। इन दोनों साधनों से पदार्थ का बोध होता है। योगी को अपने दिव्य चक्षुओं को उस महान् अन्धकार में प्रविष्ट करना चाहिए, और वहाँ देखना चाहिए, कि यह तम प्रकाश का अभाव है, या इससे भिन्न पदार्थ। अभाव तो कोई पदार्थ है नहीं, उस देश में केवल वस्तु की अनुपस्थिति का ही बोध होता है। अतः एव तम को उस काल में पदार्थ ही समझना चाहिये। रही अन्धकार और प्रकाश की बात, ये दोनों नेत्र के ही विषय हैं। जो पदार्थ आकार वाला है, उसका कुछ-न-कुछ रूप मानना ही पड़ेगा। रूपों का भेद भी बुद्धि की अपेक्षा से ही होता है। काले, पीले, लाल, नीले, हरे, गोरे, भूरे, सब्ज इत्यादि अनेक रंग रूप वाले पदार्थ संसार में है। अन्धकार का रंग हम काला कह सकते हैं। यह तो पदार्थ का गुण होगा। जैसे अग्नि के अनेक रूप हैं, इसी प्रकार तम के भी अनेक रूप हैं। सो अन्धकार भी तम का एक गुण ही मानना पड़ेगा। जैसे मोह, जड़ता, अज्ञान, निद्रा इत्यादि तम पदार्थ के गुण मान लिये हैं। इसी प्रकार अन्धकार भी तम का एक गुण विशेष मानकर इसके धर्मी तम पदार्थ के स्वरूप को समझना चाहिये।

सर्वप्रथम योगी की दिव्य दृष्टि के सामने तम के गुण ही क्रमपूर्वक आवेंगे, क्योंकि परिवर्तनशील हैं। अतः सब गुणों की उपेक्षा करते हुए योगी को अपनी दिव्य बुद्धि ऋतंभरा से छान-बीन करनी चाहिये कि वास्तव में तम क्या पदार्थ है? वैसे तो धर्म-धर्मी के बोध कराने में मुख्य हेतु होते हैं, परन्तु ये धर्म ही धर्मी तम के परिणाम विशेष हैं। जिस अवसर में इन परिणामों का अभाव हो जाये, और तम निष्क्रिय-सा होकर ठहर जाये, और इसके ये सब गुणों के परिवर्तन बन्द हो जायें, तब दिव्य चक्षु औण ऋतंभरा के द्वारा इस सूक्ष्म और विभु तम पदार्थ में प्रवेश कर के देखें। तव एक अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया का इस में अनुभव होगा। जो उस चेतन ब्रह्म के कारण आयी है। या वह चेतना इस में रली मिली घुली सी भिन्न होते हुए भी अभिन्न—एतद्रूप ही अनुभव में आयेगी। जिस को लेखनी से नहीं लिखा जा सकता। स्वयं ही उस काल में अनुभववेदनीय होती है। वह अकथनीय है। अवर्णनीय है। अलेखनीय है।

इस प्रकार तम द्रव्य में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये।

(शंका) वैसे प्रत्यक्ष रूप तम का वर्णन नहीं किया गया केवल इसके गुणों का ही विशेष रूप से वर्णन किया गया है?

(समाधान) हम गुण का और गुणी का अभेद मानते हैं। दृष्टान्त के रूप में मनुष्य शरीर है। इस शरीर में हाथ, जाँघ, पेट, छाती, ग्रीवा, सिर प्रत्येक अंग का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाता है। इन अंग प्रत्यंगों से तो शरीर अलग नहीं। इस शरीर के ही तो यह सब अंग प्रत्यंग हैं। इनसे भिन्न अलग शरीर क्या है। कुछ नहीं। इन अंग प्रत्यंग के समुदाय का नाम ही तो शरीर है। इसी प्रकार तम द्रव्य के जो अनेक गुण या धर्मों का वर्णन किया गया है, इस सब समुदाय का नाम ही तमद्रव्य है। इनका परस्पर अभेद है। धर्मों से धर्मी अलग नहीं रहता। अतः इस धर्म-धर्मी समुदाय में ही ब्रह्म का प्रत्यक्ष करना चाहिये। इन धर्मों और धर्मी को व्याप्त करके ब्रह्म ठहरा हुआ

है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस तम और ब्रह्म के विज्ञान का इस प्रकार उल्लेख किया गया है यथा—

'यस्तमसि तिष्ठन् तमसो ऽन्तरोयं तमो न वेद,
यस्यतमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयति,
एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।। अ० ३। ब्र० ३। मं० १२।।

—जो ब्रह्म सूक्ष्म और व्यापक होने से तमो गुण के अन्दर वर्तमान है। जिसको यह तम नहीं जानता, और जिसका यह तम शरीर है, जो इस तम को अन्दर से ही सञ्चालित करता है। यह ब्रह्म ही तेरा अन्तर आत्मा ब्रह्म रूप में अमृत है। ध्यान द्वारा इस अमृत रूप ब्रह्म का आनन्द प्राप्त करना चाहिये।

इस विषय में अन्यत्र भी आया है। यथा—

"ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमः पारे प्रतिष्ठितम् ।।
योगशिखोपनिषद्० अ० ४। मं० २२ ।।

—वह ब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योतिः है। इस तम के आगे या पार उस ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। यह ब्रह्म तम से भी परे अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाश स्वरूप है।" इस तम में ब्रह्म की भावना करनी चाहिये। इसको ही ध्यान का विषय वना कर अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से ब्रह्म को इस में ओत-प्रोत हुआ देखें। वह इसी के रूप में अनुभव का विषय वन जायेगा, क्योंकि उसका अपना कोई रूप नहीं है जिस रूप में उसको देखा जाता है, उसी रूप में वह दर्शन का विषय बन जाता है। जैसे कांच के श्वेत गिलास में जिस रंग का जल डालो, गिलास उसी रंग का प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी पदार्थ के ही रूप वाला अनुभव होने लगता है। जिस योगी ने एक बार अपने स्वरूप को देख लिया है, उसको किसी भी पदार्थ मे ब्रह्म के रूप को देखने में कोई भी बाधा या भ्रान्ति नहीं, क्योंकि स्व-रूप के साथ भगवान् का स्वरूप मिलता-जुलता है। तव ही योगी को यह ज्ञान होता है। यथा—

"योऽसौ, सोहमस्मि"—

जैसा वह भगवान् है वैसा ही मैं भी हूँ। मेरे रूप में और भगवान् के रूप में कोई अन्तर नहीं है।"

ब्रह्म भी आधार और आधेय रूप में प्रत्यक्ष का विषय बनता है। बिना आधार के उसकी सत्ता कभी देखने में आती नहीं है। अतः इसी रूप में यह ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय वनता है। प्रत्यक्ष का विषय होने से सब प्रमाणों का विषय बन जाता है। कई आचार्यों ने ब्रह्म को प्रमाणों का विषय नहीं माना है। ऐसा ब्रह्म न कभी हुआ, न है ही। और न कभी होगा ही क्योंकि प्रकृति भी अनादि और नित्य है। अतः दोनों का सदा ही व्याप्य व्यापक, भाव बना ही रहता है, और बनता ही रहेगा। जैसे एक पुरुष को ज्वर है। परन्तु आँखों से देखने पर ज्वर प्रतीत नहीं होता। जव नाड़ी पकड़ कर देखते हैं, तव बुखार का पता लगता है। इसी प्रकार जव हम अन्तःकरण की सूक्ष्म-समाधि युक्त दृष्टि से ईश्वर को देखते हैं तब वह अनुभूति का विषय बन जाता है क्योंकि जिस पदार्थ में वह व्याप्त है, उसको हमने दर्शन का लक्ष्य बनाया है। उस पदार्थ के प्रत्यक्ष होने पर उसमें व्याप्त ब्रह्म का भी प्रत्यक्ष होगा। जैसे दुःख है। दुःख का कोई आकार-

प्रकार शकल-सूरत, लम्बा-चौड़ा, गोल-चोकौण, लाल-पीला आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होता है, दश इन्द्रियों से भी इसकी प्रतीति नहीं होती है। पर फिर भी हम दुःख को अनुभव करते हैं। यह दुःख इन्द्रियों का प्रत्यक्ष न बन कर चित्त या बुद्धि के प्रत्यक्ष का विषय बनता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी किसी इन्द्रिय का विषय न बन कर अन्तःकरण का विषय बन सकता है। भले ही उसका रंग-रूप आकार-प्रकार कुछ भी न हो। केवल पदार्थ मात्रा ही सत्ता होनी चाहिये। उसकी सत्ता सर्वत्र मानव के अनुमान या शब्द प्रमाण का विषय बनी हुई है, और योगियों को प्रत्यक्ष का विषय भी बनती है।

इति समष्टि महत् तमोमण्डलम्।

इति चतुर्थाध्याये प्रथमः खण्डः।

इति सप्तममावरणम्॥

द्वितीय खण्ड

६ वां अवरण

समष्टि महत् रजोगुण मण्डलम्

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महत् रजोगुण का प्रथम रूप)

१. समष्टि महत् रजोगुण स्थूल रूप में—

यह रज: (गुण) प्रकृति का कार्य होने से द्रव्य या पदार्थ है। इस प्रकार का गुण नहीं है, जिस प्रकार शब्द आकाश का गुण है और स्पर्श वायु का गुण है। रज: प्रकृति का कार्य होने से स्वतन्त्र, भिन्न पदार्थ ही है, जो समष्टि बुद्धि का उपादान कारण है। इस द्रव्य के अनेक गुण हैं। संक्षेप से इन गणों का उल्लेख करेंगे। समष्टि महत् रज: के गुण—

१. क्रिया	२. प्रवृत्ति	३. कर्म	४. दु:ख
५. तृष्णा	६. लोभ	७. ईर्ष्या	८. हर्ष
९. शोक	१०. हिंसा	११. चञ्चलता	१२. द्वेष
१३. द्रोह	१४. मत्सरता	१५. निन्दा	१६. पराभव
१७. मान	१८. दर्प	१९. विलासिता	२०. काम
२१. क्रोध	२२. भय	२३. उद्वेग	२४. संघर्ष
२५. स्पर्धा	२६. प्रतिकार	२७. दमन	२८. कम्पन

यह क्रिया, प्रवृत्ति, कर्म, चञ्चलता, कम्पन गुणों को लेते हुए परिणाम भाव को प्राप्त होता है। शेष गुणों को अन्यों का सहकारी होकर व्यवहार दशा में प्रकट करता है। यह पदार्थ सदा ही क्रिया शील बना रहता है। यह इसका स्वभाविक धर्म है। जब यह तम के साथ मिलता है, तो उसे भी गतिशील बना देता है। इसके संयोग से जितने भी पदार्थ उत्पन्न होंगे, उनको सर्वप्रथम यह गतिशील करेगा। पश्चात् अपने अन्य गुणों से उसे प्रभावित करेगा। यह अपने संयोगी तम और सत्त्व के साथ मिलकर सम्पूर्ण सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि का आरम्भक बनेगा। यह सदा सर्व प्राणियों को दु:ख, प्रवृत्ति और कर्म में प्रवृत्त करता रहेगा। तृष्णा की जड़ों को बहुत बलवान् बना देगा। सदा इसकी जड़ों को तर्पण करता रहेगा। संसार में लड़ाई झगड़ों का सदा कारण बनता रहेगा। लोक संग्रह और उपार्जन में लगाये रखेगा। लोभ के वशीभूत बनाकर अनेक कर्मों में प्रवृत्ति बनाये रखेगा। आशा को सदा बलवती बनाये रखेगा। ईर्ष्या और संघर्ष इसके मुख्य कार्य होंगे। जोकि बुद्धि को सदा अशान्त बनाये रहेंगे। अहर्निश भोगों के उपार्जन में लगाये रखना इसका धर्म तथा कर्म होगा। प्राप्ति और कार्य सिद्धि में हर्ष और विनाश में शोक को जन्म देता रहेगा। रजोगुणी पुरुष और स्त्रियां सदा इसके दास रहेंगे। रात दिन उन्हें नचाता रहेगा। युद्ध में चर्म मांस के लोभ में, स्वार्थ सिद्धि में, अथवा द्वेष क्रोध की भावना से सदा हिंसा कर्म कराता रहेगा। अन्त:करण, इन्द्रियों और शरीर को सदा

चञ्चल बनाता रहेगा। भोगों में सदा प्रवृत्त रखेगा। ध्यान, समाधि और ईश्वर भक्ति में बुद्धि और चित्त को सदा चञ्चल बनाता रहेगा। एकाग्रता और निरोध को कभी पैदा ही नहीं होने देगा। द्वेष और द्रोह की अग्नि से सन्तप्त करना, दूसरों की उन्नति को देखकर जलना, डाह मारना, इसका नित्य का कार्य होगा। सदा प्रतिकार भावना को उद्दीप्त करना, उसके लिये नाना प्रकार के उपाय सोचना, दूसरों को दबाना, दमन करना कुचल देना, इस प्रकार के संस्कारों को उत्तेजित करते रहना, शत्रुओं या अन्यों को ही परास्त करने में सुख मानना, इस का कर्म होगा। दूसरों की बुराई करना, अपने सम्मान की इच्छा करना, अभिमान पूर्वक छाती ठोकना, सदा विलासी जीवन बनाना, काम भोग के उत्तेजक रसायन आदिक का सेवन करना, काम भोग में अत्यन्त आसक्त रहना, अनेक स्त्रियों का सेवन करना, विषय लोलुप होना इसका कार्य होगा।

क्रोध के वशीभूत होकर अनेक पाप कर्मों को करना, शत्रुओं से भय भीत होना मृत्यु से डरना, प्रवृत्ति के कार्य करना, धन और ऐश्वर्य का संग्रह करना आदि अनेक कार्यों का हेतु यह रजोगुण होगा। इस विषय में भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं, यथा—

'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय, कर्म-संगेन देहिनम्॥

गीता० अ० १४। श्लोक ७॥

—रजोगुण को राग का हेतु जान, यह जड़ और चेतन में राग को दृढ़ बनाये रहता है। तृष्णा को पैदा करता है। इसको जीवित बनाये रखने के लिये, इसका पालन पोषण करता है। एक कम समाप्त नहीं होता है, दूसरे की तृष्णा और जाग उठती है। इसका अङ्कुर जन्म जन्मान्तरों तक चलता रहता है। यह मानव शरीर भी खतम हो जाता है, परन्तु तृष्णा मरने ही नहीं पाती है। यह मानव को अनेक संकटों में नियोजित कर देती है। अनेक आपत्तियों को जन्म दे देती है। मानव इसका दास बनकर अहर्निश चक्र की तरह घूमता रहता है। सन्तोष को यह ठहरने ही नहीं देती है। सदा से सन्तोष के साथ इसका संघर्ष चला आ रहा है। यह बेचारा सदा इससे परास्त हो कर भागता रहता है। भगवान् विष्णु को भी इस ने वामन रूप धारण करने पर विवश कर दिया। भगवान् राम को इसने उस स्वर्णमृग को पकड़ने के लिये विवश कर दिया, जो स्वर्ण मृग कभी देखा, सुना या हुआ भी न था। भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी महाराज को रथ का सारथी बनाकर रख दिया। शंकर भगवान् को पार्वती के वरण करने के लिए मजबूर कर दिया। समस्त राज्य को त्याग परम विरक्त हुए महाराज भर्तृहरि को भी पान की पीक को लाल समझ कर उठाने के लिये प्रवृत्त कर दिया। शंकराचार्य को काम-सुख का अनुभव करने के लिये राजा के शरीर में प्रवेश करना पड़ा। लोकवन्द्य त्यागमूर्ति महात्मा गान्धी को अपने हस्ताक्षरों के बदले १०) रु० फीस हरिजनोद्धार के लिए लेने पर मजबूर कर दिया।

अनेक प्रकार के संकटों में इसने बड़े-बड़े महापुरुषों को बलात् अनाचार के लिये प्रवृत्त कर दिया। इसके पाश से कोई बिरला ही मुक्त हो पाया है। ऐसी प्रबल यह रजोगुण की पुत्री तृष्णा है। यह तृष्णा ही कर्म के साथ मिल कर उसे अपना सङ्गी

बना, मनुष्य के बन्धनों को अत्यन्त दृढ़ कर देती है। कभी जीवन में विश्राम ही नहीं लेने देती। मनुष्य के लिये नाना प्रकार के कर्तव्यों का निर्माण करती रहती है। कर्मों के सिलसिले को कभी समाप्त ही नहीं होने देती। यह सब रजोगुण का प्रपञ्च है।

तीनों गुणों के विशेष धर्म

रजोगुण मनुष्य को आगामी दूसरा जन्म मनुष्य का ही प्राप्त हो, इस प्रकार के कर्मों का संग्रह करता है। तमोगुण भोग योनि-पशु, पक्षी, जन्तु इत्यादि का शरीर प्राप्त हो इस प्रकार के कर्मों का संग्रह करता है। सत्त्व गुण 'देव-योनि, मोक्ष, या मुक्ति प्राप्त हो' इस प्रकार के कर्मों का सञ्चय करता है। इन तीनों द्रव्यों की महिमा अपरंपार है। इसका ही संसार में सब विस्तार है। ये ही मिलकर वास्तव में सृष्टि के आरम्भक होते हैं' जिससे प्राणियों को भोग और मोक्ष प्राप्त हो। विद्वान् पुरुष ज्ञानवान् योगी को इन गुणों के स्वरूप को जानकर—कि ये वास्तव में मनुष्य के बन्ध के हेतु हैं, दुःख और क्लेश का हेतु हैं—इनसे विरक्त होना चाहिये। इन के सब धर्मों से ममता का त्याग करना चाहिये। इनसे उपराम होना चाहिये। इनसे परम वैराग्य करना चाहिये। तब ही इस मानव जीवन का लक्ष्य पूरा हो सकेगा, जिसके लिये यह मानव देह प्राप्त हुआ है वह लक्ष्य है—मुक्ति, मोक्ष या अपवर्ग।

ब्रह्म के ऊपर यह २८ वां आवरण है। इसका विज्ञान या भेदन करके ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। यदि वैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि से बुद्धि को समाहित करके समाधि द्वारा देखा जाये, तो इस द्रव्य में एक अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया होती हुई अनुभव में आयेगी। ऐसा प्रतीत होगा, कि मानों सारे सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म कम्पन हो रहा है। स्थिरता कभी भी देखने में नहीं आती है। यह सूक्ष्म क्रिया इस रजोगुण की स्वाभाविक ही है। या यह इस का स्वरूप है। इसी से आगे होने वाले समस्त पदार्थों को गति प्राप्त होगी। यह रज अत्यन्त सूक्ष्म, समस्त आकाश मण्डल में व्यापक, अनेक धर्मों से युक्त, कम्पायमान, अपनी रक्त पीत गुलाबी स्वर्णिम आभा से युक्त, अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य है। इसको हम ब्रह्म का आवास कहेंगे, अथवा ब्रह्म का मन्दिर भी कह सकते हैं। इस में भगवान् का अध्यारोप करके इस को उपासना और विज्ञान का विषय बनाना चाहिये, क्योंकि इस में कम्पन रूप धर्म ईश्वर के संयोग से हो रहा है। मानों सर्वव्यापक ब्रह्म साकार भाव को प्राप्त हुआ है। यह ब्रह्म की साकार रूप से उपासना और विज्ञान है। निराकार होते हुए भी यह ब्रह्म साकार भाव को प्राप्त हो गया है। तब यह दर्शन और प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बना है। इस समाधि काल में योगी के लिये ब्रह्म साकार रूप से प्रत्यक्ष वर्तमान होकर कम्पायमान सा हुआ-हुआ है। जैसे समुद्र में वायु के वेग से सूक्ष्म-सूक्ष्म मन्द-मन्द तरङ्गें उठा करती हैं, इस प्रकार रजोगुण में मिश्रत ईश्वर भी तरंगित हुआ है। वास्तव में ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ गतिशील हैं। अतः इन में ओत-प्रोत ब्रह्म भी गतिशील सा बना हुआ है। जैसे मनुष्य के शरीर में हृदय में चित्त के अन्दर स्थित जीवात्मा में गतिशील कम्पायमान शरीर के साथ चलना-फिरना आदि सब कुच्छ होता रहता है। ये सब धर्म अन्तःकरणः या शरीर के हैं, परन्तु सब का आरोप जीवात्मा में ही किया जाता है, हालांकि आत्मा कूटस्थ, असङ्ग, निष्क्रिय है। इस प्रकार यह गति

आदि सर्व धर्म इन पदार्थों के ही हैं। परन्तु अध्यारोप ब्रह्म में ही किया जाता है, जोकि निष्क्रिय कूटस्थ, अचल, असङ्ग है। तथा चोपनिषद्—

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्व-भुतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
कठो० वल्ली० ५। मं० ६।

—ब्रह्माण्ड में एक अग्नि ही रूपवान् पदार्थ है। सब पदार्थों में जितने भी नाना प्रकार के रूप देखने में आते हैं वे सब इस अग्नि भूत के ही रूप हैं। अथवा सर्वत्र जो प्रकाश देखने में आता है, या ऊष्णता अनुभव में आती है यह सब अग्नि के ही धर्म हैं। एक अग्नि ही प्रत्येक पदार्थ में नाना रूप-वाली प्रतीत हो रही है। इसी प्रकार एक ईश्वर है वह प्रत्येक पदार्थ में उस के अनुरूप होकर दर्शन या विज्ञान का विषय बना हुआ है। प्रत्येक पदार्थ में उसकी उपासना और विज्ञान करना चाहिये।" अन्यच्च—

"सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञान चक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञान चुक्षुनेक्षेत, भास्वन्तं भानुसन्धवत् ॥
- महोपनिषद्० अ० ४। मं० ८० ॥

—सब पदार्थों में पहुंचा हुआ सत्, चित्, आनन्द रूप भगवान्—(सत्=सदा वर्तमान रहने वाला, जिसका परिवर्तन या विनाश कभी नहीं होता, भूत, वर्तमान, भविष्य में सदा रहने वाला, चित्=चेतन ज्ञान स्वरूप, जीवन से भरपूर, जड़ पदार्थों को भी चेतनवत् बना देने वाला, क्रिया या गतिशील करने वाला; आनन्द=यह तो स्वयं अनुभव का विषय है।) आनन्द शब्द का सुन्दर अच्छा पर्यायवाचक शब्द नहीं है। परन्तु हम साधारण रूप में शान्ति, सुख, मोद, प्रमोद, आह्लाद, हर्ष, सन्तोषादि को ही बता सकते हैं। इस प्रकार के ब्रह्म को ज्ञान के चक्षुओं से देख सकते हैं। ज्ञान चक्षु से अभिप्राय ऋतं-भरा या प्रान्त भूमि प्रज्ञा से है। इनके द्वारा ही ब्रह्म-दर्शन होता है। अज्ञान के नेत्रों से ब्रह्म दर्शन नहीं हो सकता है। जैसे अन्धा आदमी सूर्य को नहीं देख सकता।

समष्टि महत् रजोगुण

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महत् रजोगुण का द्वितीय रूप)

२. समष्टि महत् रजोगुण के स्वरूप में—

रजोगुण के जिन धर्मों का स्थूल रूप में वर्णन किया गया है, इन का और रजोगुण का परस्पर धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध है। ये धर्म कभी अपने धर्मी से पृथक् नहीं होते हैं। इसलिए इसको स्वरूप सम्बन्ध नाम से प्रतिपादन किया गया है। यहाँ गुण-गुणी का अभेद कथन किया गया है। ये गुण या धर्म ही अपने धर्म: पदार्थ के बोधक हैं। इन के द्वारा ही पदार्थ के स्वरूप का और परिवर्तनशील होने का बोध होता है। जिस-जिस अवसर में जिस-जिस धर्म का प्रादुर्भाव होता है, उस अवसर में धर्मी की अवस्था में पूर्व की अवस्था से कुछ परिवर्तन प्रतीत होता है। जैसे एक बालक का शरीर है, जब यह कौमार अवस्था में आता है, २-३ वर्ष की बाल्यावस्था की अपेक्षा १४-१५ वर्ष

की अवस्था में अन्तर देखने में आता है। जब यह २५-३० वर्ष का हो जाता है। तब तीसरा परिवर्तन देखने में आता है। ५०-६० वर्ष का होता है, तब और अन्तर हो जाता है। १०० वर्ष की अवस्था में और ही भेद हो जाता है। इन अवस्थाओं का परिवर्तन ही धर्म और गुणों का भेद कर देता है। धर्मी एक ही होता है। परन्तु धर्मों का परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार रजोगुण में भी समय-समय पर इसके धर्मों का परिणाम होता रहता है, और अवस्था का भी। अतः यह गुण गुणी का स्वरूप सम्बन्ध या तादात्म्य सम्बन्ध पदार्थ की दूसरी अवस्था सिद्ध होती है।

इस स्वरूप सम्बन्ध में ब्रह्म का भी साक्षात्कार करना है। कि किस प्रकार इस चेतन सत्ता के सम्बन्ध से पदार्थ में या धर्म में परिणाम धर्म उत्पन्न हो रहा है। एक के पश्चात् एक गुण उत्पन्न हो रहा है।

(शंका) जब एक धर्म के पश्चात् दूसरे धर्म का प्रादुर्भाव होता है, क्या उस समय दूसरा खतम हो जाता है ?

(समाधान) हमारे सिद्धान्त में नष्ट होने वाला कोई भी पदार्थ या गुण नहीं है। प्रत्येक पदार्थ कारण रूप से नित्य है, और कार्य रूप से अनित्य है। पहिला जो धर्म उत्पन्न हुआ था, वह भी धर्मी में वर्तमान है. अब उस की आवश्यकता नहीं है। वह धर्मी के गर्भ में अस्त हुआ हुआ है। जब पुनः उस धर्म की आवश्यकता होगी प्रकट हो जायेगा। जो वस्तु पहले उत्पन्न हुई है, वह फिर भी हो सकती है। ब्रह्म इन सब धर्मों के उत्पत्ति काल में अन्तर्यामी रूप से अपनी चेतना के द्वारा इन परिणामों को कर रहा होता है। इसका भाव यह है कि इन परिवर्तनों में केवल ब्रह्म का सन्निधान मात्र ही काफी है। इस सन्निधान से पदार्थ स्वयं क्रियाशील होकर परिणत होता रहता है। जैसे शरीर में जीवात्मा की सत्ता मौजूद है, इसकी सत्ता से शरीर स्वयं ही बाल, युवा, वृद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। परन्तु आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता है, क्योंकि स्वयं वाणी द्वारा कहता है, जो मैं बाल्यकाल में था, वही अब वृद्धा अवस्था में भी हूँ। इसी प्रकार पदार्थ के परिणामकाल में ब्रह्म एक ही रूप में रहता है। इसमें कोई भी परिणाम या विकृति नहीं होती है। प्रत्येक पदार्थ में इसका होना आवश्यक है, अन्यथा पथार्थ में परिवर्तन का अपना स्वाभाविक धर्म होते हुए भी वह परिणत नहीं होगा। उसको चेतन की अपेक्षा रहेगी ही। जैसे मोटर या यन्त्र अपने चलने में ड्राइवर की अपेक्षा करता है। इसी प्रकार प्रकृति को भी परिणत होने तथा कार्यों के उत्पादन में ईश्वर की चेतना की अपेक्षा है, यद्यपि प्रकृति का परिणाम धर्म स्वाभाविक ही है। परन्तु वह भी किसी निमित्त की अपेक्षा ही करती है।

सृष्टि के निर्माण में ईश्वर निमित्त

(शंका) हम ईश्वर को निमित्त न मान कर सर्व जीवों के कर्मों को निमित्त मान लें, वे ही भोग प्रदान करने के लिए प्रकृति को परिणाम क्रम में प्रवृत्त कर देते हैं।

(समाधान) अच्छा, विचारो ! कर्म जड़ है, या चेतन ? यदि कर्म जड़ हैं, तब तो जड़ को जड़ गति नहीं दे सकता, क्रियाशील नहीं कर सकता है। वह कर्म भी प्रकृति के समान ही होगा। यदि कर्म को चेतन मानते हो, तब तो वह ईश्वर ही सिद्ध होता है। जैसे कुम्हार वर्तन बनाता है। पर उस को चाक घुमाने में दण्ड की आवश्यकता होती

है। अतः दण्ड भी यहाँ निमित्त कारण सिद्ध होता है। परन्तु वह जड़ दण्ड भी चेतन कुम्हार की अपेक्षा करता है। स्वयं ही चाक को चलाने में असमर्थ है। इसी प्रकार ब्रह्म भी संसार की रचना में कर्म रूपी निमित्त का भी प्रयोग करता है। अतः केवल कर्म ही प्रकृति निर्माण काल में निमित्त नहीं है, किन्तु मुख्य रूप से ब्रह्म ही निमित्त कारण है। कर्म सहकारी और गौण निमित्त कारण है। इस से सिद्ध होता है कि केवल कर्म सृष्टि के निर्माण में निमित्त कारण नहीं हो सकता है। वह भी चेतन की अपेक्षा करता है। वह तो चेतन, सर्व-व्यापक ब्रह्म ही निमित्त कारण मुख्य रूप से हो सकता है।

(शंका) मुक्तात्मायें भी तो सर्व समर्थ होती हैं, अनेक मुक्त आत्मायें मिलकर सृष्टि की रचना कर लेंगी। अतः सृष्टि रचना के लिए ब्रह्म की आवश्यकता नहीं ?

(समाधान) वे मुक्त आत्मायें अणु हैं या विभु—यदि अणु हैं, तब उनमें इतनी शक्ति नहीं हो सकती कि वे इतनी बड़ी विशाल सृष्टि की रचना कर दें। यदि वे अनन्त हैं, तो भी इन अणुओं का ज्ञान सीमित ही होगा। इन की चेतना भी एक-एक देशी होगी। और फिर हर सृष्टिकाल में मुक्तात्माओं की वृद्धि होती रहती है, वहां संघर्ष होने की भी संभावना हो सकती है। कौन किस कार्य को करे और कौन किसको। अतः असंख्य अणु मुक्त आत्माओं में यह सामर्थ्य नहीं हो सकता है, कि वे मिलकर प्रकृति में कर्म करने, या निर्माण करने में निमित्त बन सकें। यदि मुक्तात्माओं को विभु--सर्व-व्यापक मानते हो तब अनेक विभु नहीं हो सकते हैं, विभु एक ही होता है। अनेक व्यापक एक-दूसरे को भी व्याप्त करेंगे, फिर परस्पर स्थूल सूक्ष्म मानने पड़ेंगे, क्योंकि स्थूल को ही सूक्ष्म व्याप्त कर सकता है। फिर वे सब परिणामी भी मानने पड़ेंगे, और परिणामी होने से प्रकृति के समान ही हो जायेंगे।

(शंका) आपने भी तो आकाश और प्रकृति को विभु माना है ?

(समाधान) हमने जो आकाश को विभु माना है, चार भूतों की अपेक्षा से माना है। आकाश इन चारों से सूक्ष्म है, अतः इनमें व्यापक है। अपेक्षाकृत विभु है। उत्पन्न होने वाला सब में विभु नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्रकृति को भी विभु इसके कार्यों की अपेक्षा माना है। ब्रह्म की अपेक्षा नहीं। ब्रह्म की अपेक्षा में यह व्याप्य है, और ब्रह्म व्यापक है। वास्तव में साक्षात् रूप से सर्वव्यापक तो ब्रह्म ही हो सकता है। प्रकृति नहीं। परिणाम धर्म वाला तो नितान्त विभु नहीं हो सकता है। अपरिणामी और अनन्त पदार्थ ही सर्व व्यापक हो सकता है। ऐसा तो ब्रह्म ही है। अतः मुक्तात्मायें अणु और विभु रूप से मिल कर सृष्टि का निर्माण करने में सर्वथा ही असमर्थ हैं। केवल ब्रह्म ही सृष्टि को उत्पन्न करा सकता है, और वह ही निमित्त कारण भी हो सकता है वह ही सर्व व्यापक भी है। एक ब्रह्म ही ऐसा पदार्थ है जो सर्व व्यापक है, जिसके सन्निधान में रहकर प्रकृति परिणत होती है। सन्निधान शब्द का प्रयोग हम इसलिए करते हैं, कि स्वरूप से प्रकृति और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं। व्याप्य व्यापक शब्द का प्रयोग इसलिए करते हैं, कि ब्रह्म प्रकृति की अपेक्षा सूक्ष्म और महान् है। तब ही व्यापक भाव सम्बन्ध बनता है। इन दोनों का सन्निधान या सामीप्य नित्य है। अनित्य नहीं है।

समष्टि महत् रजोगुण
तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि महत् रजोगुण का तृतीय रूप)

३. समष्टि महत् रजोगुण के सूक्ष्म रूप में—

समष्टि महत् रजोगुण की उत्पत्ति प्रकृति से होती है। अतः दोनो का कार्य कारणात्मक सम्बन्ध है। प्रकृति में ही इसके सूक्ष्म रूप की परि-समाप्ति होती है। इससे परे कोई पदार्थ या कारण भी नहीं है। जगत् के प्रति यह प्रकृति ही अन्तिम मूल कारण है। तथा च सांख्य सूत्रम्—"मूले मूला भावादमूलं मूलम्।" १।६७॥ प्रधान प्रकृति मूल से और कोई मूलान्तर नहीं है, अर्थात् मूल कारण में मूल का अभाव होने से और कोई अन्य मूल नहीं है। प्रकृति ही अन्तिम मूल कारण है। सर्व पदार्थों का अवसान इस मूल प्रकृति में ही होता है। यह प्रकृति रजोगुण की सूक्ष्म अवस्था है। इन दोनों के कार्य कारणात्मक सम्बन्ध में ब्रह्म के सम्बन्ध की भी अनुभूति होनी चाहिये कि इन दोनों में ब्रह्म किस प्रकार व्याप्त है, और किस प्रकार यह प्रकृति अपने कार्य का निर्माण करती है। स्वयं अपनी शक्ति से ही करती है। किंवा किसी सत्ता की अपेक्षा करती है। यदि करती है तो वह कौन सी ऐसी सत्ता है, उसके स्वरूप को भी प्रत्यक्ष करना चाहिये। इस विषय में उपनिषद् भी साक्षी है—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

श्वेताश्वतर० अ० ४। मं० १०॥

—प्रकृति को माया जानो, और मायी को ईश्वर या महेश्वर समझो। इस माया के अवयवों से यह सारा जगत् भरा हुआ है। कोई स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ इस प्रकृति-माया के कार्य रूप पदार्थ न हों। सब ब्रह्माण्ड इसके कार्य रूप पदार्थों से भरा हुआ है।"

इससे पहले मन्त्र में यह शब्द आते हैं—'अस्मान्मायी सृजते'—इस माया से मायी महेश्वर जगत् की रचना करता है।' इस सर्वाधार सर्वेश्वर भगवान् की उपासना और भक्ति कल्याण का हेतु बन जाती है। अतः श्रद्धा भक्ति से इसका साक्षात् करें। इस विषय में गीता का कथन है। यथा—

'तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम्॥

अ० १८। श्लो० ६२॥

—हे अर्जुन ! श्रद्धा भक्ति की पूर्ण भावना से उस भगवान् की शरण में ही जा। उसी की कृपा, दया, अनुग्रह से परमशान्ति के स्थान मोक्ष को प्राप्त करेगा। जो अनन्तकाल तक रहनेवाला और सर्व दुःखो से रहित है। वह ब्रह्म ही वास्तव में मोक्ष का स्थान है क्योंकि वह निर्विकार है। सत् चित् आनन्द रूप है। उसमें ही परम पद को प्राप्त करके संसार के दुःखों और आवागमन से अनन्त काल के लिये छुटकारा हो जायेगा। इस सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करें क्योंकि वह दोनों कारण कार्यात्मक अवस्थाओं में व्यापक रूप से वर्त्तमान होकर ठहरा हुआ है। ब्रह्म के सन्निधान से ही उपादान

कारणरूप प्रकृति रजोगुण का सृजन करती है। पर वैराग्य धारण कर उस ब्रह्म का प्रत्यक्ष करना है। जिससे मोक्ष की ओर शीघ्रता से बढ़ सकें।

ईश्वर और आत्मा में कर्तृत्व का आरोप ?

प्रकृति ही वास्तव में मुख्य रूप से भोग और अपवर्ग के लिये है। सर्व भोगों और अपवर्ग का मूल-कारण यही है। इसी के सन्निधान से ब्रह्म में कर्तापन का आरोप होता है, और इसके कार्यों के सन्निधान से जीवात्मा में कर्तापन का आरोप होता है। इस आशय की पुष्टि के लिये सांख्या दर्शन का सूत्र है—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।" सां० अ० १। सू० ९६॥

—इस प्रकृति के सन्निधान से ईश्वर में अधिष्ठातृत्व धर्म माना गया है। जैसे लोहे की कील या सूई के पैर आदि में लग जाने पर, चुम्बक को पास में रखने से वह स्वयमेव बाहर निकल आती है। यहां चुम्बक सन्निधानमात्र से लोहे का प्रेरक हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी उपाधि रूप से ईश्वर में अधिष्ठातृत्व धर्म मान लिया गया है, अथवा स्व स्वामीभाव सम्बन्ध मान लिया गया है। यहाँ संयोग सम्बन्ध से या समवाय सम्बन्ध से अधिष्ठातृत्व धर्म नहीं है। केवल ब्रह्म में अध्यारोपमात्र से अधिष्ठातृत्व कह दिया है, क्योंकि ब्रह्म तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंग और निष्क्रिय है। तथा च सांख्य सूत्रम्—

'असंगोऽयं पुरुषः इति।' सां० अ० १। सू० १५॥

—यह ब्रह्म और आत्मा दोनों ही असंग हैं। केवल प्रकृति के सन्निधान-मात्र से कर्तृत्व धर्म का इन में आरोप हो जाता है। तथा चोपनिषद्

'निरिच्छे संस्थिते रत्ने, यथा लोकः प्रवर्त्तते।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे, तथैवायं जगद्गण :१३॥
अतश्चात्मनिकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने।
निरिच्छत्वादकर्तासौ, कर्ता सन्निधिमात्रतः १४॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृता मुने।
यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरोभव ॥१५॥ महो० अ० ४॥

—निदाघ मुनि को ऋभु महर्षि ने उपदेश देते हुए ब्रह्म और आत्मा के विषय में समझा रहे हैं—"जैसे खान या दुकान में पड़े हुए हीरे की कोई इच्छा नहीं होती है, कि कोई मुझे ग्रहण करे या धारण करे, परन्तु संसारी लोग स्वयं ही इसको धारण, अथवा व्यापार के लिये ढूंढते फिरते हैं, इसी प्रकार परम तत्त्व चेतन ब्रह्म की प्राप्ति, खोज, अथवा ज्ञान के लिये स्वयं ही संसार के लोग प्रवृत्त होते हैं; अथवा जगत् का कारण प्रकृति स्वयं ही इसकी सन्निधि मात्र से कार्य में प्रवृत्त हो जाती है। ईश्वर की कोई इच्छा नहीं होती, क्योंकि ईश्वर में इच्छा तो तब हो जब उसका कोई प्रयोजन या स्वार्थ हो। इच्छा किसी कारण से होती है। ऐसा कोई कारण भी नहीं। अतः ईश्वर में इच्छा पूर्वक कर्तृत्व धर्म नहीं है। ब्रह्म में जो कर्तृत्व और अकर्तृत्व धर्म माने गये हैं—'निरिच्छत्वादकर्तासौ, कर्ता सन्निधिमात्रतः।' इन वाक्यों में माने गये हैं। किसी भी प्रकार की इच्छा न होने से ईश्वर अकर्ता है, क्योंकि बिना इच्छा के कोई भी कर्म नहीं हो सकता है। पाणिनी का एक सूत्र है—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म।' कर्ता को जो इच्छित हो वही कर्म

करता है अर्थात् कर्ता की इच्छा से ही ईप्सित—इच्छित कर्म किया जाता है। जब ब्रह्म में इच्छा ही कोई नहीं है। तब कर्म भी कैसे करेगा। कर्म करने से ही कर्ता भी होता है। अतः ईश्वर में कर्तृत्व धर्म नहीं है। जब कर्तृत्व धर्म माना गया है, वह प्रकृति या माया की सन्निधिमात्र से माना गया है। वास्तव में इसमें कर्ता धर्म नहीं है क्योंकि धर्म रूप परिणाम विकारवान् में होता है। जैसे बुद्धि चित्त में ज्ञानादि के परिणाम होते हैं। अतः कर्तापन का धर्म ब्रह्म में उत्पन्न नहीं होता है। केवल सन्निधिमात्र से ब्रह्म में कर्तृत्व धर्म का आरोप कर दिया जाता है। वास्तव में इसमें यह धर्म उत्पन्न नहीं होता है।

इसी आधार पर दो प्रकार का ब्रह्म इस तीसरे मन्त्र में मान लिया गया है। एक अनिच्छा से अकर्तृत्व धर्म कहा है और दूसरा सन्निधिमात्र से कर्तापन आरोप कर दिया है। वास्तव में ब्रह्म के सन्निधान से प्रकृति में ही कर्तृत्व धर्म पैदा होता है, क्योंकि यह परिणामिनी कार्यरूपा है। जीवात्मा के सन्निधान से चित्त बुद्धि में ज्ञान आदि धर्म पैदा होते हैं, तब ब्रह्म के सन्निधान से प्रकृति में ज्ञानादि धर्म का उत्पन्न होना कोई भी आपत्ति की बात नहीं। हम तो भगवान् को सर्वथा ही निष्क्रिय और असंग रखना चाहते हैं। असङ्ग होने से कोई भी दोष नहीं आता है और सङ्गदोष से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। सर्व धर्म प्रकृति में ही पैदा होते हैं। भगवान् के व्यापक सम्बन्ध से, उनका ही भगवान् में आरोप कर दिया जाता है।

इस प्रकार के सम्बन्ध से रजोगुण में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु में दर्शन का विषय बन जाता है। उसकी व्यापक भाव से अनुभूति होती है। अन्तर्यामी सूक्ष्म रूप से पदार्थ में गति का हेतु बना हुआ है। इस सूक्ष्म प्रेरणा के सहारे ही सर्व पदार्थ क्रियाशील बने रहते हैं। अन्यथा जड़ पदार्थ में चेतन सत्ता के बिना स्वयं गति नहीं हो सकती है। यदि प्रौढ़ीवाद से किसी जड़ पदार्थ में स्वाभाविक ही क्रिया मान लें, तो बुद्धि आदि जड़ पदार्थों में ज्ञान कहाँ से आया। अतः मानना पड़ता है कि चेतन के सम्बन्ध से ही वह प्रकट हुआ है। यदि बुद्धि का ही ज्ञान मान लें, तब यही आत्मा के समान चेतन हो जायेगी।

४. अन्वय रूप—समष्टि महत् रजोगुण का चतुर्थ अन्वय रूप नहीं होता है। इसलिये पञ्चम अर्थवत्त्व का वर्णन करते हैं।

समष्टि महत् रजोगुण

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महत् रजोगुण का पञ्चम रूप)

५. समष्टि महत् रजोगुण के अर्थवत्त्व रूप में—

यह रजोगुण मुख्य रूप से मनुष्यों के भोग का हेतु होता है। गौण रूप से अन्य प्राणियों के भोग का भी हेतु होता है। राग आदि धर्म लोक में इसके ही हैं। राग द्वारा मनुष्य और पशु दोनों उपभोग करते हैं। इसी प्रकार द्वेष आदि भी दोनों के भोग और दुख का हेतु होता है। अतः यह भोग प्रधान ही है। परन्तु सत्त्व गुण के साथ मिलकर गौण रूप से सहकारी होकर मोक्ष का भी हेतु होता है। पर मुख्य रूप से तो दुःख भोग का ही हेतु सिद्ध होता है। इस विषय में गीता के ये वचन हैं। यथा—

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।

अ० १४ । श्लो० १६ ॥

—रजोगुण का फल दुःख, और तमोगुण का फल अज्ञान है । ये दुःख और अज्ञान अनेक अनर्थों और बन्धनों का हेतु होकर पुनः जन्म देते रहते हैं । संसार का आवागमन समाप्त ही नहीं होने देते हैं । ये दोनों गुण आसुरी सम्पत्ति का ही संग्रह करने में मानव को लगाये रखते हैं । अपवर्ग की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होने देते हैं । वर्तमान युग में रजोगुण अत्यन्त प्रधान बना हुआ है । सुख और शान्ति को पास नहीं आने देता है । न दिन को चैन और न रात को नीन्द ही आती है । रात दिन भोग-संग्रह में प्रवृत्ति बनी रहती है । जिसका फल दुःख और क्लेश ही होता है । भोग और ऐश्वर्य में लगी हुई बुद्धि अध्यात्म विज्ञान से भी विमुख हो जाती है । मानव यथार्थ सुख शान्ति से ही वञ्चित रहता है । यह है इस रजोगुण की भोगात्मक अर्थवत्ता ।

जितना भौतिक विज्ञान उन्नति कर रहा है, उतनी ही परेशानियाँ अधिक बढ़ती जा रही हैं । अध्यात्म विज्ञान का साथ में न होना ही परेशानियों का कारण है । भौतिक विज्ञान भी तब ही सुख भोग और सरस सुख शान्ति देने वाला हो सकता है, जबकि उसके साथ अध्यात्मवाद का पुट लगा हो । अन्यथा, कोरा भौतिक विज्ञान तो विनाश की ओर ले जाता है । इसमें सब देशों का प्राचीन इतिहास प्रमाण है यह सब रजोगुण का ही प्रभाव है । रजोगुण भी तब ही सुख का हेतु होता है, जब उसके सम भाग में सत्त्व गुण भी हो । दोनों की प्रधानता समान हो, तब ही यह लोक भी स्वर्ग के समान सुखदायक अनुभूत लगता है । अकेला रजोगुण प्रधान होकर मन को दुख और क्लेशों में धकेलता है । अनेक परेशानियां उत्पन्न करता है । हम समष्टि रजोगुण का वर्णन कर रहे हैं । जब यह अपने सहयोगी सत्त्व तम द्रव्यों के साथ मिलकर परिणाम भाव को प्राप्त होता है, और कार्यों को उत्पन्न करता है, तब इसके ये धर्म जिन का हम स्थूल रूप में वर्णन कर चुके हैं, उन कार्यों में परिणाम होकर चले जाते हैं । सब प्राणियों के भोग का हेतु बन जाते हैं, व्यष्टि भाव को प्राप्त होकर । यह है इस रजोगुण की अर्थवत्ता और प्राणियों के लिये उपकारिता, क्योंकि भोग और अपवर्ग के लिये यह प्राप्त हुआ है । अपवर्ग का हेतु यह सत्त्व गुण के साथ मिल कर होता है । जबकि इसकी अपेक्षा सत्त्व गुण प्रधान होता है, और यह सहकारी रूप से होता है । तब यह संसार स्वर्ग के समान सुखद होकर मोक्ष का देने वाला भी होता है । भुक्ति और मुक्ति दोनों ही प्रदान करता है ।

ब्रह्म की उपासना और ज्ञान

इस में ब्रह्म का आह्वान करके इसको भगवान् का मन्दिर समझें । इसका मुख्य धर्म क्रिया शीलता है । अतः ऐसी भावना करे कि इस में सूक्ष्म रूप से जो चेतन ब्रह्म वर्त्तमान है, उसी के सम्बन्ध से इसमें यह क्रिया शीलता हो रही है । फिर ध्यान समाधि को दृष्टि से ब्रह्म की चेतना की अनुभूति करें । भेद रूप से भी और अभेद रूप से भी । इस उपासना और ज्ञान से बुद्धि शान्त होगी क्योंकि ब्रह्म शान्त है । ब्रह्म अडोल है, अतः बुद्धि भी अडोल हो जायेगी । ब्रह्म चेतन है, अतः बुद्धि में भी चेतना सी आ जायेगी । ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, अतः बुद्धि का भी ज्ञान बढ़ेगा । ब्रह्म दयावान् है, अतः बुद्धि में भी दया भावना बढ़ेगी । ब्रह्म सर्वोपकारी है, बुद्धि में भी उपकार की भावना पैदा होगी ।

भगवान् मुक्त है, बुद्धि में भी मुक्ति की भावना पैदा होगी। भगवान् अनेक गुण सम्पन्न हैं, बुद्धि में भी अनेक गुण उत्पन्न होंगे। यह है फल भगवान् की भक्ति और उपासना का। जो मानव के लिये कल्याण का हेतु होता है। जितना-जितना भगवान् का सम्पर्क बढ़ता जायेगा उतने-उतने ही गुण योगी में आते जायेंगे। यह बुद्धि दर्पण के समान है, जैसा-जैसा पदार्थ इसके सामने आता जायेगा, वैसा-वैसा ही आभास इस पर पड़ता जायेगा संसारी, भोगी, विलासी, या विषयों के साथ जितना सम्पर्क बढ़ेगा, वैसा ही आभास इस पर पड़ेगा। बुद्धि रजोगुणी होकर विषयों और संसार की ओर अधिक दौड़ने लगेगी। अध्यात्मवाद से विमुख हो जायेगी। भगवान् के सम्पर्क से अलग हो जायेगी। तमोगुण और रजोगुण का राज्य हो जायेगा। नाना प्रकार के दुःख क्लेश उत्पन्न होकर जीवन को कलुषित बना देंगे। अतः मानव को भगवान् की शरण लेनी चाहिये। इसके मिलने के पथ पर ही चलना चाहिये। जोकि निष्कण्टक निर्भय, सरल, सुगम, शान्ति का पथ है। जो मानव को यथार्थ सुख धाम में ले जायेगा। जहां दुख, शोक, चिन्ता, भय, ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान, क्लेश आदि कुछ भी न होंगे। जो अनन्त काल तक अक्षय, सुख, शान्ति और आनन्द का स्थान होगा। हमने बहुत जगह अपवर्ग के लिये अनन्त काल का प्रयोग किया है। हमारा अनन्त से अभिप्राय एक परान्त काल से है जिस की संख्या बहुत ही बड़ी है उसमें अनेक वर्ष होते हैं, अतः उन अनेक वर्षों के लिये अनन्त शब्द का प्रयोग कर दिया है। अन्यथा हम तो मुक्ति से पुनरागमन मानते हैं। क्योंकि जो प्राप्त होने वाली वस्तु है, वह सदा नित्य नहीं रह सकती। सांख्या दर्शन ने इस के लिये सूत्र में अनावृत्ति शब्द दिया है, परन्तु हमारी समझ में यह बात नहीं आती है। जो एक बार उत्पन्न होकर फिर सदा नित्य बना रहे यह कुछ युक्ति संगत सिद्धान्त नहीं है, और न बुद्धि ही इस बात को मानती है।

इति समष्टि महत् रजोगुण मण्डलम्।

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयः खण्डः।

इति षष्ठमावरणम्॥

तृतीय खण्ड

५वां आवरण

समष्टि महत्तत्त्व मण्डल

प्रथम रूप में ब्रह्म-साक्षात्कार

(समष्टि महत्तत्त्व का प्रथम रूप)

१—समष्टि महत्तत्त्व के स्थूल रूप में—

सत्त्व गुण—यह गुण नहीं है। द्रव्य है। तम रज से पूर्व यह उत्पन्न होता है। इनके साथ मिलकर समष्टि चित्त आदि कार्यों के प्रति उपादान कारण और सहकारी बनता है। अपने धर्मों गुणों को साथ लिए हुए कार्य भाव को प्राप्त होकर समष्टि चित्त के रूप में परिणित होकर, पुनः व्यष्टि चित्त के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होकर अपने गुणों को प्रकट करता है। इसका कारण दूसरा नाम 'हिरण्यगर्भ अवस्था' भी है। वेद में कहा है—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'—हिरण्य गर्भ अर्थात् सत्त्व सर्व प्रथम कार्य रूप में आया। व्यष्टि भाव को प्राप्त होकर जिन-जिन गुणों के द्वारा मनुष्यों, देवों तथा अन्य प्राणियों को भोग और मोक्ष प्रदान करता है, उनका वर्णन करते हैं।

समष्टि महत्सत्त्व के गुणों का परिणाम क्रम—

१. ज्ञान	२. प्रकाश	३. अनुद्भूत प्रकाश	४. सन्तोष
५. सुख	६. आनन्द	७. लघुत्व	८. शान्त
९. प्रीति	१०. प्रसाद	११. निर्विकारता	१२. अनभिष्वंग
१३. अनहंकार	१४. आर्जव	१५. श्रद्धा	१६. भक्ति
१७. शम्	१८. तितिक्षा	१९. आर्द्रता	२०. विनम्रता
२१. वैराग्य	२२. उदासीनता	२३. क्षमा	२४. दम
२५. लज्जा	२६. अनुकम्पा	२७. धृति	२८. उत्साह
२९. उदारता	३०. परोपकार	३१. निष्कामता	३२. धर्माचरण
३३. वैराग्य	३४. ऐश्वर्य	३५. ईश्वर प्रणिधान	

इत्यादि अनेक धर्मों को साथ लेकर उत्पन्न होता है।

सत्त्व द्रव्य में सर्व प्रथम ज्ञान रूप धर्म उत्पन्न होता है। जो योगियों और स्वर्गवासी देवताओं को अदिव्य और दिव्य भोगों को प्रदान करता है। इसकी प्रधानता में दोनों लोकों के भोग सुखदायक होते हैं। मनुष्यों का जीवन सुखी शान्त रहता है। यथार्थ कर्त्तव्य का पालन होता है।सुखों की वृद्धि होती है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का संग्रह होता है। ज्ञान द्वारा प्रकृति के कार्यों और उनके कारणों का विज्ञान होकर इनसे परम वैराग्य की उत्पत्ति भी होती है। यह ज्ञान प्रज्ञालोक, ऋतंभरा और प्रान्त भूमि प्रज्ञा के रूप में प्रकट होकर प्रकृति और पुरुष के यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान का हेतु बन कर मोक्ष प्रदान करता है। इसमें भगवद्गीता भी प्रमाण है। यथा—

'मुक्तसंगोऽनहंवादी, धृत्युत्साह-समन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।

अ० १८ । श्लो० २६ ।।

—जब भक्त या योगी में ज्ञान के कारण सत्त्व की प्रधानता हो जाती है। सब प्रकार के कुसंगों का त्याग कर देता है, किसी में भी अनुराग नहीं रखता है। जन समुदाय में इधर-उधर व्यर्थ कालक्षेप नहीं करता है। आत्म-चिन्तन, ब्रह्म चिन्तन या जन कल्याण में ही अधिक समय व्यतीत करता है। परिवार, देश, जाति अथवा किसी भी प्राणी में ममता नहीं रहती है, सर्व प्रकार के ऐश्वर्यों से चित्त विरक्त हो जाता है। चित्त में लोक से उदासीनता हो जाती है। सर्व प्रकार की इच्छायें निवृत्त हो जाती हैं, सर्व ओर से पूर्ण सन्तोष हो जाता है। प्रकृति के साथ अनादि काल के सम्बन्ध से राग के संस्कारों का असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा अभाव करने में सदा तत्पर रहता है, क्योंकि यही मुख्य रूप से जन्म मरण के हेतु बने हुए हैं। इन संस्कारों के निरोध तथा अभाव में बहुत काल पर्यन्त निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। इनके निरोध से ही मोक्ष होना है।

ज्ञान—अनहंवादी हो जाता है। लोक और परलोक सम्बन्धी किसी भी कर्म को करते हुए उसको अभिमान ही नहीं होता है। निष्काम भाव से सदा पर उपकार के कार्य करता है। ममेदं की भावना जाती रहती है। कभी अभिमान का वचन नहीं बोलता है। मेरे पन की भावना खत्म हो जाती है। देह अध्यास समाप्त हो जाता है। धैर्य और उत्साह से श्रेय के सब कार्य करता है। इन दोनों गुणों को परोपकार और जन कल्याण के उपयोग में लाता है। सिद्धि, असिद्धि, हानि लाभ में हर्ष या शोक नहीं करता है। किसी प्रकार का बुद्धि या चित्त में विकार पैदा नहीं होता है। सफलता और निष्फलता में सदा समान रहता है। केवल मात्र निष्काम कर्म करता रहता है। मोक्ष के हेतु सत्त्व प्रधान ज्ञान का यह लक्षण है।

प्रकाश—अनुद्भूत प्रकाश—यह दोनों ज्ञान के ही पर्य्याय वाचक है। सत्त्व प्रधान अवस्था में ऋतंभरा और विशोका ज्योतिष्मती से ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। वह प्रकाश को लिए हुए होता है। वह पदार्थ के रूप को दिखाने वाला होता है। वह पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट और प्रत्यक्ष कर देता है। वह अग्नि के समान दाह नहीं करता है। जलाता नहीं है। पदार्थ के रूप को ही दिखाता है। अग्नि के समान जलन नहीं करता। वह प्रकाश चर्म चक्षुओं से छिपा हुआ, चकाचोन्ध न करने वाला, शान्ति तरलता, और लावण्य को लिए हुए होता है। तदनन्तर सन्तोष धर्म का प्रादुर्भाव होता है। इस धर्म के उदय होने पर तृष्णात्मक प्रवृत्ति शान्त होने लगती है। सन्तोष भी ज्ञान का परिणाम है। क्योंकि वह बुद्धि और चित्त का ही धर्म है। इन्हीं में उत्पन्न होता है। इस सन्तोष को मोक्ष का द्वारपाल कहा गया है। जब बुद्धि और चित्त इससे प्रभावित होते हैं, तब यह तमोगुण और रजोगुण की प्रवृत्तियों और वृत्तियों को शान्त कर देता है।

मोक्ष के चार द्वारपाल

महोपनिषद् अपवर्ग के द्वारपालों का वर्णन करती है। यथा—

'मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधु संगमः ।।

अ० ४। मं० २ ।।

—मोक्ष के चार द्वारपाल कथन किये हैं। जो सदा मोक्ष द्वार की रक्षा करते हैं। जिस द्वार में विशुद्ध अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा का ही प्रवेश होता है।

पहला द्वारपाल—वताया है 'शम्'। इसका अर्थ है—मन बुद्धि की शान्ति—जिस अवस्था में इन्द्रिय और उनके विषयों के सम्बन्ध का नितान्त अभाव हो जाये, बुद्धि और मन बिलकुल उदासीन हो जाये, यह भी विज्ञान की या सत्त्व प्रधान बुद्धि की ही अवस्था है। यह द्वारपाल काम क्रोध आदि को अन्दर प्रविष्ट नहीं होने देता है। बहुत सावधान होकर स्थिर रहता है। सर्व इन्द्रियों का दमन करता रहता है। बुद्धि और चित्त को बिल्कुल शान्त रखता है।

दूसरा द्वारपाल है—विचार। यह भी बुद्धि का ही धर्म है विना विचारे, बिना निर्णय किये कोई भी कर्म बुद्धि में नहीं होने देता। सत्यासत्य, धर्मा धर्म, पाप-पुन्य का यथार्थ निर्णय कर के सत्य, धर्म, और पुण्य युक्त कर्म में प्रवृत्त करता है। विचार के विषय में एक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—

गौतम को अपनी पत्नी पर सन्देह हो गया कि दुश्चरित्रा हो गयी है। उसने अपने पुत्र चिरकारी को आज्ञा दी कि जाओ, तलवार से अपनी माता का वध कर दो। जब वह पिता की आज्ञा से वध करने गया तो वहाँ जाकर विचार करने लगा, कि—'माता ने भी मेरे ऊपर अनेक उपकार किये हैं। स्त्री का वध भी पाप कर्म है।उधर पिता की आज्ञा है। उधर माता के अगणित उपकारों का ध्यान आता है।' इस प्रकार बहुत देर तक हाथ में तलवार लिए दोष गुणों का विचार करते-करते बहुत समय बीत गया।

तब तक गौतम को स्मरण आया, कि पत्नि का इस में दोष नहीं है। इन्द्र ने वेश बदल कर, मेरा रूप धारण करके उसके साथ छल किया है। उसको ठगा है। अतः वह वध करने योग्य नहीं है।"

वह दौड़कर घर गये। चिरकारी को जा कर देखा। वह नंगी तलवार हाथ में लिए विचार कर रहा था। पुत्र को देखकर गौतम ने कहा—"बेटा! जैसा तेरा नाम है, वैसे ही तेरे में गुण भी हैं। तू सोच विचार कर ही कर्म करने वाला है। अच्छा किया, जो तुमने माता का वध नहीं किया। वह निरपराध है।"

इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि अच्छी तरह विचार कर ही प्रत्येक कार्य करना चाहिए। यह बुद्धि या ज्ञान का ही धर्म है।

तीसरा द्वारपाल है सन्तोष—योग दर्शन—'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः' सन्तोष से अन्युत्तम सुख का लाभ होता है।' तथाच—'न सन्तोषात्परं पुण्य, न सन्तोषात् परं सुखम्'—सन्तोष से बढ़ कर कोई पुण्य नहीं, और सन्तोष से बढ़कर कोई सुख नहीं।

क्योंकि सन्तोष सब प्रवृत्तियों को शान्त कर देता है। इससे सब कामनायें शान्त हो जाती हैं। यह सर्व आरंभों को समाप्त कर देता है। सन्तोष ज्ञान और वैराग्य को दृढ़ करता है। भोगों और विषयों से निवृत्त करता है। तृष्णा का अभाव करता है। मोक्ष द्वार के अन्दर प्रवेश करा देता है।

चौथा द्वारपाल है, साधु संग—किसी महापुरुष का कथन है—

'साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थं भूताहि साधवः।
तीर्थः फलति कालेन, सद्यः साधु समागमः॥

—आत्मवित् ब्रह्म ज्ञानी महापुरुषों का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। पुण्य से ही ऐसा दर्शन प्राप्त होता है। महापुरुषों का दर्शन तीर्थ समान है। ये तीर्थ रूप ही होते हैं। इनके सत्संग, उपदेश, सेवा, दर्शन, सहवास आशीर्वाद, दया विशेष से जन्म जन्मान्तरों के बन्धन से मनुष्य मुक्त हो जाता है। ये साकार रूप से भगवान् का रूप होते हैं, क्योंकि इन्होंने भगवान् का साक्षात्कार किया होता है। अपने स्वरूप को पहचाना होता है। अतः इनके रूप में भगवान् साक्षात्कार रूप से प्रकट होता है। ये महान् आत्मा ही भव सागर को पार कराने में मल्लाह और किशती के रूप में होते हैं। जब भी जितने संसार सागर के तरण की इच्छा की या भगवान् के मिलन की, या दर्शन की जिज्ञासा की, तब ये सन्त, महात्मा, साधु ही निमित्त बने। गुरुजनों द्वारा यथार्थ आलोक मिला। इनके द्वारा ही श्रेय मार्ग के पथिक होकर भव सागर को पार किया, और भगवान् के दर्शन भी किये। भगवान् इन्हीं गुरुजनों के रूप में साकार रूप से प्रकट होता है।

माता-पिता जन्म देने वाले हैं, भाई बन्धु आदि इस लोक के सहायक होते हैं, पर साथ ही संसार के बन्धनों को और अधिक दृढ़ करने वाले होते हैं, परन्तु आत्म ज्ञानी साधू गुरुजनों के रूप में इस लोक के बन्धनों से मुक्त करते हैं। इस लोक को सुन्दर, मधुर, सुखद, आनन्दप्रद, शान्तिदायक, निर्भय, पवित्र, सुफल और मोक्षदायक बनाते हैं। परलोक को भी अनन्त सुख अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्दयुक्त बना देते हैं यह है सच्चे आत्म-ज्ञानी साधुओं के सत्संग का फल, जो कि इस लोक और परलोक को सुधारने वाला और पावन करने वाला है। अतः महापुरुषों, सन्तों, साधुओं का सत्संग आवश्य करना चाहिये।

सुख—इसकी अनुभूति सत्त्व द्रव्य के परिणाम भूत समष्टि चित्त के कार्य व्यष्टि चित्त में होती है। यह इस चित्त के परिणाम की ही अवस्था विशेष है। इसके परिणाम काल में सुख और दुःख का क्रम चलता रहता है। अभिलषित वस्तु के उपभोग के समय जो चित्त की अवस्था होती है, यह चित्त का परिणाम ही है। विषय भोग के काल में जो एक प्रकार की प्रसन्नता होती है, इसका नाम भी सुख है, अथवा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में जो हर्ष होता है, उसको भी सुख ही कहते हैं।

न्याय दर्शन में कहा है :—

'इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनोलिंगम्।'
न्याय० अ० १। आ० १। सू० १०॥

—इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख-दुःख और ज्ञान ये आत्मा के जानने के चिह्न हैं। इनसे आत्मा की पहिचान होती है। अतः यहां आत्मा की पहिचान का हेतु सुख बताया है। सब प्राणी इस सुख की अभिलाषा करते हैं। इसी लिए कर्म करते हैं। चाहे पापात्मक कर्म हो या पुण्यात्मक दोनों में मुख्य हेतु सुखाभिलाषा ही होती है। शरीर द्वारा जितने भी कर्म किये जाते हैं, सब सुख की इच्छा से ही किये जाते हैं। यह सुख चित्त का एक धर्म, परिणाम अथवा अवस्था विशेष है। इसकी उपज हर्ष आह्लाद प्रसन्नता इत्यादि हैं। अभीष्ट भोगों के पश्चात् जब भोगों का स्मरण आता है, तब भी सुख की अनुभूति होती है। किसी अन्य इन्द्रिय का विषय न बनकर यह चित्त का ही विषय बनता है। अतः यह चित का ही परिणाम विशेष है। चित्त का अनेक धर्मों के रूप में हर समय परिणाम होता रहता है।

सुख और आनन्द का भेद

(शंका)—सुख और आनन्द में क्या अन्तर है?

(समाधान) इन्द्रियों द्वारा विषयों के उपभोग से जो एक अनुभूति होती है, उस को सुख कहते हैं। आनन्द बिना इन्द्रिय और विषयों के उपभोग के भी होता है। इन्द्रियाँ जब विषयों से उपराम होकर या थककर शान्त हो जाती हैं, उस काल में चित्त की जो एक अनिर्वचनीय-सी अवस्था होती है, उस का नाम आनन्द है। अत्यन्त सात्त्विक निद्रा से जिस समय सब इन्द्रियों और मन के सब व्यापार शान्त हो जाते हैं, उस काल में भी आनन्द की उपलब्धि होती है। तब निद्रा समाप्त होने के पश्चात् भी मनुष्य अनुमान करते हुए कहता है—"आज वह आनन्द निद्रा में आया।" यह किसी विषयजन्य नहीं होता है। यह निद्रा काल के उत्पन्न हुए चित्त का ही धर्म होता है। समाधि की अवस्था में भी जब सब वृत्तियाँ शान्त होती हैं, तब भी विशेष आनन्द की अनुभूति होती है यह भी चित्त का एक परिणाम विशेष है।

(शंका) यदि इस आनन्द को आत्मा का और सुख को चित्त का धर्म मान लें तो इसमें क्या आपत्ति है।

(समाधान) यदि यह आनन्द धर्म अब आत्मा में उत्पन्न हुआ है और पहले नहीं था, तब तो आत्मा को भी चित्त के समान परिणामी मानना पड़ेगा, क्योंकि चित्त में भी इसी प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। आत्मा में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आना चाहिये कि जो पहले न हो और बाद में आजाये, अथवा पहले हो और पीछे नष्ट हो जाये। जहाँ उत्पन्न और विनष्ट होने वाला कोई गुण होता है। वह पदार्थ परिणामी होता है। अतः यह जो आनन्द की अभिव्यक्ति होती है, यह चित्त का ही धर्म है। विषय-सम्बन्धाभाव में चित्त की स्वरूप में स्थिति होने से उस में आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। जहाँ ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ ही आनन्द भी उत्पन्न हो सकता है। यदि आनन्द को आत्मा में उत्पन्न हुआ मान लें और आत्मा का ही धर्म मान लें, तो धर्मी ही तो धर्मों के रूप में परिणत होता है। चाहे धर्म धर्मी का अभेद ही क्यों न हो। फिर भी धर्मों का परिणाम धर्मी में ही होता है। अतः यह भी चित्त के समान परिणामी हो जायेगा क्योंकि इस में आनन्द रूप धर्म पहले नहीं था, बाद में आया है।

आनन्द चित्त में ही है !

(शंका) जब आप आत्मा में भी आनन्द की अभिव्यक्ति ही नहीं मानते हो तो फिर आत्मा क्या पदार्थ है ?

(समाधान) आनन्द की अभिव्यक्ति संयोग से उत्पन्न होती है । जब चित्त का सम्बन्ध विषय, इन्द्रिय, मन, आदि के साथ नहीं होता है, तब इस का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ होता है । तब आत्मा के सम्बन्ध विशेष से चित्त में आनन्द की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि आत्मा चेतन है, और चेतन आत्मा के सम्बन्ध विशेष से चित्त में आनन्द उत्पन्न होता है । आत्मा में नहीं होता है, क्योंकि चित्त तो परिणामी है । विषय सेवन काल में सुख रूप धर्म उत्पन्न हुआ था । आत्मा के सेवन काल में आनन्द उत्पन्न हुआ है । अतः आनन्द चित्त का ही परिणाम विशेष है । यदि कहो कि आत्मा को फिर क्या प्राप्त हुआ, जब सुख और आनन्द चित्त के ही धर्म हो गये । आत्मा ने कुछ खोया या गँवाया नहीं है जो उसने प्राप्त करना है । इस अणु चेतन सत्ता के संयोग के चित्त में ही सब धर्मों की अभिव्यक्ति होती है । ज्ञान क्रिया आनन्द इत्यादि की । आत्मा में किसी भी गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती है । वह सदा ही एक रस रहता है क्योंकि निर्विकार है, अपरिणामी है। स्वयं निष्क्रिय है। चित्त को क्रिया प्रदान करता है। आत्मा के सम्बन्ध मात्र से ही चित्त में सब धर्म स्वयं ही उत्पन्न होते रहते हैं । बन्ध और मोक्ष भी इस चित्त का ही होता है । क्योंकि आत्मा तो सदा मुक्त ही है। मैं सुखी, मै दुःखी आदि का जो इसमें व्यवहार होता है, यह चित्त की अज्ञानता का ही कारण है, न कि आत्मा की अज्ञानता का । आत्मा अज्ञान रूप कभी हुआ ही नहीं, जो अब ज्ञान की प्राप्ति मानें । इस विषय में सांख्य शास्त्र का यह प्रमाण है—अ० ६ । सू० १० । 'निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुतेः' —आत्मा जब निर्गुण है असंग है, तब आनन्द धर्म की कैसे उत्पत्ति हो सकती है ।

चेतन आत्मा के सम्बन्ध से ज्ञान आदि धर्म चित्त में ही होते हैं । इस चेतना शक्ति का ही यह प्रभाव है । जो चित्त में अनेक धर्म उत्पन्न होने लगते हैं । वैसे चित्त में पहले से ही यह धर्म वर्तमान थे, जो अपने कारण से ही आये थे । आत्मा केवल अभिव्यक्ति में हेतु हुआ है । हेतु से अभिप्राय—निमित्त कारण बना है । उपादान कारण नहीं । उपादान तो वहाँ चित्त ही है । आत्मा निमित्त कारण है ।

सुख और आनन्द की मीमांसा हो चुकी । इनके भेद का वर्णन करने के पश्चात् चित्त के अन्य धर्मों का वर्णन करते हैं । यद्यपि ये सब धर्म सत्त्व गुण के ही हैं । परन्तु इनका भोग व्यष्टि चित्त और बुद्धि में ही जाकर होता है । अतः इनकी व्याख्या चित्त के भोग और अपवर्ग के आधार पर ही की जा रही है । वास्तव में परिणत होते हुए गुण जब व्यष्टि चित्त और बुद्धि में पहुँचते हैं तब ही ये भोग और अपवर्ग का हेतु वनते हैं ।

लघुत्व—हलकापन, सूक्ष्मता, स्वच्छता, प्रकाशता, सात्त्विकता आदि इसके कई अर्थ होते हैं । यह भी चित्त का धर्म है ।

प्रीति—यह लोक और परलोक के लिए अत्यन्य सहायक है । इस लोक में परिवार, इष्ट मित्र, समाज, देश, गुरु के प्रति व्यवहार में अत्यन्त उपयोगी है । परलोक के लिए भगवान् में प्रेम के रूप में उपयुक्त होती है । यह श्रद्धा विश्वास को उत्पन्न करती है । परिवार, समाज, देश, विश्व को एक सूत्र में वान्ध कर रखती है । इस लोक के लिए

भी कल्याण का हेतु है, और परलोक के लिए भी। दूसरे के क्रोध को शमन करने में यही सरलतम उपाय है।

प्रसाद – चित्त या बुद्धि की प्रसन्नता।

निर्विकारता—बुद्धि और चित्त में कोई भी दोष उत्पन्न न होना। चित्त का समाहित बने रहना। चित्त में शान्ति का बना रहना। बुद्धि में संकल्प विकल्प का पैदा न होना। यह सब इस निर्विकारता का ही प्रभाव है। सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में भूमिका तैय्यार करती है। ज्ञान विज्ञान के कार्य में अत्यन्त सहायक होकर एक-रसता को यह निर्विकार धर्म पैदा करता है।

तम और रज द्रव्व के गुण जहाँ मुख्य रूप से भोग के हेतु हैं, वहाँ सत्त्व द्रव्य के गुण मुख्य रूप से अपवर्ग के ही हेतु होते हैं, गौण रूप से भोग के भी कारण हैं। योगी और भक्त लोग अनेक वर्ष ही नहीं किन्तु अनेक जन्मों को इस सत्त्व के गुणों को प्राप्त या उत्पन्न करने में लगा देते हैं क्योंकि इनके बिना मोक्ष का प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है।

अनहंकार—राहित्य—निरभिमानिता का होना अत्यन्त आवश्यक है। योगी में अपने किसी गुण का अभिमान ही नहीं होना चाहिए। श्रद्धा भक्त और योगी के लिए माता के समान कल्याणकारिणी होती है। 'श्रद्धा वान् लभते ज्ञानम्।'—श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। अतः श्रद्धा का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। भगवान् का दर्शन अथवा मिलन भी श्रद्धापूर्वक ही होता है। श्रद्धावान् पुरुष ही भक्तिमान हो सकता है। श्रद्धा भक्ति के बिना शुष्क हृदय में न तो विज्ञान का अंकूर ही उत्पन्न होता है, न ईश्वर आराधना और ध्यान ही हो सकता है। भज् सेवायां धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' इस अष्टाध्यायी के सूत्र से क्तिन् प्रत्यय होकर भक्ति शब्द की सिद्धि होती है। इस का अर्थ सेवा, पूजा, आराधना इत्यादि होता है। अतः यह भक्ति शब्द प्रथम ईश्वर के लिए, फिर गुरु, माता-पिता तथा अन्य वृद्ध जनों के लिए प्रयुक्त होता है। अतः योगी और भक्त में इस भक्ति धर्म का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। यह भक्ति सात्त्विकता का उदय करती है। ज्ञान की वृद्धि करती है। भगवान् और गुरु का समीपवर्त्ती बनाती है। इसी प्रकार शम, दम, तितिक्षा, आर्जव, आर्द्रता, नम्रता आदि धर्म हैं। जो भक्त और योगी के भूषण हैं, अन्तःकरण को निर्मल बनाते हैं। इन्द्रियों के दमन करने में सहायक होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य पैदा करते हैं। मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। इसी प्रकार दूसरे धर्म क्षमा, लज्जा, अनुकम्पा, धृति, उत्साह, उदार भाव, उपकार, निष्कामता, धर्माचरण आदि गुण हैं। जो सात्त्विक बुद्धि और चित्त में ही उत्पन्न होते हैं। जो भोग और मोक्ष में अत्यन्त ही सहायक होते हैं। मानव के जीवन को सुन्दर और पवित्र बना देते हैं। साथ ही सुगन्धित और कीर्तिवाला बनाकर संसार में आदर्श उपस्थित करते हैं। इन गुणों से युक्त होने पर भक्त और योगी के भोग भी त्याग और वैराग्य की भावना को लिये हुए होते हैं।

वैराग्य का महत्त्व

वैराग्य और उदासीनता भक्त और योगी के सांसारिक बन्धनों को शिथिल करते हैं। राग पूर्वक प्रवृत्ति का अभ.व करते हैं। बुद्धि और चित्त को निर्विकार बनाते हैं। सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि को दृढ़ करते हैं। महापुरुष ही आत्म ज्ञान और

ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। मोक्ष के भागी बन सकते हैं। जिन के बुद्धि और चित्त संसार के भोगों से विरक्त होकर उदासीन हो गये हैं। वैराग्यवान् और उदासीन हृदय में विशेष ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। जो आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान का हेतु होकर मोक्ष को प्रदान करता है। इस वैराग्य की प्रशंसा अथवा महिमा का वर्णन करते हुए उपनिषद् ने कहा है। यथा—

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्,
नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि-
गच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

मुण्डक० खं० २ । मं १२॥

—ब्रह्म-विज्ञान का जिज्ञासु ब्राह्मण इस लोक के सर्व कर्मों को अच्छी तरह सोच समझ ले। अच्छी तरह परीक्षा कर ले। किसी कर्म या भोग में मेरी ममता या आसक्ति तो नहीं रही है। लौकिक कार्यों के प्रति मेरे सब कर्तव्य तो समाप्त हो गये हैं। कोई शेष नहीं रहा है और कृत और अकृत=जो कर चुके हैं, जो करने शेष रह गये हैं। या जो करने या न करने योग्य कर्म हैं, इन सब से ही जब वैराग्य प्राप्त हो जाये तब वह श्रद्धा भक्ति पूर्वक भेंट पूजा के लिये कुछ सामग्री लेकर वेद के विद्वान्, ब्रह्म-ज्ञानी, ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले, आत्मवित्, योगी गुरु की शरण में जाये। आत्म-विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त करे।"

इस अध्यात्म विज्ञान के लिये वैराग्य को ही प्रधान कहा है। जब तक इस लोक और परलोक के आदिव्य और दिव्य विषयों से वैराग्य नहीं होता है तब तक आत्म-विज्ञान होना कठिन ही है। यदि विज्ञान प्राप्त भी हो जाए, और परम वैराग्य न हो तो मोक्ष होना नितान्त असंभव है। अतः योगी को वैराग्य की धारणा दृढ़ करनी चाहिये। देह का अध्यास छोड़ना चाहिये और इस प्रकार की भावना दृढ़ करनी चाहिये। यथा

'संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तस्मिन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥

महो० अ० ६ । मं० २३ ॥

—संसार में दुःखों की सीमा ही अन्तिम सीमा है। इससे परे और दुःख नहीं हैं। इस संसार रूपी दुःख में पड़ा हुआ देह कैसे सुखी हो सकता है। एक दुःख दूर नहीं होता, दूसरा और आकर उपस्थित हो जाता है। दुःखों का अन्त ही होने में नहीं आता है। यथा च—

'एकस्य दुःखस्य च यावदन्तं, गच्छामि पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयमुपस्थितं मे, छिद्रेष्वनर्थाः बहुलीभवन्ति ॥

—संसार रूपी सागर को पार करना है। परन्तु किस प्रकार मैं पार कर सकता हूँ। एक दुःख की क्या बात कहूं, वह तो समाप्त ही नहीं होता। तब तक दूसरा और आ उपस्थित हो जाता है। जहाँ एक छिद्र होता है, वहाँ और भी अनेक छिद्र हो जाते हैं। इन दुःखों से ही छुटकारा नहीं होता है।' इस प्रकार की वैराग्य भावना को दृढ़ करे। तब ही शरीर से और संसार से वैराग्य होता है। ये दो ही तो बन्धन का हेतु हैं। राग के कारण

हैं। इनके कारण से राग पनपता है। अतः आत्मविज्ञान के जिज्ञासु को वैराग्य की भावना दृढ़ करनी चाहिये। सर्व प्रकार की आशाओं का परित्याग करना चाहिये। सर्व सङ्कल्प और इच्छाओं को छोड़ना चाहिये, चित्त में निर्विकल्पता और निष्क्रियता पैदा करनी चाहिये। बड़े-बड़े ऋषि मुनि, राजे महाराजे, इस जगत् में न रहे फिर तेरी क्या गिनती है। अतः जिस उद्देश्य के लिये यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है, उसे अवश्य ही पूरा करना है और इसी जीवन में पूरा करना है। इस प्रकार की भावना को दृढ़ करना चाहिये। इस वैराग्य की भावना द्वारा सर्व प्रकार की तृष्णा को शान्त करना चाहिये। यह तृष्णा मानव के बन्धन को दृढ़ करती है। रस्सी और लोहे की बेड़ियों से तो मनुष्य छूट सकता है, परन्तु तृष्णा से बंधा हुआ पुरुष अत्यन्त कठिनता से छूटता है। निदाघ मुनि को वैराग्य का उपदेश देते हुए उनके गुरु ऋभु ऋषि ने बड़ा जोर देकर बलपूर्वक कहा यथा—

'रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते, तृष्णाबद्धा न केनचित्।
तस्मान्निदाघतृष्णां त्वं त्यज, सर्वसंकल्पवर्जनात्॥

अ० ६। मं० ३९॥

भावार्थ आ चुका है। अतः तृष्णा को दूर करके वैराग्य को दृढ़ करें।

ईश्वर-प्रणिधान—भगवान् के प्रति भक्ति विशेष, अर्थात् उसका ध्यान, उसकी आराधना, उसके प्रति अनन्य भक्ति, उसका विवेक, और उसका साक्षात्कार ईश्वर-प्रणिधान है। इस समष्टि सत्त्व द्रव्य के अन्दर उस भगवान् का आरोप करें। इसको लक्ष्य बना कर ध्यान की सूक्ष्म दृष्टि से इस विज्ञानात्मक सत्त्व में उस विज्ञान स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करें। यह पदार्थ ब्रह्म-विज्ञान के लिये और उसके साक्षात्कार के लिए सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम है। ब्रह्म की चेतना से यह सत्त्व प्रकाशित हुआ है। ज्ञानरूप हुआ २ है। ज्योतिरूप चेतनवत् सा बना हुआ है। प्रकृति का यह सर्वप्रथम ज्ञान रूप कार्य है। संसार के विज्ञान का प्रसार इसी सत्त्व गुण के द्वारा हुआ है। ब्रह्म से सर्व प्रथम इसी ने विज्ञान को प्राप्त किया है। उसके ज्ञान रूप प्रकाश से यह ज्ञान रूप प्रकाश बना है। सृष्टि के निर्माण में सर्वप्रथम इसी का मुख्य भाग है। यह रजस् तमस् को साथ लेकर भोग और अपवर्ग का मुख्य हेतु हुआ है। अतः ब्रह्म को इसमें व्याप्त समझकर योगी को अपनी उपासना और विज्ञान का विषय बनाना चाहिये।

इस सत्त्व में ब्रह्म से इस प्रकार की शक्ति आयी जो ज्ञान रूप में प्रकट होकर भोग और मोक्ष का कारण बनी है। जैसे प्रज्वलित अग्नि लोहे आदि धातुओं को अपना रूप बना लेती है, इसी प्रकार ब्रह्म ने इसमें व्याप्त होकर इसे अपना रूप बनाया है। जीवों के कल्याण के लिए और भोग तथा मोक्ष के लिये। इस तत्त्व में इसीलिये ज्ञान की विशेषता आयी है। जैसे दर्पण में स्वच्छ होने के कारण मुखादि को दिखाने की योग्यता होती है, अन्य पदार्थों की अपेक्षा, इसी प्रकार इस समष्टि सत्त्व में भी सर्व पदार्थों की अपेक्षा निर्मल, शुद्ध, पवित्र, स्वच्छ होने से ब्रह्म दर्शन या साक्षात्कार कराने की योग्यता है। ब्रह्म को सूक्ष्मता के कारण अपने अन्दर धारण करके ब्रह्म के समान चेतनवत् ज्ञान स्वरूप बना हुआ है। अतः योगी सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा इसमें ब्रह्म का साक्षात्कार करे।

समष्टि महत्सत्त्व मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-साक्षात्कार

(समष्टि महत्सत्त्व का द्वितीय रूप)

२. समष्टि महत्सत्त्व के स्वरूप में—

सत्त्व गुण की प्रथम स्थूल अवस्था में जो इसके अनेक धर्मों का वर्णन किया गया है। ये सब धर्म इस सत्त्व से अलग नहीं हैं। किन्तु इसी सत्त्व की परिणत होती हुई अवस्थायें हैं। जब यह समष्टि सत्त्व भोग और मोक्ष प्रदान करने के लिये अपने सहकारी कारणों के साथ मिल कर कार्य भाव को प्राप्त होता है, उस अवसर में क्रमशः इन धर्मों का प्रादुर्भाव होता है। ये सब समष्टि चित्त सत्त्व में जाकर प्रकट होते हैं, और फिर व्यष्टि चित्त में परिणाम भाव को प्राप्त होकर चले जाते हैं। तदन्तर मनुष्य के भोग और अपवर्ग का हेतु बनते हैं। इस सत्त्व धर्मी का अपने धर्मों से सदा अभेद ही रहता है, भले ही यह वाह्य रूप से भेद रूप में प्रतीत हों, परन्तु वास्तव में इनका अपने धर्मी से सदा अभेद ही रहता है। अतः इस सत्त्व की धर्मों या गुणों सहित स्वरूप संज्ञा है। इसी को स्वरूप, सम्वाय या तादात्म्य सम्वन्ध कहते हैं।' धर्म धर्मी के स्वरूप सम्बन्ध में ही ब्रह्म दर्शन करना चाहिये। जब योगी की बुद्धि इतनी सूक्ष्म ज्योतिष्मती के रूप में हो जाये, कि इस सत्त्व गुण के यथार्थ स्वरूप का विज्ञान पूर्वक साक्षात्कार कर सके और इसके परिवर्तन होते हुए धर्मों का भी अनुभव कर सके तब ही इसमें ब्रह्म के व्यापक रूप और उसकी प्रेरिका चेतनाशक्ति का साक्षात्कार कर सकता है। अथवा इस सत्त्व के स्वरूप को ही ब्रह्म मानकर इसकी उपासना करें। जब इसके विज्ञान के क्रम में परिणाम होते हुए अनुभव में आवें तव इससे भिन्न अपरिणामी ब्रह्म की उसमें भावना करें, जहाँ परिणाम क्रम समाप्त हो जाये, केवल एक अनिर्वचनीय निष्क्रिय परिणाम रहित चेतन सत्ता की अनुभूति हो, उसको ही ब्रह्म समझना चाहिये। वह चेतन सत्ता भेदाभेद रूप से उसमें स्थिर है। अभेद रूप से इसलिये कि इसने इस सत्त्व को व्याप्त किया हुआ है; और भेद इसलिये कि दोनों स्वरूप से भिन्न हैं। एक चेतन है और दूसरा जड़ है। एक व्यापक है दूसरा व्याप्य है। यह सत्त्व द्रव्य समष्टि सर्व पदार्थों में २९वां द्रव्य है। और ब्रह्म ही सूक्ष्मता को आच्छादित करने में यह २९वां आवरण है। इससे पूर्व के पदार्थों को ही भेदन करके इस सत्त्व में पहुंचकर ब्रह्म की अनुभूति तथा साक्षात्कार होता है। अन्यथा सत्त्व भो इतना सूक्ष्म विज्ञानात्मक द्रव्य है कि इसको भी योगी ब्रह्म समझ सकता है, क्योंकि यह अपनों से पहले पदार्थों से अत्यन्त सूक्ष्म है। ज्ञान रूप एवं चेतनवत सा है। यहाँ पहुंचकर योगी भ्रान्त हो इसको ही ब्रह्म समझ बैठता है, क्योंकि यह भी सारे ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म रूप से व्याप्त हुआ हुआ है। इस अवस्था में ऋतंभरा बुद्धि द्वारा ही यथार्थ निर्णय होता है कि यह सत्त्व वास्तव में ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म इससे भिन्न है।

भ्रान्ति दर्शन

जिन योगियों को अपने स्वरूप का तो साक्षात्कार हुआ नहीं, और ब्रह्म-विज्ञान के लिये यत्नशील हैं; और इससे पहले सर्व पदार्थों का विज्ञान पूर्वक साक्षात्कार तो कर लिया है, परन्तु उसमें ब्रह्म दर्शन नहीं हुए हैं, विज्ञान करते-करते इस पदार्थ में आ पहुंचे

हैं, ऐसे योगी ही यहाँ आकर भ्रान्त हो सकते हैं। पर जिन्होंने अपने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उनके पास तो एक कसौटी हो जाती है, वे अपने स्वरूप के समान ही निर्भ्रान्त होकर सब पदार्थों में ब्रह्म के दर्शन करते हैं। स्वस्वरूप का साक्षात्कार न करके जो ब्रह्म का साक्षात्कार करने चलते हैं, उनको सदा ही प्रत्येक पदार्थ के दर्शन पर ब्रह्म दर्शन की भ्रान्ति हो सकती है, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ के परिणाम भी बहुत होते हैं। जैसे चित्त के अनेक विज्ञान रूप में परिणाम होते हैं, इस सत्त्व के भी अनेक विज्ञान के रूप में परिणाम हुए हैं। इन विज्ञानात्मक परिणामों में भी किसी विज्ञान के परिणाम को देखकर ही यह भ्रान्त्यात्मक निर्णय कर बैठता है कि यही ब्रह्म है। जब फिर कुछ काल के पश्चात् उस विज्ञान की अवस्था को भी परिणत होते हुए देखता है, तब फिर यह भावना बनती है, कि यह भी ब्रह्म नहीं। ब्रह्म इससे भिन्न ही परिणाम रहित निर्विकार निष्क्रिय है। फिर ब्रह्म की खोज में आगे बढ़ता है या निराश होकर थक कर बैठ जाता है। रह जाता है। इसलिये योगी को आवश्यक है कि पहले अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर ले। इसके पास परख का ऐसा साधन हो जायेगा, कि पदार्थ के विज्ञान में तो भले ही इसको देर लग जाये, परन्तु ब्रह्म-विज्ञान करने में देर नहीं लगेगी। वह एक दम सूक्ष्म ऋतंभरा बुद्धि से पदार्थ की सूक्ष्मता में प्रवेश करके बहुत शीघ्र ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेगा यदि अपने स्वरूप का साक्षात्कार किये बिना ब्रह्म विज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार का यत्न करेगा तो उसका मार्ग बहुत लम्बा हो जायेगा। सर्वत्र भ्रान्ति का भय बनता रहेगा। मार्ग बहुत कठिन हो जायेगा। संभव है अनेक जन्म लग जायें, और निराश होकर भटक ही जाये। एक छोटे से जीवात्मा का तो पता ही नहीं लगा, और इतने बड़े महान् ब्रह्म का पता लगाने चले हैं। कितनी अज्ञानता, अनभिज्ञता और उपहास की यह बात है। यह तो ऐसी ही बात होगी कि एक बालक अनपढ़ है, उसके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है, जिसकी अ आ, इ ई का भी ज्ञान नहीं है, उसको शास्त्री, आचार्य, या एम० ए० की श्रेणी में बिठा दिया जाये। वह क्या खाक पढ़ेगा। इसी प्रकार जिसने अपनी आत्मा की चेतनता या स्वरूप को तो पहचाना नहीं, जो एक अणु के समान है, जिसका जानना बहुत सुगम है, अपने अन्दर ही उसकी अनुभूति भी हो सकती है, छोटी वस्तु का प्राप्त करना तो सुगम है, और इतनी महान् विश्व व्यापी ब्रह्म की चेतना को समझने, जानने या प्रत्यक्ष करने चला है। ब्रह्म विज्ञान का यह क्रम या मार्ग ही गलत है।

मन आदि की शान्ति के लिये ईश्वर के नाम का जप तो पहले-पहले ठीक है, या उसके गुण का गायन करना भी ठीक है, इस से भी चित्त शान्त हो जाता है। प्रार्थना से भी बुद्धि को शान्ति और तसल्ली मिलती है। ये सब तो अन्तःकरण चतुष्टय की शुद्धि और शन्ति के साधन हैं। यह ब्रह्म साक्षात्कार के साक्षात् रूप से साधन नहीं हैं। मन बुद्धि चित्त के शुद्ध और शान्त होने पर फिर सवाल पैदा होता है या जिज्ञासा होती है। आत्म विज्ञान की या ब्रह्म विज्ञान की। इसके साधन हैं धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधि। इनके द्वारा ही आत्म-विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान का विषय प्रारम्भ होता है। आत्म विज्ञान का वर्णन हमने आत्म-विज्ञान ग्रंथ में कर दिया है। प्रकृति के समस्त समष्टि कार्यों, कारण रूपा प्रकृति, एवं इस से सम्बन्धित ब्रह्म-विज्ञान का वर्णन

हमने इस ग्रंथ में कर दिया है। मुख्य रूप से जीवात्मा, प्रकृति और ब्रह्म ये तीन पदार्थ ही विज्ञान और मोक्ष के हेतु हैं। इनके विज्ञान का क्रम और उपाय जो हमने दोनों ग्रन्थों में किया है, यह हमारे अनुभव के आधार पर ही है। यह एक ही जन्म में तीनों पदर्थों का साक्षात्कार और मोक्ष प्रदा न करेगा।

योगी का धर्म

जिस भक्त या योगी को विज्ञान के द्वारा आत्मविज्ञान और ब्रह्मविज्ञान की सच्ची जिज्ञासा है, संसार के सब कार्य छोड़कर, एक दम विरक्त होकर, उसको किसी आत्मविज्ञानी महा पुरुष की शरण में रह कर कटिबद्ध होकर योगाभ्यास में लग जाना चाहिये। इसी को अपने जीवन का मुख्य कर्तव्य और परम धर्म-समझना चाहिये। एकान्त स्थान में गुरु के सम्पर्क में रह कर कठिन तप और त्याग की भावना से आचार्य के आदेशानुसार, ध्यान-समाधि द्वारा इस विज्ञान को प्राप्त करें। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इस विज्ञान को दृढ़ करें। शम, दम, तितिक्षा, उपरति-साधन चतुष्टय सम्पन्न हो कर अहर्निश इस विज्ञान को प्राप्त करने में लगे रहें। तीनों प्रकार की एषणाओं का सर्वथा परित्याग करें। श्रद्धा-भक्ति और प्रेमपूर्वक सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा इस अध्यात्म विज्ञान का सम्पादन करें। सब प्रकार की लौकिक कामनाओं को बन्ध का हेतु समझ कर त्याग दें, क्योंकि यह कामनायें ही बन्ध का हेतु बन जाती हैं। उपनिषद् ने भी इस बात पर जोर दिया है। यथा—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
मुण्डक०अ० २। व० ३। म० १४॥

—जब इस साधक योगी की कामनायें जो हृदय या चित्त को आश्रय कर ठहरती हैं, वैराग्य की दृढ़ भावना से सर्वथा शान्त हो जाती हैं। तब यह योगी अमृतरूप होकर —मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।' उसके हृदय की जन्म-मरण की वासनाओं की सब ग्रंथियाँ शिथिल हो जाती हैं। शेष सञ्चित वासनायें अपने चित्त के साथ स्वोपादान कारण में लौट जाती हैं। तब यह योगी अमृत रूप हो कर मोक्ष में स्थित हो जाता है। परन्तु वर्तमान के योगी भुक्ति और मुक्ति साथ-साथ ही चाहते हैं। किन्तु इन दोनों के साथ मेल नहीं खाता। जहाँ भोग है वहाँ योग नहीं। जहाँ योग नहीं वहां मक्ति भी नहीं। अतः वे दोनों से वञ्चित रह जाते हैं, क्योंकि यह मार्ग ही ठीक नहीं है। वहाँ वैराग्य ठहरता ही नहीं, बिना वैराग्य के चित्त भी स्थिर नहीं होता। बिना चित्त की स्थिरता के समाधि में स्थिति ही नहीं होती है। बिना समाधि के तत्त्वज्ञान नहीं होता है। बिना तत्त्वज्ञान के आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता है। अतः सर्व प्रकार के भोगों का तो त्याग करना ही होगा। जब पूर्व के अनेक जन्मों में भोगों से तृप्ति नहीं हुई है, और इस जन्म में भी अबतक नहीं हुई है, तब थोड़े से इस शेष जीवन में पता नहीं कब प्राण निकल जावें, क्या भोगों से तृप्त होने की संभावना हो सकती है। अतः एव मुक्ति की भुक्ति के साथ धारणा ही गलत है। अनुचित है। अतः साधक योगी को आत्म-ज्ञान और मोक्ष-प्राप्ति को ही लक्ष्य रखना चाहिये। भोग तो

स्वयं ही प्राप्त होते हैं, बिना किसी प्रयत्न के ही, क्योंकि अन्तःकरण में अनादिकाल के सञ्चित कर्म भोग देने के लिये, अनन्त पड़े हैं, यदि उनको ही भोगना चाहे तो असंख्य जन्मों में भी उन्हें नहीं भोगा जा सकता। अतः यह अत्यन्त ही भूल है, जो योग साधना काल में भोगों की अभिलाषा करते हुए भोगों के साधनों का संग्रह करते हैं। वहाँ तो केवल तत्त्वज्ञान और वैराग्य का ही संग्रह करना चाहिये। इसीलिये वर्तमान में योगी साधकों को तत्त्वज्ञान में सफलता कम मिलती है। इस मार्ग में तो उसी जिज्ञासु को चलना चाहिये, जिसकी संसार के भोगों से तृप्ति हो चुकी हो, यदि तृप्ति नहीं हुई है तब तृप्ति के साधनों का ही संग्रह और लोक-ऐश्वर्य का उपार्जन करना चाहिये, परन्तु इस भोग संग्रह और लोक संग्रह से भी हम तृप्ति नहीं देख रहे हैं। जिस के पास १००) रुपया है वह हजार की अभिलाषा करता है, हजार वाला लाख के लिये यत्न कर रहा है। लाख वाला करोड़ों के लिये, करोड़ वाला अरबों के लिये, कहीं भी इसका अन्त देखने में नहीं आ रहा है, क्योंकि धन को ही सर्व भोगों का साधन समझ लिया गया है। अतः भोगों से आज तक किसी की भी तृप्ति नहीं हुई है, न भविष्य में ही होगी। तब वर्तमान में कैसे तृप्ति हो सकती है। इसी तृप्ति को मानव ने सुख माना है। परन्तु यह मानव की अत्यन्त बड़ी भूल है। यह उस कुत्ते के समान भूल है जो एक सूखी हड्डी को उठाकर एकान्त में अलग बैठ कर खा रहा है। वर्षों की पड़ी उस सूख हड्डी में कुछ भी तो रखा नहीं होता है, फिर भी वह उसको अज्ञानवश खाता है, उस सूखी हड्डी से उस श्वान का मुख और जबड़े छिलकर रक्त निकलने लगता है। उस अपने ही रक्त के स्वाद को वह हड्डी से निकला हुआ समझता है। वास्तव में सूखी हड्डी में तो कुछ भी नहीं होता है। इसी प्रकार संसार के भोगों को भी इसी सूखी हड्डी के समान ही भगवान् के भक्तों और आत्मविज्ञान के जिज्ञासुओं को समझने चाहिये। जब भगवान् के साथ सच्ची प्रीति जोड़नी है, और उसको ही अपना सर्वस्व मानना है तब हृदय रूपी मन्दिर उस भगवान् के लिये रिजर्व हो जाना चाहिये। फिर इस मन्दिर में दूसरे के लिए स्थान कहाँ? जिस पत्नी ने एक पति वरण कर लिया है और फिर वह परपुरुष के साथ अनुचित सम्बन्ध करना चाहती है, तब उसको व्यभिचारणी कहा जाता है। इसी प्रकार जिस योगी या योगिनी ने भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया है, और अपना हृदय रूपी मन्दिर उसके मिलन का स्थान नियत कर दिया है, तब वह और भोग जन्य संस्कारों का उस हृतय में प्रवेश करता है, तब वह योगी भी व्यभिचारी ही सिद्ध होगा।

भोग रहित अन्तःकरण में ब्रह्म दर्शन

(शंका) एक गृह में कई व्यक्ति रहते हैं, माता, पिता, पत्नी, पुत्र, वधू आदि इसी प्रकार एक चित्त में अनेक संस्कार भी रहे और ईश्वर के मिलने का भी स्थान रहे तो आपत्ति क्यों?

(समाधान) भगवान् का मिलना भी ऐसा ही होता है, जैसे एक पति और पत्नी का गर्भाधान के लिए एकान्त अलग कमरे में। कोई भी मूर्ख से मूर्ख, निर्लज्ज से निर्लज्ज भी, माता-पिता या अन्य के सामने पत्नी सहवास के कर्म को नहीं करता है।

जैसे उसको एकान्त की जरूरत है, ऐसे ही भगवान् के मिलने के लिए भी ऐसे ही हृदय रूपी कमरे, स्थान, या मन्दिर की जरूरत है, जिसमें किसी अन्य का वास न हो सके। अतएव उस भगवान् के मिलने के लिये उसी हृदय की आवश्यकता है, जहाँ भोगजन्य वासना या संस्कारों का निवास न हो। इस विषय में उपनिषद् ने कहा है—

'वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते।
सा प्रसिद्धातिदुःखाय, सुखायोच्छेदमागता ॥

—मानव वासना रूपी तन्तुओं से बन्धा हुआ संसार में सब कार्य करता है, परन्तु यह वासनायें तो दुःख के लिए ही प्रसिद्ध हैं। जब इन का उच्छेद होता है, तब ही वास्तव में अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। जिस हृदय में भोगजन्य वासनाओं का अभाव होता है, वहाँ ब्रह्म के दर्शन होते हैं, उस का मिलन होता है।

जिस भक्त योगी का चित्त सर्व विषयों के भोगों से उपराम हो गया है, जिसका मन शान्त हो गया है। वही ब्रह्म विज्ञान के सुख या आनन्द का उपभोग कर सकता है। इसकी पुष्टि गीता ने इस प्रकार की है—

'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्म-संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

गीता० अ० ६। श्लोक २८ ॥

—जिस भक्त योगी के अन्तःकरण के सब पाप दूर हो गये हैं, अन्तःकरण स्वच्छ पवित्र हो गया है। भोगजन्य वासना क्षीण हो गयी हैं। वह योगी अपने चित्त को आत्मा में नियोजित करे, अर्थात् सर्व-वृत्तियों का निरोध कर आत्मा को लक्ष्य बनावे। उस काल में वह योगी आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का सुखपूर्वक स्पर्श का या मिलन के सुख का उपभोग करता है। अथवा ब्रह्म दर्शन का पूर्ण सुख आनन्द प्राप्त करता है।'

इसलिए अन्तःकरण की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में आत्मा परमात्मा दोनों ही हृदय में विराजमान हैं। परन्तु मल विक्षेप आवरण, और भोगजन्य वासनाओं के कूड़े-कर्कट से ढके हुए हैं, जैसे किसी हीरे के ऊपर कूड़े का ढेर डाल दिया जाये, इसी प्रकार अनेक जन्म-जन्मान्तरों की मुख्यतः भोग प्रधान वासनाओं से ये आच्छादित हैं। एक घड़ा जल से पूर्ण है, आप उस में और जल डालना चाहते हैं, वह जल तो बेकार ही जायेगा, और वह घड़े से बाहर ही गिरता रहेगा, इसी प्रकार जिनके अन्तःकरण अधर्म, भोग और पाप से पूर्ण हैं, उन हृदयों में कहां आत्म दर्शन या ब्रह्म दर्शन हो सकता है। उनका भजन-पूजन, जाप, ध्यान आदि भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है। अतः सर्वप्रथम अन्तःकरण की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। भक्त योगी शम दम तितिक्षा उपरति से अन्तःकरण को शुद्ध करके वैराग्य की भावना को दृढ़ करता हुआ, ब्रह्म-ज्ञान के लिये किसी उच्च कोटि के ब्रह्म-ज्ञानी की शरण में जाकर ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करें। बिना गुरु के ज्ञान भी तो प्राप्त नहीं होता है। जैसे बिना पाठशाला में गये और बिना अध्यापक के पढ़ाये बच्चे नहीं पढ़ सकते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान भी गुरु की शरण में गये बिना प्राप्त नहीं हो सकता है। आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान के जिज्ञासु के लिये यह सब वर्णन किया गया है। परन्तु जिस विज्ञान का हम प्रतिपादन कर रहे थे उस विज्ञान के विषय में तो यह २६वीं श्रेणी है। इस श्रेणी के योगी तो बहुत ऊँचे आत्म-ज्ञानी ब्रह्म-ज्ञानी हैं,

क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान की बहुत-सी श्रेणियों को उत्तीर्ण कर चुके हैं। जिसने ब्रह्म के विषय में नानाप्रकार से बहुत प्रकार का विज्ञान प्राप्त कर लिया है, और जो ब्रह्म तथा मोक्ष के बहुत समीपवर्ती हो गया है, जिसकी भोगजन्य वासनायें शान्त हो गई हैं, जो सर्व पदार्थों में और उनकी प्रत्येक अवस्था में सर्वत्र ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका है, जो साक्षात्कार करते-करते सत्त्व गुण में पहुँच गया है, और इसमें ब्रह्म की अनुभूति कर रहा है।

यह सत्त्व गुण विज्ञान का अन्तिम पदार्थ है। 'विज्ञानंब्रह्मेत्युपास्ते' उपनिषद् वचन के आधार पर ब्रह्म की उपासना और विज्ञान इस सत्त्व पदार्थ की दूसरी अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करें। इस सत्त्व के नाना प्रकार के परिणत होते हुए इसके विज्ञानों और प्रत्येक धर्म में ब्रह्म का साक्षात् करें; क्योंकि इन धर्मों के भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप हैं। प्रत्येक रूप में ब्रह्म की अनुभूति होनी चाहिये। ज्योतिष्मती प्रज्ञा, ऋतंभरा प्रज्ञा प्रान्त भूमि प्रज्ञा, धर्म मेघ प्रज्ञा, ये विज्ञान की अत्यन्त ही सूक्ष्म अवस्थायें हैं। इनमें ही आत्मा और ब्रह्म की यथार्थ अनुभूति या प्रतीति होती है। इन विज्ञानों की अवस्थाओं में ही आत्मा का यथार्थ निर्णय होता है। इनमें बह्म का निर्भ्रान्त साक्षात्कार होता है, क्योंकि इनके स्वरूप का आत्मा और ब्रह्म के साथ बहुत कुछ सादृश्य होता है। ये निर्मल दर्पण के समान होती हैं, इन विज्ञान की अवस्थाओं में पहुँच कर योगी को बहुत विवेक से काम लेना होता है। हो सकता है, कि इन में से किसी को आत्मा या ब्रह्म समझ लें। बहुत दीर्घकाल तक योगी को इन्हीं अवस्थाओं का अभ्यास करना पड़ता है। दीर्घकाल के निरन्तर अभ्यास के निर्भ्रान्ति रूप से आत्मा और परमात्मा के दर्शन योगी कर पाता है।

(शंका) क्या इन अवस्थाओं में दोनों आत्माओं के दर्शन से मोक्ष हो जायेगा?

(समाधान) आत्मा और परमात्मा के दर्शन के पश्चात् भी प्रकृति और इस के कार्यों से परम वैराग्य प्राप्त करना होगा क्योंकि अभी तो प्रकृति, आत्मा और ब्रह्म तीनों के दर्शन मात्र हुए हैं। अनेक जन्मों से इनके साथ भोगजन्य सम्बन्ध चला आ रहा था। इस सम्बन्ध का अनुराग शनैः-शनै समाप्त होगा। बहुत काल तक इसके राग युक्त संस्कारों का असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा पुनः-पुनः निरोध करना होगा। जब उनका व्युत्थान होना हट जायेगा, वे दग्ध भूत से हो जायेंगे। उनमें पुनर्जन्म के भोग की शक्ति नहीं रहेगी। योगी इनसे सर्वथा ही उदासीन हो जायेगा। पास होते हुए भी इनकी स्मृति नहीं आयेगी। सर्वथा ही अनुराग का अभाव हो जायेगा। इसको हम परमवैराग्य कहते हैं। तब आत्मा मुक्त होगा। उस मुक्तात्मा की क्या गति होती है, इसको उपनिषद् इस प्रकार वर्णन करती है—

'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

मुण्डक० मु० २। खं० २। मं० ३॥

—जब योगी प्रकाश स्वरूप विशुद्ध ब्रह्म को देखता है। साक्षात्कार कर लेता है। वह ब्रह्म सृष्टि का कर्ता पुरुष विशेष, सब से बड़ा और निमित्त कारण है। वह विद्वान् योगी सर्वपापों से धुलकर, शुद्ध पवित्र होकर ब्रह्म के साथ परम समतर भाव को प्राप्त हो जाता है। सत् चित् आनन्द रूप होकर मुक्त हो जाता है।

समष्टिमहत्सत्त्व मण्डल
तृतीय रूप में ब्रह्म-साक्षात्कार
(समष्टि महत्सत्त्व का तृतीय रूप)

३. समष्टि महत्सत्त्व के सूक्ष्म रूप में—

सत्त्व गुण और प्रकृति का कार्य कारण आत्मक सम्वन्ध है, सत्त्व कार्य है, प्रकृति कारण है। कारण होने से इसी में इसकी सूक्ष्मता की परि समाप्ति होती है। प्रकृति सामान्य है। सत्त्व गुण विशेष है। इन दोनों का समुदाय ही यहां अयुत सिद्ध द्रव्य सिद्ध होता है। पदार्थ की सामान्य और विशेष अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। कारण किस प्रकार कार्य को उत्पन्न करके उसमें समाविष्ट होकर रहता है इस सूक्ष्मता के अन्दर ब्रह्म भी उसमें व्यापक रूप से वर्तमान रहता है। अतः वहां ब्रह्म की उपस्थिति का योगी को अवश्य ज्ञान करना चाहिये, क्योंकि कारण को कार्य रूप में परिणत करने में ब्रह्म की चेतन सत्ता ही प्रेरक होती है, और कार्य को कारण रूप में परिणत करने में भी वह ब्रह्म की चेतना ही गति और परिणति का हेतु बनती है। यदि चेतन सत्ता का सम्बन्ध न हो तो जैसे सारथी के विना रथ और ड्राइवर के बिना गाडी स्वयं नहीं चल सकती है, इसी प्रकार कारण का कार्य रूप में परिणत होना और कार्य का अपने कारण में परिणत होकर जा मिलना दोनों ही कर्म बिना चेतन सत्ता के नहीं हो सकते हैं। अतएव इनका जो परिणाम क्रमरूप कर्म है वह चेतन बृह्म के ही सम्बन्ध से होता है। इस विज्ञान को वहां देखना और ब्रह्म का भी प्रत्यक्ष करना है। इस सत्त्व का सूक्ष्म रूप यह प्रकृति ही है। योगी जब कारण को कार्य में परिणत होते हुए देखता है, तब कारण का भी विज्ञान हो जाता है और उसके कार्य का भी एवं उसके निमित्त कारण का भी साक्षात्कार हो जाता है। जैसे मनुष्य कपड़ा बुन रहा है, जब दूसरा पुरुष उसको जाकर देखता है, तो वहाँ कपड़े का उपादान कारण सूत भी वहां प्रत्यक्ष रूप से देखने में आ रहा है और इसका कार्य कपड़ा भी प्रत्यक्ष रूप में दीख रहा है। बुनने वाला भी प्रत्यक्ष दीख रहा है इसके सहकारी खड्डी आदि का भी बोध हो रहा है। इसी प्रकार योगी जब समाधि में संयम की सूक्ष्म दृष्टि से इस सत्त्व द्रव्य को उत्पन्न होते हुए देखता है तो उस समय सब का ही साक्षात्कार हो जाता है। उपादान का भी और कार्य का भी, साथ में ही निमित्त कारण ब्रह्म का भी।

(शंका) योगी तो अब वर्त्तमान में प्रत्यक्ष करना चाहता है, सब गुणों या द्रव्यों की सृष्टि, सृष्टि निर्माण काल में होती है।

(समाधान) उपादान कारण का अभाव नहीं होना चाहिये, फिर कार्य तो उससे सदा उत्पन्न होते ही रहते हैं। सृष्टि अनन्त है अतः हर समय ही इससे कार्य उत्पन्न होते रहते हैं। सूत होना चाहिये कपड़ा चाहे जब भी बुना जा सकता है। संसार में लोग नित्य ही कपड़ा बुनते रहते हैं; प्रकृति जब कारण रूप से वर्त्तमान है, तब उसके कार्य सदा ही और हर समय ही उत्पन्न होते रहते हैं। बहुत से पदार्थों का तो योगी स्वयं भी निर्माण कर लेता है। समष्टि सत्त्व द्रव्य अपने कार्यों को हर समय उत्पन्न करता रहता है। प्रकृति भी करती रहती है। अतः दोनों का साक्षात्कार हो जाता है, और साथ में प्रेरक व्यापक ब्रह्म का भी अनुभव हो जाता है।

प्रकृति कारण रूप से सदा अपने कार्यों में अनुगत होती है। जैसे सोना अपने सब भूषण रूप कार्यों में साथ रहता है। या इसके निमित जितनी भी वस्तु होंगी, उन सब में ही स्वर्ण रहेगा। स्वर्ण का अभाव इन वस्तुओं में नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कारणरूप प्रकृति अपने सब कार्यों में साथ ही रहती है। भागवान् के सम्पर्क से सदा कार्यों को उत्पन्न करती रहती है।

ब्रह्म प्रकृति का शाश्वत सम्बन्ध

(शका) ब्रह्म का सम्पर्क प्रकृति के साथ है, क्या एक बार गति देकर वह इसे छोड़ देता है। जैसे मनुष्य घड़ी में चाबी देकर छोड़ देते हैं। फिर वह स्वयं ही घन्टों दिनों तक चलती रही है।

(समाधान) घड़ी और चाबी देने वाला एक देशी हैं। अतः मनुष्य का चाबी देकर अलग हो जाना तो यथार्थ है। परन्तु ब्रह्म तो एक देशी नहीं है, वह तो सर्व देशी है। प्रकृति का कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ वह इस से अलग हो जाये। प्रकृति सर्व देशी है और ब्रह्म इस से भी अधिक सर्व देशी है। इनका सम्बन्ध भी नित्य है। दोनों ही नित्य पदार्थ हैं। प्रकृति में गति पैदा कर के पार्थक्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। प्रकृति के कार्य रूप पदार्थ प्रकृति के अवकाश में ही रहते हैं। प्रकृति के अन्दर ही रहते हैं, और प्रकृति ब्रह्म के अन्दर रहती है। प्रकृति के कार्य प्रकृति से अलग नहीं हैं। कारण और कार्य दोनों में ही ब्रह्म का सम्बन्ध सिद्ध होता है। दोनों में इस की चेतना से क्रिया भी।

(शंका) ओटोमैटिक घड़ी को चाबी नहीं देनी पड़ती। वह स्वयं ही चलती रहती है। इसी प्रकार प्रकृति भी स्वयं क्रिया धर्म वाली हो सकती है ?

(समाधान)—एक तो ओटोमैटिक घड़ी का कोई बनाने वाला है। दूसरे वह कभी-कभी हिल जानी चाहिये। वह हिलना रूप कर्म ही उस घड़ी में चाबी का हेतु बन जाता है। इसी प्रकार प्रकृति का कोई बनाने वाला तो नहीं है, जो इसमें इस प्राकार की मशीनरी फिट करता, जिससे वह सदा चलती रहती। दूसरे इसको हिलाने वाला भी तो कोई होना चाहिये। वह हिलाने वाला ब्रह्म ही है। इन दोनों का सम्बन्ध नित्य है। अतः ब्रह्म का नित्य सम्बन्ध होने से प्रकृति सदा ही हिलती रहती है। क्रिया करती रहती है।

इस समष्टि सत्त्व का यह उपादान कारण है। इसीलिये इसमें इसकी सूक्ष्म अवस्था परिसमाप्त होती है। इस कार्य अवस्था और सूक्ष्म कारण अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये यह दोनों अवस्थाओं में वर्तमान है।

४. **अन्वय रूप**—इस समष्टि सत्त्व का चतुर्थ अन्वय रूप नहीं होता। अतः पञ्चम अर्थ वत्त्व का वर्णन करते हैं।

समष्टि महत्सत्त्व मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-साक्षात्कार

(समष्टि महत्सत्त्व का पञ्चम रूप)

५. समष्टि महत्सत्त्व अर्थवत्त्व रूप में—

सत्त्व अपने गुणों के साथ कार्य भाव को प्राप्त होकर सर्व प्राणियों के भोग और अपवर्ग का साधन बना हुआ है। प्राणी के अन्तःकरण में ज्ञान के प्रसार का

हेतु मुख्य रूप से यही हुआ है। तमोगुण और रजोगुण के साथ गौण रूप में सहकारी होकर भोग का सर्वत्र साधन ही बना है। योगियों के हृदय में प्रधान होकर मोक्ष का साधन भी यही बनता है। स्वर्गवासी आत्माओं के स्वर्ग में भोग का मुख्य रूप से यही कारण है। शेष तम और रज भी वहाँ गौण रूप से वर्त्तमान रहते हैं। समाधि की अवस्था में आत्म-आनन्द की अनुभूति में अपने गुणों द्वारा मुख्य रूप से यही सहायक बनता है। यही इसकी विशेष अर्थवत्ता है। गीता में इस रूप में अर्थवत्ता कही गयी है। यथा—

'तत्र सत्त्वं निर्मलत्त्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेनचानघ ॥
अ० १४। श्लो० ६॥

—हे पाप रहित शुद्धान्तःकरण अर्जुन। सत्त्वगुण निर्मल, पवित्र, प्रकाश रूप, ज्ञान रूप, ज्योति रूप है। सब रोगों-पापों से रहित है। यह सुख और ज्ञान के संग से योगी के बन्धन का हेतु बनता है। यद्यपि यह तमोगुण या रजोगुण के समान कठिनतम बन्धन का हेतु नहीं है, परन्तु फिर भी कुछ न कुछ सुख और ज्ञान के रूप में बन्धन रूप तो है ही। बन्ध चाहे लोहे की बेड़ियों का हो चाहे सोने की बेड़ियों का, या कोमल-नरम रेशम के धागे का हो बन्धन तो बन्धन ही है। सत्त्व से उत्पन्न हुआ हुआ सुख, ज्ञान जहाँ बन्धन का हेतु है, वहाँ ऋतंभरा प्रज्ञा से या धर्म मेघ समाधि से उत्पन्न हुआ-हुआ ज्ञान बन्धन को काट कर मोक्ष का हेतु भी बनता है। यही इसकी अर्थवत्ता है।

योगी को इन भोग और अपवर्ग प्रदान करने वाले गुणों से भी तो विरक्त होना है। वास्तव में प्रकृति ही अपने गुण और कर्म के द्वारा सब कार्य करती है। अहंकार के वशीभूत यह जीव अपने आप को कर्ता भोक्ता मान कर फल भोगता रहता है। परन्तु जब इसकी यह भ्रान्ति दूर हो जाती है, तब इसको ज्ञात होता है, अपने वास्तविक शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप का। इसी भ्रान्ति को दूर करने के लिए वेद शास्त्र उपनिषद् योगी विद्वान् गुरु जन प्रवृत्त हुए हैं। इस विषय में उपनिषद् ऐसा कथन करती है। यथा—

'यावद्यावन्मुनिश्श्रेष्ठ स्वयंसंत्यज्यतेऽखिलम्।
तावत्तावत् परालोकः परमात्मैवावशिष्यते ॥४४॥
यावत्सर्वं न संत्यक्तं, तावदात्मा न लभ्यते।
सर्ववस्तु परित्यागे शेषात्मेति कथ्यते ॥ ४५॥
आत्मावलोकनार्थन्तु तस्मात् सर्वं परित्यजेत्।
सर्वं सन्त्यज्य दूरेण, यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥४६॥
अन्नपूर्ण० अ० १

—हे प्रिय शिष्य निदाघ। जो-जो दृश्यमान पदार्थ हैं, इन सबको स्वयं त्यागता चला जाये। अन्त में जो शेष रहेगा वह परमात्मा ही रहेगा जब तक सब कुछ त्याग नहीं किया जाता तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। सबके त्याग देने पर शेष आत्मा ही रह जाता है। इस लिये आत्म-दर्शन के लिये सब कुछ त्याग देना चाहिये। 'आत्मःन्यर्थे पृथिवी त्यजेत्।' आत्मा, मोक्ष और कल्याण के लिये पृथिवी का भी त्याग कर देना चाहिये। सब कुछ त्याग कर जो शेष रह जाता है, उसमें तू तन्मय या समाधिस्थ होगा।'

उपनिषत्कार ने आत्मा, परमात्मा की प्राप्ति के लिये सब कुछ त्यागने पर जोर दिया है। इस से सिद्ध होता है, ये दोनों संसार के पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। परन्तु मनुष्य ऐसा अनभिज्ञ और मूढ है, हीरों को छोड़कर कांच की मणियों ढूँढता-फिरता है। यह इसे ज्ञात भी है और प्रत्यक्ष रूप से देखता भी है।

कोई भी सर्वथा सुखी नहीं

किसी को कोई दुःख है, किसी को कुच्छ। परन्तु फिर भी इस दुःखमय जीवन को अजर-अमर बनाने की सदा सोचता रहता है। बड़े-बड़े करोड़ पतियों अरब-पतियों को भी देखा है, ऐसा ढूँढने से भी संसार में नहीं मिला है, जिसको शारीरिक या मानसिक कुछ भी दुःख न हो। भगवान् व्यास ने इस विषय में यह श्लोक पढ़ा है। यथा—

'नचेन्द्रस्य सुखंकिञ्चिन्न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥

—संसार में न तो देवताओं के राजा इन्द्र को ही सुख है। और न ही पृथिवीमण्डल में चक्रवर्त्ती राजा को ही सुख है। फिर किस को सुख है। 'जो विरक्त हो कर एकान्त शान्त स्थान में रह कर आत्मचिन्तन और ईश्वर भजन करता है।

एक बार १६१८ में मैं श्रीनगर काशमीर में निवास करते हुए श्री महाराज प्रतापसिंह जी से मिला था। केवल यह जानने के लिए कि ये तो सर्व प्रकार से सुखी होंगे। इनके पास तो सुखों के सर्व साधन हैं। परन्तु उन्होंने भी बड़े प्रेम से अपने वर्तमान जीवन के दो दुःख बतलाये थे। एक तो यह कि मेरे घर में सन्तान नहीं हुई है। पितृ ऋण से मैं मुक्त न हो सका गृहस्थ होकर भी। दूसरा दुःख उन्होंने बताया कि मेरे पश्चात् राजकुमार हरिसिंह राज्य का शासन नहीं चला सकेगा। राज्य को बर्बाद कर देगा। यह शासन करने योग्य ही नहीं है। ये दो चिन्तायें मुझे घुण की तरह खाती रहती हैं।

इन दुखों की निवृत्ति के लिए शास्त्र ने एक बहुत ही श्रेष्ठ साधन बताया है। यथा—

'संसार-सर्पदष्टानामेकमेव सुभेषजम् ।
सर्वदा सर्वकालेषु सर्वत्र हरिचिन्तनम् ॥

—संसार में दुःख रूपी सर्प से काटे हुए की केवल एक ही मख्य औषध है, कि सर्वदा सब काल में सब जगह हरि का चिन्तन करना। जो ही सर्व पापों का हरण करने वाला है, सर्व दुःखों से मुक्त कर देने वाला है वही परम धर्म है। वही परम गति है।'

जब प्रह्लाद की ईश्वर भक्ति की परीक्षा हो रही थी, तब उस की भूआ ने उस से कहा था—

'राम नाम जपतां कुतो भयं, सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात ! मम गात्र-सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायते ॥

—हे तात ! भगवान् के नाम के जाप करने वाले को कहीं भी भय नहीं, सर्व प्रकार के सन्तापों को शमन करने वाला यह भगवान् का नाम स्मरण है यही सब दुःखों की परम

औषध है। हे पुत्र ! देखो मेरे शरीर के पास यह अग्नि भी ठन्डी होती जा रही है। यह भगवान् के नाम स्मरण, उसकी भक्ति तथा विश्वास का ही फल है।'

मानव रात-दिन संसार के पदार्थों और भोगों के संग्रह में ही लगा रहता है। इससे तो अच्छा भगवान् नाम स्मरण है। कम-से-कम उतने समय में तो वृत्तियाँ विषयों में नहीं जायेंगी। व्यर्थ का मनोराज्य न होगा। व्यर्थ की वासनायें जाग्रत नहीं होंगी। बुद्धि अच्छी तरफ लगी रहेगी। मनुष्य को अच्छी तरह ज्ञात भी है, यह शरीर नाशवान है। सदा कोई संसार में रहा नहीं है। परन्तु फिर भी इसको अमर बनाने के उपाय सदा करता रहता है। रात-दिन इसी के पालन पोषण में लगा रहता है। ऐसे अमूल्य जीवन को इसी के कार्य में लगाये रहता है। इस विषय में श्रीमद्भागवत् गीता में कहा है। यथा—

'इदं शरीरं शतसन्धिजर्जरं पतत्यवश्यं परिणामपेशलम् ।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते निरामयं कृष्णरसायनं पिब ॥

—हे मानव ! यह शरीर अनेक सन्धियों से युक्त है। जीर्ण होता जा रहा है। यह परिणामी है। इसने एक दिन अवश्य मरना है। रोग निवृत्ति और बुढ़ापे को दूर करने के लिए औषध क्या करेगी। हे मूर्ख ! सर्व रोगों और दुःखों के निवारण करने वाली भगवान् की भक्ति, सेवा, पूजा, ध्यान, जाप, नाम स्मरण, समाधि में उसकी अनुभूति रूप रसायन का सेवन कर। जो जन्म जन्मान्तरों के दुःखों को भी दूर कर देगी।'

भक्त में आठ प्रकार के सात्विक भाव

जब भक्त में भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति भाव उत्पन्न हो जाता है, तब उसमें सत्त्व गुण प्रधान होता है। इस सत्त्व गुण की प्रधानता से उस में ये आठ प्रकार के सात्विक भाव उत्पन्न हुआ करते हैं :—

सात्त्विक भाव विकार

१. **स्तम्भ**—जब भगवान् का ध्यान करता है, तो उसका शरीर स्तब्ध हो जाता है। शून्य सा हो जाता है। शरीर में चेष्टा नहीं होती है। हिलना-जुलना खाँसी खुजली इत्यादि कोई भी क्रिया शरीर की नहीं होती है। सब इन्द्रियों की चेष्टा का अभाव हो जाता है। भक्त को कुछ भी पता नहीं रहता, सुध-बुध सब जाती रहती है। एक प्रकार से शून्य समाधि हो जाती है। कभी-कभी कई-कई घन्टों तक ऐसी अवस्था हो जाया करती है, और कई-कई दिनों तक भी बनी रहती है।

२. **कम्प**—कभी-कभी शरीर में कम्प होने लगता है झूलने सा लगता है। शरीर में अधिक हर्ष होने, या भगवान् के प्रति अधिक प्रेम होने से यह कम्प बहुत देर तक, घन्टों तक भी होता रहता है। साधक को इस कम्पन में आनन्द की अनुभूति भी होने लगती है।

३. **स्वेद**—शरीर में पसीना आ जाना, उष्णता पैदा हो जाना। पसीने से वस्त्र गीले हो जाना। बहुत देर तक पसीना आते रहना। जब तक अभ्यास में बैठे पसीना आता रहे, अथवा भक्ति भाव में भी पसीना छूटने लगता है; अथवा भगवान् के विरह में पसीने से तर होकर वस्त्र ढीले हो जाते हैं।

४. **अश्रु**—अभ्यास काल में भगवान् की स्तुति के समय, भगवान् से प्रार्थना करते समय अथवा ध्यान समाधि में आनन्द की अभिव्यक्ति होने पर, उपदेश के समय

भगवान् के गुणों और उपकार का वर्णन करते समय हर्ष, शोक और विस्मय से नेत्रों से अश्रु धारा बहने लगती है। हर्ष प्रसन्नता या आनन्द से जो आँसू निकलते हैं वे कुछ शीतल होते हैं, और वे आँखों के कोरों से निकलते हैं। शोक के अवसर में आँखों के बीच से और गरम अश्रु निकलते हैं।

शुष्क वैराग्य

मैं वैराग्य की भावना से ऐसा कठोर सी तबियत का हो गया था कि २०-२५ वर्ष तक मुझे रोना नहीं आया था। यदि किसी स्त्री या पुरुष को रोते देखता था, तो समझता था ये मूर्ख हैं। अनभिज्ञ है जो रोते हैं। या कह देता था कि जान बूझ कर व्यर्थ ही झूठे ही रोते हैं। बच्चों के प्रति तो यह भावना नहीं होती थी, क्योंकि इनकी तो आदत सी भी हो जाती है। मुझे भगवान् के प्रति प्रार्थना या उपासना करते भी रोना नहीं आता था। मैं कोरा विज्ञानवादी था। भगवान् को भी विज्ञान द्वारा ही समझना या देखना चाहता था। दुःख दर्द में भी आँसू नहीं आते थे। न किसी से ऐसा स्नेह या प्यार अथवा अनुराग ही था जिससे हर्ष या शोक में आँसू बहाता।

सिनेमा, थियेटर, नाच, गानों में ब्रह्मचारी होने के नाते नहीं जाता था २०-२५ वर्ष तक मुझे रोने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ था। मैं एक बार होलियों के अवसर पर फाल्गुन मास में वृन्दावन गया एक मास ठहरने का प्रोग्राम था। विहारी जी के मन्दिर के पास अपने विशेष परिचित अमृतसर के लाला देवीदास जी के मकान पर जा कर ठहरा। यह मकान खाली ही था। केवल एक महात्मा इसमें निवास करते थे। भोजन मैं स्वयं ही बनाया करता था। इन दिनों में यहाँ कृष्ण लीला बहुत होती है। छोटे-छोटे बालक भगवान् कृष्ण चन्द्र और राधा आदि का स्वरूप बनाकर श्री कृष्ण जी महाराज के बाल जीवन की लीलाओं को प्रदर्शन के रूप में किया करते है। नृत्य, वाद्य और गायन भी साथ में होता है। ब्रह्मचारी के लिए 'नर्तनं गीत वादनं' का मनुमहाराज ने निषेध किया है। मेरे साथ श्री लाला मूल राजकपूर भी थे। ये महात्मा मुझे नित्य ही कहते थे, 'आप भी लीला में चलो।' मैं सदा इनकार करता रहता था। इनका मेरे साथ स्नेह भी बहुत हो गया था। एक दिन ये हठ कर बैठे, कि जब तक आप लीला देखने नहीं चलोगे, तब तक मैं भोजन नहीं करूँगा। इनको तीन दिन निराहार बीत गये। लाला मूल राज बोले—"आप यहाँ भजनाभ्यास और पुण्य कर्म करने आये हैं। ये महात्मा तीन दिन से अन्न नहीं खाते हैं, यह भी हठकर बैठे हैं। कहीं आप भी इनकी तरह हठ धर्म का पालन कर बैठे, और यह भूखे रह कर मर गये तो महान् पाप होगा। मैंने इनको बहुत कहा, समझाया, ये तो अत्यन्त हठ पर तुले हुए हैं, 'चाहे मेरे प्राण भी चले जायें, जब तक ब्रह्मचारी जी एक बार रास देखने नहीं जायेगे तब तक मैं अन्न नहीं खाऊँगा।

मूलराज जी ने फिर कहा—'आप का क्या बिगड़ता है। आप पढ़े-लिखे विद्वान् हैं। आप क्यों व्यर्थ में हठ कर रहे हैं। वहाँ तो भगवान् के नाम का भजन कीर्तन गायन होता है, कोई वेश्या तो वहाँ आकर नाच करती नहीं। छोटे १०-१२-१५ वर्ष के बालक ही यह भगवान् की लील. करते हैं, आप आज अवश्य चलें। आज तो आप के वैराग्य की पुष्टि करने वाला ऊधव और गोपियों का संवाद है। वे भगवान् के ज्ञानयोग

का सन्देश लेकर गोपियों को सुनाने आयेंगे। लीला में इससे बढ़कर ज्ञान वैराग्य और भक्ति नहीं है। सर्व लीलाओं में यही सर्व श्रेष्ठ लीला ज्ञान और भक्ति की है।"

मैं सायंकाल उनके साथ जाने को तैयार हो गया। पर लीला लगभग ३-४ घन्टे में समाप्त होती है। हम तीनों इसे देखने के लिए हरि बाबा और उडिया स्वामी के यहाँ गये। इनके बालकों के स्वरूप भी बहुत अच्छे सुशिक्षित थे। अतः उन्होंने बहुत सुन्दर मनोरंजक ढंग से रास प्रारम्भ किया। घर से निकलने के पश्चात् इस प्रकार तमाशा देखने का यह पहला ही अवसर था। जब गोपियों और ऊधव जी का सम्वाद प्रारम्भ हुआ, ऊधव योग और वैराग्य का उपदेश देने लगे, और गोपियाँ बने बालक भक्ति की प्रधानता बताते हुए रुदन करने लगे। उस अवसर पर आस पास बैठे हुए भक्त और भक्तिन फूट-फूट कर रोने लगे। इनको लगभग आधा घन्टा ही रुदन करते बीते होगा कि सैकड़ों की संख्या में रुदन करने वाले भक्त भक्तिन हो गए। मैंने इधर उधर नजर डाल कर देखा, तो बहुत कम व्यक्ति मेरे जैसे कठोर से हृदय के नजर आये। प्रायः सब ही ढायें मार-मारकर रो रहे थे। पहले तो मैं कुछ मिनट देखता रहा, कि ये ऐसे ही रो रहे हैं, इनके दिल कमजोर हैं। परन्तु जब आधा घन्टा बीत गया, तो देखा कि मेरे साथी भी आँसू पूछ रहे हैं। इन सब को देखकर मेरा हृदय भी कुछ द्रवित सा होने लगा। मैं अनुभव करने लगा, कि ये सब भक्त और भक्तिनें वास्तव में भक्ति और प्रेम की भावना से रो रहे हैं। ये गोपियाँ भी भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम प्रदर्शित कर रही हैं। मैं कैसा शुष्क हृदय का योगी बना हुआ हूँ कि जो कभी भी भगवान् के प्रति दो आँसू भी नहीं बहाये, भगवाग् केवल विज्ञान का विषय ही नहीं होना चाहिए, श्रद्धा भक्ति और प्रेम का बिषय भी होना चाहिए। केवल शुषक विज्ञान मानव को नास्तिकता की ओर भी ले जा सकता है। अतः विज्ञान के साथ श्रद्धा भक्ति, और प्रेम का होना भी आवश्यक है। इस प्रकार नाना प्रकार के तर्क वितर्क, शंका, समाधान मेरे अन्दर उत्पन्न होने लगे। यह विचार हुआ कि जिनको तू मूर्ख समझ रहा है, ये तेरी अपेक्षा भगवान् के वियोग में या उसकी दूरी में कितना दुःख और शोक अनुभव कर रहे हैं। भले ही इनका भगवान् शरीरधारी है और तुम्हारा निराकार, निर्विकार और सर्वज्ञ है। प्रेम तो भगवान् के प्रति इनका ही अधिक है, और सच्चा प्रतीत हो रहा है। इत्यादि नाना प्रकार के विचार आ-आकर मेरा हृदय अत्यन्त द्रवित हो गया। रोमाञ्च होने लगा। पसीना आ गया। नेत्र गीले हो गए। मैंने फिर इधर-उधर देखा, कि कोई तुझे क्या कहेगा, कि यह योगी होकर भी आँसू बहा रहा है। परन्तु अब मेरे वश से बाहर की बात होती जा रही थी। अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी अश्रु रुक नहीं रहे थे। जैसे खरबूजे को देखकर खरबूजे का रंग पलट जाता है, उसी प्रकार मेरेअन्दर भी परिवर्तन होने लगा। मुझे सर्वत्र भगवान् बरसता हुआ सा अनुभव होने लगा और जोर-जोर से अश्रुधारा बहने लगी। रूमाल भी गीला हो गया, अश्रु रोके भी नहीं रुकते थे। वहाँ आस पास में सब भक्ति और प्रेम के वश में जोर-जोर से रोते हुए चिल्लाह रहे थे, ढायें मार रहे थे, और आहें भर रहे थे। फिर मुझे किसने देखना था कि यह योगी भी हमारे साथी बन रो रहे हैं। इस प्रकार से मैंने कभी भी रुदन नहीं किया था। यहाँ यह अपने वश और अधिकार से बाहर की बात हो चली थी। ऐसा अनुभव हो रहा था,

कि भगवान् मेरे बहुत समीप आ गए हैं, और वह मेरा भक्ति-प्रेम अपने प्रति देख रहे हैं। लगभग २ घन्टे मेरी आँखों से आँसू बहते रहे, हिचकियें आने लगीं। आँखे पूछ-पूछ कर भी तंग आ गया। रास समात्त होने तक रोता ही रहा। रात समाप्त होने पर हम तीनों घर लौटे। वह महात्मा मुस्कराते हुए बोले—'आप के ऊपर भगवान् की विशेष दया हुई है, जो इतने कठोर पाषाण हृदय को भी मोम की तरह पिघला दिया है। अब आपका ज्ञान सरस बन गया है। यह भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य शरीर से उपस्थित होकर आप पर विशेष अनुकम्पा की है। तब इन महात्मा को बाजार से पूरी मँगा कर भोजन कराया। हृदह उनका आभार मान रहा था।

एक मास मैं यहाँ रहा था। जहाँ अच्छी-अच्छी लीलायें होती थीं जाता था। कोई दिन ऐसा नहीं होता था, कि न जाऊँ। वृन्दावन भक्तों की भूमि है। हिमालय का उत्तराखण्ड योगियों और ज्ञानियों की भूमि है।

इस प्रकार यह सब बुद्धि और चित्त के ही परिणाम विशेष हैं। जो इस प्रकार की भावनायें हैं। एक मास तक वहाँ यह अवस्था रही जैसे कृष्ण भगवान् दिव्य शरीर में जहां भी देखूं वहाँ ही नजर आवें। जैसे सर्वत्र आकाश मण्डल चमकती हुई भगवान् कृष्ण की दिव्य मूर्तियों से भरा हो। ऐतिहासिक स्थानों में जिधर देखता, चमकती हुई आकाश गामी दिव्य श्री कृष्ण जी की प्रतिमायें देखने में आतीं थीं। इन दिनों वैराग्य भी बहुत तीव्र हो गया था। भूख लगनी बन्द हो गयी थी। भक्ति की भावना बहुत तीव्र हो गई थी। इसके पश्चात् यह हो गया कि जहाँ भगवान् की चर्चा हो, या भक्ति विषय का कोई ग्रन्थ पढ़ूं, या प्रेम सम्बन्धी कोई घटना पढ़ूं, सुनूं, या देखूं, आँखों में आँसू आ जाते थे। वृन्दावन के इस निवास के पश्चात् फिर चित्त में विज्ञान और वैराग्य सम्बन्धी वह शुष्कता नहीं आयी। वह विज्ञान भक्ति और प्रेम से मिश्रित हो गया।

५. स्वर भंग—ईश्वर के भक्त में जब विशेष रूप से श्रद्धा भक्ति और प्रेम भगवान् के प्रति हो जाता है, तो कथा, भजन और कीर्तन करते समय वाणी गदगद हो जाया करती है। कथा कीर्तन करते हुए आवाज अच्छी स्पष्ट नहीं निकला करती है। स्वर भंग होना विशेष प्रेम के अवसर पर होता है।

६. वैवर्ण्य—उपरोक्त भावों के पश्चात् मुख पर एक प्रकार की उदासीनता छा जाती है। मुख पीलासा पड़ जाता है। आकृति कुछ बदल सी जाती है। मुख पर विवर्णता आ जाती है। अभ्यास के पश्चात् भी विवर्णता होती है।

७. पुलक—शरीर का रोम-रोम खड़ा हो जाना। जिसे रोमाञ्च या लोम-हर्षण भी कहते हैं। यह अभ्यास काल में, ईश्वर के भक्ति, भजन, कीर्तन काल में, ध्यान काल में, भक्ति भावात्मक कथा श्रवण काल में रोमाञ्च हुआ करता है।

८. प्रलय—अभ्यास, कथा, कीर्तन से ध्यानादि में कुछ भी भले बुरे का ज्ञान न रहे, बेहोशी जैसी अवस्था आ जाये, अथवा असंज्ञ अवस्था में शरीर का भी भान न रहे, भूमि पर गिर जाये, चोट आदि लगने का भी पता न रहे, अपने आसन से गिर जाये या खड़ा खड़ा भजन कीर्तन करता हुआ गिर पड़े, कोई होश न रहे, अथवा सुनते-सुनते बेसुध हो जाये। इसे प्रलय कहते हैं।

ये आठ प्रकार के सात्त्विक भाव विकार भक्तों में हुआ करते हैं।

मुझे कई बार बंगाल में नवदीप (नदिया शन्ति) में रहने का अवसर हुआ। वहाँ कई भजनाश्रम हैं। जिनमें कई-कई सौ देवियाँ कीर्तन करती हैं। उनमें अनेक को नित्य प्रति इस प्रकार के सात्विक भाव विकार होते हुए ही देखने में आते थे। ये विकार भगवान् के प्रति अनन्य श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, निष्ठा और प्रेम के सूचक हैं। उपनिषद् में कहा है—

भक्ति गम्यं परं तत्त्वमन्तर्लीनेन चेत सा।
भावनामात्रमेव कारणं पद्म-संभव ॥

योगशिखो० अ० ३। मं० २३ ॥

—हिरण्यगर्भ को भगवान् शंकर उपदेश देते हुए कहते हैं—"हे प्रिय ! भक्ति से प्राप्त करने योग्य ही परमतत्त्व है। जो चेतन अपने अन्दर ही लीन होकर ठहरा हुआ है, उसके अन्वेषण में भावना ही कारण है अर्थात् प्रेम और भक्ति की भावना ही कारण है।"

इस सत्त्व को लक्ष्य मानकर इसमें ब्रह्म का अध्यारोप करके श्रद्धा, भक्ति और प्रेम भावना से धर्म मेघ समाधि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करें।

एक और भी साक्षात्कार करने का साधन है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् का शरीर मानकर अर्थात् इसको विराट् शरीर मानकर ब्रह्म की उपासना और ज्ञान का विषय बनावें। फिर सूक्ष्म जगत्, पञ्चतन्मात्रा से लेकर प्रकृति तक इस हिरण्यगर्भात्मक को इसका सूक्ष्म शरीर मानकर उपासना और ज्ञान का विषय बनावें। इसके पश्चात् कारण शरीर प्रकृति में व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध से इस ब्रह्म के कारण शरीर या अव्याकृत शरीर की भावना करके उपासना और ज्ञान का विषय बना कर साक्षात्कार करें।

इसे इस प्रकार समझें, विराट् हिरण्यगर्भ और अव्याकृत में शरीरों की भावना करें। इनमें ब्रह्म का आरोप करके उपासना विज्ञान और साक्षात्कार का विषय बनावें। इन तीनों के अतिरिक्त ब्रह्म की प्राप्ति का और कोई स्थान नहीं है। इसमें विश्वव्यापी ध्यान की दृष्टि करने की आवश्यकता है। वैसे ब्रह्म कोई शरीर नहीं है, परन्तु किसी न किसी पदार्थ में उसका आरोप करके पदार्थ द्वारा ही उसका विज्ञान प्राप्त करना होगा क्योंकि उसका सर्व पदार्थों के साथ व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में ही उसकी अनुभूति हो सकती है। भगवान् के भक्त की भगवान के प्रति इस प्रकार पुकार है। यथा—

'संसारकूपे पतितोह्यगाधे मोहान्धपूर्णे विषयातिसक्तः ।
करवलम्बं माम देहि नाथ ! गोविन्द! दामोदर! माधवेति ॥

अन्यच्च—

तत्तेऽनुकम्पासु समीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृत विपाकम् ।
हृद् वाग्वपुर्भिर्दधत नमस्ते जीवेत मुक्ति पदे स दाय भाक् ॥

'भागवत पुराण'

—हे भगवान् ! मैं संसार-कूप में पड़ा हूँ। यह कुआ अत्यन्त ही गहरा है जो मोहरूपी अन्धकार से भरा हुआ है। विषयों में आसक्त मुझे कृपा करके अपने हाथ का सहारा देकर हे नाथ ! निकालने का यत्न करें। अपने किये कर्मों का फल तो अवश्य ही भोगना

है, क्योंकि हृदय, वाणी और शरीर से मैं आपको नमस्कार करता हूं। जीवन धारण करते हुए मुक्ति के पद में हिस्सेदार वन जाता हूं।'

सत्त्व गुण का वर्णन करते हुए इसको भोग और अपवर्ग का साधन बताया है। इसमें ब्रह्म का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। सब पदार्थों में ब्रह्म विज्ञान का मुख्य हेतु यही पदार्थ है, जो विज्ञान का भण्डार है जो मनुष्य के लोक और परलोक का सुधार करने वाला है। जीवात्मा को बन्धन से मुक्त करके मोक्ष प्रदान करने वाला है। यह है इसकी अर्थवत्ता।

इति समष्टि महत्सत्त्व मण्डलम्।

इति चतुर्थाध्याये तृतीयः खण्डः।

इति पञ्चमावरणम्॥

चतुर्थ खण्ड

चतुर्थमावरणम्

समष्टि काल मण्डलम्

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि काल का प्रथम रूप)

१. समष्टि काल के स्थूल रूप में—

काल को न्याय वैशेषिक आदि शास्त्रकार नित्य मानते हैं, परन्तु सांख्य योग की दृष्टि में केवल तीन ही पदार्थ नित्य हैं।

यथा—

'प्रकृति-पुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम्।'

सांख्य० अ० ५। सू० ७२॥

—'प्रकृति और पुरुष से भिन्न जो कुछ भी दृश्य और अदृश्य पदार्थ हैं सब ही अनित्य हैं। पुरुष शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण होता ही है।' वास्तव में प्रकृति, जीवात्मा और ब्रह्म तीन पदार्थ ही नित्य हैं। प्रकृति परिणामिनी कार्य रूपा है। जीवात्मा और पमात्मा अपरिणामी हैं। अतः काल को प्रकृति का ही कार्य मानना पड़ेगा। इसलिये यह अनित्य सिद्ध हो जाता है। जब इस काल की उत्पत्ति होती है, तो यह अपने सर्वगुणों को साथ लेकर ही उत्पन्न होता है।

काल के गुण—त्रुटि, लव, बोध, निमेष, क्षण, काष्ठा, लघु, घड़ी, मुहूर्त पहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प, परान्त काल।

काल का सर्वप्रथम परिणाम भाव को प्राप्त हुआ गुण त्रुटि होता है। दो परमाणुओं का एक अणु होता है। ३ अणुओं का एक त्रस्रेणु। झरोखे के सूर्य के प्रकाश के साथ जो अत्यन्त ही सूक्ष्म कण उड़ते हुए दीखा करते हैं ये त्रस्रेणु, चतस्रेणु, पञ्चरेणु हुआ करते हैं; ये इतने हलके होते हैं कि इनका पृथिवी पर गिरना संभव नहीं होता। ये सदा आकाश में ही घूमते रहते हैं। जितनी देर में सूर्य त्रस्रेणु को उल्लंघन करके आगे बढ़े उस समय का नाम त्रुटि है। काल का माप तोल सूर्य के द्वारा ही किया जाता है। इसी के आधार पर दिन रात आदि होते हैं। ऐसी तीन त्रुटियों का १ बोध होता है। ३ बोध का एक लव। ३ लव का १ निमेष। ३ निमेप का एक क्षण। ५ क्षण की एक काष्ठा। १५ काष्ठा का १ लघु। १५ लघु की १ घड़ी। २ घड़ी का १ मुहूर्त। ४ मुहूर्त का १ प्रहर। ८ प्रहर का एक दिन रात। ७ दिन का एक सप्ताह। २ सप्ताह या १५ दिन का पक्ष। २ पक्ष का १ मास। २ मास का १ ऋतु। ३ ऋतु का १ अयन। २ अयन का वर्ष होता है। एक वर्ष का दैवत दिन-रात। दक्षिणायन की दैवत रात्रि। उत्त रायणका दैवत दिन। ३६० दैवत दिनों का एक दैवत या दिव्य वर्ष। ४००० दिव्य वर्षों का सतयुग। ३००० दि० वर्ष का त्रेता। २००० दि० वर्ष का द्वापर। १००० दि० वर्ष का

कलि। एक युग बीतने के पश्चात् उसी समय दूसरा युग नहीं लगता है। प्रत्येक युग के आगे पीछे सन्धिकाल होता है। सत् युग का ८०० दिव्य वर्ष का सन्धि काल या अंश। त्रेता का ६००। द्वापर का ४००। कलियुग का २०० दिव्य वर्ष का सन्धि अंश होता है। चार युगों की चतुर्युगी या चौकड़ी होती है। देवताओं के १२००० वर्षों, अर्थात् मनुष्यों के ४३२०००० वर्ष की एक चतुर्युगी। ७१ चतुर्युगी का मन्वन्तर। एक मन्वन्तर के बीतने पर पहिले मनु आदि सप्त ऋषि बदल जाते हैं। फिर नये मनु, आदि बनते हैं। जब १४ मन्वन्तर बीत जाते हैं तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है। इतनी ही बड़ी रात्रि होती है। ब्रह्मा दिन में सृष्टि निर्माण का कार्य करते हैं। रात्रि में संहार करते हैं। ब्रह्मा जी के ३६० दिन का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्षों की ब्रह्माजी की आयु होती है। कल्प में तीनों लोकों की प्रलय होती है। परन्तु ब्रह्मा जी की १०० वर्ष की आयु के पश्चात् इस १४ भुवन वाले ब्रह्माण्ड की प्रलय हो जाती है। इसे महा प्रलय कहते हैं। तब ब्रह्मा जी ब्रह्मलोक के जीवों के साथ सर्वव्यापक ब्रह्म में प्रवेश कर जाते हैं। इसके पश्चात नये ब्रह्मा होते हैं और नयी सृष्टि होती है। जिस प्रकार यह १४ लोकों वाला ब्रह्माण्ड है, ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड इस विश्व में हैं।

यह काल के परिणत होते हुए गुणों का वर्णन हुआ।

काल के द्वारा आयु का बोध

यह काल ही मानव की आयु का बोध कराता है। मानव के सर्व व्यवहारों को सिद्ध करता है। भूत, वर्तमान और भविष्यत् का द्योतक है। मानव के भोगों के सम्पादन में सहायक होता है। जीवन का अमूल्य समय बीता जा रहा है, इस प्रकार जीवन में वैराग्य उत्पन्न करके मोक्ष में भी सहायक होता है। इतनी आयु बीत गयी, इसका भी बोध कराता है। अतः मनुष्यों का अत्यन्त उपकार करता है।

यह काल एक पल में जीवन को खतम करके जीवन की निस्सारता और अनित्यता का बोध मनुष्य को कराता रहता है, परन्तु मनुष्य फिर भी सावधान नहीं होता है। यदि १०० वर्ष की आयु मान ली जाये, उसमें कम-से-कम ६ घण्टे तो निन्द्रा में व्यतीत होते हैं। इस प्रकार २५ वर्ष तो सोते-सोते निद्रा में ही खतम हो जाते हैं। बाल्य-काल में भी कोई विशेष सुध-बुध बच्चों को नहीं होती है। पिछली ८०-८५ वर्ष की आयु के बाद सर्व शक्तियाँ क्षीण होने के कारण कुछ करने योग्य नहीं रहता है। इन दोनों अवस्थाओं के भी ३५-४० वर्ष बेकार से ही जाते हैं। शेष ३०-३५ वर्ष संसार में बाल बच्चे पैदा करने, पालन, पोषण, शिक्षण, व्यापार, नौकरी, भोग विलास आदि में बीत जाते हैं।

आयु का यह विभाग इस काल द्वारा किया गया है। इस १०० वर्ष की आयु में आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान में तो कुछ समय नहीं लगाया। अपने आप को ही नहीं पहचाना। हम क्या हैं? कहाँ से आये हैं? कहाँ जाना है? मरने के पीछे क्या गति होगी? फिर कभी आना होगा या नहीं इस जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है? हम क्या कर रहें हैं? क्या यही लक्ष्य था जो हमने १०० वर्ष में किया है? इससे भिन्न क्या कोई और लक्ष्य था? वह क्या था? उसको क्यों नहीं किया? क्या वह गौण था? क्या यह मुख्य है जो हमने १०० वर्ष में किया है इत्यादि अनेक प्रश्न मानव जीवन के विषय में होते हैं।

जिस अमूल्य जीवन को काल ग्रास बना रहा है, एक दिन उसकी 'राम नाम सत्य' हो जायेगी। अय ! मानव अब भी चेत जा, सावधान हो जा। अब तक जो जीवन बीता है वह तो पशु के समान ही प्रतीत होता है। इसके मुकाबले में कुछ भी विशेषता पैदा नहीं की है। इस प्रकार का अज्ञानता और भोग युक्त जीवन तो इस जीवन से पूर्व अनेक बार प्राप्त कर चुके हो। जब इन जन्मों में तसल्ली, तृप्ति या सन्तोष नहीं हुआ, तो इस जीवन में क्या आशा रखते हो ? क्या इसी प्रकार के जीवन में रहना सुख, शान्ति आनन्द का हेतु साबित हुआ है। 'यदि हुआ है', तब तो न आप को अपने सुखी जीवन के विषय में कोई शिकायत हो सकती है, न हमने ही कुछ कहना है। यदि पूर्ण रूप से सुख, शान्ति आनन्द प्राप्त नहीं हुआ है, तब तो यह आप का मार्ग ठीक नहीं है। अतः आप उस मार्ग पर अब सावधान होकर चलें। जिसमें यथार्थ अक्षय सच्चा सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त हो। वह श्रेयः का मार्ग है, जिसपर चलकर आप अपने मानव जीवन के यथार्थ उद्देश्य को पूरा कर सकेंगे। अपने असली स्वरूप को पहचान सकेंगे। जिसने यह ब्रह्माण्ड हमारे भोग और मोक्ष के लिये, हमारे सुख और आराम के लिये और इस मनुष्य जीवन के यथार्थ उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया है, उसका भी ज्ञान हो जायेगा।

श्रेयः मार्ग—न वहाँ कोई दुःख है न सुख है। न बुढ़ापा है, न हानि लाभ है। न मृत्यु है न जन्म है। न किसी प्रकार की चिन्ता है, न हर्ष है, न शोक है। न राग है न द्वेष है। न कोई दर्द है न किसी प्रकार की वेदना है , न मोह है, न ममता है, न किसी वस्तु का अभिमान है, न कोई भय है। न कोई प्राप्त करने योग्य पदार्थ है। न किसी प्रकार की इच्छा है, न कोई कामना है। इस प्रकार का वह स्थान है, जहां श्रेयः मार्ग पर चल कर पहुंचना है। तथा च ऊपनिषत्—

'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं, न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनाया पिपासे, शोकाति गो मोदते स्वर्ग लोके ॥
कठ० बल्ली १ । मं० १२ ॥

—स्वर्ग लोक में पहुंच कर न वहां किसी प्रकार का भय है, न वहां बुढापा है, न मृत्यु का ही डर है। न वहाँ भूख है, न प्यास। सर्व प्रकार के शोकों से रहित हो कर आनन्द में रमण करता है।'

यह काल कारण रूप से नित्य है, और कार्य रूप से अनित्य है। सर्व प्राणियों और जगत् की आयु का बोधक होकर अनेक उपकार कर रहा है। ब्रह्म का और इसका सम्बन्ध होने से यह उपासना और ज्ञान का विषय बनता है। इसमें ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये। भूत, वर्तमान और भविष्यत् में ब्रह्म इसकेअन्दर वर्तमान रहकर इसे कार्य रूप में परिणत करता है। इसके गति शील होने पर भी ब्रह्म निष्क्रिय ही रहता है। परन्तु गतिमान् पदार्थों में अज्ञानियों को ईश्वर भी साथ-साथ गति करता हुआ प्रतीत होता है। इस लिये श्रुति में कहा है 'ओं तदेजति, नन्नैजति' अज्ञानियों के लिये ब्रह्म चलायमान है। ज्ञानियों के लिये अडोल, स्थिर, निष्क्रिय अनुभव में आता है। अतः योगी को काल में ब्रह्म का आरोप करके विज्ञान का विषय बनाना चाहिये। काल के प्रत्येक परिणाम में इसका अनुभव करना चाहिये। ताकि यह सर्व परिवर्तनों में एक रूप, एक रस, एक ही समान प्रतीत हो। सांख्य के आचार्यों ने इसको अलग पदार्थ न मानकर प्रकृति

का गुण विशेष ही कह दिया है। परन्तु यह गुण विशेष नहीं, किन्तु पदार्थ विशेष और प्रकृति का कार्य है।

समष्टि काल मण्डल

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि काल का द्वितीय रूप)

२. समष्टि काल के स्वरूप में—

काल के गुणों का जो स्थूल रूप में वर्णन किया है, जब काल भोग और मोक्ष प्रदान करने के लिये परिणाम भाव को प्राप्त होता है, तब इस परिणाम में इन गुणों का क्रम पूर्वक प्रादुर्भाव होता है। अतः काल के साथ इन गुणों का अभेद होने से गुण गुणी भाव सम्बन्ध है। हम नैयायिक के समान द्रव्य से गुण को अलग नहीं मानते हैं, किन्तु धर्म धर्मी का अभेद ही मानते हैं, अतः परिणाम रूप से काल की दूसरी अवस्था हो जाती है। इसी को हम स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं। यद्यपि सांख्य सूत्रकार ने 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः' यह सूत्र देकर दिशा और काल को आकाश के अन्तर्गत कर दिया है। परन्तु हम इनको आकाश से भिन्न पदार्थ ही मानते हैं और प्रकृति का कार्य मानते हैं। ये दोनों न तो आकाश के अन्तर्गत ही सिद्ध होते हैं, न प्रकृति के गुण विशेष ही सिद्ध होते हैं। जब आकाश तन्मात्रा से स्थूल आकाश की उत्पत्ति होती है, तो इससे पूर्व अहंकार महत् आदि के लिये क्या दिशा काल की जरूरत नहीं होती। इस से सिद्ध होता है दिशा और काल पहिले ही उत्पन्न हो चुके थे। अतः सर्व प्रथम के ही प्रकृति के कार्य विशेषहैं। जब सर्वप्रथम प्रकृति प्रलय के पश्चात् परिणाम भाव को प्राप्त होती है, तब उसको सर्व प्रथम विकास भाव को—परिणाम भाव को प्राप्त होने के लिये अवकाश की जरूरत पड़ती है। अतः सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है। फिर उसने जिस ओर को करवट लेनी है, या पलटा खाना है, उस ओर का नाम दिशा होगा। अतः दूसरा पदार्थ दिशा उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् इतने अवसर में पलटा खाया, इसमें समय लगता है। तदनन्तर काल रूप द्रव्य उत्पन्न होता है। अतः ये तीन पदार्थ सर्वप्रथम क्रिया करने के अवसर में ही उत्पन्न हो जाते हैं। यदि योग सांख्य ने या अन्य दर्शन कार ने दिशा काल की उत्पत्ति नहीं कही है, तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि ये पदार्थ उत्पन्न ही नहीं होते हैं। न्याय वैशेषिक ने तो दिशा काल आकाश को नित्य ही मान लिया है। परन्तु जब सांख्य योग ने आकाश की उत्पत्ति मानी है, तो दिशा और काल की उत्पत्ति का भी तो उल्लेख करना चाहिये था। अतः सत्त्व रजस् तमस् इन तीनो पदार्थों के पूर्व ही आकाश दिशा और काल उत्पन्न होते हैं, क्यों कि इन पदार्थों को दिशा, काल, आकाश की आवश्यकता है। ये पदार्थ ही है, गुण नहीं हैं। इसी लिये तो उपनिषत् ने भी कहा है—'तस्मादाकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुरिति' उसके पश्चात् आकाश उत्पन्न हुआ।

हम द्वितीय स्वरूप का उल्लेख कर रहे थे। काल के परिणत हुए इस रूप में और इसके गुणों में ब्रह्म की व्यापकता का अनुभव करें, कि इस के गर्भ में यह काल किस प्रकार परिणाम भाव को प्राप्त होता है। किस प्रकार इसमें गुण प्रकट होते हैं।

समष्टि काल मण्डल
तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि काल का तृतीय रूप)

३. समष्टि काल के सूक्ष्म रूप में—

काल का उपादान कारण प्रकृति है। यह ही इसकी सूक्ष्म अवस्था है। प्रकृति सामान्य और काल विशेष, इन दोनों का समुदाय ही अयुत सिद्ध द्रव्य है। इसको हम काल की सूक्ष्म रूप अवस्था कहेंगे।

इस कारण और कार्य की सूक्ष्मावस्था में ब्रह्म का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यही सर्व-उपास्य है। यही सर्वाधार है। यही सर्वाराध्य है। इसका विज्ञान हो जाने पर सर्व पदार्थों का विज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह प्रत्येक में व्यापक होकर ठहरा हुआ है। इसकी सूक्ष्मता को जानने के लिये प्रत्येक पदार्थ को उल्लंघन करके ही जानना होगा। अतः इसको काल की सूक्ष्म अवस्था में भी अनुभव करना है।

काल और मृत्यु में भेद

(शंका) जब कोई मरता है तो कहते हैं इसका काल आ गया है। क्या यह भी वही काल है?

(समाधान) जन्म से लेकर मरण पर्यन्त जीवन की सरिता बहती रहती है। प्राणी के जीवन के दिन, मास. वर्ष की गिनती या कहिये जीवन का माप इसी काल द्वारा होता है कि इतना समय बीत गया। जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश भी है। अतः प्राणी का भी विनाश होना है। प्राणी से अभिप्राय यहां शरीर से है जिसमें जीवात्मा निवास करता है। यह शरीर उत्पन्न हुआ है, इसने नष्ट भी होना है। अज्ञानी लोग इस शरीर के साथ ही आत्मा का भी जन्म और मरण मान लेते हैं। परन्तु हमारा अभिप्राय शरीर से है। शरीर का ही काल आता है। शरीर अब भोग देने योग्य नहीं रहा है। अब इसने खतम होना है। काल इसके जीवन का माप करता रहा। अब इसका घण्टे दिन मास वर्ष द्वारा इस शरीर का माप किया जाना वन्द हो रहा है। या बन्द हुआ चाहता है। इस प्रकार तो यहां अभिप्राय इसी काल से है, और काल से अभिप्राय मृत्यु का भी होता है। अर्थात् अब मृत्यु या काल वशात् यह शरीराभिमानी आत्मा शरीर से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर रहा है।

यह मानव ऐसा मूर्ख है, कि यह सब कुछ देखते हुए भी कि यह काल हमारे जीवन की एक-एक घड़ी समाप्त किये जा रहा है। एक दिन यह सम्बन्ध-विच्छेद कर देगा। हमारा मरण हो जायेगा। जब तक यह शरीर है, जो कुछ जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया है, उसको शीघ्र ही पूरा कर लेना चाहिये। अन्यथा इस काल के एक थपेड़े से ही यह बहता हुआ जीवन का स्रोत खतम हो जायेगा। यह सब संसार इसी तरह रहेगा, पर तू न रहेगा। जब तक यह शरीर स्वस्थ है, और इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास नहीं होता है, मौत नहीं आती है, तब तक अपनी मञ्जिले मक्सूद मोक्ष तक पहुंच जा। जिस यथार्थ उद्देश्य के लिये आया था, वह यही अपवर्ग है। तब ही तो भर्तृहरि ने कहा है—'कालो

नैव यातो वयमेव याता' काल को हम ने नहीं जीता, किन्तु काल ने हमको खा लिया।'

समष्टि काल की सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म की सूक्ष्मता की अनुभूति करें। जिस समय यह परिणाम भाव को प्राप्त हो रहा होता है, क्योंकि कार्य रूप में तो यह महान् विस्तार को प्राप्त हो जाता है। अतः कारण अवस्था में ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

काल द्वारा सूर्य की गति की माप

(शंका) दिन रात, मास वर्ष आदि का माप तो सूर्य द्वारा हो जाता है। अतः इससे भिन्न काल के मानने की क्या आवश्यकता है ?

(समाधान) सूर्य की गति को माप करने वाला यह काल ही है। इतनी देर में या इतने समय में सूर्य ने इतने मील गति की, इसको काल ही बताता है। इतने घण्टे या मिनट की रात्रि हुई, इतने घण्टे मिनट का दिन हुआ। रात्रि कभी बड़ी होती है, कभी छोटी। कभी दिन बड़ा होता है, कभी छोटा। इस बात को तो काल ही बताता है। यह पदार्थ इतने समय में उत्पन्न हुआ, इतने समय में नष्ट हुआ, यह भी तो माप काल ही करता है। जब सूर्य उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी तो काल के द्वारा ही माप हुआ था कि अमुक पदार्थ को उत्पन्न होने में इतना काल लगा। पञ्च भूतों में अग्नि का कार्य सूर्य है। अग्नि के कारण रूप पदार्थ जो अग्नि से पहले उत्पन्न हुए थे, जब अभी सूर्य भी उत्पन्न नहीं हुआ था, उन पदार्थों के उत्पन्न होने में भी तो काल लगा होगा। उस काल को किस सूर्य ने मापा था। अतः सूर्य की गति को माप करने वाला काल ही है। रात्रि को सूर्य नही होता है, तब भी तो मिनट घण्टे आदि द्वारा रात्रि का माप होता है। कि इतने घण्टे रात्रि बीत गयी। जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं जाता वहाँ भी तो पल घड़ी आदि के द्वारा समय का माप किया जाता है कि इतना समय हो गया। अतः सूर्य से काल का निर्माण नहीं होता है। काल अलग पदार्थ है। सूर्य अलग पदार्थ है। सूर्य केवल प्रकाश देता है। काल को नहीं बताता है। प्रत्युत काल ही यह बताता है कि सूर्य का प्रकाश कितने काल तक रहा। सूर्य के प्रकाश का माप काल के पैमाने से होता है कि इतने पहर, घड़ी, पल, क्षण तक सूर्य का प्रकाश रहा। इतनी देर तक प्रकाश का अभाव रहा। अतः काल को मानना अत्यन्त आवश्यक है। सर्व संसार के व्यवहार ठीक-ठीक समय पर इसी के द्वारा चलते हैं। सुर्य की गति का माप भी इसी काल से होता है। इतने काल में सूर्य अमुक स्थान पर पहुंचा। इतने काल में अमुक पर पहुंचा। इतने घण्टे तक यह हमारे देश में चला इतने घण्टे अमुक देश में रहा। अतः काल का मानना अत्यन्त आवश्यक है और इस में ब्रह्म की अनुभूति भी अत्यन्त आवश्यक है।

४. अन्वय रूप—इस काल का चतुर्थ अन्वय रूप नहीं होता है। अतः इसके आगे अर्थवत्ता का वर्णन करते हैं।

समष्टि काल मण्डल

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि काल का पञ्चम रूप)

५. समष्टि काल के अर्थवत्व रूप में—

काल की अर्थवत्ता मानव जीवन में एक महान् सहायक है। बाल्य, कौमार, यौवन, वृद्धा अवस्था का यही तो द्योतक है। यह हर समय मानव को सावधान करता

रहता है। इतने समय में इतने दिन, मास वर्ष आप के बीत गये हैं। अमुक समय में यह कार्य किया था। अमुक समय में वह कार्य करना है। इसीके द्वारा यह सब बोध होता है। मनुष्य के सब भोग और मोक्ष सम्बन्धी कार्य इसी के आधार पर होते हैं। जब कोई मुख्य कार्य करना होता है, तो उस समय की प्रतीक्षा मनुष्य करता है। इतना-काल बीत गया, इतना शेष है यह बोध इसी द्वारा होता है। किसी अपने अच्छे कार्य के लिये घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष गिन-गिन कर व्यतीत करता है। यदि काल न होता तो यह गिनती किस के द्वारा करता। वैराग्यवान् पुरुष को जीवन बीतने की चिन्ता होती है। मैंने इतना जीवन व्यर्थ में ही खोया। अतः इस प्रकार यह काल वैराग्य को तीव्र करने में महान् सहायक है। जब तक यह मानव शरीर है, तब तक शीघ्र ही आत्म-ज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ले। इसकी पुष्टि भर्तृहरिजी महाराज ने इस प्रकार की है—

'यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरूजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रिय शक्तिर प्रतिहता यवत्क्षयोनायुषः।
आत्म श्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
संदीप्ते भुवने तु कूप-खननं प्रत्युद्यमः की दृशः॥

—हे अज्ञानो मानव। जब तक शरीर स्वस्थ है, रोगी नहीं होता है, अर्थात् इन्द्रियें और शरीर सशक्त हैं, और मरण भी दूर है, तब तक आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्न कर। इसी में तेरी समझदारी और बुद्धिमत्ता है विद्वत्ता है। जब मृत्यु समीप होगी, कुछ भी न कर सकेगा। वह प्रयत्न ऐसा ही होगा, जैसे जब घर में लग जावे तब आग बुझाने के लिये जल के वास्ते कुआं खोदने चलें। कुआँ खोदूँगा उससे जल निकालूँगा और अग्नि को बुझाऊँगा। 'इस मूर्खता को छोड़ कर आत्मज्ञान के लिये, कल्याण के लिये, शीघ्र से शीघ्र सावधान होकर लग जा! अन्यथा अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

इसी बात की चेतावनी यह काल की अर्थवत्ता दे रही है। और मानव जीवन को वास्तविक उद्देश्य को बता रही है। मनुष्य उस मधुकर के समान विषय-भोगों में फंस कर अपने कर्तव्य को भूल जाता है। कहा है—

"रात्रिगमष्यति, भविष्यति सुप्रभातम्।
भास्वानुदेष्यति, हसिष्यति पंकज श्रीः।
इत्थं हन्तः विचिन्तयति, कोशगते द्विरेफे,
हा! हन्त! हन्त!! नलिनीं गज उज्जहार॥

—भौंरा किसी कुमुदनी के फूल में बैठकर उसकी भीनी गन्ध पर मदमस्त हो गया। रात्रि आने पर कमल की पंखड़ियाँ बन्द हो गयीं। भौंरा भी अन्दर ही बन्द हो गया। यदि वह चाहता तो उसको काटकर निकल सकता था। परन्तु गन्ध की रसिकता में देर करते-करते रात्रि ही तो आगयी। वह सोचता ही रहा—रात्रि समाप्त होगी। सुन्दर प्रभात होगा। सूर्यउदय होगा। कमल खिलेगा। तब बाहर निकलूँगा। पर उधर रात्रि को

तालाब का जल पीने हाथी आया। उस कमल को भ्रमर सहित सूण्ड से तोड़ कर खा गया।

संसार के कार्यों और भोगों में आसक्त मनुष्य की भी यही अवस्था होती है। एक दिन काल आयेगा और इस जीवन को अपने मुख का ग्रास बना कर समाप्त कर देगा। न जाने मानव जीवन फिर कब हाथ लगेगा। परन्तु जो समय बीत गया उसकी चिन्ता बेकार है, वर्त्तमान का आज भी बीत जायेगा, इसलिए आने वाले कल की चिन्ता कर। सावधान होकर यथार्थ उद्देश्य को पूरा कर। कम से कम अपने आप को तो समझले, 'मैं क्या हूँ' तब ही इस काल की अर्थवत्ता ठीक सिद्ध होगी।

यह काल भोग प्रधान होने से मानव के प्रत्येक कार्य में सहायक होता है। भोजन अमुक समय में करना है। बाहर अमुक समय जाना है। प्रत्येक कार्य को समय का सहारा लेकर ही करता है। इतने घण्टे, मिनट, दिन, मास, वर्ष में यह कार्य कर लेना है। इस से सिद्ध है कि मनुष्य का कोई भी कार्य इस काल के बिना नहीं चल सकता। अपवर्ग के लिये भी इसकी प्रधानता है। इतने मिनट या घण्टे जाप करना है। इतने घण्टे ध्यान-समाधि करनी है। इतना समय नित्य प्रति आत्मचिन्तन में या ईश्वर-भक्ति में लगाना है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये जितने भी कार्य और साधन हैं, इनकी सिद्धि के लिये समय ही अत्यन्त सहायक होता है। ईश्वर-भक्त व्यर्थ में समय बीते तो पश्चात्ताप करने लगता है। अतः ईश्वर आराधना में काल अत्यन्त सहायक है। इस से सिद्ध होता है, कि भोग और अपवर्ग के लिये काल मानव का अत्यन्त उपकार करता है।

काल की सूक्ष्म अवस्था को इस प्रकार समझना चाहिये। जैसे एक सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु है। वह एक स्थान में निष्क्रय हो कर पड़ा है। जब किसी निमित्त विशेष से क्रियाशील होना प्रारम्भ करता है, एक देश से दूसरे देश में वह करवट लेता है। जितना समय उसको करवट लेने में लगेगा, या पलटने में लगेगा उसको हम काल कहेंगे और जिस ओर को पलटा खायेगा उसे हम दिशा कहेंगे। जिस स्थान में पलटा खायेगा उसे हम आकाश के नाम से पुकारेंगे।

योगी को अपनी ध्यान की दृष्टि को आकाशमण्डल में फेंक कर परमाणु के प्रगतिशील होने में काल की सूक्ष्मता का अनुभव करना चाहिये। काल की उस सूक्ष्मता में ब्रह्म की सूक्ष्मता को देखना चाहिये। दूसरा क्रम—ध्यान की सूक्ष्म दृष्टि से योगी को आकाश मण्डल में प्रकृति की सूक्ष्म अवस्था में प्रवेश करना चाहिए। उसकी भी कारण रूप सूक्ष्म अवस्था में सूक्ष्म ऋतंभरा बुद्धि से प्रवेश करना चाहिये जिसमें सूक्ष्मति-सूक्ष्म ब्रह्म का सम्बन्ध है। जो इसे अन्तर्यामी रूप से गतिशील कर रहा है। इस चेतन सत्ता की गति से इसमें एक विशेष गति प्रारम्भ होती है। उस देश के उस परिणाम क्रम में कितना समय लगता है बस यहाँ ही काल का प्रादुर्भाव हो रहा है। उस सूक्ष्मतम गति के अन्दर प्रकृति के जिस देश में वह काल उत्पन्न हो रहा है, काल की उत्पन्न होती हुई उस सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म की सूक्ष्मातिसूक्ष व्यापक सत्ता की अनुभूति करें। इन प्रक्रियाओं से काल के अन्दर ब्रह्म-विज्ञान, और पदार्थ-विज्ञान के साथ-साथ इन दोनों का साक्षात्कार भी होगा।

इस प्रकार काल की अर्थवत्ता ब्रह्म ज्ञान का साधन बनती है और आत्मा के मोक्ष का साधन।

इति समष्टि काल मण्डलम्।

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थः खण्डः।

इति चतर्थमावरणम् ॥

पंचम खण्ड

तृतीयमावरणम्

समष्टि दिङ् मण्डलम्

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि दिशा का प्रथम रूप)

१. समष्टि दिशा के स्थूल रूप में—

दिशा वास्तव में एक ही है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे, ऊपर, और चारों कोण ये दश वास्तव में दिशा के १० धर्म ही है। पूर्व पश्चिम आदि का इस लोक में व्यवहार सूर्य के आधार पर किया जाता है। जिस ओर सूर्य उदय होता है, यदि उस ओर मुख कर खड़े हों तो सामने वाली दिशा का नाम पूर्व दिशा होगा। पीठ पीछे दक्षिण दिशा, बायें हाथ की ओर उत्तर दिशा, और दायें हाथ की ओर दक्षिण दिशा मानी जाती है। पैरों के नीचे अधः और सिर के ऊपर ऊर्ध्व दिशा मानी जाती है। चारों दिशाओं के बीच के कोने नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान, आग्नेयी नाम से पुकारे जाते हैं।

ये दिशा के धर्म ही हैं। परन्तु जिस काल में सूर्य नहीं था, तब भी तो दिशा का व्यवहार दूसरे पदार्थों के लिये होना चाहिये। प्रलय काल के पश्चात् जब भगवान् के सन्निधान से सृष्टि का सृजन प्रारंभ होता है। प्रकृति सर्व प्रथम परिणाम भाव को प्राप्त होती है, तब प्रथम क्रिया होते समय विकृत होना चाहती है। उस समय वह जिस ओर को पलटा खाती है, उस अवसर में उस ओर दिशा की उत्पत्ति होती है। अतः यह दिशा प्रकृति का कार्य होने से द्रव्य ही है। उत्पत्ति वाली होने से अनित्य है। इसके पश्चात् प्रकृति के कार्यात्मक पदार्थों की अपेक्षा वह दिशा अपने पूर्व पश्चिम आदि धर्मों को उत्पन्न करती हुई परिणाम भाव को प्राप्त होती है।

(शंका) जब दिशा की उत्पत्ति होती है, तब प्रकृति के एक देश में परिणाम भाव को प्राप्त होता है या सर्व देश में ?

(समाधान) इसके परिणाम का हेतु ईश्वर है। ईश्वर कोई इसके एक देश में तो रहता नहीं, क्योंकि वह प्रकृति में सर्वत्र विद्यमान है, अतः प्रकृति में सर्वत्र ही परिणाम होना चाहिये।

दिशा के पूर्व आदि धर्म सूर्य की अपेक्षा से ही उत्पन्न नहीं होते हैं। सृष्टि के सृजन काल में जब दिशा की उत्पत्ति होती है, तब ही वह अपने धर्मों को लेकर उत्पन्न होती है। इन धर्मों का प्रादुर्भाव उस समय होता है जब दूसरे पदार्थों के साथ इनका व्यवहार आरंभ होता है।

(शंका) आकाश को प्रथम न मानकर दिशा की उत्पत्ति को क्यों प्रथम न माना जाये ?

(समाधान) प्रकृति को अपने कार्यात्मक पदार्थ सृजन करने के लिये सर्व प्रथम अवकाश की आवश्यकता है विकृत होने के लिये, फैलने के लिये, और संकोच के लिये। अतः सर्व प्रथम आकाश का उत्पन्न होना ही ठीक है। फिर किस ओर को संकोच या विकास हुआ, पलटा खाया, या करवट ली। इन ही के लिए तो दिशा की आवश्यकता होती है। अतः दिशा की उत्पत्ति आकाश के पश्चात् ही होती है।

आकाश के दो भेद

(शंका) आकाश की उत्पत्ति तो आकाश तन्मात्रा से मानी गयी है। पुनः सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति भी क्यों मानते हो ?

(समाधान) वहाँ उत्पत्ति स्थूल आकाश की मानी गयी है। और यहाँ सूक्ष्म आकाश की, क्योंकि तन्मात्रा आकाश से पूर्व भी तो अहंकार-महत् आदि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, क्या उनको आकाश की आवश्यकता नहीं, उनकी स्थिति के लिए भी तो अवकाश चाहिये। अतः सर्व प्रथम आकाश की उत्पत्ति मानना ही ठीक है।

(शंका) यदि यह सूक्ष्म आकाश ही सब पदार्थों का कार्य सिद्ध कर दे, तो दूसरे आकाश को मानने की क्या जरूरत ?

(समाधात) वास्तव में यह सूक्ष्म आकाश ही परिणाम भाव को प्राप्त होता हुआ सब पदार्थों के साथ चलता है, उनको अवकाश देता रहता है। अन्त में स्थूल भूतों में जाकर इसके कार्य की समाप्ति हो जाती है। इसी प्रकार दिशा और काल भी इसके साथ परिणत होते हुए और स्थूल भाव को प्राप्त होते हुए चलते हैं और अन्त में स्थूल भूतों पर पहुँच कर ये भी आगे अपने परिणामात्मक कार्य बन्द कर देते हैं।

यह दिशा मनुष्य के लिये सर्व कार्यों में सहायक और उपकारक होती है। इस से लोक के व्यवहार सिद्ध होते हैं। इसी के आधार पर पदार्थों और देशों का भी ज्ञान होता है। यदि दिशा न हो तो इस पदार्थ से यह पूर्व में है, यह पश्चिम में है, आदि ज्ञान कैसे हो। पूर्वापर का विज्ञान इसी के द्वारा होता है। जैसे—घनघोर घटाओं से भरा आसमान हो। रात्रि का समय हो। तारे तारिकायें भी न दीखते हों। बिलकुल अन्धकार हो। ऐसे समय मनुष्य को अज्ञात वन में छोड़ दिया जाये, और कह दिया जाये, अब तुम अपने घर पहुंच जाओ। दिशा का ज्ञान न होने से वह अपने घर नहीं पहुंच सकता भटकता रहेगा। अतः देश और पदार्थ आदि के विज्ञान के लिए दिशा का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। जैसे आकाश सूक्ष्म पदार्थ है, ऐसे ही दिशा भी सूक्ष्म पदार्थ है। जैसे आकाश सर्वत्र देखने में आता है, इसी प्रकार दिशा भी सर्वत्र देखने में आती है। सृष्टि में कहीं भी किसी भी लोक में चले जाओ, दिशा आपको सर्वत्र देखने में आयेगी। जैसे संसार का अन्त देखने में नहीं आता है इसी प्रकार दिशा का भी अन्त देखने में नहीं आवेगा।

इस दिशा में भगवान् का आरोप करके उपासना और विज्ञान का विषय बनावें। वैसे तो ईश्वर सर्वत्र ही व्यापक है, परन्तु यहाँ आरोप करना इसलिए कहा है, कि इस आरोप से ईश्वर उपासना और ज्ञान का विषय बन जाता है। पदार्थ के आधार पर उसका विज्ञान हो सकता है। यदि पदार्थ से अलग हम उसको देखना चाहें तो वह

दर्शन का विषय नहीं बन सकेगा। जहाँ पदार्थ है ब्रह्म वहाँ अवश्य ही है। तब ही तो इसकी सर्व व्यापकता सिद्ध होती है। पदार्थ में आरोप करने से वह निराकार होते हुए भी साकार सा अनुभव होने लगता है, तब ही वह दर्शन का विषय बनता है।

समष्टि दिङ् मण्डल
द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि दिशा का द्वितीय रूप)

२. समष्टि दिशा के स्वरूप में—

दिशा के स्थूल रूप में जो दश प्रकार के धर्मों का वर्णन किया गया है। उन धर्मों का धर्मी दिशा के साथ अभेद है। इसका नाम स्वरूप सम्बन्ध है। इसको हम तादात्म्य सम्बन्ध भी कहते हैं। इसमें विज्ञान की यही बात है, कि किस प्रकार दिशा में परिणाम होकर इन धर्मों का प्रादुर्भाव होता है।

(शंका) यदि सूर्य न हो तो दिशा का ज्ञान मनुष्य को कैसे होगा ?

(समाधान) सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि की उत्पत्ति के पश्चात् ही मनुष्यों की सृष्टि होती है। अतः मनुष्य सूर्य के आधार पर ही पूर्व पश्चिम आदि का व्यवहार करने लगते हैं। वैसे दिशा तो पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी। इससे कार्य लेने वाले पीछे उत्पन्न हुए। जिन-जिन लोकों में मनुष्य की सृष्टि होती है। वहाँ सूर्य पहले से ही मौजूद होता है क्यों कि प्रत्येक लोक का सम्बन्ध सूर्य से ही होता है। सूर्य ही लोक को प्रकाश देता है। इसी के प्रकाश से सर्वत्र मनुष्यों के व्यवहार चलते हैं। इसलिये सूर्य के न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(शंका) क्या स्वर्ग लोक आदि में भी सूर्य का प्रकाश है ?

(समाधान) इस सृष्टि में असंख्य सुर्य हैं। अतः सर्व लोकों को ही सूर्य का प्रकाश प्राप्त होना चाहिये। यदि वह स्वर्ग लोक उन सूर्यों की परिधि से कहीं अलग हो तो दूसरी बात है। हाँ यह अवश्य होता है, कि किसी लोक में रात्रि और दिन बहुत छोटे होते हैं, और किसी में बहुत बड़े। सबके दिन रात समान नहीं होते।

(शंका) सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि तो सूर्य के उत्पन्न होने से पूर्व हो चुकती है, वे स्वर्गस्थ देव फिर किस प्रकार सुर्य के अभाव में भोग भोगते हैं ?

(समाधान) स्वर्गस्थ देवों के दिव्य शरीर होते हैं; अतः उनके चक्षु भी दिव्य होते हैं, उनको सूर्य के प्रकाश की जरूरत नहीं होती। वे दिव्य चक्षु सूर्य के बिना भी देखने में समर्थ होते हैं। जैसे योगी समाधि में बैठा हुआ सूक्ष्म चक्षुओं से दूर के पदार्थ देखने में समर्थ होता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीराभिमानी अपने दिव्य नेत्रों से देखने में समर्थ होते हैं।

इस सूर्य के प्रकाश की आवश्यता तो स्थूल शरीराभिमानियों को ही है। मुक्तात्माओं को नहीं क्योंकि ये स्थूल शरीर पंच स्थूल भूतों से बने हैं, और सूर्य आदि भी पञ्च भूतों से बने हैं। सूक्ष्म शरीराभिमानी आत्मायें पञ्चतन्मात्राओं के लोक में निवास करती हैं, अतः वहाँ रूप तन्मात्रा का आलोक अवश्य होना चाहिये।

योगी को अपनी समाधि की सूक्ष्म दृष्टि से इस दिशा और इसके धर्मों में ब्रह्म का भी साक्षात्कार करना चाहिये। कारण कार्य और इन धर्मों में भी क्योंकि भगवान् सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से सर्वत्र प्रत्येक पदार्थ और उसकी प्रत्येक अवस्था में वर्तमान है।

समष्टि दिङ् मण्डल

तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि दिशा का चतुर्थ रूप)

३. समष्टि दिशा के सूक्ष्म रूप में –

दिशा का सूक्ष्म रूप प्रकृति है। क्योंकि दशा इससे उत्पन्न हुई है। अतः कार्य की सूक्ष्मावस्था अपने कारण में ही समाप्त होती है। कारण सामान्य और कार्य विशेष का समुदाय ही आयुतसिद्ध द्रव्य होता है।

इस कारण कार्य की सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिये। देखना चाहिये—किस प्रकार कारण से कार्य उत्पन्न होता है। और उस समय परिणामशील कारण में किस प्रकार की विकृति होती है। अतः योगी को प्रान्त भूमि प्रज्ञा द्वारा कारण रूप प्रकृति के अन्दर प्रवेश करके इसकी विकृत होती हुई अवस्था को देखना चाहिए। यह दिशा को किस प्रकार कार्य रूप में सृजन कर रही है और किस प्रकार की क्रिया उस अवसर में इसमें होती है। इस अवसर पर ब्रह्म के सन्निधान से कैसे क्रिया उत्पन्न हो रही है। इसके साथ ब्रह्म का किस प्रकार सम्वन्ध बना हुआ है। इस प्रकार तीनों दिशा, ब्रह्म और प्रकृति का विज्ञान और साक्षात्कार करना चाहिये।

(शंका)—सूर्य, अग्नि, जल, पृथिवी आदि पदार्थ जैसे देखने में आते हैं, इसी प्रकार दिशा भी तो देखने में आनी चाहिए!

(समाधान) सर्व साधारण को तो मन भी देखने में नहीं आता है। मन को मानकर व्यवहार सदा ही करते रहते हैं। इसी प्रकार मन की तरह दिशा भी सूक्ष्म है, और योगियों का ही प्रत्यक्ष का विषय है। अतः योगी बनकर ही इसका साक्षात्कार हो सकता है। आकाश भी आखों से देखने में नहीं आता है, परन्तु शब्द आदि से मनुष्य अनुमान कर लेता है। इसी प्रकार दिशा भी आंख से देखने में नहीं आती है। परन्तु पदार्थ के पूर्व पश्चिमादि धर्मों से दिशा का भी अनुमान कर लेता है। यह ठीक है, कि प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान होता है। सृष्टि को बना हुआ देखते हैं, अतः इसके कर्ता का अनुमान होता है कि इसका बनाने वाला अवश्य कोई है। जब किसी पदार्थ का बनाने वाला है, उसका प्रत्यक्ष भी अवश्य होना चाहिए। जो पदार्थ नेत्र, कान, स्पर्श, रसना आदि के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका प्रत्यक्ष केवल बुद्धि और चित्त के द्वारा होता है जैसे चिन्ता, शोक, सुख, दुःख आदि हैं। इनका प्रत्यक्ष किसी भी ज्ञान या कर्म इन्द्रिय द्वारा नहीं होता। परन्तु चित्त और बुद्धि के द्वारा अनुभूति अवश्य होती है। जो पदार्थ स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियों का विषय नहीं होते, इनके द्वारा नहीं जाने जाते, वे पदार्थ अन्तः करण के द्वारा ही साक्षात्कार का विषय बनते हैं। इन पदार्थों को अतीन्द्रिय कहते

हैं जिनको केवल अन्तःकरण द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जाता है। अतीन्द्रिय पदार्थ दो तरह के होते हैं

१. जिनको स्थूलेन्द्रिय नहीं देख सकती और सूक्ष्मेन्द्रिय देखती है। जैसे मन, बुद्धि आदि।

२. जिनको सूक्ष्मेन्द्रिय भी नहीं देख सकतीं, परन्तु बुद्धि, चित्त देखते हैं जैसे आत्मा, परमात्मा।

४. अन्वय रूप—दिशा का चौथा अन्वय रूप नहीं होता है, अतः अर्थवत्ता दर्शाते हैं।

समष्टि दिङ्मण्डल
पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि दिशा का पञ्चम रूप)

५. समष्टि दिश के अर्थवत्त्व रूप में—

यह दिशा मनुष्य के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करने में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विना पदार्थ के पूर्वा पर का पता नहीं चलता। दिशा की भ्रान्ति हो जाने पर मनुष्य का यथार्थ लक्षित देश में पहुंचना ही कठिन हो जाता है। भटकता ही रहता है। अतः पदार्थ के विज्ञान में दिशा अत्यन्त उपयोगी है।

(शंका) दिशा और काल को आकाश का ही गुण मानने में क्या आपत्ति है?

(समाधान) ये स्वरूप से ही भिन्न पदार्थ हैं। आकाश केवल अवकाश प्रदान करता है। पदार्थ को एक दूसरे से अलग करता है। सब के अन्दर व्यापक है। यही तीन इसके गुण हैं। परन्तु यह पदार्थ इससे पूर्व है। यह उत्तर है। इधर करवट ली। यह वताना तो दिशा का हो धर्म है। आकाश दिशा का बोध नहीं कराता।

कितने समय तक गमन करता रहा। कितना समय जाने आने कर्म करने में लगा, ये सब काल के ही धर्म हैं। न कि आकाश के। अतः काल दिशा आकाश से भिन्न ही पदार्थ हैं। न्याय वैशेषिक ने भी इनको भिन्न पदार्थ ही माना है। तीनों को ही ये नित्य मानते हैं। परन्तु हम इनको कार्यात्मक मानते हैं और अनित्य मानते हैं। नित्य तो केवल प्रकृति जीवात्मा और ब्रह्म ही हैं। इनसे भिन्न अन्य सब पदार्थ अनित्य हैं। ये काल, दिशा आकाश सर्वप्रथम उत्पन्न होकर सृष्टि के सर्व पदार्थों के साथ मिलकर परिणत होते चले जाते हैं। इनको अवकाश देना, विभिन्न करना आकाश का काम होता है। दिशा का संकेत करना अमुक दिशा में पदार्थ की गति हुई, या पदार्थ अमुक दिशा में विद्यमान है, यह दिशा का काम होता है। इतने समय में पदार्थ का निर्माण हुआ, इतने काल में प्रलय होगी, इतने में उत्पत्ति होगी, यह बोध काल कराता है। अतः आकाश, काल, दिशा भिन्न-भिन्न ही पदार्थ हैं इनके व्यवहार और धर्म भी भिन्न हैं।

यह दिशा मनुष्य के भोग और मोक्ष में अत्यन्त सहायक होती है। मनुष्य के सब व्यवहार इससे चलते हैं। यदि दिशा न हो तो इस बात का पता चलना ही असंभव हो जाये, कौन पदार्थ कहाँ है। उसको किस ओर जाकर प्राप्त करना है। किस ओर वह

मिल सकेगा। कौन कहाँ और किस ओर रहता है। इस दिशा को और इसके धर्मों को भी लक्ष्य बनाकर इनमें ब्रह्म की उपासना और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इससे सब दिशाओं में ब्रह्म का वर्तमान होना अनुभव में आयेगा।

इति समष्टि दिङ् मण्डलम्।

इति चतुर्थाध्याये पञ्चमः खण्डः।

इतितृतीयमावरणम्॥

षष्ठ खण्ड

द्वितीयमावरणम्

समष्टि महाकाशमण्डलम्

प्रथम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि महाकाश का प्रथम रूप)

१. समष्टि महाकाश के स्थूल रूप में—

प्रथम ही आकश का तो वर्णन कर चुके हैं। परन्तु महाकाश और उस आकाश में अन्तर है। यह ऐसा ही अन्तर है, जैसे पड़दादा और उसकी आवान्तर पीढ़ियों के पड़पोतों में अन्तर हो। जिस आकाश का पूर्व वर्णन आया है, वह इस महाकाश की अपेक्षा बहुत स्थूल है। वह आकाश तो तन्मात्रा का कार्य है। इस आकाश से पूर्व भी तो इन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, चित्त, सत्त्व, रजस्, तमस् उत्पन्न हो चुके हैं, क्या वे बिना आकाश के ही ठहरे हुए थे। इन सब पदार्थों को अवकाश देने के लिये सर्व प्रथम भगवती प्रकृति देवी ने महाकाश की उत्पत्ति की। यह इसका सर्व प्रथम कार्य है। जैसे किसी गृहस्थ का विवाह हो, या सन्तान उत्पन्न हो तो वह पहले घर बनाता है। या किसी नें व्यापार करना हो तो वह पहले दुकान या कारखाना बनाता है। तभी तो उसमें सामान रख सकेगा। इसी प्रकार भगवान् के सान्निध्य से क्रियाशील होकर इस प्रकृति देवी ने अपने सब कार्यात्मक पदार्थों को ठहराने के लिये अवकाश (घर) देना था। जिसमें इसकी कार्य रूप सन्तति निवास कर सके।

महाकाश की उत्पत्ति

महा प्रलय काल की अवस्था में जब यह प्रकृति देवी सुषुप्ति की अवस्था में सर्व प्रकार के विकार या परिणाम, भावों से रहित होकर साम्यावस्था में वर्तमान थी। उस समय में भी इसमें अपने ही अन्दर एक सामान्य क्रिया या कम्पन वर्तमान था, क्योंकि साम्यावस्था में ब्रह्म भी तो इसके अन्दर अपने सर्वव्यापक रूप से वर्तमान था। वह ब्रह्म ही तो चेतनत्त्वेन इसमें क्रिया का हेतु होता है। जब प्रलय काल में ब्रह्म का सम्बन्ध वर्तमान है, तो प्रकृति में क्रिया का अभाव कैसे हो सकता है। इस प्रकृति में क्रिया का अभाव होना तो ब्रह्म का अभाव हो जाना होगा। परन्तु ब्रह्म का अभाव तो उस प्रलय काल में भी इसके अन्दर नहीं है। अतः प्रलय काल की साम्यावस्था में भी इस कारण रूप प्रकृति में सामान्य क्रिया रहती है। केवल परिणामात्मक विशेष क्रिया, या विकृति रूप धर्म अथवा क्षोभ विशेष आदि का इस काल में अभाव होता है। कार्य की उत्पत्ति में ये विकार होते हैं साम्यावस्था में नहीं होते। साम्यावस्था से अभिप्राय है—सर्व कार्यात्मक विकारों का शान्त हो जाना। जैसे गाढ़ निद्रा में मनुष्य के जाग्रत् और स्वप्न, इन्द्रिय और शरीर के सर्व व्यापारों का अभाव हो जाता है। उस अचेत

अवस्था में केवल सामान्य रूप से प्राण का व्यापार होता रहता है। चित्त में उस काल में कुछ सुख दुःख की अनुभूति भी होती रहती है, क्योंकि चित्त तो सदा जागता रहता है। जीवात्मा का हर समय सम्बन्ध बने रहने से चित्त में सदा क्रियाशील सूक्ष्म गति बनी रहती है। जो निद्रा काल में भी उपलब्ध होती है। गाढ़ निद्रा को ही चित्त की साम्यावस्था समझना चाहिये। इस अवसर में ही सामान्य क्रिया की विद्यमानता समझनी चाहिये। क्रिया का सर्वथा अभाव तो चित्त में जीवात्मा का सम्बन्ध रहते न कभी हुआ है, न अब ही है, और न भविष्य में होगा। जैसे यहाँ जीवात्मा और चित्त का सम्बन्ध है ऐसे ही प्रकृति की साम्यावस्था में ब्रह्म का भी सम्बन्ध है। जब जड़ और चेतन का सम्बन्ध ही क्रिया का हेतु है, जैसे चित्त और जीवात्मा का, तब प्रकृति में क्यों साम्यावस्था में क्रिया का अभाव माना जावे, जब कि ब्रह्म का सम्बन्ध बना हुआ है। चित्त और जीवात्मा के गाढ़ निद्रा के दृष्टान्त से ही यहाँ प्रलय काल की अवस्था में भी सामान्य क्रिया की सिद्धि होती है। 'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।' जो इस शरीर में है, सो वहाँ प्रकृति में भी मानना चाहिये। अतः प्रकृति की साम्यावस्था में भी क्रिया माननी पड़ेगी।

प्रलय काल में ज्ञान, क्रिया जागरूक

प्रकृति की दो मुख्य शक्ति ज्ञान और क्रिया प्रलय काल में भी जाग्रत् रह कर अपना व्यापार करती रहती हैं। जैसे गाढ़निद्रा में चित्त में ज्ञान और क्रिया काम करती रहती हैं। आत्मा के संयोग से चित्त में ये दो शक्तियाँ ज्ञान और क्रिया उत्पन्न होती हैं। जैसा सम्बन्ध चित्त का जीवात्मा के साथ है, ऐसा ही सम्बन्ध प्रकृति के साथ ब्रह्म का है। केवल अन्तर इतना ही है, कि यह सर्व देशी नहीं है, और ब्रह्म सर्वदेशी है। एक देशी होने से इसको बद्ध मान लिया है और ब्रह्म को बद्ध नहीं माना है। प्रकृति और ब्रह्म के सम्बन्ध में 'ज्ञान, क्रिया, बल' को दूसरे आचार्यों ने ब्रह्म में मान लिया है। हम इन्हें प्रकृति में मानते हैं। क्योंकि ये शक्तियाँ ब्रह्म के सम्बन्ध से प्रकृति में हो सकती हैं क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है। परिणामिनी होने से इसमें धर्मों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि धर्मों का उत्पन होना भी विकारात्मक है। जब यह विकार भाव को प्राप्त होती है, तब ही ये धर्म इसमें प्रकट होते हैं। यदि इन धर्मों की उप्पत्ति ब्रह्म में मान लें तो वह भी परिणामी हो जायेगा। एक के बाद एक धर्म का पैदा होना विकारवान् पदार्थ में ही हो सकता है। जिस काल में हम ब्रह्म को निष्क्रय मान रहे हैं उस काल में क्रियावान् या कर्ता भी मानें यह ठीक नहीं है। दो विपरीत धर्म एक पदार्थ में नहीं हो सकते और न दोनों कार्य कर सकते हैं। अतः इन धर्मों का प्रकृति में उत्पन्न होना मानना ठीक रहेगा। ब्रह्म में नहीं। उस प्रलय काल की अवस्था में प्रकृति के दोनों धर्म ज्ञान और क्रिया कोई ऐसा कर्म नहीं करते जिससे उसमें कोई विशेष व्यापार हो, या क्षोभ हो, या उस काल में परिणाम धर्म उत्पन्न हो जाये। जैसे सुषुप्ति काल में मनुष्य शान्त पड़ा रहता है, करवट भी नहीं लेता है, उसके किसी भी अंग में गति या कर्म नहीं होता है। न स्वप्न ही आता है। स्थूल रूप से शरीर में प्राण का गमनागमन होता है, और सूक्ष्म रूप से चित्त में सुख-दुःख का अनुभव होता है। इसी प्रकार प्रकृति में क्रिया प्राणरूप में (समष्टि प्राण में) बनी रहती है। यह भी तो सामान्य ज्ञान उसमें रहना

चाहिये कि व्युत्थान कब होगा। यदि कहो यह ज्ञान ब्रह्म को रहता है, कि सृष्टि का सृजन मैंने कब करना है, तब इसको कर्ता मानना पड़ेगा। जब कर्ता मानते हैं, तो भोक्ता भी मानना पड़ेगा। तब यह भी जीवात्मा के समान हो जायेगा यदि आप यह कहें कि इन धर्मों को प्रकृति का मानने पर आपत्ति उपस्थित होगी, कि जब ज्ञान क्रिया स्वरूप वाली यह प्रकृति है, तो ब्रह्म को मानने की क्या जरूरत है। तब यह स्वयं ही संसार की रचना में प्रवृत्त हो जायेगी। परन्तु इन धर्मों की उत्पत्ति प्रकृति में ब्रह्म के सन्निधान से मानते हैं। विना ब्रह्म के सन्निधान के ये धर्म इसमें उत्पन्न नहीं हो सकते। ब्रह्म के सान्निध्य से प्रकृति में ही धर्मों का परिणाम होता है न कि ब्रह्म में, ब्रह्म तो अपरिणामी है। इसके सम्बन्ध से ब्रह्म में गुणों या धर्मों की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि हम ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं। गुण या धर्म जितने भी हैं, ये सब प्रकृति में ही परिणत होते हैं; और ब्रह्म में आरोप कर दिये जाते हैं। आरोप किया हुआ धर्म उसका अपना नहीं होता है, वह दूसरे का होता है। विद्वानों ने जो ईश्वर में अनन्त गुण माने हैं, वास्तव में हैं, ये सब प्रकृति के, और ब्रह्म में आरोप कर दिये गये हैं। यद्यपि हम गुणगुणी का अभेद मानते हैं, परन्तु जिन पदार्थों में अभेद मानते हैं, वे सब परिणामी हैं। अपरिणामी पदार्थ अनन्त या बहुत गुण वाला नहीं हो सकता। जहाँ बहुत गुण मानते हैं वहाँ उस पदार्थ में परिणाम मानना पड़ेगा, क्योंकि एक गुण या धर्म के पश्चात् एक भोग देने के लिये आता है। अतः ईश्वर में अनेक गुण मानना ठीक न होगा। यदि आप कहें कि कोई एक गुण तो आप भी मानेंगे, जिससे कि प्रकृति में क्रिया इसके सन्निधान से प्रारम्भ होती है। चेतन रूप गुण तो आप मानेंगे ही। ब्रह्म की चेतनता गुण नहीं है, अपितु चेतनता रूप ही ब्रह्म है। यह चेतनता कोई विकार भाव को प्राप्त होकर संयोग से इसमें उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु चेतन रूप ही वह ब्रह्म है। चेतन रूप ही वह पदार्थ है। यह गुण या धर्म वाला नहीं है। किन्तु चेतन रूप ही वह है। गुणगुणी भाव परिणामी पदार्थ में ही हो सकता है, अपरिणामी में नहीं। यदि इस ब्रह्म के संयोग से इस ज्ञान धर्म की उत्पत्ति मानें तब यह भी परिणामी हो जायेगा। हाँ यह अवश्य है कि इस चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से प्रकृति में ज्ञान, क्रिया, विभुता, बल, शक्ति, पराक्रम आदि अनेक गुण उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि यह परिणाम धर्म वाली है। जैसे लोहपिण्ड अग्नि में पड़ कर अग्नि के सम्बन्ध से अंगारवत् बन जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म के सन्निध्य से यह प्रकृति भी चेतनवत् सी बन जाती है। जैसे जीवात्मा के संयोग से यह जड़ शरीर चेतनवत् सा बना हुआ है, इसके कर्म और भोग चेतन के समान ही होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति भी चेतन ब्रह्म के सन्निधान से चेतन सी बन कर सृष्टि की रचना स्वयं करने लगती है। परन्तु सब लोग आरोप ब्रह्म पर करते हैं कि ब्रह्म ही सृष्टि का कर्ता है। वास्तव में ब्रह्म कर्ता नहीं है। यदि इसके सामीप्य से प्रकृति कोई कर्म करने में प्रवृत्त हो जाती है, तो इस से ब्रह्म का कुछ नहीं बिगड़ता। उसमें कोई भी किञ्चन्मात्र भी तबदीली नहीं आती है। इसमें किसी भी गुण का प्रादुर्भाव नहीं होता, क्योंकि यह अपरिणामी है। जो कुछ भी परिवर्तन होते हैं, वे प्रकृति में होते हैं। यह प्रकृति उस अंगहीन पुरुष के समान है, या उस नारी के समान है, जिसके न तो पैर हैं, न हाथ हैं। वह कहीं जा आ नहीं सकती। चल नहीं सकती। जड़वत् पड़ी रहेगी। सो यह प्रकृति भी ब्रह्म के आश्रय से ही चलने, फिरने, कर्म करने और संसार

की रचना में समर्थ होती है। इसमें चेतनता का अभाव है, अतः चेतन का आश्रय चाहती है। तब यह इस चेतन ब्रह्म से भी अधिक बलवती शक्तिशालिनी हो जाती है, क्योंकि इसको चेतन ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है। इसमें चेतना रूप गुण और आ जाने से जड़त्व गुण की कार्य क्षमता बढ़ जाने से ब्रह्म से भी बलवती बन गयी है। इसने ब्रह्म को अपना लिया है, और अनेक गुणों और विकार वाली बन गयी है। परन्तु ब्रह्म इसका नहीं बना है, वह इसके सन्निधान से भी निर्विकार, निष्क्रिय, निरन्जन, विशुद्ध और निर्गुण ही रहा, किञ्चित् भी परिवर्तन नहीं आया।

आकाश की उत्पत्ति चल रही थी। यह साम्यवस्था रूप प्रकृति जब ब्रह्म के सान्निध्य से विकार भाव को प्राप्त हुई तब इसमें सर्वप्रथम दो गुण उत्पन्न हुए, ज्ञान और क्रिया। ये इसके गुण ही हैं, पदार्थ नहीं। इन गुणों के प्रकट होने पर महाकाश की उत्पत्ति हुई। क्योंकि इसने सब पदार्थों को अवकाश प्रदान करना है। अतः अवकाश को लेकर यह आकाश उत्पन्न हुआ, क्योंकि अवकाश धर्म से ही दूसरे पदार्थों का परस्पर विभेद होना है। प्रत्येक पदार्थ का भेद करने तथा अलग-अलग रखने के लिए, अव्यूह धर्म उत्पन्न हुआ। तदन्तर इसने सब पदार्थों को अपने अन्दर धारण किया। इससे भी पहले सर्वप्रथम व्यापक रूप धर्म उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ये अपने तीनों गुणों को लेकर उत्पन्न हुआ।

ये प्रकृति के ज्ञान और क्रिया गुण प्रकट होकर सर्व पदार्थों में प्रसरित हुए। जितने पदार्थ ज्ञानात्मक हैं, उनमें जाकर ज्ञानात्मक गुण ओत-प्रोत हुआ। जितने कर्मात्मक पदार्थ हैं, क्रिया उनके अन्दर मुख्य रूप से ओत-प्रोत हुई और ज्ञानात्मक में गौण रूप से।

क्रिया के अन्य नाम—इनको समष्टि प्राण भी कहते हैं, क्योंकि सर्व पदार्थ इसी गुण से गतिशील हुए हैं। इसका नाम गति भी है। यह सब पदार्थों को गतिशील रखती है। एक क्षण भी ठहने नहीं देती। कर्म भी इसका नाम है, क्योंकि सर्व प्रदार्थ कर्म कर रहे हैं। चाहे इनके अज्ञानपूर्वक ही कर्म हैं, परन्तु हैं तो कर्म ही। इन दो शक्तियों ज्ञान और कर्म को हिरण्य गर्भ अवस्था भी कहते हैं। क्यों वेद में कहा है 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' सर्वप्रथम इन्हीं का प्रादुर्भाव हुआ है। ये ज्ञान और क्रिया प्रकृति के गुण सर्वत्र पदार्थों में ओत-प्रोत होकर भोग और अपवर्ग का हेतु बनेंगे।

यह महा आकाश प्रथम और अन्तिम पदार्थ है। प्रकृति के सब कार्यात्मक पदार्थ जीवों के भोग और अपवर्ग का साधन बनते हैं। इन सब का कारण यह प्रकृति है। यह अपने कार्यों के साथ मिलकर सर्व प्राणियों को भोग और अपवर्ग प्रदान करती है। यह धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्यों से जीवों को बान्ध कर रखती है। इन धर्मों के द्वारा भोग प्रदान करती है। जन्म-मरण, सुख-दुःख का क्रम प्रचलित रखती है। केवल एक ही गुण से मुक्त कर देती है—वह है विज्ञान या विवेक।

(शंका) यह महाकाश उत्पन्न होकर क्या प्रकृति के गर्भ में ही रहता है, या इस प्रकृति को भी अपने अन्दर धारण कर लेता है, क्योंकि इस को भी तो अवकाश चाहिए।

(समाधान) प्रकृति स्वयं आकाश रूप है। यह आकाश से भी सूक्ष्म है। यह तो इसका बच्चा है। जो इसके गर्भ से ही पैदा हुआ है। वह अपने कारण को कैसे

धारण कर सकता है। यह आकाश प्रकृति के अन्य कार्यों को धारण करने के लिए ही उत्पन्न हुआ है। प्रकृति का आकाश ब्रह्म को ही कह सकते हैं, क्योंकि वह इससे सूक्ष्म है और महान् भी, और इस में व्यापक भी। प्रकृति अपने सब कार्यों की अपेक्षा विभु है। व्यापक है। अनन्त है। परन्तु ब्रह्म की अपेक्षा यह विभु या व्यापक नहीं है। सबसे बड़ा महान् विभु तो ब्रह्म ही है वह सर्व व्यापक एवं अनन्त है।

समष्टि महाकाश मण्डल
द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि महाकाश का द्वितीय रूप)

२. समष्टि महाकाश के स्वरूप में—

महाकाश के गुण हैं—१.सर्वतोगति, २.अव्यूह, अवकाश प्रदान। इनका आकाश के साथ गुण गुणी भाव सम्बन्ध है अतः अभेद है। यही इसकी स्वरूप अवस्था है। इसमें ब्रह्म की सूक्ष्मता की अनुभूति करनी चाहिये। इसके परिणाम धर्म का भी साक्षात्कार करना चाहिए। यह किस प्रकार अपने धर्मों को लेकर उत्पन्न होता है। इन धर्मों में भी ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये।

समष्टि महाकाश मण्डल
तृतीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि महाकाश का तृतीय रूप)

३. समष्टि महाकाश के सूक्ष्म रूप में—

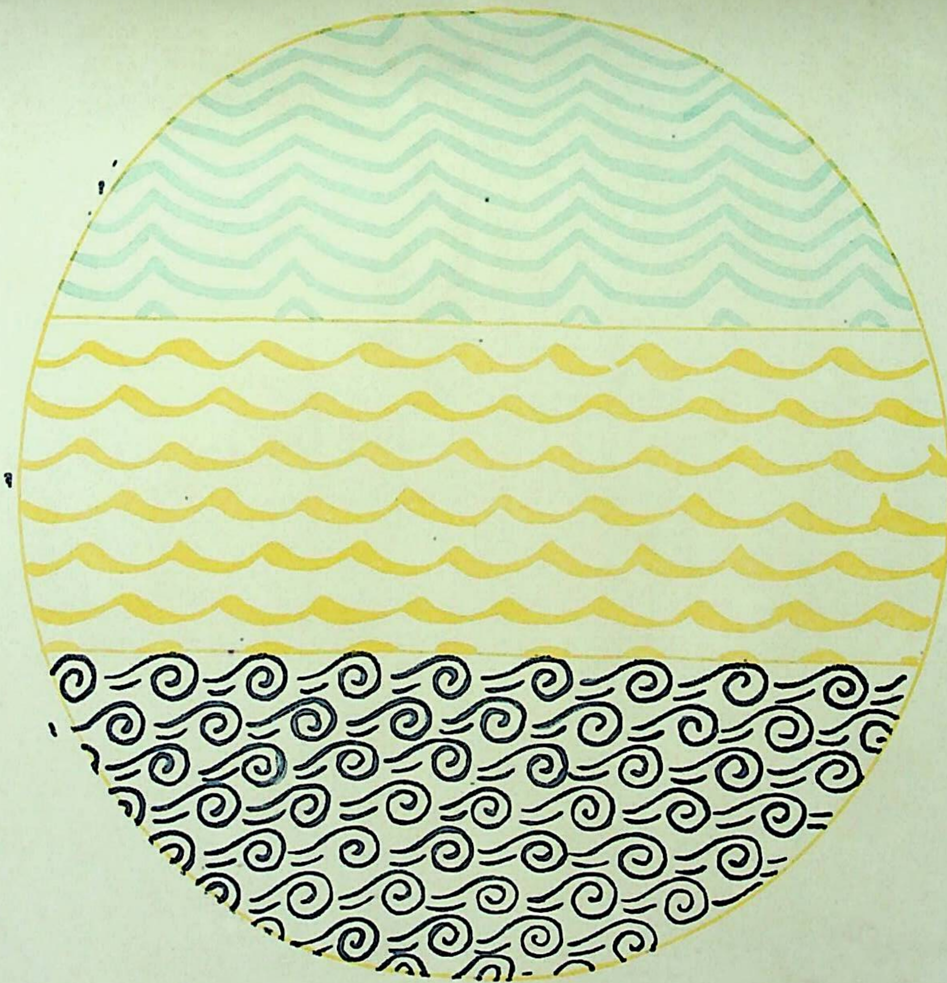
इस महाकाश का उपादान कारण साक्षात् रूप से प्रकृति ही है। अतः यही इसकी सूक्ष्म अवस्था हैं। प्रकृति सामान्य और महाकाश विशेष है। दोनों का समुदाय ही अयुतसिद्ध द्रव्य सिद्ध होता है। इसके उत्पत्ति काल में अत्यन्त सूक्ष्म ज्योतिष्मती बुद्धि के द्वारा इसका विज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि किस प्रकार क्रिया होकर परिणाम धर्म उत्पन्न होता है। इस परिणाम धर्म काल में ब्रह्म की अनुभूति भी होनी चाहिये जोकि क्रिया का हेतु बना हुआ है। जो कार्य कारण से भी अत्यन्त सूक्ष्म होकर इनके अन्दर ठहरा हुआ है। अपनी चेतना शक्ति से गतिशील कर रहा है। परिणाम धर्म को उत्पन्न कर रहा है। उस निमित्त कारण ब्रह्म का भी इस सूक्ष्म अवस्था में साक्षात् करें। पदार्थ की उत्पत्ति के समय में अत्यन्त सूक्ष्म समाधि की दिव्य दृष्टि से देखा जाये तो पदार्थ, उसके उपादान कारण, और निमित्त कारण तीनों का ही विज्ञान और साक्षात्कार हो जाता है।

४ अन्वय रूप—महाकाश की चतुर्थ अन्वय अवस्था नहीं बनती, अतः इसके आगे अर्थवत्ता का वर्णन करते हैं।

समष्टि महाकाश मण्डल
पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान
(समष्टि महाकाश का पञ्चम रूप)

५. समष्टि महाकाश के अर्थवत्त्व रूप में—

इस महाकाश में सर्वप्रथम मुख्य रूप से यही अर्थवत्ता है, कि प्रकृति के जितने कार्यात्मक पदार्थ हैं, सब को यह अपने अन्दर धारण करता है। कारण रूप में भी और



चित्र सं० १५

सर्व प्रथम प्रकृति [redacted] काल की उत्पत्ति

कार्यरूप में भी। किसी-किसी आचार्य ने महाकाश से ब्रह्म को ही महाकाश के रूप में वर्णन किया है। हमने आकाश शब्द के साथ महा शब्द का प्रयोग इसलिए किया है, कि पाठकों को भ्रान्ति न हो जाये, कि पहले भी आकाश का वर्णन कर चुके हैं, पुनः क्यों उसका पिष्ट पेषण कर रहे हैं। उस स्थूल आकाश की उत्पत्ति शब्द-तन्मात्रा या आकाश तन्मात्रा से वर्णन की गयी है। इस सूक्ष्म महाकाश की उत्पत्ति सर्वप्रथम कारण रूप प्रकृति से हुई है। इसके अत्यन्त सूक्ष्म होने से महाकाश संज्ञा इसकी दी है।

यह महाकाश दिशा, काल, सत्त्व, रजस्, तमस् के साथ मिलकर सर्व पदार्थों की उत्पत्ति का हेतु होता है। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति में उपादान कारण रूप में एक प्रधान होता है, शेष सहकारी कारण हुआ करते हैं। जिस पदार्थ की प्रधानता होती है, पदार्थ के निर्माण में उसके ही धर्म-विशेष उस पदार्थ में आया करते हैं। सर्वत्र एक पदार्थ की ही प्रधानता होती है; केवल मन की उत्पत्ति में सात्त्विक और राजस अहंकार इन दो पदार्थों की प्रधानता समान मानी गयी है।

महाकाश, काल, दिशा ये ऐसे पदार्थ हैं, जो सब पदार्थों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी हैं। उनके निर्माण काल में परिणत होते हुए साथ-साथ चलते हैं। प्रत्येक पदार्थ को अवकाश की भी आवश्यकता है, इसलिए आकाश सहकारी होता है। पदार्थ बनकर किस दिशा में जाना है, इस के लिए दिशा की भी आवश्यकता है। कितने काल में पदार्थ का निर्माण हुआ या होगा इस के लिए काल की प्रत्येक पदार्थ के साथ आवश्यकता है। चित्र सं० १५ में इन के रूप देखें।

सत्त्व, रजस्, तमस् ये भी ऐसे पदार्थ हैं कि इन का गमन या उपयोगिता प्रत्येक पदार्थ में होती है। क्योंकि सब पदार्थ सात्त्विक राजस तामस् भेद या अवस्था वाले होते हैं। अतः प्रकाश क्रिया, स्थिति धर्म सब पदार्थों में परिणत होते हुए अनुपतन होते जाते हैं। इन ६ पदार्थों में यही अर्थवत्ता है। इनके पश्चात् जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उन सब में ये वर्त्तमान होंगे। कोई भी पदार्थ इनके बिना न होगा। किसी में सत्त्व प्रधान होगा किसी में रजोगुण, और किसी में तमोगुण। इसी प्रकार प्रकृति के दो धर्म ज्ञान और क्रिया भी पदार्थों में साथ-साथ अनुगमन करते हैं। किसी पदार्थ में ज्ञान की प्रधा-

---

चित्र संख्या १५ के चित्र विवरण में चित्र संख्या अधिक न हो जाए अतः एक में ही सर्वप्रथम प्रकृति से उत्पन्न होने वाले महाआकाश दिशा काल पदार्थों को एक ही चित्र में दिखाया गया है।

नं० १ में सर्वप्रथम प्रकृति से महाकाश उत्पन्न होकर आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थों को अवकाश प्रदान करने के लिए कृपाशील होकर तरङ्गित हो रहा है और स्थूल भाव को प्राप्त होकर उत्पन्न होने वाले प्रकृति के कार्यात्मक सर्व पदार्थों को अपने अन्दर धारण करने में समर्थ होगा।

नं० २ में प्रकृति से उत्पन्न होती हुई दिशा का दिग्दर्शन कराया गया है जो कि सर्व पदार्थों के पूर्व-पश्चिमादि का बोध कराने में समर्थ होगी।

नं० ३ में तीसरे पदार्थ काल का दिग-दर्शन कराया गया है जिसने सर्वप्रथम समय का निर्माण करना है कि इतने काल में यह पदार्थ उत्पन्न हुआ या होगा। या इतने समय में यह कार्य होगा या हुआ।

नता होती है और किसी में क्रिया की। क्रिया एक ऐसा गुण है, जो प्रत्येक पदार्थ में अपनी क्रिया को जारी रखता है, चाहे वह ज्ञान प्रधान हो या क्रिया प्रधान। प्रत्येक पदार्थ में क्रिया इसी की है।

(शंका) ज्ञान और क्रिया जो प्रत्येक पदार्थ में जाते हैं, क्या वे प्रकृति को छोड़ कर चले जाते हैं ?

(समाधान) हमारे सिद्धान्त में गुण गुणी को छोड़कर अलग नहीं होता है। जैसे सोने में चमक या पीला रूप धर्म है। जब स्वर्ण भूषण में परिणत होता है, तो उसकी चमक भी तो साथ ही चलती है। चमक स्वर्ण को छोड़कर अलग नहीं रहती है। इसी प्रकार प्रकृति के धर्म ज्ञान और क्रिया भी इसके साथ ही रहते हैं। वास्तव में सब पदार्थों का उपादान कारण तो प्रकृति ही है। जो गुण कारण में होते हैं वह कार्य में भी जाते हैं। जैसे सैंकड़ों भूषणों का उपादान कारण एक स्वर्ण ही है। स्वर्ण प्रत्येक भूषण में गमन करता है। भेद भूषण का होता है न कि स्वर्ण का। स्वर्ण सर्व भूषणों में उपादान कारण के रूप में एक समान ही रहता है। इसी प्रकार यह प्रकृति देवी भी प्रत्येक कार्य में उपादान कारण के रूप में रहती है फिर ज्ञान और क्रिया के अलग होने की शंका ही पैदा नहीं हो सकती।

(शंका) प्रकृति में ज्ञान धर्म प्रथम उत्पन्न होता है या क्रिया ?

(समाधान) ज्ञान प्रथम उत्पन्न होता है। क्रिया पश्चात् उत्पन्न होती है। विना ज्ञान के संसार में कोई कर्म ही नहीं होता है, अर्थात् कर्म ज्ञानपूर्वक ही होता है। चेतन होने से भगवान् ज्ञानस्वरूप ही है। इसके सान्निध्य से ज्ञान धर्म प्रकृति में प्रथम उत्पन्न होना चाहिये और क्रिया पश्चात्। मनुष्य जब कोई कर्म करता है, तो उसके विषय में पहले सोचता है, विचारता है कि इसको किस प्रकार करना है, कितना समय इसमें लगेगा, इसका फल क्या होगा। कर्म करने से पूर्व प्रथम उस का ज्ञान ही होता है। यद्यपि उसने अभी कर्म करना आरम्भ नहीं किया है। अतः सर्वप्रथम ज्ञान ही उत्पन्न हुआ। पश्चात् क्रिया। क्रिया का अर्थ कर्म ही है, अर्थात् ज्ञान और कर्म दो गुण प्रकृति के ही हैं। लोक में कर्म से भी ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे योगी समाधि रूप कर्म द्वारा ज्ञान का उपार्जन या वृद्धि करता है। परन्तु समाधि रूप कर्म के पहले उसको समाधि रूप कर्म का ज्ञान तो था, कि इस समाधि से ज्ञान की वृद्धि होगी। अतः कर्म का ज्ञान पूर्व ही होता है, और ज्ञान के पश्चात् ही कर्म होता है।

क्या ईश्वर में ज्ञान, कर्म हैं ?

(शंका) ज्ञान और कर्म ईश्वर के धर्म क्यों न मान लें, क्योंकि चेतन में ही ज्ञान और कर्म हो सकता है, जड़ में नहीं ?

(समाधान) इन धर्मों या अन्य धर्मों को ब्रह्म में मानने से वह भी प्रकृति के समान परिणामी हो जायगा। प्रकृति के परिणाम काल में ही ये धर्म इसमें उत्पन्न होते हैं, और परिणत होते हुए सब पदार्थों में जाते हैं; क्योंकि प्रकृति कार्य रूप वाली है। ब्रह्म का तो इस प्रकार परिणाम होता नहीं है, जो इस के गुण सब कार्यों के साथ परिणत होते चले जावें। अतः ब्रह्म के गुण मानने में प्रकृति और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रहता है।

(शंका) किसी आचार्य ने ब्रह्म के ही दो गुण माने है, चेतन और जड़ और प्रकृति नाम से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं माना है ?

(समाधान) यदि ब्रह्म के ही ये दो गुण मान लिए जाएँ, जड़ता और चेतनता, तो इन दोनों धर्मों में अन्तर कैसे रहेगा ? जड़ और चेतन दोनों विरोधी धर्म हैं, अतः एक पदार्थ में नहीं हो सकते हैं। यह वर्तमान संसार जो सामने देखने में आ रहा है, नित्य ही इसमें उत्पत्ति और विनाश या परिणाम देखने में आ रहे हैं। यदि इनको ब्रह्म का ही गुण मान लिया जाये, तब तो ब्रह्म को भी नाशवान् और परिणामी मानना पड़ेगा। तब प्रकृति के अलग मानने में क्यों आपत्ति करते हो ? इसके ही ज्ञान और क्रिया धर्म होने, और कार्य रूप होने से सब व्यवस्था ठीक रहती है। इस प्रकार के सिद्धान्त में कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता है। ब्रह्म का केवल सन्निधान मात्र मानते से ब्रह्म में भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है। वह कूटस्थ, निष्क्रिय, निर्विकार, निरवयव, अपरिणामी बना रहता है। प्रकृति का भी कार्य सिद्ध हो जाता है, और संसार की उत्पत्ति, विनाश और अन्य व्यवस्था भी ठीक बनी रहती है। यह प्रकृति और उसके कार्यों की अर्थवत्ता।

वास्तव में प्रकृति में ही अर्थवत्ता रूप है, इसी की अर्थवत्ता इसके सब कार्यों में जाती है। भोग और अपवर्ग का हेतु भी यह है। यह अपने कार्यों के साथ मिलकर अर्थवत्ता वाली होने से मनुष्यों और सर्व प्राणियों को भोग और मोक्ष प्रदान करती है। प्रकृति और उस के कार्य का भेदाभेद रूप से सम्बन्ध है, जैसे अवयवी और अवयव का अभेद होता है। कार्य रूप से पदार्थ का भेद हुआ है, क्योंकि कारण भी कार्य में सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान है, इसलिए अभेद भी है।

(शंका) यदि प्रकृति के ही धर्म ज्ञान और क्रिया मान लिए जायें तो उपनिषद् का यह मन्त्र निरर्थक हो जाएगा—

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न च तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥

श्वेताश्वर० अ० ६। मं० ८॥

—उस ब्रह्म का न कोई कार्य है, न उसका कोई करण ही है। न उसके कोई समान है। न उससे कोई अधिक ही है। इसकी पराशक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है। जो कि स्वाभाविक रूप से ज्ञान, बल और क्रिया है।'

(समाधान) वास्तव में इस मन्त्र में ज्ञान, बल, क्रिया से तात्पर्य है—ज्ञान से तात्पर्य प्रकृति के सत्त्वगुण का है। बल से तात्पर्य तमोगुण का है और क्रिया से अभिप्राय रजोगुण का है। इन तीनों पदार्थों के वास्तविक अर्थ भी यही हैं।

ईश्वर और प्रकृति का अनादि नित्य सम्बन्ध है। व्याप्य व्यापक भाव है। ये कभी अलग ही नहीं होते। स्व स्वामी भाव सम्बन्ध सदा बना ही रहता है। इस सदातन सम्बन्ध के नाते ही प्रकृति के इन गुणों को ब्रह्म के गुण कह दिया है। यह आरोप मात्र है। वास्तव में तो यह गुण प्रकृति के ही हैं। इसके आगे ११वें मन्त्र में 'साक्षी, चेता, केवलो निर्गुणश्च' कहा है। यहाँ निर्गुण कहने से सिद्ध है कि ज्ञान, बल, क्रिया ईश्वर के गुण नहीं हैं। ये प्रकृति के ही गुण या पदार्थ हैं। जिनको गुण रूप से ब्रह्म में आरोप कर दिया है। स्वाभाविक शब्द साथ में दिया है, क्योंकि व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध नित्य है, इसलिए वह स्वाभाविक सा ही हो जाता है।

(शंका) जब ब्रह्म में भी गुण नहीं हैं, और प्रकृति जड़ है तो संसार के ये सब पदार्थ जो नियम पूर्वक सब कर्म कर रहे हैं, ये बिना किसी चेतन सत्ता के नियन्त्रण के यह नहीं कर सकते हैं?

(समाधान) जैसे किसी कारखाने में बड़ी भारी मशीन लगी होती है। वह नाना प्रकार के पदार्थों के निर्माण करती है। उस मशीन में विद्यु त की तार का सम्बन्ध कर देने से वह गति शील होकर सब कार्य करना प्रारम्भ कर देती है। इसी प्रकार ब्रह्म का सम्बन्ध या सान्निध्य इस प्रकृति को गति करा देता है। अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्ध मात्र से स्वयं गति शील होकर सब कार्यों और पदार्थों का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ तो केवल ब्रह्म के सम्बन्ध मात्र की जरूरत है। न कि ब्रह्म के कर्तृत्व की। यह सम्बन्ध सदा बना ही रहता है। यदि कहो कि जब सदा और नित्य सम्बन्ध है, तो एक ही समान प्रकृति में कर्म होता रहना चाहिए। वह तो होता नहीं। सामान्य विशेष रूप में और अनेक अवस्थाओं के रूप में होता रहता है कभी प्रलय कभी सृष्टि सृजन आदि।

जीवात्मा और शरीर के सम्बन्ध के दृष्टान्त से यह ठीक समझ में आ जायेगा। जैसे एक मनुष्य की १०० वर्ष की आयु है। इसमें बाल्य, युवा वृद्धावस्था, भी आती है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थायें भी होती हैं। ये क्यों होती हैं? सुषुप्ति और जाग्रत का तो बहुत अन्तर है। जब एक जीवात्मा का सम्बन्ध १०० वर्ष तक निश्चय रूप से हो गया है, तब जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के अवस्थाओं के परिणाम क्यों होते हैं। बाल्य युवा-वृद्धा अवस्थायें क्यों आती हैं? ये विकृति और विषमतायें क्यों आती हैं? आपके प्रश्न के आधार पर तो ये नहीं आनी चाहियें, परन्तु आती हैं। जैसे चेतन जीवात्मा के सम्बन्ध से शरीर में ये विषमतायें और परिवर्तन सौ वर्ष तक होते रहते हैं। इसी प्रकार प्रकृति में भी ब्रह्म के सम्बन्ध से या सान्निध्य से परिवर्वन या परिणाम होते रहते हैं। संसार के सब कार्य यह प्रकृति चेतन सी बनकर करती रहती है। जैसे मनुष्य का यह जड़ शरीर चेतनवत् सा बनकर सब कार्य करता रहता है। यह प्रकृति ही सब जीवों के भोग और अपवर्ग के लिए परिणाम भाव को प्राप्त होकर सृष्टि की रचना करती है। इस रचना का श्वेताश्वतरोपनिषद् ने इस प्रकार से भी कथन किया है। ईश्वर से व्याप्त इस परिणामिनी प्रकृति का कारण से कार्य रूप में भोग और अपवर्ग के लिए संसार चक्र चलता रहता है। भोग और मोक्ष प्रदान करने के लिए निम्न प्रकार के कार्यों के रूप में यह प्रकृति भगवती देवी प्रस्तुत होती है। यथा—

'तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं, शतार्धारं विंशतिः प्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैक पाशं त्रिमार्ग भेदं द्विनिमित्तैक मोहम्॥ ४॥
पञ्च स्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिपञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥ ५॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० १। मं० ४,५॥

—एकनेमिम्=ईश्वर से व्याप्त प्रकृति, त्रिवृतम्=सत्त्व, रजस् तमस्, षोडशान्तम्=५ ज्ञानेन्द्रिय+५ कर्मेन्द्रिय, ५ तन्मात्रायें, १ मन या १६ कला, शतार्धारम्=पचास अरे-५ प्रकार की अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, अभिनिवेश, २८ प्रकार की शक्ति, ९ प्रकार की तुष्टि, आठ प्रकार की अणिमा आदि सिद्धियाँ, ये ब्रह्माण्ड रूपी पहिये के पचास अरे

हैं। १० प्रकार की इन्द्रियों की शक्ति, और एक-एक तुष्टि की दो-दो शक्तियाँ भाव और अभाव रूप में ये २८ शक्ति कहलाती हैं। विशंति: प्रत्याराभि:=१० ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ, १० इनके विषय, ये २० आरा हैं। पच्चास अरों की पुष्टि करने वाली पच्चर हैं। अष्टकैः षड्भिः=आठ संख्या वाले ६ अष्टकों से युक्त, पाँच तन्मात्रा, मन, अहंकार, बुद्धि ये प्रकृति के अष्टक हैं। त्वचा, मांस, रुधिर, भेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य ये ८ धातु अष्टक। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, वशित्व, ईशित्व, कामावसायित्व, ये ऐश्वर्य अष्टक हैं। धर्म,ज्ञान,वैराग्य,ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये आठ अभावात्मक अष्टक हैं; क्षमा, दया,अनसूया,शौच, अनायास, मंगल, उदारता, सन्तोष यह गुणों का अष्टक है। ब्रह्म, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर पिशाच ये देव योनियों का अष्टक है। इन छः अष्टकों से युक्त, विश्व रूपक पाशम्=स्वर्ग, नरक, पशु पक्षी, स्थावर आदि नाना रूप वाला, त्रिमार्गभेदम्=संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयरूप, द्विनिमित्तंक मोहम्=धर्मा धर्म या पाप पुण्य रूप और एक मोह रूप अविद्या से ढका हुआ, यह संसार चक्र है। जोकि प्राणिमात्र के बन्ध और मोक्ष का हेतु है।

पञ्चस्रोतोम्बुम्=पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्रोत इस शरीर में जलरूप से विद्यमान हैं। इनसे कुछ-न-कुछ द्रव पदार्थ का स्राव होता रहता है। या इनके द्वारा विषयों के भोग रूप ज्ञान का स्राव होता रहता है। पञ्चयोन्युग्रवक्राम्=पाँच भूत इन स्थूल ज्ञानेन्द्रियों के उत्पत्ति स्थान हैं। या इनके उपादन कारण हैं। पञ्च प्राणोर्मिम्=शरीर रूपी नदी में पाँच प्राण ही तरंगें हैं। पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्=पाँच ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जिसका आदिमूल ही बुद्धि है। पञ्चावर्ताम्=पाञ्च विषय भंवर हैं। जीव को दुःख देने वाले हैं। पञ्चदुःखौघवेगाम्=गर्भवास, जन्म का समय, वृद्धावस्था, अत्यन्त ही अशक्त अवस्था, व्याधि इन पाँचों दुःखों का प्रवाह इस नदी रूप शरीर में बह रहा है। पञ्चाशद्भेदाम्=पचास भेदों वाला यह शरीर, अंग प्रत्यंग के रूप में, अर्थात् इसमें ६ अंग और ४४ प्रत्यंग हैं। २ हाथ, २ पैर, १ सिर, १ भरण—मदरा ये मुख्य अंग हैं। २० अंगलियाँ, नसें, मस्तक, उदर, पीठ, नाभि, नासिका, ठोडी, वस्ति, गर्दन, कान, नेत्र, भोहें, शंख, कन्धा, टखना, आँखें, स्तन, अण्डकोश, उपस्थ, पसलियां, कटिभाग, २ जानू, २ बाँह, २ जंघायें, ४४ उपांग या प्रत्यंग हैं। यह पाँच-पाँच प्रकार के विज्ञान से युक्त शरीर है। इसका अध्ययन करते हुए इसके द्वारा हम ब्रह्म वादी योगी ब्रह्म की उपासना और विज्ञान प्राप्त करते हैं। यही वास्तव में हमारे भोग और मोक्ष का महान् हितकारी, सहायक, मुख्य कारण है। पहले मन्त्र में प्रकृति के स्वरूप का कारण कार्यात्मक रूप से वर्णन करके भोग और अपवर्ग के साधन शरीर का वर्णन किया है। यह सब इस प्रकृति का ही विस्तार है। इन सब को लेकर यह मनुष्य के भोग और अपवर्ग के लिए प्रार्थ रूप से उपस्थित होता है।

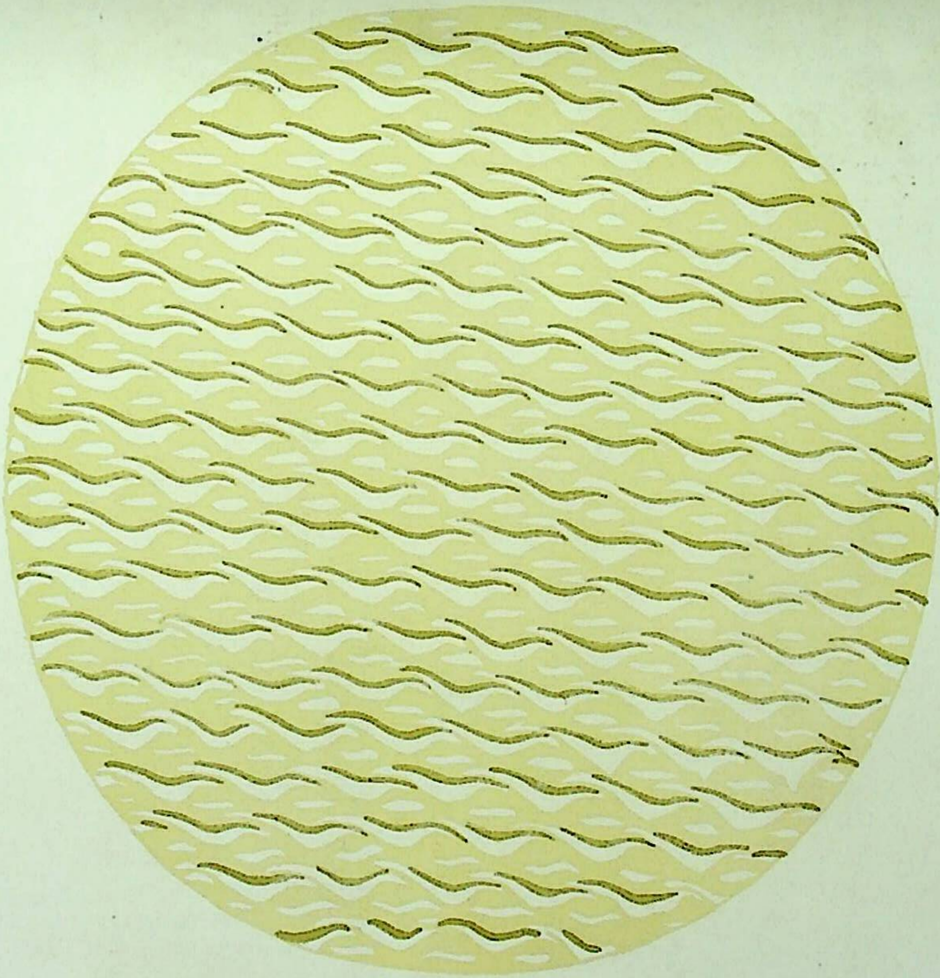
इस सूक्ष्म महाकाश में ब्रह्म का आरोप करके इसका विज्ञान और ब्रह्म की उपासना एवं ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए। किस प्रकार इस प्रकृति में क्रिया प्रारम्भ होकर आकाश की उत्पत्ति होती है। इस महाकाश का क्या स्वरूप है। इसमें और स्थूल आकाश में क्या अन्तर है। प्रकृति और आकाश में क्या अन्तर रहा। ब्रह्म

का किस प्रकार और कैसा सम्बन्ध है इत्यादि साक्षात्कार करना चाहिए। यहाँ तक प्रकृति के ३२ कार्यों का और इनमें ब्रह्म के विज्ञान का, तथा सब कार्यों के विज्ञान और उनमें ब्रह्म के साक्षात्कार का वर्णन किया गया है। अब प्रकृति का कोई कार्य शेष नहीं रहा है। अब एसके आगे प्रकृति में ब्रह्म साक्षात्कार का वर्णन रहेगा।

इति समष्टि महाकाश मण्डलम्।

इति चतुर्थाध्याये षष्ठः खण्डः।

इतिद्वितीयमावरणम् ॥



चित्र सं० १६

समष्टि प्रकृति से सर्व —————— गुणों की उत्पत्ति

सप्तमः खण्डः

चरमावरणम्

समष्टि कारण प्रकृति

प्रथम रूप में ब्रह्म-साक्षात्कार

(समष्टि कारण प्रकृति का प्रथम रूप)

१. समष्टि कारण प्रकृति के स्थूल रूप में—

जब यह प्रकृति परिणाम भाव को प्राप्त होती है, तो सर्वप्रथम इस में दो गुण का प्रादुर्भाव होता है। १. ज्ञान २. क्रिया। चित्र सं० १६ में देखें। ये दोनों गुण हैं द्रव्य नहीं। क्रिया का अर्थ गति, कर्म, प्राण, क्षोभ, विकार, परिणाम है। ये सब पर्यायवाचक हैं। इसी प्रकार ज्ञान के पर्यायवाची हैं विज्ञान, साक्षात्कार, सामान्य ज्ञान, विशेष ज्ञान आदि। जब यह कार्य को उत्पन्न करने के लिए प्रवृत्त होती है, तब सर्वप्रथम इसमें ये दो गुण उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् महाकाश आदि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। इसमें गुणों का प्रादुर्भाव होना ही इस की स्थूल अवस्था है। ये गुण सर्वत्र इस के साथ सब कार्यों में गमन करेंगे। यह प्रकृति परिणाम भाव को प्राप्त होकर अपने सब कार्यों में ज्ञान और कर्म का प्रसार करेगी। इसकी दोनों साम्यावस्था और परिणत होती हुई विकार अवस्था में ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए। विकार भाव की अवस्था में तो सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन कर चुके हैं। कारण अवस्था में अब करना है। इसकी एक ऐसी भी अवस्था है, जो सदा कारण रूप में वर्तमान रहती है। जिस में ब्रह्म का इसके साक्षात् रूप से सम्बन्ध रहता है। यह सम्बन्ध ही सृष्टि सृजन काल में इसमें विशेष क्रिया का हेतु बन जाता है। परन्तु इस की साम्यावस्था में सामान्य क्रिया का हेतु बना रहता है। यह ही इस में सदा नित्य क्रिया का हेतु बना रहता है। विशेष क्षोभ आदि कर्म प्रकृति के अपने स्वभाव से ही होते रहते हैं, विशेष परिवर्तन, कार्य और इनकी नियम व्यवस्था आदि इसका अपना धर्म है।

जीवों के कर्मफल की व्यवस्था

यह तो एक स्वाभाविक ही नियम है कि जैसे कोई कृषक गन्ना या मिर्च का बीज भूमि में बोता है, तो उसमें वही गन्ना या मिर्च पैदा होते हैं। इस प्रकार कर्मफल—पाप पुण्य का नियम है। जैसा कर्म होता है, उस का वैसा ही परिणाम होता है। पाप का दुःख रूप और पुण्य का सुख रूप।

चित्र सं १६—इस मण्डल में सर्व प्रथम प्रकृति में ब्रह्म के सन्निधान से जो क्षोभ होकर ईक्षण या सृष्टि रचना प्रारम्भ होने जा रही है। इसमें सर्वप्रथम प्रकृति के अत्यन्त क्षोभपूर्वक कम्पाय मान हो जाने पर जो दो धर्म या गुण सर्वप्रथम उत्पन्न हुए हैं। इनका नाम है ज्ञान और क्रिया। इस मण्डल में ये जो श्वेत तरंगें या लहरें सी उत्पन्न हो रही हैं यह सर्वप्रथम ज्ञान धर्म की उत्पत्ति हो रही है। दूसरी जो पति से वरण की लहरें या तरंगें उत्पन्न हो रही हैं ये क्रिया के रूप में गुण या धर्म उत्पन्न हो रहा है। भगवान् के ईक्षण से सर्वप्रथम प्रकृति की साम्य रूप अवस्था में जब परिणाम धर्म उत्पन्न हुआ। तब सर्वप्रथम गुणों के रूप में ज्ञान और क्रिया ये दो शक्तियें उत्पन्न हुईं।

प्रश्न—पाप पुण्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—मानव समाज को—व्यक्ति या समष्टि को नियम और शासन में रखने के लिए वेद, शास्त्र और विद्वान् विधि और निषेध आत्मक दो प्रकार के कर्मों का विधान बनाते हैं। ताकि संसार के लोग उच्छृंखल बनकर मनुष्यों या अन्य प्राणियों को दुःखी न करें। चोर, डाकू, हिंसक, दुराचारी, बलात्कारी, आततायी, स्वार्थी, मिथ्यावादी, किसी को हानि या दुःख न पहुँचावें। लड़ाई, झगड़े, कलह इत्यादि कर्मों से व्यक्ति और समाज को दुःख होता है। अतः इनको पाप या निषेधात्मक कर्म कहते हैं। समाज के नियमों का पालन करना, डाका न मारना, चोरी न करना, हिंसा से बचना, पर स्त्री गमन या बलात्कार न करना, मिथ्या बोलकर छल या कपट से दूसरे के पदार्थ का हरण न करना, सर्व प्राणियों को सुखी बनाना, प्रेम भाव पैदा करना, द्वेष न करना, आततायी न होना, मित्र भाव रखना, सर्व विश्व को अपना ही कुटुम्ब समझना, इत्यादि कर्मों को पुण्य या विध्यात्मक कर्म कहते हैं। इस से मानव समाज सुव्यवस्थित, नियम तथा शासन में रहकर सुखी रहता है। इन निषेध और विध्यात्मक कर्मों के आधार पर व्यक्ति और समाज के पाप और पुण्यात्मक कर्मों का संग्रह होता है। इन्हीं के आधार पर कर्म व्यवस्था चलती है।

इस कर्म का यह फल है, यह प्रकृति ही व्यवस्था करती है। जैसे हमारे शरीर में बुद्धि ही ज्ञान अज्ञान, पाप पुण्य की व्यवस्था करती है, पर आरोप आत्मा पर कर दिया जाता है, इसी प्रकार कर्म की व्यवस्था प्रकृति की समष्टि बुद्धि द्वारा होती है, आरोप भगवान् पर कर दिया जाता है कि भगवान् कर्म फल का विधान करता है। यदि समष्टि बुद्धि या चित्त इस व्यवस्था को न करें, तब यह व्यर्थ हो जाते हैं, इनका कोई भी काम या कार्य नहीं रहता है। यह सब कर्म फल व्यवस्था इस प्रकार होती है ब्रह्म के सान्निध्य में, परन्तु सब कुछ करती प्रकृति है। यदि कहो प्रकृति जड़ है। तो जड़ यह पत्थर की तरह तब तक रहती है, जब तक ब्रह्म का सान्निध्य इस को प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म का सान्निध्य तो इसको प्राप्त है, अतः इसकी जड़ता सर्वथा दूर हो जाती है। हां ? ब्रह्म की तरह चेतन तो नहीं बनती परन्तु चेतनवत् सी बनकर सब कार्य करने लगती है। जैसे जीवात्मा के सान्निध्य से अन्तःकरण चेतनवत् सा बन कर सर्व कर्म करने में समर्थ हो जाता है। आत्मा केवल शान्त भाव से निष्क्रिय और असंग होकर कूटस्थ रहता है। इसके अपने अन्दर कोई भी हलचल, परिणाम, विकृति अथवा क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है। जो कुछ हलचल, परिणाम, क्रिया, कर्म, व्यापार, क्षोभ, विकृति आदि होती हैं, वे सब चित्त में ही होती हैं। इसी प्रकार ब्रह्म भी शान्त, निष्क्रिय, क्षोभ तथा कर्तापन की भावना से रहित, असंग, कूटस्थ होकर बना रहता है। प्रकृति में ही क्रिया, कर्म, क्षोभ परिणाम, कार्य सब होते हैं; सृष्टि रचना तथा कार्यों की सब व्यवस्था आदि प्रकृति ही करती रहती है। आरोप ब्रह्म पर कर दिया जाता है। पर ब्रह्म तो असंग और निष्क्रिय है।

यदि कहो कि ज्ञान और क्रिया जब प्रकृति के अपने ही धर्म साथ हैं, यह स्वयं ही सब कुछ कर सकती है, ब्रह्म की क्या आवश्यकता है। देखो ! काष्ठ का बड़ा सा ढेर पड़ा है, परन्तु उसमें अग्नि उत्पन्न नहीं होती है। पर एक तीली दियासलाई जलाकर

उसमें लगाने से वह काष्ठ अग्नि रूप बन जाता है। इसी प्रकार इस प्रकृति में सब कुछ करने की सामर्थ्य है, पर इस सामर्थ्य को जाग्रत करने के लिए किसी निमित्त की अपेक्षा है। वह निमित्त चेतन ब्रह्म है। पर असंग और निष्क्रिय भाव से। यदि कहो प्रकृति की प्रवृत्ति या सृजन में जीवों के कर्म फल निमित्त बन जायेंगे। तो देखो ! जैसे प्रकृति जड़ है ऐसे ही जीवों के कर्म भी जड़ हैं, जड़ को जड़ क्या क्रियाशील करेंगे। पत्थर को पत्थर क्या क्रियाशील करेगा। कहीं-कहीं जड़ को जड़ क्रियाशील करता है जैसे मशीन को बिजली, और लोहे को चुम्बक। परन्तु वहाँ भी बिजली का स्विच जोड़ने वाला मनुष्य ही होता है। चुम्बक के साथ संयोग करने वाला भी मनुष्य ही होता है। इन जड़ों को क्रियाशील करने में भी चेतन मनुष्य की जरूरत होती है। इसी प्रकार प्रकृति को भी क्रियाशील होने के लिए चेतन ब्रह्म की जरूरत है। वह चेतन इसके सदा अग संग में रहता है। इसके सान्निध्य से सदा प्रकृति कार्योन्मुख प्रवृत्त रहती है।

ब्रह्म का महत्त्व

प्रश्न—आपने सब कुछ कर्म, धर्म, क्रिया, ज्ञान, सृजन, प्रलय आदि इस प्रकृति के ही विस्तार से वर्णन किये हैं, परन्तु ब्रह्म का तो कुछ भी नहीं किया, फिर ब्रह्म का क्या महत्त्व रहा ?

उत्तर—ब्रह्म का विशेष वर्णन तो तब होता जब वह भी प्रकृति की तरह परिणामों या विकार धर्मों वाला होता। इसके भी प्रकृति के समान अनन्त कार्य होते। इस में भी प्रकृति के ही समान विकार, क्षोभ, परिवर्तन, परिणाम होते, तब तो इसके भी गुणों के महत्त्व का प्रकृति से भी बढ़-चढ़ कर वर्णन करते, परन्तु जब वह कूटस्थ, निष्क्रिय, असंग, अपरिणामी, निर्विकार, निर्गुण है, क्या इसको आप थोड़ा महत्त्व समझते हैं, कि ऐसा होते हुए भी इसके निमित्त से प्रकृति सब कुछ करने में समर्थ हो जाती है। यह सब इसी की महिमा है, इसी का प्रताप है। इसके सब कार्यों के साथ सर्वत्र रहता है। यह आराध्य तो उस राजा के समान है, जो राजमहल में सुख आराम से बैठा है। परन्तु शत्रु के साथ सैनिक लड़ रहे हैं, मर रहे है, कष्ट उठा रहे हैं, दुःख भोग रहे हैं। परन्तु विजय पराजय राजा की मानी जाती है। राजा में इसका आरोप होता है, कि राजा की विजय हो गयी, या राजा हार गया। इसी प्रकार ब्रह्म को केवल निमित्त बना कर प्रकृति ही सब कुछ करती है। परन्तु आरोप ब्रह्म पर कर दिया जाता है। इस का यह बड़ा भारी महत्त्व है, कि असंग और निष्क्रिय होते हुए भी जड़ प्रकृति को चेतन की तरह चेतनवत् बना दिया, जिससे वह सब कुछ करने में समर्थ हो गयी, फिर इस को स्वयं कुछ करने की क्या जरूरत है। यदि इस का सान्निध्य न होता तो यह दृश्यमान संसार भी न होता। यह सब इसी ब्रह्म की महिमा और महत्त्व है।

धर्म मेघ समाधि के द्वारा सर्व वृत्ति निरोध करके ज्ञात ज्ञेय योगी को सर्व वन्दनीया भगवती मातृवत् उपकारिणी इस प्रकृति देवी के अन्दर इस ब्रह्म की उपासना और ज्ञान करना चाहिए। इस को इसका शरीर मानकर, अर्थात् इसमें इसका आरोप करके ब्रह्म की उपासना और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस भगवती के जिस भी देश में योगी का ध्यान जाये, वहाँ ही इस ब्रह्म की भी प्रतीति, अनुभूति हो। कोई भी ऐसा देश, कोई

भी ऐसा स्थान, कोई भी ऐसा पदार्थ देखने में न आवे जहाँ ब्रह्म न हो अर्थात् सर्व देशों में, सर्व पदार्थों में, सर्व लोकों में, सर्व कालों में, सर्व दिशाओं में ब्रह्म की अनुभूति हो, ब्रह्म का साक्षात्कार हो। इस ब्रह्म की महिमा उपनिषत् इस प्रकार वर्णन करती है। यथा—

'ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्व भूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥

श्वेताश्वतर० अ० ३। मं० ७॥

—इस प्रकृति से परे परब्रह्म है। जो अत्यन्त महान् है। जो सर्व भूतों और प्रकृति में सूक्ष्म होने से छिपा हुआ है। अकेले उस भगवान् ने ही सम्पूर्ण विश्व को अपने अन्दर लपेटा हुआ है। अपने अन्दर धारण किया हुआ है। उस सम्पूर्ण ऐश्वर्य और विश्व के मालिक भगवान् को जानकर सब मनुष्य और देव अमृत रूप हो जाते हैं। मोक्ष को प्राप्त कर आनन्त्य का उपभोग करते हैं।

निराकार ब्रह्म का दर्शन

प्रश्न—जब ब्रह्म निराकार है तो इसको बिना आकार के कैसे देखें?

उत्तर—चिन्ता, शोक, दुःख, हर्ष, सुख का क्या आकार है? तुम्हारे देखने में आता है? इनका आकार न होते हुए भी तुम्हें इनकी अनुभूति तो होती है। ये अन्दर प्रतीती का अनुभव का विषय तो बनते हैं, इसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी तुम्हारी, प्रतीति, अनुभूति, प्रत्यक्ष और साक्षात्कार का विषय बन सकता है। यदि उस को अपने अन्दर देखना चाहो तो अन्दर भी अनुभव का विषय बन सकता है; और कारण रूप प्रकृति के अन्दर देखना चाहो तो उसमें भी अनुभव का विषय बन सकता है। उसमें व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध से सर्वत्र व्यापक है। प्रकृति अनन्त है, जहाँ भी तुम्हारी दिव्य दृष्टि ध्यान की जायेगी वहां ही ब्रह्म भी दृष्टिगोचर होगा, क्योंकि ब्रह्म इस से भी महान् और अनन्त है। ब्रह्म प्रकृति की अपेक्षा अनन्त और सूक्ष्म है; तब ही इसका व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध बनता है। यथा सांख्यसूत्रम्—

'सर्वत्र कार्य दर्शनाद्विभुत्वम्।' अ० ६। सू० ३६॥

—सब जगह संसार में प्रकृति के कार्य देखने में आते हैं। सब लोकों में, सब दिशाओं में, सर्व कालों में इस के विकार देखने में आते हैं, इसलिए इसे विभु माना गया है।' परन्तु इस की यह विभुता सापेक्ष माननी चाहिये। वास्तव में निरपेक्ष विभुता तो ब्रह्म की ही है। इस प्रकृति को कार्यात्मक विकारवान् होने से भी इस की विभुता की, या मूल कारणत्व की हानि नहीं होती है। जैसे अनीश्वर-वादी परमाणुओं को नित्य और अविकारी मानते हैं, और फिर वे संघात को प्राप्त होकर सृष्टि की रचना करते हैं, उनकी मूल कारणता का विनाश नहीं होता है। इसी प्रकार इस की मूलकारणता का कभी भी विनाश नहीं होता है। इस में विभुता इसके कार्यों की अपेक्षा से है। न कि ब्रह्म की अपेक्षा से। ब्रह्म की विभुता निरपेक्ष है। इस विषय में उपनिषत् ब्रह्म की महत्ता और विभुता का वर्णन इस प्रकार करती है। यथा—

'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।'

कठ० अ० २। व० १ मं० ४॥

—सब से बड़े, सर्व व्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार करके विद्वान् धीर योगी सर्व प्रकार के चिन्ता, शोक, दुःख आदि से रहित हो जाता है।' जैसे अग्नि प्रत्येक पदार्थ के अन्दर ठहरी हुई है और उस पदार्थ का ही रूप बनी हुई है। इस प्रकार वह ब्रह्म भी सर्व पदार्थों में व्यापक भाव से रहकर उन्हीं पदार्थों का रूप बना हुआ है, इसी कारण उस की अनुभूति सर्व पदार्थों में होती है। उपनिषत् ने और भी कहा है। यथा—

'एकस्य हंसो भुवनस्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय ॥

—एक शुद्ध पवित्र ब्रह्म संसार के मध्य में ऐसे व्याप्त होकर ठहरा हुआ है, जैसे जल में अग्नि व्याप्त हो जाती है। इस व्याप्त ब्रह्म को योगी जानकर जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

योगी को चाहिए, कि कारण रूप प्रकृति को लक्ष्य बनाकर धर्म मेघ द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करे, क्योंकि पदार्थ सब से अन्तिम ब्रह्म के साक्षात्कार का है। इसमें निराकार होते हुए भी ब्रह्म साकार रूप में अनुभव होगा। यहाँ साकार से अभिप्राय यह नहीं है, कि वह वास्तव में आकार वाला है। यह तो केवल समझाने के लिए कल्पना के रूप में साकार शब्द का प्रयोग किया गया है। वरना हम ब्रह्म को आकार वाला नहीं मानते हैं; इसे हम निराकार सर्व प्रकार की प्रतिमाओं से रहित ही मानते हैं। तथा च मन्त्र :—

'नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः॥

श्वेताश्वर० अ० ४। मं० १६॥

—यह मन्त्र यजुर्वेद में भी आता है।

—वह ब्रह्म या ईश्वर, न तो ऊपर की दिशा में है, न नीचे की दिशा में, न मध्य में वर्त्तमान है। अर्थात् न अन्तरिक्ष में न भूमि के नीचे और न बीच में ही ठहरा हुआ है। न तस्य प्रतिमा अस्ति = उस ब्रह्म की कोई मूर्ति भी नहीं है। जिससे हम कहीं स्थान-विशेष में, या मूर्ति वशेष में उसकी आराधना करें। नीचे-ऊपर और मध्य में भी उसका निषेध किया है। परन्तु उस ब्रह्म का यश बहुत बड़ा भारी बताया है, क्योंकि वह सर्व-व्यापक, अनन्त और महान् है।'

यहां भेद होते हुए भी अभेद रूप से अनुभव होगा, क्योंकि वह इससे अलग होकर अनुभूति का हेतु नहीं हो सकता, और इससे अलग वह कभी होता भी नहीं है क्योंकि सर्व व्यापक है। अतः इसी में इसका अन्तिम साक्षात्कार होता है।

समष्टि कारण प्रकृति

द्वितीय रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि कारण प्रकृति का द्वितीय रूप)

२. समष्टि कारण प्रकृति के स्वरूप में—

प्रकृति के दो धर्म ज्ञान और क्रिया इससे कभी पृथक् नहीं होते हैं। अतः इनका धर्म धर्मी रूप से अभेद है। इसको स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं। ये दोनों धर्म इसी के

सर्व प्रथम परिणाम में प्रकट होते हैं । ये ही सूक्ष्म रूप से प्रलय काल में भी इसके अन्दर वर्त्तमान रहकर सामान्य रूप में सूक्ष्म क्रिया को करते रहते हैं । विशेष रूप से तो परिणाम काल में इनका प्रादुर्भाव होता है । इन गुणों को लेकर प्रकृति अपने कार्यों की रचना करती है । कार्य रचना में ये इसके सहायक होते हैं ।

प्रकृति की इन दोनों अवस्थाओं में—कारणरूप में और जब ये ज्ञान क्रिया इसमें प्रकट हों उस परिणाम अवस्था में ब्रह्म का और इन अवस्थाओं का विज्ञान करना चाहिए। ये ही अवस्थायें विज्ञान के लिए शेष रहती हैं । इनमें ब्रह्म की सूक्ष्म रूप से स्थिति का अनुभव करना चाहिए । यह भी प्रत्यक्ष करें कि ज्ञान और क्रिया किस प्रकार प्रारम्भ होती हैं, तथा प्रलय काल में वर्त्तमान रहती हैं ।

प्रश्न—यदि ज्ञान को भगवान् की देन मान लें, क्योंकि वह है ही ज्ञान-स्वरूप, और क्रिया धर्म प्रकृति का मान लें तब क्या आपत्ति है ?

उत्तर—भले ही आप अपने समझने के लिए ज्ञान को भगवान् की देन मान लें, परन्तु यह बिना विकार या परिणाम के ब्रह्म का हो तो कोई हानि नहीं है । परन्तु यह ज्ञान रूप शक्ति उत्पन्न प्रकृति में ही होती है । क्योंकि प्रकृति के इस ज्ञान गुण ने ही संसार के सब कार्य सिद्ध करने हैं । प्राणियों को भोग और मोक्ष प्रदान करना है । अतः ज्ञान और क्रिया दोनों ही प्रकृति के गुण विशेष हैं । ब्रह्म के नहीं । ब्रह्म के सन्निधान से प्रकृति में प्रकट हुए हैं । ये गुण इसके स्वाभाविक ही हैं । ब्रह्म में कोई गुण जाता आता नहीं है । हाँ इसके सम्बन्ध से प्रकृति में अनेक गुण उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि यह परिणामिनी है । विकार वाली है । कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य है ।

प्रकृति की साम्यावस्था का प्रत्यक्ष

(शंका) साम्यावस्था को हम कैसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं, प्रलय काल में जब इसकी साम्यावस्था आयेगी, तब तो हम होंगे ही नहीं ।

(समाधान) यह प्रकृति दो अवस्था में वर्त्तमान है ।

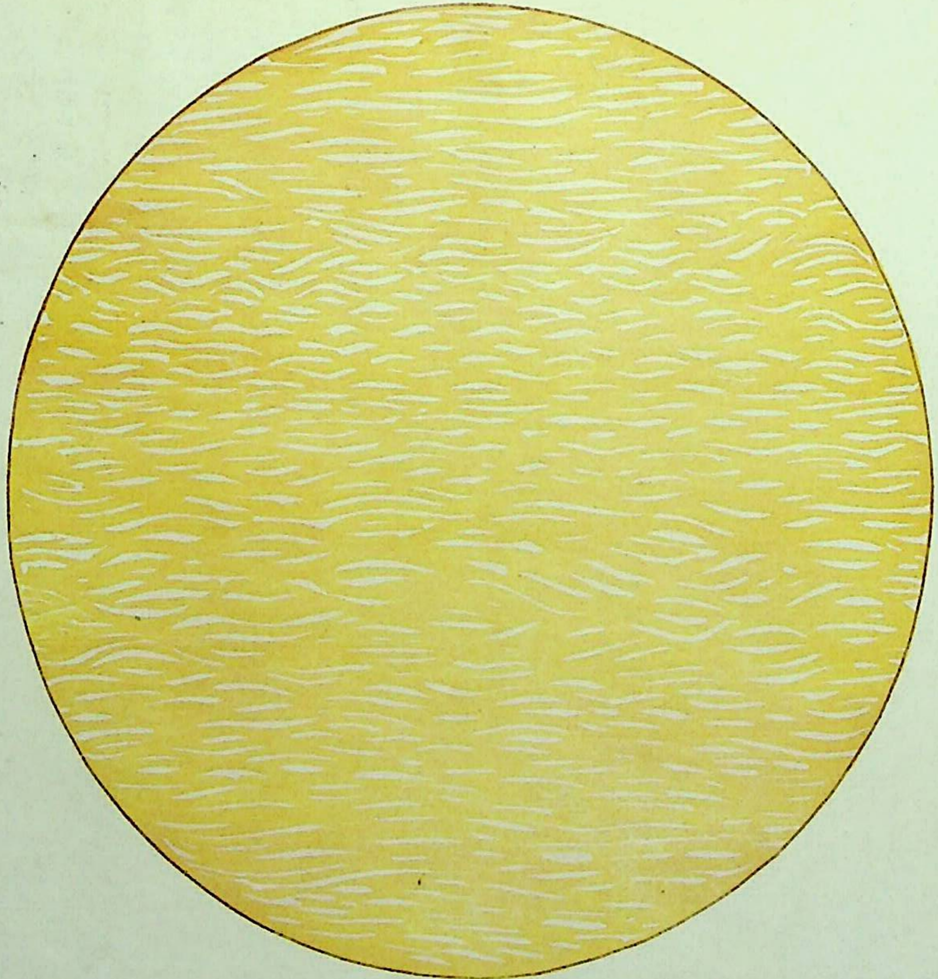
१. एक अवस्था कार्यों के रूपों में है, जो अनेक कार्य हैं, इन सब रूपों में ।

२. कारण रूप अवस्था है जो सदा रहती है ।

प्रलयकाल की अवस्था में तो केवल इसके कार्यों का ही तो अभाव होता है । कारण रूप वहाँ बना रहता है । वह कारण रूप अब भी है । आप कार्यों की ओर ध्यान न देकर, इनका अभाव समझकर केवल कारण अवस्था को ही देखें । यह कारण अवस्था प्रलय काल में और सृष्टि काल में एक समान ही रहती है । कार्यों के अभाव में इस अवस्था को साम्य अवस्था कह देते हैं । अतः आप इसकी वर्तमान कारण अवस्था को ही साक्षात् करें । यह प्रलय कालीन अवस्था के ही समान है । इसके कार्यों से ऊपर उठकर सूक्ष्म कारण अवस्था में पहुँचे, जहाँ केवल ब्रह्म से प्राप्त हुई सामान्य क्रिया ही इसमें देखने में आवेगी । उसको ही आप साम्य अवस्था समझ लेना । चित्र संख्या १७ में देखें ।

चित्र संख्या १७ के विवरण में प्रकृति की साम्य अवस्था को दिखाया गया है । इसमें ब्रह्म के सान्निध्य से या सन्निधान में सूक्ष्म रूप से प्रलय काल की साम्य अवस्था में भी सूक्ष्म सी क्रिया बनी

आगे पृष्ठ ४५१ पर



चित्र सं० १७

प्रश्न—जब साम्य अवस्था अब भी वर्त्तमान है तो सृष्टि और प्रलय में क्या अन्तर हुआ ?

उत्तर—अब कार्य रूपों वाली भी है, प्रलय काल में कार्यों का अभाव हो जाता है। आप इसको इस दृष्टान्त से समझें। एक माता है, वह अनेक बच्चों को जन्म देकर भी आप मौजूद बनी रहती है। बच्चे पैदा कर के अपने स्वरूप को तो नहीं खो देती या समाप्त कर देती है। माता अपने स्वरूप को न मिटाकर भी वर्त्तमान रहती है। जैसे बालक पैदा होने से पहले वर्त्तमान थी। बालक पैदा कर के भी वर्त्तमान रहती है। इसी प्रकार भगवती प्रकृति देवी अनन्त कार्यों को उत्पन्न करके भी अपने स्वरूप को नष्ट नहीं करती। अपने आप को नहीं मिटाती। अपने स्वरूप से वर्त्तमान रहती है। वही स्वरूप इसका कारण रूप या साम्यावस्था है। समाहित चित्त योगी को सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में इस कारण रूप सूक्ष्म साम्यावस्था में प्रवेश करके इसके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। इसकी सूक्ष्मता में ब्रह्म की सूक्ष्मता का भी प्रत्यक्ष करना चाहिए। पुनः यह भी प्रत्यक्ष करें कि यह सर्ववन्दनीय अन्तर्यामी भगवान् किस प्रकार इसकी सूक्ष्मता में अपनी सूक्ष्मता से घुल मिलकर कैसे इसे जीवन सा प्रदान कर रहा है। चेतना सी दे रहा है। बल्कि क्रियावती बना रहा है और ज्ञान रूप वाली अपनी सहचरी बना रहा है। बस यह है अन्तिम विज्ञान जो प्रकृति पुरुष विवेक कहलाता है। जहाँ पहुँचकर जन्म जन्मान्तरों का पुरुषार्थ सफल होता है। यहाँ पहुँचकर कृत कृत्यता प्राप्त होती है। मनुष्य जन्म की सफलता उपलब्ध होती है। जन्म जन्मान्तरों की भटकना, तृष्णा शान्त हो जाती है। मानव जीवन का यथार्थ उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। इनका साक्षात्कार हो जाने पर सब कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं। आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है। ब्रह्म ज्ञान की अभिलाषा पूर्ण हो जाती है। सर्व कामनायें कुण्ठित होकर अपने कारण में विलीन हो जाती हैं। आत्मा अनेक जन्मों के दुःखों और बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यथा—

"अथ मर्त्योऽमृतो भवो भवत्येतावद्ध्येवानुशासनम्।"

—अपने प्रिय शिष्य नचिकेता को उपदेश देते हुए आचार्य श्रीयम ने यह बचन कहे थे—'हे प्रिय ! सौम्य ! ब्रह्मचारिन्। ब्रह्म-विज्ञान हो जाने के पश्चात् अमृत रूप हो जाता है। मुक्त हो जाता है। इतनी ही हमारी शिक्षा है। इतना ही उपदेश है।'

यह आत्म-विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान ही इस मानव जीवन का उद्देशय है। इसीलिए यह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। इस मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। उपनिषत् ने कहा है—

रहती है। अत्यन्त मन्दतम सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम प्रकृति में कम्पन होते रहते हैं। ब्राह्मी चेतनसत्ता का नित्य व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध होने से। किञ्चित पर्ति से वरण में श्वेत कम्पन्न दिखाए गए हैं। इन श्वेत सूक्ष्म कम्पनों में मानो ब्रह्म का ही साक्षात रूप में प्रत्यक्ष हो रहा है। ब्रह्म की चेतन सत्ता की अनुभूति हो रही है। यहाँ पहुँचकर योगी की मंजिल समाप्त हो रही है प्रकृति पुरुष के साक्षात रूप में दर्शन होकर कृत कृत्यता और मानव जीवन की पूर्ण सफलता प्राप्त हो रही है। अपने मञ्जिले मकसूद पर योगी पहुँच गया है। सर्व दुखों और क्लेशों से मुक्त होकर मोक्ष में स्थिति हो गई है।

'इह चेदवेदीथाथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।०

केन० खं० २ । मं० ५ ॥

—यह मानव शरीर प्राप्त करके ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया तब तो बहुत श्रेष्ठ है। यदि नहीं किया तो महान् विनाश कर लिया। मानव जीवन को पशुतुल्य भोगात्मक व्यतीत करके इस लोक से गमन किया है। कितनी शर्म, लज्जा और खेद की बात है।'

३. सूक्ष्म रूप—इस प्रकृति के तीन ही रूप बनते हैं। सूक्ष्म रूप इसलिए नहीं कि इसका कोई और उपादन कारण नहीं। यह स्वयं ही अन्तिम मूल कारण है।

४. चतुर्थ अन्वय रूप—भी सिद्ध नहीं होता इसके ऊपर या और कोई उपादान कारण शेष नहीं रहा है। जिसके धर्मों का इसमें अनुपतन होता। अतः अर्थवत्ता का वर्णन करते हैं।

समष्टि कारण प्रकृति

पञ्चम रूप में ब्रह्म-विज्ञान

(समष्टि कारण प्रकृति का पञ्चम रूप)

५. समष्टि कारण प्रकृति के अर्थवत्त्व रूप में—

प्राणियों के भोग और अपवर्ग के लिए ही यह सृष्टि की रचना करती है। अपने कार्यों के द्वारा भोग और मोक्ष प्रदान करने के लिए, एवं जीवों के महान् उपकार के लिए प्रवृत्त होती है। यही इसकी विशेष अर्थवत्ता है।

योग भाष्यकार ने कारण रूप प्रकृति को अलिंग प्रकृति के रूप में वर्णन किया है। साधन पाद सूत्र २० पर 'विशेषोऽिण शेष' इत्यादि के भाष्य में लिखा है। 'अलिंग अवस्था में पुरुषार्थता हेतु नहीं है। अतः त्रिगुण में ही पुरुषार्थ हेतुता आती है। परन्तु सांख्य दर्शनकार ने अलिङ्ग प्रकृति को भी पुरुषार्थ हेतुता के रूप में स्वीकार किया है।

'ततः प्रकृतेः' । अ० १ । सू० ६५ ॥
'संहत परार्थत्वात्पुरुषस्य' । अ० १ । सू० ६६ ॥
'मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ।' अ० १ । सू० ६७ ॥

ये ६६वें सूत्र पर वृत्तिकार और भाष्यकार ने लिखा है—'अलिङ्ग प्रकृति अपने कार्यों के साथ मिलकर पुरुषार्थता की हेतु होती है।' अतः हमें भी यह सांख्य सिद्धान्त अभीष्ट है। क्योंकि कारण रूप प्रकृति अपने कार्यों के साथ अवश्य रहती है। जैसे स्वर्ण भूषणों में भी रहता है। इसी प्रकार कारण रूप प्रकृति अपने कार्यों के साथ भी रहकर पुरुषार्थ, परार्थ, अथवा अर्थवत्ता का हेतु होती है। हाँ! जब प्रलय काल की अवस्था होती है, तब तो स्थूल शरीर ही नहीं होते हैं। तब भोग और अपवर्ग किसने प्राप्त करना है। यदि भाष्यकार व्यास का भी केवल इतना ही प्रलय काल का ही अभिप्राय हो तब इसका कथन भी सत्य हो सकता है।

हरिप्रसाद वृत्तिकार का पाठ—'संहतपरार्थत्वात्'=परस्पर-मिलितानां प्रकृति तत्कार्याणां परार्थत्वात्। स्वेतर भोगापवर्ग प्रयोजन कत्वं परार्थत्वम्। तस्मात पर—प्रयोजनकत्वात् पुरुषस्य=प्रकृत्यादिभ्यः परस्य भोक्तुः पुरुषस्य इत्यादि।

विज्ञान भिक्षु भाष्यकार—'संहननमारंभक-संयोगः। स चावयवावयव्य भेदात् प्रकृति-कार्य-साधारणः तथा संहतानां प्रकृति तत्कार्याणामिति भाष्यम् । वास्तव में अर्थ-वत्ता प्रकृति में ही है । इसके कार्यों में तो होनी ही हुई । जो कारण में गुण होते हैं, वे कार्यों में भी होते हैं । यदि उपादन कारण में कोई गुण न हो तो कार्य में कहाँ से आयेगा । हम तो कारण का कार्य में साथ होना भी तो अनिवार्य समझते हैं ।

प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा और परमात्मा का विवेक हो जाने से पर भी मोक्ष के प्रति परम वैराग्य की आवश्यकता है । परम वैराग्य अनिवार्य तथा मुख्य हेतु है ।

मुक्ति के लिये परम वैराग्य

अनादि काल से प्रकृति और आत्मा का सम्वन्ध भोक्तृत्व रूप चला आ रहा है । प्रकृति और पुरुष विवेक हो जाने पर भी जो प्रकृति के भोग के रागात्मक संस्कार चले आ रहे हैं, अभी पूर्ण रूप से उनका क्षय नहीं हुआ है केवल यह ज्ञान हुआ है कि यह प्रकृति है, और यह मेरा स्वरूप है । वास्तव में इसको तुच्छ या हेय समझ कर इस से सदा के लिये उपराम होना, विरक्त होना या ब्रह्म के स्वरूप में स्थित होना ही इस से सदा के लिए सम्बन्ध तोड़ना है । उस अवस्था में इस प्रकार के व्युत्थान और निरोधात्मक संस्कारों का प्रवाह नहीं चलता है । अभी तो कभी व्युत्थानात्मक प्रकृति के राग के संस्कार उदय होना चाहते हैं, उनका निरोध करना होता है । यहाँ भोग देने-लेने की कोई बात नहीं, केवल मात्र चित्त के व्युत्थान और निरोध संस्कार की बात है । अतः अब अन्त में असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा इस प्रकार का अभ्यास करना है कि व्युत्थानात्मक संसकार कभी उत्पन्न न हों । अपने कारण में विलीन हो जायें । प्रकृति का मान भी सर्वथा जाता रहे । केवल नितान्त स्वरूप में स्थिति हो जाये अतः सर्ववृत्ति का अभाव करना है । योग सूत्रा । यथा

'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽन्य :' स पाद० सू० १८ ।।

—सर्ववृत्ति के प्रत्यय (ज्ञान) के लय होने पर केवल संस्कारों का निरोध चित्त की समाधि है वह असंप्रज्ञात समाधि है ।' इसका परम वैराग्य उपाय है । इसे इस प्रकार समझें ।

विराम-वितर्कादि समाधि में जो अनुभव किया था, उन सब वृत्तियों का जो अभाव वह है कारण जिसका—वह कारण है परम वैराग्य, इसका जो पुनः-पुनः अभ्यास इससे धर्म मेघ-समाधि होती है । जिसमें तम रज के मल और इनके विषय के त्याग से स्वरूप में या ब्रह्म के स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है । जोकि निरालम्ब होती है । केवल संस्कारमात्र ही शेष रहते हैं । आलम्बन रहित होने से, जिस से क्लेश कर्म का नाश होने से निर्बीज समाधि होती है । इसे ही नर्बीज असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । इसमें सर्व प्रकार की वृत्ति और सब संस्कारों का अभाव होकर स्वरूप में अथवा ब्रह्म में स्थिति होती है । अतः इससे सिद्ध होता है, परम वैराग्य ही अन्त में मोक्ष का हेतु होता है । इस विषय में उपनिषत् का कथन भी है । यथा—

(समाधान) इसके गमन का मार्ग हम ३३ पदार्थों में कर चुके हैं। ३२ कार्यात्मक पदार्थ और एक कारणात्मक प्रकृति, इनमें से होकर ही इसे जाना पड़ता है, अर्थात् ये ही ३३ लोक हैं जिनमें से होकर इस आत्मा को जाना पड़ता है। इन ३२ के पश्चात् एक ब्रह्म लोक ही अवशिष्ट रहता है। इस ब्रह्म लोक में आकर मुक्त आत्मायें वास करती हैं। ज्ञान द्वारा मोक्ष में गमन करने के ३३ लोक चित्र सं० १८ में देखें।

इन ३३ पदार्थों, इनके विज्ञान और इनमें ब्रह्म-विज्ञान का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। आत्म-विज्ञान का हमने 'आत्म-विज्ञान' ग्रंथ में विस्तार से वर्णन किया है। सामान्य रूप से इस ब्रह्म-विज्ञान ग्रन्थ में भी कर दिया है।

(शंका) आपने प्रकृति के कार्य, प्रकृति तथा ब्रह्म के साक्षात्कार के पश्चात् इनके विज्ञान की अपेक्षा परम वैराग्य को क्यों विशेष महत्त्व दिया है, जब कि सब विद्वान् इनके विज्ञान को ही मोक्ष कहते हैं?

(सामाधान) जिस प्रकार प्रकृति और इसके कार्यों का अनुराग बन्धन का हेतु बना रहा, इसी प्रकार ब्रह्म में अनुराग होने से ब्रह्म भी ब्रह्मलोक में बन्धन का हेतु बना रहेगा। अतः दोनों ही प्रकार के अनुराग इस परम वैराग्य द्वारा समाप्त कर के सब से मुक्त होना है। अब ब्रह्म का अनुराग भी बन्धन का हेतु अनुभव होता है। इस से भी मुक्त होना चाहते हैं। अतः परम वैराग्य ही मोक्ष का मुख्य साधन है।

इति समष्टि कारण प्रकृति मण्डलम्।

इति चतुर्थाध्याये सप्तमः खण्डः।

इति चरममावरणम्।

इति चतुर्थाध्यायः समाप्तः॥

चि० सं० १८—इस चित्र में ब्रह्म से लेकर पृथिवी महाभूत तक ३४ पदार्थों के रंग-रूप दिखाए गए हैं बाहर का सर्व प्रथम मण्डल श्वेत रंग का ब्रह्म का है और अन्त में सब के मध्य में पृथिवी का है इन सब के नाम चित्र नंबर एक के विवरण (पृष्ठ ४) में लिख दिये हैं वहाँ पर देखलें। वहाँ पर सब के अन्दर गर्भ में सूक्ष्मता के कारण ब्रह्म को दिखाया गया है। वहाँ सब से बाहर पृथिवी महाभूत फिर जल, अग्नि आदि के मण्डल क्रम पूर्वक दिए हैं प्रत्येक मण्डल का रंग उसके अनुरूप है। एक प्रकार ये मोक्ष में गमन करने के लोक हैं इन सब में से होकर ब्रह्म लोक में पहुँचता है।



चित्र सं० १८

ब्रह्म से समष्टि पृथिवी महाभूत पर्यन्त ३४ पदार्थों का स्वरूप

पञ्चम अध्याय

मोक्ष अथवा कैवल्य

मोक्ष और कैवल्य के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न विचार एवं मान्यतायें हैं। इस विषय में अनेक प्रकार वाद भी हैं। पर यह तो निर्विवाद है कि किसी ने भी मोक्ष का प्रत्यक्ष देखा समाचार इस लोक में आकर नहीं बयाया है। परोक्ष का विषय होने से अनुमान के आधार पर भिन्न-भिन्न कल्पनायें ही की गयी हैं।

प्राचीनकाल के महापुरुष अपने ग्रंथों में इस विषय में बहुत कुछ लिख गये हैं, और वर्तमान के भी लिख रहे हैं, कुछ प्राचीनों के आधार पर कुछ अपने अनुभव के आधार पर भविष्य में भी लिखते रहेंगे।

वर्तमान के प्रत्यक्ष भौतिक विज्ञानवादी चेतन आत्मा के होने से ही नकार कर रहे हैं, क्योंकि इन के सूक्ष्म या दूर किसी भी वीक्षण यन्त्र से आत्मा और परमात्मा प्रत्यक्ष देखने में नहीं आ रहे हैं। फिर इनके लिए तो मोक्ष या कैवल्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। अनात्म वाद के विषय में बौद्धों के भी बहुत ग्रन्थ मिलते हैं। आत्मा के विषय में एकत्ववाद और नानात्ववाद के विषय में भी बहुत से ग्रन्थ हैं। जिन से मोक्ष के विषय में साधारण पुरुष की बुद्धि भ्रान्त सी हो जाती है। वे नहीं समझ पाते कि कौन-सा सिद्धान्त यथार्थ है और किस को वे स्वीकार करें।

हमारे भूमण्डल पर अनेक प्रकार के सम्प्रदाय हैं। प्रायः देखने में यही आता है कि जिस सम्प्रदाय के परिवार में मनुष्य का जन्म होती है, उस को उसी के आधार पर शिक्षा दीक्षा प्राप्त होती है। माता-पिता, इष्ट मित्रों और समाज के विचार और संस्कार भी उसी प्रकार के मिलते हैं। वह भी उन्हीं को ठीक समझने लगता है। धारणा भी उस की वैसी ही बन जाती है। बुद्धि और कर्त्तव्य भी उसी के अनुसार निर्धारित हो जाते हैं।

बहुत कम व्यक्ति सब सम्प्रदायों में ऐसे निकलते हैं, जो स्वतन्त्र बुद्धि से सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए दूसरे सम्प्रदायों के विचार या ग्रन्थों का अध्ययन करते हों। उनके साथ अपने विचारों और सिद्धान्तों का सन्तुलन करके यथार्थ निर्णय पर पहुँचते हों। प्रायः सब ही रूढ़ीवाद को ही अपनाये रहते हैं।

प्रायः सब ही सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने विचारों और सिद्धान्तों पर मोहर लगाकर घोषणा कर दी है, कि जो कुछ हमने समझा और लिखा है वह ही यथार्थ है। दूसरों के लिए उस से भिन्न सोचने, समझने, विचारने, या निर्णय करने के लिए अवसर ही नहीं छोड़ा है।

विज्ञान अनन्त है; परन्तु मानव ने अभिमान में आकर इसको एक छोटी-सी एक देशी बुद्धि में बन्द करने का महान् प्रयत्न किया है। मानो असीम समुद्र को एक क्षुद्र से लोटे में बन्द कर दिया है। परन्तु ऐसे प्रयास निष्फल से ही सिद्ध हुए हैं।

संसार अनन्त है। उसके बनाने वाला भी अनन्त ही होना चाहिये। जानने वाला ज्ञाता एक देशी है। उसका ५-६ फुट का एक शरीर है। उसमें भी एक बहुत छोटी

सी बुद्धि है। उसके द्वारा उस अनन्त ब्रह्माण्ड का और उसके कर्त्ता का विज्ञान का अन्त या थाह लेना चाहता है। यह इसकी अज्ञता ही कहलायेगी, भूल ही कहलायेगी। इस विज्ञान के एक देश की बात करते तब तो ठीक भी होता, यथार्थ निर्णय भी माना जाता।

अब तक हमने कारण कार्यात्मक समस्त संसार और उसके कर्ता ब्रह्म का वर्णन किया है। प्रकृति और ब्रह्म-विज्ञान के पश्चात् मुक्ति विषयक प्रश्न रह जाता है, कि किस प्रकार की वह मुक्ति है जिसे निकट भविष्य में प्राप्त करना है, जिसकी प्राप्ति के लिए इस जन्म या अनेक जन्मों से महान् प्रयास किया था।

अब तक हम मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग या कैवल्य का एक ही अर्थ करते आये हैं, परन्तु अब कुछ आचार्यों की मान्यता के आधार पर इसके दो विभाग कर उल्लेख करते हैं: १. मोक्ष २. कैवल्य।

आचार्यों की मान्यतायें

मोक्ष का स्वरूप—मोक्ष के मानने वाले आचार्यगण ब्रह्म लोक में सूक्ष्म शरीर, सांकल्पिक शरीर, या कारण शरीर का होना मानते हैं। इन शरीरों के विषय में भी भिन्न-भिन्न मान्यतायें हैं। इनके द्वारा ब्रह्मानन्द का उपभोग मुक्त आत्मायें करती हैं। इनमें कुछ आचार्य ब्रह्मानन्द के साथ दिव्य सूक्ष्मविषयों का भोग भी मानते हैं। भोक्ता जीवात्मा को मानते हैं, जो स्थूल शरीर को त्याग कर आत्म संज्ञा या मुक्तात्मा संज्ञा को प्राप्त हो गया है।

मोक्ष की अवधि—कुछ आचार्य तो मानते हैं कि आत्मा की मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है। परन्तु अधिकतर आचार्य मोक्ष से पुनरागमन नहीं मानते हैं। उनके मत में वे आत्मायें सदा के लिए मुक्त हो जाती हैं। जब इन से यह प्रश्न किया जाता है, कि मुक्त होते-होते सब आत्मायें मोक्ष में पहुँच जायेगी तब तो इस संसार का ही उच्छेद हो जायेगा। इस संसार में जब भोग और अपवर्ग प्राप्त करने वाला नहीं रहेगा तब तो इस संसार का भी प्रयोजन न रहेगा। तब इनका समाधान होता है, कि जीव अनन्त हैं। उनकी समाप्ति नहीं हो सकती। संसार इसी तरह चलता रहेगा।

मोक्ष का स्थान ब्रह्म लोक को मानते हैं। ब्रह्म लोक के विषय में भी विभिन्न मान्यतायें हैं :—

एक मान्यता है कि प्रकृति के मण्डल को उल्लंघन करके जहाँ केवल ब्रह्म का ही मण्डल शेष है, उसका नाम ब्रह्म लोक है। इसमें मुक्त आत्मायें रहकर ब्रह्म के आनन्द का भोग करती हैं।

२. मान्यता है कि ब्रह्म सर्वत्र है। इस का लोक विशेष मानने से यह एक देशी हो जायेगा, अतः ब्रह्म-लोक किसी देश विशेष का नाम नहीं है।

३. मान्यता है कि ब्रह्म के जिस देश विशेष में सूक्ष्म दिव्य पंच तन्मात्राओं या सूक्ष्म भूतों का भोग हो वह सूक्ष्म दिव्य देश ही ब्रह्म लोक है। जहाँ दिव्य भोगों का उपभोग भी प्राप्त होता है, और ब्रह्मानन्द भी भोगने को मिलता है। वह स्थान इन स्थूल भूतों के प्रदेश से अलग है। दूर है। भिन्न है। केवल सूक्ष्म सृष्टि का ही वहाँ आवास है। वहाँ सूक्ष्म शरीराभिमानी ही निवास करते हैं। इस का नाम ब्रह्म लोक है। इसका दूसरा पारिभाषिक शब्द स्वर्ग को बताते हैं।

इसके विषय में भी दो प्रकार की मान्यतायें हैं। एक तो इस स्वर्ग लोक या ब्रह्म लोक से पुनरागमन मानते हैं। दूसरे पुनरागमन नहीं मानते हैं।

ब्रह्म लोक में चार प्रकार की मुक्ति

यथा—

'मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम्।
सैव सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य मुक्तिरिष्यते ।। २३ ।।
गुरुपदिष्ट मार्गेण ध्यायन्मद्गुणम व्ययम् ।
मत्सायुज्यं द्विजः समयग्भजेन्द्भ्रमर कीटवत् ।। २४ ।।
सैव सायुज्य मुक्तिः स्याद्ब्रह्मानन्द करीशिवा।
चतुर्विधातु या मुक्तिर्मदुपासन या भवेत् ।। २५ ।।

मुक्तिको० ग्र० १ ।।

१. **सालोक्य**—सर्वात्मक भगवान् में पवित्र भावना से भगवान् को समीप समझकर, या उसके अत्यन्त निकटवर्ती होकर भगवान् की पूजा, ध्यान या समाधि में दर्शन करना, यही सालोक्य मुक्ति है।

२. **सारूप्य** -भगवान् के समान रूप या भगवान् के रूप के तुल्य हो जाना सारूप्य मुक्ति है।

३. **सामीप्य**—भगवान् के अत्यन्त निकट में वास करना, ठहर जाना इसे सामीप्य मुक्ति कहते हैं।

४. **सायुज्य**—गुरु के उपदिष्ट द्वारा, भगवान् के गुणों का ध्यान करते हुए भगवान् के साथ मिल जाना, जुड़ जाना, समाधिस्थ हो जाना सायुज्य मुक्ति है।

यह सायुज्य मुक्ति ही ब्रह्मानन्द को देने वाली और कल्याणकारिणी है। ये चारों प्रकार की मुक्ति भगवान् की उपासना से ही प्राप्त होती है। आप इसे इस प्रकार समझ लें। १. सालोक्य—भगवान् के लोक ब्रह्मलोक में वास करना, दिव्य शरीर के द्वारा उसके आनन्द का उपभोग करना। २. सारूप्य—भगवान् के समान गुण वाला हो जाना। जैसे ब्रह्म सत् चित् आनन्द रूप है वैसे ही मैं भी हूँ। सामीप्य—अपने को हर समय भगवान् के समीप में समझना। यह भावना दृढ़ हो जानी कि भगवान् हर समय मेरे पास हैं। कभी दूर ही नहीं होते हैं। सदा भगवान् की समीपता का अनुभव करना। सायुज्य—भगवान् के साथ मिल जाना, संयुक्त हो जाना, इसके संयोग को अनुभव करना। दिव्य शरीर द्वारा इन मुक्तियों के आनन्द का उपभोग होता है।

जीवन मुक्त होने पर, स्थूल शरीर के रहते भी इन मुक्तियों का आनन्द भोगा जाता है। जब तक तत्त्वज्ञानी की इच्छा हो।

सालोक्य—ब्रह्म को सर्वत्र व्यापक समझे, और सब ओर से विरक्त होकर यह भावना करे कि मैं ब्रह्म के लोक में ही स्थित हूँ। कोई ऐसा देश और स्थान नहीं है जहाँ ब्रह्म न हो। मेरे अन्दर बाहर सब जगह ब्रह्म वर्तमान है। सब जगह भगवान् का ही लोक है। सर्वत्र ब्रह्म की ही भावना हो। सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति हो। प्रत्येक कण-कण में और बड़े से बड़े पदार्थ में भी ब्रह्म की अनुभूति हो। सर्वत्र सर्व देशों में सर्व लोकों में ब्रह्म का अनुभव हो। समस्त ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का लोक समझें। जड़ चेतन सब में ब्रह्म की भावना करें।

सारूप्य—जैसे भगवान् चेतन है, सत् है, आनन्द रूप है, वैसे ही मैं भी सत् चित् आनन्द रूप हूँ। समान रूप से मित्र की भावना करे। जैसे ब्रह्म शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, वैसे ही मेरा आत्मा भी शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। इस प्रकार सारूप्य की भावना करे। जैसे ब्रह्म सर्व बन्धनों से मुक्त है वैसे ही मैं भी सर्व बन्धनों से मुक्त हो चुका हूँ। अब मेरा प्रकृति से सर्वथा विच्छेद हो चुका है। अब मैं अपने आप को ब्रह्म के समान रूप वाला अनुभव कर रहा हूँ। सत् चित् आनन्द के रूप में मुझे समानता प्राप्त हो गयी है। इस प्रकार की भावना अहर् निश, चलते फिरते, उठते बैठते, सोते जागते, व्यवहार करते हुए सच् चित् आनन्द रूपता की भावना बनी रहे। यही ईश्वर की सारूप्य भक्ति है।

सामीप्य—अज्ञान वश या भ्रम वश अब तक मैं ब्रह्म को बहुत दूर समझता रहा हूँ। अब मैंने ब्रह्म के स्वरूप को समझ लिया है। देख लिया है। अतः अब मैं भगवान् को अपने इतना समीप समझ रहा हूँ कि इतना समीप और कोई पदार्थ नहीं है। मेरे और ब्रह्म के बीच कोई पदार्थ बाधा करने वाला या ओझल करने वाला नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म की समीपता, वर्तमानता और निकिटता का अनुभव होते रहना चाहिये। अपने और ब्रह्म के बीच कभी भी भूलकर भी किसी प्रकार के अन्तराय की प्रतीति न हो। जब भी जिधर भी दृष्टि जाये, सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति हो। प्रत्येक काल में प्रत्येक देश में, प्रत्येक अवस्था में अपने साथ में अंग संग में ब्रह्म की प्रतीति हो, अनुभूति हो, यही है वास्तव में ब्रह्म का सामीप्य भाव।

सायुज्य—भगवान् के साथ मिलना। जब इच्छा हो उसी क्षण भगवान् में समाधिस्थ हो जाना। भगवान् के ध्यान में, भगवान् विषयक समाधि में जब चाहे लग जाना। स्थिर हो जाना। उसमें अपने को विलीन-सा कर देना। अपने को खो सा देना। अपने को विस्मृत कर देना ध्येयाकार हो जाना। यह है भगवान् के साथ सायुज्य। भजन द्वारा, कीर्तन द्वारा, जाप द्वारा, आराधना द्वारा, प्रार्थना द्वारा, उपासना द्वारा, भक्ति द्वारा, निष्ठा द्वारा, प्रेम द्वारा, ध्यान समाधि द्वारा, भगवान् में मिल जाना। अपने आप को भूलकर भगवान् में खो जाना तदाकार हो जाना। ब्रह्माकार सा हो जाना ब्रह्म का सायुज्य है।

४. मान्यता है—भगवान् समय-समय पर अपने अंश से मनुष्य के कल्याण के लिए अवतार लेता है। उसका शरीर मनुष्यों का सा ही होता है। जैसे—विष्णु भगवान्, शंकर भगवान्, ब्रह्मा जी, भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, नरसिंह भगवान्, नारद इत्यादि रूप में। कुछ काल जन कल्याण करके फिर अपने लोक को चले जाते हैं। इन की पूजा, उपासना, भक्ति करने वाले भक्तजन इनके दिव्य शरीरों को इनके लोक में अब भी विद्यमान मानते हैं। भक्ति के प्रभाव से वरदान देने के लिए दिव्य शरीर में या कभी-कभी स्थूल शरीर धारण करके इस मर्त्यलोक में भी आ जाते हैं। इनके लोकों में इन की पूजा दिव्य उपकरणों से मुक्त आत्मायें करती हैं। इनके अनन्य भक्तों का निवास दिव्य शरीरों से इनके लोक में इनके समीप में ही होता है।

५. मान्यता—भोक्तृत्व जीवात्मा का स्वाभाविक ही धर्म है, इसकी चेतनता का भोक्तृत्व रूप में ही परिणाम होता है। यह भोक्तृत्व रूप मोक्ष में भी साथ रहता

है। इस धर्म के द्वारा वैकुण्ठ में (ब्रह्म लोक में) आनन्द का भोग करता हैं। शुद्ध सात्विक दिव्य शरीर के द्वारा ही वैकुण्ठ में आनन्द का भोग आत्मा करता है। ये जीवात्मा का परिणाम होना मानते हैं।

६. **मान्यता**—मोक्ष में जीवात्मा की अपनी शक्तियाँ होती हैं इनके द्वारा दिव्य विषयों और ब्रह्म के आनन्द का उपभोग करता है। भोग करने के लिए सांकल्पिक शरीर का स्वयं ही निर्माण कर लेता है। मोक्ष की अवधि तक सुख और ब्रह्मानन्द का उपभोग कर लौट आता है। ये जीवात्मा की मोक्ष से पुनरावृत्ति मानते हैं।

इत्यादि मोक्ष के विपय में अनेक सिद्धान्त हैं।

कैवल्य का स्वरूप

कैवल्य का स्वरूप—कैवल्य के मानने वाले आचार्य मोक्ष में किसी भी शरीर का होना नहीं मानते हैं। सूक्ष्म, कारण, दिव्य अथवा सांकल्पिक ये सब प्रकृति के ही कार्य होते हैं। ये ही वन्ध का हेतु भी होते हैं। यदि ये इस प्रकार के शरीर मोक्ष में बने रहे तो बन्धन से तो छुटकारा नहीं हुआ। बन्ध चाहे कारण का हो या कार्य का हो, स्थूल शरीर का हो चाहे सूक्ष्म शरीर का, है तो वन्ध ही। अतः माया या प्रकृति के सब प्रकार के सम्बन्धों के ही विच्छेद को कैवल्य मानते हैं। इनके कई प्रकार के सिद्धान्त हैं।

प्रथम सिद्धान्त—आत्मा और मन के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। मोक्ष में मन के सम्बन्ध का अभाव होता है, ज्ञान आत्मा का गुण है, स्वरूप नहीं। गुण अनित्य होता है, क्योंकि उत्पन्न होता है। मन का विच्छेद ही आत्मा की कैवल्य अवस्था है। इच्छा द्वेष सुख-दुःख आदि से ही इसकी स्थूल शरीर में पहिचान होती है। ये गुण मन के कारण से उत्पन्न होते हैं। मोक्ष में मन का अभाव है, अतः वहाँ यह नहीं रहते। ब्रह्मानन्द आदि का भोग वहाँ नहीं होता है क्योंकि करण का अभाव है। इन्होंने आत्मा को न ज्ञान-स्वरूप ही माना है और न जड़ ही। केवल ज्ञान की उत्पत्ति मन इन्द्रियों के संयोग से मानी है। अतः मोक्ष में केवल आत्मा ही होता है।

द्वितीय सिद्धान्त—ब्रह्म विवर्त भाव को प्राप्त होकर जीव संज्ञा को प्राप्त होता है। यही जीव क्रमिक मुक्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त करके ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है। मेक्ष में यह केवली भाव रूप में होता है। वहाँ इसके साथ माया या इससे बने किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। ब्रह्म रूप होकर अपने सत् चित् आनन्द रूप में स्थित होता है। अतः जीव का ब्रह्म-भाव को प्राप्त होना ही कैवल्य है।

तृतीय सिद्धान्त—जीवात्मा सदा से ही शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव है। परन्तु चित्त के सम्बन्ध से इसमें स्वस्वामि-भाव सम्बन्ध होकर अभिमान हो जाता है। तत्त्व ज्ञान के द्वारा इसका अहंभाव निवृत्त होकर, या अज्ञानता दूर होकर कैवल्य-भाव प्राप्त हो जाता है। इस कैवल्य में इसके साथ कोई शरीर या करण नहीं होता है। अतः ईश्वर के आनन्द की भी प्राप्ति नहीं होती है। ईश्वर के समान यह भी मुक्त होता है। इसका संसार में पुनरागमन नहीं होता है।

हमारी मान्यता

चतुर्थ सिद्धान्त—अनादि काल से जीवात्मा का सम्बन्ध प्रकृति के साथ भोग और मोक्ष के रूप में चला आता है। कभी यह इससे बद्ध भी हो जाता है, और कभी इससे मुक्त भी हो जाता है। यद्यपि यह शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है। फिर भी एक देशी होने से परिणामिनी प्रकृति के चक्कर में आ जाता है। फिर यह इससे विज्ञान वैराग्य द्वारा छूटने का प्रयत्न करता है। एक जन्म या अनेक जन्मों के ज्ञान वैराग्य के विशेष अभ्यास से यह मुक्त हो जाता है। परन्तु इसने मुक्ति प्राप्त की है। अतः पुनरपि इसके बद्ध होने की सम्भावना हो सकती है। अतः इसकी मुक्ति अनित्य हो जाती है। भले ही यह शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है। परन्तु यह अपने को बद्ध मान बैठता है। जैसे मणि के सन्निधान में पुष्प हो तो मणि पुष्प के रंग वाली सी भासमान होने लगती है। इस प्रकार यह निर्विकार होते हुए भी चित्त के सन्निधान से अपने को संस्कारों से बद्ध समझने लगता है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए यह यत्न करता है। अभ्यास ज्ञान वैराग्य द्वारा यह इस भ्रान्ति को दूर करके मुक्त हो जाता है। मोक्ष काल में अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। एक मन्वन्तर के पश्चात् इसे फिर लौटना पड़ता है। उस कैवल्य भाव को त्याग कर पुनः संसार में आना पड़ता है, क्योंकि गया तो यहां से ही था। अतः अपनी मंजिल को पूरा करके, मोक्ष में निवास करके पुनः इसे वापिस आना पड़ता है।

कैवल्य में ब्रह्मानन्द का अभाव

(शंका) आप की मान्यता में इस अवस्था में आत्मा को कुछ आनन्द का अनुभव भी होता है या कुछ भी नहीं?

(समाधान) इसका प्रकृति के साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने से, किसी भी प्रकार का शरीर इसके साथ नहीं होता है। न अन्तःकरण ही होता है। फिर बिना करण के आनन्द आदि का भोग कैसे कर सकता है। जैसे कर्ता को कार्य करने के लिए करण की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार भोक्ता को भी भोगने के लिए करण की आवश्यकता होती है। इसी के द्वारा सुख या आनन्द का भोग हो सकता है। अतः करण का अभाव होने से प्रकृति के सुख का और ब्रह्म के आनन्द के उपभोग का सर्वथा अभाव होता है।

प्रश्न—आपके सिद्धान्त में मोक्ष अच्छा है या कैवल्य। आप अपने लिए किस को पसन्द करेंगे?

उत्तर—मैं तो मोक्ष की अपेक्षा कैवल्य को ही पसन्द करूँगा।

प्रश्न—आप किस प्रकार का कैवल्य चाहते हैं?

उत्तर—जिसमें किसी भी प्रकार का बन्धन न हो।

प्रश्न—क्या आप मोक्ष में ब्रह्मानन्द को भी बन्धन समझते हैं?

उत्तर—मोक्ष में भी यदि उस आनन्द की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास करना पड़े तो वह भी तो बन्धन ही होगा। जब हमारी इच्छा आनन्द भोगने की हुई तब आनन्द प्राप्त हो गया, जब इच्छा न हुई तो आनन्द से वञ्चित हो गये। इच्छा आदि के लिए कोई करण होना चाहिए। हम आत्मा में इच्छा मानते ही नहीं हैं, ये इच्छा

आदि धर्म बुद्धि या चित्त के हैं। मोक्ष में इनका अभाव होता है। फिर आनन्द का भोग किस के द्वारा करेंगे ?

(शंका) आत्मा में तो बहुत शक्तियाँ होती हैं, उनके द्वारा वह ब्रह्मानन्द का भोग कर लेगा।

(समाधान) यदि ये शक्तियाँ आत्मा में धर्म धर्मी के रूप में वर्त्तमान है, तो आत्मा भी परिणामी हो जायेगा, जैसे चित्त, क्योंकि एक शक्ति के पश्चात् दूसरी शक्ति का प्रादुर्भाव होना है। एक भोग के पश्चात् दूसरी वस्तु का भोग होना है। अतः इस क्रम से एक शक्ति के पश्चात् दूसरी शक्ति उत्पन्न होगी। आत्मा बुद्धि की तरह परिणामी हो जायेगा।

(शंका) जब आप मोक्ष में ब्रह्म प्राप्ति और उसके आनन्द की उपलब्धि भी नहीं मानते हैं, तो आपको कैवल्य से क्या लाभ ?

(समाधान) करोड़ों, अरबों, खरबों वर्ष तक दुःख से छुटकारा हो जायेगा प्रतिदिन के क्लेश दुःख और जन्म-मरण के बन्धन से छूट जायेंगे।

(शंका) जब मुक्ति से पुनः लौट आना है, तो ऐसी अनित्य मुक्ति के लिए घोर प्रयत्न बेकार है।

(समाधान) आप एक बार रोटी खाकर पेट भरने पर छोड़ देते हैं, फिर दूसरी बार क्यों खाते हैं। एक बार से ही सदा के लिए तृप्ति हो जानी चाहिए। थोड़ी देर की तृप्ति के लिए आप पुनः-पुनः प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी मुक्ति के लिए पुनः-पुनः प्रयत्न करता है।

(शंका) जब एक बार मुक्त हो गया तो फ़िर आने की क्या जरूरत है ? सदा के लिए मोक्ष हो जाना चाहिए।

(समाधान) प्राप्त की हुई, उत्पन्न हुई या उपार्जन की हुई वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती। जब मुक्ति को बड़े प्रयत्न से प्राप्त किया है, तो उत्पन्न होने वाली वस्तु का भी कभी नाश तो होना ही हुआ। अतः मुक्ति उत्पन्न होकर सदा के लिए नित्य नहीं हो सकती है।

(शंका) आप भी तो आत्मा को मुक्त कहते हैं।

(समाधान) आत्मा मुक्त है, पर मुक्त होते हुए भी प्रकृति के सम्पर्क से इसमें रागाभिमान सा समझा जाने लगता है। चित्त के सम्पर्क से कुसुम और मणि के समान इसमें यह रागाभिमान सा माना जाने लगता है। जैसे मणि के पास पुष्प रखने से मणि रंगीन सी प्रतीत होने लगती है, वैसे मणि में रंग न चढ़ता है, न लगता है। केवल आभास मात्र प्रतीत होता है। वह वास्तव में न मणि का है, न मणि में है। वह फूल का ही है, पर प्रतीति उस कांचमणि में होती है। इसी प्रकार विकार भोग आदि धर्म बुद्धि के ही होते हैं, परन्तु आरोप आत्मा में कर दिया जाता है। आत्मा के सान्निध्य से चित्त में ही भोगात्मक कर्म होते हैं, अतः वह चित्त का ही हुआ न कि आत्मा का। केवल चित्त के सन्निधान मात्र से आत्मा का बन्ध माना जाता है। इससे अलग हो जाने पर मोक्ष माना जाता है। यह सान्निध्य रूप सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। कभी इससे प्रयत्न

विशेष छूट भी जाता है और फिर बन्ध भी हो जाता है। यह इन दोनों का अनादि काल से इस प्रकार का सम्बन्ध चला आ रहा है और चलता ही रहेगा। यह अनादि सान्त नहीं है, अनादि नित्य है।

मुक्ति की अनित्यता

(शंका) चित्त जीव का सम्बन्ध जब अनादि नित्य है तो फिर छूट क्यों जाता है ?

(समाधान) जैसे रात के पश्चात् दिन और दिन के पश्चात्, रात आती है, इसी प्रकार मोक्ष के पश्चात् और बन्ध के पश्चात् बन्ध मोक्ष सदा चलते ही रहेंगे। यह आवागमन सदा बना रहेगा। अतः इसको हम नित्य कहेंगे।

(शंका) अन्य शास्त्रकार प्रकृति या माया को अनादि सान्त होने से आत्मा के साथ सम्बन्ध को भी अनादि सान्त ही मानते हैं। अतः आत्मा के लिए माया सान्त हो गई है फिर मुक्ति से क्यों लौटेगा ?

(समाधान) यह बात यथार्थ प्रतीत नहीं होती है कि जिसका कभी प्रारम्भ तो हुआ नहीं है, अर्थात् कभी उत्पन्न तो हुई नहीं है और सदा से वर्त्तमान है, और उसका अन्त हो जायेगा। जो कभी पैदा नहीं हुई उसका अन्त भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो अब तक नित्य बनी आ रही है, वह आगे भी नित्य ही रहेगी। केवल कुछ काल के लिए आत्मा का सम्बन्ध छूटा है। सम्बन्ध छूटने से तो वह अनित्य नहीं हो सकती। जब सम्बन्ध छूटना मानते हैं, तो वह सम्बन्ध फिर भी तो कभी हो सकता है। इस प्रकार जब आत्मा का सम्बन्ध नित्य चला आ रहा है और अब मुक्त होने पर सम्बन्ध छूटना है, तो क्या इसको भी आत्मा का मरण या अन्त मान लें। क्योंकि यह भी सदा से चला आ रहा है। तब तो यह मुक्ति न हुई किन्तु आत्मा में सान्त धर्म आया है। आप पदार्थ को या माया को अनादि सान्त न मानकर अनादि नित्य मान लें, और इन दोनों के सम्बन्ध को अनित्य मान लें, तब कोई भी आपत्ति उपस्थित न होगी। पदार्थ दोनों नित्य बने रहेंगे, और सम्बन्ध अनित्य हो जायेगा। अनित्य सम्बन्ध होने से बन्ध और मोक्ष भी अनित्य हो जायेंगे। जैसे क्षुधा अनित्य है, भूख लगती है, खाने से तृप्ति हो जाती है, पुनः लगती है, फिर खाने से तृप्ति हो जाती है। इसी प्रकार मुक्ति उत्पन्न होती है, और फिर समाप्त हो जाती है। खाने वाला रोज वर्त्तमान रहता है, परन्तु भूख और तृप्ति बदलती रहती है। इसी प्रकार आत्मा रहता है। बन्ध और मोक्ष बदलते रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा मुक्त तो है ही, परन्तु एक देशी होने से संयोग बनता रहता है। संयोग अनित्य है, परन्तु प्रकृति और आत्मा नित्य हैं। संयोग से ही बन्ध का आरोप कर दिया जाता है। संयोग के अभाव में मुक्त समझा जाता है।

मोक्ष का स्वरूप

(शंका) जब आप कैवल्य अवस्था में किसी प्रकार का भोग या सम्बन्ध नहीं मानते हैं, तब तो ब्रह्म लोक में जाने की जरूरत नहीं।

(समाधान) हमारे लिए तो सर्वत्र ही ब्रह्म लोक है क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र वर्त्तमान है। किसी लोक-विशेष—स्वर्ग लोक या ब्रह्म लोक में इस लिए नहीं जाना है

जाने की आवश्यकता भी नहीं है। केवल प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने की जरूरत है वही हमारे लिए मोक्ष है।

(शंका) तब ब्रह्म की प्राप्ति का क्या अभिप्राय रहा, उसके विज्ञान से क्या प्राप्त हुआ ?

(समाधान) ब्रह्म-विज्ञान का यही अभिप्राय है, कि ब्रह्म के सम्बन्ध से प्रकृति कार्य भाव या विकार भाव को प्राप्त हुई और उसने अपने अनेक कार्यों को उत्पन्न कर दिया। इन कार्य और कारण के साथ हमारा भोग और अपवर्ग का सम्बन्ध है। इनके दुःख का हेतु होने से ऐसा ही अनुभव होने से इनका विज्ञान करके इनसे वैराग्य प्राप्त करना था। अतः स्थूल कार्य से लेकर सूक्ष्म कारण तक के पदार्थों का विज्ञान प्राप्त करना था। इन सबके साथ ही ब्रह्म का भी व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध था, इनके प्रति यह निमित्त कारण भी था, अतः इसका विज्ञान करना भी आवश्यक था। केवल उपादान कारण का विज्ञान हो और उसके निमित्त कारण का विज्ञान न हो तो वह विज्ञान भी अधूरा ही समझा जाएगा इसलिए इनके साथ ब्रह्म-विज्ञान आवश्यक था।

(शंका) तो महाराज ब्रह्मविज्ञान मोक्ष का कारण हुआ या प्रकृति और उसके कार्यों का विज्ञान ?

(समाधान) प्रकृति ही हमारे बन्ध का कारण थी, अतः प्रकृति का विज्ञान और उससे वैराग्य ही मोक्ष का कारण हुआ। ब्रह्म तो कोई हमारे बन्ध का हेतु नहीं था, जो इसके विज्ञान को मोक्ष समझें। ब्रह्म-विज्ञान तो ऐसा है, जैसे कोई पथिक ग्राम को जा रहा हो, उसका लक्ष्य भी ग्राम ही हो, वहाँ ही उसने पहुंचना हो। मार्ग में अनेक बाग बगीचे आवें, उनको भी देखता है, धूप और हवा का भी अनुभव करता है। इसी प्रकार हमारा लक्ष्य था, प्रकृति और इसके कार्यों को जानकर, देख समझकर, प्रत्यक्ष अनुभव करके कि वास्तव में यह हमारे दुःख और बन्धन का हेतु हैं। अब इनके बीच में इनसे सूक्ष्म ब्रह्म भी साथ साथ में देख लिया, समझ लिया, जान लिया। इसका यह तो अभिप्राय नहीं कि ब्रह्म ज्ञान हमारे मोक्ष का हेतु हो गया। यह तो मोक्ष का हेतु तब होता जब हमारे बन्ध का भी यही हेतु होता। बन्ध का हेतु तो थी प्रकृति, अतः मुक्त भी उसी से होना हुआ। ब्रह्म न बन्ध का हेतु है, न मोक्ष का ही हेतु है।

(शंका) आप ब्रह्म के प्रति कृतघ्न बनते जा रहे हैं, उसने आप पर अनेक उपकार किये है; सृष्टि का निर्माण ही महान् उपकार है। ऐसा नहीं होना चाहिये।

(समाधान) यह ठीक है कि ब्रह्म के सम्बन्ध से सृष्टि का निर्माण होकर आत्मा का बहुत उपकार हुआ है। वह आत्मा के भोग और अपवर्ग का निमित्त कारण बना है। परन्तु यह भी तो कह सकते हैं कि आत्मा के बन्ध का कारण यह बना है। यदि इसका सहयोग प्रकृति को न मिलता तो यह संसार सृजन में उपादान कारण भी नहीं बनती, और यह संसार ही न होता। अनादि काल से जीवों के भोग और अपवर्ग का क्रम चला आ रहा है, अतः संसार के सृजन की आवश्यकता थी, परन्तु आत्मा तो इन दोनों के उपकार रूप बन्धनों से मुक्त होना चाहता है। इन दोनों का संयोग राग युक्त ही हो सकता है। राग ही बन्धन का हेतु है चाहे वह प्रकृति में हो या ईश्वर में। ब्रह्म में अनुराग भी ध्यान, उपासना, भक्ति, समाधि में प्रवृत्त करेगा, यह प्रवृत्ति ही बन्ध का

हेतु बन जायेगी। अतः दोनों का सम्बन्ध ही बन्ध को सिद्ध करता है, और आतमा की स्वतन्त्रता में बाधक होता है। यदि मोक्ष में भी आत्मा का अनुराग आत्मक आनन्द माना जाये, तो उस आनन्द के उपभोग के लिये भी तो कोई द्वार या साधन होना चाहिये, जो सूक्ष्म शरीर, दिव्य शरीर या चित्त आदि ही हो सकते हैं, इनके द्वारा ही आत्मा ब्रह्मानन्द को भोग सकता है। सूक्ष्म आदि शरीर होने से प्रकृति का सम्बन्ध पूर्ववत् ही बना रहा। प्रकृति के सम्बन्ध का तो मोक्ष में सर्वथा अभाव ही होना चाहिए।

(शंका) वेद, शास्त्र, उपनिषत्, स्मृति, पुराण सब कह रहे हैं, कि ब्रह्म-ज्ञान से मोक्ष होता है, और आनन्द की उपलब्धि और सब दुःखों का अभाव हो जाता है?

(समाधान) प्रकृति और इसके कार्यों के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध है, इनका विज्ञान करने में साथ-साथ ब्रह्म का भी विज्ञान हो जाता है। यहाँ ब्रह्म विज्ञान तो मुख्य रूप से मोक्ष का हेतु न हुआ। मोक्ष का हेतु तो प्रकृति हुई जिसके साथ आत्मा का भोग और अपवर्ग आत्मक सम्बन्ध है। जब प्रकृति के साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद मानते हैं, और इसी से बन्ध भी हुआ था। सम्बन्ध न रहने से मोक्ष में आनन्द किस के द्वारा भोगेगा?

मोक्ष में आनन्द का अभाव

(शंका) क्या बिना करण या शरीर के आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है?

(समाधान) हमारा विचार है कि आनन्द की उत्पत्ति संयोग से होती है। संयोग के होने में भी कोई निमित्त होना चाहिये। वह निमित्त मोक्ष में होता ही नहीं, क्योंकि करण का अभाव है। तब आनन्द की उपलब्धि कैसे होगी। मोक्ष का अर्थ है छूट जाना। आत्मा बन्ध से छूटा है। मोक्ष का अर्थ आनन्द तो नहीं है। मोक्ष की अवस्था में आनन्द प्राप्त नहीं होता है जिन आचार्यों ने मोक्ष में आनन्द की उपलब्धि मानी है वे दिव्य या सूक्ष्म शरीर भी मोक्ष में मानते हैं। वह दिव्य शरीर भी प्रकृति के कार्य से बनता है। अतः प्रकृति से छुटकारा तो न हुआ। इस प्रकार का मोक्ष तो एक प्रकार का बन्ध ही होगा।

(शंका) मोक्ष में करण के बिना भी आनन्द की प्राप्ति हो सकती हैं, जैसे बिना करण के प्रकृति में ब्रह्म के द्वारा क्रिया हो जाती है इसी प्रकार संयोग से मोक्ष में आनन्द भी प्राप्त हो जाएगा!

(समाधान) यदि ऐसा मानें तब तो यहाँ भी बिना अन्तःकरण के सुख या आनन्द की उपलब्धि होनी चाहिये, वह नो होती नहीं, तब मोक्ष में बिना करण के आनन्द कैसे भोगा जा सकता है। प्रकृति में तो सन्निधान से ज्ञान क्रिया होती हैं। यह ज्ञान क्रिया भी परार्थ पुरुष के लिये होती हैं। ब्रह्म के सान्निध्य से इसमें आनन्द का उपभोग नहीं होता है। केवल गति प्रारंभ होती है। अतः केवल ब्रह्म के सन्निधान मात्र से आत्मा में आनन्द का उपभोग नहीं हो सकता है। यदि बिना करण के आनन्द प्राप्त हो जाये तब इस लोक में भी बिना अन्तः करण के भोग या आनन्द प्राप्त होना चाहिये। इन करणों की आवश्यकता ही न रहे। परन्तु इनके बिना आनन्द प्राप्त होता नहीं है फिर मोक्ष में कैसे होगा।

वेद, शास्त्र, उपनिषद् भी मोक्ष प्राप्ति में सहायक हैं, इनके द्वारा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है और विशेष ज्ञान समाधि द्वारा प्राप्त होता है। यदि मुक्त आत्मा

मोक्ष में जाने से पूर्व इस प्रकार की भावना कर लेता है कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, न दिव्य भोग न ब्रह्मानन्द ही, मेरे लिये तो दोनों बन्धन का हेतु होंगे। तो क्या उसके ऊपर ब्रह्म जबरदस्ती आनन्द को ठूंस देगा, क्योंकि जो ब्रह्म को प्राप्त हो गया है, वह मुक्त आत्मा को भी प्राप्त हो गया है। यदि ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द रूप है तो मुक्त आत्मा भी सत् चित् आनन्द रूप हो गया है। यदि कहो कि ब्रह्म का आनन्द अनन्त और असीम है, तो ब्रह्म है भी अनन्त ही, अनन्त के पास अनन्त आनन्द होना चाहिये। उसके कार्य इतने अनन्त हैं; संसार में अनन्त प्राणी हैं, उनके लिये भी तो उसे आवश्यकता है। मुक्त आत्मा अणु है तो इसका आनन्द भी तो अणु ही चाहिये। उसमें और अधिक आनन्द की गुन्जाइश भी नहीं है या स्थान ही नहीं है। संसार में जितना बड़ा धनी होता है, उसके खर्च भी तो उतने ही बड़े होते है। थोड़े धन वाले धनी के खर्च भी थोड़े ही होंगे। अतः मुक्त आत्मा के तो मोक्ष में सर्व कर्तव्य कर्म, और प्राप्ति आदि सब ही समाप्त हो गये हैं। जब उसका अपना स्वरूप ही आनन्द युक्त हो गया है तो और अधिक आनन्द लेकर क्या करेगा। फिर तो वह आनन्द भी अनित्य हो जायेगा जो उसको ब्रह्म से प्राप्त होना है। मुक्त आत्मा के लिए हम तो और आनन्द की आवश्यकता नहीं समझते हैं; इस लोक में जब योगी समाधि में ब्रह्म के साथ सम्बन्ध जोड़ता है तो उस काल में भी तो आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। यदि मोक्ष में भी इसी प्रकार आनन्द मान लें तो इस लोक और ब्रह्म लोक में क्या विशेषता होगी। तब तो इसी लोक में रहना अच्छा होगा। पर यह आनन्द भी हर समय नहीं रहता है। समाधि काल में ही अनुभूति होती है। हर समय तो कोई समाधि लगाये नहीं बैठा रहेगा। स्थूल शरीर के रहते व्युत्थान भी होगा। व्युत्थान में आनन्द का अभाव होगा। मोक्ष काल में भी दिव्य शरीर द्वारा ही आनन्द का उपभोग प्राप्त होगा। परन्तु मोक्ष में भी २४ घण्टे, या बारह मास या सदा ही तो दिव्य शरीर या चित्त उसके साथ जुड़ा नहीं रहेगा। समाधिस्थ तो नहीं बना रहेगा। एक देशी होने से उसमें भी व्युत्थान होगा। हर समय सम्बन्ध बनाये रहने से तो थक भी जायेगा। अलग होने से फिर आनन्द का अभाव हो जायेगा। इस प्रकार तो हमें इस लोक और ब्रह्म लोक में कोई अन्तर प्रतीत नहीं हुआ। अतः इसकी अपेक्षा कैवल्य भाव मानना ही श्रेयस्कर होगा।

मोक्ष में सूक्ष्म शरीर का अभाव

(शंका) मोक्ष की अवस्था में सूक्ष्म, दिव्य, या साङ्कल्पित शरीर न मानने से आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे शून्य या जड़वत् बने रहने की स्थिति वाले कैवल्य की कौन बुद्धिमान् कामना करेगा ?

(समाधान) आप सूक्ष्म, दिव्य, या साङ्कल्पिक शरीर को आनन्द की प्राप्ति के लिये मोक्ष में मानते हैं। मोक्ष में इनको मानने से अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो जायेंगी। ये शरीर प्रकृति और माया से ही बने होंगे। इनका उपादान माया या प्रकृति ही हो सकती है। इससे भिन्न और तो कोई उपादान है नहीं। जब प्रकृति प्रलय भाव को प्राप्त हो जायेगी, तब इनको अपने कारण में अवश्य ही जाना पड़ेगा। अतः मुक्त आत्मा के सम्बन्ध का विच्छेद हो जायेगा। ऐसी स्थिति में मुक्त आत्मा को अकेला रहना पड़ेगा। इसी को कैवल्य कहेंगे। यदि आप कहें कि वे शरीर मोक्ष में जाकर सत्त्व प्रधान होने से

नित्य हो जायेंगे। यह भी असंभव है, जो पदार्थ उत्पन्न हुआ है वह सदा के लिये कैसे नित्य हो जायेगा। अतः एक दिन उसका भी अवश्य विनाश होना है। तब आत्मा या तो मोक्ष में अकेला रह जायेगा। अथवा उसे मोक्ष से लौटकर पुनः मर्त्य लोक में आना पड़ेगा। प्रलय काल में सूक्ष्म शरीर प्रलय में चला जायेगा। मुक्त आत्मा का आनन्द भी समाप्त हो जायेगा।

कैवल्य में जो आपने कहा वह शून्य और जड़वत् हो जाएगा, शून्य का अर्थ यदि आप अभाव का लेते हैं; तो हम तो आत्मा को नित्य मानते हैं। अतः कभी भी अभाव नहीं हो सकता है। जड़वत् इसलिए नहीं होता कि वह चेतन है। उसको चेतनता किसी के सम्बन्ध से प्राप्त नहीं हुई है। आत्मा नित्य चेतन है। चेतनना का तीनों कालों में भी अभाव नहीं होता है। यदि शून्य का अर्थ यह किया जाये कि जो दूसरे पदार्थों के संयोग से सुख, दुःखादि वृत्तियाँ पैदा होतीं थीं, उनका अभाव होने से शून्यता आयी है, तो इस प्रकार की शून्यता हमें स्वीकार है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह अपने चेतनत्व से रहित हो गया है, केवल सुख आनन्द आदि का ही अभाव हुआ है। वास्तव में ये सुख और आनन्द भी चित्त के ही धर्म हैं। चित्त का सम्बन्ध छूट जाने से इनका अभाव ही होगा। अतः मोक्ष की अपेक्षा कैवल्य में रहना यथार्थ होगा।

जीवात्मा में ब्रह्म व्यापक नहीं

(शंका) प्रकृति के मण्डल को उल्लंघन करके जहाँ केवल ब्रह्म का ही मण्डल होता है। इसको हम ब्रह्म मण्डल और मुक्त आत्माओं का निवास स्थान मानते हैं। क्या इसको आप भी स्वीकार करेंगे?

(समाधान) ब्रह्म में जो सर्व व्यापक धर्म माना गया है, जिसको आप भी अवश्य मानते हैं, यह सर्व व्यापक रूप धर्म भी ब्रह्म का समाप्त हो जाता है। इस धर्म को प्रकृति में ही व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध से स्वीकार किया गया है इसलिए ऐसा नहीं हो सकता है कि जहाँ प्रकृति न हो और अकेला ब्रह्म रहता हो। वहाँ व्यापक धर्म खतम हो जायेगा। अथवा अन्य पदार्थ को भी वहाँ मानना पड़ेगा।

यदि आप कहें कि मोक्ष में वहाँ मुक्त आत्माओं में व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध बना रहेगा। फिर तो आत्माओं के विषय में भी शंका हो जाती है, कि क्या इसके भी टुकड़े, अंश, अथवा देश मानते हैं कि आत्मा के देश को ब्रह्म ने व्याप्त किया है। प्रकृति तो परिणामिनी है, इसके तो हिस्से या भागों में व्यापकता बन जायेगी। परन्तु आत्मा के तो विभाग नहीं हो सकते हैं कि जिसके देश को उल्लंघन करते हुए ब्रह्म उसे व्याप्त कर लेगा।

(शंका) ब्रह्म की अपेक्षा आत्मा में कुछ स्थूलता है?

(समाधान) स्थूलता मानें तो इसको भी परिणामी मानना पड़ेगा।

(शंका) क्या आप आत्मा और ब्रह्म की चेतनता में अन्तर मानते हैं?

(समाधान) 'हाँ ! ब्रह्म की चेतनता सूक्ष्म है, आत्मा की चेतनता स्थूल है।'

तब आत्मा को परिणामी मानना पड़ेगा। क्योंकि स्थूल चेतना को सूक्ष्म चेतना ने व्याप्त किया है। अतः आत्मा भी प्रकृति की तरह विकारी हो जायेगा। आत्मा

और ब्रह्म की चेतनता में अन्तर न मानने से दोनों नित्य और अविकारी ठहरते हैं। जैसी चेतनता ब्रह्म की सूक्ष्म है इसी प्रकार आत्मा की चेतनता भी सूक्ष्म है। दोनों की चेतनता को बराबर सूक्ष्म मानने से कोई भी आपत्ति उत्पन्न नहीं होती है।

(शंका) ब्रह्म की चेतनता अनन्त और महान् है, क्या आत्मा उसमें छिद्र करके ठहरेगा ?

(समाधान) इसका समाधान यही है कि ब्रह्म में छिद्र तो तब होता जब वह विजातीय द्रव्य होता। वह तो आत्मा के समान आत्मा का सजातीय चेतन द्रव्य है, अतः दोनों में सूक्ष्मता धर्म समान है। यह एक चेतन जाति वालों का मेल है। अतः आत्मा और ब्रह्म का व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है। व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध विजातीय और विकारवान् पदार्थ के साथ मानना यथार्थ होगा। कुछ आचार्य आत्मा में ब्रह्म की व्यापकता मानते हैं। हमारे विचार में अनुभव के आधार पर आत्मा में व्याप्य धर्म सिद्ध नहीं होता है। तब इसको स्थूल और परिवर्तन शील मानना पड़ेगा। यदि ब्रह्म इसको व्याप्त कर लेता है, तब स्थूल और सूक्ष्म चेतन नहीं हो सकते हैं। चेतनता दोनों की समान ही माननी पड़ेगी, और सूक्ष्मता भी समान ही माननी पड़ेगी। जहाँ ब्रह्म की चेतनता की सूक्ष्मता जाकर समाप्त होती है, वहाँ उस रूप में आत्मा की सूक्ष्मता स्वतः और स्वाभाविक ही वर्त्तमान है। आत्मा की चेतनता को स्थूल मानने से यह परिणामी हो जायेगा। ब्रह्म की महानता और अनन्तता की सूक्ष्मता का जहां अन्त होता है, उसी प्रकार की सूक्ष्मता आत्मा में भी वहाँ है। अतः ब्रह्म में और आत्मा में व्याप्य व्यापक भाव नहीं बनता है। केवल प्रकृति में ही व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध बनता है। इसी के हेतु सर्व व्यापक में सर्व शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि प्रकृति स्थूल और सूक्ष्म भाव को प्राप्त होती है इसलिये इसमें व्याप्य धर्म आया है।

आत्मा कभी भी स्थूल-सूक्ष्म भाव को प्राप्त नहीं होता है। सदा एक रूप में एक स्थिति में कूटस्थ होकर रहता है। इसके बीच में बिलकुल भी स्थान नहीं है जिसको ब्रह्म व्याप्त कर सके। ब्रह्म और आत्मा में केवल मात्र इतना ही अन्तर है कि ब्रह्म महान् है और आत्मा अणु-सूक्ष्म—जिसका कोई विभाग या अंश न हो सके, जिसमें कोई भी प्रवेश न कर सके। जिससे और कोई सूक्ष्म भी न हो सके। हाँ बराबर की सूक्ष्मता हो सकती है। ब्रह्म की सूक्ष्मता इस के बराबर है। अतः आत्मा और ब्रह्म का व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध नहीं बन सकता है। यदि आत्मा में ब्रह्म को व्यापक मानते हैं, तो आत्मा में छिद्र हो जाता है। छिद्र होने से विकारी हो जायेगा। यदि ब्रह्म में इसको मानते हैं; अर्थात् ब्रह्म की सर्व व्यापकता में जीवात्मा की स्थिति मानते हैं, तो ब्रह्म में भी छिद्र हो जायेगा। अतः दोनों की सूक्ष्मता समान मानने में दोनों ही निर्विकार सिद्ध हो जाते हैं। सूक्ष्मता और चेतनता में हम दोनों को समान ही मानते हैं।

आत्मा और प्रकृति की सूक्ष्मता में अन्तर

प्रश्न—प्रकृति की अपेक्षा आत्मा की सूक्ष्मता न्यूनाधिक रूप में है या समान रूप में ?

उत्तर—जब प्रकृति में ब्रह्म को व्यापक माना है, वह सूक्ष्मता के ही नाते माना है। ब्रह्म की और आत्मा की सूक्ष्मता की हमने एक ही समान स्थिति सिद्ध की है,

अतः आत्मा की सूक्ष्मता प्रकृति से सूक्ष्म ही माननी पड़ेगी। सांख्यशास्त्र ने आत्मा और प्रकृति की सूक्ष्मता समान ही मानी है। यथा—

'प्रकृति पुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्।' सां० अ० ५ म। सू० ७२॥

'न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः।' सा० अ० ५। सू० ६३॥

—इन दोनों सूत्रों में दोनों को नित्य माना है। दूसरे सूत्र में 'भोगिन' का अर्थ है आत्मा, 'च' का अर्थ है प्रकृति और 'भागलाभ' का अर्थ है सावयव। 'न' का अर्थ है निषेध। इसका भावार्थ यह हुआ कि आत्मा और प्रकृति—मूल कारण प्रकृति ये दोनों निरवयव हैं।

अब इस सूत्र पर शंका होती है कि जब प्रकृति निरवयव है, तो विकार किस में होता है। निरवयव पदार्थ तो विकारवान नहीं होना चाहिये। वास्तव में न्याय वैशेषिक शास्त्र परमाणुओं की इतनी सूक्ष्म अवस्था मानते हैं; कि उनका फिर कोई और विभाग नहीं होता है। इनके परमाणु हैं भी नित्य। इनकी कारण रूप स्थिति में विभक्त होने की नितान्त संभावना नहीं है। ये संयोग भाव को प्राप्त होकर सृष्टि की रचना करते हैं। स्वरूप से विकारी नहीं होते हैं। परन्तु संघात को प्राप्त होकर सृष्टि की रचना करते हैं—कार्य के आरम्भक हो जाते हैं। यह विभक्त हुई पञ्च भूतों की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था परमाणुओं के रूप में सृष्टि का मूल कारण मानते हैं। आकाश को अलग सूक्ष्म और विभ मान कर इसमें इनकी स्थिनि मानते हैं।

सांख्य शास्त्रकार परमाणु से अलग तो प्रकृति को नहीं मानते हैं किन्तु जैसे इन अखण्ड परमाणुओं को इकट्ठा सा कर दिया जाये। वृत्तिकार और भाष्यकार इसी प्रकार की निरवयव प्रकृति की कारण अवस्था को मानते हैं। परन्तु इस निरवयव को परिणामिनी मानते हैं। इन्होंने सर्वव्यापक विभु का तो कथन नहीं किया है। किन्तु आत्मा और प्रकृति को नित्य और निरवयव माना है। निरवयव मानने से व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध भी नहीं बनता है। अतः इन्होंने इसके दो धर्म माने हैं। कारण रूप को नित्य और कार्य रूप को अनित्य। अब न्याय वैशेषिक के परमाणु संघात को प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु सांख्य वृत्तिकार और भाष्यकार की विभु और नित्य प्रकृति किस प्रकार कारण रूप में रहकर खण्ड खण्ड भाव को या कार्य भाव को प्राप्त होती है, यह एक विवादास्पद विचारणीय विषय है। इस पर शंका हो सकती है आप प्रकृति के दो गुण कैसे मानते हैं। विकारवान् और निर्विकारवान्, इस प्रकार के विरुद्ध धर्मों का समावेश 'वदतो व्याघात दोष' को उत्पन्न करता है। जब हम भगवान् को सगुण और निर्गुण मानते हैं; तब भी विरुद्ध धर्मों का समावेश हो जाता है। जो युक्ति संगत नहीं है, और प्रमाण विरुद्ध भी है। इसलिये ब्रह्म को निर्गुण ही सिद्ध करना पड़ता है। प्रकृति में भी दो विरुद्ध धर्मों का समावेश कर के सांख्य वृत्तिकार ने चक्र में डाल दिया है। अब इसका समाधान कैसे किया जाये। हमारी समझ में तो यह ही आया है, कि आत्मा और ब्रह्म की अपेक्षा इस प्रकृति को कुछ स्थूल माना जाये और निरवयव न मानकर सावयव माना जाये तब ही परिणाम रूप धर्म सिद्ध होगा। अन्यथा निरवयव, नित्य और विभु होने से परिणाम धर्म सिद्ध नहीं होगा। ब्रह्म भी नित्य, निरवयव, और विभु है, उसमें परिणाम धर्म का अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा। यह चेतन परिणामी

हो जायेगा। प्रकृति जड़ परिणामी हो जायेगी। यदि न्याय वैशेषिक के समान परमाणु रूप मान लेते तो संभव था कोई दोष उपस्थित न होता। अब तो वृत्तिकार ने नित्य भी माना है और निरवयव भी माना है। सूक्ष्म तथा विभु भी माना है। अध्याय १। सू० १०९ में—'सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः' में आत्मा और प्रकृति दोनों को सूक्ष्म मान कर, इन दोनों की प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अनुपलब्धि मानी है। अतः जड़, निरवयव, विभु और सूक्ष्म भी है, ये सब धर्म परिणामी पदार्थ में नहीं घट सकते हैं। यह कोई बुद्धिमत्ता का अर्थ, विचार, या सिद्धान्त नहीं है। इससे तो संसार की उत्पत्ति का सर्वथा अभाव सिद्ध हो जायेगा।

विवर्तवादियों ने भी ब्रह्म को चेतन मान कर निरवयव, सूक्ष्म, और सर्वव्यापक मानकर विवर्त सिद्ध किया है। जो शंकायें इस प्रकृतिवाद पर सांख्य-वृत्तिकार पर उपस्थित होती हैं; वे ही विवर्तवाद पर भी उपस्थित होती हैं। इन्होंने जड़ को परिणाम-माना है। और उन्होंने एक प्रकार से चेतन का विवर्त मान लिया है। विवर्त भी तो एक प्रकार का परिणाम ही है। वे भी चेतन ब्रह्म का स्वरूप से विवर्त नहीं मानते, ये भी जड़ रूप का स्वरूप से परिणाम नहीं मानते। तब दोनों पर एक समान ही दोष उपस्थित होता है। वैसे ये दोनों ही खैंचातानी करके इस दोष के निवारण के लिये समाधान भले ही करते हैं, परन्तु हमारे जैसे व्यक्तियों को यह समाधान ठीक प्रतीत नहीं होता है। परिणाम वाला, पदार्थ भी तो नित्य हो सकता है। जब हम कारण का अभाव नहीं मानते हैं। आप इसे दृष्टान्त से समझें। पहला दृष्टान्त—जैसे गेहूँ हैं। इनकी रोटी बनाकर खायी, शरीर में जाकर यह मल बन गयी। फिर ये खाद के रूप में तय्यार हुई, उसे गेहूँ के बूटे में जा डाला, वहाँ यह परिणाम भाव को प्राप्त होकर गेहूँ में ही जा पहुँचा, गेहूँ का परिणत हुआ भाग भोजन बना, खाद बना, फिर गेहूँ के रूप में आ उपस्थित हुआ। दूसरा दृष्टान्त—गेहूँ बोया गया, वह अंकुर बना, उससे बूटा बन गया। पकने पर उसमें गेहूँ निकल आये यहाँ कारण कार्य भाव को प्राप्त होकर भी नष्ट नहीं हुआ, पुनः परिणत होता हुआ कारण रूप में आ गया। अब यहाँ आप कारण की नित्यता कहेंगे या परिणाम की नित्यता कहेंगे अथवा कार्य की नित्यता कहेंगे। नित्यता तो यहाँ वर्तमान है, परन्तु किसकी है। यह प्रश्न भी विचारणीय है। इसी ने सबको चक्र में डाला है।

आरम्भवाद का सिद्धान्त है, कि गेहूँ के दाने के नष्ट हो जाने से अंकुर से बूटा बना, और अंकुर नष्ट हो जाने के पश्चात् गेहूँ उत्पन्न हुआ। ये कारण के सर्वथा नष्ट होने पर कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु योग सांख्याकार कारण का सर्वथा विनाश नहीं मानते हैं कारण रूप पदार्थ का अवस्थान्तर परिणाम मानते हैं। जैसे गेहूँ परिवर्तन होते हुए फिर गेहूँ रूप में आ गया। इस प्रकार कारण परिवर्तन होकर कार्य के रूप में आ गया, कार्य जब विनाशभाव को, भाव को, या परिणाम को प्राप्त होता है तो वह पुनः कारण की अवस्था में पहुँच जाता है। यही बात प्रकृति पर लागू होती है। एक अवस्था कारण रूप है। दूसरी अवस्था परिणाम रूप है। तीसरी अवस्था कार्य रूप है। यहाँ कारण रूप द्रव्य की नित्यता का अभाव परिणाम काल में भी नहीं माना है। और कारण की नित्यता का अभाव कार्य की अवस्था में भी नहीं माना है। वह

कारण रूप पदार्थ परिणाम की अवस्था में भी वर्त्तमान था, और कार्य की अवस्था में भी वर्त्तमान रहा। एक ही पदार्थ तीन अवस्था वाला बना है। उसने अपने स्वरूप को खोया नहीं। वास्तविक स्वरूप उसका वर्तमान ही रहा। इसलिये योग सांख्या ने उस कारण रूप अवस्था को नित्य कहा है। परिणाम अवस्था और कार्य अवस्था को अनित्य कहा है। इस कारण अवस्था को नित्य मान कर इसका विनाश नहीं माना है। इसको सूक्ष्म भी माना है, परन्तु आत्मा और ब्रह्म के समान सूक्ष्म नहीं। नित्य भी माना है।

अब शंका यह होती है, कि शेष जो दो अवस्थायें हैं, परिणाम और कार्य, क्या ये इस कारण से भिन्न हैं। देखने में कार्य भिन्न ही प्रतीत होता है। परन्तु ये इसको सूक्ष्म रूप अवस्था कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कारण के साथ कार्य का सूक्ष्म सम्बन्ध है, कार्य में सूक्ष्म रूप से कारण भी है। भेद नहीं है। क्योंकि कारण रूप पदार्थ ही परिणत होकर कार्य में आया है, तब भेद कैसे हो सकता है। अब ये कारण रूप अवस्था को नित्य कहते हैं। क्योंकि यह दोनों अवस्थाओं में—परिणाम अवस्था और कार्य अवस्था में भी साथ ही रही है। अब शंका होती है, पदार्थ को नित्य माने या अवस्था को। पदार्थ को ही नित्य माना गया है, अवस्थाओं का परिणाम है, पदार्थ तो पदार्थत्वेन नित्य है। वास्तव में पदार्थ और अवस्थाओं का यह भेद नहीं मानते हैं, अभेद ही मानते हैं।

विवर्तवादियों ने जब देखा कि इन सांख्यवादियों की जड़ प्रकृति नित्य हो सकती है, अर्थात् स्वरूप से नित्य हो सकती है, और विकार भी इसका हो सकता है। विकारवान् होने पर भी इसके स्वरूप का नाश नहीं होता है। यह अनेक कार्य उत्पन्न कर के भी स्वरूप से बनी रहती है, निरवयव नित्य हो सकती है, तो हम क्यों न इसी प्रकार चेतन ब्रह्म को मान लें। हमारे विचार में परिणाम और विवर्त का एक ही अभिप्राय है। ये जड़ प्रकृति का परिणाम कहते हैं वे चेतन का परिणाम कहते हैं। चेतन ब्रह्म ईश्वर भाव को प्राप्त होकर भी स्वरूप से नित्य और निरवयव बना रहता है और फिर जीव भाव को प्राप्त होकर भी स्वरूप से नित्य और निरवयव बना रहता है। अतः विवर्तवादि ने एक ही ब्रह्म मान कर, उसकी अवस्थाओं को ईश्वर और जीव के रूप में मान लिया है। अलग पदार्थ नहीं माना है। सांख्यवादियों ने प्रकृति की अवस्था को परिणामी माना है, इन्होंने ब्रह्म की अवस्थाओं को परिणामी माना है। हैं दोनों के परिणाम ही। इन्होंने चेतन होने से दूसरा शब्द विवर्त परिणाम के लिए दे दिया है। न तो प्रकृतिवादियों का चेतन के बिना कार्य सिद्ध होता है न विवर्तवादियों का प्रकृति या माया के बिना संसार की रचना सिद्ध होती है। अतः इन्हों ने माया को अनादि सान्त मानकर संसार की रचना की है। सांख्यवादियों ने अनादि सान्त न मान कर कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य मान कर संसार की रचना मानी है। विवर्तवादियों ने मोक्ष में बिलकुल अभेद माना है, ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं माना है। अतः इनका भी कैवल्य ही सिद्ध होता है। जैसे सांख्य-वाद कार्य रूप में प्रकृति को अनेक रूपों में मानता है, इसी प्रकार विवर्तवाद ब्रह्म को अनेक रूपों में मानता है। ईश्वर और जीवों के रूप में दोनों के सिद्धान्त एक समान ही सिद्ध होते हैं। केवल जड़ और चेतन का ही अन्तर है। वैसे परिणाम विवर्त दोनों एक ही समान हैं। प्रश्न यह उठाया था कि क्या प्रकृति की सूक्ष्मता

भी आत्मा और ब्रह्म के समान ही है। जिस प्रकार हमने ऊपर वर्णन किया है कि वृत्तिकार आदिक के रूप से तो प्रकृति की सूक्ष्मता भी आत्मा और ब्रह्म के समान ही सिद्ध हो जाती है। जब विवर्तवादियों का ब्रह्म अपने स्वरूप और निरवयवता को न त्याग कर ईश्वर और जीव भाव को प्राप्त हो सकता है, तब इन सांख्यवादियों ने क्या अपराध किया है। जो इनकी प्रकृति अपने स्वरूप, निरवयवता, सूक्ष्मता और नित्यता को न त्याग कर ईश्वर जीव के समान सूक्ष्म न हो। इस परिस्थिति में प्रकृति ब्रह्म और आत्मा की सूक्ष्मता एक जैसी ही माननी पड़ेगी। परन्तु पुनः शंका उपस्थित हो जाती है, कि तब ब्रह्म का व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध किस प्रकार सिद्ध होगा ? जब तीनों समान रूप से सूक्ष्म हैं। कौन किस को व्याप्त करेगा ? अतः सांख्य ने ईश्वर या ब्रह्म को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया है। केवल प्रकृति और पुरुष का ही विशेष रूप से विवेचन किया है। तब ही तो आत्मा के समान प्रकृति की सूक्ष्मता कथन की है। परन्तु हम आत्मा को और ब्रह्म को प्रकृति से सूक्ष्म मानते हैं क्योंकि हम दोनों की सूक्ष्मता समान सिद्ध कर चुके हैं। जीवात्मा के समान सूक्ष्म मानने से तो बात बन सकती थी परन्तु ब्रह्म के समान प्रकृति को सूक्ष्म मानने से व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः इन दोनों की अपेक्षा कुछ स्थूल स्वीकार करने पर ब्रह्म के साथ व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध भी बन सकता है और परिणामिनी भी बन सकती है निरवयव मानने से नहीं।

विवर्तवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद है। वास्तव में विचार किया जाये, तो इनका अद्वैत मोक्ष में भले ही सिद्ध हो जाये, परन्तु सृष्टि की रचना में तो इनको भी माया की स्थापना करनी पड़ी, और उसको अनादि सान्त मानना पड़ा। हम तो अद्वैत को तब यथार्थ समझते जब इस माया को भी न मानते। वर्तमान की वस्तु स्थिति देखते हुए, और कार्यात्मक जगत् को देखते हुए कैसे प्रकृति या माया की स्थिति से इनकार कर सकते हैं। नाक को सीधी तरह न पकड़ कर, उलटा सीधा हाथ घुमाकर पकड़ने की कोशिश की, और फिर भी दूसरी वस्तु माया को मानना पड़ा। माया को अलग मान कर ही संसार की रचना का कार्य करना पड़ा। तब सांख्यवाद की प्रकृति को ही मानने में क्या आपत्ति थी। इसे ही स्वीकार कर लेते। स्वतः सिद्ध पदार्थ संसार की रचना के लिये वर्तमान था। अन्य माया की कल्पना की क्या जरूरत थी।

प्रकृति अनादि नित्य है

हमें प्रकृति के विषय में अनादि सान्त धर्म की बात भी यथार्थ प्रतीत नहीं होती है। जो कभी उत्पन्न नहीं हुई, सदा से अब तक नित्य चली आ रही है अब उसका नाश या अभाव कैसे हो सकता है। जबकि अब तक कभी नहीं हुआ। यदि पहले भी कभी सान्त हुआ होता, तो अब भी मान लेते। सान्त का अभिप्राय यदि नाश लेते हैं, तो जो अब तक नित्य रही है, आगे भी नित्य माननी पड़ेगी। जो सदा से नित्य चली आयी है, अब कैसे अनित्य हो सकती है। अच्छा होता सांख्य के समान माया का स्वरूप परिणामी मान लेते, कारण रूप से नित्य, कार्य रूप से अनित्य। अनादि सान्त मानकर उसको स्वरूप से ही नष्ट कर दिया। यदि मोक्ष के लिए सम्बन्धाभाव मान लेते

तो माया-प्रकृति का स्वरूप भी बना रहता और आत्मा का मोक्ष भी हो जाता। माया वर्त्तमान रहती अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए सही। केवल कथन मात्र से तो वस्तु का अभाव नहीं होता है। मुक्तात्मा के लिए केवल प्रकृति या माया के सम्बन्ध का विच्छेद हुआ है, न कि वह पदार्थ नष्ट हो गया है, और फिर उत्पत्ति तो मानी नहीं विनाश मान लिया है, जिसकी उत्पत्ति हुआ करती है, उसका विनाश भी हुआ करता है। जिसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई है, उसका कभी विनाश भी नहीं हो सकता है। उस पदार्थ को तो नित्य ही मानना पड़ेगा। हाँ ! यह शंका उठाई जा सकती है, कि नित्य का परिणाम नहीं हो सकता है। नित्य में उत्पत्ति विनाश दो धर्म नहीं रह सकते हैं सर्वथा तो हम किसी पदार्थ का भी नाश नहीं मानते हैं। कारण रूप पदार्थ कार्य के रूप में परिणत हुआ है, विनाश को प्राप्त नहीं हुआ है। इस प्रकार प्रकृति को नित्य और परिणामिनी मानकर काम चल सकता है। यदि हम अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते तब तो शंका हो सकती थी। हम कारण का किसी भी काल में अभाव नहीं मानते हैं, केवल परिवर्तन होते-होते अवस्थाओं का भेद हो जाता है जिसको सब लोग कार्य कहते हैं। स्वरूप से पदार्थ का विनाश नहीं हुआ है। अनादि सान्त मानकर तो स्वरूप के नाश को ही माना गया है। अनादि सान्त पदार्थ सिद्ध नहीं होता है। केवल सम्बन्ध का विच्छेद हो सकता है। इससे आत्मा का मोक्ष भी हो जाता है, और पदार्थ का विनाश या सान्त भाव भी नहीं होता है। मुक्त होने वाले को तो केवल अपने मोक्ष से ही मतलब है, न कि उस पदार्थ के नाश से। वह सम्बन्ध विच्छेद से ही सिद्ध हो जाता है। अतः माया के अनादि सान्त धर्म सिद्ध नहीं होते हैं।

सर्व व्यापक चेतन तत्त्व ब्रह्म

प्राचीन काल से दृश्य अदृश्य तत्त्वों का विवेचन होता चला आ रहा है। इसके विवेचन विविध धाराओं के रूप में प्रवाहित होते हुए चले आ रहे हैं। जिनका अजस्र स्रोत प्राचीन काल से आज तक सुरक्षित अभिलेखों द्वारा हमारे सामने उपस्थित है। अन्तर द्रष्टा ऋषि मुनियों ने अपनी विलक्षण प्रतिभा और अत्यन्त सूक्ष्म ऋतंभरा बुद्धि द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों का अनुसन्धान करने में महान् सफलता प्राप्त की है। जहाँ मानव के समस्त भौतिक साधन कुण्ठित हो जाते हैं, उन अतीन्द्रिय सूक्ष्म तत्त्वों को सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा खोज निकाला है।

सृष्टि के प्रारम्भ में जब ऋषि, मुनि, देव, और मनुष्यों ने सब जन्म दात्री भगवती माता वसुन्धरा के गर्भ से निकलकर इस दृश्यमान संसार को देखकर महान् आश्चर्य किया, इस अनोखी दुनिया में आकर भूख प्यास, शीतोष्ण का सर्व प्रथम अनुभव किया, आकाश में सूर्य, चन्द्र, तारा मण्डल आदि को देखकर हक्के-बक्के रह गए। इन अद्भुत रचनाओं और लीलाओं को देखकर, इनकी बनाने वाली रचना करने वाली महान् शक्ति की खोज में—अनुसन्धान में लग गए। तत्पश्चात् एक ऐसे चेतन तत्त्व की खोज कर डाली, जो इस सृष्टि की रचना करने वाला है। जिसके सान्निध्य से ये सब जड़ पदार्थ उत्पन्न हुए। इस सर्व व्यापक चेतन तत्त्व को हम ईश्वर के नाम से पुकारते हैं।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सुव्यवस्थित रचना को देखकर जिस का बड़ी चतुरता से निर्माण हुआ है, आधुनिक वैज्ञानिकों की महान् से महान् सफलतायें भी अत्यन्त तुच्छ एवं नगण्य सी जान पड़ती हैं। प्रकृति का समष्टि कार्यात्मक पदार्थों पर विज्ञान का नियन्त्रण कहा है। विज्ञान तो केवल उसके कार्यों की साधारण रूप रेखा प्रस्तुत करता है। तब कौन कह सकता है कि उन आदि सृष्टि के महापुरुषों ने भौतिक अथवा प्रकृति के अन्तर्हित रहस्यों को गम्भीरता पूर्वक समझकर इनके पोछे बैठी हुई अचिन्त्य शक्ति को नहीं जाना होगा।

कोई विचारशील व्यक्ति इस बात को कैसे मानने के लिए तैयार होगा कि अज्ञात काल से मानव का चला आ रहा ईश्वर विषयक विश्वास सर्वथा खोखला और निराधार है। संसार के किसी भी भूखण्ड पर मनुष्य समाज का कोई भी ऐसा भाग नहीं है, या नहीं पाया गया है, जो ईश्वर के अस्तित्व या उसकी अचिन्त्य चेतन सत्ता के प्रति विश्वास या श्रद्धा भक्ति न रखता हो उसके प्रति विरोध भी है, परन्तु विरोध की भावना सदा भयावह रहती है। भौतिकवाद भी ईश्वर के प्रति श्रद्धा भक्ति रखने की भावना को शिथिल न कर सका, कुचल न सका, मिटा न सका।

जीवन भर ईश्वर को गाली देने वाले व्यक्तियों को भी अन्त में यह कहते सुना गया है—'हे देव ! सारा जीवन आपका विरोध किया, आपसे सदा लड़ाई भी करता रहा परन्तु आपको मैंने अत्यन्त बलवान्, अचिन्त्य शक्ति वाला पाया। आपके सामने अन्त में हार मान ली'। तेरा पार पाना अत्यन्त कठिन है।

ईश्वर के विषय में विचार दो दृष्टि कोणों से किया जाता है। एक धार्मिक, दूसरा दार्शनिक। यह बात निर्विवाद कही जा सकती है, कि संसार का कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जो सामूहिक रूप में धार्मिक दृष्टि से अधूरा हो। वास्तव में धार्मिक दृष्टि कोण का जन्म ही ईश्वर मानव पर आधारित है। संसार का प्रत्येक मत किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है।

प्राचीन चार्वाक मत और आधुनिक मार्क्सवाद मत ईश्वर के विषय में अपवाद अवश्य हैं। यदि गम्भीरता से विचार किया जाये तो ये लोग भी ऐसे ही ईश्वर के विरोधी हैं, जिसके नाम पर अनेक प्रकार के मिथ्या आडम्बर किए जाते हैं। वर्त्तमान में मार्क्सवाद के कट्टर अनुयायी रूप के प्रधान मन्त्री श्री निकेता ख़ुश्चेव ने भी कह दिया, कि न्यूट्रल (तटस्थ) ईश्वर को तो हम भी मानते हैं, जो चेतन सत्ता है परन्तु है वह तटस्था सो इस प्रकार की चेतन सत्ता को मार्क्सवादी भी स्वीकार करते हैं। जो निष्क्रय परिणाम रहित, निरवयव सर्वव्यापक हो, जिसके सन्निधान से प्रकृति क्रिया शील हो सब कुछ कर रही है। दृश्य और अदृश्य दोनों रूपों में। इस प्रकार की चेतन सत्ता को वर्त्तमान के नास्तिक भौतिक विज्ञानवादी अथवा मार्क्सवादी भी स्वीकार करने लगे हैं।

दूसरा दृष्टिकोण दार्शनिक है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी इसके अन्तर्गत है। जब हम किसी पदार्थ का विवेचन करते हैं, और उसे केवल विचारों द्वारा प्रस्तुत करते हैं, वह दर्शन या शास्त्र का रूप है उसी को क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत करना विज्ञान है। ईश्वर की सिद्धि में यह सर्वोत्तम परख या कसौटी है। भारतीय परम्परा के आधार पर दर्शनों के दो भाग हो गए हैं. १. आस्तिक दर्शन २. नास्तिक दर्शन'। इनको आध्यात्मिक

दर्शन और भौतिक विज्ञानवादी दर्शन भी कहते हैं। आस्तिक दर्शनों में योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा दर्शन हैं। भौतिकवाद में चार्वाक, जैन, बौद्ध, मार्क्सवाद आदि दर्शन हैं। दोनों वादों में अध्यात्म और अधिभूत का सम्मिश्रण है। विशुद्ध रूप में किसी एक भाग को किसी के साथ जोड़ा नहीं जा सकता है। यदि इस स्तर पर हम पाश्चात्य दर्शनों को भी रख लें और फिर विचार करे कि ये दर्शन हमें ईश्वर के विषय में कहाँ ले जाकर छोड़ते हैं, तो वस्तुतः हम इन सब मार्गों द्वारा एक ही लक्ष्य या स्थान पर पहुँच जायेंगे, और वह होगा इन सबसे परे और अत्यन्त महान् विलक्षण चेतन तत्त्व।

बहुत से भौतिक विज्ञानवादी लोग तो ईश्वर का नाम सुनते ही झुँझला या बौखला जाते हैं। वस्तुतः हमें किसी नाम पर संघर्ष नहीं करना चाहिए, हमारे विचार और मनन का विषय तो चेतन वस्तु तत्त्व है, नाम उसका कुछ भी रख लें।

निरीश्वरवादी चेतन के बिना जगत् की व्याख्या करने में असफल ही रहे हैं, किसी बात को शब्द मात्र से ही कहते जाना दूसरी बात है। परन्तु उसकी गहराई में पहुँचकर उसकी वास्तविकता को समझने, देखने, यत्नपूर्वक अधिक से अधिक सचाई-पूर्वक उसके समीप पहुँचने में अवश्य सुविधा और सफलता होती है।

निरीश्वरवाद में यह मान्यता है कि जगत् परिवर्तनशील है, और स्वयं ही बनने बिगड़ने अथवा उत्पन्न और विनष्ट होने वाला है। इसका तात्पर्य यह है, कि मूल जड़ तत्त्व इस जगत् के रूप में परिणत होते हैं, उनमें स्वतः ही प्रवृत्ति होती है। उनकी क्रिया या प्रवृत्ति का कोई अन्य प्रेरक या नियोजक ईश्वर चेतन तत्त्व नहीं है। पञ्चभूत स्वयं ही संसार का निर्माण करते हैं। अतः किसी अन्य चेतन तत्त्व की निमित्त कारण रूप में आवश्यकता नहीं।

यह कह देना तो सरल है, परन्तु इसे बुद्धि द्वारा विवेकपुर्वक विचार किया जाये, तो वह बालू का महल खड़ा करने के समान ही साबित होगा। संसार में कोई भी जड़ तत्त्व स्वाचालित दृष्टिगोचर प्रतीत नहीं होता है। कोई भी रचना ऐसी नहीं जानी गयी है, जहाँ चेतन की प्रेरणा के बिना जड़ तत्त्व में स्वतः क्रिया होकर नवनिर्माण हो गया हो। जहाँ हमें स्वाचालित क्रिया की प्रतीति भ्रान्ति से हो जाती है, वहाँ यदि हम उसकी परिस्थिति को पूर्वापर का विचार कर गम्भीरता से बुद्धिपूर्वक मनन करें तो हमें उन प्रवृत्तियों के पीछे किसी चेतन की प्रेरणा झाँकती हुई स्पष्ट रूप में प्रतीत होगी। दार्शनिक दृष्टिकोण से स्वचालित सिद्धान्त निराधार ही समझना चाहिये।

सांख्य शास्त्र के लिए एक प्रवाद प्रचलित है, कि जगत् के मूल उपादान कारण प्रकृति को स्वतन्त्रकर्त्री माना है। इस का तात्पर्य यह समझा जाता है, कि प्रकृति में समस्त प्रवृत्तियाँ चेतन की प्रेरणा के बिना ही हुआ करती हैं। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। सांख्य सिद्धान्त में प्रकृति के लिए कर्त्री पद पारिभाषिक है। यह इसकी परिणामता का ही द्योतक या बोधक है। इसमें इस प्रकृति का स्वातन्त्र्य यही है कि यह परिणाम की सीमा में किसी का सहयोग नहीं लेती है। अर्थात् जगत् रूप परिणाम में प्रकृति के साथ अन्य किसी की साझेदारी नहीं है, क्योंकि परिणाम केवल प्रकृति में ही हो सकता है। अन्य किसी आत्म तत्त्व या ब्रह्म तत्त्व में हो, संभव नहीं है। सांख्य शास्त्र में प्रकृति

के स्वतन्त्र कर्तृत्व का यही तात्पर्य है। इसी कारण सांख्य दर्शनकार श्री कपिल मुनि जी ने 'ईश्वरासिद्धेः' अ० १। ९२ में चेतन तत्त्व ईश्वर की उपादान कारणता का निषेध किया है, जैसा कि अद्वैतवादी, विशिष्ट द्वैतवादी मानते हैं। सूत्र का स्पष्ट और प्रकरण अनुसार यही अर्थ है कि उपादान भूत ईश्वर सांख्य में असिद्ध है। इस प्रकरण के अन्त में इस सूत्र ने ईश्वर के विषय में यह वर्णन किया है। यथा—

'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।'

सांख्य० अ० १। सू० ८६ ॥

—इस सूत्र के अनुसार ईश्वर को सन्निधान मात्र से जगत् का अधिष्ठाता माना गया है। इस सन्निधान के कारण गुणों का आरोप करते हुए इस सूत्र का उल्लेख किया गया है यथा—

'सः हि सर्ववित् सर्वकर्ता। ५६॥'

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। ५७॥' —सांख्य० अ० ३॥

—ये सूत्र इसी चेतन तत्त्व ईश्वर के पोषक हैं। उसके सन्निधान मात्र से उसमें कर्तापन और सर्वज्ञता गुणों का आरोप किया गया है'

सांख्य के एक और आचार्य हुए हैं, श्री पञ्चशिखा आचार्य, इनका इस विषय में एक सन्दर्भ है—

'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते ।'

—पुरुष के अधिष्ठातृत्व में प्रधान—प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।' इस प्रमाण से भी स्पष्ट हो जाता है, पुरुष से यहाँ अभिप्रायः ईश्वर का है। पुरुष को अधिष्ठान मानकर प्रधान-प्रकृति की प्रवृत्ति, क्रिया या गति होती है। अतः सांख्य के आधार पर स्वचालित का वाद खड़ा नहीं किया जा सकता।

हाँ ! सांख्य के एक और आचार्य 'वर्षगण्य' हुए हैं। इन का एक सन्दर्भ उपलब्ध होता है। यथा—

'प्रधान-प्रवृत्तिरप्रत्यय पुरुषेणापरिगृह्यमाणादिसर्गेप्रवर्तते'

इनके सिद्धान्त के आधार पर कहा जाता है कि प्रधान की प्रवृत्ति में चेतन पुरूष की उपेक्षा की है। वास्तव में इसी सिद्धान्त के आधार पर जैन-बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि की है जैन-बौद्ध शास्त्रकारों ने अनेक विकल्पों की उद्भावना करके जगन्नियन्ता ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अनेक सन्देह उत्पन्न करने का प्रयास किया है। परन्तु वास्तव में इनके विकल्प और सन्देह इनकी अपनी ही मान्यताओं के आधार पर सर्वथा ओछे और खोखले सिद्ध होते हैं।

दार्शनिक जगत् में यह एक प्रसिद्ध दृष्टिकोण कहा जाता है कि इस समस्त विश्व का कोई एक मूल तत्त्व होना चाहिये। इस मूल तत्त्व को अद्वैतवादी चेतन तत्त्व कहते हैं। बार्हस्पत्य, चार्वाक, आधुनिक भौतिक विज्ञानवादी एवं मार्क्सवादी जड़ तत्त्व कहते हैं। यदि मूल तत्त्व एक है, तो वह जड़ या चेतन दोनों ही रूप होना ठीक नहीं है। इन दोनों वादों में मूल तत्त्व के अनुसार यही व्यवस्था प्रस्तुत की जाती है कि चेतन जड़ के रूप में, अथवा जड़ चेतन के रूप में परिणत हो जाते हैं, यदि यह मान्यता ठीक मानी

जाये, और कसौटी पर खरी उतर जाये तो यह ईश्वर तत्त्व के माने जाने में बड़ी महान् और विकट बाधा उपस्थित होती है। यदि चेतन जड़ हो जाता है, तो इस अद्वैतवाद की क्या विशेषता रह जाती है। जब कि दूसरा वाद जड़ का चेतन रूपेण परिणाम मानता है, अर्थात् चेतन को जड़ का परिणाम माना गया है। फलतः यह दोनों ही वाद एक ही स्तर पर खड़े हैं। जहाँ मूल तत्त्व को एक माना है। जगत् के वैचित्र्य को देख कर उसके मूल का एक ही चेतन या अचेतन रूप में निश्चय किया जाना संशय भरा है। चेतन का परिणाम अचेतन या अचेतन का परिणाम चेतन मानने पर इन दोनों सिद्धान्तों की मान्यताओं में अन्तर देखने में नहीं आता है। एक मूल तत्त्व के दो नाम जड़ या चेतन रख लेने पर वस्तुतत्त्व का स्वरूप तो एक ही रहता है। जड़ और चेतन तत्त्व परस्पर में अन्धकार और प्रकाश के समान विरोधी देखने में आते हैं, जिन दार्शनिक आचार्यों ने केवल मात्र एक जड़ तत्त्व को स्वीकार किया है उनके सिद्धान्त में ईश्वर तत्त्व का कोई भी महत्त्व नहीं है, और न ही इसकी अपेक्षा है। अतः इस पक्ष में इनका कोई भी दावा नहीं है। परन्तु जो अद्वैतवाद को मानने वाले एक ही चेतन तत्त्व को मानते हैं, वे ब्रह्म तत्त्व की स्थापना करते हैं। उनकी यह मान्यता उस समय भ्रान्ति युक्त एवं आधारहीन प्रतीत होने लगती है, जब वे अपनी यह मान्यता प्रकट करते हैं कि एक ही चेतन तत्त्व जड़ रूप अथवा चेतन रूप में प्रकट होता रहता है। इन मान्यताओं के साथ जगत् की स्पष्ट और वास्तविक व्याख्या करने में वे असमर्थ एवं अक्षम पाते हैं।

वास्तव में चेतन और जड़ तत्त्व को अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप से मूलतः स्वीकार करना ही एक ऐसा सर्वोत्तम श्रेष्ठ मार्ग है, जो ईश्वर या जगत् प्रेरक के अस्तित्व को निर्बाध सिद्ध करता है।

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि चेतन अचेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व को मूलतः स्वीकार करके व्याख्या की गयी है, वह विचारकों को अधिक से अधिक सचाई के समीप ले जाने में सहायक है। और किसी निर्दिष्ट दिशा में एक सर्वोच्च नियामक शक्ति के स्वीकार करने का पथ-प्रदर्शन होता है। जो यथार्थ में श्रेयः की ओर ले जाता है। उस वास्तविक सिद्धान्त से भौतिक विज्ञानवादी और चेतन परिणामवादी सर्वथा ही आँखें बन्द किये बैठे हैं।

ब्रह्म लोक में आनन्द की प्राप्ति

(शंका) क्या आप ब्रह्म लोक को लोक विशेष मानते हैं, या नहीं, जहाँ मुक्त आत्मायें जाकर निवास करती हैं, और विशेष आनन्द का उपभोग करती हैं?

(समाधान) हम आत्मा को निर्गुण मानते हैं, और मुक्ति की अवस्था में सर्व प्रकार के शरीरों का अभाव भी मानते हैं। जिनके द्वारा ब्रह्म के आनन्द का उपभोग हो सके। आनन्द की प्राप्ति के सर्व साधनों का अभाव होने से ब्रह्मानन्द की अनुभूति नहीं होती। केवल आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है। इस विषय की पुष्टि सांख्य दर्शन करता है। यथा -

'नानन्दाभिव्यक्ति मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्।' सां० अ० ५। सू० ७४॥

—मुक्ति की अवस्था में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती है, क्योंकि आत्मा सर्व धर्मों से रहित है ।' संसार की दशा में जब आत्मा में भोक्तृत्व धर्म मान लिया था, वहाँ केवल चित्त के सन्निधान से आरोप कर दिया गया था । अब उस सान्निध्य का अभाव हो गया है, अतः आरोप भी जाता रहा है । अब कैवल्य भाव को प्राप्त हो गया है । कैवल्य का अर्थ है अकेलापन । किसी के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा है अर्थात् सर्व सम्बन्धों से मुक्त हो गया है ।

अब रहा ब्रह्म लोक, जब आत्मा ने किसी भी प्रकार के सुख या आनन्द का उपभोग नहीं करना है, उसके लिए सर्वत्र ही ब्रह्म लोक है, जहाँ-जहाँ ब्रह्म का निवास है । इस लोक का कोई स्थान विशेष नहीं होना चाहिये । जब हमने ३२ कार्यात्मक पदार्थों का और एक कारण रूप प्रकृति का वर्णन किया है, तब ब्रह्म की सबसे महान् सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए और सब से सूक्ष्म सिद्ध करने के लिए और विज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्येक पदार्थ की पहले की अपेक्षा सूक्ष्मता का वर्णन किया है; यदि इन्हीं पदार्थों को ब्रह्म लोक कह दिया जाये तो सर्व श्रेष्ठ होगा । इन ३३ पदार्थों की अपेक्षा और कोई ब्रह्म लोक विशेष नहीं है । लोक विशेष होता है एक देशी पदार्थ का, ब्रह्म तो सर्व लोकों में सर्व देशों में व्यापक रूप से वर्त्तमान है । सम्पूर्ण समस्त ब्रह्माण्ड ही भगवान् का ब्रह्म लोक है । पदार्थों का स्थूल सूक्ष्म दृष्टि से जब सब का क्रमपूर्वक यथार्थ ज्ञान हो जाना है। अन्त में केवल ब्रह्म ही विज्ञान का विषय रह जाता है, सब से सुक्ष्म होने से इसे भी ब्रह्म लोक कह सकते हैं । अथवा प्रकृति की कारण अवस्था में जो व्याप्य व्यापक भाव अन्तिम सम्बन्ध है उसको भी ब्रह्म लोक कह सकते हैं ।

स्वर्ग में आनन्द का उपभोग

(शंका) स्वर्ग लोक अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं के लोक विशेष में दिव्य सूक्ष्म शरीर के द्वारा भोगविशेष माना गया है, वहाँ सूक्ष्म दिव्य विषयों का भोग भी मानते हैं, और ब्रह्म के आनन्द का उपभोग भी ?

(समाधान) इस प्रकार के लोक विशेष को तो हम भी मानते हैं, ये तो प्रकृति के कार्य-विशेष अवस्था का और सूक्ष्म तन्मात्राओं की अवस्थाओं का उपभोग है, इनको शास्त्रकार दिव्य भोग कहते हैं, इनका भोग सूक्ष्म शरीर करते हैं । इन स्थूल लोकों की अपेक्षा वह लोक अलग ही माना गया है । इन सूक्ष्म शरीरों का फिर स्थूल विषयों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। उनका केवल सूक्ष्म तन्मात्राओं से ही भोगात्मक सम्बन्ध रहता है । इन सूक्ष्म भोगों के स्वर्ग लोक विषय में आचार्यों ने ऐसा कथन किया है, क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।' इस स्वर्गलोक के भोगों को भोगते हुए जब स्वर्ग की अवधि समाप्त हो जाती है तब फिर मर्त्यलोक में लौट कर आना पड़ता है। रही ब्रह्मानन्द की बात इस स्वर्गलोक में वे इस लोक के समान ध्यान समाधि लगा कर ब्रह्मानन्द का उप भोग करते हों तो यह भी संभव हो सकता है । उस ब्रह्मानन्द का भोग तो योगी या भक्तजन इस लोक में भी ध्यान समाधि द्वारा करते हैं, केवल अन्तर इतना है कि स्वर्ग में सूक्ष्म भूतों का भोग होता है यहाँ स्थूल भूतों का ही । यहाँ की अवधि थोड़ी है, स्वर्ग की अवधि बहुत लम्बी है । यहाँ के भोग प्रयत्न साध्य हैं, स्वर्ग के केवल

संकल्पमात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं। मीमांसा दर्शन में भी विश्वजित् आदि स्वर्गफलाधिकरण में कहा है। यथा—

'सः स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्।' मीमाँसा अ० ४। सूत्र १५॥

—स्वर्ग में सबका भोग समान होता है। विशेष अविशेष का भेद नहीं होता। इस लोक में भोगों का भेद है, स्वर्ग में सब का समान ही भोग है।' और भी कहा है। यथा—

'काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञांगे क्रत्वर्थः।'

मीमांसा अ० ४। सू० २०॥

—काम्य कर्म निमित्तक स्वर्ग की अवधि लम्बी होती है, इतनी लम्बी कि उसे नित्य कहा जाता है।

स्वर्ग लोक में ईश्वर का सिंहासन

सिद्धान्ती—हमारे पैगम्बर साहब ईश्वर के बेटे हैं। वे अपने भक्तों की सिफारिश कर के पाप क्षमा करा देते हैं।

(समाधान)—यदि आप के पैगम्बर को ईश्वर का बेटा मान लिया जाये तब तो ईश्वर भी इस लोक के समान एक गृहस्थ मनुष्य हो जायेगा। वह किसी एक देश में रहने वाला ही होगा। फिर तो उसकी पत्नी आदि भी माननी पड़ेगी। यदि कोई आदि सृष्टि में पैदा हुआ होता तब भी कोई बात मानने योग्य होती। क्योंकि आदि सृष्टि में बिना माँ-बाप के ही मानव की उत्पत्ति हुई थी। आप के पैगम्बर को तो उत्पन्न हुए कुछ ही हजार वर्ष हुए होंगे। सृष्टि तो इनसे अरबों वर्ष पहले की है। अतः ईश्वर का बेटा होना असम्भव सी ही बात है। यदि ईश्वर के दरबार में इनकी सिफारिश चलती है, और पाप क्षमा हो जाते हैं, तब तो पाप और पुण्य में कोई भी अन्तर नहीं रहेगा, क्योंकि सिफारिश से पापी भी तर जाते हैं। इस लोक में कोई भी अच्छे कर्म नहीं करेगा, केवल पैगम्बर साहब पर ही ईमान लाने से सिफारिश मिल जायेगी। तब ईश्वर के हाँ भी बे इनसाफी माननी पड़ेगी, क्योंकि पाप का दण्ड न दे कर पुण्यों का सा ही फल प्रदान करता है। इस प्रकार के एक देशी ईश्वर, जिसके पास शिफारिश चलती हो असंख्या लोक-लोकान्तरों के असंख्य मनुष्यों के यथार्थ इन्साफ की सम्भावना नहीं रखनी चाहिये।

सिद्धान्ती—हिन्दू धर्म में भी तो, कृष्ण, राम, शंकर, विष्णु आदि को भगवान् माना गया है, वे भी तो एक देशी थे, गृहस्थ थे। जब वे भगवान् बन सकते हैं, तो हमारे भगवान् पर आप क्यों आपत्ति उठाते हो?

(समाधान)हम भगवान् कृष्णचन्द्र जी के ही वचनों द्वारा समाधान करते हैं, अपनी गीता में इन्होंने एक श्लोक दिया है। यथा—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं बेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परन्तप।

॥ गीता अ० ४। श्लोक ५॥

—हे अर्जुन मेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं आपके भी। अर्थात् तेरे मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। मैं उनको योग बल से जानता हूँ, परन्तु आप नहीं जानते।'

इस श्लोक से तो यह सिद्ध होत है, कि सर्व साधारण मनुष्यों के समान उनके भी अनेक जन्म हुए, यदि ईश्वर का भी जन्म होना मान लें, तब तो वह भी अस्मदादि

सदृश मनुष्य हो जायेगा। परन्तु हम तो भगवान् को नित्य, निरवयव, निर्विकार, असंग, अजन्मा और सर्वव्यापक मानते हैं, अतः एक देशी ईश्वर मान लेने से अनन्त ब्रह्माण्ड का सृजन संहार आदि कार्य न हो सकता और न चल सकता है। श्रीकृष्णचन्द्र आदि को जो भगवान् की उपाधि दी गयी है, या भगवान् का इनमें आरोप किया गया है, वह इसलिये कि इनको योग की अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ सिद्ध थीं, और १६ कला पूर्ण थे। पर सृष्टि की रचना करने वाले भगवान् नहीं थे। वह भगवान् तो सर्व कलाओं से रहित है, सर्वव्यापक, अजन्मा, नित्य और असंग है।

सिद्धान्ती—स्वर्ग में ईश्वर के सिंहासन के पास हमारे पैगम्बर साहब का भी सिंहासन होता है। मरने के पश्चात् जो मुरदे कब्र में दफनाये जाते हैं, कयामत (प्रलय) के समय खुदा के सामने उपस्थित होते हैं, स्वयंभू इन्हें अच्छे बुरे, या पाप पुण्यमय कर्मों का फल प्रदान करके स्वर्ग नरक में भेज देता है, इस अवसर पर पैगम्बर साहब की सिफारिश महा कल्याण का हेतु होती है।

(समाधान) यदि स्वर्ग में पैगम्बर साहब और खुदा का आसन माना जाये तो इस लोक और स्वर्ग लोक में कोई भी अन्तर नहीं हुआ, क्योंकि मर्त्य लोक में भी राजे-महाराजों के सिंहासन बहुमूल्य मोती हीरे आदि जवाहारातों से जड़े हुए अत्यन्त मनोहर, आकर्षक और सुन्दर होते हैं। इनको तो स्वर्ग में जाने की आवश्यकता नहीं है ये तो इस लोक में भी प्रयत्न और पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। रही कब्र के मुर्दों की बात, कब्र में मुर्दा दबा-दबा गल-सड़ जाता है। स्थूल शरीर खतम हो जाता है, केवल हड्डियाँ ही शेष रहती हैं। और वह भी कयामत तक नष्ट-भ्रष्ट हो जाती होंगी, अतः खुदा के सामने यह स्थूल शरीर तो जा नहीं सकता। अब रही सूक्ष्म शरीर की बात यह पाप पुण्य कर्म के संस्कारों को लेकर जाता होगा, यदि इसी सूक्ष्म शरीराभिमानी का कयामत के दिन कर्मों का फैसला होता है, तो वह तो मरण समय में भी हो सकता है। इस से पुनर्जन्म सिद्ध होगा। कब्र में हजारों, लाखों, करोड़ों या अरबों वर्ष तक पड़े रहने की क्या अवश्यकता है। यदि इस जन्म में श्रेष्ठ कर्म कर के स्वर्ग प्राप्त करने योग्य नहीं बन सका या हो सका तो शीघ्र ही दूसरे जन्म में अवसर प्राप्त हो सकता है। कयामत तक प्रतीक्षा करने की अवश्यकता ही नहीं है। इसमें आप के पास क्या हेतु है, कि मुर्दे के मरण काल में तो पाप पुण्य का कर्म फल प्राप्त नहीं होता, और कयामत के दिन होता है। श्री पैगम्बर साहब की सिफारिश की बात तो हम कह चुके हैं, कि सिफारिश होने पर पाप पुण्य के कर्मों का न्याय ईश्वर नहीं कर सकेगा। न पाप पुण्य में कोई भेद या अन्तर रहेगा। सिफारिश जो हुई। यदि केवल रूह (आत्मा) का ही इन्साफ होता है तब बिना शरीर के मुक्ति में सुख कैसे भोगेगा।

सिद्धान्ती—हमारे स्वर्ग का निर्माण बहुत अनुपम और सुन्दर ढंग से हुआ है। उसकी लम्बई-चौड़ाई ७५० कोस है, उसकी दीवारें नाना प्रकार के हीरे जवाहरों से बनी हैं, और मोतियों से बने १२ दरवाजे हैं।

(समाधान) आप ने तो भगवान का स्वर्ग बहुत छोटा और सीमित बना दिया। असंख्य लोक लोकान्तरों की मुक्त आत्मायें इसमें कैसे समायेंगी। जब कि ये लोक लोकान्तर इस स्वर्ग लोक से सहस्रों लाखों गुणा बड़े हैं, और इनमें मनुष्य भी असंख्य

रहते हैं। छोठे से स्वर्ग लोक के भर जाने से शेष असंख्य आत्मायें कहाँ जायेंगी। रही हीरे जवाहरात, मोतियों की दीवारें और द्वारों की बात; ये हीरे आदि मणि तो इस पृथिवी लोक में भी बहुत मिलते हैं, यहाँ भी दीवारों, दरवाजों और सिंहासनों में लगाये जा सकते हैं। फिर स्वर्ग लोक, इस पृथिवी लोक, और दूसरे ऐसे ही लोकों में क्या अन्तर हुआ। इस ७५० कोस के लोक में मुक्त आत्माओं ने भी रहना हुआ, और ईश्वर ने भी रहना हुआ, आप ने तो अनन्त सर्वव्यापक ईश्वर को एक छोटे से स्वर्ग लोक में रहने वाला और सिंहासन पर बैठने वाला बना दिया। इन इतने बड़े लोक लोकान्तरों, अनन्त लोकों और समस्त ब्रह्माण्ड की व्यवस्था कौन करता होगा। क्या इस छोटे से सिंहासन पर बैठने वाले मनुष्य के समान शरीर धारी, एक देश-स्वर्ग में रहने वाला, भगवान् है ? यह कैसे संभव है। यह तो भारत के छोटे से प्रान्त के समान छोटा सा ही प्रदेश रहा, और स्वर्ग लोक तो यहीं भी बनाया जा सकता है। अमेरिका में इस भूमण्डल पर सबसे अधिक ऐश्वर्य-स्वर्ण मोती आदि हैं। श्री कैनेडी साहब को चाहिये, कि मनुष्य के विनाश के साधन ऐटम बम्ब आदि न बनाकर स्वर्ग के समान अपने देश में एक स्वर्ग लोक का निर्माण करें। बैङ्कों खजानों में पड़े हुए सोने हीरे मोती जवाहरात आदि को स्वर्ग के निर्माण में लगा दें। यदि कमी रहेगी तो दूसरे देश भी आप के स्वर्ग निर्माण में अपने मोती जवाहरात दे देंगे, क्योंकि इनमें भी करोड़ों आदमी आप के समान ही स्वर्ग मानने वाले हैं। सबका इकट्ठा अमेरिका में एक ही स्वर्ग हो जायेगा। फिर ईश्वर और पैगम्बर साहब यहाँ ही आ पधारेंगे। आप लोगों को भी बहुत दूर देश में स्वर्ग लोक में जाना नहीं पड़ेगा।

सिद्धान्ती—स्वर्ग में सब प्रकार के भोक्तव्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, वहाँ अप्सरायें भी भोगने को प्राप्त होती हैं; मुक्तात्मायें सब प्रकार के सुखों और आनन्दों का स्वर्ग में भोग करती हैं। ईश्वर मुक्तात्माओं को ज्योति प्रदान करते हैं, वे आत्मायें सदा ईश्वर का मुख देखती रहती हैं।

(समाधान) स्वर्ग में जब सब पदार्थ और अप्सरायें भोगने को मिलती हैं; तब इस लोक और स्वर्ग लोक में क्या अन्तर हुआ। इस लोक में सर्व पदार्थ भोगने को मिलते हैं, और स्त्रियाँ भी, केवल नाम मात्र का ही भेद रहा। यदि वे मुक्त आत्मायें स्वर्ग में ईश्वर का मुख् देखती रहती हैं, तो ईश्वर भी मनुष्य के समान शरीरधारी होगा, जिसका मुख माना गया है। एक देश में रहने वाले शरीरधारी का ही मुख हो सकता है। एक स्थान में सिंहासन पर बैठने वाला ईश्वर अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना या प्रलय नहीं कर सकता। इसके लिये तो असीम अनन्त भगवान् की ही ज़रूरत है, जो सर्व व्यापक रूप से ठहरा हुआ हो। किसी देश विशेष में रहने वाले के कार्य भी सीमित ही हो सकते हैं। अतः कोई ऐसा ईश्वर होना चाहिये, जो समस्त ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तरों के बनाने में समर्थ हो। सर्व देशी निर्विकार, निराकार, सत्, चित्; आनन्द रूप हो। स्वतन्त्र हो। जहां किसी की कोई सिफारिश न चलती हो। जो किसी देश आदि की सीमा में न बंधा हो, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सञ्चालन कर रहा हो। जो निस्सीम और अनन्त हो।

सातवें आसमान पर जन्नत

सिद्धान्ती—खुदा सब रूहों को पैदा करता है, मरने के पश्चात् रूहें कब्र में कयामत तक रहती हैं। सातवें आसमान पर खुदा का सिंहासन है। इसको हम जन्नत (स्वर्ग) मानते हैं। वहाँ साथ में ही हमारे पैगम्बर साहब का भी सिंहासन होता है। जो हमारे धर्म और पैगम्बर पर ईमान लाते हैं, कयामत के दिन उनकी सिफारिश पैगम्बर साहब करते हैं। जब रूहों के कर्मफल का इन्साफ करता है, और नरक स्वर्ग प्रदान करता है, तब पैगम्बर साहब नेक कर्म करने वालों की सिफारिश करके जन्नत में स्थान दिलाते हैं, जो इन पर ईमान नहीं लाते, उन्हें नरक या जहन्नुम में भिजवा देते हैं।

(समाधान) यदि खुदा रूहों को पैदा करता है, तो उनका उपादान कारण क्या होता है। यदि खुदा को ही उपादान कारण मानें तो वह भी विकारी हो जायेगा। यदि इन्सान या मनुष्यों से उत्पत्ति मानें तो जड़ हुए। तब तो जड़ रूहों की ही उनसे उत्पत्ति होगी। फिर शरीर में ज्ञान क्रिया आदि का व्यापार बिना चेतन के कैसे होगा। मरने के पश्चात् कयामत तक वे रूहें कब्र में ही रहती हैं, तब तो उनके साथ यह बड़ी बे इनसाफी है। लाखों वर्ष तक कब्र में पड़ी रहें। मरते समय ही खुदा उनका इनसाफ क्यों नहीं करता। कयामत के समय में ही क्यों करता है? यदि ईश्वर सातवें आसमान पर स्वर्ग में ही रहता है, और इस लोक में नहीं रहता है, तो उपासक खुदा की इबादत यहाँ करते हैं, उनको भी जो सुख शान्ति आनन्द यहाँ मिलता है, वह नहीं मिलना चाहिये, क्योंकि खुदा बहुत दूर सातवें आसमान पर रहता है। फिर इस लोक की व्यवस्था कौन करेगा, क्योंकि खुदा तो सातवें आसमान पर रहता है। एक देशी होने से यहाँ आना भी उसका कठिन है। वह तो स्वर्ग में रहने वाला खुदा है। जब खुदा का सिंहासन सातवें आसमान पर है, तो वह भी देश विशेष में रहने वाला हुआ। एक छोटे से सिंहासन पर बैठने वाला तो इस लोक के मनुष्य के समान साबित होता है। श्री पैगम्बर साहब भी उनके पास ही सिंहासन पर विराजमान रहते हैं। मालूम होता है यह भी एक मनुष्य के समान ही हैं। जो तखत पर आसीन हैं। जैसे कि एक राजा का मन्त्री होता है। ऐसे ही इनकी स्थिति माननी पड़ेगी। जब खुदा पैगम्बर साहब की सिफारिश सुनते हैं, तो खुदा की बुद्धि, विज्ञान, अथवा न्याय की क्या विशेषता हुई जबकि वह नेकी का अच्छा फल स्वर्ग, और बदी का बुरा फल नरक नहीं दे सकते हैं। जब भगवान् स्वयं ही ज्ञानवान् न्यायाधीश है, तब पैगम्बर साहब की सिफारिश की क्या जरूरत है। वे स्वयं ही जो उचित और यथार्थ समझेंगे फल दे देंगे। जो आपके धर्म पर विश्वास लाते हैं; पैगम्बर साहब उन्हीं की सिफारिश करते हैं, अन्य धर्मावलम्बियों की नहीं। ये बड़ी बे इनसाफी मालूम होती है। पक्षपात और तरफदारी भी। दूसरे धर्मों में भी तो नेक धर्मात्मा बुद्धिमान् पुरुष होते हैं, उनकी सिफारिश क्यों नहीं करते हैं क्या आपके धर्म और पैगम्बर पर यकीन लाने वाले ही नेक हो सकते हैं अन्य मतावलम्बी नहीं। उनकी सिफारिश क्यों नहीं करते हैं। इतने खुदा के प्यारे होकर यह भेद भाव क्यों रखते हैं। जो इन पर ईमान नहीं लाता है, उन सबको जहन्नुम भिजवा देते हैं। इससे सिद्ध होता है, अपने ही मत के पक्षपाती हैं, दूसरे मत के द्वेषी। इसी द्वेष के कारण अन्य सब मतावलम्बियों को ही जहन्नुम में भिजवाते होंगे, चाहे इन्होंने कितने ही नेक कर्म और कितनी

हो खुदा की इबादत क्यों न की हो। ऐसा पक्षपात क्यों बरता जा रहा है। इससे तो मालूम होता है आप का खुदा अलग है, और वह भी विधर्मियों से पक्षपात करता हैं। केवल पैगम्बर साहब के कहने को जो मानता है। तब तो इनका वह निजी ही खुदा हुआ। हम तो उस खुदा को मानते हैं, जो सब मनुष्यों के लिए एक हो, पक्षपात से रहित हो, किसी भी मत का पक्षपाती, अथवा सिफारिश सुनने वाला न हो।

सिद्धान्ती—हमारे बहिश्त में बहुत सुन्दर हूरें मिलती हैं। वे सदा बहिश्त में निवास करती हैं। वहाँ सब प्रकार के माँस शराब मेवे, शहद, दूध, मिठाइयें, नाना प्रकार के स्वादु भोजन और भोक्तव्य पदार्थ मिलते हैं।

(समाधान) ये सब पदार्थ तो इसी पृथिवी लोक में मिल जाते हैं, इनके लिये किसी अन्य लोक में जाने की जरूरत नहीं है। हाँ जो बहुत निर्धन हों वे भले ही, आपके बहिश्त में जाना चाहें। इस लोक के धनी, राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार जाना कभी पसन्द नहीं करेंगे क्योंकि उन्हें सब भोक्तव्य पदार्थ, स्त्री, धन आदि यहाँ ही प्राप्त हो जाते हैं, अतः इस लोक में और स्वर्ग लोक में कोई भी अन्तर नहीं है।

सिान्द्धती—स्वर्ग में स्थूल शरीर ही होते हैं, वहां सूक्ष्म या दिव्य शरीर नहीं होते हैं। वहाँ सुन्दर बाग़ बगीचे और नहरें होती हैं। वहाँ रेशमी वस्त्र, स्वर्ण के आभूषण, जवाहरात के तकिये, तथा तखत प्राप्त होते हैं, खुदा सोने के तखत पर बैठता है। उसे फरिश्ते उठा कर चलते हैं खुदा से दूसरा दर्जा पैगम्बर साहब का है। इनका सिंहासन खुदा के पास ही होता है। यहाँ सब प्रकार के सुख, भोग और आनन्द प्राप्त होते हैं।

(समाधान) पैगम्बर साहब ने स्वर्ग में जिन पदार्थों का निर्णय किया है, वे तो यहाँ भी उपलब्ध होते हैं। वर्तमान में तो इस से भी अधिक सुखों के साधन अमरीका, इंगलेण्ड, फ्रान्स, रूस, ईरान, मिस्र और भारत आदि के धनियों के पास वर्त्तमान हैं। इनके लिये किसी अन्य बहिशत में जाने की जरूरत नहीं। खुदा का तखत तो फरिश्ते उठा कर चलते हैं, आजकल तो लोग मोटरों, हवाई जहाजों और हेलीकोपटरों में बैठ कर चलते हैं। अतः स्वर्ग की अपेक्षा यहां विशेष सुख-साधन हैं। नहरें, बाग-बगीचे, तो इस युग में राजे, महराजे, अन्य अमीरों की कोठियों में भी होते हैं। पबलिक के लिये सरकारें भी बनवाती हैं। अमीरों के पास वर्तमान में खाद्य पदार्थ और सुख भोग के इतने साधन हैं, कि उनको भोगते-भोगते सदा बीमार बने रहते हैं, 'भोगे रोग भयम्'— जहाँ भोग वहाँ रोग। अतः इन पदार्थों के लिये किसी बहिशत में जाने की जरूरत नहीं। संभवतः पैगम्बर साहब के समय में उनके देश में इन पदार्थों की कमी होगी। इसलिये साधारण बुद्धि वाले गरीब लोगों को स्वर्ग के सब्ज बाग दिखाये होंगे। वरना इस लोक में और इनके बहिशत में कोई भी अन्तर नहीं है। जिन लोगों की भोगों से यहाँ तृप्ति नहीं हुई है, या जिनको ये भोग प्राप्त नहीं हुए हैं, ऐसे लोग ही इस प्रकार के बहिशत की भले ही कामना करें। जो ज्ञान और वैराग्यवान् हैं, जिनको संसार के भोगों से वैराग्य हो चुका है, वे तो भूल कर भी इस प्रकार के बहिशत में जाना पसन्द नहीं करेंगे। इस लोक में भी जब भोग अनेक दुःखों का कारण होते हैं, तो इस प्रकार के बहिशत के भोग भी तो दुःखों का ही कारण होंगे। जहाँ कि हूरें प्राप्त होती हैं। सब

अप्सरायें तो एक समान सुन्दरी या रूपवती भी नहीं होती होंगी। जब इस लोक में पराई सुन्दरी स्त्री को देख कर दुराचारी आसक्त होते हैं, तो बहिशत में भी इस प्रकार की संभावना हो सकती है। वहाँ भी यहाँ के समान लड़ाई-झगड़े हो सकते हैं। तब बताओ बहिश्त में और इस लोक में क्या अन्तर हुआ।

जहां भगवान् और पैगम्बर के सिंहासन की बात है, यह तो एकदम बिलकुल एक देश में रहने वाले शरीर धारियों की बात है, क्योंकि तखत तो एक देश में रहने वाला छोटा सा पलंग के बराबर ही हो सकता है। अतः खुदा भी तखत पर बैठने वाला शरीर धारी ही मनुष्य के समान हो सकता है। इस प्रकार का खुदा जो बहिश्त में रहता है। हमारे लोक या अन्य लोकान्तरों की व्यवस्था एक शरीरधारी एक देश में रहने वाला कैसे कर सकता है। कोई ऐसा खुदा या ईश्वर होना चाहिए जो सब देशों और लोकलोकान्तरों में एक ही समान एक ही रूप में विराजमान हो, जिसे न तखत की न ताज की जरूरत हो। जो किसी प्रकार भी लागलपेट में आने वाला न हो। न किसी की सिफरिश सुनने या मानने वाला हो। जो सब जगह व्यापक हो, सब से सूक्ष्म हो, निर्विकार निरवयव, और असंग हो। जिसकी चेतन सत्ता से सब लोक-लोकान्तर और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड क्रियाशील होकर सब कार्य नियम पूर्वक कर रहे हों। श्री पैगम्बर साहब ने तो खुदा को एक देश में रहने वाला अपने जैसा सीमित सा बना दिया है। जिसमें अनेक प्रकार के दोष और शंकायें उपस्थित हो सकती हैं। यदि वे सर्वव्यापक, निराकार निरवयव, असङ्ग निर्विकार खुदा का वर्णन करते या मानते तब कोई दोष या शंका उपस्थित न हो सकती थी। जैसा सोचा-समझा, विचारा या जितनी बुद्धि थी, उतना ही उल्लेख कर दिया। विश्वव्यापी भगवान् का ज्ञान अनन्त है। अतः सब थोड़ा-थोड़ा ही कथन कर पाये हैं। पैगम्बर साहब ने भी कुछ थोड़ा ईश्वर के विषय में कह दिया है। तब ही तो अनन्त भगवान् अनन्त ज्ञान वाला सिद्ध होता है। उसका अन्त पाना अत्यन्त कठिन है, अथवा दुर्विज्ञेय है यदि पैगम्बर साहब विशेष विज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि से ऋतंभरा बुद्धि द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित होकर ईश्वर को देखते तो वह ईश्वर निराला ही होना था। जो कि सर्वत्र सर्वव्यापक रूप में प्रत्यक्ष अनुभव होता।

अब रही खुदा के सातवें आसमान पर खुदा की बात। यदि पैगम्बर साहब शंका करें, कि आप हमारे सातवें आसमान और तखत पर निवास की बात को उपहासास्पद कहते हो पर आप भी तो स्वयं एक प्रकार से ३३ आसमान या सिंहासन ईश्वर के निवास के कथन कर रहे हैं। इसका समाधान इस प्रकार है, कि हमने ३२ पदार्थ कार्यात्मक माने हैं। और इन सब का एक ही कारण प्रकृति को माना है। इन सब पदार्थों में खुदा की व्यापकता का दिग्दर्शन कराया है। न कि खुदा इन ३३ सिंहासनों पर बैठा है। इन सब में वह रमा हुआ है। सूक्ष्म होने के कारण व्यापक है और इन सब पदार्थों को अपने अन्दर धारण किये हुए है। अतः ये उसके सिंहासन नहीं हैं। वह तो इन सब में व्याप्त हो कर ठहरा हुआ है। इन सब का आधार भी बना हुआ है। आपने तो सातवें आसमान पर भगवान् को सोने के तखत पर आसीन माना है। जो छोटा सा होने से भगवान् को या खुदा को भी मनुष्य के समान सिद्ध करता है, और एक देश में रहने वाल बना देता है। हमारा खुदा तो अनन्त है, महान् है, सर्वव्यापक है और सब से

सूक्ष्म है। सब देशों, सब कालों में अनन्त रूप से व्याप्त होकर रहता है उसे किसी देश, तखत या ताज की जरूरत नहीं।

सिद्ध शिला पर मुक्त आत्मायें

सिद्धान्ती—हम स्वर्ग के ऊपर १४वें भुवन की चोटी पर ४५ लाख योजन लम्बी और इतनी ही चौड़ी आठ योजन मोटी सिद्ध शिला मानते हैं। यह शिला स्फटिक मणि के समान निर्मल, दूध के समान सफेद, मोती के समान चमकदार है। इस सिद्ध शिला पर शिवपुर धाम है। उसमें मुक्तात्मायें रहती हैं। उनका जन्म मरण नहीं होता है। सदा आनन्द में रहती हैं। सब प्रकार के कर्म और दुःखों से मुक्त होकर मोक्ष में निवास करती हैं।

(समाधान) असंख्य मुक्त आत्माओं के लिये ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी शिला बहुत ही छोटी होगी। इस पर असंख्य आत्मायें कैसे समा सकती हैं। आप ने जैसी सिद्ध शिला की परिधि बतायी है, ऐसे मुक्त आत्माओं की संख्या तो बतायी नहीं है। संसार में लोक लोकान्तर बेअन्त हैं। आज तक मनुष्य इनकी संख्या नहीं कर पायें हैं फिर इनमें वास करने वाली आत्माओं की संख्या कैसे हो सकती है। अतः एक देश में सीमित शिला सर्व मुक्त आत्माओं के निवास के लिये नहीं हो सकती है। आप जीवात्मा को भी मध्यम परिमाणी मानते हैं। मध्यम परिमाण पदार्थ संकोच विकास शील होने से अनित्य सिद्ध होता है। अतः आत्मा को उत्पत्ति विनाश वाला मानने से मन और बुद्धि के समान अनित्य हो जायेगा। अनित्य परिणामी होने से नित्य मुक्ति नहीं हो सकती। जीव ईश्वरभाव को भी प्राप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि मध्यम-परिमाणी है। सृष्टि कर्ता किसी सर्वव्यापक ईश्वर को आप मानते ही नहीं हैं, फिर ईश्वरभाव कैसा, और नित्य मुक्ति कैसे हो सकती है।

परिणामी, मध्यम परिमाणी आत्मा को नाशवान् मानना पड़ेगा। बुद्धि के समान वह भी अनित्य होगा। अनित्य साधनों से नित्य मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। सृष्टि का कर्ता किसी व्यापक ईश्वर को आप मानते ही नहीं हैं। अतः सर्वव्यापक चेतन के बिना सृष्टि का निर्माण कौन करेगा। सृष्टि भी अनन्त है। इसलिये इसका निर्माण करने वाला भी अनन्त ही हो सकता है। यदि आप अनेक मुक्त आत्माओं के संघ के द्वारा सृष्टि का निर्माण मानते हैं, तब यह मान्यता भी सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि सृष्टि अनन्त है। इन मुक्त आत्माओं में इस लोक के समान विचार विरोध, लड़ाई-झगड़ा होने की भी संभावना हो सकती है। मुक्त आत्मायें तो ४५ लाख योजन लम्बी-चौड़ी शिला पर ही रहती हैं। वहाँ रहकर अनन्त ब्रह्माण्ड का वे कैसे निर्माण कर सकती हैं। अतः आपको मुक्ति युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है। कोई भी बुद्धिमान् इस प्रकार की मुक्ति मानने को तैयार न होगा।

ब्रह्म में विशिष्टाद्वैत का अभाव

(शंका) ये सब जीवात्मा ईश्वर का ही अंश विशेष हैं। प्रकृति से सम्बन्ध छूटने पर उस ईश्वर में ही जाकर मिल जाते हैं, क्या इसी का नाम मोक्ष नहीं ?

(समाधान) जीवात्मा की उत्पत्ति होने से यह भी चित्त के समान ही परिणामी हो जायेगा। अतः इस प्रकार के जीवात्मा के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जिसका चित्त के समान उत्पत्ति विनाश सिद्ध हो, उसको हम चित्त ही कहेंगे।

(शंका) भगवान् भी तो अपने अंश विशेष से अवतार ग्रहण करता है।

(समाधान) जिन्हें आप अवतार मानते हैं, वह तो विशेष पुण्यात्मा होते हैं, जो माता के गर्भ से जन्म धारण करते हैं। इनमें ईश्वर के समान विशेष गुण होने से लोग श्रद्धा भक्ति की भावना से उपासना, ज्ञान और मोक्ष के हेतु अथवा जन कल्याण के हेतू उन्हें अवतार कहने लग जाते हैं और उनमें भगवान् का आरोप करने लगते हैं। वास्तव में ईश्वर में अंशाशीभाव नहीं हो सकता है। वह निर्विकार और कूटस्थ है। एवं निरवयव है।

(शंका) जीवात्मा का भोक्तृत्व गुण स्वाभाविक है। अतः एवं मोक्ष में भी रहता है। चैतन्य का परिणाम ही भोक्तृत्व है। मोक्ष अवस्था में इस गुण के द्वारा आनन्द का भोग करता है। वहाँ सब दुखों का अभाव होता है।

(समाधान) आत्मा का स्वाभाविक गुण भोक्तृत्व नहीं हो सकता है क्योंकि स्वभाव का तो कभी नाश नहीं होता, वह एक समान ही रहता है। आत्मा को जो भोक्ता कहा गया है वह निर्मित मात्र से आरोप किया गया है। निर्मित्त के हट जाने पर आरोप भी खतम हो जाता है। आप तो चैतन्य के परिणाम को ही भोक्तृत्व कह रहे हैं, इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि चैतन्य भी विकार भाव को प्राप्त होता है फिर तो विकारी होने से चित्त के समान ही सिद्ध होगा। चित्त का परिणाम भी तो भोग ही है। चित्त परिणत होता हुआ भोग करता है। अतः चैतन्य के परिणाम और चित्त में कोई अन्तर नहीं है। फिर इस प्रकार के अलग परिणामी आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है। जब कि चित्त में ही यह गुण हैं, और चित्त से ही सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

सिद्धान्ती—हम माया मण्डल को पार करके प्रकृति के रज और तम को वहाँ नहीं मानते हैं, वहाँ केवल शुद्ध सत्त्व का बना हुआ दिव्य शरीर होता है, जो कभी बदलता नहीं है। नष्ट भी कभी नहीं होता है। इसके द्वारा आत्मा वैकुण्ठ या ब्रह्म लोक में ब्रह्मानन्द का भोग करता है?

(समाधान) जब माया मण्डल को पार कर लिया, वहाँ प्रकृति का बिल्कुल अभाव हो गया। तब शुद्ध सत्त्व का शरीर वहाँ कहाँ से आयेगा। अन्ततोगत्वा है तो वह इसी का कार्य है। प्रकृति ही तो उस दिव्य शरीर का उपादान कारण है। कार्य अपने उपादान कारण को छोड़ नहीं सकता। तब प्रकृति के मण्डल को पार किया जाना कैसे माना जा सकता है। शुद्ध सत्त्व भी तो प्रकृति का ही कार्य है। अतः माया मण्डल को पार करने की बात सर्वथा निराधार है।

जिस दिव्य शरीर के द्वारा आप दिव्यानन्द का भोग मानते हैं जो अभी निकट में ही दिव्य भाव को प्राप्त हुआ है। उत्पन्न होने वाला अनित्य पदार्थ कैसे सदा के लिए नित्य हो सकता है। जिसने दिव्यता प्राप्त की है, वह पुनः भी तो अदिव्य हो सकता है।

सिद्धान्ती—वैकुण्ठ में शुद्ध सत्त्व से बना दिव्य शरीर ग्रात्मा के ज्ञान का बाधक नहीं होता है। उस ग्रात्मा का ज्ञान ग्रपरिमित ग्रौर निस्सीम हो जाता है।

(समाधान) ग्रात्मा का ज्ञान ग्रपरिमित ग्रौर निस्सीम नहीं हो सकता है। क्योंकि ग्रात्मा ग्रणु ग्रौर एक देशी परिच्छिन्न है। उसका ज्ञान सीमित ग्रौर परिमित ही हो सकता है। यदि ग्रात्मा ग्रसीम होता तब ही उसका ज्ञान ग्रपरिमित ग्रौर निस्सीम हो सकता था। जब उसका दिव्य शरीर एक देशी है, ग्रौर ग्रात्मा भी एक देशी है, तो उसका ज्ञान निस्सीम नहीं हो सकता है।

सिद्धान्ती—प्रलय काल की ग्रवस्था में जीव का शरीर नहीं रहता, ग्रतः उसके ज्ञान का संकोच हो जाता है। सृष्टि काल में स्थूल शरीर प्राप्त होने से ज्ञान का विकास हो जाता है। यह ज्ञान का संकोच विकास ही जीव की सूक्ष्म ग्रौर स्थूल ग्रवस्था का कारण है। ग्रर्थात् ज्ञान का संकुचित होना सूक्ष्म ग्रवस्था है, ग्रौर ज्ञान का विकसित होना स्थूल ग्रवस्था है। जीव का स्वरूप परिणाम रहित, नित्य ग्रौर निर्विकार है ?

(समाधान) प्रलय काल की ग्रवस्था में ग्राप ज्ञान का संकोच ग्रात्मा में मानते हैं। ज्ञान ग्रात्मा का स्वरूप है या गुण। यदि स्वरूप ही है, तब तो उसमें किसी भी काल में या ग्रवस्था में संकोच नहीं होना चाहिए, क्योंकि ग्रात्मा ज्ञान स्वरूप या ज्ञान रूप ही है। ग्रात्मा से भिन्न ज्ञान नहीं है। ग्रतः इस ग्रात्मा के ज्ञान स्वरूप स्वभाव में संकोच या विकास कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान स्वरूप ग्रात्मा नित्य है, ग्रवि-कारी है। ग्रब रही गुण की बात, यदि यह गुण ग्रात्मा ग्रौर करण के संयोग से उत्पन्न होता है ग्रौर ग्रलग पदार्थ के रूप में रहता है, तब भी ग्रात्मा के ज्ञान स्वरूप होने में कोई हानि या बाधा नहीं ग्राती। यदि यह गुण ग्रपने गुणी ग्रात्मा में ही उत्पन्न होता है, ग्रौर ग्रात्मा के ग्राश्रय ही रहता है, ग्रौर गुण गुणी का ग्रभेद है तब ग्रात्मा परि-णामी ग्रौर विकारी सिद्ध होता है। जैसा कि हम चित्त को विकारवान् ग्रौर ज्ञान का ग्राश्रय मानते हैं। तब तो ग्रात्मा ग्रौर चित्त में कोई ग्रन्तर नहीं रहता है। तब ग्रापका माना हुग्रा ग्रात्मा जिसको ग्राप चैतन्य का परिणाम कहते हैं, चित्त ही सिद्ध होता है।

ग्रात्मा के ज्ञान संकोच विकास का ग्राप प्रकृति के प्रलय ग्रौर सृष्टि को कारण मानते हैं, ग्रौर जीव के परिणाम रहित, नित्य, निर्विकार स्वरूप का दावा भी करते हैं। यह तो ग्रापकी प्रतिज्ञा में वदती व्याघात दोष है। ग्राप स्वयं ही ग्रपने सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हैं। जब ज्ञान का सँकोच विकास ग्रात्मा में मानते हैं तब वह ग्रपरिणामी ग्रौर निर्विकार कैसे सिद्ध हो सकता है। जब ग्राप ग्रात्मा को चेतन मानते हैं, तब ज्ञान इससे ग्रलग नहीं हो सकता या रह सकता है। चेतन का ग्रर्थ ही ज्ञान है या ज्ञान स्वरूप है। चेतन ग्रौर ज्ञान में किञ्चित् भी ग्रन्तर नहीं है। चेतन ही ज्ञान रूप होता है। ज्ञान चेतन रूप ही है। ग्रतः चेतना ग्रौर ज्ञान में ग्रन्तर नहीं है। जब ग्राप ग्रात्मा में ज्ञान का संकोच ग्रौर विकास मानते हैं, इसी से वह परिणामी ग्रौर ग्रनित्य सिद्ध हो जाता है। चित्त के समान ही बन जाता है।

सिद्धान्ती—जीवात्मा का ग्रनादि ग्रविद्या ग्रौर सञ्चित कर्मों के सम्बन्ध से स्वाभाविक रूप तिरोहित हो जाता है। कर्म बन्ध से छुटकारा होने पर स्वाभाविक रूप

का अविर्भाव हो जाता है। यह होना प्रकृति मण्डल से बाहर जाने पर निर्भर है तब ही ब्रह्म का अनुभव होता है। इस प्रकार प्रकृति मण्डल से बाहर होने पर अप्राकृत-लोक-ब्रह्मलोक में पहुँचकर स्वाभाविक रूप का प्रादुर्भाव हो जाता है और ब्रह्म का अनुभव होता है।

(समाधान) यह तो आपका कथन यथार्थ है कि अविद्या और सञ्चित कर्मों के कारण आत्मा का स्वाभाविक रूप तिरोहित हो जाता है। कर्म बन्ध से छुटकारा होने पर स्वाभाविक रूप का अविर्भाव होता है। यह सिद्धान्त हमें भी स्वीकार है। परन्तु हम आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानते हैं। इसमें कोई परिवर्तन या संकोच विकास नहीं मानते हैं। कर्म-बन्धन से छुटकारा होने पर आत्मा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है। ज्ञान स्वरूप होने से उसे और अधिक ज्ञान की या ब्रह्म से ज्ञान या आनन्द प्राप्ति की आवश्यकता या अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि जहाँ स्वाभाविक ज्ञान स्वरूपता है; वहाँ स्वाभाविक आनन्द स्वरूपता भी है। आनन्द चेतन से भिन्न नहीं है। चेतन ही आनन्द रूप हो सकता है। जब ब्रह्म को आनन्द रूप हम दोनों मानते हैं, उस ब्रह्म में जो आनन्द है वह चेतन होने से ही है। यदि उसमें चेतना न होती तो आनन्द भी नहीं होता। तब इस आत्मा ने क्या अपराध किया है, इसका स्वरूप भी चेतन है, तब आनन्द भी तो इसी का स्वरूप होना चाहिये। अतः इसको ब्रह्मानन्द की अपेक्षा या आवश्यकता नहीं रहती है।

रही बात प्रकृति के मण्डल से बाहर जाने की, जब इसी प्रकृति का कार्य दिव्य शरीर आत्मा के साथ वर्त्तमान है, तब प्रकृति के मण्डल से बाहर कैसे हुआ, अभी तो इसके कार्य के साथ ही जुड़ा हुआ है। जब इसका आत्मा के ज्ञान में बाधक नहीं हो रहा है। तब प्रकृति या इसका मण्डल आत्मा के लिए कैसे बाधक हो सकता है। अतः प्रकृति से भिन्न या अलग ब्रह्म का कोई ऐसा लोक सिद्ध नहीं होता है, कि जहाँ प्रकृति न हो, और अकेला ब्रह्म ही हो। जब प्रकृति का कार्य दिव्य शरीर वहाँ ब्रह्म लोक में भी वर्त्तमान है, तब प्रकृति के लोक या मण्डल से आत्मा और ब्रह्म कैसे अलग होकर रह सकते हैं। यह तो तुम्हारी व्यर्थ ही कल्पना है। युक्ति और प्रमाण से यही सिद्ध नहीं हो रहा है।

ब्रह्म में परिणाम-अभाव

सिद्धान्ती—चित्, अचित् (जीवात्मा और प्रकृति) यह समस्त प्रपञ्च ब्रह्म का शरीर भूत हैं। जैसे हस्त पाद आदि पिण्ड जीवात्मा का शरीर है, वैसे ही सब जड़ और चेतन परब्रह्म का शरीर है।

(समाधान) जब आप समस्त जड़ चेतन को ब्रह्म का शरीर मानते हैं तब जीवात्मा के समान ब्रह्म को भी कर्ता भोक्ता मानना पड़ेगा। शरीर के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध हस्तपादादिपिण्ड से है, यह तो कर्म भोग के लिए प्राप्त हुआ है। जो अज्ञान या अविद्या के कारण इसको कर्म भोग के लिए प्राप्त हुआ है। जिसके द्वारा यह भोग और अपवर्ग प्राप्त करता है। क्या ब्रह्म भी इस जड़ चेतन शरीर को प्राप्त करके भोग और अपवर्ग प्राप्त करता है या करेगा। जब इसको शरीर भोग और अपवर्ग प्रदान नहीं करता है, तब इसको शरीर की क्या आवश्यकता है। यदि ब्रह्म का शरीर मानोगे

तो उसमें भी अविद्या, कर्म, संकार, बन्ध और मोक्ष भी मानना पड़ेगा ? ऐसी परिस्थिति में जीवात्मा और परमात्मा एक ही समान भोक्ता और कर्ता सिद्ध हो जाते हैं। केवल अन्तर इतना ही रह जाता है, कि आत्मा अणु है और ब्रह्म महान् है। अतः जड़ चेतन को ब्रह्म का शरीर मानकर इसको भी आत्मा के समान ही बद्ध और मुक्त मानना पड़ेगा। तब एक और ऐसे ब्रह्म की जरूरत होगी, जो बन्ध और मोक्ष से रहित हो। शरीर और शरीरी मानने से ब्रह्म अज्ञानी सिद्ध हो जाता है। ये आत्मायें भी शरीर का अवयव होने से प्रकृति के समान विकारी और जड़वत् सी बन जायेंगी इत्यादि अनेक दोष उपस्थित हो जाते हैं यदि ब्रह्म का शरीर मानते हैं।

सिद्धान्ती—शरीर के भीतर जीवात्मा सत्ता जैसे शरीर को धारण करती है, वैसे ही चेतन अचेतन पदार्थों को ब्रह्म की सत्ता धारण करती है ?

(समाधान) शरीर के अन्दर रहकर भोग या अपवर्ग उपार्जन करने के लिए जीवात्मा की सत्ता शरीर को धारण करती है। क्या ब्रह्म ने भी इसी प्रकार अपने शरीर के द्वारा भोग या अपवर्ग उपार्जन करना है। तब यह भी आत्मा के समान ही सिद्ध होता है। आत्मा के साथ तो अन्तःकरण का सम्बन्ध बना हुआ है। उसके द्वारा कर्म और भोग सिद्ध हो सकते हैं। जब ब्रह्म का शरीर माना है तो इसका अन्तःकरण भी मानना पड़ेगा। कर्म, भोग, ज्ञान अज्ञान भी इसमें मानने पड़ेंगे। तब यह भी एक जीवात्मा के समान बनकर रह जाता है। केवल छोटे-बड़े का ही भेद है, और गुण तो सब समान ही हैं, जैसे इस जीवात्मा के मोक्ष के लिए एक ब्रह्म की आवश्यकता पड़ी है, वैसे ही ब्रह्म के लिए एक और ब्रह्म की जरूरत पड़ेगी, जो इसको शरीर के बन्ध से मुक्त कर सके।

सिद्धान्ती—सृष्टि और प्रलय दोनों अवस्थाओं में ही चित् और अचित् भगवान् का शरीर है, सम्पूर्ण जड़ और चेतन से विशिष्ट ब्रह्म ही है।

(समाधान) जब जड़ और चेतन विशिष्ट ब्रह्म ही है, तब आत्मा की पृथक् सत्ता मानने की क्या आवश्यकता। इस आत्मा के भोग और अपवर्ग, बन्ध और मोक्ष पृथक् रूप मानने व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। जब यह जड़ और चेतन ब्रह्म का शरीर बन गया तब तो ब्रह्म का ही बन्ध और मोक्ष आप को मानना चाहिए। इस जड़ और चेतन को ब्रह्म का शरीर मानने से ब्रह्म को भी भोक्ता और कर्ता मानना पड़ेगा। जो कर्मों का करता और भोक्ता है, उसका बन्ध और मोक्ष हो सकता है।

सिद्धान्ती—उत्पत्ति और नाश अवस्था विशेष को प्राप्त होना ही है, पर ब्रह्म में भी तो सृष्टि और प्रलय दशाओं में भिन्न-भिन्न अवस्थायें होती हैं। प्रलय दशा में परब्रह्म सूक्ष्म अवस्था से युक्त प्रकृति और जीव में अन्तर्यामी रूप से रहता है। सृष्टि दशा में स्थूलावस्था से युक्त जीव और प्रकृति में अन्तर्यामी रूप से रहता है।

(समाधान) यदि संसार के उत्पत्ति विनाश से ब्रह्म की भिन्न अवस्थायें होती हैं, तब तो यह भी प्रकृति के समान परिणामी सिद्ध हो जायेगा। प्रलयकाल में सूक्ष्म होगा, और सृष्टि काल में स्थूल होगा। जैसे आपने जीवात्मा का चैतन्य परिणाम माना है, ऐसे ही यहाँ ब्रह्म का भी चैतन्य परिणाम सिद्ध होता है। प्रकृति के सम्बन्ध से चेतन

ब्रह्म में, और चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से प्रकृति में परिणाम सिद्ध होता है। अतः सर्व जड़ और चेतन (आत्मा और ब्रह्म) परिणामी होने से विकारवान् सिद्ध होते हैं। प्रकृति में जड़ता रूप से और दोनों चेतनों में चेतन रूप से परिणाम सिद्ध हो जाता है। चेतन में परिणाम के लिये जड़ निमित्त होता है, और जड़ में परिणाम के लिये चेतन निमित्त हो जाता है। जब ब्रह्म को आप निर्विकार मानते हैं, तब ये शरीर आदि की मिथ्या कल्पनायें क्यों व्यर्थ में करते हैं। यह ब्रह्म में प्रकृति के कारण स्थूल और सूक्ष्म भाव क्यों मानते हैं। स्थूलता और सूक्ष्मता ब्रह्म के परिणाम भाव को ही सिद्ध करती हैं। यह सिद्धान्त सर्वथा अमाननीय है कि ब्रह्म निर्विकार भी रहे, और स्थूलता सूक्ष्मता भी इसमें आ जाये और शरीराभिमानी भी बन जाये। इस सिद्धान्त में 'वदतो व्याघात दोष' है। अतः या तो सर्वथा ही विकारवान् या परिणामी मानना चाहिये, अथवा सर्वथा निर्विकार और निष्क्रिय मानना चाहिये। परिणामी होने से प्रकृति के समान ही बन जाता है। फिर व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं होता है। संकोच और विकास धर्म आप ब्रह्म में मान रहे हैं। फिर आप ब्रह्म लोक की अवस्था को अर्थात् ब्रह्म के एक देश को निष्क्रिय मान रहे हैं। प्रकृति देश में ब्रह्म को क्रियावान्, परिणामी, स्थूल और सूक्ष्म करते हैं। दोनों देशों में ब्रह्म एक ही मानते हैं। एक देश का परिणामी और एक देश का परिणाम रहित यह बात सर्वथा विपरीत है। इससे अच्छा यह होता कि आप इस सबको प्रकृति मानते, वह भी कारण कार्य रूप वाली, और ब्रह्म को सर्वथा ही निष्क्रिय, निरवयव, असंग, शुद्ध, बुद्ध सदा मुक्त स्वभाव।

सिद्धान्ती—सूक्ष्म अवस्था युक्त जीवात्मा, और प्रकृति का आत्मा होना एक अवस्था है, और स्थूल अवस्था मुक्त जीवात्मा और प्रकृति का आत्मा होना एक अन्य अवस्था है। इनमें पहली कारण अवस्था, और दूसरी कार्य अवस्था है। इसी प्रकार परब्रह्म भी ऊपर कही हुई अवस्था से युक्त रहने पर कारण, और दूसरी अवस्था से युक्त होने पर कार्य होता है। अत एव ब्रह्म ही जगत् का कारण और ब्रह्म ही जगत् का कार्य है। वैसे आत्मा और ब्रह्म निर्विकार हैं। विकार केवल जड़ जगत् में होता है।

(समाधान) आत्मा और प्रकृति की सूक्ष्म अवस्था और स्थूल अवस्था से आप ब्रह्म की दो अवस्था सिद्ध करते हैं। एक सूक्ष्म और एक स्थूल। इन दोनों अवस्थाओं को ब्रह्म में चरितार्थ करके ब्रह्म को भी कारण कार्यात्मक सिद्ध करते है। परञ्च कारण और कार्य आत्मक पदार्थ तीनों काल में भी निर्विकार नहीं हो सकता है। कारण कार्य रूप में आना ही विकार भाव और परिणाम भाव को सिद्ध करता है। इस अवस्था में ब्रह्म निर्विकार नहीं हो सकता है। जो निर्विकार है सदा ही निर्विकार रहेगा। जो विकारवान् है, या हो चुका है, वह पुनः भी विकारवान् बनेगा। या हो सकता है, इस प्रकार की मान्यता से सांख्यवाद के समान चेतन का सत्कार्यवाद सिद्ध होता है, क्योंकि कारण रूप से भी कार्य में वर्तमान रहती है, और कार्य रूप को भी प्राप्त हो जाती है, कारण रूप से सत्य और कार्य रूप से असत्य सिद्ध होती है। इसी प्रकार आपका आत्मा और ब्रह्म भी हैं जिनका चैतन्य रूप से परिणाम होता है। इस सिद्धान्त के आधार पर ये दोनों प्रकृति के समान ही सिद्ध होते हैं। परिणामी और विकारवान् होने से, संकोच और विकास धर्म वाले होने से, सूक्ष्म और स्थूल होने से, और कारण व कार्यात्मक रूप में

परिवर्तन होने से। अतः इस आधार पर इन में निर्विकारता नितान्त सिद्ध नहीं हो सकती है। ब्रह्म चेतन है, प्रकृति जड़ है, अतः वह प्रकृति का उपादान कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि जो गुण कारण में होते हैं; वे कार्य में भी आते हैं। यदि ब्रह्म को उपादान कारण मानेंगे तब तो चेतन की ही उत्पत्ति होगी जड़ की नहीं। ब्रह्म को जब आप निर्विकार मानते हैं, तब इससे जड़ चेतन कार्यात्मक पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये चित् अचित् ब्रह्म का शरीर नहीं हो सकता है।

सिद्धान्ती—चित् अचित् ब्रह्म का शरीर होने से ये ब्रह्म का विशेषण हैं। इन दोनों का आत्मा परब्रह्म है। इस प्रकार विशेषणों से युक्त होने से विशिष्टता कहलाती है। इस कारण ब्रह्म को चिदचित्-विशिष्ट कहते हैं। परब्रह्म एक है, स्थूल अवस्था से चित् अचित् विशिष्ट, प्रलय में सूक्ष्म अवस्था से युक्त चिदचित् विशिष्ट, इन दोनों में अद्वैत है, यही विशिष्टा द्वैत का अर्थ है।

(समाधान) पहले तो यह सिद्धान्त ही अयथार्थ है, कि जड़ और चेतन ब्रह्म के शरीर हैं, फिर चेतन का जड़ विशेषण नहीं हो सकता है, अत: जड़ विशेषण से युक्त विशिष्ट ही सिद्धान्त नहीं होता है। चेतन ब्रह्म अपरिणामी होने से स्थूल और सूक्ष्म भाव को भी प्राप्त नहीं हो सकता है। अत एव इस प्रकार का विशिष्टाद्वैत सिद्ध नहीं होता है। जबकि ईश्वर परिणाम रहित निर्विकार और असंग है।

सिद्धान्ती—देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीरों में रहने पर जैसे जीव पर शरीरगत दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है, वैसे ही चिदचित् आत्मक प्रपञ्चों में परब्रह्म के अन्तर्यामी रूप से रहने पर भी चिदचित् दोषों का असर नहीं होता है। अर्थात् परब्रह्म पर दुर्गुणों का असर नहीं होता है।

(समाधान) जब आप चैतन्य परिणाम को ही भोक्तृत्व कहते हैं; तब तो दोषों का असर आत्मा पर अवश्य होना चाहिये, यदि चैतन्य का परिणाम न मानते तब दोषों का असर नहीं होना था। इसी प्रकार जब ब्रह्म का शरीर शरीरी भाव मानते हैं; और इसका सूक्ष्म अवस्था में सूक्ष्म होना, और कार्य अवस्था में स्थूल होना वह भी ब्रह्म का चैतन्य रूप से परिणाम है, तब क्यों नहीं चिदचित् के दोषों का इस पर प्रभाव पड़ेगा अतः इन दोनों चेतनों के चैतन्य रूप में परिणाम ही इनको प्रकृति के समान ही विकारवान् और परिणामी सिद्ध करते हैं और ये प्रकृति के समान दोष युक्त ही हो जाते हैं।

ब्रह्म में अभिन्न निमित्तोपादान कारण का अभाव

सिद्धान्ती—सब पदार्थों के दो कारण होते हैं, एक उपादान कारण और एक निमित्त कारण। सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार का कारण परब्रह्म है। ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है और ब्रह्म ही निमित्त कारण भी है। जैसे जाले के प्रति मकड़ी उपादान कारण भी है, और निमित्त कारण भी।

(समाधान) ब्रह्म स्वयं ही उपादान और निमित्त कारण नहीं हो सकता है। उपादान कारण मानने से परिणामी विकारी सिद्ध होता है। आपने तो घड़ा बनाने में कुम्हार और मिट्टी को एक ही बना दिया। मिट्टी ही कुम्हार हो गयी और मिट्टी ही घड़ा बन गयी। मकड़ी का दृष्टान्त भी यथार्थ दृष्टान्त नहीं है। दृष्टान्ताभास है। जाले

के प्रति उपादान कारण मकड़ी का शरीर होता है, जैसे गोबर के प्रति गाये का शरीर, मल के प्रति मनुष्य का शरीर उपादान कारण है। चेतन आत्मा यहां निमित्त कारण होता है। आपने शरीर और आत्मा को एक ही मान लिया है। कितनी मिथ्या यह धारणा है। यदि जाले के प्रति आत्मा को उपादान कारण मानते हैं, तो यह परिणामी हो जाता है, फिर शरीर और आत्मा में या जड़ और चेतन में कोई अन्तर ही नहीं रहता है। अतः यह अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध नहीं होता है। स्वयं ही उपादान और स्वयं ही निमित्त कारण सिद्ध नहीं होता है। अतः उपादान कारण प्रकृति और इस के कार्य हैं, और निमित्त कारण आत्मा और ब्रह्म ही सिद्ध होते हैं; क्योंकि ये दोनों सर्वदा सर्वथा परिणाम और विकार रहित हैं।

ब्रह्म का चित् अचित् शरीर मानने से इसके भी बन्ध और मोक्ष आत्मा की तरह आपको मानने पड़ेंगे। यह भी एक देशी होकर रह जायेगा। यह भी भोक्ता और कर्ता सिद्ध हो जायेगा। इसकी सर्वव्यापकता, निष्क्रियता, और निर्विकारता समाप्त हो जायेगी। चैतन्य का परिणाम होने से चित्त के समान उत्पन्न और विनाश होने वाला हो जायेगा। फिर इसके साथ धर्माधर्म, पाप पुण्य का सम्बन्ध भी मानना पड़ेगा। इसके बन्ध और मोक्ष स्वीकार करने होंगे।

यदि आप इसको निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिणामी मानकर शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव स्वीकार कर लें, तब कोई भी दोष इस में उपस्थित नहीं होता है। इसके सम्बन्ध से प्रकृति को विकारवान् मानकर सर्व कार्य सिद्ध हो जाते हैं। ब्रह्म में किसी प्रकार का संकोच विकास मानने की आवश्यकता नहीं। ये सब धर्म प्रकृति के ही हैं।

इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य परिणाम न मानकर केवल इससे सम्बन्धित चित्त का परिणाम मानकर सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। आत्मा भी निर्विकार रह सकती है।

सिद्धान्ती—आप भी तो आत्मा को निर्विकार परिणाम रहित मान कर इसके बन्ध और मोक्ष मानते हैं?

(समाधान) हम तो केवल चित्त के सान्निध्य से आत्मा में बन्ध स्वीकार करते हैं। इसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं मानते हैं। न ही कार्य की अवस्था में इसमें संकोच विकास मानते हैं। दोनों अवस्थाओं में एक ही समान निष्क्रिय और असङ्ग मानते हैं। आरोप का मतलब यह नहीं कि आत्मा के धर्म हैं, किन्तु चित्त के धर्म ही यह होते है, परन्तु आरोप इसमें कर दिये जाते हैं। बन्ध और मोक्ष वास्तव में अन्तः-करण के धर्म हैं, आत्मा तो सब गुणों और धर्मों से रहित है।

मुक्ति में साङ्कल्पिक शरीर का अभाव

सिद्धान्ती—मुक्ति में आत्मा अपने सङ्कल्प से दिव्य शरीर का निर्माण कर लेता है, उसकी अपनी शक्तियें भी होती हैं, इनके द्वारा दिव्य विषयों का उपभोग भी करता है, और ब्रह्म के आनन्द का भी उपभोग करता है।

(समाधान) इस मनुष्य लोक में भी जब सत्त्व गुण प्रधान होकर योगी समाधि द्वारा भूतों या तन्मात्राओं, और अन्तः करण चतुष्टय आदि का विज्ञान प्राप्त

करके इन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, तो वह भी स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का निर्माण कर लेता है। दिव्य, रूप, रस, गन्ध आदि के भोगने की भी उसमें सामर्थ्य हो जाती है, समाधि में बैठकर ब्रह्म के आनन्द का भी उपभोग कर लेता है। तब इस लोक में और मुक्ति में क्या अन्तर रहा। जब ये सब सुख और आनन्द इसी शरीर में रहते हुए इसी मनुष्य लोक में प्राप्त हो सकते हैं, तो मुक्ति में जाने की क्या जरूरत है। इस लोक में भी योगी इच्छा पूर्वक अनेक जन्म धारण करके अनन्त काल तक सुख और आनन्द का उपभोग कर सकता है। फिर तुम्हारी इस लोक और परलोक की मुक्ति में क्या विशेषता हुई, इस लोक में तो योगी दोनों प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म भोग भी कर सकता है, और तुम्हारी मुक्ति में तो एक ही प्रकार के सूक्ष्म भोग भोगने को मिलते हैं। आपके जैसी मुक्ति तो जहाँ सुख और आनन्द का भोग होता है, और विषयों का भी भोग होता है वह तो इस लोक में प्राप्त हो जाती है। तब परलोक में जाने की क्या आवश्यकता है।

प्रकृति के कार्यों का सम्बन्ध इस मुक्ति में बराबर बना हुआ है। सांकल्पिक शरीर का उपादान कारण भी पञ्चतन्मात्रा हो सकती हैं। इन्द्रिय और अन्तःकरण चतुष्टय भी इस सांकल्पिक शरीर में होना हुआ। भोग भी सूक्ष्म भूतों के भोगने हुए। जहाँ इन्द्रियों के भोग से सुख लाभ होता है, वहाँ दुःख की भी संभावना हो सकती है। क्योंकि सुख और दुःख का सम्बन्ध रात और दिन के समान है। रात है तो दिन भी है, दिन है तो रात भी है। सुख दुःख धर्म इन्द्रियों और अन्तःकरण के ही धर्म हुए। जब यहाँ के समान वहाँ भी सूक्ष्म सृष्टि वर्तमान है, बन्धन तो शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण का बना ही रहा। ये ही तो सर्व दुःखों का कारण बने हुए थे। जब इनसे छुटकारा न हुआ तो क्या यह मुक्ति हुई। इसको भुक्तिमय मुक्ति कहा जा सकता है। इस प्रकार की भुक्तिमय मुक्ति तो इस लोक में भी प्राप्त है। अतः इस प्रकार की मुक्ति में कोई विशेषता प्रतीत नहीं हुई, जहाँ इन्द्रियों के भोग भी हों, जो सदा से इस आत्मा के बन्धन का हेतु चले आ रहे थे, उन से तो पीछा न छूटा। योग दर्शनकार तो कहते हैं। यथा—

पुरुषार्थशून्यानांगुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठावाचितिशक्तिरिति ।।

योग दर्शन० कैवल्प० सू० ३४ ।।

—सत्त्व रजस् तमस् ये तीनों द्रव्य या गुण पुरुष-आत्मा का सर्व प्रकार का भोग देने के लिए अर्थ से शून्य-प्रयोजन रहित होकर अपने कारण में प्रवेश कर जाते हैं, उस योगी के लिए जिसने आत्म-विज्ञान प्राप्त कर लिया है। उनमें उस आत्मा के लिए भोग देने की सामर्थ्य नहीं रहती है। तब आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है।' यहाँ ये तीनों गुणों के सर्व प्रकार के सम्बन्धों का विच्छेद कथन कर रहे हैं। आप इनके कार्यों— सांकल्पिक शरीर, इनसे उत्पन्न इन्द्रियों, और अन्तःकरण को लेकर मोक्ष में जाना चाहते हैं। कैसा यह आपका मोक्ष हुआ। यहाँ योग शास्त्र प्रकृति के सब कार्यों का अभाव आत्मा के साथ मानता है। आप तो प्रकृति के कार्यात्मक पदार्थों को साथ में लेकर मोक्ष में चले हैं भोग भोगने के लिए। केवल ब्रह्मानन्द की ही बात करते तो कोई इस मोक्ष के लिए यत्नशील भी होता।

सांख्य इस विषय में कह रहा है। यथा—

'निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुतेः । अ० ६ । सू० १० ॥

—आत्मा के साथ मोक्ष में न कोई गुण होता है, और न किसी का संग ही होता है ।' अतः मोक्ष में सब गुणों और सब प्रकार के संगों से रहित होता है । इस का नाम है, यथार्थ रूप में मुक्ति या कैवल्य । जहाँ सर्व प्रकार से सुख दुःखों का अभाव है । कोई भी चेष्टा, कोई भी कर्म, कोई भी भूख, या प्यास, या चिन्ता, या राग, वेदना या हर्ष, या शोक कुछ भी तो नहीं है । केवल स्वस्वरूप में कैवल्य भाव से स्थिति है । तथा च वैशेषिक दर्शनम्—

'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ सन्निकर्षात् सुख दुःखे ।।' अ० ५१ । सू० १५ ॥

'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।।' अ० ५१ । सू० १७ ॥

—आत्मा इन्द्रिय, इनके विषय एवं मन के सन्निकर्ष सम्बन्ध विशेष से सुख दुःख की उत्पत्ति होती है । इनके अभाव होने पर संयोग का अभाव हो जाता है, क्योंकि इनका संयोग ही सुख दुःख को उत्पन्न करता है । अतः शरीर, इन्द्रिय, विषय, मन इनके साथ जो आत्मा का संयोग था, इस संयोग का अभाव होने से ही मोक्ष होता है । तथा च न्यायः ।

'सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गाः ।।' सू० ६३ ॥

'न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ।।' अ० ४ । आ० १।। सू० ६४ ॥

—जिस प्रकार अत्यन्त गाढ़ निद्रा में स्वप्न की अवस्था न होने पर दुःख या क्लेश का अभाव होता है, इसी प्रकार क्लेशों का अभाव अपवर्ग में होता है । जिसके कलेश नष्ट हो गये हैं, उस की फिर भोगादि में प्रवृत्ति नहीं होती है' । स्वरूप में स्थिति हो जाती है । यह अपवर्ग या मुक्ति है ।

प्रलयकाल की अवस्था में आपका सांकल्पिक शरीर भी तो प्रलय में नष्ट हो जायेगा, तब तो यथेच्छ सूक्ष्म भोगों और ब्रह्मानन्द के सुख का अभाव हो जायेगा । आप के सिद्धान्त के अनुसार परान्त काल तक या मुक्ति की अवधि तक स्थायी या यथेच्छ सुख और आनन्द का अभाव प्रलय काल की अवस्था में हो जायेगा । फिर नित्य सुख या आनन्द तो न रहा । यदि हमारे समान सर्व भोगों और सांकल्पिक शरीर का अभाव मोक्ष में मान लें, तब सृष्टि और प्रलय मुक्त आत्मा के लिए एक समान हो जायेंगे । जब सृष्टि काल में ही आप का मुक्त आत्मा सुख और आनन्द भोग सकता है, और प्रलय काल में इनका अभाव हो जाता है, तो मोक्ष या मुक्ति से क्या लाभ । प्रलय काल की अवस्था में तो वह कैवल्य रूप में रहता है । तब इस कैवल्य को सदा के लिए सृष्टि और प्रलय काल में एक ही समान क्यों नहीं मान लेते । जैसे हम कैवल्य मानते हैं । चाहे वह मुक्ति नित्य हो या अनित्य परन्तु सृष्टि और प्रलय में एक समान ही रहनी चाहिये । और वह एक समान तब ही हो सकते हैं, जबकि किसी भी प्रकार के शरीर का सम्बन्ध आत्मा के साथ न रहे । सूक्ष्म सांकल्पिक या दिव्य शरीर ही नित्यानन्द में बाधक होगा प्रलय काल में; जब इन शरीरों के उपादान कारण प्रकृति के परिणाम ही हैं, तो इन सब ने तो प्रलय काल में अवश्य ही नष्ट हो जाना है । तब यह शरीर कैसे रह सकते हैं, इन की भी तो प्रलय होनी है । इनके अभाव में । दिव्य भोगों और आनन्द से वंचित हो जायेगा । अतः सर्व प्रकार के शरीरों का अभाव मोक्ष में मानना यथार्थ होगा । तब

ही आत्मा का मोक्ष एक रूप, एक स्थितिक, एक ही अवस्था वाला होगा। प्रलय काल में तो आप का आत्मा हमारे समान ही हो जाता है। अतः आप के मोक्ष की अपेक्षा हमारा कैवल्य ही सर्वश्रेष्ठ है।

आत्मा, ब्रह्म और प्रकृति का वास्तविक स्वरूप

अब रही चर्चा अस्मदादि के त्रित्ववाद की। हम जीवात्मा, प्रकृति और ब्रह्म तीनों को नित्य मानते हैं।

आत्मा का स्वरूप—चेतन आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, जिसका और विभाग न हो सके। जिस में किसी भी जड़ या चेतन के प्रवेश करने का अवकाश न हो। कूटस्थ निर्विकार, असंग, निष्क्रिय, नित्य, अल्पज्ञ, निरवयव, अपरिणामी, चेतन, सत्, आत्मा है। सूक्ष्मता की इसमें पराकाष्ठा है। प्रकृति के संसर्ग से या सन्निधि से ममत्व की भावना या बन्ध का, भोक्तापन के आरोप का, चित्त के संयोग से अनेक प्रकार के गुणों का आरोप हो जाता है। इसके संग से ही जन्म-मरण का होना, बन्ध और मोक्ष माना गया है। तीनों शरीरों के अभाव में या सम्बन्ध छूट जाने पर कैवल्य रूप मुक्ति को प्राप्त होता है। कैवल्य में सर्व प्रकार के सुख या आनन्द का अभाव होता है।

प्रकृति का स्वरूप—कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य, परिणामिनी, भोग और मोक्ष प्रदान करने वाली है। चेतन के सन्निधान से क्रियाशील होकर संसार का सृजन करने वाली है। अपने सब कार्यों की अपेक्षा विभु, कारण रूप में सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्माण्डों के रूप में स्थूल है। जड़ है, परन्तु चेतन ब्रह्म के सन्निधान से चेतनवत् सी बनकर जीवों को भोग और मोक्ष प्रदान करने में समर्थ है। प्रलय काल की अवस्था में कारण रूप में स्थित होकर साम्य भाव को प्राप्त होना, और सृष्टि के सृजन काल में महान् आकारवाली बनकर, समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर लेना और सदा चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से क्रियाशील बने रहना इसके धर्म हैं। ३२ प्रकार के पदार्थों का निर्माण करके सर्व प्राणियों को भोग और अपवर्ग प्रदान करना इसके मुख्य कर्म हैं। ज्ञान और क्रिया इसके सर्वप्रथम दो ही मुख्य गुण हैं। इन के द्वारा ही यह हरकत में आती है। चेतन ब्रह्म के साथ इसका नित्य सम्बन्ध है, यह व्याप्य है और ब्रह्म इस में व्यापक है।

ब्रह्म का स्वरूप—सत्, चित्, सर्व व्यापक, निर्विकार, निरवयव, निष्क्रिय, असंग, विभु, अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप, प्रकृति को क्रियाशील करके आप निष्क्रिय रहना, सदा एक रूप, एक रस, प्रकृति के सन्निधान से कर्तापन का आरोप होना, प्रकृति के सन्निध्य से अनेक गुणों का आरोप होना, वास्तव में निर्गुण एक ही चेतन रूप होते हुए, अनेक पदार्थों को चेतनवत् बना देना, प्रकृति में अपनी चेतना शक्ति से ज्ञान, क्रिया, और बल का प्रादुर्भाव कर देना, इन सब आरोपित गुणों के आधार पर मनुष्यों और देवों के लिए, उपासना, प्रार्थना, विज्ञान तथा मोक्ष का हेतु बनना, इत्यादि अनेक गुण इस में आरोपित होते हैं।

आत्मा ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप—ये दोनों चेतन हैं। इन की चेतना को चाहे आप पदार्थ समझें, या इनका स्वरूप समझें। इस चेतना से भिन्न इनमें और कोई गुण या धर्म नहीं है। इन की यह चेतना नित्य और अपरिणामिनी है। परिणाम ही

धर्मों या गुणों को उत्पन्न करता है। अतः दोनों ही निर्गुण हैं । एक अणु है, और दूसरा महान् है। अणु या महान् इनके गुण नहीं हैं, यह इनका स्वरूप ही है। हमने इन को चेतन पदार्थ ही सिद्ध करना है। चेतन कहो चाहे ज्ञान कहो, ज्ञान चेतन से अलग नहीं है किन्तु ज्ञान ही चेतन रूप है।

जो परिणाम भाव को प्राप्त होता है, वह विकारवान् हो जाता है जो विकारी नहीं वही नित्य हो सकता है। इसलिये नित्यता इनका कोई कोई गुण नहीं हैं। सत् इनको कहा गया है, सत् होना इनका गुण नहीं है। किन्तु स्वरूप ही है। इन्हें सत् इस-लिये कहा है, कि इनकी चेतनता में कभी किसी भी प्रकार की तबदीली नहीं होती है। न कभी कार्यभाव को ही प्राप्त होते हैं। आनन्द भी इनका गुण नहीं है। किन्तु स्वरूप ही है। क्योंकि चेतनता ही आनन्द रूप है। इस प्रकार यह ब्रह्म के गुण नहीं हैं, कार्या-त्मक या परिणामात्मक पदार्थों का गुणगुणी भाव सम्बन्ध होता है। जड़ पदार्थों में जो धर्मों में गुणों की अभिव्यक्ति होती है, वह परिणाम काल में ही होती है। भले ही गुणगुणी का परस्पर अभेद ही है। परन्तु गुणों की अभिव्यक्ति में परिणाम ही कारण होता है। अतः सत् और आनन्द आत्मा और ब्रह्म के परिणाम से उत्पन्न हुए धर्म या गुण नहीं हैं, किन्तु चेतन ही सत् आनन्द रूप है। चेतन का सत् और आनन्द के साथ धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध नहीं है। अतः इनको हम स्वरूप सम्बन्ध या तादात्म्य सम्बन्ध, या सम्वाय सम्बन्ध भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ये सम्बन्ध परिणामात्मक पदार्थों में उत्पन्न होते हैं । वास्तव में ये एक पदार्थ के पर्यायवाचक शब्द हैं। न कि गुण या धर्म-वाचक शब्द। चेतनता ही ऐसा पदार्थ है, जो सत्‌रूप, ज्ञान रूप, आनन्द रूप है। अर्थात् चेतना में ही सत्ता, आनन्दता, तथा ज्ञानरूपता है। यह इसका स्वभाव ही है। जहाँ चेतनता है, वहाँ आनन्द है। जहाँ चेतनता है वहाँ सत् है। जहाँ चेतना है वहाँ ज्ञान है। अतः इन में गुण-गुणीभाव सम्बन्ध नहीं है। इन दोनों के सम्बन्ध से-ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध से चित्त में आनन्द का प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति होती है। इसका यह तो मतलब नहीं कि वहाँ आत्मा का परिणाम होकर चित्त में आनन्द की अभिव्यक्ति हुई। किन्तु चित्त जैसे सूर्य की किरणों के आतशी शीशे पर पड़ने से आतशी शीशा दाह पैदा करता हैं, और वस्त्रादि को जलाने में समर्थ हो जाता है, वैसे ब्रह्म या आत्मा में कोई सूर्य की तरह किरणें नहीं निकलती हैं। संयोग मात्रा से ही चित्त में आनन्द रूप दाह या ज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है। कोई इस चेतन के सम्बन्ध से इस प्रभाव या आनन्द को आत्मा में बताते हैं। कोई चित्त में बताते हैं, यही भ्रान्ति हो जाती है। इसका यह तो अभिप्राय नहीं कि चेतन आत्मा में परिणाम से यह आनन्द उत्पन्न हुआ है। आनन्द चेतन का ही यह स्वभाव है, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति चित्त में परिणाम धर्म उत्पन्न होने पर, चित्त में ही होती है। आत्मा तो आनन्द रूप ही था। क्योंकि चेतना में और आनन्द में अन्तर नहीं है। आनन्द रूप ही चेतना है। इसके ही प्रभाव से चित्त भी आनन्द-मय हो जाता है। जैसे पुष्प के प्रभाव से मणि रंगीन हो जाती है। एक प्रकार से चेतन में भी दूसरे गुण के रूप में भ्रान्ति से आनन्द की अभिव्यक्ति मानने लगता है। वह आनन्द वास्तव में चेतना से भिन्न नहीं है। परन्तु अज्ञानी को भिन्न रूप से प्रतीति होने लगती है। यह आत्मा में परिणामात्मक धर्म नहीं है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति

चित्त के सम्बन्ध से भ्रान्त रूप में आत्मा में भिन्न रूप से प्रतीत होने लगती है। वास्तव में चेतन से भिन्न वह नहीं है। इसी प्रकार चित्त में भी आनन्द की अनुभूति भ्रान्तिपूर्ण ही है। क्योंकि चित्त जड़ है, जड़ का धर्म तो आनन्द नहीं है। केवल आत्मा के आभास से आनन्द रूप धर्म इसमें प्रतीत होने लगता है। वास्तव में वह आनन्द इस चित्त का भी नहीं है। यहाँ भी भ्रान्ति से अनुभव हो रहा है। उधर चेतन आत्मा में भी चेतनता से भिन्न आनन्द का अनुभव हो रहा है। वास्तव में वह भिन्न नहीं है, चेतना का ही रूप है। चेतना का स्वरूप आनन्द के रूप में प्रत्यक्ष हो रहा है। चेतना की अनुभूति हुई आनन्द के रूप में क्योंकि चेतना की अनुभूति कराने वाला चित्त ही तो है। चेतना स्व से स्वयं का अनुभव तो नहीं कर रही है। चेतना की अनुभूति का द्वार चित्त है। इसके माध्यम से चेतना की आनन्द के रूप में या ज्ञान के रूप में अनुभूति हो रही है। यह चेतना का परिणामात्मक धर्म नहीं है किन्तु चित्त ने इसको आनन्द के रूप में अनुभव किया है। चेतना निरवयव है, परन्तु यह चित्त में आनन्द के रूप में प्रतीत हो रही है।

इसी प्रकार ज्ञान गुण के विषय में भी समझें। चित् शब्द और चेतन शब्द एक ही अर्थ के बोधक है। चित्त से ही चेतन शब्द बनता है। व्याकरण में चिति संज्ञाने धातु के अर्थ ज्ञान होते हैं। अर्थात् चिति धातु ज्ञान अर्थ में आती है। अतः चित् और चेतन के ज्ञान ही अर्थ होते हैं। ज्ञान कोई आत्मा का परिणामात्मक. गुण नहीं है। किन्तु ज्ञान रूप ही आत्मा है। जहाँ ज्ञान है वहाँ ही आनन्द है। ज्ञान और आनन्द में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु चित्त में यह भिन्न-भिन्न रूप से अनुभूत होते हैं क्योंकि चित्त परिणामी है। इसके परिणाम भेद से आनन्द रूप, ज्ञान रूप, इत्यादि धर्म चित्त में उत्पन्न होने लगते हैं। वास्तव में आत्मा चित् या चेतन ही है। चेतना में कोई परिणाम नहीं हो रहा है। इसलिये इसे सत् कहा है। आनन्द रूप में चेतन की प्रतीति हो रही है। अन्यथा निरवयव अरूप होने से किस प्रकार अनुभव का विषय बनता। अतः यह चेतना आनन्द रूप में और सत् रूप में अनुभव में आयी है, क्योंकि इसमें कोई परिणाम देखने में नहीं आया है। इस से सिद्ध होता है कि आत्मा और ब्रह्म में सिवाये चेतन स्वरूप के और कोई गुण नहीं है। सर्वथा निर्गुण हैं। आत्मा में चित्त के सान्निध्य से सब गुणों का आरोप होता है, और ब्रह्म में प्रकृति के सान्निध्य से सब गुणों का आरोप होता वास्तव में इनमें चेतन होने के सिवाय और है। कोई भी धर्म या गुण नहीं है। ब्रह्म के सम्बन्ध से प्रकृति में अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। वास्तव में प्रकृति का भी अपना एक ही स्वरूप है जड़ता। शेष जितने भी धर्म इसमें उत्पन्न होते हैं, वे चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से होते हैं। सत् इसको क्यों कहा है ? 'इसकी जो जड़ता है वह नित्य है। इसमें जड़ता का कभी अभाव नहीं होता है, इसलिये इसको सत् कहा है, क्योंकि ये तीनों पदार्थ अनादि और नित्य हैं। चेतन के सम्बन्ध से यह जड़ ज्ञान और गति वाली हो जाती है। यद्यपि चेतन कूटस्थ है, परन्तु इसमें ज्ञान और क्रिया सन्निधान- मात्र से हो जाती हैं।

ब्रह्म और प्रकृति का नित्य सम्बन्ध है। भ्रान्ति से इस ज्ञान और गति को ब्रह्म का गुण कह देते हैं। वास्तव में यह गुण ब्रह्म के नहीं है। भ्रान्ति से प्रतीति होती है, क्योंकि ब्रह्म सर्वथा निर्गुण है। यह गुण प्रकृति के भी नहीं क्योंकि वह जड़ है। अतः

इसमें भी ज्ञान और क्रिया की भ्रान्ति ही है। परन्तु होते उत्पन्न इसी में ही, चेतन ब्रह्म के सम्बन्ध से है। अतः यथार्थ में तो तीनों अपने-अपने एक ही स्वरूप वाले हैं। जड़ और चेतन इनमें जो शेष गुण उत्पन्न होते हैं वे संयोग से होते हैं। दोनों आत्माओं में कोई भी गुण उत्पन्न नहीं होता है। परन्तु चित्त और प्रकृति के सम्बन्ध से इनमें आरोपित कर दिए जाते हैं। चेतन के सम्पर्क से इस जड़ में क्रिया रूप परिणाम होने लगता है, क्योंकि दोनों नित्य हैं। अतः इस परिणाम में भी नित्यता सी आ जाती है; क्योंकि दोनों का सम्बन्ध भी नित्य है। सदा नित्य सम्बन्ध होने से ज्ञान, क्रिया, बल का कोई प्रकृति के गुण कहते हैं; कोई ब्रह्म के, परन्तु होते ये तीनों ही धर्म प्रकृति में हैं ब्रह्म में नहीं, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है। प्रकृति को किसी ने भी निर्गुण नहीं कहा है। केवल ब्रह्म को ही विद्वान लोग सगुण और निर्गुण कहते हैं। निगुणता इसका अपना स्वरूप है, सगुणता इसमें प्रकृति के सम्बन्ध से मान लेते हैं। कोई इस सगुणता को चेतन का ही परिणाम कहते हैं। कोई अस्मदादिक इस सगुणता को प्रकृति से आरोप हुआ मानते हैं। चेतनता के अतिरिक्त आत्मा और ब्रह्म में जितने भी गुण माने जायेंगे वे इन्हीं के संयोग से प्रकृति में उत्पन्न होकर इनमें ही आरोप किये जायेंगे। क्योंकि ये दोनों निर्गुण हैं। असंग इनको इसलिए कहा है कि सम्बन्ध होते हुए भी इनमें कोई तबदीली या विकार नहीं होता है। यदि कोई विकार इनमें संग से आ जाता है, तब ये असंग नहीं कहे जा सकते थे।

(शंका) जब आप आनन्द रूप धर्म को भी ब्रह्म में आरोपित मानते हैं, केवल एक चेतन रूप ही ब्रह्म को मानते हैं, तो इस चेतनता को भी क्यों न आरोपित हुआ गुण मान ले?

(समाधान) यदि चेतना की उत्पत्ति भी आनन्द के समान संयोग से मान लें, तब ब्रह्म का स्वरूप भी प्रकृति के समान जड़ मानना पड़ेगा। दोनों जड़ पदार्थ मिलकर जड़ की ही उत्पत्ति कर सकते हैं, चेतन की नहीं, क्योंकि जो गुण कारण में होते हैं, वे ही कार्य में आते हैं। जब कारण में चेतना नहीं है, तो कार्य में कैसे आ सकती है; क्योंकि अभावात्मक पदार्थ से भावात्मक पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे खरगोश या गधे के सींग नहीं होते हैं, अतः इनकी सन्तान के भी सींग न हुए हैं न होंगे ही। अतः ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को चेतन मानना ही समीचीन, युक्ति और प्रमाण संगत होगा।

प्रकृति और ब्रह्म की सूक्ष्मता में अन्तर

(शंका) यदि प्रकृति को भी ब्रह्म के समान सूक्ष्म मान लिया जाये, तो इनमें हानि की क्या संभावया हो सकती है?

(समाधान) इसको भी ब्रह्म के समान सूक्ष्म मान लिया जाये, तो ब्रह्म की व्यापकता समाप्त हो जाती है, यदि ब्रह्म की व्यापकता की ओर भी हम ध्यान न दें, तब इसमें परिणाम धर्म उत्पन्न नहीं होगा। जैसे आत्मा और ब्रह्म में सूक्ष्मता के कारण परिणाम धर्म उत्पन्न नहीं होता है। यदि सूक्ष्मता को ब्रह्म की सूक्ष्मता के समान ही मान लें और परिणाम धर्म चेतनता के सम्बन्ध से मान लें तब इसमें व्याप्य भाव नहीं हो सकेगा और ब्रह्म में व्यापक भाव नहीं हो सकेगा। फिर इनका संयोग सम्बन्ध मानना

पड़ेगा। संयोग सम्बन्ध होता है एक देशी पदार्थ के साथ में, अतः इनकी सर्वदेशिता समाप्त हो जायेगी। फिर यह प्रश्न होगा कि इनमें महान् कौन है ? फिर इनके लिए अलग-अलग रहने के लिए अवकाश चाहिए। स्थान भी अलग-अलग होने चाहिए जहाँ इनका निवास हो। तब तो इन दोनों की विभुता भी समाप्त हो जायेगी। अब तो ब्रह्म को सूक्ष्म मानने से यह ब्रह्म के गर्भ या अवकाश में ठहर सकती है, क्योंकि इसकी अपेक्षा ब्रह्म सूक्ष्म होने से इसको अपने अन्दर धारण कर लेता है। जैसे आकाश सूक्ष्म होने से सब पदार्थों को, या स्थूल भूतों को अपने अन्दर धारण कर लेता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी इस प्रकृति को अपने अन्दर रखने में समर्थ हो जाता है। ब्रह्म बड़ा विभु हो जाता है, और प्रकृति छोटी विभु हो जाती है, अपने कार्यात्मक पदार्थों की अपेक्षा से। ब्रह्म प्रकृति की अपेक्षा विभु है। ब्रह्म के मुकाबले में आत्मा को जो सूक्ष्म माना है, ये दोनों सजातीय चेतन हैं, अतः इनकी चेतन रूप सूक्ष्मता परस्पर बाधक नहीं होती है। एक दूसरे के साथ मिल जाने की, समाजाने की योग्यता है। यह पता नहीं चलेगा, कि ब्रह्म कौन सा है और आत्मा कौन सा। क्योंकि दोनों एक समान ही चेतन हैं। यदि कहो सजाती सजातो में जा मिला, जैसे जल-जल में जा मिला, फिर अलग कैसे हो सकता है ? जो पहले भी अलग था, वह मिलने के पश्चात् भी अलग हो सकता है। केवल चेतनत्वेन सजातीयता है, पदार्थ तो भिन्न-भिन्न ही हैं। जब पहले भिन्न थे तो बाद में भी भिन्न हो सकते हैं। जैसे भिन्नता प्रथम प्राप्त थी, मिलने के पश्चात् भी वैसे ही भिन्नता हो सकती है।

आत्मा ब्रह्म का अंश भी नहीं था कि पहले इससे पैदा हुआ बाद में जा मिला। इससे ब्रह्म विकारी हो जायेगा। अतः अनादिकाल से दोनों स्वरूप से अलग थे, और सदा अलग ही रहेंगे भी। यह बात दूसरी है, कि ब्रह्म महान् है, अनन्त है, इसकी महान्ता रूप अवकाश में यह भी निवास कर सकता है। इसके अवकाश में रहकर यह अपने स्वरूप को तो नहीं खो सकता है। अतः पदार्थ रूप से दोनों अलग-अलग हैं, और समान सूक्ष्म हैं। एक अणु है दूसरा विभु है। विभु होते हुए सूक्ष्मता के नाते आत्मा के बराबर सूक्ष्म भी है।

प्रकृति विजातीय है। विजातीय होने से ब्रह्म और आत्मा के समान मिल नहीं सकती है। जैसे मनुष्यों का एक समुदाय है। उसमें एक हाथी आ जाता है, वह पृथक् रूप से अलग प्रतीत होने लगता है। कोई भी उसको दूर से देख सकता है. या पहचान सकता है। यदि हाथी की अपेक्षा उस समुदाय में एक मनुष्य और आ मिले तो उसकी अलग पहचान नहीं हो सकती है, क्योंकि वह सजातीय है। इसी प्रकार विजातीय होने से प्रकृति मेल नहीं खाती। अतः इसको ब्रह्म की अपेक्षा कुछ स्थूल ही मानना पड़ेगा। तब ही इसमें विकार या परिणाम धर्म उत्पन्न हो सकता है और नाना रूप से हो सकता है। इसमें ब्रह्म व्याप्त होकर भी रह सकता है। यह ब्रह्म में ठहर भी सकती है। इसके अन्दर ब्रह्म रहकर इसको गत्यात्मक भी कर सकता है। ब्रह्म के समान सूक्ष्म मान लेने से अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं। विजातीय और कुछ स्थूल होने से ब्रह्म के साथ व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध भी बन जाता है। सजातीय और समान आकार वालों का संयोग सम्बन्ध होता है, व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं होता है। अतः ब्रह्म की

अपेक्षा प्रकृति को कुछ अंश में स्थूल सावयव ही मानना ठीक होगा। जिसमें ब्रह्म ओत-प्रोत होकर रह सके, या व्यापक रूप से निवास कर सके।

प्रकृति को निरवयव मानने से कार्यों की आरम्भक नहीं हो सकती। जैसे आत्मा और ब्रह्म निरवयव हैं, इसीलिए किसी भी पदार्थ के उपादान के रूप में आरम्भक नहीं होते हैं, निरवयव पदार्थ परिणामी भी नहीं हो सकता है। निरवयव यदि सूक्ष्म है तब पदार्थों का संयोगी बनेगा। यदि विभु है तब व्यापक बनेगा। उपादान कारण नहीं बन सकता है। अवयव ही कार्य के आरंभक होते हैं, मिलकर या संघात को प्राप्त होकर। प्रकृति को संकोच, विकास एवं परिणाम गुणों वाली मानना पड़ेगा। क्योंकि इसके कार्य अन्तःकरण आदि में संकोच और विकास तथा मध्यम परिणाम धर्म इसी के कारण से आये हैं। भले ही इसमें अनेक गुण ब्रह्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु परिणामिनी होने से गुणों के प्रति उपादान कारण इसे ही मानना पड़ेगा। अतः सांख्य वृत्तिकार हरि प्रकाश स्वामी का प्रकृति को निरवयव मानना ठीक यथार्थ प्रतीत नहीं होता है। इन्होंने 'न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्व श्रुतेः' में प्रकृति को निर्भागत्व सिद्ध किया है, परन्तु वृत्ति में ऐसा इन्हीं का अर्थ है। इससे ऊपर के सूत्र में प्रकृति और आत्मा को नित्य सिद्ध किया है। फिर इसके पश्चात् यह सूत्र दिया है। इस सूत्र का केवल आत्मा परक अर्थ भी तो हो सकता है। 'भोगी जो आत्मा है, उसका भाग हिस्सा नहीं हो सकता। क्योंकि श्रुति इसे निर्भाग कथन करती है।' सूत्रकार की प्रकृति के विषय में निर्भागता कथन करने की इच्छा प्रतीत नहीं होती है क्योंकि अगले सूत्र में आत्मा के लिए कथन किया है। आत्मा में आनन्द की अभिव्यक्ति मुक्ति में नहीं होती है निर्गुण होने से। कार्य स्वभाव वाली होने से भी नित्यत्व का इसमें अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि कारण के पश्चात् कार्य, और कार्य करण में चला जाता है। इस प्रकार अनादि काल से कार्य कारण की परम्परा चली आती है और चलती रहेगी। इस परम्परा को भी नित्य मानते हैं।

इसके कार्यात्मक व्यष्टि पदार्थों के साथ जीवात्मा का मुख्य सम्बन्ध बना रहता है, गौण रूप से कारण के साथ भी भोग और अपवर्ग सम्पादन करने के लिए बना रहता है। ब्रह्म का सम्बन्ध मुख्य रूप से कारण के साथ बना रहता है, क्योंकि इसके सन्निधान से सृष्टी की रचना होती है। इसके सान्निध्य से यह परिणाम भाव को प्राप्त होकर कार्यों में अनुपतन होती हुई चलती है, अतः गौणरूप कार्य के साथ भी ब्रह्म का सम्बन्ध रहता है।

अनादि काल से आत्मा का सम्बन्ध प्रकृति और इसके कार्यों के साथ भोग और अपवर्ग का चला आ रहा है। इसी कारण इसका बन्ध और मोक्ष अनित्य माना जाता है, क्योंकि जो वस्तु प्राप्त की गई है; उसने अपनी अवधि में समाप्त भी होना है। यद्यपि आत्मा सदा से शुद्ध बुद्ध और मुक्त है। परन्तु प्रत्यक्ष शरीर आदि के साथ सम्बन्ध देखकर इसमें बद्ध होने का आरोप कर दिया जाता है। अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होने से 'ममेदम्' की भावना या अभिमान यह करने लगता है। इस अभिमान को दूर करने के लिए स्व सम्बन्धित पदार्थों का विज्ञान और इनसे परम वैराग्य को ही कैवल्य कहा है। इस ज्ञान और वैराग्य के पश्चात् इस आत्मा की स्वस्वरूप में स्थिति का नाम ही कैवल्य है। इसका सम्बन्ध क्यों और कैसे होता है, इसका वर्णन पहले कर चुके हैं।

एकात्मवाद के अनेक दोष

सिद्धान्ती—'चिदानन्द-प्रतिबिम्ब-समन्विता ।
तमो-रजरसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥ १५ ॥
सत्त्व शुद्ध्य विशुद्धिभ्यां माया विद्यें च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ १६ ॥
अविद्यावशगस्त्वन्य स्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा करण-शरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् । १७ ॥
पञ्चदशी० तत्त्वविवेक प्रकरणम् ।

—चिदानन्द रूप ब्रह्म से प्रतिविम्बित, सत्त्व रजस् तमस् गुणवाली प्रकृति दो प्रकार की है। सत्त्व की शुद्धि से इसको माया, और सत्त्व की अशुद्धि से अविद्या मान लिया है। माय से प्रतिबिम्बित को सर्वज्ञ ईश्वर मान लिया है। दूसरा जो अविद्या के वश में फंस गया है। वह विचित्रता के कारण अनेक प्रकार का हो गया है। इसको हम जीव नाम से पुकारते हैं। इस अविद्या को हम कारण शरीर कहते हैं। इसमें अभिमान करने वाले को हम प्राज्ञ मानते हैं। प्राज्ञ का अर्थ जीवात्मा ही होता है।

(समाधान) जब आप ब्रह्म को निराकार, निरवयव, तथा असंग मानते हैं। तब इसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है। प्रतिबिम्ब आकारवान् पदार्थ का ही पड़ सकता है, निराकार पदार्थ का नहीं। यदि आप कहें कि जब ब्रह्म पदार्थ रूप से वर्तमान है तो उसका कोई रूप तो मानना ही पड़ेगा। तब हम आप से पूछते हैं, कि उसका रूप किस के समान है, जिसके रूप के साथ हम इस ब्रह्म के रूप की तुलना करें। तब आपके पास कोई भी उत्तर नहीं है। यदि आप कहें जीवात्मा के समान उसका रूप है। तब हम पूछते हैं, जीवात्मा का कैसा रूप है, उसके रूप की तुलना किसी अन्य पदार्थ के समान बताओ। यदि आप प्रकृति, और उसके किसी कार्यात्मक 'पदार्थ आकाशादि के साथ तुलना करो, तो ये सब जड़ पदार्थ हैं, चेतन के रूप की तुलना जड़ पदार्थ के साथ नहीं हो सकती है। अतः निराकार ब्रह्म का बिम्ब बिम्बी भाव नहीं बन सकता है, और बिम्ब भी तो एक देशी पदार्थ का पड़ सकता है, ब्रह्म तो सर्वव्यापक है, अतः निराकार होने से इसका बिम्ब नहीं पड़ सकता, फिर आप दूसरे पदार्थ को तो मानते ही नहीं हो, केवल एक ब्रह्म के सिवाय आपके सिद्धान्त में और कोई पदार्थ है ही नहीं, तब यह प्रकृति कहाँ से आयी जिसको आप माया और अविद्या के रूप में स्वीकार कर रहे हैं।

सिद्धान्ती—हम पदार्थ अनादि सान्त मानते हैं, ईश्वर, जीव, माया, अविद्या जीव ईश्वर का भेद। हम अनादि सान्त पदार्थ का खण्डन कर चुके हैं, अनादि सान्त पदार्थ कोई सिद्ध ही नहीं होता है। अनादि नित्य ही सिद्ध होता है।ब्रह्म का बिम्ब सिद्ध न होने से ब्रह्म ईश्वर भाव को भी प्राप्त नहीं हो सकता है, न जीव भाव को ही प्राप्त हो सकता है। बिम्ब बिम्नी भाव ब्रह्म में सिद्ध न होने से संसार का सृजन कैसे होगा। हाँ ! व्याप्य व्यापक भाव सम्वन्ध ब्रह्म और प्रकृति का मान लेने से ही सृष्टी की रचना हो सकती है। अथवा ब्रह्म के सन्निधान से सृष्टि का सृजन मानना पड़ेगा।

प्रौढीवाद से यदि बिम्ब बिम्बी भाव भी स्वीकार कर लें, तब शंका होती है, कि ब्रह्म में जो ईश्वर भाव आया है, क्या वह परिणत होकर आया है आप कहेंगे

विवर्त होकर आया है, क्या यह विवर्त है ? आप कहेंगे, ब्रह्म अपने वास्तविक स्वरूप को न छोड़कर ईश्वर भाव को प्राप्त होता है। क्या यह नाम रूप से भेद हुआ है ? अथवा पदार्थ रूप से ब्रह्म ईश्वर का भेद हुआ है, अथवा गुण गुणी रूप से भेद हुआ है। नाम मात्र के भेद से तो पदार्थ का भेद नहीं हो सकता है ? यदि पदार्थ भेद मानते हो तो कारण कार्य भाव सिद्ध होता है। यदि गुण गुणी भाव से भेद मानते हो तो परिणाम वाद सिद्ध हो जाता है। प्रकृति के समान ब्रह्म भी परिणामी सिद्ध हो जायेगा। अतः ईश्वरत्व भाव को ब्रह्म का प्राप्त होना ही सिद्ध नहीं होता है। इसलिए माया से प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर भाव को प्राप्त नहीं हो सकता है।

अब रहा दूसरा समाधान—ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबिम्ब होकर जीव-भाव को प्राप्त होना, और अविद्या के कारण अनेकत्व रूप से जीवों के रूप में हो जाना, यह भी सिद्ध नहीं होता है। ईश्वर-भाव को प्राप्त होने में जो दोष ब्रह्म में आता है, वही दोष जीव को प्राप्त होने में उपस्थित होता है। जीव भाव को प्राप्त होने में भी आपको चेत्तन का परिणाम मानना होगा, जो कि अशुद्ध है। अविद्या में प्रतिबिम्ब पड़ने पर होता है यह ! निराकार होने से अविद्या में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। परिणाम भाव को प्राप्त होकर ईश्वर और जीव भाव को प्राप्त होना, जिसे आप विवर्त कहते है, यह भी सिद्ध नहीं होता है। अतः इस प्रकार के अद्वैतवाद में अनेक प्रकार के दोष उपस्थित होते हैं।

इस विवर्त को न मानकर ब्रह्म के सन्निधान से प्रकृति का कार्यभाव को प्राप्त होना ठीक होगा जो कि कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य है। इस सिद्धान्त को मानकर ब्रह्म में न विवर्त मानने की जरूरत है, न परिणाम मानने की आवश्यकता है। अतः ब्रह्म, प्रकृति और जीव को अनादि नित्य मानने से कोई भी दोष उपस्थित नहीं हो सकता है।

सिद्धान्ती—ब्रह्म का प्रकृति के साथ सम्बन्ध होकर विवर्त-भाव को प्राप्त होना होता है, और प्रकृति द्वारा पदार्थों का उत्पन्न होना इन सबको हम स्वप्न के समान मिथ्या मानते हैं, अथवा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान मानते हैं।

(समाधान) स्वप्न के पदार्थ भी वास्तव में मिथ्या नहीं होते हैं। बहुत से स्वप्न तो यथार्थ ही होते हैं। यदि मान लिया जाये झूठे भी होते हैं, तो स्वप्न में जो पदार्थ देखने में आते हैं, वह तो केवल देखे, सुने, अनुभव किये हुए पदार्थों की ही स्मृति होती है। न कि वहाँ कोई कार्य या व्यापार होता है। वह तो स्मृति जन्य ज्ञान ही होता है। अतः स्वप्न के पदार्थ भी मिथ्या नहीं होते हैं। पूर्वानुभूत पदार्थों, कार्यों या व्यापारों का ही उस अवस्था में स्मरण होता है। अतः यह स्वप्नजन्य ज्ञान की स्मृति वृत्ति के अन्तर्गत हो जाता है। इससे सिद्ध होता है, स्वप्न के पदार्थ भी मिथ्या नहीं होते हैं।

रही रज्जु में सर्प की भ्रान्ति की बात। संसार में सर्प भी वर्तमान है, और रज्जु भी वर्तमान है। दोनों पदार्थों का ही भाव है, अभाव नहीं है। अन्धकार के कारण अथवा आँख की दृष्टि कम होने के कारण से भ्रान्ति हुई। जब दोनों वस्तुओं की सत्ता मौजूद है, तब यहाँ दृष्टि का दोष है, न कि पदार्थों का अभाव है। इस अन्धकार के

कारण या दृष्टि दोष के कारण आप वस्तु से ही इनकार करते हैं। हम तो तब भ्रान्ति जन्य समझते कि पदार्थ का सदा सर्वत्र ही अभाव होता और फिर भ्रान्ति होती। शश के सींग नहीं होते हैं, सदा और सर्व देश में इनका अभाव ही रहता है। इसमें कभी भ्रान्ति नहीं होती है और न स्वाप्निक कल्पना ही कभी होती है। अतः स्वप्न के पदार्थों का मिथ्यात्व और रज्जु में सर्प की भ्रान्ति का दृष्टान्त ठीक नहीं है। ये दृष्टान्ताभास ही हैं। अतः प्रकृति और इसके कार्यात्मक पदार्थ सत्य ही हैं, मिथ्या नहीं हैं। न ही कल्पना किये हुए हैं।

इस उपरोक्त विवेचन से आप का एकात्मकवाद या अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होता है।

(शंका) आप आत्मा को नाना मानकर कैवल्य का वर्णन करते हैं, और इस की प्रत्येक के लिए प्राप्ति मानते हैं, यदि एक ही ब्रह्म को सब अन्तःकरणों का अधिष्ठान मानकर भोग और अपवर्ग मान लें, तो क्या आपत्ति है?

(समाधान) एक चेतन विभु सब अन्तःकरणों का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। जो घटाकाश, मठाकाश का दृष्टान्त देकर एक आकाश को ही अधिष्ठान सिद्ध करते हैं, वह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। आकाश पदार्थों के प्रति ज्ञान और क्रिया का हेतु नहीं बनता है। केवल पदार्थों को अवकाश ही प्रदान करता है। वह केवल जड़ है। अन्तःकरण के प्रति चेतन अधिष्ठान होकर ज्ञान और क्रिया का हेतु बनता है। एक अधिष्ठान के मानने से सब अन्तःकरणों के ज्ञान क्रिया, कर्म और भोग समान होंगे। सांख्य ने कहा है। यथा—

'एकत्वेन परिवर्तमानस्य विरुद्धधर्माध्यासः।' अ० १। सू० १५२॥

—एक ही आत्मा को सर्व उपाधियों का अधिष्ठान मानने से सुख दुःख आदि जो विरुद्ध धर्म हैं इनका सम्बन्ध भी नहीं होगा। कोई बद्ध है, कोई मुक्त है। यह भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः अधिष्ठान को नाना मानना यथार्थ सिद्ध होता है। एक अधिष्ठान मानने से यह विलक्षणता भी नहीं होगी, कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई धनी, कोई निर्धन। यदि कहो कि यह धर्म अन्तःकरण के हैं, तो अन्तःकरण तो जड़ है, उसके ये धर्म चेतन के सहयोग के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, अतः ये चेतन की अपेक्षा करते हैं। भिन्न-भिन्न अधिष्ठान होने से भिन्न-भिन्न कर्तापन का अभिमान भी होता है, और ज्ञान क्रिया भी भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों का अलग-अलग चेतन मानने से ही कर्म और भोग में विलक्षणता आयेगी। एक अधिष्ठान से यह विलक्षणता नहीं हो सकती है। एक अधिष्ठान तो भिन्न अन्तःकरणों के सम्बन्ध से अनेक रूपों वाला हो जायेगा। अधिष्ठान भिन्न-भिन्न रूप का हो जायेगा। पर ब्रह्म तो अपरिणामी है, अतः प्रत्येक अन्तःकरण के लिए चेतन पृथक्-पृथक् ही होना चाहिये। तब ही कर्म भोग की व्यवस्था ठीक होगी। अन्यथा एक अधिष्ठान से सब के कर्म भोग समान हो जायेंगे। एक ही अधिष्ठान कर्म भोग की विलक्षणता पैदा नहीं कर सकता। दृष्टान्त के रूप में—जैसे एक दीवार पर सामने छोटे-छोटे हजारों शीशे आप लगा दें, और सामने खड़े होकर देखें, आपको अपनी सहस्रों आकृतियाँ दीखेंगी, और वे सब एक ही समान होंगी। कोई भी अन्तर किसी में न होगा। जैसी आप चेष्टा करेंगे उस प्रकार की सब दर्पणों में एक समान ही चेष्टा होती दिखाई देगी, क्योंकि क्रिया का अधिष्ठान एक है।

इसी प्रकार एक ब्रह्म को अधिष्ठान मानने से सब अन्तःकरणों के भोग और कर्म, दुःख और सुख, बन्ध और मोक्ष, सब समान ही हो जायेंगे। लोक में भी ऐसा देखने में नहीं आता है। अनेक अधिष्ठानों के होने से ही अन्तःकरणों और कर्म भोगों में अन्तर आ सकता है।

एक अन्तःकरण के साथ एक ही आत्मा का सम्बन्ध होता है। तब ही कर्म, भोग, और अभिमान की विलक्षणता आती है। भोक्तापन का अभिमान चेतन में ही होता है। चेतन कहता है कि मेरा अन्तःकरण इस बात को नहीं मानता है। अतः अधिष्ठान भिन्न है और अन्तःकरण भिन्न है। अभिमान चेतन में ही होता है, न कि जड़ में, एक अधिष्ठान होने से उसके एक देश में कहीं ज्ञान, कहीं अज्ञान, कहीं बन्ध कहीं मोक्ष होगा। एक देश में ही कहीं पाप कहीं पुण्य होगा। अतः भिन्न-भिन्न ही चेतन अधिष्ठान मानना ठीक होगा। तब ही कर्म भोग और फल की व्यवस्था ठीक हो सकेगी। अन्तःकरणों के एक ही चेतन के उपाधिमान होने से जिस-जिस देश में उपाधि होगी, उसी-उसी देश में पुनः द्वैत सिद्ध होगा क्योंकि उपाधि और उपाधिमान का भेद है। इस विषय में सांख्य सूत्र का कथन है—

'उपाधिश्चेत्तात्सिद्धौ पुनर्द्वैतम'—उपाधि के सिद्ध होने पर उपाधिमान भी पृथक् रूप से सिद्ध होता है। तथा च—

'नाद्वैतमत्मनोलिङ्गात्तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥'

'नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२ ॥' सां० अ० ५ ॥

—आत्मा एक नहीं हो सकता है, लिंगात्—सुख, दुःख, जन्म-मरण आदि लिंग से भेद प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष रूप से हम सर्वत्र भेद देखते है। इसमें बाधा पड़ जायेगी यदि एक ही अधिष्ठान मानेंगे।'

(शंका) तब तो एक प्रकृति में एक ब्रह्म को उपाधिमान मानकर ब्रह्म को भी भोक्ता रूप से अभिमानी मानना पड़ेगा, और इसमें भी कर्म भोग मानना पड़ेगा ?

(समाधान) ब्रह्म और प्रकृति का व्यापक व्याप्य भाव सम्बन्ध है, अतः इसमें भोक्तृत्व सम्बन्ध नहीं हो सकता है, और न मोक्षपन का अभिमान ही हो सकता है। परन्तु अन्तःकरण और आत्मा का तो संयोग सम्बन्ध है, इस संयोग से ही आत्मा में अभिमान पैदा होता है। दोनों एक देशी हैं, अन्तःकरण और आत्मा एक देशियों में ही संयोग सम्बन्ध है। ब्रह्म सर्व देशी है और प्रकृति से सूक्ष्म है, अतः इस में व्यापक है। इसी कारण इसमें भोक्तृत्व अभिमान नहीं हो सकता है। अतः आत्मा नाना है, और प्रत्येक अन्तःकरण के लिए एक-एक आत्मा ही अधिष्ठान होता है। तब ही कर्म फल भोग की और बन्ध, मोक्ष की व्यवस्था ठीक होती है। एक अधिष्ठान से न भोग सिद्ध होता है और न अपवर्ग ही बनता है। अतः नाना आत्मा ही कैवल्य भाव को प्राप्त होते हैं।

आत्मा के नानात्व में श्रुति प्रमाण

आत्मा के नानात्व में उपनिषदों में अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—

'द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सहस्थितौ ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ।।
केवलं साक्षिरूपेण, बिना भोगो महेश्वरः ।
अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ४ । मं० ३२ ।।

—इस मनुष्य के शरीर में अत्यन्त शोभायमान जीवात्मा और ईश्वर हृदय प्रदेश में साथ मिलकर ठैरे हुए हैं । इन दोनों में जीवात्मा ही कर्मफल का भोग करता है । ईश्वर नहीं करता है । केवल साक्षी रूप होकर बिना किसी प्रकार के भोग के वह महेश्वर निवास करता है ।'

भेद को स्पष्ट रूप में बताने वाले कैसे सुन्दर स्पष्ट वाक्य उपनिषद् में हैं। अतः सर्व प्रकार से आत्मा और ब्रह्म का भेद तथा आत्माओं का नानात्व ये वाक्य सिद्ध कर रहे हैं । तथाच सांख्य सूत्रम्—

'पुरुष बहुत्वं व्यवस्थातः ।' अ० ६ । सू० ४५ ।।

जीवात्मा बहुत हैं, क्योंकि जन्म-मरण की व्यवस्था देखने में आती है । एक जीवित है, दूसरा मर गया है । इत्यादि से आत्मा नाना सिद्ध होते हैं ।

वैशेषिक दर्शन भी आत्मा के नानत्व की पुष्टि करता है । यथा—

'व्यवस्थातो नाना ।' अ० ४ । आ० २ । सू० २१ ।।

—कर्म भोग, कर्मफल, जन्म-मरण की भिन्न-भिन्न रूप से व्यवस्था देखने में आती है, अतः आत्मा नाना ही सिद्ध होते हैं । तथाच—

'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।' सा० । अ० १ । सू० १५० ।।

—जन्म, कर्म भोग आदि की व्यवस्था भिन्न-भिन्न होने से आत्मा बहुत हैं ।

अथर्ववेद भी आत्माओं को नाना स्वीकार करता है । यथा—

'बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैवदृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता साममप्रिया ।। २५ ।।
इयंकल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृताशये स यश्चकार जजार सः ।। २६ ।। अथर्व० १० । ८ ।।

—(एकं बालात् अणीयस्कम्) जीवात्मा बालाग्र के समान सूक्ष्म, अणु है । (उत् एकंनैव दृश्यते)एक ब्रह्म नहीं दीखता है व्यापक है ।(ततः) इन दोनों में से (परिष्वजीयसी देवता) अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध रखने वाली आत्मा (सा मम प्रिया) वह मेरी प्यारी आत्मा है ।

(इयं कल्याणी अजरा)-यह मेरी आत्मा कल्याण स्वरूप पवित्र है । जीर्ण होने वाली नहीं है । नित्य है । (मर्त्यस्य गृहे अमृता) मानव के शरीर में न मरने वाली, अमृत रूप, मोक्ष रूप, सदा अमर रहने वाली है । (यस्मै कृताशये) जिस मनुष्य के शरीर के लिए निश्चित की गयी है, उसमें निवास करती है । (सः यः चकार सः जजार) जिस देव ने इस शरीर को बनाया है, वह इसे जीर्ण कर देता है, जिसका निर्माण हुआ उसका विनाश भी होता है।'

इन अथर्ववेद के मन्त्रों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि आत्मा ब्रह्म से पृथक् है, और यह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से कर्म फल भोगते हैं, और भिन्न रूप से अधिष्ठान के रूप में निवास करते हैं। यथा च—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयः, सःचानन्त्यायकल्पते ।।

श्वेताश्वतर० अ० २। मं० ६ ।।

अन्यच्च—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।।
समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः ।।

श्वेताश्वरो० अ० ४। मं० ६, ७ ।।
मुण्डक० ३। १ मं० १। २ ।।

—इन मन्त्रों में मनुष्य शरीर को वृक्ष की उपमा देकर अलंकार रूप से आत्मा और परमात्मा का भेद रूप से होना प्रतिपादित किया गया है। वृक्ष की उपमा इसलिये दी गयी है कि वृक्ष पर ही फल लगते हैं, जिनको मनुष्य खाता है। जीवात्मा और परमात्मा को अलंकार रूप से पक्षी के रूप में वर्णित किया गया है। जिनके सुन्दर पंखों का वर्णन किया गया है। पक्षियों से इनकी उपमा दी गयी है। द्वा सुपर्णा—दो सुन्दर परों वाले, मित्रों के रूप में साथ मिलकर एक ही समान वृक्ष पर बैठे हैं, अथवा एक ही शरीर में मिल बैठे हैं। दोनों ने मिलकर इस शरीर में प्रवेश किया है। इकट्ठे होकर इसमें आये हैं। इसमें उत्पन्न हुए हैं, शरीर में प्रवेश करना ही इनकी एक प्रकार की उत्पत्ति है। इन दोनों में एक जीवात्मा है जो बहुत स्वादिष्ट फलों को खाता है। अर्थात् जीवात्मा इस शरीर में रहकर कर्म फलों का उपभोग करता है। दूसरा पक्षी परमात्मा है, इसको सर्व प्रकार, सब ओर से देखता रहता है। इस कर्मफल का विभाग करता रहता है क्योंकि इसकी व्यापकता सर्वत्र वर्तमान है। दोनों सामान रूप से इस वृक्ष पर निमग्न हुए हैं, आसीन हुए हैं। चेतनत्वेन और सूक्ष्मत्वेन दोनों की समानता है। इस शरीर रूपी वृक्ष पर जीवात्मा बैठा कर्मफल भोगने में आसक्त है। मोह राग में फंसा है भोक्ता बनकर। अज्ञान से, ईश भाव न होने से, ऐश्वर्य रहित होने से, मोह को प्राप्त हो, अज्ञानता के कारण शोक, चिन्ता दुःख को प्राप्त होता है। कर्मफल का भोग ही अविद्या, अज्ञानता के कारण होता है। जब यह आत्मा योग समाधि द्वारा, वैराग्य विज्ञानपूर्वक स्थिर होकर उस भगवान् को देखता है, अपने निकट में ही, विचारता है—'यह महान् आत्मा मेरे पास होकर भी उदासीन भाव से निवास कर रही है', तब अपने ऊपर इसे अत्यन्त लज्जा आती है। भोगों की आसक्ति पर पश्चाताप होता है। तब इसे इस भगवान् की महिमा का ज्ञान होता है—'यह कितनी महान् आत्मा है, जो भोगों से उदासीन होकर बैठी है, कितना ऊँचा इसका त्याग वैराग्य है, कितनी ऊँची संसार के भोगों से उपेक्षा है। कितना वीतराग और निस्पृह यह है। कितना महान् वैराग्यवान् और त्यागी है।' तब इसके चित्त में भी परम वैराग्य उत्पन्न होता है। सब प्रकार के शोक, चिंताओं,

तथा भोगों से उपराम होकर विरक्त हो, सब कारण कार्यात्मक प्रकृति से मुक्त हो, अपने वास्तविक कैवल्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। कैवल्य भाव को प्राप्त कर लेता है।

स्वरूप स्थिति के बारे में महोपनिषद् इस प्रकार वर्णन करती है। यथा—

'संशान्त सर्वसंकल्पा या शिलावद वस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविमुक्ता सा, स्वरूपास्थितिः परा ।। अ० ५। मं० ६ ।।

—जब कैवल्य में स्थिर होने का अवसर आता है तब अन्तःकरण के सब संकल्प शान्त हो जाते हैं। किसी प्रकार की भी चेष्टा आत्मा में नहीं होती है, जैसा पाषाण निश्चेष्ट होता है, इसी प्रकार सब चेष्टायें आत्मा की शान्त हो जाती हैं। जो अन्तःकरण के कारण से होती हैं। जाग्रत्, निद्रा और स्वप्नावस्थाओं से भी मुक्त हो जाता है। शिलावत् का अभिप्राय यह नहीं है कि पत्थर के समान जड़ हो जाता है, किन्तु जैसे शिला निश्चेष्ट होती है, इस प्रकार आत्मा की सब चेष्टायें शान्त हो जाती हैं। जोकि शरीर इन्द्रिय और अन्तः करण के कारण इसमें होती हुई प्रतीत होती थीं। इसको स्वरूप स्थिति या कैवल्य भाव कहते हैं। इस विषय में सांख्याचार्य कहते हैं यथा—

'कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ।।' सांख्य० अ० १। सू० १४५ ।।

—कैवल्य केलिये आत्मा की प्रवृत्ति हीती है। क्योंकि बन्ध और मोक्ष का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। अनादि प्रवाह से शान्त नहीं है, किन्तु अनादि प्रवाह से नित्य है। जिन आचर्यों ने सृष्टि सृजन और जीवात्मा के बन्ध के लिये माया की कल्पना की है उनके ही सिद्धान्त में सान्त धर्म हो सकता है। हमने कल्पना नहीं की है, किन्तु प्रकृति सदा से कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य चली आ रही है। मुक्त अवस्था में केवल आत्मा का सम्बन्ध छूटता है, प्रकृति के कारण और कार्य बने ही रहते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद से यह अभिप्राय नहीं है, कि सदा के लिये नष्ट हो गयी है। जब आगे सम्बन्ध बना था, तब आगे भी कभी बन सकता है। अतः कैवल्य में केवल प्रकृति के कार्यों और कारण रूप प्रकृति से कुछ काल के लिये सम्बन्ध-विच्छेद होना ही स्वरूप स्थिति या कैवल्य है। इस विषय में योग दर्शन का प्रकरण है। यथा—

'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य साधारणत्वात्।' सा० पा० सूत्र २२ ।।

—मुक्त आत्मा के प्रति कृतार्थ हो जाने से संयोगा भाव इस मुक्त आत्मा का हो जाता है। अन्य के लिये कारण कार्य रूप से भोग और अपवर्ग के लिये बनी रहती है।' यहाँ नष्ट शब्द का अर्थ है, संयोगाभाव, या सम्बन्ध विच्छेद। हमारे सिद्धान्त में मूल रूप से किसी पदार्थ का नाश नहीं होता है। केवल कार्य का अपने कारण में प्रवेश करना ही होता है। सत्य कार्य वाद ही हमें अभिमत है। यह जो आत्मा का अन्तः करण के साथ संयोग हुआ था, केवल स्वरूप की उपलब्धि या कैवल्य भाव प्राप्त होने के लिये हुआ था। कैवल्य प्राप्त होने पर संयोगाभाव हो गया। तथा च योग सूत्रम्—

'स्व-स्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः।' सा० पा० सू० २३ ।।

—इस संयोग का हेतु अविद्या हुई थी, जिसने स्व-स्वामीभाव को पैदा कर दिया। अब परम विज्ञान और परम वैराग्य से इसका अभाव हो गया। अभाव होने से संयोगा भाव ही हान का द्योतक है। तब ही कैवल्य में आत्मा की स्थिति होती है।

मोक्ष में आत्मा में गति का अभाव

(शंका) मोक्ष में जाने के लिये कोई साधन तो अब रहा नहीं शरीर ही साधन था, इधर-उधर ले जाने वाले सूक्ष्म शरीर का भी सम्बन्ध विच्छेद हो गया, आत्मा कूटस्थ है। इसमें गति का अभाव है। तब मोक्ष में आत्मा का गमन किस प्रकार होगा ?

(समाधान) कहां है वह मोक्ष जिसमें आत्मा को ले जाना चाहते हैं। स्थूल भूतों से लेकर ३३ पदार्थों के लोकों से यह गमन करता आ रहा है। सब मंजिलें, सब मार्ग, सब लोक इसने तै कर लिये हैं, इन ३३ प्रकार के लोकों में क्रम से विज्ञान प्राप्त करता हुआ और वैराग्य को परिपुष्ट करता हुआ, यह आ रहा है, अब तो केवल ब्रह्म का लोक ही शेष रह जाता है। यदि इस लोक से भी आगे कोई और लोक हो तो उसको हम नहीं जानते हैं, न कहीं सुना है, व कहीं पढ़ा है, न ही कहीं देखा है। अतः जहाँ ब्रह्म वास करता है, वहाँ ही इस मुक्त आत्मा का लोक है। अब तो इसके आने-जाने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये। किसी अभीष्ट को साप्ति के लिये गमन रूप क्रया होती है। जब कोई अभीष्ट ही नहीं रहा तब गमन किस लिये।

(शंका) क्या ब्रह्म-प्राप्ति अभीष्ट नहीं है ?

(समाधान) ब्रह्म तो प्राप्त हो गया है। जब सब विज्ञानों और पदार्थों को पार करता हुआ यह मुमुक्षु अन्तिम विज्ञान और अन्तिम पदार्थ में आ पहुँचा है, और अब कुछ पदार्थ या विज्ञान का अवशेष नहीं रहता है। यही इस मुक्त आत्मा का परमधाम है। जिस की प्राप्ति के लिये यह अनेक जन्मों से प्रयत्न करता चला आ रहा था। इस ब्रह्म लोक में पहुँच कर बिना किसी शरीर के या करण के भगवान् यदि इस मुक्त आत्मा पर स्वयं भी करण रहित होकर किसी आनन्द विशेष की कृपा करते रहे, तो उसको हम नहीं जानते हैं, क्योंकि यह मुक्तात्मा सर्व प्रकार से तृप्त है, फिर वह तो तृप्ति की तृप्ति होगी। आनन्दरूप में आनन्दरूप का मिलना हो गया। मुक्त के साथ मुक्तात्मा का मिलना हो गया। यह है यथार्थ में कैवल्य अथवा मोक्ष। हम कैवल्य के पर्यायवाची अपवर्ग, मुक्ति और मोक्ष को मानते हैं।

मोक्ष से पुनरावृत्ति

वेदान्त दर्शन के अन्त में सूत्र है, कि मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होती। यथा—

'अनावृत्ति शब्दा दनावृत्ति शब्दात्।' अ० । ४ । श० ४ । सू० २२ ॥

सांख्य में एक सूत्र आया है। यथा—

'न मुक्तस्य पुनर्बन्ध योगो ऽनावृत्तिश्रुतेः।' अ० ६ । सू० १७ ॥

—इन दोनों सूत्रों का अभिप्राय तो यही प्रतीत होता है, कि मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होती है।' परन्तु जब एक पदार्थ या वस्तु उत्पन्न हुई है, वह सदा के लिए नित्य कैसे सिद्ध हो सकती है। जब आप मुक्ति को पैदा होने वाली, या प्राप्त होने वाली मानते हैं, तो उसने एक दिन अवश्य ही नष्ट होना है। जब कभी पहले बन्ध हुआ है, तो पश्चात् भी बन्ध हो सकता है। जिसका कभी आदि न हुआ हो और उसका अन्त हो जाये, यह कोई मूर्ख भी मानने के लिये तैय्यार नहीं है फिर विद्वान तो कैसे मानेगा। इस विषय में उपनिषत् का मन्त्र भी प्रमाण है। यथा—

'वेदान्त-विज्ञान सुनिश्चितार्थः सन्यासयोगात्यतयः शुद्ध सत्त्वाः ।
ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।

मुण्डक खं० १ । मं० ६ ।।

—वेदान्त विज्ञान के द्वारा अच्छी तरह निश्चित करके भली प्रकार सब कुछ त्याग कर, जितेन्द्रिय योगी, जिनका अन्तःकरण बिलकुल निर्मल हो गया है, योग के द्वारा वे ब्रह्म-लोक में से परान्त काल के पश्चात् (परिमुच्यन्ति) छूट जाते हैं । एक परान्त काल की अवधि ३११०४०००००००००० वर्ष शास्त्रकार मानते हैं । मुक्ति के विषय में दोनों प्रकार के प्रमाण मिलते हैं, यह परोक्ष का विषय है । भिन्न-भिन्न मान्यतायें इसके विषय में आचार्यों की है । परन्तु हमारी मान्यता यही है जो उत्पन्न हुआ है उसने सदा नहीं रहना है । एक दिन अन्त अवश्य ही होगा । मोक्ष की अवधि की वर्ष संख्या चाहे कितनी भी मान ली जाये । जो बन्ध से मुक्त हुआ है वह फिर भी बन्ध सकता है । ऐसा कोई मुख्य कारण प्रतीत नहीं होता कि पुनः बन्ध न हो ।

जो वस्तु सदा नित्य है, वह सदा नित्य ही रहेगी । जो वस्तु एक बार अनित्य हो चुकी है, वह फिर भी अनित्य हो सकती है । क्योंकि बन्ध और मोक्ष का रात और दिन के समान सम्बन्ध है । अतः अनित्य का सदा के लिये नित्य हो जाना बुद्धि स्वीकार नहीं करती है ।

कैवल्य से पुनरागमन न मानने वाले यह कहते हैं कि आत्मा अनन्त हैं । अतः मुक्त होते-होते संसार का उच्छेद नहीं होगा । परन्तु इसके समाधान में हमारा यही कहना है कि चाहे कितना ही बड़ा खजाना हो, और उसमें आय न हो, व्यय होता रहे, तो उसने आखिर एक दिन खतम तो होना ही है । चाहे कितने भी अनन्त जीव हो, यदि वे मोक्ष से वापिस नहीं आयेंगे तो कमी न कभी इस संसार में उनकी समाप्ति हो ही जायेगी क्योंकि मोक्ष में गमन तो है, आगमन नहीं है । जब आप बन्ध को अनादि अनित्य मानते हैं, तो अनित्य मोक्ष नित्य कैसे हो सकता है ।

हम आत्मा को नित्य, शुद्ध, असंग, निष्क्रिय, निर्विकार और मुक्त मानते हैं । इस प्रकार होते हुए भी अनादि काल से अविद्या या अन्तःकरण, वा प्रकृति के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है । एक देशी होने से यह सम्बन्ध है, जो बन्ध और मोक्ष का हेतु मान लिया गया है । जैसे शरीर के सम्बन्ध से शरीर का मरण होने पर, आत्मा के नित्य होने पर भी मरण मान लेते हैं परन्तु मरण होता तो नहीं है । लोक व्यवहार में ऐसा मान लिया है । पुनः जन्म भी मानते हैं । यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त केवल हिन्दू (आर्य) शास्त्रों का ही है, अन्य का नहीं । वास्तव में मोक्ष भी एक प्रकार का मरण सा ही है । इस मरण का और मोक्ष के मरण का केवल इतना ही अन्तर है कि इस जन्म के मरण पर आत्मा सूक्ष्म शरीर को लेकर चलता है, क्योंकि धर्म अधर्म के संस्कारों को साथ में लेकर पुनर्जन्म धारण करना है। मोक्ष की अवस्था में किसी प्रकार का भोग नहीं होता है, अतः वहाँ सूक्ष्म शरीर की जरूरत नहीं है । जिस प्रकार स्थूल शरीर की मृत्यु से यह पञ्चभूतों का कार्य समाप्त हो जाता है, क्योंकि यह शरीर बिल्कुल जीर्ण हो गया था । दूसरे जन्म में पुनः नये पञ्च भूतों से नया शरीर प्राप्त होना है, वे भूत ही परिणाम भाव को प्राप्त होकर उपादान के रूप में नूतन शरीर के लिये उपस्थित हो जाते

हैं। इसी प्रकार मोक्ष में गमन से पूर्व सूक्ष्म शरीर भी जीर्ण सा हो जाता है। यह अपने कारण में जा. परिणाम भाव को प्राप्त हो नूतन के योग्य बन जाता है। जैसे स्वर्ण भट्टी की अग्नि में पड़कर पुनः नवीन भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार मोक्ष की अवधि समाप्त होने पर फिर यह सूक्ष्म और कारण शरीर नूतन भाव को प्राप्त होकर पुनः अपनी मुक्ति की अवधि समाप्त कर लौटने वाले आत्मा को भोग देने के लिये प्रस्तुत हो जाता है। वैसे तो प्रलय काल में भी यह कारण में प्रवेश करके नूतन भाव को प्राप्त होता है। जब मुक्त आत्मा कैवल्य भाव में या मोक्ष में गमन करता है, तब यह सूक्ष्म और कारण शरीर मिल कर दोनों एक साथ ही रहते हैं, कभी अलग नहीं होते हैं। इनका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है।

सञ्चित कर्मों का कभी विनाश या समाप्ति नहीं होती है, क्योंकि अनादिकाल के अनन्त संस्कार सब तो दग्ध या विनष्ट नहीं हुए, न हम किसी पदार्थ का विनाश ही मानते हैं। मोक्ष प्राप्ति के समय केवल प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का स्रोत ही तो बन्द हुआ है। अनन्त जन्मों के अनन्त सञ्चित संस्कार तो विश्व गर्भ में अर्थात् समष्टि चित्त में जमा ही पड़े हैं। उनका विनाश कैसे हो सकता है। कुछ जन्मों से जब से ज्ञान और वैराग्य के संस्कार प्रबल हो उठे, उन्होंने सञ्चित कर्मों को भोग देने का अवसर प्राप्त नहीं होने दिया, केवल यही मोक्ष का हेतु बने हैं।

बिना भोग सञ्चित कर्मों का अभाव नहीं

इसे इस प्रकार समझें कि कुछ १०। २०। ५०। १०० या अधिक जनों में मोक्ष की ईप्सा चली आ रही है। तब से ज्ञान और वैराग्य के कर्म और संस्कार अधिक मात्रा में उत्पन्न हो रहे हैं। योगी इन जन्मों में मुख्य रूप से ऐसे ही कर्म कर रहा है जो आगे बन्ध या जन्म का हेतु कम बनें। अतः ये ही निकटवर्ती जन्मों के पुण्य कर्म मोक्ष की ओर ले जाने का यत्न कर रहे हैं। ये पुण्य कर्म ही कई जन्मों से जन्म का हेतु होते आ रहे हैं। ऐसे माता पिता के यहां जन्म देते आ रहे हैं, जहाँ शीघ्र ही मोक्ष प्राप्ति के लिये साधन और अवसर मिलता है। अच्छे उच्चवर्ण कुल में धार्मिक आस्तिक धनी माता पिता के घरों में जन्म होते आ रहे हैं। इन जन्मों में पापयुक्त कर्म कम होते हैं, और पुण्ययुक्त अधिक होते हैं। अतः थोड़े से इन पापयुक्त कर्मों का फल भी पुण्य के साथ मुक्त होता चला जाता है। इसीलिये बहुत से योगी ज्ञानी भी कुछ कष्टों और रोगों का भोग करते देखे गये हैं। जब पुण्य कर्मों का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। 'सद्यैव परिपच्यन्ते'—तो वे तत्काल परिपाक को प्राप्त हो जाते हैं। ये शीघ्र ही पुण्य कर्म फल देने के लिये सबसे पहले उपस्थित हो जाते हैं, और मोक्ष के समीप ले आते हैं। दृष्टान्त—न्यायाधीश के पास सैकड़ों मुकद्दमें चल रहे हैं, जो साधारण हैं, इनको आप दीवानी मुकद्दमे कह सकते हैं। परन्तु किसी ने महान अपराध किया है, जिससे देश को अत्यन्त हानि पहुँचने की, या दुःख कष्ट होने की संभावना है। तो न्यायाधीश उन सामान्य केसों को छोड़ कर इस विशेष अपराधी के केस को पहले समाप्त करने की कोशिश करता है, जिससे देश जाति की विशेष हानि न हो। इसी प्रकार जिन पुण्य कर्मों का प्रवाह अधिक वेग धारण कर लेता है, पहले वे ही कर्म फल देने के लिये आ

उपस्थित होते हैं। इनका फल मोक्ष होता है। जो २-४ सौ, हजार, लाख या करोड़ जन्मों के सञ्चित कर्म पड़े हैं, उनका क्या बनेगा। १०। २० लाख या करोड़ जन्मों से मोक्ष तो हुआ नहीं है, और कर्म फल इतने जमा हो गये हैं, कि जिनको भोग कर समाप्त करना चाहें, तो अरबों जन्मों में भी भोगकर समाप्त नहीं कर सकता। एक जन्म में मनुष्य इतने कर्म कर डालता है, कि जिनका भोग इस जन्म में नहीं कर पाता है, और अच्छे-अच्छे बड़े कर्मों के फलों से वञ्चित चला जाता है—'नाभुक्तवा क्षीयते कर्म, कोटि शतैरपि।'—बिना भोगे कर्म का क्षय नहीं होता, करोड़ों जन्मों तक भी। अतः मनुष्य इस जन्म में किये जिन कर्मों का फल नहीं भोग पाया है, उनका फल अगले ही जन्मों में भोगना पड़ेगा। दृष्टान्त—एक व्यक्ति ने बड़े बाग बगीचे लगाये हैं। सुन्दर भवन बनाये हैं। भोगने के लिये करोड़ों रुपयों और नाना प्रकार के भोक्तव्य पदार्थों का संग्रह किया है, पत्नी, पुत्रों के सुख का, सब पदार्थों तथा ऐश्वर्यों के भोगने का जब समय आया तब उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार के जन्म ही पुनर्जन्म का हेतु बना करते हैं। इस प्रकार के अनेक कर्म उत्पन्न होकर बिना फल प्रदान किये, भोक्ता के सञ्चित कर्मों में वासना या संस्कार के रूप में समष्टि चित्त में जाकर सञ्चित होते रहते हैं। इन असंख्य संस्कारों के लिये इस छोटे से चित्त में जिसको अणु कहा है, समा जाने, रखने या धारण करने के लिये स्थान नहीं है। अतः यह सब समष्टि चित्त में जाकर सञ्चित होते रहते हैं। इनमें से थोड़े-थोड़े आकर क्रियमाण कर्मों के साथ मिल कर भोग देते रहते हैं क्योंकि वर्तमान जीवन के क्रियमाण कर्म भी तो नित्य, मास या वर्ष के इतने होते रहते हैं, जोकि साथ ही फल देते रहते हैं। यदि क्रियमाण कर्मों का फल साथ में भोगने को न मिले तो कोई भी मनुष्य कर्म करने में प्रवृत्त न हो। कर्म फल तो प्रत्यक्ष देख कर ही मनुष्य की कर्म करने में प्रवृत्ति होती है। बहुत से पाप पुण्य युक्त ऐसे कर्म भी होते हैं, जो उसी समय दिन, मास, वर्ष या उसी जन्म में फल देने से रह जाते हैं, वे पुनर्जन्म के लिये प्रारब्ध के रूप में या सञ्चित के रूप में चले जाते हैं। जो जो प्रारब्ध के रूप में जाते हैं, वे शीघ्र ही दो एक जन्मों या कुछ अधिक जन्मों में फल देने वाले होते हैं। जो सञ्चितों में जाकर जमा होते हैं, न जाने उनके फल देने की बारी कब आवेगी। ये सञ्चितों में जाकर पड़े रहेंगे। अतः इनका कभी विनाश नहीं होता है। इनको जब कभी भी अवसर मिलेगा, तब ही भोग और जन्म का हेतु बनेंगे।

ये क्लेश युक्त संस्कार चार प्रकार के होते हैं।

१. प्रसुप्त २. तनु ३. विछिन्न ४. उदार।

१. **प्रसुप्त**—जो संचित रूप में बीज भाव से अनादि काल से समष्टि चित्त में पड़े हैं, उनको कार्य करने का या भोग देने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। योगी की वैराग्य और ज्ञान की भावना प्रबल होने से वे सञ्चित कर्म गर्भ में प्रसुप्त से पड़े रहते हैं। भोगप्रद सब पदार्थ सामने आने पर भी या प्राप्त होने पर भी योगी उदासीन रहता है, इनके भोगने की बिलकुल इच्छा नहीं होती है। एक प्रकार इनकी फल प्रदान अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति शिथिल सी ही हो जाती है, या दग्ध भाव को ही प्राप्त हो जाती है। अथवा कुण्ठित सी हो जाती है। इसका कारण परम वैराग्य की भावना का दृढ़ हो जाना होता है। ये संस्कार निर्बीज से होकर समष्टि चित्त में प्रवेश कर

जाते हैं। जैसे वट वृक्ष अपने बीज में प्रवेश कर जाता है। इन संस्कारों का नाम प्रसुप्त है।

२. **तनु**—योगी जब पुनः-पुनः ज्ञान वैराग्य की भावना को दृढ़ करने के लिये भोगों की वासनाओं को दमन करता है, या उनको शिथिल बनाने में प्रयत्नशील होता है। तब भोगों से दूर अलग होने से, सामग्री के अभाव में वे संस्कार कार्य आरम्भ करने में असमर्थ से हो जाते हैं। भोगों की वासना भी इस अवसर में शिथिल सी होने लगती है, तब ये संस्कार तनु भाव को प्राप्त होने लगते हैं। योगी वैराग्य की प्रतिपक्ष भावना द्वारा इनको अशक्त, शिथिल, अथवा तनु करने के प्रयत्न में लगा रहता है।

३. **विछिन्न**—कुछ पदार्थों के भोग में अनुराग बना हुआ है इस अवसर पर द्वेष देखने में नहीं आता है, क्योंकि राग और द्वेष परस्पर हैं। जिनमें अब राग वर्तमान है उनसे अन्य पदार्थों या भोगों में फिर हो सकता है या हो जायेगा। इस प्रकार नष्ट होकर या दबकर फिर उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार द्वेषात्मक भी उसी-उसी रूप में वर्तने लगते हैं। पुनः पुनः उत्पन्न होकर वर्तना ही विछिन्न है।

४. **उदार**—वर्त्तमान काल के कर्म भोगात्मक संसकार जो सहकारी कर्म, भोग या पदार्थों का मेल पाकर अपने-अपने कर्मों या भोगों को सिद्ध करते हैं वे उदार कहलाते हैं।

विछिन्न और उदार तो भोगी, विलासी, विषयी पुरुषों के होते हैं। तनु संस्कार योगियों के होते हैं। प्रसुप्त संस्कार वीतराग, परमवैराग्यवान् आत्मज्ञानी और ब्रह्मज्ञानियों के होते हैं। तथा च—

'प्रसुप्त-तत्त्वलीनानां, तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विछिन्नोदार रूपाश्च क्लेशविषय संगिनाम्॥

—विछिन्न और उदार अज्ञानियों के जन्म-मरण का हेतु बनते रहते हैं। तनु और प्रसुप्त मोक्ष या कैवल्य की ओर ले जाते हैं। ये वीतराग, वैराग्यवान् ज्ञानी महापुरुषों को मोक्ष प्रदान करते हैं। पूर्ण ज्ञान और वैराग्य होने पर ही प्रसुप्त बनते हैं।

इन सब क्लेशों का मूल अविद्या है। जब योगी प्रकृति के कार्य कारणात्मक स्वरूप को जानकर आत्म-विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब परम-वैराग्य से कैवल्य भाव को प्राप्त हो जाता है। अविद्या अपने सञ्चित संस्कारों को साथ लेकर समष्टि चित्त में विलीन हो जाती है, और समष्टि चित्त अपनी कारणभूत प्रकृति में प्रवेश कर जाता है।

कई आचार्य सर्व प्रकार के संस्कारों का सर्वथा दग्धभाव मानते हैं, अर्थात् सञ्चित भी भस्मीभूत हो जाते हैं। किसी भी रूप में शेष नहीं रहते हैं। वास्तव में इन्होंने दग्धभाव के मतलब को नहीं समझा है। मोक्ष से पूर्व जो योगी को दग्ध करने का विधान है वह बहुत थोड़े जन्मों के अर्थात् निकटकालीन जन्मों के संस्कारों के विषय में कहा गया है अर्थात् जब से यह योगी कटिबद्ध होकर ज्ञानवान् और वैराग्यवान् बन कर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हुआ है। ज्ञान और परमवैराग्य को उन संस्कारों को प्रारब्ध के लिए उपस्थित ही नहीं होने देते। किन्तु सञ्चित में फेंक देते हैं, क्योंकि हम नाश नहीं मानते हैं। वे अपने गर्भ समष्टि चित्त में लौट जाते हैं। प्रारब्ध के लिए तय्यार होकर नहीं आते हैं, जिनसे कि भविष्य में जन्म होना था। परम ज्ञान वैराग्य

सम्पन्न योगी उस जीवन्मुक्त दशा में इच्छापूर्वक कोई कर्म ऐसा नहीं करता है, जो आगामी निकट भविष्य में प्रारब्ध, सञ्चित किंवा वर्तमान फल का हेतु हो सके, तब वह मोक्ष में प्रवेश करता है।

जब इस मुक्त आत्मा का पुनरागमन मर्त्यलोक में होता है, तब महानुभाव का सम्बन्ध उन पुण्य कर्मों के साथ ही होता है। जिनको इसने परमवैराग्य के कारण प्रारब्ध के रूप में भी फल देने के लिए उपस्थित नहीं होने दिया था। या वे बहुत पुण्यात्मक श्रेष्ठ कर्म जो इसके ज्ञान वैराग्य की दशा में ही इकट्ठे हुए थे। परन्तु परमवैराग्य के द्वारा इस वीतराग महाज्ञानी जीवन्मुक्त योगी ने उनको भी ठुकरा दिया था। वे बेचारे उदासीन होकर अपनी प्रकृति में चले गये थे। इस लोक में भी जब किसी को वैराग्य होता है, अनेक सुख-साधनों, धन, स्त्री-पुत्र, राज्य को भी लात मारकर भरतृहरि की तरह चल देता है। इसी प्रकार निकट भूतकाल के प्रारब्ध आत्मक भोगों को—जो अगले जन्मों में फल देने के लिए तैय्यार होकर आना चाहते थे, लात मारकर ठुकरा देता है और मोक्ष में प्रवेश कर जाता है। परन्तु कर्मफल भोग की गति विचित्र है। वह कब पीछा छोड़ेंगी, जिनको ठुकरा कर जा रहा है। उनके सामने ही फिर आकर इस मुक्त आत्मा को सिर झुकाना पड़ेगा, क्योंकि उनका सञ्चय, संग्रह या उपार्जन भी तो इसने ही किया था। उनको और कौन भोगेगा। अन्त में इसी ने भोगने हैं। इसी हेतु हमने मोक्ष से पुनरावृत्ति मानी है। मुक्ति से पुनरावृत्ति का यह मुख्य कारण है।

मुक्ति से आकर उन पुण्य कर्मों के साथ ही सम्बन्ध होता है। सृष्टि के आरंभ में अमैथुनी सृष्टि में ऋषि-मुनियों के रूप में शरीर प्राप्त कर के उन पुण्य कर्मों को निमित्त मान कर्म भोग प्रारंभ करता है। पुनः पुण्य और पाप कर्मों का संग्रह शरीर से होने लगता है। जो भोग और अपवर्ग का हेतु बनता रहेगा। असंख्य सञ्चित कर्मों को भी फल देने का अवसर प्राप्त होने लगता है जिनको ठुकरा कर गया था। इस लोक में मनुष्य जिस भस्म या धूल को पैरों से ताड़न करता है वह अपमानित होकर सिर पर ही चढ़ बैठती है। वे सञ्चित कर्म ताड़ित हुए-हुए पुनः इस महानुभाव के सिर पर बैठ कर इसको दास बनाने का यत्न करते हैं। इस प्रकार यह कर्मफल भोग का विज्ञान बहुत गहन है। जो इस आत्मा को बन्ध और मोक्ष के चक्र में फंसाये रखता है। जन्म, मरण, बन्ध और मोक्ष का सिलसिला अनादि काल से चला आता है। और अनन्त काल तक चलता रहेगा। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'—पुण्यों के क्षीण होने पर मनुष्य लोक में आते हैं।

उपसंहार

हमने 'आत्म-विज्ञान' ग्रंथ के उपसंहार में लिखा था, कि अवसर प्राप्त होने पर ब्रह्म-विज्ञान ग्रंथ को भी लिपिबद्ध किया जायेगा। इस वर्ष हरिद्वार में १३ अप्रैल सन् ६२ को सन्न्यास धारण करने के पश्चात् हम बद्री नारायण चले आये। यहाँ बिरला हाउस में ठहरकर ४ मास का मौनव्रत धारण किया, और इस काल में यह 'ब्रह्म-विज्ञान' ग्रन्थ लिखा गया।

इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। मोक्ष या कैवल्य का हेतु होने से ३३ पदार्थों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। इन पदार्थों में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति नित्य हैं, शेष ३२ पदार्थ प्रकृति का कार्य होने से अनित्य हैं।

प्रकृति और इसके कार्यों का सम्बन्ध विशेष रूप से ब्रह्म के साथ में है। ब्रह्म निमित्त कारण होने से इन पदार्थों के ज्ञान क्रिया बल का हेतु है। अध्यारोप से जगत् का कर्ता कहा जाता है। इन ३३ पदार्थों के साथ सम्बन्ध जीवात्मा का भोग और अपवर्ग के लिए माना गया है।

प्रथम अध्याय में समष्टि पञ्चभूतों—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश की विस्तार पूर्वक व्याख्या है। इनका विज्ञान, इनमें ब्रह्मोपासना, और ब्रह्म-विज्ञान का वर्णन है। ब्रह्म के इनके साथ विशिष्ट सम्बन्ध का और ब्रह्म का निमित्त कारण रूप से गति पूर्वक सञ्चालन का वर्णत किया गया है। इन पाँचों भूतों के पाँच रूपों में अथवा इनकी उत्पत्ति काल की १. स्थूल २. स्वरूप ३. सूक्ष्म ४. अन्वय ५. अर्थवत्त्व रूप पाँचों अवस्थाओं का और ब्रह्म का विज्ञान वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में जिसमें पञ्च तन्मात्रा, पांच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, अहंकार ये १७ पदार्थ हैं। इनकी उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन है। पञ्च तन्मात्राओं के स्वर्ग-लौकिक भोगों तथा ब्रह्मानन्द के उपभोग का शंका समाधान पूर्वक वर्णन है। इन पदार्थों का विज्ञान और इनमें ब्रह्म की उपासना और विज्ञान का कथन किया है।

तृतीय अध्याय में त्रिगुणात्मक सृष्टि, समष्टि तामस, राजस, सात्त्विक तीनों अहंकार, समष्टि बुद्धि और समष्टि चित्त मण्डलों का वर्णन है। इनके उपादान भूत त्रयीकरण का वैज्ञानिक विश्लेषण साथ है। इन मण्डलों के साथ आत्मा का भोग, और अपवर्ग आत्मक सम्बन्ध, और ब्रह्म का विशेष रूप से सान्निध्य एवं तन्निमित्तक कार्य दिखाकर ब्रह्मोपासना और ज्ञान का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में कारण प्रकृति से सर्व प्रथम ६ पदार्थों महाकाश, महादिशा, महाकाल, सत्त्व, रजस्, तमस्, द्रव्यों की उत्पत्ति का निरूपण किया है। प्रकृति की साम्यावस्था, एवं सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन और ब्रह्म का इसके साथ नित्य सम्बन्ध, कारण तथा कार्यात्मक अवस्थाओं में ब्रह्म के आरोप की कल्पना, और उसमें ब्रह्म की उपासना और ज्ञान का प्रतिपादन किया है। ये कुल ३२ पदार्थ है। इनके साथ आत्मा का भोग और अपवर्ग साधक सम्बन्ध है और ब्रह्म का सृजनात्मक सम्बन्ध है।

पञ्चम अध्याय कैवल्य अथवा मोक्ष का है। इसमें ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति के वास्तविक स्वरूपों का वर्णन है। इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं स्थूल सूक्ष्म अवस्थाओं का वर्णन है। आत्मा को मोक्ष किससे और किस प्रकार होता है। मोक्ष में आत्मा की कैसी स्थिति होती है? दूसरे आचार्यों के मोक्ष विषय में कैसे-कैसे सिद्धान्त हैं? इत्यादि विषयों और आत्मा ब्रह्म की अपरिणामिता का उल्लेख है। कैवल्य अथवा मोक्ष के नित्य अनित्य के विषय में अपना और दूसरे आचार्यों के विचारों एवं पुनरावृत्ति का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

अनेक जन्मों के महान् पुण्यों कर्मों से यह मनुष्य देह प्राप्त हुआ है। इसी मानव देह में आत्म ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यही इस मानव जीवन की विशेषता है। भोग तो सर्व योनियों में प्राप्त होते हैं, और भोगे भी जाते हैं। यदि इस सुन्दर पवित्र देह को प्राप्त करके भी मानव ने संसार के

भोग ही उपार्जन किए और भोगे तब तो इस जीवन की तुलना पशु आदि के साथ ही की जा सकती है। यदि इस जीवन में आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया तो मानो मनुष्य जीवन सफल हुआ और अनादिकाल के आवागमन के जन्म मरण के सर्व दुखों से निवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लिया।

हम आशा करते हैं कि पाठक वृन्द, साधक वृन्द और योगिजन इसी ब्रह्म-विज्ञान को पढ़कर, श्रेय : मार्ग पर चल आत्मा-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष अथवा कैवल्य के भागी बनेंगे।

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ओम् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः।।

ब्रह्म-विज्ञान

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	६	पा०	पा० १
१२	१६	पौश्र	पोत्र
	२४	रामाः	रमः
१३	९	दि	दीशि
	१०	येत्य	पेत्य
	११	दीघे	दीर्घे
	१२	व० ११	व० १
१७	३५	फंसी	फंसा
१८	१३	वह	वह
२०	१०	इन्द्रियों	की इन्द्रियों
२२	३७	छोड़ वह	वह छोड़
२६	७	है	है
२६	३६		चित्र संख्या २ का विवरण पञ्चतन्मात्राओं से स्थूल पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति पृथिवी महाभूत से व्यष्टि लोक लोकान्तरों की उत्पत्ति
२७	१७	नहीं,	नहीं
३३	२६	सयम	संयम
३५	७	काय	कार्य
३६	१७	परिकमा	परिक्रमा
३८	१	तिर्मिगल	तिर्मिगिल
४१	३६	विकान्ति	विक्रान्ति
४२	७	वक्रान्ति	
४७	२७	सुगढ़ता	सुघड़ता
५७	१०	मीति	मोती
६१	६	स्त्रिश	स्त्रिंश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८	३२	भत	भूत
६९	१६	अशद्धियों	अशुद्धियों
७०	१३	इसको	इस
७२	४	ब्रह्म	ब्रह्मं
	५	भवोत	भवति
	६	९	१०
७५	१७	चातस्त्रेणु	चतस्त्रेणु
८५	२२	शरोर	शरीर
	२७	स्परूप	स्वरूप्
८७	३५	व्यपाक	व्यापक
८९	१५	इसमें	इस
९७	३३	सक्ष्मता	सूक्ष्मता
१०३	९	दशं	दंश
	१०	जखों	लाखों
	३४	टेढा	टेढ़ा
१०८	२४	अच्छादन	आच्छादन
	७	सवगा	सर्वगा
१०९	२९	'यह काल में	काल में यह
११८	२५	।	
११९	५	जीवना	जीवन
	२८	तन्नैजति।'	तन्नैजति'।
१२३	३५	भागों	भोगों
१३१	२१	बुद्ध	बुद्धि
१३३	३०	सवश्रष्ठ	सर्वश्रेष्ठ
१३४	३७	सक्ष्म	सूक्ष्म
१३५	३६	वार्मुनियों	वा मुनियों
१३७	१२	शिशिन	शिश्न
१३८	४	प्रथम खण्ड	
१३९	२०	२६	२·६
१३९	२४	ग्रमवत	ग्रामवत
१४१	२३		पृथम खण्ड (२८वाँ आवरण)

File No. 3

Name Clowz List Manufactiore

Subject STOCK FILE

Serial Nos. ______ To ______

From (Months) ______ To ______

Year ______ 1976

8